भगवान महावीर

भगवान् महावीर के 2600वें जन्म-कल्याणक-वर्ष के सुअवसर पर प्रकाशित

वर्धमान-महावीर-स्मृति-ग्रन्थ

मंगल-आशीर्वचन

पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज

संपादक

डॉ. सुदीप जैन

उपाचार्य, प्राकृतभाषा-विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली-110016

प्रकाशक

जैन मित्र मण्डल

2515, गली पीपलवाली, धर्मपुरा, दिल्ली-110006

विषय-अनुक्रमणिका

प्रकाशक
जैन मित्र मण्डल, 2515, गली पीपलवाली, धर्मपुरा, दिल्ली-110006

सपादन-सहयोग

1. **डॉ. वीरसागर जैन,** *अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्रीलालबहादुर-शास्त्री-राष्ट्रिय-सस्कृत-विद्यापीठ नई दिल्ली-16*

2 **श्रीमती रजना जैन,** *जे आर एफ, प्राकृतभाषा विभाग, श्रीलालबहादुर-शास्त्री-राष्ट्रिय-सस्कृत-विद्यापीठ, नई दिल्ली-16*

प्रबन्ध-सम्पादक

प्रभातकुमार दास, *शोधछात्र, प्राकृतभाषा विभाग (NET)*

प्रकाशन-वर्ष . 2002 ई.

प्रथम-सस्करण
1100 प्रतियाँ

मूल्य 201/- रुपये

मुद्रक · एन.एस. एण्टरप्राइज़ेज़, 2578, गली पीपलवाली, धर्मपुरा, दिल्ली-110006
सम्पर्क दूरभाष 3285932, 9810035356

प्राप्ति-स्थान :

1 जैन-साहित्य सदन, श्री दिगम्बर-जैन लाल मन्दिर जी, चादनी चौक, दिल्ली-110006
2. कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067
3 गजेन्द्र पब्लिकेशन्स, 2578, गली पीपलवाली, धर्मपुरा, दिल्ली-110006

Published on the eve of Lord Mahavir's 2600th Birth-Celebrations

VARDHMAN MAHAVIR SMRITI-GRANTH

(A Researchful Prose)

Editor	**Dr SUDEEP JAIN**
First Edition	**2002 A D**
Price	**Rs 201/-**
Published by	**JAIN MITRA MANDAL, 2515, GALI PEEPALWALI, DHARMPURA, DELHI -110006**

आचार्य विद्यानन्द मुनिराज
मंगल-आशीर्वचन

एस सुरासुर-मणुसिंद-वंदिद धोद-घादि-कम्ममल।
पणमामि वड्ढमाण तित्थ धम्मस्स कत्तार॥
– *(आचार्य कुन्दकुन्द, पवयणसार, मगलाचरण)*

अर्थ – देवताओ, असुरो एव मनुष्यो के इन्द्रो के द्वारा वदनीय, घातिरूप-कर्ममल को दूर करनेवाले, धर्मतीर्थ के कर्त्ता वर्द्धमान महावीर स्वामी को मैं प्रणाम करता हूँ।

भगवान् महावीर जैन-परम्परा के वर्तमान-कालखण्ड मे चौबीसवे-तीर्थकर हुये है। उन्होने अपने पतित-पावन जन्म से इस भारत-भूमि को पवित्र किया था। वे भारत के प्राचीनतम-गणतन्त्र की राजधानी 'वैशाली' के उपनगर 'क्षत्रियकुण्ड' के महाराज सिद्धार्थ एव उनकी सहधर्मिणी महारानी प्रियकारिणी-त्रिशला के आँगन मे जन्मे थे। 'नन्द्यावर्त' नामक राज-प्रासाद उनकी जन्मस्थली बना था। इसी कारण उन्हे 'वैशालिक' भी कहा जाता है। एक प्राचीन सील (मुहर) पर **'वेसालिय नामकुडे कुमारामात्याधिकरणे .** ' लिखा मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि महावीर की जन्म-नगरी 'कुण्डग्राम' या 'क्षत्रियकुण्डग्राम' वैशाली महानगर का ही अग थी। इसीलिये उसे 'वैशालिक-कुण्ड' भी कहा जाता था। आज से 2600 वर्ष पूर्व इसी नगरी मे जन्मे बालक वर्द्धमान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा परमात्म-पद प्राप्त किया, इसलिये वे 'भगवान्' कहलाये, तथा अपने मगलमय-उपदेशो के द्वारा सम्पूर्ण भारत-भूमि मे अहिसा, अनेकान्त, स्याद्वाद, अपरिग्रह एव सर्वजीव-समभाव जैसे महनीय-सिद्धान्तो का प्राणिमात्र के लिये उपयोगी भाषा-शैली मे प्रतिपादन करने के कारण वे धर्मतीर्थ के कर्त्ता अर्थात् 'तीर्थकर' कहलाये।

भगवान् महावीर के 2600वे जन्म-कल्याणक-वर्ष के इस पुनीत-अवसर पर 'जैन मित्र मण्डल', दिल्ली के द्वारा जो भगवान् महावीर के जीवन एव दर्शन-विषयक 'वर्धमान-महावीर स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है, वह एक रचनात्मक-कार्य है, तथा इसमे सुयोग्य-विद्वानो के गवेषणात्मक-आलेखो का वैज्ञानिक-सपादनपूर्वक प्रकाशन हो रहा है – इससे इसकी व्यापक उपादेयता सिद्ध होगी।

'जैन मित्र मण्डल', दिल्ली ने महावीर-जयन्ती के प्रसंग मे विगत अनेक दशको से अनेको उल्लेखनीय-कार्य किये है, जिनका लाभ दिल्ली और देश की धर्मप्राण-जनता ने भरपूर लिया है। अब इस वर्ष की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये जो यह सारस्वत-सकल्प उन्होने लिया है, उसकी मागलिक-पूर्ति के लिये मेरा बहुत-बहुत मगल-आशीर्वाद है।

माघ-शुक्ल-पचमी (वसत-पचमी), वीर-निर्वाण-सवत् 2528

प्रकाशकीय

भगवान् महावीर के 2600वे जन्म-कल्याणक-वर्ष के शुभ-अवसर पर राष्ट्रीय-स्तर पर एव प्रान्तीय-स्तरो पर विभिन्न-समितियो का गठन किया गया था, और उन्होने अपने वर्ष-व्यापी कार्यक्रमो की रूपरेखा तैयारकर यथासभव-रीति से उनका क्रियान्वयन भी किया है। यह कार्य अभी अनवरत-रूप से चालू है। इस निमित्त धर्म-प्रभावना एव लोक-कल्याण के अनेको महनीय-कार्यों को इन समितियो के द्वारा किया गया है। दिल्ली राज्य-स्तर के समिति के द्वारा भी पूरे वर्षभर अनेको ऐसे कार्यों को समय-समय पर किया जाता रहा, और इनके निमित्त से व्यापक-धर्म-प्रभावना के साथ-साथ लोक-हितकारी रचनात्मक-कार्यो का भी सपादन किया गया।

पिछले महीने पूज्य-आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज के दर्शन-लाभ के सुअवसर पर जब मै धर्म-प्रभावना के कार्यो के निमित्त कुछ चर्चा कर रहा था, तो पूज्य-आचार्यश्री ने सकेत किया कि "चक्रेशजी! देशभर की समितियो ने अनेक-प्रकार के आयोजन किये है, तथा आचार्यो के ग्रन्थो समेत बहुत-सा साहित्य भी प्रकाशित हुआ है, और हो रहा है; किन्तु भगवान् महावीर के जीवन, दर्शन, उनकी परम्परा एव उनके उपदेशो की माध्यम-भाषा . प्राकृत को एकसाथ सुव्यवस्थित-रूप से प्रस्तुत करनेवाला कोई स्मृति-ग्रन्थ किसी भी समिति के द्वारा नही निकाला गया है। क्या ही अच्छा हो कि यदि आपके सयोजन मे 'जैन मित्र मण्डल', दिल्ली के द्वारा एक '*वर्धमान-महावीर स्मृति-ग्रन्थ*' का प्रकाशन इसी वर्ष के भीतर हो, तो यह एक महत्त्वपूर्ण सारस्वत-कार्य होगा।" मैने पूज्य-आचार्यश्री से विनती की कि "गुरुदेव। आपकी भावना परम-पवित्र है, तथा यह मेरा सौभाग्य है कि आपने मुझमे इतना विश्वास व्यक्त किया। किन्तु इतने कम समय मे इतना गुरुतर-कार्य कौन सभव कर सकेगा? इसके लिये एक अनुभवी तथा सुयोग्य-विद्वान् सम्पादक की अपेक्षा है।" तब पूज्य-आचार्यश्री ने कहा कि "डॉ सुदीप जी इसके लिये पूरी तरह से समर्थ है, आप उनसे अनुरोध करे, तो वे इस कार्य को भरपूर-श्रम के साथ इतने कम समय मे भी सम्पन्न कर सकते है।"

पूज्य-आचार्यश्री की आज्ञा को शिरोधार्य कर मैने डॉ सुदीप जी से सम्पर्क किया, और पूज्य-आचार्यश्री की भावना से उन्हे अवगत कराया, तो उन्होने कुछ देर विचारकर अपनी स्वीकृति प्रदान की, और उसके अनुरूप मात्र एक माह के अल्पतम-समय मे ही इस गुरुतर-कार्य को अत्यन्त-गरिमापूर्ण-स्तर से सम्पादित करके प्रस्तुत किया है। मै इस शुभ-सकल्प के निमित्त मार्ग-दर्शन एव मगल-आशीर्वाद प्रदान करने के लिये परम-पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज के श्रीचरणो मे सविनय 'नमोऽस्तु' वदन करता हूँ, तथा इस महनीय-कार्य के सुयोग्य-सम्पादन के लिये अपार-श्रम करनेवाले डॉ. सुदीप जी के प्रति हार्दिक-कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे सहयोगी समस्त-महानुभावो, 'जैन मित्र मण्डल', दिल्ली के कार्यकर्त्ताओ एव मुद्रक-बधु श्री नीरज जैन (दिगम्बर) को भी मै हार्दिक-धन्यवाद देता हूँ।

– चक्रेश जैन, बिजली वाले

माघ-शुक्ल-पचमी (वसत-पचमी), वीर-निर्वाण-सवत् 2528

सम्पादकीय

भगवान् महावीर के 2600वे जन्म-कल्याणक-वर्ष की उपान्त्य-बेला मे धर्मानुरागी भाई श्री चक्रेशजी के द्वारा पूज्य-आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज की भावना से अवगत कराते हुये जब यह बताया कि इस स्मृति-ग्रन्थ को इतने कम समय मे पूर्ण-गरिमा के साथ प्रकाशित करना है, तो क्षणभर को मै दुविधा मे पड गया कि क्या मै इस गुरुतर-कार्य को इस समय-सीमा मे सम्पन्न कर पाऊँगा? फिर पूज्य-आचार्यश्री के आदेश का विचार आते ही मैंने समस्त-दुविधाये त्याग दी, और प्राणपण से इस शुभ-सकल्प की पूर्ति के लिये जुट गया।

इस स्मृति-ग्रन्थ के चार खण्ड हैं, जिनमें से **प्रथम-खण्ड** मे भगवान् महावीर के जीवन से सबंधित-आलेखो को सकलित किया गया है। इन आलेखों में भगवान् महावीर की जन्मभूमि 'वैशालिक-कुण्डग्राम' से सबंधित-आलेखो को अपेक्षाकृत अधिक अनुपात मे स्थान दिया गया है। इसका प्रमुख-कारण यह था कि इस विषय मे समाज में अनेको-भ्रान्तियाँ व्याप्त थी, तथा सही तथ्यो का प्रामाणिक-रीति से प्रस्तुतीकरण अपेक्षित था। अत: सुप्रतिष्ठित गवेषी-विद्वानो के आलेखो का सकलन कर उन्हें क्रमशः सम्पादित कर इस खण्ड मे एकसाथ प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ-साथ भगवान् महावीर का जीवन-परिचय, उनके नामकरण, प्रमुख-घटनाये, तथा तत्सम्बन्धी अन्य सूचना-सामग्रियो से समन्वित-आलेखो को भी इसमे प्रमुखता से स्थान दिया गया है। इन आलेखो के सम्पादन के समय यह ध्यान रखा गया है, कि भले ही विद्वान-लेखको ने अपने लेखो मे सामग्री का प्रस्तुतीकरण अच्छी-रीति से किया है, किन्तु उनके आलेखो की सामग्री का अन्य लेखो मे पिष्टपेषण न हो, तथा प्रत्येक आलेख से जिज्ञासु-पाठको को कुछ नये-तथ्य और नये-विचार ज्ञात हो। फिर भी, कुछ सूचना-सामग्रियाँ ऐसी थी, जिनका उन लेखो मे प्रस्तुतीकरण अपरिहार्य था। इसलिये उनकी एकाधिक-बार भी प्रस्तुति हुई है। साथ ही, कुछ सूचनाये भ्रम-निवारक होने से जिन-जिन विद्वानो के आलेखो मे उपलब्ध हुईं, वे पुनरुक्ति की स्थिति आने के बाद भी यथावत् रखी गईं, ताकि पाठको को यह स्पष्ट हो सके कि यह बात इतने सारे विद्वानो के द्वारा इसी रूप मे मानी गई है। इससे उनके भ्रम-निवारण तथा सही-दिशाबोध मे योगदान रहेगा।

ग्रन्थ के **द्वितीय-खण्ड** मे भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक-विषयो का विवेचन विद्वानो के द्वारा शोधगर्भित-आलेखो में किया गया है। यद्यपि ये सिद्धान्त सम्पूर्ण जैन-परम्परा के सिद्धान्त हैं, तथा अनादिकाल से इन सिद्धान्तो को जैन-दर्शन का प्राणतत्त्व माना गया है; फिर भी भगवान् महावीर के दर्शन के रूप मे इनका प्रस्तुतीकरण किये जाने का एकमात्र-उद्देश्य यही था, कि वर्तमान मे प्रवर्तित जैन-तत्त्वज्ञान के उपदेष्टा शासन-नायक तीर्थंकर महावीर स्वामी ही है, अत: इन विषयो को उनके द्वारा उपदिष्ट बताया गया है, न कि उनके द्वारा प्रवर्तित। इन दार्शनिक-विषयो के बारे मे सामान्यत: अध्येताओ को भी बहुत-सुगमता नही रहती है, फिर भी इनकी यथायोग्य सरल भाषा-शैली मे तथ्यात्मक-रूप से प्रस्तुति करते हुये इनकी समसामयिक-सदर्भों मे उपादेयता प्रतिपादित करना इस खण्ड के आलेखो की विशेषता है। चूँकि इसमे विषयो के वैशिष्ट्य सुस्पष्ट है, अत: पिष्टपेषण जैसी स्थिति नामोल्लेख के अतिरिक्त प्राय: नही हुई है। इससे जिज्ञासु पाठको को निरन्तर नये-नये विषय और नित-नूतन आयाम प्राप्त हो सकेगे।

ग्रन्थ के **तृतीय-खण्ड** मे भगवान् महावीर की परम्परा के अन्तर्गत इतिहास, सस्कृति, पुरातत्त्व एव अन्य

विविध-विषयो की प्ररूपणाये विभिन्न-आलेखो मे की गई है। इनसे भगवान् महावीर के जीवन, दर्शन एव तत्त्वज्ञान से अनुप्राणित विगत 2600 वर्षों का सक्षिप्त-लेखाजोखा एव उपलब्धियाँ सकेतित हुई है। यद्यपि यह विषय इतना विशाल है, कि इसके प्रतिपादन के लिये हजारो पृष्ठों के कई खण्डोवाले ग्रन्थ भी कम पडे, तथा इसके अनुरूप सामग्री के सकलन और प्रामाणिक-प्रस्तुतीकरण के लिये भी कई वर्षों का समर्पित-श्रम अपेक्षित था। किन्तु इस कार्य के निष्पादन के लिये मेरे पास समय और ससाधन – दोनो ही न्यूनातिन्यून थे, तथा इसी सीमा के अन्तर्गत इस विषय को प्रस्तुत करना था; अत· जितने एतद्-विषयक-आलेख मिल सके, उन्हे व्यवस्थित कर इसमे प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ के **चतुर्थ-खण्ड** मे भगवान् महावीर के उपदेशो की माध्यम-भाषा : प्राकृत के बारे में महत्त्वपूर्ण-आलेखो का सकलन है। यद्यपि भगवान् की दिव्य-ध्वनि 18 महाभाषाओ एव 700 लघु-भाषाओ से युक्त कही गई है, तथा उसे अनक्षरात्मक एव ओकारमयी कहा गया है, फिर भी उनके उपदेशो पर आधारित जो मूल-आगम-ग्रन्थ है, उनकी भाषा 'प्राकृत' होने से इसे भगवान् महावीर के उपदेशो की माध्यम-भाषा के रूप मे यहाँ परिगृहीत किया गया है। हम अपनी भाषा को यदि छोड देगे, तो अपने तीर्थंकरो, गणधरों एव आचार्यों के साथ-साथ हमारे आगमो भावो को सही-रूप मे नही समझ पायेगे। अत: यह बेहद जरूरी है, कि हम अपनी आगम-भाषा के स्वरूप को, उनकी परम्परा को एव उसकी गरिमा को पहचाने और अपने जीवन मे प्रयोग करनेलायक ज्ञान प्राप्त कर सके। इसी दृष्टि से इस खण्ड की सामग्री का सकलन एव सम्पादन किया गया है।

इस महनीय-कार्य के लिये मूल-सबल पूज्य **आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज** का पावन-आशीर्वाद ही था। फिर हमारे साथियो एव शोधछात्र-छात्राओ ने भी इसमे यथायोग्य-सहयोग प्रदान किया है। इनमे प्राथमिक-रूप में सामगी-सकलन के लिये **डॉ. कल्पना जैन** एव **श्रीयुत अनेकान्त कुमार जैन** ने कुछ दिन समय देकर सहयोग किया, तथा इसके बाद उस सामग्री को व्यवस्थित करने एव सम्पादित करने के लिये प्रारम्भिक-स्तर पर **श्रीमती रजना जैन** एव **श्रीयुत प्रभात कुमार दास** ने भरपूर-श्रम किया, तथा अहर्निश-सहयोग प्रदानकर इस कार्य को मूर्त्तरूप देने मे अकथनीय-सहयोग दिया। कतिपय-प्रमुख उद्धरणो आदि को मूल-पाठो से मिलाने के उत्तरदायित्वपूर्ण-कार्य के लिये भाई **डॉ. वीरसागर जी** ने समय निकालकर श्रमपूर्वक सहयोग प्रदान किया है। इनके अतिरिक्त इसके निर्दोष-टकण, सैटिग तथा परिष्कार के लिये **श्री अमित दत्ता** ने भी भरपूर-योगदान दिया है।

मै इस गुरुतर-कार्य की सिद्धि के लिये परमपूज्य-आचार्यश्री के मगल-आशीर्वाद एव प्रेरणा को आधारभूत मानता हूँ, और यह ग्रन्थ उन्ही के करकमलों में सविनय कृतज्ञतापूर्वक समर्पित करता हूँ। समस्त-सहयोगीजनो के प्रति मै हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। जिन लेखक-महानुभावो के आलेख इसमे सगृहीत किये है, उनके प्रति भी मै परोक्ष-रूप से विनम्र-कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। उनका सक्षिप्त-परिचय **परिशिष्ट-एक** मे तथा आधार-सामग्री के स्रोतो का परिचय **परिशिष्ट-दो** मे कृतज्ञतापूर्वक सादर प्रस्तुत किया गया है। भाई चक्रेश जी, बिजली वालो, का सहयोग तो अविस्मरणीय है ही। अन्य सभी सहयोगी-बन्धुओ को भी मै हार्दिक-धन्यवाद देता हूँ।

— ***डॉ सुदीप जैन***

माघ-शुक्ल-पचमी (वसत-पचमी), वीर-निर्वाण-सवत् 2528

प्रस्तावना

✍ डॉ. सुदीप जैन

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीर बुधा· संश्रिता:।
वीरेणाभिहितः स्वकर्मनिचयो, वीराय भक्त्या नमः॥
वीरात् तीर्थमिव प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोर तप·।
वीरे श्री-धृति-कीर्ति-कान्ति-निचयो, हे वीर! भद्र त्वयि॥

इक्ष्वाकुवश-केसरी, काश्यपगोत्री, लिच्छिविजाति-प्रदीप, नाथकुल-मुकुटमणि प्रात:स्मरणीय तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के 2600वे जन्मकल्याणक का वर्षव्यापी-कार्यक्रम विश्वस्तर पर मनाया जा रहा है। अनेको समितियो का एतदर्थ विभिन्न-स्तरो पर निर्माण हुआ है तथा व्यापक-ऊहापोहपूर्वक बहुआयामी-कार्यक्रमो की रूपरेखा भी बनायी गयी है। ऐसी योजनाओ आदि की चर्चा किये बिना मै अपेक्षित समझता हूँ कि हम भगवान् महावीर के प्रामाणिक-जीवनवृत्त और उनके सन्देशो की समसामयिकता को जान सके, तो भी यह वर्षव्यापी-आयोजन किसी सोमा तक चरितार्थ हो सकता है।

भारतीय-जीवन पर जैनसस्कृति एव भगवान् महावीर के आचार-विचार की अमिट-छाप रही है। इसीलिए कृतज्ञ होकर सन्तो एव मनीषियो ने उनका सविनय-यशोगान किया है —

देवाधिदेव परमेश्वर वीतराग! सर्वज्ञ तीर्थंकर सिद्ध महानुभाव!।
त्रैलोक्यनाथ जिनपुगव वर्द्धमान! स्वामिन् गतोऽस्मि शरण चरणद्वय ते॥

अर्थ — हे देवाधिदेव वीतराग-सर्वज्ञ-तीर्थंकर-सिद्ध-महानुभाव-त्रैलोक्यनाथ-परमेश्वर-जिनो मे श्रेष्ठ वर्द्धमान महावीर स्वामी। मै आपके चरणयुगल की शरण मे आया हूँ।

णाण सरण मे दसण च सरण च चरिय-सरण च।
तव-सजम च सरण भगव सरण महावीरो॥

अर्थ — मेरे लिये ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-सयम शरणभूत है और भगवान् महावीर स्वामी मेरे लिए शरणभूत है।

ऐसे त्रिलोकपूज्य भगवान् महावीर स्वामी की जीवनगाथा जैन-परम्परा मे आत्मा की अनादि-अनन्तता को प्रमाणित करती हुई वर्णित है। पुराणग्रन्थो के अनुसार प्रथम-तीर्थंकर ऋषभदेव के पौत्र 'मारीच' के भव से इनकी आत्मकथा प्रारभ होती है। तीर्थंकर ऋषभदेव की दिव्यध्वनि के अनुसार यह मारीच स्वय को भरतक्षेत्र का चौबीसवाँ तीर्थंकर बनना सुनिश्चित जानकर दुरभिमान के शिखर पर आरूढ होकर तीर्थंकर-ऋषभदेव का विरोध करनेवाला बन गया और अनगिनत भव-भवान्तरो तक ससार मे परिभ्रमण करता रहा। इनके पूर्वभवो का सक्षिप्त-विवरण निम्नानुसार है —

महावीर के पूर्वभवों का संक्षिप्त-उल्लेख

"दूरवर्ती पूर्वभव न 1 मे पुरुरवा भील थे। न 2 मे सौधर्म-स्वर्ग मे देव हुये। न. 3 मे भरत का पुत्र मरीचिकुमार। न 4 मे ब्रह्मस्वर्ग मे देव। न 5 में जटिल-ब्राह्मण का पुत्र। न. 6 मे सौधर्म-स्वर्ग मे देव। न. 7 मे पुष्यमित्र-ब्राह्मण का पुत्र। न 8 मे सौधर्म-स्वर्ग मे देव। न. 9 मे अग्निसह-ब्राह्मण का पुत्र। न 10 मे सात-सागर की आयुवाला देव। न 11 में अग्निमित्र-ब्राह्मण का पुत्र। न. 12 मे माहेन्द्र-स्वर्ग मे देव। न 13 मे भारद्वाज-ब्राह्मण का पुत्र। न 14 मे माहेन्द्र-स्वर्ग मे देव। तत्पश्चात् अनेको त्रस-स्थावर योनियो मे असख्यातों-वर्ष तक भ्रमण करके वर्तमान (महावीर वाले) भव से पहले पूर्वभव न 16 मे 'स्थावर' नामक ब्राह्मण-राजपुत्र हुआ। पूर्वभव न. 15 मे महाशुक्र-स्वर्ग मे देव। पूर्वभव न. 14 मे त्रिपृष्ठ-नारायण। पूर्वभव न 13 मे सप्तम-नरक का नारकी। पूर्वभव न. 12 मे सेही। पूर्वभव न 11 मे प्रथम-नरक का नारकी। पूर्वभव न 10 में सिह। पूर्वभव न 9 मे 'सिहकेतु' नामक देव। पूर्वभव न 6 मे 'हरिषेण' नामक राजपुत्र। पूर्वभव न 5 मे महाशुक्र-स्वर्ग मे देव। पूर्वभव न 8 मे प्रियमित्र नामक राजपुत्र। पूर्वभव न. 3 मे सहस्रार-स्वर्ग मे 'सूर्यप्रभ' नामक देव। पूर्वभव न 2 में 'नन्दन' नामक सव्यन-पुत्र। पूर्वभव न 1 मे अच्युत-स्वर्ग 'के पुष्पोत्तर' विमान मे अहमिन्द्र। वर्तमान-भव मे 24वे तीर्थंकर महावीर हुये। — *(महापुराण सर्ग 74-76)*

महावीर के जीव ने महावीर के भव से दस-भव-पूर्व 'सिह' जैसी तिर्यंच-पर्याय मे दो ऋद्धिधारी मुनिराजो के सम्बोधन से आत्मबोधपूर्वक सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया और मोक्षमार्ग के प्रथम-सोपान पर पदविन्यास किया। कैसी विडम्बना थी कि स्वय तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से मनुष्य-पर्याय मे जो तत्त्व समझ मे नही आया, सामान्य-मुनिराजो के समझाने पर तिर्यंच-अवस्था मे भी उसने उसे आत्मसात् कर लिया। फिर क्रमश आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर रहते हुये विविध पुण्यशाली-पदो को अलकृत करते हुये अतत 'वैशाली'-गणतन्त्र के कुण्डग्रामाधिपति राजा सिद्धार्थ के आगन मे माँ प्रियकारिणी त्रिशला के हर्ष को बढाते हुये उसने चरमशरीरी बनकर मनुष्य-जन्म सार्थक किया।

राजा सिद्धार्थ के सम्बन्ध मे निम्नानुसार महिमागान प्राप्त होता है —

"भूपति-मौलिमाणिक्यः सिद्धार्थो नाम भूपतिः।"

— *(काव्य-शिक्षा, 31)*

"नाथो नाथकुलस्यैकः सिद्धार्थाख्यः।"

— *(उत्तरपुराण 75/8, पृष्ठ 482)*

माँ त्रिशला की कुक्षि मे महावीर के जीव के अवतरण से पूर्व उनकी मन:स्थिति का प्रभावी-चित्रण इस पद्य ने वर्णित है —

"एषैकवा तु नवकल्पलतेव भूयो, भूय· प्रपन्न-ऋतुकापि फलेन हीना।
आलोक्य केलिकलहसवधू सगर्भां, दध्यौ धरापतिवधूरिति वीनचेता॥"

— *(असगकविकृत वर्द्धमानपुराण)*

रानी त्रिशला को विवाह के वर्षों बाद भी पुत्रलाभ नही हुआ, इससे वह खिन्न रहती थी। उसने एक दिन ऋतु-स्नान के बाद उद्यान पुष्करिणी पर केलिमग्न-हसवधू को देखा, वह हसवधू गर्भवती थी। रानी त्रिशला

विचारने लगी कि 'मैं कल्पलता के समान बार-बार ऋतुमती होती हूँ; किन्तु फल कुछ नही अर्थात् फल से शून्य हूँ, पुत्ररहित हूँ।' इसप्रकार वह दीन-मन से विचारने लगी।

ऐसी मानसिक-पीडा भोगने के बाद जब गर्भावतरण के छह-मास पूर्व 'नन्द्यावर्त' महल के आगन मे दिव्य-रत्नवृष्टि होने लगी, तभी से भावी-तीर्थंकर के अवतरण की मनोरम-कल्पना सभी के मन मे अँगडाई लेने लगी। माँ प्रियकारिणी त्रिशला भी उस क्षण की उत्कठा से प्रतीक्षा करने लगी। फिर एक दिन आषाढ-शुक्ल-षष्ठी की प्रत्यूष-बेला (पचमी की रात्रि के अन्तिम-प्रहर) मे उन्होने दिव्य-फलसूचक उत्तमोत्तम सोलह-स्वप्न देखे, जिनका परिणाम राजा सिद्धार्थ और राजज्योतिष ने गणना करके भावी-तीर्थंकर बालक का गर्भावतरण घोषित किया —

"आषाढ-सुसित-षष्ठ्या हस्तोत्तर-मध्यमाश्रिते शशिनि।
आयातः स्वर्गसुख भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः॥"

— *(दशीक्तिसग्रह, आचार्य पूज्यपाद)*

प्रभु का गर्भावतरण होते ही स्वर्ग से छप्पन कुमारी-देवियाँ आकर माँ त्रिशला की सेवा का दायित्व सभालने लगी। क्रमश. गर्भकाल पूर्ण होने पर चैत्र-शुक्ल-त्रयोदशी के दिन प्रातःकाल वैशाली का सौभाग्य अवतरित हुआ। प्रभु के जन्म की सूचना पाते ही तीनो लोगो मे आनद छा गया और —

"उन्मीलितावधिवशा सहसा विवित्वा, तज्जन्मभक्ति-भरत· प्रणतोत्तमागा.।
घण्टा-निनाद-समवेतनिकायमुख्याः, दिष्ट्या ययुस्तदिति 'कुण्डपुर' सुरेन्द्रा॥"

— *(महाकवि असग-रचित 'वर्धमान-चरित्र')*

अवधिज्ञान से वैशाली के 'कुण्डपुर' मे तीर्थंकर का जन्म हुआ जानकर सुरेन्द्र 'तीर्थंकर का जन्म-कल्याणक' मनाने के लिए उस कुण्डपुर मे आये। उस समय भक्ति के भार से उनके मस्तक नत थे। प्रभु का जन्म हुआ है — इस बात की सूचना **कल्पवासी**-देवो को वहाँ उस समय **घटे** के बजने से हो जाती है। **व्यन्तर**-देवो को **भेरी** के वजनो से, **ज्योतिषियो** को **सिहनाद** के होने से, **भवनवासियो** को **शख** की मधुर ध्वनि होने से प्रभु के जन्म होने का समाचार विदित हो जाता है। सबके सब सुरेन्द्र अपने परिवार-सहित अपने-अपने भाग्य की सराहना करते हुए ठाठ-बाट से प्रभु का जन्म-कल्याणक मनाने वैशाली के कुण्डपुर को तुरन्त प्रस्थान किया।

स्वय सौधर्मेन्द्र भी भावी-तीर्थंकर का जन्मकल्याणक मनाने आया और सुमेरु-पर्वत की पाण्डुक-शिला पर सद्योजात-बालक पर एक हजार आठ कलशो से भव्य-जन्माभिषेक कर उसने भावी-तीर्थंकर बालक की स्तुति की —

"देव! त्वय्यद्य जाते त्रिभुवनमखिल चाद्यजात सनाथम्।
जातो मूर्तोद्य धर्मः कुमतबहुतमो ध्वस्तमद्यैव जातम्॥
स्वर्मोक्षद्वार-कपाट स्फुटमिह निवृत्त चाद्य पुण्याहमाशी-
र्जात लोकाग्रचक्षुर्जय-जय-भगवज्जीव वर्धस्व नद॥"

— *(प नेमिचद्र, प्रतिष्ठातिलक, 9/7)*

अर्थ — हे देव। तीर्थंकर वर्द्धमान। आज आपके जन्म लेने से सम्पूर्ण-त्रैलोक्य आज सनाथ हो गया है,

आज धर्म मूर्तरूप मे 'साक्षात्' उपस्थित हो गया है, कु-मत या मिथ्यात्वरूपी-तम आज नष्ट हो गया है, आज स्वर्ग और मोक्ष के द्वार, जो बन्द थे, खुल गये हैं; मै पवित्र हो गया हूँ। हे लोकाग्रचक्षु! हे भगवन्! आप जीवित रहो — बढते रहो, आनन्दित होओ।

अपने लाडले पुत्र का नृप-सिद्धार्थ ने बडे लाड-दुलार से सार्थक-नामकरण किया 'वर्द्धमान' —

"श्रीवर्द्धमान इति नाम चकार राजा"

तब वहाँ उपस्थित समस्त देवो एव नर-नारियो ने तुमुलघोष किया —

"जय वड्ढमाण-जस वड्ढमाण"

अर्थ — जिनका यश सदा वर्द्धमान (उत्तरोत्तर वृद्धिगत) है, ऐसे 'वर्द्धमान' की जय हो।

उनके शरीर का वर्ण तपे हुए सोने के समान तेजस्वी एव नयनाभिराम था।

"णमिवूण वड्ढमाण <u>कणयणिह</u> देवराय-परिपुज्ज"

— (गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 401)

अन्यत्र इन्हे गाय के दूध के समान पीताभ-गौरवर्णी कहा गया है —

"<u>गोखीर-सखधवल</u> मस रुधिर च सव्वगे"

— (आ कुन्दकुन्द, बोधपाहुड, 4/38)

उनका शरीर एक-हजार-आठ शुभ-लक्षणो से युक्त था —

"सहसट्ठ-सुलक्खणेहि सजुत्तो"

— (दसणपाहुड, 35)

चूँकि उनके जन्म के समय नन्द्यावर्त 'राजप्रासाद' पर 'सिह'-चिह्नाकित ध्वजा फहरा रही थी, अत उनका चिह्न 'सिह' घोषित हुआ — **"सिहो अर्हता ध्वजा"** अर्थात् लिच्छिवियो की पताका (ध्वजा) पर 'सिह' का चिह्न अकित था।

तत्कालीन प्रख्यात-ज्योतिषियो ने तिथि-नक्षत्र, मुहूर्त्त आदि की विशद-गणनापूर्वक कुमार-वर्द्धमान की जन्मकुण्डली बनायी —
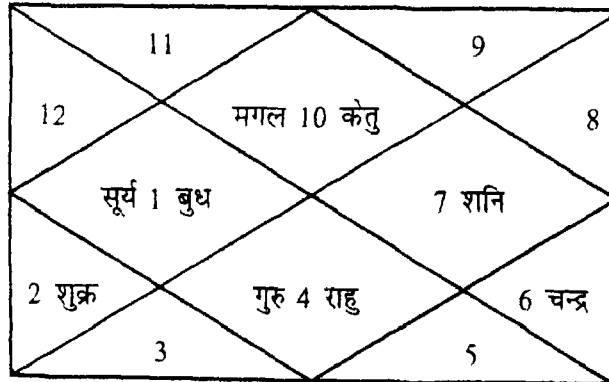
इसमे लग्न मे उच्च का मगलग्रह केतु के साथ है, सप्तम-स्थान मे राहु है और उस स्थान पर मगल की पूर्ण-दृष्टि है। इसलिये यह स्पष्ट है कि तीर्थंकर कुमार वर्द्धमान निश्चयरूप से **अविवाहित** रहे। उपर्युक्त ग्रह उनका **बाल-ब्रह्मचारी** होना सिद्ध करते है। चौथे-स्थान मे पापग्रहो से युक्त अष्टमेश है। मगल और शनि पापग्रह हैं।

डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार सप्तम-भाव मे राहु स्थित हो, इस भाव पर पापग्रह की दृष्टि हो, सप्तमेश पापाक्रान्त हो, तो पत्नी का अभाव रहता है। ऐसे जातक का विवाह नही होता, तथा इस योग से उसके सयमी होने की सूचना मिलती है।

यह तथ्य उनके अविवाहित रहने से पुष्ट तथा अपनी अल्प-आयु का बोध भी उन्हे ससार के बधनो से विरत रखकर सयममार्ग की ओर आकर्षित कर रहा था। इसप्रकार इनकी कुमारदीक्षा हुई और 'पच-बालयति'-तीर्थंकरो मे इनकी गणना हुई —

"वासुपूज्यस्तथा मल्लिर्नेमिः पार्श्वोऽथ सन्मतिः।
कुमाराः पंच निष्क्रान्ताः पृथिवीपतयः परे॥
— *(दशभक्ति, पृ 247)*

"वासुपूज्य-मल्लि-नेमि-पार्श्व-वर्धमान-तीर्थकराणा कुमारदीक्षिताना यौवनराज्य-स्थापनपर्यत जन्माभिषेक-क्रिया कुर्यात्।" — *(प्रतिष्ठातिलक 2 अ , पृ 5-3)*

समवायागसूत्र, ठाणागसूत्र, पउमचरिय तथा आवश्यकनिर्युक्तिकार द्वितीय-भद्रबाहु की मान्यता है कि **वर्द्धमान 'अविवाहित' थे।** उद्धरण के रूप मे 'समवायाग-सूत्र' की एक गाथा इसप्रकार है —

"तिहुयणपहाणसामि, कुमारकाले वि तविय तवयरणे।
वसुपुज्ज-सुव मल्लि चरिमतिय सत्थुवे णिच्च॥"

'कुमार' शब्द का अर्थ 'विवाहित' लेने पर पाँचो-तीर्थंकरो को 'विवाहित' मानना होगा, अत. यह सभव नही। — *(प दलसुखभाई मालवणिया)*

महान् दार्शनिक **पाइथागोरस** ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुये लिखते है —

"जो व्यक्ति अपने आप पर नियत्रण नही कर सकता है, वह स्वतत्र (स्वाधीन) नही हो सकता है। अपने आप पर शासन और अनुशासन की शक्ति-सामर्थ्य 'ब्रह्मचर्य' के बिना सभव नही है।"

यद्यपि युवराज-अवस्था में ही इनका चिन्तन और प्रशान्तमुद्रा विज्ञजनो को भी 'सन्मति' प्रदान करती थी —

"सजयस्यार्थ-सदेहे सजाते विजयस्य च।
जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रत:॥
तत्सदेहे गते ताभ्या चारणाभ्या स्वभक्तित ।
अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृत:॥"
— *(उत्तरपुराण, 74/282-3, पृष्ठ 462)*

अर्थ — पार्श्वापत्य 'सजय' और 'विजय' नाम के दो चारण-मुनियो को इस बात मे भारी-सन्देह उत्पन्न हो गया था कि मृत्यु के उपरान्त जीव पुनः किसी दूसरी पर्याय मे जन्म लेता है या नही? वर्द्धमान के जन्म के कुछ समय बाद उन चारण-मुनिराजो ने जब भावी-तीर्थंकर बालक-वर्द्धमान को देखा, तो उसी क्षण उनका वह सदेह दूर हो गया। अतएव उन्होने भक्ति से उनका नाम **'सन्मति'** रखा।

"जो सजय-विजयहि चारणेहि, अवलेइउ सेसवि वेववेउ,
णट्ठउ भीसणु सवेहहेउ, सम्मइ कोंक्कउ सजम-धणेहि।
विरइय-गुर-विणय-पयाहिणेहि॥"

— *(वीरजिणिदचरिउ, 1 10 15)*

'सजय' और 'विजय' नामक चारणऋद्धिधारी मुनियो ने उनके शैशवकाल मे ही देवो के देव तीर्थकर-वर्द्धमान को जान लिया। फिर तीस वर्ष की आयु मे उन्हे 'जातिस्मरण' के कारण वैराग्य उत्पन्न हुआ, और वे साक्षात् सयम-साधना के मार्ग पर अग्रसर हो गये थे।

"य· सर्वसिद्धान्प्रणिपत्य केशानुत्पाट्य विव्याबरमाल्यभूषा।
त्यक्त्वा प्रवव्राज निजात्मलब्ध्यै.. .. .. ॥"

— *(प्रतिष्ठापाठ, 309)*

उन्होने 'णमो सिद्धाण' उच्चारण करके उत्तम और देवापनीत सुन्दर वस्त्र-माल्य-आभूषणो को त्यागकर हाथो से पचमुष्टि-केशलोच किया और आत्मपद प्राप्ति-हेतु निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण की।

आत्मसाधना करते हुए वे एक बार कौशाम्बी-नगरी मे पधारे। वहाँ नारी-समूह की शिरोमणि आर्या-चन्दना अपने पूर्वकृत कर्मो का फल भोगती हुई श्रेष्ठि-वृषभदत्त की पत्नी की ईर्ष्या के कारण तलघर मे बदिनी बनी हुई थी। उसके आहारदान के पुण्य-परिणाम को सफल बनाते हुए मुनिराज वर्द्धमान ने उससे आहार ग्रहण किया एव दानतीर्थ की परम्परा मे तो नया अध्याय जोडा ही, नारियो के आत्मगौरव की प्रतिष्ठा भी की।

आहारदान-चन्दना की महिमा के बारे मे आचार्य गुणभद्र लिखते है —

"शील-महात्म्यसभूतपृथुहेमशराविका।
शालयन्नभाववत्कोद्रवोदन विधिवत्सुधी॥"

— *(उत्तरपुराण, 74/346)*

अर्थ — चन्दना के शील के माहात्म्य से मिट्टी के बर्तन स्वर्णमय हो गये तथा साधारण उबले हुए कोदो उत्कृष्ट-शालितदुल से निर्मित खीर बन गये।

इसीप्रकार निरन्तर आत्मसाधना एव विहार करते हुए बारह-वर्ष व्यतीत होने पर 'जृम्भिका' ग्राम के निकट 'ऋजुकूला' नदी के तट पर उन्हे कैवल्य की प्राप्ति हुई —

"ग्राम-पुर-खेट-कर्वट-मडम्ब-घोषाकरान्प्राविहार।
उग्रैस्तपोविधानै-र्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः॥"

— *(पूज्यपाद, निर्वाणभक्ति, 10)*

"नयन द्वादशवर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चचार"

— *(शीलाक, आचाराग-सूत्रवृत्ति, पृ 273)*

"गमइय छदुमत्थत्त बारसवासाणि पच-मासे य।
पण्णरसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो॥"

— *(जयधवला, भाग 1, पृ. 81)*

अर्थ — मुनिदीक्षा के बाद छद्मस्थ-अवस्था मे बारह वर्ष, पाँच माह और पन्द्रह दिन व्यतीत करने के उपरान्त महावीर मन-वचन-कर्म से शुद्ध (वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान्) बन गये।

इसप्रकार तीसरे 'ज्ञान-कल्याणक' का मगल-प्रसग उपस्थित हुआ। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने तत्काल एक योजन के क्षेत्र मे विस्तृत-धर्मसभा 'समवसरण' की रचना की। बारह-सभाओ मे मनुष्य, तिर्यंच और देव तीर्थंकर के मगल-प्रवचन 'दिव्यध्वनि' के श्रवणार्थ एकत्रित हुए; किन्तु उन्हे निराश होना पडा। नियत-समय पर तीर्थंकर महावीर का वहाँ से विहार हो गया। यह क्रम कई दिनो तक चला, तो इन्द्र चिन्तित हो गया। उसने अपने अवधिज्ञान से जाना कि समर्थ-शिष्य के अभाव मे दिव्यध्वनि नि:सृत नही हो रही है। तब अवधिज्ञान से ही गौतम-गोत्रीय इन्द्रभूति नामक विप्रवर को इस पद के योग्य पाया और नीतिपूर्वक वह उन्हे समवसरण मे ले आया। समवसरण मे तीर्थंकर का मानस्तम्भ देखने मात्र से उनमे अतिशय-विनय का भाव जागृत हुआ और उन्होने तीर्थंकर महावीर का शिष्यत्व अगीकार कर लिया। इस बारे मे निम्नानुसार उल्लेख मिलते हैं —

"मानस्तम्भ-विलोकनादवनतीभूत शिरो बिभ्रता,
पृष्टस्तेन सुमेधसा स भगवानुद्दिश्य जीवस्थितिम्।
तत्सशीतिमपाकरोज्जिनपति· सभूत दिव्यध्वनि-
र्दीक्षा पञ्चशतैर्द्विजातितनयै· शिष्यै सम सोऽग्रहीत्॥"

— *(महाकवि असग, वर्धमान-चरितम्, 18/51)*

मानस्तम्भ के देखने से नम्रीभूत-शिर को धारण करनेवाले उस बुद्धिमान् इन्द्रभूति ने जीव के सद्भाव को लक्ष कर भगवान् महावीर से पूछा और उत्पन्न हुई 'दिव्यध्वनि' से सहित भगवान् महावीर ने उसके सशय को दूर कर दिया। उसी समय पाँच सौ ब्राह्मण-पुत्रो के साथ उस इन्द्रभूति ने श्रमण-दीक्षा से अपने को विभूषित किया।

"श्रीवर्द्धमानस्वामिन, प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी 'जयति भगवन्' इत्यादि स्तुतिमाह। ततश्च जयति भगवान् इत्यादि नमस्कार कृत्वा जिनदीक्षा गृहीत्वा केशलोचनानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसमृद्धिसम्पन्नास्त्रयोपि गणधरदेवा. सजाता·। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाग-श्रुतरचना कृतवान्।"

— *(बृहद् द्रव्यसग्रह, सस्कृत टीका)*

अर्थ — गौतम-गणधर ने भगवान् महावीर तीर्थंकर के प्रत्यक्ष दर्शन कर 'जयति भगवान्' इन शब्दो से प्रारभ करते हुये स्तुति की तदनन्तर गौतम, अग्निभूति और वायुभूति इन तीनो विद्वानो ने तीर्थंकर महावीर भगवान् को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। निर्ग्रन्थ-दीक्षा ग्रहण की और केशलोच करने के अनन्तर ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान चारो ज्ञान उनको प्रकट हो गये तथा सातो प्रकार की ऋद्धियाँ प्रगट हो

गई। इसप्रकार वे तीनों ही मुनि उस समय भगवान् महावीर के गणधर हुये। उनमें से गौतम-स्वामी ने भव्य-जीवो का उपकार करने के लिये द्वाद्वशाग-श्रुतज्ञान की रचना की।

इन तीन के अतिरिक्त आठ अन्य गणधर बने, इसप्रकार भगवान् महावीर के कुल **ग्यारह** गणधर थे।

दिव्यध्वनि या शासनदिवस की तिथि व स्थान

पचशैलपुर मे (राजगृह मे) रमणीक, विपुल व उत्तम, विपुलाचल नाम के पर्वत के ऊपर भगवान् महावीर ने भव्य-जीवो को उपदेश दिया। इस अवसर्पिणी-अल्पकाल के दु:षमा-सुषमा नाम के चौथे-काल के पिछले-भाग मे कुछ कम 34 वर्ष बाकी रहने पर, वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण-मास मे कृष्णपक्ष-प्रतिपदा के दिन प्रात काल के समय आकाश मे अभिजित-नक्षत्र के उदित रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

— *(ध 9/4, 1, 44/गा 29/120); (क पा /1/1-1/56/गा 20/78)*

केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर भी 66 दिन तक उनमे तीर्थ की उत्पत्ति नही हुई थी, इसलिये केवलीकाल मे 66 दिन कम किये जाते है। — *(क पा 1/1, 1/56/75/5)*

'व्याख्या-प्रज्ञप्ति-अग' मे प्राप्त उल्लेख के अनुसार शिष्यत्व अगीकार करके एव 'गणधर' पद पर प्रतिष्ठित होकर इन्द्रभूति गौतम ने तीर्थंकर महावीर से साठ हजार प्रश्नो के द्वारा तत्त्वज्ञान अर्जित किया —

"च समुच्चये (5) अष्टाविशतिसहस्त्रलक्षद्वयपदपरिमाणा जीव किमस्ति। नास्तीत्यादिगण धरषष्टि सहस्त्रप्रश्नव्याख्यावित्री व्याख्याप्रज्ञप्ति· 2280001॥" — *(श्रुतभक्ति , क्रियाकलाप 173)*

अर्थ – जीव है अथवा नही है? — इसप्रकार गौतम-गणधर देव ने साठ हजार प्रश्न भगवान् अरिहत देव महावीर से पूछे। उन सब प्रश्नो का तथा उनके उत्तरो का वर्णन 'व्याख्या-प्रज्ञप्त्यग- मे है। इसकी पद-सख्या दो लाख अट्ठाईस हजार जघन्य है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है कि श्रुत का ग्रहण एव प्रकटीकरण गौतम-गणधर के द्वारा हुआ है —

"वीरमुहकमलणिग्गय-सयल-सुवग्गहण-पवयण-समत्थ।
णमिदूण गोवम तह, सिद्धतालयमणुवोंच्छ॥"
— *(गोम्मटसार जीवकाण्ड 728)*

तीर्थंकर-महावीर के मुखकमल से निर्गत समस्त-श्रुतसिद्धान्त के ग्रहण करने और प्रकट करने समर्थ गौतम-गणधर को नमस्कार करके मै इस सिद्धान्तालय (सिद्धातग्रथ) को कहूँगा।

तीर्थंकर-महावीर के तीर्थ मे दस 'अन्त:कृत-केवली' हुए, जिनका उल्लेख आगमग्रथो मे निम्नानुसार मिलता है —

उक्त च तत्त्वार्थभाष्ये —

"ससारस्यान्त: कृतो यैस्तेऽन्त.कृता: नमि-मतग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक- वलीक-निष्कविल

पालम्बाष्टपुत्रा इति — एते वस वर्द्धमान-तीर्थंकर-तीर्थे॥" — (*छक्खडागम 1, 1, 2, पृ 104*)

तीस वर्षों तक आचार मे 'अहिसा', विचार में 'अनेकान्त', वाणी मे 'स्याद्वाद' एव जीवन मे 'अपरिग्रह' — इस सिद्धान्त-चतुष्टयी का सम्पूर्ण देश मे प्रतिपादन करने के बाद बिहार-प्रान्त की ऐतिहासिक 'पावानगरी' के बहुत से सरोवरो मध्यवर्ती 'महापद्म-सरोवर' के निकट स्थित 'महामणिशिलातल' नामक उच्चभाग पर योगनिरोध-कर कार्तिक-मास की अमावस्या-तिथि को प्रत्यूष-काल मे उन्होने देह का सबध भी छोडकर चैतन्यमात्ररूप मे अवस्थित होकर निर्वाणलाभ किया। इस अवसर पर भी देवो ने उनका 'मोक्षकल्याणक' गरिमापूर्वक मनाया।

महावीर-संवत्

भगवान् महावीर के सिद्धान्त और उनका जीवनदर्शन उनके काल से लेकर आजतक निरन्तर प्रासगिक बना रहा है। भगवान् महावीर के निर्वाण के मात्र **चौरासी वर्ष** हुये थे कि उनका सवत् एक शिलालेखीय प्रमाण मे प्राप्त होता है। यह शिलालेख सप्रति अजमेर (राज) के राजकीय-सग्रहालय मे विद्यमान है।

भगवान् महावीर के सम्बन्ध मे तीन-प्रकार के सवतो का उल्लेख मिलता है। **पहला** है 'वीर-सवत्', जो कि सामान्यत भगवान् महावीर के जन्म से सम्बन्धित माना जाता है। **दूसरा** है 'वीरशासन-सवत्', जो उनकी प्रथम-दिव्यध्वनि की तिथि से सम्बद्ध है, तथा **तीसरा** है 'वीर-निर्वाण-सवत्', जो कि भगवान् महावीर के परिनिर्वाण की तिथि से प्रवर्तित है। आज मुख्यत 'वीर-सवत्' 'या 'महावीर-सवत्' के नाम से मात्र 'वीर-निर्वाण-सवत्' को मुख्यत लिया जाता है।

भगवान् महावीर से सम्बन्धित प्रमुख-पर्व

1. **महावीर-जयन्ती** — यह भगवान् महावीर जन्म-कल्याणक की मगलतिथि है। आज भारतवर्ष के राजपत्रित-अवकाशो मे जैन-समुदाय के पर्वो मे एकमात्र इसी तिथि पर सरकारी-अवकाश घोषित है।

2. **वीरशासन-जयन्ती** — कैवल्य-प्राप्ति के 66 दिन बाद जब प्रथमबार भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी थे, तो वह दिन 'वीरशासन-पर्व' के रूप मे मनाया गया था। उसे ही आज 'वीरशासन-जयन्ती' के रूप म साल्लास मनाया जाता है।

3. **धन्य-त्रयोवशी (धनतेरस)** — यह एक धार्मिक-पर्व है, तथा जैन-परम्परा और भगवान् महावीर से इसका कोई सम्बन्ध है — यह तथ्य अधिकाश लोग नही जानते है। जब लोगो को विदित हुआ, कि कार्तिक-कृष्ण अमावस्या के प्रत्यूष-बेला मे भगवान् का निर्वाण हो जायेगा, तथा उनकी अन्तिम दिव्यध्वनि कार्तिक-कृष्ण त्रयोदशी को खिरेगी, तो अनेको भव्य-जीवो ने अपनी पात्रता प्रकट करके भगवान् के उस अन्तिम-उपदेश को आत्मसात् कर अपना कल्याण किया था। अत: उन सबका जीवन धन्य हो जाने से इसे 'धन्य-त्रयोदशी' सज्ञा दी गयी। इसी को अपभ्रशरूप 'धनतेरस' हो गया। भौतिक धन-सम्पत्ति से इस पर्व का कोई सम्बन्ध नही है तथा आत्मिक-पात्रता प्रकट करने की प्रेरणा यह पर्व देता है, धातु के पात्रो (बर्तनो) को खरीदने से इसकी सार्थकता नही है; क्योकि तत्त्वज्ञान का सग्रह पवित्र आत्मिक-परिणामो मे सुपात्र-जीव कर पाते है, भौतिक-धातुपात्रो मे

उसका सग्रह सभव ही नही है। अत: यह आध्यात्मिक-विकास की प्रेरणा का पर्व है।

4 दीपावली — यह भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव से सम्बन्धित-पर्व है। प्रभु की निर्वाण-प्राप्ति के सुअवसर पर ज्ञानसूर्य के तिरोहित हो जाने पर अपने अन्तस् मे ज्ञानदीप की 'आवली' या 'मालिका' प्रज्जवलित कर भक्तजनो ने 'दीपावली' या 'दीपमालिका' पर्व मनाया था। इसका वास्तविक उद्देश्य अन्तर्मन के अज्ञान-अन्धकार का निवारण था। उसी के प्रतीकरूप मे भौतिक-दीपो की अवलियाँ जलाकर एक आध्यात्मिक-सन्देश दिया गया था। इसी को चरितार्थ करते हुये भगवान् महावीर के प्रधान-शिष्य इन्द्रभूति गौतम, जिन्हे 'गौतम गणधर' भी कहते हैं, ने इसी दिन सध्याकाल कैवल्यज्योति प्रकट कर ली थी। अत: उस केवलज्ञान-ज्योति के प्रतीकरूप मे पुन॰ दीपमालिका प्रज्जवलित कर केवलज्ञान की पूजा की गयी थी। अत॰ इस दिन प्रात॰काल एव सायकाल — दोनो समय दो स्मृतियो को ताजा रखने के लिये दीपावली जलाकर हम 'दीपावली-पर्व' मनाते है।

तीर्थकर महावीर के सिद्धातो की प्रासंगिकता

भारतीय-जीवन एव सस्कृति पर भगवान् महावीर के अहिसा, अनेकान्त आदि सिद्धातो का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। जैन-परम्परा के अनुसार तीर्थंकर के समान पुण्यशाली जीव अन्य कोई नही होता, और उनके इस उत्कृष्ट पुण्य का ही प्रभाव होता है कि तीनो लोको मे धर्म की ऐसी उत्कृष्ट प्रभावना सभव होती है। यह भी माना गया है कि एक तीर्थंकर का पुण्य-प्रसार अगले तीर्थंकर के प्रार्दुभाव (तीर्थोत्पत्ति) होने तक निरन्तर माना जाता है। तदनुसार जब इस भरतक्षेत्र मे आगामी तीर्थंकर उत्पन्न होगे, और उन्हे कैवल्य-प्राप्ति के बाद तीर्थ की उत्पत्ति होगी, तब तक भगवान् महावीर का तीर्थ ही प्रवर्तमान रहेगा और भगवान् महावीर जिनशासन के नायक बने रहेगे।

जैनधर्म के 24वे तीर्थंकर भगवान् महावीर अपने युग के महान् विचारक थे। वे युगद्रष्टा महापुरुष और श्रेष्ठ धर्मप्रवर्तक थे। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक तीर्थकर धर्म के सस्थापक न होकर मात्र धर्मप्रवर्त्तक होते है। 'तीर्थकर महावीर' भी ऐसे ही धर्मप्रवर्त्तक थे, जिन्होने अपने पूर्ववर्त्ती 23 तीर्थंकरो की परम्परा को आगे बढाया। वे चित्त की शुद्धता, आचरण की पवित्रता तथा इन सबसे ऊपर मानवता के प्रचारक थे। आत्महित के साथ लोकहित का उपदेश देना उनका वैशिष्ट्य था। उन्होने दलित मानवता के उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होने प्राणीमात्र के कल्याण की बात की। उनके सिद्धातो मे निहित सार्वजनीन एव हितकारी भावनाओ के कारण ही समन्तभद्राचार्य जी ने उनके तीर्थ को 'सर्वोदय तीर्थ' की सज्ञा दी है। उनके सिद्धातो का प्रभाव सार्वत्रिक एव सार्वकालिक है।

वर्तमान भौतिकता के प्रति व्यामोह एव आपाधापी के इस युग मे तीर्थंकर महावीर के सदेश हमे दिशाबोध देने मे समर्थ है। उनके सिद्धात सुख-शाति की चाह मे भटकती पीढी को शाति का पान कराने मे सक्षम है। 'महावीर' निर्ग्रन्थ थे, वे आतरिक एव बाह्य-ग्रंथि (गाठ) से रहित थे। "जिसके भीतर और बाहर की ग्रथि नही रही, जो भीतर-बाहर स्वच्छ एव निर्मल हो, जिसकी अहता और ममता नि:शेष हो गई हो, वही 'निर्ग्रन्थ' कहलाता है।"[1] उनके विचार अहकार और ममता से रहित (नि:शेष) व्यक्तित्व के विचार थे। उनकी सोच रचनात्मक थी, चूँकि 'विरोध से विरोध उत्पन्न होता है', अत: उन्होने विरोधो मे सामजस्य की बात कही। उन्होने स्वय कभी किसी का विरोध नही किया और न ही किसी के विरोध या निषेध का विचार दिया। उन्होने

विरोधो में रचनात्मकरूप से समन्वयवादी-दृष्टिकोण रखा, विध्वसात्मक नही। जिसमे टकराव के स्थान पर आपसी-सौमनस्य का भाव विद्यमान है। उन्होने 'अनेकान्त' एव 'स्याद्वाद' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन सिद्धातो से हमे सहिष्णुतापूर्वक समन्वय का सदेश मिलता है। प्रत्येक-वस्तु मे अनेक धर्म (गुण) होते है, उसे अनेक-दृष्टिकोणो से देखना व जानना 'अनेकान्त' है।

रामधारी सिह 'दिनकर' के शब्दो में — "अनेकान्त चिन्तन की अहिसामयी-प्रक्रिया का नाम है। अत: चित्त से पक्षपात की दुरभिसंधि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो। वह भी वही लहरा रहा है।[2]

भगवान् महावीर ने 'अनेकान्त' सिद्धान्त का कथन करके विश्व-धरातल पर 'सर्वधर्म-समभाव' का आदर्श-उदाहरण प्रस्तुत किया। 'स्याद्वाद'-सिद्धान्त अनेकान्त-चिन्तन की अभिव्यक्ति की शैली है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के कथन करने की समीचीन पद्धति है, जो सामजस्य की द्योतक है। 'स्यात्' शब्द सापेक्षात्मक है। सर्वथा 'ही' के स्थान पर 'भी' शब्द को भी जोडता है। अपनी दृष्टि को विशाल, विचारो को उदार, वाणी को आग्रहहीन, निष्पक्ष एव नम्र बनाकर अपना सद्- अभिप्राय प्रकट करना 'स्याद्वाद' है।[3]

वर्तमान मे एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से, एक राज्य को दूसरे राज्य से, एक समाज को दूसरे समाज से, एक परिवार को दूसरे परिवार से, यहाँ तक कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से जो विरोध आपसी-मतभेद, हठवादिता, मनमुटाव एव टकराव का वातावरण बन रहा है, उसे महामना तीर्थंकर महावीर के 'समन्वयवादी'-विचारो से ही रोका जा सकता है।

तीर्थंकर महावीर के उपदेश 'सर्वकल्याण' की भावना से अनुप्राणित है। सभी प्राणियो के हित की भावना या कामना उनके सदेश का मूलभाव है। उनका भवकल्याण-सबधी विचार विशेष-वर्ग, जाति-वर्ण, देश और समय की सीमाओ से परे है। उनका उपदेश सबके लिए है। उसमे सबके हित और सुख की भावना समाहित है।

भगवान् महावीर श्रेष्ठ-दार्शनिक थे। उन्होने मानवीय-सोच के कई नए-मानदड स्थापित किए। अहिसा का दर्शन (विचार) उनमे से एक है। उन्होने अहिसा के विचार को विस्तृत-फलक पर व्याख्यायित किया। यह विश्व का श्रेष्ठ दर्शन है। यह जाति, वर्ग, सप्रदाय से ऊपर उठा अत्यत व्यापक-विचार है। इसका मूल-लक्ष्य मानव की व्यावहारिक-धरातल की विषमताओ का शमनकर एक ऐसी जमीन को तैयार करना है, जिसमे केवल प्रेम और विश्वास की फसल लहलहा सके। उन्होने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का उद्घोष किया। उनका मानना था कि "प्रत्येक आत्मा मे अमृतत्व की शक्ति प्रच्छन्नरूप से विद्यमान है। प्रत्येक आत्मा अपनी यह शक्ति प्रकट कर सकती है। एक आत्मा को सुख-दु:ख की जैसी अनुभूति होती है, वैसी ही अन्य-आत्मा की भी होती है।" आत्मिक-जुडाव से अनुस्यूत 'जियो और जीने दो' उनका सूत्र-वाक्य था।

तीर्थंकर महावीर ने अहिसा की भावभूमि पर संस्थित 'सत्त्वेषु मैत्री' का सदेश दिया, जिसमे प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखने की भावना समाहित है। मन, वचन और काया (शरीर) से कुछ भी ऐसा मत करो, जिससे दूसरो को पीड़ा हो, उनका अकल्याण या अहित हो। वर्तमान मे बढती हुई हिसक-प्रवृत्ति, दया-रहित परिणाम,

बैर-विरोध, घृणा, वैमनस्यता एव अमानवीय-सोच को अहिंसा की शक्ति (भावना) के द्वारा बदला जा सकता है। उनकी अहिसा मे प्रकृति के सूक्ष्म-जीव के प्रति भी दयाभाव विद्यमान है। उन्होंने न केवल आचार, वरन् विचारों के क्षेत्र मे भी अहिसा की बात कही है। "इतिहासकार भी यह स्वीकार करते हैं कि वैदिक-ब्राह्मणो को महावीर की अहिसा और जीवन-सिद्धातो से प्रभावित होकर यज्ञ-यागादि का रूप बदलना पडा। उसके बाद जो वैदिक -साहित्य निर्मित हुआ, उसमे 'ज्ञानयज्ञ' को प्रमुखता दी गई, 'कर्मयज्ञ' को महत्त्व दिया गया और आधिभौतिक-स्वरो के स्थान पर आध्यात्मिक-स्वर गूजने लगे। आचार और विचार दोनो मे ही 'अहिसा' को मान्यता दी गई।"[4]

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी भगवान् महावीर के 'अहिसा'-दर्शन से प्रभावित हुए थे। उन्होने भगवान् महावीर की अहिसक, त्यागपूर्ण जीवन-शैली एव सद्विचारो को चरितार्थ किया था। भारत के सविधान की मूलप्रति के मुखपृष्ठ पर चौबीसवे तीर्थंकर 'भगवान् महावीर' का दिगम्बर-मुद्रा मे ध्यानस्थ-चित्र अकित है। उसमे उल्लिखित है – "Vardhamana Mahavır, the 24th Tırthankara ın a medıtatıve posture, another ıllustratıon from the Callıgraphed edıtıon of the Constıtutıon of Indıa Jaınısm ıs another stream of spırıtual renaıssance whıch seeks to refine and sublımate man's conduct and emphasıses Ahımsa, non-vıolence, as the means to achıeve ıt This became a potent weapon ın the hands of Mahatma Gandhı ın hıs polıtıcal struggle agaınst the Brıtısh Empıre" —

"जैनमत आध्यात्मिक-पुनर्जागरण की एक विशिष्ट-धारा है, जो कि मनुष्य के आचार-विचार को उदात्त बनाने के साथ-साथ इसकी प्राप्ति के लिए अहिसा पर बल देता है। 'अहिसा' महात्मा-गाँधी के हाथो मे ब्रिटिश-साम्राज्य से राजनीतिक-सघर्ष करने मे सशक्त-अस्त्र बनी।"[5]

महात्मा गाँधी ने अहिसा के बल पर भारत को गुलामी से मुक्त कराया और विश्व-स्तर पर पराधीन-राष्ट्रो मे भी इसी शस्त्र के द्वारा स्वाधीनता की चेतना जागृत की।

तीर्थंकर महावीर का विलक्षण-व्यक्तित्व था। वे विशेष ज्ञान-ज्योति से सम्पन्न थे। उनके सिद्धात 'आत्मवाद' पर आधारित थे। वे आत्मा की अनत-शक्तियो पर विश्वास करते थे। उन्होने आत्मिक-शक्ति का परिचय पाने के लिए 'पुरुषार्थ' पर बल दिया। उन्होने आत्मा को अपना चरम एव परम-उत्कर्ष करने का आत्मविश्वास जगाया। जिससे मनुष्य अपने पुरुषार्थ के माध्यम से अतर मे बैठे ईश्वरत्व को पा सकता है। "जो अपने आपको पा लेता है, वही ईश्वर बन जाता है।"[6] वास्तव मे, "ईश्वर उन शक्तियो का उच्चतम, शालीनतम और पूर्णतम व्यक्तीकरण है, जो मनुष्य की आत्मा मे निहित होती है।[7]

कर्मवादी तीर्थंकर भगवान् महावीर का मानना है कि "अच्छे-बुरे कर्म एव उनके परिणाम के लिये आत्मा स्वय उत्तरदायी है।" उन्होने सम्पूर्ण मानव-जाति को ऐसे कर्म करने के लिये प्रेरित किया, जिनमे सामाजिक विकास के साथ-साथ आत्मिक विकास का भाव निहित हो। उन्होने मनुष्य को शाति, विकास और मोक्ष (मुक्ति) प्राप्ति का पथ प्रशस्त किया, जो वास्तव मे 'बाहर से भीतर की यात्रा' का मार्ग है। जो सत्य, निष्ठा, लोककल्याण आदि मार्गों से होते हुये 'अतर (भीतर) के 'आत्म-साक्षात्कार' का रास्ता है। इसके द्वारा उन्होने जनमानस को स्वावलम्बन तथा स्वाधीनभाव का महत्त्व समझाया।

तीर्थंकर महावीर ने मनुष्य को पाप-कर्मों मे प्रवृत्त न होने की सलाह दी। 'घृणा पाप से करो, पापी से

नही' — यह उनका सिद्धान्त-वाक्य है। इसके द्वारा उन्होने मनुष्य को दुष्कर्मों से बचने की बात कही। साथ ही पापी (बुरे) व्यक्ति को भी चारित्रिक-शुद्धि के द्वारा उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी दृष्टि मे वह व्यक्ति सुधार के पश्चात् सामाजिकरूप से तिरस्कृत या उपेक्षा का पात्र नही है। उनका अन्य-सिद्धात है — "मनुष्य जन्म से नही, कर्म से महान् बनता है।" यह सूत्र-वाक्य व्यक्ति को उच्चकर्म करने के लिए प्रेरित करता है। तीर्थंकर महावीर की दृष्टि मे कर्म की श्रेष्ठता ही महानता का मापदण्ड है। जिसके कर्म श्रेष्ठ है, वह व्यक्ति महान् (उच्च) है। सत्कर्मों के द्वारा कोई भी व्यक्ति महान् बन सकता है। तीर्थंकर महावीर का यह विचार उन मनुष्यो के दम्भ को तोडता है, जो जन्म से कुलीन होकर निकृष्ट-कार्यों मे सलग्न है।

तीर्थंकर महावीर ने 'अपरिग्रह' तथा 'परिग्रह-परिमाणव्रत' का उपदेश दिया। अपनी आवश्यकताओ को कम से कम करो, धन-सग्रह की लालसा पर अकुश रखो और उसे सीमा मे बाँध दो, यह 'परिग्रह-परिमाण व्रत' है। मनुष्य की इच्छाये असीम व अनत होती है। उनकी पूर्ति के लिए वे अन्याय, अत्याचार एव अनुचित साधनो का प्रयोग करते हैं। वर्तमान-समय मे जीवन की आपाधापी तथा राजनैतिक एव आर्थिक-क्षेत्र मे बढे हुये भ्रष्टाचार को रोकने मे 'अपरिग्रह' या 'सीमित सम्पत्ति का सिद्धान्त' अमोघ-अस्त्र साबित हो सकता है।

भगवान् महावीर ने स्त्रियो की स्वतत्रता पर जोर दिया। उन्होने धार्मिक-क्षेत्र मे भी स्त्रियो को चरम आत्मोत्थान के लिये दिशाबोध दिया। उनके 'नारी स्वातत्र्य' के विचारो से प्रेरित होकर स्त्रियो ने उनके '**समवसरण** मे आर्यिका (साध्वी) दीक्षा लेकर ससार-बधन से मुक्ति का मार्ग अपनाया। आर्यिका 'चदना' को उनके समवसरण' मे प्रथम '**गणिनी**' आर्यिका बनने का गौरव प्राप्त हुआ। आज सपूर्ण विश्व भी अनुभव करने लगा है कि नारी के सहयोग के बिना ससार की वास्तविक प्रगति नहीं है। नारी-सहयोग को लेकर विश्वभर मे राष्ट्र-स्तर पर बनाई गई सस्थाये इसका जीवन्त-प्रमाण है। भगवान् महावीर के 'जीव-साम्य' के सिद्धान्त ने युगातरकारी-परिवर्तन किया। उन्होने विश्वस्तर पर मनुष्यो के बीच विषमता की खाई पाटकर उन्हे समता (समानता) के धरातल पर उपस्थित किया।

उन्होने 'प्रकृतिचक्र के महत्त्व' को प्रतिपादित किया तथा प्रकृति के साथ मानव का आत्मीय-सबध जोडे जाने पर बल दिया है। उनका यह विचार 'पर्यावरण-सरक्षण' की दृष्टि से अत्यत प्रासगिक है। यदि इस विचार की उपेक्षा की जाती है, तो उसके दूरगामी-परिणामो को भोगने के लिये मानव-जाति अभिशप्त होगी।

तात्पर्य यह है कि महावीर तीर्थंकर या उपदेशक ही नही, स्वय एक जीवन-शैली है। यह जीवन-शैली खरी, अनुभूत आत्मचितन से मथी शैली है। इस कारण वह कथनी-करनी के अतर से परे अधिक विश्वसनीय एव अधिक व्यावहारिक है। वर्तमान मानव के जटिल-जीवन के सदर्भ मे महावीर की यह जीवन-पद्धति प्रतिक्षण वरेण्य है। यदि हम वास्तविक सुख-शाति की कामना करना चाहते है, तो इस जीवन-शैली के अलावा दुनिया का कोई भी ऐसा विकल्प नही है, जो हमे अपना अपेक्षित महत्त्व दे सके। भौतिक-विकास के चरम-सुखो को भोग चुके यूरोपीय-देशो के लोग आज जिस योग, ध्यान, शाति की कक्षाओ की खोज मे घूम रहे है, उन्हे वास्तविक-सुख तीर्थंकर महावीर की इस जीवन-शैली से मिल सकता है। महावीर ने तो जीवन को सरल और सहजभाव से जीने का मार्ग आज से वर्षों पहले खोल दिया था। अब देखना यह है कि हमारी दृष्टि उस

मार्ग पर कब पडती है और कब हम (मानव-जाति) अपने अमूल्य-जीवन को सार्थक कर सकते है।

भगवान् महावीर के 2600वें जनमकल्याणक-वर्ष के शुभ-अवसर पर लिये जाने योग्य कुछ संकल्प

1 भगवान् महावीर की जन्मभूमि एव निर्वाण-क्षेत्र का स्पष्ट-निर्धारण करते हुये गरिमापूर्ण-रीति से इनका विकास तथा इनके बारे मे परिचय-सामग्री तैयार करके इनका प्रचार-प्रसार करना।

2 साधनाकाल (मुनि-अवस्था) एव अरिहत-अवस्था मे भगवान् महावीर का जहाँ-जहाँ विहार हुआ, ऐतिहासिक अनुसधानपूर्वक उन क्षेत्रो का निर्धारण करना तथा कब-कब वे वहाँ गये, और कितने समय तक रहे, उस समय की कोई विशिष्ट-घटना आदि मिलती हो, तो उसकी सूचना-सहित यह भी निर्धारण करना कि वर्तमान-काल मे उस स्थान की भौगोलिक-पहचान क्या है। फिर तीर्थक्षेत्र-कमेटी के द्वारा उन क्षेत्रो पर एतत्-सबधी सूचना-सहित शिलालेख उत्कीर्ण करवाना। तथा पुरातत्त्व-विभाग राज्य सरकारो एव केन्द्र-सरकार के साथ-साथ स्थानीय-समाज का सहयोग लेते हुये उन क्षेत्रो को सरक्षित एव विकसित करना, तथा पर्यटन-मत्रालय एव सस्कति-मत्रालय के द्वारा प्रकाशित होनेवाली सूचना-सामग्रियो मे इसका प्रमुखता से उल्लेख करना।

3 भगवान् महावीर के जीवनचरित-विषयक सामग्री जिन ग्रथो ने आशिकरूप से है, जो एकसाथ सकलित करवाकर आधुनिक वैज्ञानिक-सपादन एव अनुवाद-सहित प्रकाशित कराना। तथा जो स्वतत्र-ग्रथ प्राचीन-आचार्यों एव मनीषियो के द्वारा भगवान् महावीर के जीवन एव चरित-विषयक लिखे गये है, उनमे जो सपादित एव अनुवादित होकर प्रकाशित हो चुके है, वे यदि अभी उपलब्ध है, तो उनका एक केन्द्रीकृत प्राप्ति-स्थान बनवाना। तथा यदि वे अप्रकाशित है, तो उनकी पाण्डुलिपियाँ सकलितकर सुयोग्य-विद्वानो के द्वारा उनके सपादन, अनुवाद एव प्रकाशन की व्यवस्था करना। पर्याप्त-ससाधन एव दृढ-सकल्प के साथ इस कार्य की पूर्णता के लिये पचवर्षीय-कार्ययोजना का निर्माण एव निष्ठापूर्वक इसे पूर्ण करने का सकल्प सामाजिक-नेतृत्व को लेना होगा। इसके साथ-साथ उच्चस्तरीय साहित्यिक-मर्यादा के अनुरूप जिन आधुनिक-विद्वानो ने प्रमाणिक-रीति से महावीर-विषयक साहित्य का निर्माण किया है, उसको भी उपलब्ध होने की स्थिति मे उसका केन्द्रीकृत वितरण-केन्द्र बनाया जाये। तथा अप्रकाशित या अनुपलब्ध होने की स्थिति मे पूर्वोक्त-पद्धति से उसका प्रकाशन कराया जाये।

4 महावीर के दर्शन के विभिन्न-पक्षो की वर्तमान-सदर्भों मे उपयोगिता को लेकर सक्षम-लेखको के द्वारा साहित्य-निर्माण एव उसके प्रकाशन की व्यापक-परियोजना बनाकर सक्षम-रीति से उनका अनुपालन किया जाये।

5 जैनधर्म-दर्शन के निर्विवाद एव लोककहितकारी-सिद्धातो को सरल सक्षिप्त-रीति से प्रकाशित कराया जाये, तथा साथ ही विभिन्न-केन्द्रो पर उन्हे शिलापटो, बोर्डों आदि पर लिखवाकर प्रसारित कराया जाये।

6 आधुनिक उच्चस्तरीय-सूचना-तकनीक का उपयोग करते हुये इन सपूर्ण-परियोजनाओ, उनकी प्रगति, उपलब्धियो आदि को इटरनेट एव सी डी जैसे आधुनिक सूचना-माध्यमो के द्वारा अतर्राष्ट्रीय-स्तर पर

प्रसारित किया जाये। तथा इसके लिये अतिआवश्यक और विशेष महत्त्वपूर्ग-सामग्री का अग्रेजी आदि भाषाओ मे अनुवाद कराके इटरनेट से विश्वव्यापी-स्तर पर प्रसारित किया जाये।

7. जैनधर्म के ग्यारह चुने हुये सिद्धातो को लोकोपयोगी-भाषाशैली मे सूत्रात्मक-रीति से निर्माण कराया जाये, और उन्हे भगवान् महावीर के सदेशो के रूप मे विश्व की प्रमुख-भाषाओ मे अनुदित कराकर विभिन्न-देशो के दूतावासो के कल्चरण-अटैची (सास्कृतिक-समन्वयक) के माध्यम से विश्वव्यापी-स्तर पर प्रसारित कराया जाये। इससे भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन की जानकारी हो सकेगी। तथा भगवान् महावीर से सबंधित प्रमुख-स्थलो का परिचय भी इसीप्रकार उनके पास भिजवाया जाये, ताकि उन देशो से आनेवाले पर्यटक भारत आने पर यथारुचि इन स्थलो पर भी जाये, जिससे सरकार इन स्थलो की उन्नति एव विकास के लये अधिक कार्य कर सकेगी, और इन क्षेत्रो की विश्वभर मे पहचान बन सकेगी।

8 महावीर के जीवन-दर्शन, परम्परा, भाषा आदि क्षेत्रो मे उत्कृष्ट अनुसधान, लेखन, सपादन व प्रकाशन करनेवाले विद्वानो को समुचित-रीति से सम्मनित किया जाये, ताकि अन्य लोग भी इस क्षेत्र मे कार्य करने के लिये प्रेरणा ग्रहण कर सके।

9 इन विषयो को अपना शोध-विषय बनानेवाले शोधार्थियो को पी-एच डी आदि शोध-उपाधियो के लिये शोध-प्रबन्ध लिखने के लिये शोधवृत्ति देकर इस दिशा मे प्रोत्साहित करना।

आज के महावीर के अनुयायियो को मात्र आयोजनो से सतुष्ट न होकर आचरण मे 'अहिसा', विचार मे 'अनेकान्त', वाणी मे 'स्याद्वाद' तथा जीवन मे 'अपरिग्रह' के पुण्यशाली-सिद्धातो को अपनाकर अपने जीवन को पवित्र बनाना होगा, तभी भगवान् महावीर का जीवन और दर्शन हमारे जीवन की निधि बन सकेगा। मन-वचन-काय की पवित्रता को अपनाये बिना मात्र जय-जयकार लगाकर और भीडभरे आयोजन कर हम भगवान् महावीर की 2600वी जन्म-जयन्ती के वर्षव्यापी-कार्यक्रमो की सफलता नही मान सकते है। इसकी सफलता का आधार हमारे मन-वचन-कर्म की पवित्रता होगी, न कि आयोजन-प्रियता।

❖❖

सदर्भ-सूची

1 जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग-एक), बलभद्र जैन, पृष्ठ 374

2 सस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिह दिनकर, पृ 153

3 जैन विषय-वस्तु से सबद्ध आधुनिक महाकाव्यो मे सामाजिक चेतना (शोध-प्रबध), पृ 23

4 जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 1), बलभद्र जैन, पृ 381-382

5 प्राकृतविद्या (त्रैमासिकी शोध पत्रिका), अक्तूबर-दिसम्बर 1997, आवरण पृष्ठ।

6 तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1), डॉ नेमिचद्र जैन।

7 भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास, बी एन लूनिया, पृ 102

❖❖

खण्ड 1

❖❖

वर्धमान महावीर का जीवन

❖❖

विषय-अनुक्रमणिका : खण्ड 1

मगलाचरण

महावीर-स्तवन

✍ प. आशाधर सूरि

(मदाकुलक राग)

सन्मति-जिनप सरसिज-वदन। सजनिताखिल-कर्मकमथन।
पद्मसरोवर-मध्यगतेन्द्रं। पावापुरि महावीर-जिनेन्द्रं॥1॥ पद्म....

वीर भवोदधिपारोत्तार। मुक्तिश्रीवधु-नगरविहार।
द्विर्द्वादशक तीर्थपवित्रं। जन्माभिकृत-निर्मलगात्रं॥2॥ पद्म....

वर्धमान-नामाख्य-विशाल। मानमानलक्षण-दशतालम्।
शत्रुविमथन-विकट-भटवीर। इष्टैश्वर्य-धुरी-कृतदूर॥3॥ पद्म....

कुडलपुरि सिद्धार्थभूपाल। तत्पत्नी-प्रियकारिणि-बाल।
तत्कुल-नलिन-विकाशित-हसं। घातपुरोघातिक-विध्वस॥4॥ पद्म....

ज्ञान-दिवाकर-लोकालोक। निर्जित-कर्माराति-विशोक।
बालत्वे सयम-सुपालित। मोहमहानल-मथन-विनीतं॥5॥ पद्म...

अर्थ – सन्मतिप्रदाता जिनप्रवर, कमलवदन, उपार्जित समस्त कर्मसमूह के विनाशक, पावापुरीस्थ पद्मसरोवर के मध्यगत (निर्वाणप्राप्त) श्री महावीर जिनेन्द्र (की मै वन्दना करता हूँ)॥1॥

ससार-रूपी समुद्र के पार उतारनेवाले 'वीर', मोक्षलक्ष्मी-रूपी कुलवधु के नगर में विहार करनेवाले, पवित्र चौबीसवे तीर्थंकर, जो कि जन्माभिषेक से निर्मल-शरीरवाले है, (– ऐसे महावीर जिनेन्द्र की मै वन्दना करता हूँ)॥2॥

'वर्द्धमान' नामवाले विशाल-व्यक्तित्त्व के धनी, समचतुरस्र-सस्थान से सुशोभित शरीरवाले, जो (कर्मरूपी) शत्रुओ को निर्मूल करने के लिये अत्यन्त शूरवीर-योद्धा है, सांसारिक-भोगो एव वैभव के मूल 'ममत्व' को दूर करनेवाले (महावीर जिनेन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ)॥3॥

जो कुडलपुरी के राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी (त्रिशला) के पुत्र है एव उनके कुलरूपी-कमल को विकसित करनेवाले हंस है, तथा जिन्होने प्राक्-अवस्था (अरिहत-अवस्था) मे ही घातिया-कर्मों का विध्वस कर दिया है (– ऐसे महावीर जिनेन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ)॥4॥

जो ज्ञानरूपी-सूर्य से लोकालोक को प्रकाशित करते हैं, पूर्वोपार्जित-कर्मों को नष्ट कर शोकरहित हो गये है, बाल्यावस्था से ही जिन्होने संयम का भलीभाँति पालन किया है, तथा मोहरूपी-दावानल को शान्त करनेवाले विनयसम्पन्न (महावीर जिनेन्द्र की मै वन्दना करता हूँ)॥5॥

❖❖

वर्द्धमान महावीर : मनीषियों की दृष्टि में

सिद्धत्थराय-पियकारिणीहि कुडले वीरे।
उत्तरफग्गुणि-रिक्खे चित्तसिया तेरसीए उप्पण्णो॥
— *(आचार्य यतिवृषभ)*

अर्थ — कुण्डलपुर मे राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी के घर चैत्र-शुक्ल त्रयोदशी को 'उत्तरफाल्गुनी'-नक्षत्र मे वीर-प्रभु का जन्म हुआ। ❖❖

जिण-जम्महो अणुदिण-सोहमाण, णिय-कुल-सिरि देक्खेवि वड्ढमाण।
सिय माणुकलाइ सहुँ सुरेहि, सिरि सेहर - रयणहि भासुरेहि॥
दहमे दिणि तहो भव बहु-निवेण, किउ 'वड्ढमाण' इउ णामु तेण॥
— *(विबुध श्रीधर)*

अर्थ — जिसकी जन्म लेने के उपरान्त दिनोदिन शोभा बढती गई और जिसके जन्म लेने पर कुल की श्री (लक्ष्मी) उसीप्रकार वर्द्धमान हुई, जैसे दिन मे भानु की कलाओ और रात्रि मे चन्द्रमा की कलाओ की श्री (शोभा) बढ जाती है, इसीलिए जन्म से दसवे दिन उस भवावलि-निवारक शिशुरूप प्रभु का नाम 'वड्ढमाण' (वर्द्धमान) रखा गया। ❖❖

विशाला जननी यस्य विशाल कुलमेव च।
विशाल वचन चास्य तेन वैशालिको जिन·॥
— *(सूत्रकृताग टीका)*

अर्थ — जिनकी जननी विशाला (बडे कुल व श्रेष्ठ-आचरणवाली), कुल विशाल (उच्च) तथा वचन विशाल-आशयवाले थे, वे जिनेन्द्र-प्रभु इन कारणो से 'वैशालिक' कहलाते थे। ❖❖

सन्मतिर्महतिवीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यप·।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥
— *(कवि धनञ्जय)*

अर्थ — जिनका तीर्थ (धर्मतीर्थ) लोक मे सम्प्रति (इस समय) चल रहा है, वे सन्मति, महतिवीर, महावीर, अन्त्यकाश्यप (काश्यप-गोत्रीय), नाथान्वयी वर्द्धमान है। ❖❖

सो णाम महावीरो जो रज्ज पयहिऊण पव्वइयो।
काम-कोह-महासत्तुपक्ख णिग्घायण कुणइ॥
— *(अनुयोगद्वार-सूत्र)*

अर्थ — उन्ही का नाम महावीर है, जिन्होने राज्य-वैभव का परित्याग कर प्रव्रज्या (दीक्षा) ली और

काम-क्रोध आदि विकराल-शत्रुओ के पक्ष का निग्रह किया। ❖❖

निगठो आवुसो णातपुत्तो सव्वण्णु सव्वदस्सी अपरिसेसे णाण-दस्सण परिजानाति।

— *(मज्झिमनिकाय, भाग 1)*

अर्थ — आयुष्मान निगठ (निर्ग्रन्थ) नातपुत्त (ज्ञातृपुत्र) (भगवान महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है। वह अपने अपरिशेष (असीम) ज्ञान-दर्शन द्वारा सब कुछ जानते है। ❖❖

सो जयदि जस्स केवलणाणुज्जल-दप्पणम्मि लोयालोय।
पुढ पदिबिब दीसदि वियसिय, सयवत्त-गब्भउरो वीरो।।

— *(आचार्य गुणधर)*

अर्थ — जिनके केवलज्ञानरूपी उज्ज्वल-दर्पण मे लोकालोक स्पष्ट-प्रतिबिबित हुये दीखते है और जो विकसित कमल-गर्भ के समान तप्त-स्वर्णाभ है, वे वीर भगवान् जयवन्त हो। ❖❖

ण पेम्मे णिसण्णो महावीर-सण्णो। तमीसं जदीण जए सजदीणं।।
दमाण जमाण खमा सजमाण। उव्वाण रमाण पबुद्धत्थमाण।।
दया-वड्ढमाण जिणे वड्ढमाण। सिरेण णमामो सिरी वड्ढमाण।।

— *(आचार्य पुष्पदन्त)*

अर्थ — प्रेम मे निस्सग (विषय-वासना मे अनासक्त) महावीर हमारे लिये शरण हैं। उस इन्द्रियजयी-सयमी ईश की जय हो। दम, यम, क्षमा, सयम के धारक, अभ्युदय एव नि:श्रेयसरूप उभय-लक्ष्मी मे रमण करनेवाले, सम्पूर्ण तत्त्वार्थ के ज्ञाता तथा वृद्धिगत दयावान वर्द्धमान-जिनेन्द्र को हम मस्तक झुकाकर नमन करते है। ❖❖

नम श्रीवर्द्धमानाय निर्द्धूत-कलिलात्मने।
सालोकाना त्रिलोकाना यद्विद्या दर्पणायते।।

— *(आचार्य समन्तभद्र)*

अर्थ — जिन्होने अपनी आत्मा से कर्ममल धो डाला है और जिनकी विद्या (ज्ञान) मे अलोकाकाश-सहित तीनो लोक दर्पणवत् प्रतिबिबित होते है, उन श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार है। ❖❖

नमो नम· सत्त्वहितकराय, वीराय भव्याम्बुज-भास्कराय।
अनन्तलोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।

— *(पूज्यपाद देवनन्दि)*

अर्थ — समस्त प्राणियो का हित करनेवाले, भव्यरूपी अम्बुजो (कमलो) को सूर्य के समान प्रफुल्लित करनेवाले, अनन्तलोक को देखनेवाले सुरो (देवो) द्वारा अर्चित (पूजित) देवाधिदेव वीर-जिनेन्द्र को बारम्बार नमस्कार है। ❖❖

संसार-दावानल-दाह-नीरं, संमोह-धूलीहरणे समीरम्।
मायारस-दारण-सार-सीरं, नमामि वीर गिरिसार-धीरम्॥

— (आचार्य हरिभद्रसूरि)

अर्थ — ससाररूपी दावानल की दाह (ज्वाला या जलन) को शान्त करने के लिये नीर (जल) के समान, सम्मोहरूपी धूल को उडाने के लिये समीर (हवा) के समान, माया के रस को सोखने के लिये सीर (सूर्य) के समान तथा गिरि के समान धीर (धैर्यवान) 'वीर' को मै नमस्कार करता हूँ। ❖❖

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम्।
श्रीवर्द्धमान जिनमाप्तमुख्य स्वयम्भुव स्तोतुमह यतिष्ये॥

— (आचार्य हेमचन्द्रसूरि)

अर्थ — अनन्तज्ञान के धनी, समस्त-दोषो से रहित, अकाट्य-सिद्धान्त के प्रतिपादक, देवो द्वारा पूजित, आप्त-पुरुषो मे प्रमुख, स्वयभू वर्द्धमान-जिनेन्द्र की स्तुति करने का मै प्रयत्न करता हूँ। ❖❖

कुडलपुरि-सिद्धार्थ-भूपालम्, तत्पत्नी-प्रियकारिणी-बालम्।
तत्कुलनलिन-विकाशितहसम्, घातपुरोघातिक-विध्वसम्॥
ज्ञानदिवाकर-लोकालोकम्, निर्जित-कर्मारार्ति-विशोकम्।
बालवयस्सयम-सुपालितम्, मोहमहानल-मथन-विनीतम्॥

— (प आशाधरसूरि)

अर्थ — वह कुडलपुर के राजा सिद्धार्थ और उनकी पत्नी प्रियकारिणी के बालक (पुत्र) है। उनके कुलरूपी-कमल को विकसित-करनेवाले सूर्य के समान है। समस्त घात-प्रतिघात के विध्वसक है। अपने ज्ञानरूपी सूर्य से लोक और अलोक को प्रकाशित करनेवाले है। कर्म-शत्रुओ को पराजित कर वे विशोक (शोक से विहीन) हुए है। बालवयः से ही सयम का सम्यक् पालन कर और मोहरूपी महाअग्नि का शमन कर वे विनीत हुये है। ❖❖

इमम्मि अवसप्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए, आहुट्ठ-मासहीणे वास चउक्कमि सेसकम्मि, पावाए णयरीए, कत्तियमासस्स किण्ह-चउद्दसिए रतीए, सादीए-णक्खते, पच्चूसे, भगवदो महदि-महावीरो वड्ढमाणो सिद्धि गदो, तिसु वि लोएसु भवणवासिय-वाण-वितर-जोयिसिय-कप्पवासिय ति चउव्विहो देवा सपरिवारा दिव्वेण गधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण णिच्चकाल अच्चति, पूजति, ववति, णमसति, परिणिव्वाण-महाकल्लाणपुज्ज अचेमि, पूजेमि, ववामि, णमंसामि॥

— [णिव्वाण-भत्ति (निर्वाण-भक्ति)]

भावार्थ — वर्तमान अवसर्पिणीकाल के चौथे-काल के अन्तिमभाग मे उसका अन्त होने से साढे-तीन मास कम चार-वर्ष शेष रह जाने पर पावा-नगरी मे कार्तिक-मास की कृष्ण-चतुर्दशी की रात्रि मे, प्रत्यूषकाल मे, स्वाति-नक्षत्र मे भगवान् महति महावीर वर्धमान सिद्धि (निर्वाण) को प्राप्त हुये थे। उस उपलक्ष्य मे त्रिलोक मे

निवास करनेवाले भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष, कल्पवासी तथा चतुर्विध-देय सपरिवार दिव्य-गध, दिव्य-पुष्प, दिव्य-धूप, दिव्य-चूर्ण, दिव्य-वस्त्र और दिव्य-न्हवन (जल) से निरन्तर उनकी अर्चना, पूजा, वन्दना करते हैं, और उन्हें नमस्कार करते हैं। मैं भी उस परिनिर्वाण-महाकल्याण-पुज की अर्चना, पूजा, वदना करता हूँ, और उन्हें नमस्कार करता हूँ। ❖❖

'वासाणूणत्तीसं पंचयमासे य वीस दिवसे य, चउविह-आयगारेहि बारहहि गणेहि विहरतो। पच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्ह चोद्दसिए, सादीए रत्तीए सेसरय छेत्तु णिव्वाओ॥ अमावसीए परिणिव्वाण पूजा-सयल-देविदेहि कया ति॥' — *(जयधवल)*

भावार्थ — और (केवलज्ञान के उपरान्त) उन्तीस-वर्ष, पाँच-मास और बीस-दिन तक बारह-गणो मे सगठित चतुर्विध-सघ के साथ विहार करने के पश्चात् पावानगर मे कार्तिक-मास की कृष्ण-चतुर्दशी की रात्रि, के अन्तिम-भाग मे स्वाति-नक्षत्र के रहते शेष (अघातिया) कर्मों का छेदन करके वर्द्धमान महावीर ने निर्वाण-प्राप्त किया। उस उपलक्ष्य मे अमावस्या को समस्त-देवेन्द्रो ने मिलकर परिनिर्वाण-पूजा की। ❖❖

'ज रयणि च समणे भगव महावीरे कालगए जाव णव्व दुक्खप्पहीणे त रयणि च ण णव मल्लइ णव लेच्छइ कासी-कोसलगा अट्ठारसवि गणरायाणो अमावसीए पाराभोय पोसहोववास पट्ठविसु गए से भावुज्जोए दव्वुज्जोअ करिस्समो॥' — *(कल्पसूत्र)*

भावार्थ — जिस रात्रि मे श्रमण भगवान् महावीर सब दुःखो से रहित होकर निर्वाण को प्राप्त हुए, उस रात्रि मे नव-मल्ल, नव-लिच्छवि और काशी-कोसल आदि प्रदेशो के अट्ठारह गण-राजाओ ने एकत्र होकर अमावस्या को प्रोषधोपवासपूर्वक निर्वाण-पूजन की और, यह कहकर कि "भावज्योति का अवसान हो गया, और अब हम उसके स्थान पर द्रव्य-ज्योति ज्योतित करे", दीपमाला प्रज्जवलित की। ❖❖

'पावापुर मज्झिहि जिणेसु, वेविणासह उज्झिवि मुत्ति ईसु। चउसठ-कम्मह करि विणासु, सपत्तउ सिद्ध-णिवासु वासु॥ वेवाली अम्मावस अलेउ, महोवेउ वोहि वेवाहि वेउ। चउवेव-णिकायह अइमणुज्ज, इअवि विरइय णिव्वाणपुज्ज॥' — *(यशःकीर्ति)*

भावार्थ — पावापुर-मध्य मुक्तीश-जिनेश्वर वर्द्धमान महावीर ने वेदनीय का उच्छेद कर, चौसठ कर्म-प्रकृतियो का नाश कर सिद्धो के निवास को वासरूप मे प्राप्त किया, अर्थात् निर्वाण-लाभ किया। उन देवाधिदेव-महादेव की निर्वाण-प्राप्ति के उपलक्ष्य मे अमावस्या को दीपावली मनायी गयी, चारो निकाय के देवों और मनुष्यो ने वहाँ एकत्र होकर निर्वाण-पूजा की। ❖❖

पावापुर वर वणे सपत्तउ, सत्त-भेय मुणि-गण सजुत्तउ।
तहि तणु सम्मेविहाणें ठाइवि, सेसाइं वि कम्मइं विग्घाइवि।
कत्तिय-मासि चउत्थइ जामइं, कसण-चउद्दसि-रयणि विरामइं।
गउ णिव्वाण-ठाणे परमेसरु, तिल्लोकाहिउ वीरु जिणेसरु॥

— *(विवुध श्रीधरकृत 'वड्ढमाणचरिउ')*

भावार्थ — सत्यनिष्ठ-मुनिगण के साथ 'पावापुर' के श्रेष्ठ-वन (उद्यान) मे पहुँचे, और वहाँ कायोत्सर्ग-विधान से ठहरकर शेष-कर्मो (अघातिया-कर्मो) का घात कर कार्तिक-मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि के चौथे प्रहर मे त्रिलोकाधिपति परमेश्वर वीर-जिनेश्वर निर्वाण-स्थान गये, अर्थात् उनका निर्वाण हुआ।

❖❖

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे, पद्मोत्पलाकुलवता सरसा हि मध्ये।
श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो, निर्वाणमाप भगवान्प्रविधूतपाप्मा।।

— *(पूज्यपाद देवनन्दि)*

भावार्थ — पावापुर के बाहर कमलो से भरे सरोवर के मध्य मे एक ऊँचे स्थान पर समस्त-पापो का नाश करनेवाले भगवान् श्री वर्द्धमान जिनेन्द्रदेव ने निर्वाण-प्राप्त कर लिया, — ऐसा प्रतीत हुआ।

❖❖

सिद्ध सम्पूर्णभव्यार्थ सिद्धे· कारणमुत्तमम्।
प्रशस्त-दर्शन-ज्ञानचारित्र-प्रतिपादिनम्।।
सुरेन्द्र-मुकुटाश्लिष्ट-पाद-पद्माशु-केशरम्।
प्रणमामि महावीर लोकत्रितयमगलम्।।
नमस्ते वीतरागाय सर्वज्ञाय महात्मने।
याताय दुर्गम कूल ससारोदन्वतः परम्।।
भवता सार्थवाहेन भव्य-चेतन-वाणिजा।
यास्यन्ति वितनुस्थान दोष-चोरैरलुण्ठिताः।।

— *(आचार्य रविषेण)*

भावार्थ — जो स्वयसिद्ध (कृतकृत्य) है, और जो सभी भव्य-जीवो के मनोरथ सिद्ध होने के उत्तम निमित्त है, जो प्रशस्त-दर्शन, ज्ञान और चारित्र का प्रतिपादन करनेवाले है, जिनके चरणकमलो की किरणरूपी केशर सुरेन्द्र के मुकुट से आश्लिष्ट हो रही है, उन तीनो लोको के मगलस्वरूप भगवान् महावीर को मै नमस्कार करता हूँ। दुर्गम ससार-सागर के अन्तिम-कूल (छोर) पर पहुँच गये वीतराग-सर्वज्ञ महात्मा आपको नमस्कार है। आप जैसे सार्थवाह के नेतृत्व मे भव्यजीव-रूपी व्यापारी राह मे दोषरूपी-लुटेरो से लुटे बिना ही निर्वाणधाम को प्राप्त होगे।

❖❖

श्रीसभाया समभ्येत्य श्रीवर जिननायकम्।
पूजयामास पूज्योयमस्तावीच्च पुनः पुनः।।

— *(आचार्य वादीभसिह)*

भावार्थ — जिननायक श्रीवीर (वर्द्धमान महावीर) की श्रीसभा (समवसरण) मे आकर (इन्द्र ने) उनकी पूजा करके बार-बार स्तुति की थी।

❖❖

जय सार्थक नाम सुवीर नमो, जय धर्मधुरधर वीर नमो।
जय ध्यान महान तुरी चढके, शिव खेत लियो अति ही बढ़िके।।
जय देव महा कृतकृत्य नमो, जय जीव-उधारन-व्रत्य नमो।
जय अस्त्र बिना सब कोक जई, ममता तुमते प्रभु दूर गई।। — *(कविवर मनरगलाल)*

❖❖

जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र, शत-इन्द्र-वद्य जगतार।
सिद्धारथ-कुल-कमल अमल रवि, भव-भूधर पविभार।।
गुनमनि-कोष अवोष मोषपति, विपिन कषाय तुषार।
मदन-कदन शिव-सदन पद नमित, नित अनमित यतिसारं।।
अन्तातीत अचिन्त्य सुगुन तुम, कहत लहत को पार।
हे जग मौल 'वौल' तेरे क्रम, नमै सीस कर धार।। — *(कविवर प दौलतराम)*

❖❖

श्री वीर-जिनेशा नमित-सुरेशा, नाग-नरेशा भगति-भरा।
'वृन्दावन' ध्यावै विघन नशावै, वाछित पावै शर्म-वरा।। — *(वृन्दावनदास)*

❖❖

पावापुरी धरती का कन-कन, बन गया तीर्थ-जन का पावन।
हिल-मिलकर तरु-दल पत्र-लता, प्रभु की समाधि यह रहे बता।।
बह चला भक्तजन का जो दिल, नयनो से भर प्रभु छवि केवल।
जय-जय से गूँजे भू-अम्बर, जय महावीर जय-तीर्थकर।। — *(कवि छैलबिहारी गुप्त)*

❖❖

प्रिय-प्राण धर्म को तुमने ही, दी मृत्युजय औषधि महान्।
कर निर्विकार उसकी काया, चिर-जीवन का दे उसे दान।।
पाखण्डो मे है धर्म कहाँ? यह तो केवल आत्माश्रित है।
यह दिव्यघोष-फैला जग मे, तेरा हे वीर दया-निधान।। — *(प चैनसुखदास न्यायतीर्थ)*

❖❖

व्यवहारधर्म

'दुब्भाव असुचि-सूवग, पुप्फवदी जादी सकरावीहिं।
कु-दाणाण वि कुव्वेद, जीवा कुणरेसु जायते।।'

— *(आचार्य नेमिचद्र, त्रिलोकसार, 14, पृष्ठ 177)*

❖❖

महावीराष्टक-स्तोत्र

मूल-रचयिता : पण्डित भागचन्द जी
(हिन्दी अनुवाद : डॉ. वीरसागर जैन)

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचिताः।
सम भान्ति ध्रौव्य-व्यय जनिलसन्तोऽन्तरहिताः॥
जगत्साक्षीमार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न) ॥1॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

जिनके चेतन मे दर्पणवत् सभी चेतनाचेतन-भाव।
युगपद् झलके अतरहित हो ध्रुव-उत्पाद-व्ययात्मक भाव॥
जगत्साक्षी शिवमार्ग-प्रकाशक जो है मानो सूर्य-समान।
वे तीर्थंकर महावीर प्रभु मम (हम) हिय आवे नयनद्वार॥

अताम्र यच्चक्षुः कमल-युगल स्पन्द-रहितम्।
जनान् कोपापाय प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि॥
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥2॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

जिनके लोचनकमल लालिमारहित और चचलताहीन।
समझाते है भव्यजनो को बाह्याभ्यन्तर-क्रोध-विहीन॥
जिनकी प्रतिमा प्रकट शांतिमय और अहो है विमल अपार।
वे तीर्थंकर महावीर प्रभु मम हिय आवे नयनद्वार॥

नमन्नाकेन्द्राली मुकुट-मणि-भा-जाल-जटिलम्।
लसत्-पादाम्भोज-द्वयमिह यदीय तनुभृताम्।
भव-ज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जल वा स्मृतमपि।
महावीर-स्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न·) ॥3॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

नमते देवो की पंक्ति की मुकुटमणि का प्रभासमूह।
जिनके दोनो चरणकमल पर झलके देखो जीवसमूह॥
सासारिक-ज्वाला को हरने जिनका स्मरण बने जलधार।
वे तीर्थंकर महावीर प्रभु मम हिय आवे नयनद्वार॥

यदर्चा भावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह।
क्षणादासीत् स्वर्गी गुण-गण-समृद्धः सुखनिधिः॥
लभते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाज किमु तदा।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥4॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

जिनके अर्चन के विचार से मेढक भी जब हर्षितवान।
क्षणभर मे बन गया देवता गुणसमूह और सुक्खनिधान॥
तब अचरज क्या यदि पाते है सच्चे-भक्त मोक्ष का द्वार।
वे तीर्थंकर महावीर प्रभु मम हिय आवे नयनद्वार॥

कनत्-स्वर्णाभासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञाननिवहो।
विचित्रात्माप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थ-तनयः॥
अजन्मापि श्रीमान् विगत-भवरागोऽद्भुतगतिः।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥5॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

तप्त स्वर्ण-सा तन है फिर भी तन-विरहित जो 'ज्ञानशरीर'।
एक रहे होकर 'विचित्र' भी, सिद्धारथ राजा के वीर-
होकर भी जो 'जन्मरहित' है, 'श्रीमन्' फिर भी न रागविकार।
वे तीर्थंकर महावीर प्रभु मम हिय आवे नयनद्वार॥

यदीया वाग्-गगा विविध-नय-कल्लोल-विमला।
बृहज्ज्ञानाभोभिर्जगति जनता या स्नपयति॥
इदानीमप्येषा बुध-जन-मरालैः परिचिता।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न.) ॥6॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

जिनकी वाणीरूपी गगा नय-लहरो-युत हीन-विकार।
विपुल ज्ञानजल से जनता का करती है जग मे प्रक्षाल॥
अहो! आज भी इससे परिचित ज्ञानीरूपी हस अपार।
वे तीर्थंकर महावीर प्रभु मम हिय आवे नयनद्वार॥

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः।
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजित.॥

स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशमपव-राज्याय स जिनः।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥7॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

तीव्र-वेग त्रिभुवन का जेता कामयोद्धा महाप्रबल।
वयकुमार मे जिनने जीता, उसको केवल निज के बल।।
शाश्वत सुख-शान्ति के राजा बनकर जो हो गये महान्।
वे तीर्थंकर महावीर प्रभु मम हिय आवे नयनद्वार।।

महा-मोहातक प्रशमनपराऽकस्मिग्भिषग्।
निरोपेक्षो बधुर्विदित-महिमा मगलकर.॥
शरण्यः साधूना भव-भय-भृतामुत्तम-गुणो।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (न) ॥8॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

महामोह-आतक-शमन को जो है आकस्मिक उपचार।
निरापेक्ष-बन्धु है जग मे जिनकी महिमा मगलकार।।
भवभय से डरते सतो को शरण तथा वर गुण-भडार।
वे तीर्थंकर महावीर प्रभु मम हिय आवे नयनद्वार।।

महावीराष्टक स्तोत्र भक्त्या भागेन्दुना कृतम्।
य. पठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमा गतिम्॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

'महावीराष्टक' स्तोत्र को, 'भाग' भक्ति से कीन।
जो पढ ले अथवा सुने, परमगति वह लीन।।

❖❖

पूजनोत्सव का महत्त्व

"गधव्व-तूर णट्ट, जो कुणइ महुस्सव जिणायदणे।
सो वरविमाणवासो, पावइ परमुस्सव वेवो।।"

— (पउमचरिय, पद्य 82, पृष्ठ 260)

अर्थ *— जो व्यक्ति जिनमंदिर मे गीत-वाद्य एव नृत्यपूर्वक 'महोत्सव' (पूजनोत्सव) करता है, वह देव होकर उत्तम-विमान मे निवास करता हुआ परम-उत्सव (आनन्द) को प्राप्त करता है।* ❖❖

(तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की 2600वीं जन्म-जयन्ती पर विनयाञ्जलिसहित)

तीर्थंकर वर्द्धमान

अन्य नाम	—	वर्द्धमान (वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर)
तीर्थंकर क्रम	—	चतुर्विंशतम
जन्मस्थान	—	क्षत्रिय कुण्डग्राम (वैशाली)
पूर्व भव	—	अच्युतेन्द्र
पितृनाम	—	सिद्धार्थ
मातृनाम	—	त्रिशलादेवी (प्रियकारिणी)
वशनाम्	—	नाथवश (ज्ञातृवश, 'नाठ'-इति पालि)
गर्भावतरण	—	आषाढ शुक्ला-षष्ठी, शुक्रवार, 17 जून 599 ई.पू
गर्भवास	—	नौ-मास, सात-दिन, बारह-घटे
जन्मतिथि	—	चैत्रशुक्ल-त्रयोदशी, सोमवार, 27 मार्च, 598 ई पू
वर्ण (कान्ति)	—	स्वर्णाभ (हेमवर्ण)
चिह्न	—	सिह
गृहस्थितरूप	—	अविवाहित (प्रसग चला, परन्तु विवाह नही किया)
कुमारकाल	—	28 वर्ष, 5 माह, 15 दिन
दीक्षातिथि	—	मगसिरकृष्ण दसमी, सोमवार, 29 दिसम्बर 569 ई पू
तप काल	—	12 वर्ष, 5 मास, 15 दिन
कैवल्य-प्राप्ति	—	वैशाखशुक्ल दसमी, रविवार 26 अप्रैल, 557 ई पू
देशनापूर्व मौन	—	66 दिन
देशनातिथि (प्रथम)	—	श्रावणकृष्ण प्रतिपदा, शनिवार, 1 जुलाई 557 ई पू
निर्वाणतिथि	—	कार्तिक-कृष्ण 30, मगलवार, 15 अक्टूबर 527 ई पू
निर्वाण-भूमि	—	पावा (मध्यमा पावा)
आयु	—	72 वर्ष (71 वर्ष, 4 मास, 25 दिन)
जन्म-समय की ज्योतिर्ग्रहस्थिति	—	नक्षत्र — उत्तरा-फाल्गुनि
		राशि — कन्या
		महादशा — बृहस्पति
		दशा — शनि
		अन्तर्दशा — बुध

2600वीं वीर-जयंती

✍ अनूपचन्द न्यायतीर्थ

2600वी जन्म-जयती, महावीर भगवान् की।
लायी है सन्देश 'अनूपम', ज्योति जलाओ ज्ञान की ॥1॥

दूर करो अज्ञान-अन्धेरा, रूढि-अधविश्वास को।
सत्य-अहिसा शखनाद से, गुजा दो आकाश को ॥2॥

क्रोध मान माया को छोडो, लोभ पाप की खान है।
सात्त्विकता जीवन मे लाओ, इस ही मे उत्थान है ॥3॥

तोडो मत जोडो ही जोडो, यह सच्चा अभियान है।
प्रेमभाव से रहना सीखो, यही राष्ट्र की शान है ॥4॥

ऊँच-नीच का भेद नही हो, सर्वजीव-समभाव हो।
सब धर्मों का आदर करना, मानवमात्र-स्वभाव हो ॥5॥

भौतिकता की चकाचौध मे, नही भटकना पथ से।
जीवन सफल बनाओ अपना, पढ-पढ सच्चे ग्रथ से ॥6॥

दीन दु:खी की सेवा करना, सबसे पहिला काम हो।
न्यायमार्ग से कभी न डिगना, कैसा भी अजाम हो ॥7॥

स्वाभिमान से जीवन जीओ, सादा उच्च-विचार हो।
ऐसी सगति सदा बैठिये, जिसमे नही विकार हो ॥8॥

सद्भावना ऐसी मानो, सर्वसुखी ससार हो।
शिथिलाचार पनप नहि पावे, कही न भ्रष्टाचार हो ॥9॥

रहो सदा कर्त्तव्यपरायण, विज्ञ विवेकी शूर हो।
धर्मनीति पर चलो निरतर, कष्ट-आपदा दूर हो ॥10॥

मार्ग-प्रदर्शक बने विश्व का, सब देशो का ताज हो।
करुणा, दया और अनुकम्पा-पूर्ण समग्र समाज हो ॥11॥

भारतीय सस्कृति मे पूरा, रचा-बसा इन्सान हो।
सहृदयी सज्जन गुणग्राही, अति-उदार गुणवान हो ॥12॥

❖❖

आत्मजयी महावीर

✍ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

भगवान् महावीर के 2600वे जन्मकल्याणक-वर्ष के सुअवसर पर जहाँ सब ओर से विद्वान् महावीर के जीवनचरित्र को लिखने मे प्रवृत्त है और अनेकानेक कार्यक्रम आयोजित किये जा रहे है; वहाँ वीतरागी भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन को प्ररूपित करनेवाला एक निष्पक्ष प्रामाणिक विद्वान् की सारस्वत-लेखनी से प्रसूत यह आलेख निश्चय ही जिज्ञासुपाठकवृन्द को आकर्षण का केन्द्र प्रतीत होगा।

लेखन के क्षेत्र मे सुपरिचित हस्ताक्षर आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के निबन्ध हिन्दी-साहित्य-जगत् मे अतिविशिष्ट-स्थान रखते है। इनकी विशेष-बात यह होती है कि गम्भीर-विषय को भी वे रोचक भाषा-शैली मे उच्चमर्यादाओ के साथ प्रस्तुत करते है। भगवान् महावीर के इस आलेख मे भी उनकी विशिष्ट-शैली का व्यापक-प्रभाव प्रतिबिम्बित है। **– सम्पादक**

जीवन-प्रेरणा के स्रोत

जिन पुनीत-महात्माओं पर भारतवर्ष उचित गर्व कर सकता है, जिनके महान् उपदेश हजारो वर्ष की कालावधि को चीरकर आज भी जीवन्त-प्रेरणा का स्रोत बने हुए है, उनमे भगवान् महावीर अग्रगण्य है। उनके पुण्य-स्मरण से हम निश्चितरूप से गौरवान्वित होते है। आज से ढाई हजार वर्ष पहिले भी इस देश मे विभिन्न-श्रेणी का मानव-मण्डलियाँ बसती थी। उनमे कितनी ही विकसित-सभ्यता से सम्पन्न थी। बहुत-सी अर्द्ध-विकसित और अविकसित-सभ्यताये साथ-साथ जी रही थी। आज भी उस अवस्था मे बहुत अन्तर नही आया है, पर महावीर के काल मे विश्वासों और आचारो की विसगतियाँ बहुत जटिल थी और उनमे आदिम-प्रवृतियाँ बहुत अधिक थी। इस परिस्थिति मे सबको उत्तम-लक्ष्य की ओर प्रेरित करने का काम बहुत कठिन है। किसी के आचार और विश्वास को तर्क से गलत साबित कर देना, किसी उत्तम-लक्ष्य तक जाने का साधन नही हो सकता, क्योकि उससे अनावश्यक-कटुता और क्षोभ पैदा होता है।

हर प्रकार के आचार-विचार का समर्थन करना और भी बुरा होता है, उससे गलत-बातो का अनुचित-समर्थन होता है और अन्ततोगत्वा आस्था और अनास्था का वातावरण उत्पन्न होता है। खण्डन-मण्डन द्वारा दिग्विजयी बनने का प्रयास इस देश मे कम प्रचलित नही था, परतु इससे कोई विशेष-लाभ कभी नही हुआ। प्रतिद्वन्द्वी-खेमे और भी आग्रह के साथ अपनी-अपनी टेक पर अड जाते है। इस देश के विसगति-बहुल समाज को ठीक रास्ते पर ले आने के लिए जिन महात्माओ ने गहराई मे देखने का प्रयास किया है, उन्होने दो बातो पर मविशेष-बल दिया है।

मन, वचन और कर्म पर सयम

पहली बात तो यह है कि केवल वाणी द्वारा उपदेश या कथनी कभी उचित-लक्ष्य तक नही ले जाती। उसके लिए आवश्यक है कि वाणी द्वारा कुछ भी कहने के पहले वक्ता का चरित्र-शुद्ध हो। उसका मन निर्मल

होना चाहिए, आचरण पवित्र होना चाहिए। जिसने मन, वचन और कर्म को सयत रखना नही सीखा, इनमे परस्पर-अविरुद्ध रहने की साधना नही की, वह जो कुछ भी कहेगा, अप्रभावी होगा।

चरित्र-बल नेतृत्व के लिए आवश्यक

हमारे पूर्वजो ने मन, वचन-कर्म पर सयम रखने को एक शब्द मे 'तप' कहा है। तप से ही मनुष्य 'सयतेन्द्रिय' या 'जितेन्द्रिय' होता है, तप से ही वह 'वशी' होता है, तप से ही वह कुछ कहने की योग्यता प्राप्त करता है। विभिन्न-प्रकार के सस्कारो और विश्वासो के लोग तर्क से या वाग्मिता से नही, बल्कि शुद्ध, पवित्र, सयत-चरित्र से प्रभावित हाते है। युगो से यह बात हमारे देश मे बद्धमूल हो गई है। इस देश के नेतृत्व का अधिकारी एक मात्र वही हो सकता है, जिसमे चारित्र का महान् गुण हो। दुर्भाग्यवश वर्तमानकाल मे इस ओर कम ध्यान दिया जा रहा है। जिसमे चरित्रबल नही, वह देश का नेतृत्व नही कर सकता।

भगवान् महावीर जैसा चरित्र-सम्पन्न, जितेन्द्रिय, आत्मवशी महात्मा मिलना मुश्किल है। सारा जीवन उन्होने आत्म-सयम और तपस्या मे बिताया। उनके समान दृढ-सकल्प के आत्मजयी-महात्मा बहुत थोडे हुए है। उनके मन, वचन और कर्म एक-दूसरे के साथ पूर्ण-सामजस्य मे थे। इस देश का नेता उन्ही जैसा तपोमय महात्मा ही हो सकता था। हमार सौभाग्य से इस देश मे जितेन्द्रिय-महात्माओ की परम्परा बहुत विशाल रही है। इस देश मे तपस्वियो की सख्या सदा बहुत रही है। केवल चरित्र-बल ही पर्याप्त नही है। इसके साथ और कुछ भी आवश्यक है।

अहिसा, अद्रोह और मैत्री

यह और कुछ भी हमारे मनीषियो ने खोज निकाला था। वह था – अहिसा, अद्रोह और मैत्री। अहिसा परमधर्म है, वह सनातन धर्म है, वह एकमात्र धर्म है, आदि बाते इस देश मे सदा मान्य रही है। मन से, वचन से, कर्म से अहिसा का पालन कठिन-साधना है। सिद्धान्तरूप से प्राय: सभी ने इसे स्वीकार किया है, पर आचरण मे इसे सही-सही उतार लेना कठिन-कार्य है। शरीर द्वारा अहिसा-पालन अपेक्षाकृत आसान है, वाणी द्वारा कठिन है और मन द्वारा तो नितान्त-कठिन है। तीनो मे सामञ्जस्य बनाये रखना और भी कठिन-साधना है।

इस देश मे 'अहिसा' शब्द को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह ऊपर-ऊपर से निषेधात्मक शब्द लगता है, लेकिन यह निषेधात्मक इसलिए है कि आदिम सहजात-वृत्ति को उखाड देने से बना है। अहिसा बडी कठिन-साधना है। उसका साधन सयम है, मैत्री है, अद्रोह-बुद्धि हे और सबसे बढकर अन्तर्नाद के सत्य की परम-उपलब्धि है। अहिसा कठोर-सयम चाहती है, इन्द्रियो और मन का निग्रह चाहती है, वाणी पर सयत-अनुशासन चाहती है और परम-सत्य पर सदा जमे रहने का अविसवादिनी-बुद्धि चाहती है।

सबसे बड़े अहिसाव्रती

भगवान् महावीर से बडा अहिसाव्रती कोई नही हुआ। उन्होने विचारो के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी अहिसकवृत्ति का प्रवेश कराया। विभिन्न विचारो और विश्वासो के प्रत्याख्यान मे जो अहकारभावना है, उसे भी उन्होने पनपने नही दिया। अहकार अर्थात् अपने आप को जगत्-प्रवाह से पृथक् समझने की वृत्ति बहुतप्रकार की अहिसा का

कारण बनती है। सत्य को 'इदमित्थ' रूप मे जानने का दावा भी अहकार का ही एक रूप है। सत्य अविभाज्य होता है और उसे विभक्त करके देखने से मत-मतातरों का आग्रह उत्पन्न होता है। आग्रह से सत्य के विभिन्न-पहलू ओझल हो जाते हैं।

सम्पूर्ण मनीषा को नया मोड़

मुझे भगवान् महावीर के इस अनाग्रहीरूप मे, जो सर्वत्र सत्य की झलक देखने का प्रयासी है परवर्तीकाल के अधिकारी-भेद, प्रसग-भेद आदि के द्वारा सत्य को सर्वत्र देखने का वैष्णव-प्रवृति का पूर्वरूप दिखाई देता है। परवर्ती जैन-आचार्य ने स्याद्वाद के रूप मे इसे सुचिंतित दर्शनशास्त्र का रूप दिया और वैष्णव-आचार्यो ने सब को अधिकारी-भेद से स्वीकार करने की दृष्टि दी है। भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण भारतीय-मनीषा को नये ढग से सोचने की दृष्टि दी है। इस दृष्टि का महत्त्व और उपयोगिता इसी से प्रकट होती है कि आज घूम फिरकर ससार फिर उसी मे कल्याण देखने लगता है।

सत्य और अहिसा पर उनको बडी दृढ-आस्था थी। कभी-कभी उन्हे केवल जैनमत के उस रूप को जो आज जीवित है, प्रभावित और प्रेरित करनेवाला मानकर उनकी देन को सीमित कर दिया जाता है। भगवान् महावीर इस देश के उन गिने-चुने महात्माओ मे से है, जिन्होने सारे देश की मनीषा को नया मोड दिया है। उनका चरित्र, शील, तप और विवेकपूर्ण विचार, सभी अभिनन्दनीय है। ❖❖

आत्मज्ञान से निर्वाण-प्राप्ति

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ — (कठोपनिषद्, 1,3,12)
हन्त तेऽहम् प्रवक्ष्यामि गुह्य ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरण प्राप्य आत्मा भवति गौतम!
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
साणुमन्येऽनुसयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ — (कठोपनिषद्, 2,2,6 7)

अर्थ — *अर्थात् प्राणिमात्र मे एक अनादि-अनन्त सजीव-तत्त्व है, जो भौतिक न होने के कारण दिखाई नही देता, वही आत्मा है। मरने के पश्चात् यह आत्मा अपने कर्म व ज्ञान की अवस्थानुसार वृक्षो से लेकर ससार की नाना जीव-योनियो मे भटकता फिरता है, जब तक कि अपने सर्वोत्कृष्ट-चरित्र और ज्ञान द्वारा 'निर्वाण पद' प्राप्त नही कर लेता। 'उपनिषत्' मे जो यह उपदेश 'गौतम' को नाम लेकर सुनाया गया है, वह हमे जैनधर्म के अन्तिम-तीर्थंकर महावीर के उन उपदेशो का स्मरण कराये बिना नही रहता, जो उन्होने अपने प्रधान-शिष्य इन्द्रभूति 'गौतम' को गौतम नाम से ही सबोधित करके सुनाये थे, और जिन्हे उन्ही गौतम ने बारह-अगो मे निबद्ध किया, जो प्राचीनतम जैन-साहित्य है और 'द्वादशाग आगम' या 'जैन-श्रुताग' के नाम से प्रचलित पाया जाता है।*

— (साभार उद्धृत : डॉ हीरालाल जैन-कृत 'भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान', पृष्ठ 50-51)

भगवान् महावीर और उनका जीवन-दर्शन

✍ डॉ. ए.एन. उपाध्ये
(अनुवादक : कुन्दनलाल जैन)

'बगलौर की जैनमिशन सोसाइटी' और 'इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर' के सयुक्त-तत्त्वावधान मे 23 अप्रैल 1956 को डॉ ए.एन उपाध्ये का 'महावीर जयन्ती' के शुभ-अवसर पर अग्रेजी मे भाषण हुआ था, जिसे 'इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर' ने जुलाई 1956 मे प्रकाशित कर प्रसारित कराया था।

श्री कुन्दनलाल जैन ने इस लेख का जून 1962 मे अनुवाद कर उसे तत्कालीन प्रतिष्ठित-पत्रिका 'अनेकान्त', वर्ष 15 की तृतीय किरण मे प्रकाशित करा दिया। आज 40 वर्ष बाद भी इस लेख की महत्ता एव उपयोगिता तदनुरूप ही है, तथा इसकी ताजगी मे कोई अन्तर नही आया है, अत जिज्ञासु-पाठको की जिज्ञासा-शान्त्यर्थ यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

भगवान् महावीर की 2600वी जन्म-जयन्ती के पावन-अवसर पर इस लेख की उपादेयता और अधिक बढ गई है।

— **सम्पादक**

भारत के कुछ विशिष्ट-पुरुषो मे अध्यात्म एव ज्ञान की पिपासा अनादिकाल से ही प्रचलित रही है। उस समय भी जब कि जनसाधारण अज्ञानता, गरीबी एव अपने पूर्वजो की अन्धश्रद्धा तथा पूजा मे ही लगा रहता था। धार्मिक नेताओ का महत्त्व अपने भक्तो के विश्वास विजय मे ही निहित था। भारत मे धार्मिक नेता दो प्रकार के रहे है — एक पण्डो व पुरोहितो के रूप मे उपदेशक, तथा दूसरे परोपकारी एव आत्मशोधी के रूप मे मुनिगण, उपदेशक शास्त्रोक्त-पद्धति के महारथी होते थे। वे कहा करते थे कि "विश्व एव देवताओ तक का अस्तित्व और उद्धार उनके द्वारा प्रवर्तित बलिदान के मार्ग से ही सम्भव है", इनके सम्प्रदाय बहुदेववादी थे। देवता लोग प्राय प्राकृतिक-शक्ति के केन्द्र थे और मानव-समाज उनकी असीम-कृपा पर निर्भर था। पुरोहित लोग देवताओ को बलि चढा-चढाकर ही मानवो की सुरक्षा का आडम्बर रचा करते थे। यह वैदिक विचारधारा थी, जो भारत मे उत्तर-पश्चिम से आई और अपने अद्भुत-प्रभाव से यत्र-तत्र अनेको अनुयायी बनाती हुई भारत के पूर्व और दक्षिण मे फैल गई।

इसके विपरीत भारत के पूर्व म गगा-यमुना के कछारो मे कुछ आत्मशोधी-साधु हुये, जो उच्च-राजघरानो से सम्बन्धित थे तथा उच्च-चिन्तन एव धार्मिक-क्राति के इच्छुक थे। उनकी दृष्टि मे प्राणीमात्र धार्मिक-चिन्तन का केन्द्र है, साथ ही अचेतन-जगत् से उसके सम्बन्ध टूटने का एक साधन भी है। इससे वे साधु-लोग जीवन की इहलौकिक और पारलौकिक-समस्याओ पर सोचने के लिए बाध्य हुए, क्योकि उनके समक्ष आत्मा (चेतन) और कर्म (जड-पदार्थ) दोनो ही यथार्थ थे। इहलौकिक अथवा पारलौकिक-जीवन, आत्मा और कर्म के पारस्परिक अनादि-निधन सम्बन्धो का परिणाम ही तो है और यही सासारिक-दु:खो का कारण भी है, पर धर्म का मूल-उद्देश्य कर्म को आत्मा से पृथक् करना है, जिससे आत्मा पूर्णमुक्त हो शुद्ध-ज्ञानात्मक चिदानन्द-

चैतन्य के आनन्द का अनुभव कर सके। मनुष्य अपना स्वामी स्वय ही है। उसके मन, वचन और काय उसे अपने ही रूप मे परिणमन करते है तथा कराते रहते है। इसप्रकार मनुष्य अपने भूत-भविष्य का निर्माता व विघटनकर्ता स्वय ही है। धार्मिक-पथ पर अग्रसर होने के लिए वह अपने पूर्ववर्ती-आचार्यों को अपना आदर्श मानता है और जब तक आध्यात्मिक-उन्नति की चरम-सीमा एव परिपूर्णता (कृतकृत्यता) नही प्राप्त कर लेता, तब तक मुनि-मार्ग का अवलम्बन कर कर्म-सघर्ष मे ही बना रहता है।

इसप्रकार हम स्पष्टरूप से देखते है कि प्राच्य-धार्मिक-विचारधारा मे ईश्वर-कर्तृत्व एव उसके प्रचारक-पुरोहितो का कोई स्थान न था। यह युग तो जैन तीर्थंकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, आजीवक-सम्प्रदाय के गोशाल, साख्यदर्शन के कपिलऋषि एव बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध के प्रतिनिधित्व का काल था।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश मे विशेषतया शिक्षित वर्ग मे भारतीय प्राचीन सास्कृतिक-धरोहर को नवीनरूप मे ढालने के प्रति विशेष-जागरुकता दिखाई दे रही है। बडे हर्ष की बात है कि इस प्रसग मे महावीर और बुद्ध को बडी श्रद्धा एव भक्ति से स्मरण किया जाता है और उनके महत्त्व को आका जाने लगा है। पर आश्चर्य तो यह है कि ऐसे महापुरुषो को, जिन्होने अपनी शिक्षाओ एव उपदेशो द्वारा इस देश को नैतिकता एव मानवता के क्षेत्र मे इतना अधिक महान् और समृद्ध बनाया, अपनी ही भूमि मे उन्हे कुछ समय के लिए भुला दिया गया। दूसरी सबसे अधिक खटकनेवाली बात यह है कि **महावीर और बुद्ध का महत्त्व एव उनके साहित्य का जो मूल्याकन हम लोग सदियो पूर्व स्वय अच्छी तरह कर सकते थे, वह सब अब पश्चिमी विद्वानो द्वारा हुआ और हम प्रसुप्तदशा मे पड़े रहे।** जैन और बौद्ध-साहित्य के क्षेत्र मे पश्चिमी विद्वानो की बहुमूल्य-सेवाओ ने हमारी आँखे खोल दी है और आज हम इस स्थिति मे हो पहुँच है कि अपनी विभूतियो को पहचान सके।

24वे तीर्थंकर भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे, उनके विचार एव सिद्धात-सस्कृति के अनुकूल थे। भगवान् महावीर एव उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरो ने जो भी उपदेश दिये थे, वे सब आज 'जैनदर्शन' के नाम से विख्यात है; पर आज वे हमारे जीवन मे सक्रियरूप से नही उतरे है, जिनका जैन-साहित्य मे विभिन्न-भाषाओ द्वारा विवेचन किया गया था।

भारतीय दर्शन एव सस्कृति के इतिहास मे बिहार-प्रान्त का बडा महत्त्व है। महात्मा बुद्ध, भगवान् महावीर, राजर्षि जनक जैसी पुण्य-विभूतियो को प्रदान करने का श्रेय इसी बिहार की पुण्यभूमि को है। मीमासा, न्याय एव वैशेषिक जैसे श्रेष्ठ-दर्शनो की बहुमूल्य-भेट देनेवाली 'मिथिला' का गौरव भी तो बिहार-प्रान्त ही को प्राप्त होता है। लगभग 2500 वर्ष-पूर्व 'वैशाली' (बसाढ, पटना से 30 मील उत्तर मे) एक समृद्धशाली राजधानी थी, इसके आसपास ही 'कुण्डपुर' या 'क्षत्रियकुण्ड' के महाराज सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला (प्रियकारिणी) की कोख से भगवान् महावीर जन्मे थे। अपनी व्यक्तिगत विशेषताओ एव गुणो के कारण ही ज्ञातृपुत्र, वैशालिक, वर्द्धमान और सन्मति आदि नामो से प्रसिद्ध थे। उनकी माता त्रिशला चेटक-वश से सम्बन्धित थी, जो विदेह का सर्वशक्तिमान् लिच्छवि-शासक था, जिसके सकेत पर मल्लवशीय एव लिच्छवि-लोग मर मिटने को तैयार रहते थे।

महावीर के विवाह के सम्बन्ध मे मूल-परम्परा उन्हे 'बाल-ब्रह्मचारी' बतलाती है। राजपुत्र होने के कारण महावीर के तत्कालीन-राजवशों से बडे अच्छे-सम्बन्ध थे। उनसे अपेक्षा की गई थी कि वे अपने पिता के राज्य का अधिकारपूर्वक उपभोग करे, पर उन्होने वैसा नही किया। 30 वर्ष के होते ही उन्होने राजकीय भोगोपभोगो का परित्याग कर डाला और आध्यात्मिक-शाति की खोज के लिए मुनि-दीक्षा धारण कर ली। इसप्रकार जीवन की कठिनतम-समस्याओ को सफलतापूर्वक कैसे हल करना चाहिए? — इसका एक सर्वश्रेष्ठ-आदर्श उन्होने तत्कालीन-जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया।

आध्यात्मिक-शाति एव पवित्रता के मार्ग मे 'राग' एव 'सग्रह' की प्रवृत्तियाँ बडी बाधक थी, पर उन्होने आदर्शरूप से सहर्ष उन सबका परित्याग कर दिया, स्वय निर्ग्रंथ बन गए और दिगम्बरी-वेष धारणकर साधना और तपश्चरण मे तल्लीन हो गए। 12 वर्ष की कठोरतम-तपस्या के पश्चात् महावीर अपनी दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त कर सके और समय तथा स्थान की दूरी को लाघते हुए शुद्ध एव पूर्णज्ञान की उपलब्धि कर 'केवली' या 'सर्वज्ञ' कहलाये। उन दिनो श्रेणिक बिबसार राजगृह के शासक थे, भगवान् महावीर की सर्वप्रथम देशना (दिव्य-ध्वनि) राजगृही के समीप 'विपुलाचल पर्वत' पर हुई थी। लगातार 30 वर्ष तक वे मगध-देश के विभिन्न भागो मे महात्मा बुद्ध की भाँति विहार करते रहे और जैनधर्म का प्रचार किया। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे, भगवान् महावीर ने अपने विहार-काल मे जीवन की कठिनाइयो एव उनसे बचने के उपायो से लोगो को अवगत कराया। उन्होने आत्मा की उच्चता एव पवित्रता पर बल दिया, उनके उपदेश सर्वसाधारण के लिए थे। उनके अनुयायियो मे राजा-महाराजा थे, गरीब-किसान भी थे। उन्होने चतुर्विध-सघ की स्थापना की, जो मुनि-आर्यिका, श्रावक और श्राविका नाम से प्रसिद्ध हुआ था, वह आज भी प्रचलित है। भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का प्रभाव जैनदर्शन के अतिरिक्त भारत मे अन्यत्र भी मिलता है। वे तीर्थंकर थे, उन्होने युगो-युगो से सत्रस्त मानवता के परित्राण एव सर्वशान्ति की स्थापना के लिए मार्ग-निर्धारण किया था। द्वितीय शताब्दी मे समन्तभद्र स्वामी ने महावीर के सिद्धातो को, जो 'महावीर तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध थे, 'सर्वोदय' नाम दिया, जिसका इस देश मे आज महात्मा गाँधी जी के बाद सामान्यत प्रयोग किया जाता है। ईसा से 527 वर्ष पूर्व भगवान् महावीर 72 वर्ष की आयु मे 'पावापुर' से निर्वाण सिधारे, जिसकी खुशी मे जगह-जगह दीप जलाये गए और तब से ही सम्पूर्ण भारतवर्ष मे 'दीपावली पर्व' प्रचलित हुआ।

भगवान् महावीर के जीवन एव कार्यों पर विशाल-परिमाण मे नवीन और प्राचीन सभी तरह का साहित्य उपलब्ध है और उनक व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे भी अन्य पुरुषो की भाँति बहुत से पुराण, लोककथाये तथा अनेको अतिशयोक्ति पूर्ण बाते लिखी गई है। फलत: उनके विषय मे विशुद्ध वैज्ञानिक एव ऐतिहासिक-दृष्टि से अध्ययन व शोध करना बडा कठिन हो गया है; क्योकि अध्ययन व शोध के जो साधन है, वे साम्प्रदायिकता या धार्मिकता से अछूते नही है, उनमे साम्प्रदायिकता की गध विद्यमान है। ऊपर मैंने जो कुछ कहा है, वह भगवान् महावीर का केवल साधारण-सा जीवन-परिचय ही है। इसप्रकार यदि भगवान् महावीर का और अधिक ऐतिहासिक अध्ययन करना कठिन है, तो मेरी राय से यह अति उत्तम होगा कि उनके सिद्धान्तो का गभीरतापूर्वक अध्ययन किया जाये और उनका जीवन मे सक्रिय प्रयोग किया जाये; अपेक्षा इसके कि उनके व्यक्तिगत जीवन पर लम्बे-चौडे वाद-विवाद या बहुविध बाते खडी हो।

जन्मभूमि और वैशाली

वैशाली नगर अपने समय मे उन्नति के चरम-शिखर पर था और **भगवान् महावीर की जन्मभूमि** होने के कारण भारतीय धार्मिक-जगत् मे तो इसकी ख्याति और भी अधिक बढ गई थी। वैशाली की पुण्य-विभूतियो ने मानवता के उद्धार के लिये बडे अच्छे-अच्छे सिद्धान्त सिखाये और स्वय त्याग एव साधनामय पावन-जीवन अगीकार किया। महावीर तो अपने समकालीनो मे निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ रहे। बौद्ध-ग्रथ 'महावस्तु' मे लिखा है कि महात्मा बुद्ध ने वैशाली के 'अलारा' एव 'उड्डक' मे अपने प्रथम गुरु की खोज की ओर उनके निर्देशन मे जैन बनकर रहे। पश्चात् उत्पन्न 'मध्यमार्ग' अपनाकर वैशाली मे अत्यधिक सम्मानित हुए। उन्हे राजकीय सम्मान प्राप्त था, वे कूटागारशाला, (जो मुख्यतया उनके लिए ही बनाई गई थी) के 'महावन' मे रहते थे। द्वितीय बौद्ध-परिषद् की बैठक वैशाली मे ही हुई थी, अतः यह बड़ा पवित्र तीर्थस्थान माना जाने लगा, यही पर बौद्ध-सघ 'हीनयान' और 'वज्रयान' के रूप मे विभाजित हुआ था। महात्मा बुद्ध की प्रसिद्ध-शिष्या 'आम्रपाली' वैशाली मे ही रहती थी, जहाँ उसने अपना उपवन महात्मा बुद्ध एव सघ को वसीयत के रूप मे अर्पण किया था। वैशाली का राजनैतिक महत्त्व भी था और यहाँ गणतन्त्रीय शासन-पद्धति प्रचलित थी। यहाँ लिच्छवि-गणराज्य के राष्ट्रपति महाराज चेटक थे, जिन्होने मल्ल की गणराज्य काशी, कौशल के 18 गणराज्य तथा लिच्छवियो के 9 गणराज्य मिलाकर एक सघशासन का सुसगठन किया था। 'दीघनिकाय' मे 'वज्जि-सघ' की शासन-पद्धति एव कार्य-कुशलता की श्रेष्ठता का सुन्दर वर्णन मिलता है, जो तत्कालीन गणतन्त्रात्मक-शासनपद्धति का श्रेष्ठतम-आदर्श थी। वैशाली वाणिज्य की भी विशालतम-केन्द्र थी, जहाँ श्रीमतो, वणिजो एव शिल्पियो की मुद्राये चला करती थी। जब फाहियान (399-414 ई मे) भारत आया, तब वैशाली धर्म, राजनीति एव व्यापार का एक प्रमुख-केन्द्र थी, पर अगली तीन शताब्दियो मे इसका पतन प्रारम्भ हो गया और ह्वेनसाँग (635 ई मे) जब भारत आया, तब तो यह बिल्कुल ही नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी और अब तो जीर्ण-शीर्ण वृद्धा की भाँति बिल्कुल ही उपेक्षित है।

आधुनिक भारतीय-गणराज्य ने वैशाली-सघ की एकता से बहुत कुछ सीखा है, तथा 'वज्जिसघ की एकता' हमारे प्रजातन्त्र की प्रमुख-आधारशिला है। और अहिसा, जो पचशील का प्राण है, हमारी नीति-निर्धारण की मूल-केन्द्र-बिन्दु है। हमारी केन्द्रीय-सरकार हिन्दी को राजभाषा बनाकर मगध-शासन की नीति का अनुकरण कर रही है, जिसने वर्ग-विशेष की भाषा की अपेक्षा जन-साधारण की भाषा को ही प्रतिष्ठा एव गौरव प्रदान किया था। सम्राट् अशोक के सभी लेख प्राकृत मे ही उपलब्ध है, जो तत्कालीन जनभाषा थी। हमारे प्रधानमन्त्री प नेहरू को भी प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की भाँति अपने उच्चाधिकारियो की अपेक्षा जनता जनार्दन से मिलना अत्यधिक रुचिकर है। इस रूप मे वैशाली को उपेक्षित नही कहा जा सकता है और आजकल तो केन्द्रीय शासन, बिहार शासन, भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति साहू शातिप्रसाद जी और वैशाली-सघ के उत्साही सदस्य डॉ. जगदीशचन्द्र माथुर आदि के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप वैशाली का उत्थान हो रहा है। बिहार-शासन ने जैन और प्राकृत-साहित्य के अध्ययन के लिए यहाँ एक स्नातकोत्तर-सस्था की स्थापना की है। आशा है यह ज्ञान और अध्ययन का विशाल-केन्द्र बन जायेगी।

कालचक्र की प्रबल-गति एव राजनीतिक-परिवर्तनो के कारण वैशाली सर्वथा ध्वस्त हो गई और हम भारतवासी भी उसके अतीत-वैभव एव महत्त्व को भुला बैठे, पर आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वैशाली ने अपने सुयोग्य-सपूतो को अब तक भी नही भुलाया है। वैशाली के जैन-बौद्ध-स्मारको मे वहाँ के स्थानीय मूल-निवासी 'सिह' व 'नाथ' क्षत्रिय लोगो द्वारा अधिकृत एक उपजाऊ-खेत भी एक बडे महत्त्वपूर्ण-स्मारक के रूप मे आज भी विद्यमान है। लोग इसे जोतते-बोते नही है, क्योंकि उनके यहाँ वश-परम्परा से यह धारणा प्रचलित है कि **इस पवित्र भूमि पर भगवान् महावीर अवतरित हुए थे, अतः इस पुण्यभूमि को जोतना-बोना नही चाहिए।** भारत के धार्मिक-इतिहास मे यह एक अद्‌भुत-घटना है, जो भगवान् महावीर की स्मृति अपनी ही जन्मभूमि मे 2600 वर्ष बाद भी उनके सम्बन्धियो एव वशजो द्वारा आज भी सुरक्षित है।

भारत के सास्कृतिक-इतिहास मे महावीर का समय निश्चय ही प्रतिभा, मानसिक-विकास एव सूझ-बूझ का युग था, उनके समकालीनों मे केशकबली, मक्खली-गोशाल, पकुद्ध-कच्चायन, पूरणकश्यप, सजय वेलट्ठिपुत्त और तथागत बुद्ध प्रभृति धार्मिक पुण्य-विभूतियाँ थी। भगवान् महावीर ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरो से बहुत कुछ सीखा एव पाया था। उन्हे धर्म और दर्शन की एक सुव्यवस्थित-परम्परा ही उत्तराधिकार मे नही प्राप्त हुई थी, अपितु सुसगठित साधु-सघ एव उनके सच्चे अनुयायी भी मिले थे। वे उस दर्शन एव धर्म का सक्रिय-प्रयोग करते थे, जिसे भगवान् महावीर तथा उनके शिष्यो ने प्रचलित किया।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध

महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर समकालीन थे। उनका विहार-(प्रचार)-क्षेत्र भी एक ही था और वहाँ के राजवश एव शासक दोनो के ही भक्त थे। इन दोनो ने मानव के मानवीयरूप पर ही विशेष-बल दिया था और जनता-जनार्दन को उनकी अपनी ही भाषा मे उच्च नैतिक-आदर्श सिखाये थे, जिनसे व्यक्तिमात्र का आध्यात्मिक-धरातल ऊँचा उठा एव सामाजिक-दृढता मे योग मिला। ये आदर्श, भावी-पीढी के लिए प्राच्य अथवा मागध-धर्म के श्रेष्ठ-प्रतिनिधि सिद्ध हुए और श्रमण-सस्कृति के नाम से विख्यात हुए। सौभाग्य से तत्सम्बन्धी मूल-साहित्य आज भी हमे उपलब्ध है। प्रारम्भिक बौद्ध और जैन-साहित्य आज भी हमे उपलब्ध है। प्रारम्भिक बौद्ध और जैन-साहित्य के तुलनात्मक-अध्ययन से दोनो मे एक अद्‌भुत-समानता तथा धार्मिक एव नैतिक-चेतना प्राप्त होती है, जो न केवल 2000 वर्ष पूर्व ही उपादेय थी, अपितु आज भी अनेको उलझनभरी मानवीय समस्याओ के सुलझाने का एकमात्र साधन है। महात्मा गाँधी ने जो सत्य और अहिसा की लौ (ज्योति) जगाई, उसकी पृष्ठभूमि मे भगवान् महावीर एव महात्मा बुद्ध के नैतिक-आदर्श ही तो है। पाली भाषा मे जो निर्ग्रंथ-सिद्धात का विवरण मिलता है, वह जैन और बौद्ध के पारस्परिक-सम्बन्धो के निर्णय मे अत्यधिक सहायक है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध मे इतनी अधिक समानता थी कि प्रारम्भ मे तो यूरोपीय विद्वान् दोनो को एक ही व्यक्ति समझने की भ्राति कर बैठे; पर आज गम्भीर-अध्ययन के विकास एव शोध-खोज के फलस्वरूप दोनो महापुरुषो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो गया है, जिन्होने भारतीय-चिन्तनधारा के इतिहास पर एक महत्त्वपूर्ण-प्रभाव छोडा। यह एक ध्यान देने की बात है कि महात्मा बुद्ध ने दिव्यज्ञान की

प्राप्ति से पूर्व कई विद्वानो के साथ अनेको प्रकार के प्रयोग कर 'मध्यममार्ग' अपनाया था तथा तत्कालीन प्रचलित अनेको धार्मिक मान्यताओ एव परम्पराओ का परित्याग भी किया था। उन्होने तो भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ एव अपने निकटतम पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ (जो उनसे केवल 200 वर्ष पूर्व हुए थे) द्वारा प्रचलित धर्म को ही अगीकार किया और उसे ही तत्कालीन-समाज के समक्ष प्रस्तुत किया।

महात्मा बुद्ध के विचार अपने समकालीन-मतो एव विश्वासो से बहुत कम मेल खाते है, क्योकि उनकी यह धारणा थी कि "मानवजाति के लिए मैने कुछ नवीन खोज की है", पर भगवान् महावीर के विचार अपनी समकालीन-विचारधाराओ से बहुत मिलते-जुलते है, वे दूसरे के विचार समझने को सदैव उत्सुक रहते थे, क्योकि वे उस धर्म का उपदेश साधारणरूप मे परिवर्तित कर रहे थे, जो भगवान् पार्श्वनाथ के समय से प्रचलित था। उदाहरणार्थ डॉ याकोबी ने लिखा है — "महावीर और बुद्ध दोनो ने अपने मतो के प्रचार के लिए अपने-अपने वशो का सहारा लिया। दूसरे प्रतिद्वंद्वियो पर उनका प्रचार निश्चय ही देश के मुख्य-मुख्य परिवारो पर निर्भर था। महात्मा बुद्ध की आयु 80 वर्ष की थी, जबकि भगवान् महावीर केवल 72 वर्ष ही जिये। महात्मा बुद्ध के मध्यमार्ग ने समाज को एक नवीनता दी और नये अनुयायियो मे विशेष उत्साह पैदा किया, फलस्वरूप उनका प्रभाव बडी दूर-दूर तक विस्तार से फैला, पर भगवान् महावीर ने तो नवीन और प्राचीन दोनो को ही अपनाया था, इसलिए वे सहयोग की भावना से ओत-प्रोत रहे। उनके समय नये अनुयायियो का प्रश्न इतना ज्वलन्त न था जितना कि महात्मा बुद्ध के सामने था। जैन और बौद्ध साधुओ के नियमो मे बड़ी समानता थी, इसका प्रबल-प्रमाण यह है कि कुछ समय के लिए महात्मा बुद्ध ने निर्ग्रंथत्व (दिगम्बरत्व) धारण किया था, जो भगवान् पार्श्वनाथ के समय से चला आ रहा था। डॉ याकोबी ने लिखा है कि — "जब बौद्धधर्म की स्थापना हुई, तब निगण्ठ (निर्ग्रंथ) जो 'जैन' या 'अर्हत्' के नाम से प्रसिद्ध है, एक महत्त्वपूर्ण-वर्ग के रूप मे विद्यमान थे।" पालि-साहित्य मे भगवान् महावीर का 'निगण्ठ-नातपुत्त' के नाम से उल्लेख मिलता है। इसप्रकार महावीर और बुद्ध ने प्रारम्भ मे एक ही श्रमण-सस्कृति के आदर्शो पर अपना जीवन प्रारम्भ किया, पर आगे चलकर वे भिन्न-भिन्न हो गये और इसी तरह उनके अनुयायी भी समय और स्थान-भेद के कारण भिन्न-भिन्न हो गये। पर यह एक शोध का विषय है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि दोनो धर्म भारत मे पैदा हुए, पर जैनधर्म तो आज भी जीवितरूप से अपनी जन्मभूमि मे विद्यमान है, पर बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि को छोड पूर्वी-क्षितिज पर पल्लवित हो रहा है — ऐसा क्यो? — यह एक बडा विचारणीय-प्रश्न है। अतः आज यह अत्यधिक आवश्यक है कि महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर की शिक्षाओ का जो अध्ययन हुआ, उसे और भी अधिक विस्तार एव शोधपूर्वक मनन, चिन्तन कर पता लगाया जाये।

जैन-साहित्य

जैन-सम्प्रदाय के इतिहास की सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पडी है। महावीर के पश्चात् जैनधर्म का अनुवर्तन बडे-बडे धुरधर विद्वान् एव साधुओ ने किया, जिन्हे श्रेणिक बिम्बिसार और चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे महान् प्रभावशाली शासकों का आश्रय प्राप्त था। बहुत से धार्मिक साधु, राजवश, समृद्ध व्यापारी एव पवित्र परिवारो ने जैनधर्म की स्थिरता एव प्रगति के लिए बडे-बड़े बलिदान किए फलस्वरूप भारतीय कला, साहित्य, नैतिकता, सभ्यता

एव सस्कृति के लिए जैनियो की जो कुछ भेट है, उस पर भारत को गर्व है।

भगवान् महावीर के सिद्धान्त विधिवत् रूप से तत्कालीन लोकभाषाओ मे नियमानुसार ग्रन्थबद्ध हुए, जिनकी व्याख्या निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य एव टीकाओ के रूप मे हुई और फुटकर-विषयो पर छोटी-छोटी पुस्तके लिखी गईं, उन पर आगे चलकर बडा विवेचनात्मक विस्तृत-साहित्य तैयार हुआ। उनकी शिक्षाओ एव सिद्धान्तो को बडे-बडे दिग्गज विद्वानो एव मुनियो ने बडे तार्किक-ढग से सुरक्षित रखा, जबकि अन्य भारतीय-पद्धतियो मे ऐसा बहुत ही कम था।

भारतीय-साहित्य मे जैनियो की सेवा अनेको विषयो से सम्बन्धित है और वे प्राकृत, अपभ्रश, सस्कृत, तमिल, कन्नड, पुरानी हिन्दी एव पुरानी गुजराती आदि विभिन्न भाषाओ मे उपलब्ध है। जैनाचार्यों ने भाषाओ को अपने उद्देश्य का मूल-साधन माना था, धार्मिक उदारता के कारण उन्होने किसी एक ही भाषा पर बल नही दिया। धन्य है उनकी दूरदर्शिता को कि उन्होने सस्कृत और प्राकृत-भाषाओ मे इतने विशाल-साहित्य का निर्माण किया तथा तमिल और कन्नड को इतना अधिक सुसमृद्ध किया, इसके लिए मुझे विद्वज्जनो से विशेष कुछ कहने की जरूरत नही है। गत कई वर्ष हुए **डॉ. ह्लूलर ने जैन-साहित्य के विषय मे लिखा था कि — "व्याकरण, खगोलशास्त्र और साहित्य की विभिन्न-शाखाओ मे जैनाचार्यों की इतनी अधिक सेवाये है कि उनके विरोधी भी उस तरफ आकर्षित हुए। जैनाचार्यों की कुछ रचनाये तो यूरोपीय विज्ञान के लिए भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।** दक्षिण मे जहाँ उन्होने द्रविडो के बीच कार्य किया, वहाँ उनकी भाषाओ के विकास मे उन्हाने पूर्ण योग दिया। कन्नड, तमिल एव तेलगु आदि साहित्यिक भाषाये, जो जैनाचार्यों द्वारा डाली गई नीव पर ही निर्भर है और आज उनके ही कारण पल्लवित हो रही है, यद्यपि यह भाषा-विकास का कार्य उन्हे अपने मूल-उद्देश्य से बहुत दूर खीच ले गया, फिर भी इससे भारतीय भाषा एव सभ्यता के इतिहास मे उन्हे बडा महत्त्वपूर्ण-स्थान प्राप्त हुआ। एक बडे जर्मन विद्वान् ने कहा था, जो शोध-खोज से भी सिद्ध होता है कि **"यदि आज ह्लूलर जीवित होते, तो भारतीय-साहित्य मे जैनाचार्यों की सेवाओ पर वे बड़े उच्चकोटि के शोधपूर्ण विचार व्यक्त कर जैनत्व का महत्त्व बढ़ाते।"** जैनियो ने बडी सावधानी एव चितापूर्वक प्राचीन पाण्डुलिपियो को सुरक्षित रखा है। जैसलमेर, जयपुर, पट्टन और मूडबिद्री आदि स्थानो मे जो इनके ही सग्रहालय (भडार) है, निश्चय ही वे राष्ट्रीय-सम्पत्ति के एक भाग है। उन्होने ये सग्रह (भडार) ऐसी विद्वत्ता एव उदार-दृष्टि से तैयार किये कि वहाँ धार्मिक-द्वेष का कोई नामोनिशान (चिह्न) तक नही है। जैसलमेर और पट्टन के भडारो मे तो कुछ ऐसी मूल बौद्ध-कृतियाँ उपलब्ध है, जो कि हम केवल तिब्बती-अनुवाद से ही जान सके, इस सबका श्रेय इन भडारो के सग्राहको एव निर्माताओ को ही है।

जैन-साहित्य का निष्पक्ष एव समालोचनात्मक-अध्ययन जैनधर्म और जीवन के सही-दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने मे समर्थ है। जीवन की जैनदृष्टि से मेरा तात्पर्य उस जीवन-दर्शन से है, जिसमे जैन अध्यात्म एव नीति (आचार) विषयक मूल-सिद्धान्तो का न्यायपूर्ण- विवेचन हो और जैन-उद्देश्यो की पूर्ति होती हो, आज के जैनधर्मावलबियो की जीवन-दृष्टि से नही।

आध्यात्मिक-दृष्टि से सभी आत्माये अपने-अपने विकास के अनुसार (गुणस्थान रूप से) धर्म के मार्ग मे

अपना यथायोग्य-स्थान पाती है। प्रत्येक की स्थिति अपने-अपने कर्मानुसार सुनिश्चित है और उनकी उन्नति अपनी-अपनी सभाव्य-शक्ति पर निर्भर है। जैनियो के ईश्वर न तो विश्व के कर्त्ता है और न ही सुख-दु:ख के दाता। वे तो एक आध्यात्मिक मूर्ति है, जिन्होने कृतकृत्यता प्राप्त कर ली है। उनकी पूजा-स्तुति केवल इसलिये की जाती है कि हम भी तदनुकूल बनकर उसी कृतकृत्यता एव सर्वज्ञत्व की स्थिति को प्राप्त कर सके। प्रत्येक आत्मा को अपने कर्मानुसार सुख-दु:ख का फल भोगना ही चाहिए, सच तो यह है कि हर आत्मा अपना भावी-भाग्यविधाता स्वय ही है। किसी आत्मा के पुण्य-पाप का दूसरे के साथ विनिमय होना बिल्कुल ही निराधार है, अत: ऐसे विचारों से कोई किसी का आश्रित या आधीन नही बनता है और विश्वास एव आशापूर्वक अपन कर्त्तव्य-पालन करता हुआ निरतर प्रगतिशील बना रहता है। यदि कोई पुरुष बाह्य अथवा आतरिक-दबाव के कारण दुष्ट या हत्यारा बन जाता है, तो उसे निराश नही होना चाहिए, क्योकि अन्तरग से तो वह पवित्र ही है, अत: जब कभी काललब्धि आयेगी वह स्वानुभूति द्वारा आत्मकल्याण कर सकेगा।

जैनधर्म मे कुछ आचार-सबधी नियम सुनिश्चित है, जो मनुष्य को 'सामाजिक-प्राणी' के रूप मे क्रमश: विकास करने मे सहायक होते है। जब तक वह समाज मे रहता है, तब तक आध्यात्मिक-उन्नति के साथ-साथ समाजसेवा की ओर विशेष-आकृष्ट रहता है, पर यदि वह सासारिक-झझटो को छोड मुनिपद अगीकार करता है, तो फिर उसका सामाजिक-उत्तरदायित्व घट जाता है। जैनधर्म मे श्रावको के कर्त्तव्य मुनियो जैसे ही होते है, पर मात्रा (Degree) मे कुछ कम होते है, अत श्रावक अपनी क्रियाओ का आचरण करता हुआ क्रमश· मुनिपद प्राप्त कर सकता है।

अहिसा एक ऐसा सिद्धान्त है, जो जीवन मे जैनदृष्टि का प्रवेश कराती है, जिसका मूल अर्थ है 'प्राणीमात्र पर अत्यधिक करुणाभाव रखना।' जैनधर्म की दृष्टि से सभी प्राणी समान है और हर धार्मिक-व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि उसके द्वारा (निमित्त से) किसी को कष्ट न पहुँचे। प्रत्येक प्राणी का अपना स्वतत्र-अस्तित्व एव गौरव है और यदि कोई अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है, तो उसे दूसरो के अस्तित्व का भी आदर करना चाहिए। एक दयालु-पुरुष अपने चारो ओर दया का वातावरण बनाये रखता है। जैनधर्म मे यह सुनिश्चित है कि बिना किसी जाति, धर्म, रग, वर्ग तथा स्थान के भेदभाव से जीवन पूर्णरूपेण पवित्र एव सम्माननीय है। जैनधर्म की दृष्टि से 'हिरोशिमा' और 'नागासाकी' का निवासी उतना ही पवित्र एव श्रेष्ठ है, जितना कि 'लदन' और 'न्यूयार्क' का। उनके काले-गोरे रग, भोजन अथवा वेष-भूषा यह सब बाह्य-विशेषणमात्र ही है। इसप्रकार अहिसा की प्रक्रिया वैयक्तिक तथा सामूहिक — दोनो ही रूप से एक महान् सद्गुण है और क्रोधादि कषायो से रहित एव रागद्वेष-विहीन। यह करुणा का भाव निस्सन्देह बडा प्रभावक एव शक्तिशाली होता है।

जैनाचार का दूसरा महान् गुण है 'भाईचारा' या 'मैत्रीभाव' (Neighbourliness)। प्रत्येक पुरुष को सत्य बोलना चाहिए और दूसरे के गुणो का आदर करना चाहिए, जिससे समाज मे उसका मान और विश्वास बढे तथा साथ ही वह दूसरो के लिए सुरक्षा का वातावरण निर्माण करने मे सहायक बन सके। **यह बिल्कुल व्यर्थ एव हेय है कि अपने पड़ोसी के साथ तो दुष्टता का व्यवहार करे और समुद्र-पार के विदेशियो के प्रति विश्वबन्धुत्व एव उदारता दिखाने का ढोंग रचे। व्यक्तिगत कारुण्य, पारस्परिक विश्वास एव आपसी सुरक्षा के भाव अपने पड़ोसी से ही आरम्भ होना चाहिए।** और फिर वे क्रमश: उत्तरोत्तर स्तर पर सक्रियरूप

से समाज मे फैलाना चाहिए, किन्तु कोरे रूक्ष-सिद्धान्तो के रूप मे नही। ये सद्गुण सुयोग्य-नागरिको के अनुकूल सामाजिक एव राजनीतिक-वर्ग तैयार करते है, जो मानवीय-दृष्टि से अच्छे आदमियो के साथ शातिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए उत्साहित करते है।

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

तीसरा विशिष्ट गुण है — **'ब्रह्मचर्य' और 'अपरिग्रह'**, जो धार्मिक एव आध्यात्मिक-उन्नति के साथ-साथ विभिन्न दशाओ व विभिन्न मात्राओ मे सीखा जाता है। एक आदर्श धार्मिक-पुरुष जब मन-वचन-कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो उसकी चिरसचित-निधि का अतिम-अवशेष उसका शरीरमात्र ही रह जाता है, जिसे स्थिर (जीवित) रखने के लिए उसकी आवश्यकताये भी अत्यधिक सीमित रह जाती है और जब इनका भी धर्मसाधन मे कोई योग नही रह जाता, तो इन्हे भी वह सहर्ष परित्याग कर देता है। सुख-शाति की खोज मानवमात्र का एक चरम-लक्ष्य है। यदि वैयक्तिक-प्रवृत्तियो एव इच्छाओ को विधिवत् रूप से नियन्त्रित रखने का प्रयत्न किया जाये, तो फिर मनुष्य को मानसिक-आनन्द एव आध्यात्मिक-शाति तो मिल ही जाती है। स्वेच्छापूर्वक धन की आवश्यकताओ को सीमित करना एक बहुत बडा सामाजिक-गुण है, जिससे सामाजिक-न्याय एव उपभोग की वस्तुओ का समुचित-वितरण होता रहता है। सशक्त एव श्रीमत-लोग निर्बल एव गरीबो को कूडा-करकट या उपेक्षित कदापि न समझे, अपितु वे अपनी अभिलाषाओ एव आवश्यकताओ को स्वेच्छापूर्वक क्रमश· नियत्रित करे, जिससे उपेक्षित-वर्ग भी जीवन मे अच्छी तरह जीने के सुअवसर प्राप्त कर सके। ये गुण व्यक्ति या समाज मे बाहरी दबाव अथवा कानून से नही थोपे जा सकते, अन्यथा गुप्त-पाप, छल एव पाखण्ड की प्रवृत्तियाँ बढने लगेगी। अत: बुद्धिमान पुरुष को इन गुणो का क्रमश अभ्यासकर एक उच्च-आदर्श उपस्थित करना चाहिए, जिससे एक प्रबुद्ध एव सशक्त-समाज का क्रमिक-विकास हो सके।

अनेकान्त एव स्याद्वाद

व्यक्ति का बौद्धिक-स्तर बनानेवाले बहुत से तत्त्व हैं, जैसे वश-परम्परा, वातावरण, पालन-पोषण, अध्ययन और अनुभव इत्यादि, पर उसके विचार एव विश्वास (दृढता) का निर्माण तो बौद्धिक-स्तर से ही होता है। और वह यदि बौद्धिक ईमानदारी एव भावाभिव्यक्ति के ऐक्य मे पिछड जाता है, तो फिर ये सब गुण दूषित हो जाते है और मनुष्य की व्यक्तिगत या सामूहिक भावनाओ अथवा तौर-तरीको के अनुसार विभिन्नरूप धारणकर लेते है, इसीलिए विचारो की निर्द्वन्द्वता एव दृष्टिकोण का सहयोग दुर्लभ-सा ही होता जाता है। प्राय हम सब अपने आपको बहुत अच्छे और ठीक समझते है, पर किसी विषय पर आपस मे सहमत होने की अपेक्षा असहमत होना आसान ही नही स्वाभाविक भी है। इसी स्थिति से निपटने के लिए **जैनधर्म ने विश्व को दो बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो की भेट प्रस्तुत की है, वे हैं 'नयवाव' और 'स्याद्वाव', जो किसी विषय को समझने और समझाने मे बड़े साधक होते है।** पदार्थ के विभिन्न-दृष्टिकोणो एव उनके पारस्परिक-सम्बन्धो का विश्लेषण 'नयवाद' से होता है। एक उलझे हुए प्रश्न के विश्लेषणात्मक-परिचय का यह एक सुन्दर-उपाय है। 'नय' एक ऐसा विशेष-मार्ग है, जो एक सम्पूर्ण पदार्थ के किसी एक-भाग अथवा दृष्टिकोण का विवेचन करता है, जिससे सम्पूर्ण-पदार्थ गलत नही समझा जा सकता। इन विभिन्न-दृष्टिकोणों के समन्वय की भी एक नितान्त-आवश्यकता है,

जिसमें प्रत्येक दृष्टिकोण अपनी उचित-स्थिति प्राप्त कर सके और यह कार्य 'स्याद्वाद' द्वारा होता है। एक व्यक्ति अस्ति, नास्ति और उभयरूप से पदार्थ का वर्णन कर सकता है। इन तीनो के सयोग से सात अन्य विशेषण और बन जाते हैं, जो 'स्यात्' शब्द के जुडने से विषय को समझने और समझाने का एक समुचित-मार्ग बन जाता है। अस्ति-नास्ति के विवेचन मे स्याद्वाद पृथक् नय के सत्तात्मक-दृष्टिकोण को दबा देता है। प्रो. ए बी ध्रुव ने कहा है "स्याद्वाद काल्पनिक-रुचि का सिद्धांत नहीं है, जो सत्त्व-विद्या (प्राणिविज्ञान)-सम्बन्धी समस्याओ को आसानी से सुलझा सके, अपितु यह तो मनुष्य के मनोवैज्ञानिक एव आध्यात्मिक जीवन के ताल-मेल को बैठाता है।" एक दार्शनिक जब जैनधर्म के मूलतत्त्व अहिसा एव बौद्धिक सहयोग के साथ अन्य धार्मिक विचारो पर अपने मत व्यक्त करता है, तो उसमे स्याद्वाद से विचारो की निष्पक्षता आती है, और यह निश्चित करता है कि सत्य किसी की पैतृक-सम्पत्ति नही है और न ही किसी जाति या धर्म की सीमाओ मे सीमित है।

मनुष्य का ज्ञान सीमित एव अभिव्यक्ति अपूर्ण है, अत विभिन्न-सिद्धान्तो का निरूपण अपूर्ण ही है, ज्यादा मे ज्यादा वे सत्य की एकतरफा दृष्टि को ही प्रस्तुत करते है, जो शब्द या विचारो द्वारा ठीक रूप से व्यक्त नही की जा सकती। 'धर्म' सत्य का प्रतिनिधित्व करता है, अत: 'सहिष्णुता' जैनधर्म एव आदर्शों की मूल-आधारशिला है। इस सम्बन्ध मे तो जैन- शासको और सेनापतियो तक के आदर्श अनुकरणीय है। भारत के राजनीतिक-इतिहास से यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि किसी भी जैनशासक ने कभी किसी को मौत की सजा नही दी, जबकि जैन साधु एव जैनियो को अन्य-धर्मावलम्बियो की धर्मान्धता का कोप-भाजन बनना पडा। Dr Saletore ने ठीक ही कहा है — **"जैनधर्म के महान्-सिद्धान्त अहिसा ने हिन्दू-सस्कृति को सहिष्णुता के सम्बन्ध मे बहुत कुछ दिया है तथा यह भी सुनिश्चित है कि जैनियो ने सहिष्णुता का पालन जितनी अच्छी तरह एव सफलतापूर्वक किया, उतना भारत के अन्य किसी वर्ग ने नही किया।"**

एक समय था जब मनुष्य प्रकृति की दया पर निर्भर था, पर आज प्रकृति के रहस्यो पर विजय पाकर वह उसका स्वामी बन बैठा है। विज्ञान की विभिन्न-शाखाओ का तेजी से विकास हो रहा है। अणु-शक्ति एव राकेटो के आविष्कार ऐसे आश्चर्यकारी है कि यदि वैज्ञानिक चाहे, तो सम्पूर्ण मानव-जाति को कुछ ही क्षणो मे ध्वसकर सारी की सारी पृथ्वी को अदल-बदल सकता है; अत: आज सम्पूर्ण मानव-जाति विपत्ति के कगार पर खडी है, जिससे उसका मस्तिष्क पथ-भ्रष्ट हो चकरा रहा है तथा उसकी शरण मे भाग रहा है, जहाँ इस विनाश से सुरक्षा (राहत) मिल सके, अत. निश्चय हो हमे अपने प्राचीन-आदर्शों का पुनरकन करना होगा।

वैज्ञानिक-प्रगति मनुष्य को अधिकाधिक सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील है, पर दुर्भाग्यवश मनुष्य-मनुष्य रूप से नही समझा जा रहा है; प्राय: गोरी-जातियाँ ही मनुष्यता की अधिकारिणी समझी जाती है। — यही दृष्टिकोण हमारे नैतिक-स्तर का विध्वसक है। यदि विश्व का कुछ भाग अधिक सुसभ्य एव प्रगतिशील बना हुआ समझा जाता है, तो वह निश्चय ही विश्व के बाकी भाग की नादानी एव सज्जनता के बल-बूते पर ही बना है। मानव-जाति का सहयोगात्मक सामूहिक विकास ही जातिभेद-नीति को जडमूल से नष्ट कर सकता है। अपनी व्यक्तिगत समृद्धता एव श्रेष्ठता की अपेक्षा मानवमात्र की श्रेष्ठता एव पवित्रता का महत्त्व समझा जाना चाहिए। वैज्ञानिक-प्रवृत्ति एव साधु-प्रवृत्ति मे पारस्परिक सहयोग होने पर ही मनुष्य सही ढग से मनुष्य के रूप मे परखा जा सकता है। तकनीकी-रूप से सगठित इस विश्व मे अब स्व-पर का भेद बहुत ही थोडा रह गया है। आज अपना

कल्याण दूसरो के कल्याण पर ही निर्भर है। यदि इस अहिसा के सिद्धात को ठीक ढग से समझा जाये एव प्रयोग किया जाये, तो विश्व-नागरिकता की मानवीय-दृष्टि की यह एक आवश्यक-आधारशिला बन सकती है।

मनुष्य की नियोजित एव सुसगठित क्रूरता से हमे निराश नही होना चाहिए। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार हम अपने भाग्यविधाता स्वय ही है। हम आत्मनिरीक्षण करे, अपने विचारो का विश्लेषण करे तथा अपने उद्देश्यो का वैयक्तिक व सामूहिकरूप से अनुमान लगाये और किसी भी शक्ति के आगे हीनतापूर्वक झुके बिना ही इस विश्वास और आशा के साथ स्व-कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर रहे कि मनुष्य को अपने अस्तित्व एव भलाई के लिए उन्नति का प्रयत्न करना है। देवत्व प्रत्येक व्यक्ति मे विद्यमान है और वह धर्म के मार्ग का अनुसरण कर इस देवत्व को प्राप्त कर सकता है। विज्ञान एव तकनीकी-बुद्धिबल से हमे निर्णय करना है कि अगर हम मानव-समाज की भलाई को आगे बढाना चाहते है अथवा स्वय को रेडियोधर्मी-धूलि के ढेर-रूप मे परिवर्तित करना चाहते है।

अच्छा पडोसीपन एव लालसाओ पर नियन्त्रण, दोनो बडे श्रेष्ठ सद्‌गुण है। सत्य सदा सत्य ही रहता है। उसे वैयक्तिक, सामूहिक, राजनैतिक अथवा सामाजिक किसी भी दृष्टि से देखिए, एक ही मिलेगा। जिसे स्वय आत्मज्ञान नही है और ना ही दूसरो को मनुष्यरूप से जानने की इच्छा है, वह दूसरो के साथ तो क्या स्वय भी सुख-शाति से नही रह सकता है। स्व-पर विवेक ही हमारे आपसी सन्देहो को मिटाकर युद्ध के लगातार भय को सन्तुलित करता है, एव हमे शातिपूर्ण-सहअस्तित्व की स्थिति मे ले जाता है।

आजकल विचार एव भाषण की स्वतन्त्रता एक विलक्षण-ढग से पगुल हो रही है। लोगो के अपने अभिप्रायपूर्ण-प्रचार यथार्थ-सत्य को छिपा ही नही देते, अपितु उसे ऐसा तोड-मरोड कर पेश करते है कि सारा ससार पथभ्रष्ट हो भटक रहा है। इसका स्पष्ट-अर्थ है कि विवेकी-पुरुष स्वय प्रबुद्ध रहे तथा अपने ज्ञान की सीमाओ को समझते हुये नय एव स्याद्वादरूप से दूसरो के दृष्टिकोणो का आदर करना सीखे। हम मानव मे मानवता के विश्वास को न खोये और परस्पर प्रत्येक का मानवरूप मे ही आदर करना सीखे तथा मनुष्य को विश्व-नागरिक के रूप से स्वस्थ एव प्रगतिशील स्थिति मे रहने देने मे सहयोग दे। **जैनधर्म के मूल-सिद्धान्त (अहिसा, व्रत, नयवाव और स्याद्वाद) यदि सही-ढग से समझे जावे तथा उनका ठीक-ढग से प्रयोग किया जाये, तो प्रत्येक-व्यक्ति विश्व का सुयोग्यतम-नागरिक बन सकता है।** ❖❖

सर्वज्ञता का सुप्रभाव

"तुह वयण चिय साहदि, णूणमणेगतवाय विहड-पह।
तह हिदय-पयासयर, सव्वण्णूत्तमप्पणो णाण॥"

— (उसहदेव-थुदि, 33)

अर्थ — *हे भगवान् वृषभदेव। आपके दिव्यध्वनि-प्रसूत वचन-वर्गणा ही निश्चय से अवश्य ही 'अनेकातवाद' के विकट-पथ को सिद्ध करते है तथा हे वृषभनाथ। आपका स्वय का सर्वज्ञत्व हृदय-कमल को प्रकाशित करनेवाले सूर्य के समान है।* ❖❖

तीर्थंकर महावीर

✍ डॉ. एस. राधाकृष्णन

भारत के पूर्व-राष्ट्रपति, विश्वविख्यात-दार्शनिक-विचारक डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन जी का लेखन गहनशोधपूर्ण-अध्ययन एव सूक्ष्म-चिंतन से अनुप्राणित रहा है। जैन-परम्परा के चौबीसवे-तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के विषय मे इनके विचारो को यह सक्षिप्त, किन्तु महत्त्वपूर्ण-आलेख प्रभावी-रीति से प्रस्तुत करता है। एक दार्शनिक-विचारक, जो स्वय महावीर की परम्परा का अनुयायी (श्रद्धालु) नही रहा हो, उसके महावीर-विषयक विचारो को इस आलेख मे देखना सुखद-अनुभूति है। — **सम्पादक**

ईसापूर्व 800 से 200 के बीच में मानव-इतिहास का लक्ष मानो बदल गया। इस अवधि मे विश्व के चिन्तन का लक्ष प्रकृति के अध्ययन से हटकर मानव-जीवन के चिन्तन पर आ टिका। चीन मे लाओत्से और कन्फ्यूशस, भारत मे उपनिषदो के ऋषि, महावीर और गौतम बुद्ध, ईरान मे जरथुस्त्र, जूडिया मे पैगम्बरो की परम्परा और यूनान मे पैथागोरस, सुकरात और अफलातून — इन सबने अपना ध्यान बाह्य-प्रकृति से हटाकर मनुष्य की आत्मा के अध्ययन पर केन्द्रित किया।

आत्मिक-सग्रामो का महावीर

मानव-जाति के इन महापुरुषो मे से एक थे 'महावीर'। उन्हे 'जिन' अर्थात् 'विजेता' कहा गया है। उन्होने राज्य और साम्राज्य नही जीते, अपितु आत्मा को जीता। इसलिये उन्हे 'महावीर' कहा गया है — सासारिक-युद्धो का नही, अपितु आत्मिक-सग्रामो का महावीर। तप, सयम, आत्मशुद्धि और विवेक की अनवरत-प्रक्रिया से उन्होने अपना उत्थान करके 'दिव्य-पुरुष' का पद प्राप्त कर लिया। उनका उदाहरण हमे भी आत्म-विजय के उस आदर्श का अनुसरण करने की प्रेरणा देता है।

यह देश अपने इतिहास के आरम्भ से ही उस महान् आदर्श का कायल रहा है। मोहन-जो-दडो और हडप्पा के जमाने से आज तक के प्रतीको, प्रतिमाओ और पवित्र-अवशेषो पर दृष्टिपात करे, तो वे हमे इस परम्परा की याद दिलाते है कि हमारे यहाँ आदर्श-मानव उसे ही माना गया है, जो आत्मा की सर्वोपरिता और भौतिक-तत्त्वो पर आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता प्रस्थापित करे। यह आदर्श पिछली चार या पाँच सहस्राब्दियो से हमारे देश के धार्मिक-दिगन्त पर हावी रहा है।

आत्मवान् बने

जिस महावाक्य द्वारा विश्व उपनिषदो को जानता है, वह है **'तत् त्वमसि'** — तुम वह हो। इसमे आत्मा की दिव्य बनने की भव्यता का दावा किया गया है, और हमे उद्बोधित किया गया है, कि हम नष्ट किये जा सकनेवाले इस शरीर को मोडे, और बदले जा सकनेवाले अपने मन को आत्मा समझने की भूल न करे। आत्मा प्रत्येक व्यक्ति मे है, वह अगोचर है, इन्द्रियातीत है। मनुष्य इस ब्रह्माण्ड से छिटका हुआ छीटा नही है। आत्मा

की हैसियत से वह भौतिक और सामाजिक-जगत् से उभरकर ऊपर उठा है। यदि हम मानव-आत्मा की अन्तर्मुखता को नही समझ पाते, तो अपने आपको गँवा बैठते है।

हममे से अधिकाशजन सदा ही सासारिक-व्याप्तियो मे निमग्न रहते है। हम अपने आपको स्वास्थ्य, धन, साजो-सामान, जमीन-जायदाद आदि सासारिक-वस्तुओ मे गँवा देते है। वे हम पर स्वामित्व करने लगती है। हमें उनके स्वामी नही रह जाते। ये लोग आत्मघाती है। उपनिषदों ने इन्हे **'आत्महनो जना'** कहा है। इस तरह हमारे देश मे हमे आत्मवान् बनने को कहा गया है। समस्त विज्ञान मे आत्मविद्या सर्वोपरि है — **"अध्यात्मविद्या विज्ञानानाम्"**।

उपनिषद् हमसे कहते है — **"आत्मान विद्धि।"** शकराचार्य ने कहा है — **"आत्मानात्मवस्तुविवेक."** अर्थात् आत्मा और अनात्मा की पहचान को आत्मिक-जीवन की अनिवार्य-शर्त बनाया है। अपनी आत्मा पर स्वमित्व से बढकर दूसरी चीज ससार मे नही है। इसीलिये विभिन्न-लेख हमे यह कहते है, कि वास्तविक मनुष्य वह है, जो अपनी समस्त सासारिक-वस्तुये आत्मा की महिमा को अधिगत करने मे लगा दे। 'उपनिषद्' के एक लम्बे-प्रकरण मे बताया गया है, कि पति, पत्नी, सपत्ति सब अपनी आत्मा को अधिगत करने के अवसरमात्र है — **"आत्मवस्तु कामाय।"**

जो सयम द्वारा, निष्कलक-जीवन द्वारा इस स्थिति को प्राप्त कर ले, वह 'परमेष्ठी' है। जो पूर्ण-मुक्ति प्राप्त कर ले, वह अर्हत है, वह पुनर्जन्म की सभावना से, काल के प्रभाव से पूर्णतया-मुक्त है। महावीर के रूप मे हमारे समक्ष ऐसे व्यक्ति का उदाहरण है, जो सासारिक-वस्तुओ को त्याग देता है। जो भौतिक-बधनो मे नही फँसता, अपितु जो मानव-आत्मा की आतरिक-महिमा को अधिगत कर लेता है।

कैसे हम इस आदर्श का अनुसरण करे? वह मार्ग क्या है, जिससे हम यह आत्मसाक्षात्कार, यह आत्मजय कर सकते है?

तीन महान् सिद्धान्त

हमारे धर्मग्रथ हमे बताते है, कि यदि हम आत्मा को जानना चाहते है, तो हमे श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास करना होगा। 'भगवद्गीता' ने इस बात को यो कहा है — **"तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।"** इन्ही तीन महान्-सिद्धान्तो को महावीर ने 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र' के नाम से प्रतिपादित किया है।

हममे यह विश्वास होना चाहिये, यह श्रद्धा होनी चाहिये, कि सासारिक-पदार्थो से श्रेष्ठतर कुछ है। कोरी श्रद्धा मे विचारहीन अधश्रद्धा से काम नही चलेगा। हमे ज्ञान होना चाहिये कि श्रद्धा की निष्पत्ति को 'मनन' ज्ञान की निष्पत्ति मे बदल देता है, किन्तु कोरा सैद्धान्तिक-ज्ञान काफी नही है। **"वाक्यार्थज्ञानमात्रेण न अमृतम्"** अर्थात् शास्त्र के शब्दार्थ-मात्र जान लेने से अमरत्व नही मिल पाता। उन महान् सिद्धान्तो को अपने जीवन मे उतारना चाहिये। चरित्र बहुत जरूरी है। हम दर्शन, प्रणिपात या श्रवण से आरम्भ करते है, ज्ञान, मनन या परिप्रश्न पर पहुँचते है, फिर निदिध्यासन, सेवा या चारित्र पर आते है। जैसा कि जैन-तत्त्वचितको ने बताया है, ये अनिवार्य है।

अहिसा का कार्यक्षेत्र बढ़ायें

चारित्र यानि सदाचार के मूलतत्त्व क्या है? जैन-गुरु हमे विभिन्न-व्रत अपनाने को कहते हैं। प्रत्येक जैन को पाँच व्रत लेने पडते है — अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। सबसे महत्त्वपूर्ण व्रत है — अहिंसा, यानी जीवो को कष्ट न पहुँचाने का व्रत। कई इस हद तक इसे ले जाते है, कि कृषि भी छोड देते हैं, क्योकि जमीन की जुताई मे कई जीव कुचले जाते हैं। हिसा से पूर्णत: विरति इस ससार मे सभव नही है, जैसा कि 'महाभारत' मे कहा गया है — **"जीवो जीवस्य जीवनम्।"** हमसे जो आशा की जाती है, वह यह है कि अहिसा का कार्यक्षेत्र बढाये — **"यत्नावल्पतरो भवेत्।"** हम प्रयत्न करे कि बल-प्रयोग का क्षेत्र घटे, रजामन्दी का क्षेत्र बढे। इसप्रकार अहिसा हमारा आदर्श है।

वस्तु अनेकधर्मात्मक

यदि अहिसा को हम अपना आदर्श मानते है, तो उससे एक और चीज निष्पन्न होती है, जिसे जैनो ने 'अनेकान्तवाद' के सिद्धान्त का रूप दिया है। जैन कहते है, कि निर्भ्रान्त-सत्य 'केवलज्ञान' हमारा लक्ष्य है, परन्तु हम तो सत्य का एक अश ही जानते है। वस्तु 'अनेकधर्मात्मक' है, उसके अनेक पहलू है, वे जटिल है, लोग उसका यह या वह पहलू ही देखते है, परन्तु उनकी दृष्टि आशिक है, अस्थायी है, पापाधिक है। सत्य को वही जान सकता है, जो वासनाओ से मुक्त हो।

यह विचार हममे यह दृष्टि उपजाता है, कि हम जिसे ठीक समझते है, वह गलत भी हो सकता है। यह हमे यह एहसास कराता है, कि मानवीय-अनुमान अनिश्चय-युक्त होता है। यह हमे विश्वास दिलाता है, कि हमारे अपने गहरे से गहरे विश्वास भी परिवर्तनशील और अस्थिर हो सकते है।

जैन-चिन्तन इस बारे मे छह अन्धो और एक हाथी का दृष्टान्त देता है। एक अधा हाथी के कान छूकर कहता है, कि 'हाथी सूपी की तरह है'; दूसरा अधा उसके पैरो को आलिगन करता है, और कहता है कि 'हाथी खम्बे जैसा है।' मगर इनमे से हर एक असलियत का एक अश ही बता रहा है। ये अश एक-दूसरे के विरोधी नही है। उनमे परस्पर वह सबध नही है, जो अधकार और प्रकाश के बीच होता है, वे परस्पर उसी तरह सम्बद्ध है, जैसे वर्णक्रम के विभिन्न रग परस्पर सम्बद्ध होते है। उन्हे विरोधी नही, विपर्यय मानना चाहिये। व सत्य के वैकल्पिक-पाठ्याक (रीडिग) है।

आज ससार नवजन्म की प्रक्रिया से गुजर रहा है। हमारा लक्ष्य तो 'एक विश्व' है, परन्तु एकता के स्थान पर विभक्तता हमारे अग का लक्षण है। द्वद्वात्मक विश्व-व्यवस्था हमे यह सोचने को प्रलोभित करती है, कि यह पक्ष सत्य है, और यह पक्ष असत्य है, और हमे उसका खडन करना है। असल मे हमे इन्हे विकल्प मानना चाहिये, एक ही मूलभूत-सत्य के विभिन्न पहलू। सत्य के एक पक्ष पर बहुत अधिक बल देना हाथी को छूनेवाले अधो को अपनी-अपनी बात का आग्रह करने के समान है।

विवेक-दृष्टि अपनायें

वैयक्तिक-स्वातत्र्य और सामाजिक-न्याय — दोनो मानव-कल्याण के लिये परमावश्यक है। हम एक

के महत्त्व को बढ़ा-बढ़ाकर कहे, या दूसरे को घटाकर कहे — यह सभव है; किन्तु जो आदमी अनेकातवाद, सप्तभगीनय या स्याद्वाद के जैन-विचार को मानता है, वह इसप्रकार के सास्कृतिक-कठमुल्लेपन को नही मानता। वह अपने और विरोधी के मतो मे, क्या सही है, और क्या गलत है, इसका विवेक करने और उनमे उच्चतर-समन्वय साधने के लिये सदा तत्पर रहता है। यही दृष्टि हमे अपनानी चाहिये।

इस तरह सयम की आवश्यकता अहिंसा और दूसरो के दृष्टिकोण एव विचार के प्रति सहिष्णुता और समझ का भाव — ये उन शिक्षाओ मे से कुछ है, जो महावीर के जीवन से हम ले सकते है। यदि इन चीजो को हम स्मरण रखे, और हृदय मे धारण करे, तो हम महावीर के प्रति अपने महान् ऋण का छोटा-सा अश चुका रहे होगे। ❖❖

तीर्थंकर-महावीर और महात्मा-बुद्ध

वास्तव मे तीर्थंकर-महावीर और महात्मा-बुद्ध समदेश, समकाल एव समसस्कृति के दो क्षत्रिय-राजकुमार हुये, जिन्होने आत्मधर्म और लोकधर्म का 2500 वर्ष-पूर्व प्रसार किया।

इन दोनो महान् आत्माओ के जीवन, सिद्धान्त, धर्म आदि का अध्ययन करने मे निम्नलिखित तुलनात्मक तथ्यतालिका बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

क्र.	विषय	आत्मधर्म-प्रकाशक महावीर	लोकधर्म-प्रचारक बुद्ध
1.	नाम	वर्द्धमान	बुद्ध
2	पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोधन
3	माता	त्रिशला	महामाया
4.	गोत्र	कश्यप	कश्यप
5	ग्राम	कुण्डग्राम (वैशाली)	कपिलवस्तु (लुम्बिनी)
6	वश	ज्ञातृ	शाक्य
7	जाति	क्षत्रिय	क्षत्रिय
8	जन्म	ई.पू 598	ई पू 582
9	धर्म	अर्हन्त	आर्हत
10	ज्ञानप्राप्ति-स्थान	ऋजुकूलातट	गया
11	निर्वाण	ई पू 527	ई पू 502
12	निर्वाणस्थान	पावापुरी	कुशीनगर
13	आयुष्य	72 वर्ष	80 वर्ष
14	व्रत	पञ्च-महाव्रत	पचशील
15.	सिद्धान्त	स्याद्वाद	क्षणिकवाद

हिन्दुओं के आराध्य — भगवान् महावीर

✍ डॉ. परिपूर्णानन्द वर्मा

*भारतीय-सस्कृति दर्शन, साहित्य एव इतिहास आदि क्षेत्रो के सुप्रतिष्ठित-विचारक-मनीषी डॉ. परिपूर्णानन्द वर्मा की सारस्वत-लेखनी की भारतीय-मनीषा मे व्यापक-प्रतिष्ठा रही है। उनकी तथ्यात्मकता, विष्पक्षता एव गुणग्रहण की विचारधारा उनके लेखन मे स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित मिलती है। इस आलेख मे उन्होने भगवान् महावीर को एक व्यापक-परिदृश्य मे देखने एव प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। — **सम्पादक***

मै हिन्दू हूँ, ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करता हूँ, कम से कम मेरी परम्परा ने मुझे यही विश्वास दिया है। पर मै हृदय से जैनधर्म का भक्त भी हूँ। मुझसे प्रायः मेरे साहित्यिक तथा राजनैतिक-मित्र पूछते है कि "मै जैनमत पर इतना आसक्त क्यो हूँ, और जब उसे इतना मानता हूँ, तो जैनी क्यो नही हो जाता?"

प्रश्न अच्छा है, और मेरा उत्तर भी बुरा नही है। मेरा विश्वास है कि बिना हिन्दू बने जैनी श्रेष्ठ-जैनी बन सकता है, पर बिना जैन-आचार-सहिता को अपनाये मै अच्छा हिन्दू नही बन सकता। हमने जैनधर्म से उसका अध्यात्मवाद लेकर लेकर अपने विशाल धर्म को विशालतम बना लिया है। जैनियो ने इससे कर्मकाण्ड लेकर अपने को कुछ आगे बढाया — ऐसा मै नही मानता। अच्छे अर्थों मे पकडकर कर्मकाण्ड हमे कल्याण की ओर ले जाता है, पर जरा-सी त्रुटि से तथा दानी से उसमे उलझकर मनुष्य ऊपर उठने के बजाय नीचे दुबका रहता है। ठीक वैसे ही, जैसे वास्तविक-तत्र-शास्त्र की गरिमा को पशु-तान्त्रिको ने पतन का साधन बना दिया, चाहे वह हिन्दू-तान्त्रिक हो, बौद्ध या जैन-तान्त्रिक।

जैन-परम्परा के विशाल-विज्ञान की बात अलग रख दीजिये। केवल भगवान् महावीर की तीन बाते अगर हम पकड ले, तो आज का अनर्थमय-ससार कितना बदल सकता है। भगवान् महावीर ने कहा है, कि (1) कर्म मे पूर्ण-अनासक्ति हो; (2) चित्त मे राग-द्वेष लेशमात्र भी न हो, और वह परम-शान्त हो; तथा (3) परिग्रह की भावना पूर्णत. समाप्त हो जाये। आज ससार का एकमात्र रोग है — परिग्रह, जो जितना नोच सके, लूट सके, प्राप्त कर सके, उतना भी उसे कम प्रतीत होता है। आज की परिग्रह की भावना से ही सब राग-द्वेष, कुकर्म, अशान्ति पैदा हुई है, बढ रही है। पर हमरात-दिन घडी-घण्टा बजाकर देवता को प्रसन्न करने की चेष्टा करते है, और जिन बातो से देवता, हमारे मन के भीतर बैठा देवता, प्रसन्न हो सकता है, उसके प्रति नितात-उदासीन हैं। तब फिर हिन्दू होते हुये हमने क्या किया? क्या हम आवागमन, पुनर्जन्म, ससार की रोग-व्याधि से लेशमात्र भी ऊपर उठ सके हैं।

'कूर्मपुराण' मे कहा है, कि दैत्य की सेना को जीतनेवाली सैन्य-देवियाँ, दर्शन करने की इच्छा से जब शकर के सामने आईं, तो उनका अद्भुत-रूप देखकर उन्होने उनसे पूछा, कि "आप कौन हैं?" शकर ने उत्तर दिया —

"अह निष्क्रियः शान्तः केवली निष्परिग्रहः।"

अर्थात् मै निष्क्रिय, शात, अद्वितीय तथा परिग्रह-शून्य हूँ।

वीतराग भगवान् महावीर के अद्वितीय, शात, निष्क्रिय-रूप मे तथा उपर्युक्त-वर्णन मे क्या अन्तर है? वीतराग ने तपश्चर्या द्वारा पापक्षय तथा कर्मक्षय की बात सिखलाई थी। 'वीतिहोत्र' नामक पौराणिक-राजा की कथा तो प्रसिद्ध है, कि उसने अपने पाप का क्षय करने के लिये बारह वर्ष तक कन्द-मूल का सेवन किया, तथा बारह वर्षों तक केवल वायु का भक्षण किया। तब उसके पापो का क्षय हुआ। यदि हम अपने पाप का क्षय करने के लिये केवल देवता के आशीर्वाद के भरोसे बैठे रहे, तो क्या कभी उसका क्षय हो सकता है?

बडे से बडे महापुरुष तथा उच्च से उच्च आत्माये कर्म का, सम्कार का क्षय कष्ट-भोगकर करते है। रामकृष्ण परमहस को बारबार उनके इष्ट का साक्षात्कार होता था। पर उन्होने स्वय अपने शिष्यो से कहा था कि "आप अपने सस्कार का क्षय करने के लिये ही गले के कैसर के अत्यधिक पीडामय-रोग को भोग रहे है।" महर्षिरमण को कैसर ने वर्षों तक कष्ट देकर प्राण लिये। तपस्वी अरविन्द जब रोग-शय्या पर पडे थे, तो उनके शिष्यो ने पूछा कि "आप अपने को स्वस्थ क्यो नही कर लेते है?" उन्होने भी उत्तर दिया था कि "सस्कार के क्षय के लिये कष्ट-सहन की तपस्या अनिवार्य है।"

अहिसा और अस्तेय — इन दो बातो पर जैनधर्म बहुत बल देता है। 'विष्णुपुराण' (318/24-33), 'गरुडपुराण' (1/102/1-6), 'अग्निपुराण' (161/1-3), पद्मपुराण' (1/15/348-392) तथा 'भागवत' (7/13/1-46) मे यति का जो धर्म बतलाया गया है, तथा 'कूर्मपुराण' ने यति के जो धर्म गिनाये है, वे भगवान् महावीर के ही 'अहिसा' तथा 'अस्तेय' का प्रतिपादन करते है। कूर्म ने यहाँ तक लिखा है —

स्तेयादभ्याधिक. कश्चिन्नास्त्यधम इति स्मृतः।
हिसा चैषापरा दिष्टा या चात्माज्ञानाशिका।।
— *(2/29/30)*

अर्थात् चोरी से बढकर और कोई अधर्म नही है। चोरी आत्मज्ञान को नष्ट करनेवाली दूसरी हिसा कही गयी है। 'अमरकोश' के अनुसार 'हिसा' का अर्थ है — 'चौर्यादि कर्म'।

हिसा चैव न कर्तव्या वैधहिसा तु राजसी।
ब्राह्मणै. सा न कर्तव्या यतस्ते सात्त्विका मता.।।

हलायुध कोष के अनुसार 'धर्म' का अर्थ है — 'सुकून, न्याय, आचार, सत्सग तथा अहिसा'। हम हिन्दू कैसे अपने को 'धर्मात्मा' कह सकते है यदि हम हिसक है, यदि हम सत्कर्म नही करते, यदि हमारा आचरण ठीक नही है? यदि हम न तो सत्सग करते है, और न हम न्यायपूर्ण-जीवन बिताते हे, तो हम अपने को हिन्दू कह सकते है, पर हम धार्मिक-व्यक्ति है, यह कहना झूठ होगा।

मै इन्ही मोटी-बातो को पकडकर कहता हूँ कि "बिना अच्छा जैन हुये, मै अच्छा हिन्दू नही बन सकता।" जैनधर्म के आचार्यो ने किसी भी धर्म को खण्डन-मण्डन करके अपने को ऊँचा साबित करने का प्रयास भी नही किया। मै यहाँ 'स्याद्वाद' या 'अनेकातवाद' पर न जाकर केवल जैन-आचार्यो की निष्पक्ष-विचारधारा की ओर सकेत करना चाहता हूँ। आचार्य-क्षमचन्द्र ने स्पष्टत लिखा है, कि "हमने जो कुछ लिखा है, वह पक्षपातवश या द्वेष-भाव से नही केवल श्रद्धा के कारण अपने प्रति हे वीर। न हमारा कोई पक्षपात है, और न द्वेष के कारण

अन्य देवताओ मे अविश्वास है, किन्तु यथार्थरूप में आप्त की परीक्षा करके ही अपने-आपका आश्रय लिया है —

"न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रावरुचि· परेषु।
यथाववाप्तव्य-परीक्षया तु त्वामेव वीर! प्रभुमाश्रिताः स्म॥"

कोई झगडे की बात तो जैनधर्म कहता ही नही है। जैन-परम्परा केवल एक धुरी पर नही घूमती है, वह धुरी केवल एक लक्ष्य है — अनन्तज्ञान, जिसे वह प्राप्त हो गया, उसे सबकुछ मिल गया। 'आचाराग-सूत्र' ने बडे स्पष्ट-शब्दो मे कहा है —

जे एग जाणइ से सव्व जाणइ।
जे सव्व जाणइ से एग जाणइ।

उसी मे कहा है —

एको भाव· सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टा
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भाव. सर्वथा तेन दृष्टः॥

— (प्रथम श्रुतस्कध, तृतीय अध्याय, चतुर्थ उद्देश, सूत्र 122)

ऐसे आत्म-तत्त्व के ज्ञान कौन गौण समझे? 'न्यायकोश' के अनुसार —

शुद्धात्मतत्त्वविज्ञान साख्यमित्याभिधीयते।

'साख्यकारिका' ने भाष्यकार ने कहा —

वृक्षान् छित्त्वा पशून् हत्त्वा कृत्त्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येव गम्यते स्वर्गं नरके केन गम्यते॥

— (2, माठर-भाष्य)

आचार्य हरिभद्र ने अपने 'योगदृष्टिसमुच्चय' मे जिस सुन्दरता के साथ योग के महत्त्व का प्रतिपादन किया है, वह प्रत्येक हिन्दू के लिये अनमोल है। 'योग' का अर्थ प्राय· 'ध्यान' है। जैनदर्शन के अनुसार बिना ध्यान के ज्ञान नही प्राप्त हो सकता। हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' मे, योगविजय सूरि ने 'द्वात्रिंशिका' मे, पतजलि, योग-वासिष्ठ तथा 'तैत्तरीय-उपनिषद्' की यौगिक-क्रियाये भी दी है। हिन्दू-ग्रथ 'योगसार' ने जो लिखा है, वह जैनी भी स्वीकार करेगे। धर्म का लक्षण ही प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार-धारणा तथा स्मरण (जैनी-सामायिक) है। योगसार के अनुसार —

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
स्मरण चैव योगे पञ्च धर्मा· प्रकीर्तिता ॥

फिर जब इतना मेल है जैन तथा हिन्दू-विचारधारा में, तो हिन्दू व जैनी मे भेदभाव क्यो करे? वह मूर्खता का युग तो चला गया, जब हम जैन-मन्दिर मे जाना भी पाप समझते थे। वह मूर्खता तो समाप्त हुई। पर दूसरी मूर्खता समाप्त होनी चाहिये, कि हम एक-दूसरे को भिन्न समझे। **जैनधर्म नास्तिक नही है। जीव की सत्ता मे विश्वास करनेवाला नास्तिक हो ही नही सकता।** झगडा इतना ही है, कि एक ही आत्मा सबमे व्याप्त है, या सब आत्मा अलग-अलग हैं। जब हम निश्चित-रूप से नही कह सकते, कि 'ईश्वर है', तो कैसे निश्चित-रूप

से कह दे कि 'आत्मा एक है' —

भारी कहूँ तो बहु डरूँ, हल्का कहूँ तो झूठ।
मै का जानूँ राम को, नैना कबहुँ न वीठ॥

जैनधर्म कहता है, कि "आशा-निराशा के चक्कर मे न पडो।" निष्क्रिय-निराश होकर भी आगे बढो। यही बात तो अष्टावक्र अपनी गीता मे कह गये है, कि "जो आशा के दास होते है, वे दुनियाभर के दास हो जाते है। जो आशा को दासी बना लेते है, वे ससार के स्वामी बन जाते है" —

आशाया ये दासास्ते दासा· सर्वलोकस्य।
आशा येषा दासी तेषा दासायते लोक.॥

अस्तु, मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है, कि हमने जैनधर्म को समझने की चेष्टा नही की है। इसलिये हम अच्छे हिन्दू नही बन पा रहे है।

जो होना चाहिये, वह कुछ न हुआ, न होगा। मै तो यही कहूँगा, कि भगवान् महावीर की अमरवाणी यदि भूल से भी किसी के कान मे पड जाये, तो उसका कल्याण जायेगा। पर यह कार्य अ-जैनी के द्वारा होना चाहिये। जैन-समाज तो बहुत कुछ कर रहा है, पर हम क्या कर रहे है?

सब जीव जीना चाहते है, कोई भी मरना नही चाहता, अतएव निर्ग्रन्थ-मुनि भयकर-प्राणिवध का परित्याग करते है।

दु·ख आ पडने पर मनुष्य अकेला ही उसे भोगता है। मृत्यु आने पर जीव अकेला परभव मे जाता है, इसीलिये ज्ञानी-पुरुष किसी को शरण-रूप नही मानता।

निश्चय ही अतकाल मे मृत्यु मनुष्य को वैसे ही पकड कर ले जाती है, जैसे सिह मृग को ले जाता है। अत समय मे माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसे नही बचा सकते। ❖❖

धर्म का मंगलमय-स्वरूप

"धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो।
देवा वि त पणमति, जस्स धम्मे सया मणो॥"

— (क्रियाकलाप, प्रतिक्रमणसूत्र, पृष्ठ 260)

भावार्थ *— धर्म परममगल एव उत्कृष्ट है, कौन-सा धर्म? — अहिसा परमधर्म! सयम धर्म। तप धर्म। (इच्छा-निरोधस्तप:) जिस भव्यात्मा का मन उक्त-धर्म मे सदा तल्लीन रहता है, उसे देवता (उत्कृष्ट मनुष्य) भी नमस्कार करते है।*

जैन अहिसा के लिये 'समता धर्म' को आवश्यक समझते है, 'समता' वह धर्म है जिसका कोई सीमा बधन नही है। अत· अहिसावाद 'धर्म का प्रवेशद्वार' है। ❖❖

दीर्घप्रज्ञ भगवान् महावीर

✍ डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

भारतीय-सस्कृति के सजग-प्रहरी, अन्यतम विचारक-मनीषी, बहुज्ञ-विद्वान् एव गवेषी-लेखक डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल इतिहास एव पुरातत्त्व के विशेषज्ञ होकर भी समग्र-भारतीयता के प्रतिनिधि-बुद्धिजीवी के रूप मे सुपरिचित-हस्ताक्षर रहे है। भगवान् महावीर के विषय मे उनका यह आलेख हमे चितन के नये-क्षितिज प्रदान करता है। इससे हम भगवान् महावीर के व्यक्तित्व के उन पहलुओ से परिचित हो सकते है, जो एक परपरित-भक्त की दृष्टि से नही, अपितु एव गुणग्राही-विचारक के निष्पक्ष-चितन से उजागर हुये है। — **सम्पादक**

सदसे नमः

वैशाली पवित्र-राजधानी भारत के सास्कृतिक और राजनैतिक-इतिहास मे चिर-विश्रुत है। यही लिच्छवि-गणराज्य ने मानव की व्यक्तित्व-गरिमा, समता और स्वतत्रता के महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये, और इसी के समीप कुण्डग्राम मे जन्म लेकर ज्ञातृवशीय भगवान् महावीर ने मानव को चिरप्रतिष्ठा प्राप्त करानेवाले उस महान् बुद्धिपरायण एव साधनाप्रधान-धर्म का उपदेश दिया, जो कहा जाता है, देवो मे निष्फल गया था। विक्रम-सवत् से 470 वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण हुआ था। वे 72 वर्ष की आयु तक जीवित रहे। अतएव 542 विक्रम-पूर्व मे उनका जन्म हुआ। उस दिन चैत्र शुक्ल त्रयोदशी थी। वही भगवान् महावीर की जयन्ती-तिथि है। यह तिथि मानव के लिये नवीन-आस्था और सकल्पवान्-व्रतो का सन्देश लाती है। सत्य, अहिसा और ब्रह्मचर्य के प्रति नूतन-निष्ठा की जयन्ती के रूप मे इस तिथि का महत्त्व है। अदत्तादान-परित्याग और अपरिग्रह-रूपी महाव्रतो को विजय-पताका के रूप मे यह जयन्ती-तिथि बार-बार हमारे समक्ष आती रही है, और प्रतिसवत्सर में इसके भास्वर तेज का दर्शन हमें मिलता रहेगा। भगवान् महावीर महान्-आदर्श के प्रतीक हैं। महाव्रतो की अखण्ड-साधना उच्च अनन्त-जीवन के लिये कहाँ तक कोई प्राणी कर सकता है, इसका उदाहरण तीर्थंकर-महावीर का जीवन था। उस महान् धर्म-समुद्र के मेघजल सुदीर्घ-काल तक बरसते रहे है। आगे भी वह अमृतजल प्रत्येक के जीवन को सीच सके, इसके लिये आवश्यक है, कि हम उस आदर्श को अपने जीवन मे यथाशक्ति उतारने का प्रयत्न करे। हमारे सदाचार की शीत-वायु पाकर ही धर्म का दिव्य-जल आकाश से पृथ्वी पर आया करता है। अव्यक्त धर्म-तत्त्व को जीवन मे व्यक्त बना लेना ही मानव का बडा कौशल है।

धर्म-तत्त्व

यह धर्म-तत्त्व बहुत ही सूक्ष्म, नित्य, व्यापक, देशकाल मे सर्वत्र वितत महनीय-भाव है। इसी की पूर्णतम सशक्त-अभिव्यक्ति मानव का आध्यात्मिक-जीवन, नैतिक-जीवन और सदाचार पर प्रतिष्ठित सामाजिक-जीवन है। उसे ही 'सत्य' कहते है। सत्य और धर्म पर्यायवाची हैं। प्रत्येक आचार्य, सिद्ध, केवली, ज्ञानी, ऋषि, बुद्ध, महात्मा, तीर्थंकर, महामानव इसी नित्य धर्म-तत्त्व का निज प्रयत्न से जीवन मे प्रत्यक्ष करता

है, और उनका यह धर्ममय-जीवन ही मानव का पथ-प्रदीप बनता है। शुद्ध धर्म-तत्त्व सम्प्रदायो की सीमा से सीमित नही होता। वह तो उन सबमे अविभक्त रहता है। आकाशचारी-मेघो के अमृत-जल जिसप्रकार पृथ्वी के स्वच्छ-सरोवरो में संचित हो जाते हैं, वैसे ही शाश्वत धर्म-तत्त्व के भाव मानवीय-मन मे पहले प्रत्यक्ष-रूप मे आते हैं, और उसी शक्ति से भौतिक-जीवन मे अवतीर्ण होते हैं। धर्मान्वेषी-सम्प्रदाय तो सत्य की प्रयोगशालाये-मात्र है। किसी मत या पथ का अनुयायी बनने-मात्र से व्यक्ति का कल्याण नही हो सकता। वह एकागी गति है। मन, वचन और कर्म मे सत्य की एक साथ गति सर्वांगीण-गति है। वही सत्य 'सत्य' है, जो 'त्रिसत्य' हो, अर्थात् जो मन का सत्य है, वह वाणी का सत्य हो, और जो मन-वाणी का सत्य है, वही कर्म का भी सत्य बना हो। इसप्रकार का का सत्य या धर्म विश्व का सच्चा-आलोक है। वह विश्वमानव के जीवन का चमकीला प्रकाश है। उसीके लिये कहा गया है — **"नमो धर्मांग-महते धर्मो धारयति प्रजा "** अर्थात् जिस तत्त्व से लोक मे प्रजाओ के जीवन को सच्ची-प्रतिष्ठा मिलती है, वे ही धारणात्मक नियम-धर्म हैं। मनु, वेद-व्यास, बाल्मीकि आदि इसी महार्घ धर्मतत्त्व की आराधना करते है। बाल्मीकि के 'रामो विग्रहवान् धर्म ' इस अनुभव मे उस गुणसमष्टि की सज्ञा 'धर्म' है, राम का जीवन जिसका प्रतीकमात्र है। महात्मा बुद्ध और तीर्थंकर महावीर ने इसी धर्म-तत्त्व को जीवन-रूपी समुद्र के मथन से प्राप्त किया था। यह अखड-दृष्टि धर्मों के समवाय की दृष्टि है। समवाय की सप्रति सहिष्णुता और सम्मिलन है। वह दिव्य असीम-भाव है जिसकी छाया मे व्यक्ति का मन विश्व के साथ एक होने के लिये उमगता है। आज के मानव को इस समवाय-दृष्टि की सबसे अधिक आवश्कता है। विश्व के क्षितिज पर आज जिस नये मानव का जन्म हो रहा है, वह श्रेष्ठ-प्रज्ञा, शील, मानव-प्रेम, सहानुभूति, मैत्री, करुणा आदि भावनाओ से प्रतिपालित विश्व-मानव का स्वरूप है। जो धर्म इस विश्व-मानव का निर्माण करने की क्षमता रखता है, वही उपादेय है। इस समय प्रत्येक-धर्म को आत्मशुद्धि की अग्नि मे तपना होगा। प्रत्येक धर्म इस कसौटी पर कसा जा रहा है। विश्व-प्रेम की कचनवर्णी रेखा-धर्म के खरे-खोटेपन को प्रमाणित करानेवाली होगी। अतएव यह युग आत्मप्रशसा या महत्ता कठ से अपने गुण-बखान करने का नही है। धर्म या मत-मतान्तरो को अपने शुद्ध-हिरण्मय तेज को प्रकाशित करने की आवश्यकता जैसी इस समय है, वैसी पहले कभी नही हुई थी। धार्मिक-चमत्कारो से, महात्माओ की सिद्धियो से, अथवा स्वर्ग-नरक की कल्पनाओ से मानवी-बुद्धि को व्यामोहित करने का युग सदा के लिये चला गया। सिद्धि और चमत्कार मानवी-प्रज्ञा के शत्रु है। महावीर को आगमो मे 'दीर्घप्रज्ञ' कहा गया है। बुद्ध प्रज्ञा के महान् 'स्कध' या 'वृक्ष' कहे गये है। कृष्ण का सबसे बडा वरदान बुद्धियोग की शिक्षा है। बुद्धि, प्रज्ञा या ज्ञान की आराधना ही मानव की मानवता है। भावुक- व्यक्ति सिद्धि को ढूँढता है। नैष्ठिक-व्यक्ति स्वय अपनी बुद्धि के धरातल पर आरूढ होकर प्रयत्न करता है, और कर्मसिद्धि प्राप्त करता है। बुद्धिनिष्ठ-मानव सघर्ष का आवाहन करता है। मनोऽनुगत मानव-अनुकूलता या आराम से अभीष्ट पा लेना चाहता है। ऐसी भावना प्रज्ञाशून्य-मानव की वृत्ति है।

ज्ञातृपुत्र महावीर को 'श्रमणधर्मा' कहा गया है। प्राचीन भारतीय श्रमण-धर्म की वास्तविक-परम्परा जैसी महावीर के साधना-प्रधान धर्म मे सुरक्षित पाई जाती है, वैसी अन्यत्र नही। किन्तु इस 'श्रम' का व्यापक अर्थ था। शरीर का श्रम 'श्रम' है। बुद् का श्रम 'परिश्रम' है। आत्मा का श्रम 'आश्रम' है। एकत: श्रम: श्रम:। परित: श्रम. परिश्रम:। आ समन्तात् श्रम· आश्रम:। एक मे जो शरीरमात्र से अधूरा या अवयव श्रम किया जाता है, वह

'श्रम' है। एक मे जो मन और शरीर की सहयुक्त-शक्ति से पूरा धर्म किया जाता है, वह 'परिश्रम' है। और सबके प्रति चारो ओर प्रसृत होनेवाला जो श्रमभाव है, वह आश्रम कहलाता है। ये तीन प्रकार के मानव होते है। केवल जो धार्मिक है, वे सीमित, जड-भावापन्न, दुःखी और क्लान्त रहते है। जो अपने केन्द्र मे जागरुक शरीर और प्रज्ञा से सतत-प्रयत्नशील रहते है, वे दूसरी उच्चतर-कोटि के प्राणी है। वे सुखी होते हुये भी स्वार्थनिरत होते है। किन्तु तीसरी कोटि के उच्चतम-प्राणी वे है, जिनके मानव-केन्द्र की रश्मियो का वितान समस्त विश्व मे फैलता है, और जिनका आत्मभाव सबके दुःख-सुख को अपना बना लेता है। ऐसे महानुभाव व्यक्ति ही सच्चे मानव है। वे ही विश्वमानव, महामानव या श्रेष्ठमानव होते है। ऐसे ही उदार-मानव सच्ची श्रमण-परम्परा के प्रतिनिधि और प्रवर्तक थे। वे किसी निजी-स्वार्थ या सीमित-स्वार्थ की प्राप्ति या भोगलिप्सा के लिये अरण्यवास नही करते थे, वह सुख स्वार्थ तो उन्हे गृहस्थ-जीवन मे भी प्राप्त हो सकता था। अनन्त-सुख की सयम द्वारा उपलब्धि ही श्रमण-जीवन का उद्देश्य था, जिसमे समस्त सीमा-भाव विगलित हो जाते है। काश्यप महावीर द्वारा प्रवेदित-धर्म एव शाक्त-श्रमण गौतम द्वारा प्रवेदित-धर्म -- दोनो इस लक्ष्य मे एक सदृश है। दार्शनिक-जटिलताओ को परे रखकर मानवता की कसौटी पर दोनो पूरे उतरते है।

शम का मार्ग

विश्व को अपने आत्मभाव की परिधि मे समेट लेने की दृढ आधार-भूमि शम की उपासना है। शम या शान्ति विश्वमानव की सबसे महती सप्राप्ति है। एक ओर शम का तात्पर्य पूर्ण-इन्द्रिय-निग्रह और आत्मविजय का मार्ग है। यही आध्यात्मिक-साधना कही गई है। इस पथ का यात्री सर्वथा निर्विकार और शुद्ध बनने का प्रयत्न करता है। इसीके अन्तर्गत महाव्रत और अणुव्रतो का जीवन है, जिनका उपदेश अरण्यवासी भिक्षु और आगारिक गृहस्थो के लिये किया जाता है। अहिसा की भावना शम का मूल है। जो व्यक्ति सर्वभूतो के हित मे निरत है, जो सबाको आत्मवत् मानता है, वह सबके प्रति अद्रोह की भावना ही जीवन मे रख सकता है। अपने प्राणो का उत्सर्ग करके भी वह दूसरो का कल्याण करने का प्रयत्न करता है। किन्तु अहिसा निराकरणात्मक धर्म नही है। कर्त्तव्य के रूप मे प्राणीमात्र के प्रति प्रेम और हितबुद्धि की भावना सच्ची अहिसा है, जिसकी मानव को आवश्यकता है। जो व्यक्ति शुद्ध अहिसा-वृत्ति मे प्रतिष्ठित हो जाता है, वह सारे विश्व के लिये चुनौती है। वह स्वकेन्द्र की परिधि का अनन्त-विस्तार कर लेता है। उसका अविचारी-भाव उसे अभय प्रदान करता है। वह मृत्यु, भय और शोक से ऊपर उठ जाता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन सब प्रजाओ के लिये उन्मुक्त हो जाता है।

किन्तु व्यक्तिगत-जीवन की यह विभूति व्यावहारिक-जीवन को भी प्रभावित करती है। समाज और राष्ट्र का जीवन एव अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, इनका भी सच्चा-आधार शम की नीति ही हो सकती है। शम की नीति का उल्टा-मार्ग साम्राज्यवाद है। आज हमारे राष्ट्र ने जान-बूझकर शम की नीति का अवलम्बन लिया है, और सबप्रकार के साम्राज्यवाद को जहाँ भी वह सिर छिपाये है, भावात्मक चुनौती दी है। धर्मभावना, अहिसाभावना या शमभावना एक ही मूल-प्रवृत्ति के रूप है। जहाँ धर्मनीति और राष्ट्रनीति का सगम है, उसी रसपूर्ण-स्रोत से इस जीवन-मार्ग का जन्म होता है।

गणराज्य की शम नीति

यह कहना उचित होगा कि राष्ट्र मे शम की नीति का नाम 'गणतत्र-प्रणाली' है, और युद्ध या पर-उत्पीडन की नीति का नाम 'साम्राज्यतन्त्र' है। बाह्यरूप गणतत्र का रखते हुये भी गण साम्राज्यवादी बन सकते हैं। पर जो गण विशुद्ध रूप से शम की नीति अपना चुके है, उनका तेज और शील दूसरे ही प्रकार का हो जाता है। इस प्रसग मे 'महाभारत' के सभा-पर्व के उस प्रकरण (14, 2-6) की ओर ध्यान जाता है, जिसमे साम्राज्य शासन-पद्धति और गण-शासन पद्धति के मौलिक-भेद और तारतम्य का विवचेन किया गया है। मगध के साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिये यात्रा का विचार मन मे लाकर कृष्ण युधिष्ठिर के साथ इन दोनों नीतियो के गुण-दोषो का तुलनात्मक-विचार करते है। हमारे आज के इसी क्षेत्र मे एक ओर लिच्छवि या वृज्जियो के गणराज्य और दूसरी ओर मगध के प्रबल-साम्राज्यवाद की लीलास्थली थी। इसीलिये भी यह प्रसग मार्मिक और अवसरोचित है। प्राचीन-परिभाषा मे सघ-पद्धति के लिये 'पारमेष्ठ्य' शब्द का प्रयोग हुआ था। तद्नुसार पारमेष्ठ्य और साम्राज्य दोनो की निम्नलिखित विशेषताये बताई गई है —

(1) पारमेष्ठ्य-शासन मे प्रत्येक गृह या कुल मे एक-एक राजा होता है। कुल-पद्धति पारमेष्ठ्य-शासन का मूलाधार है, ऐश्वर्यसत्ता कुलो मे समान-रूप से बँटी रहती है (गृहे गृहे हि राजन स्वस्य स्वस्य प्रियकरा॰)।

(2) साम्राज्य-पद्धति सबको हडपकर सारा अधिकार एक व्यक्ति मे केन्द्रित कर देती है (सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्)। गणो की भावना इसके ठीक विपरीत होती है। गण शक्ति के एकत्र केन्द्रित होने को सहन नही कर सकते (न च साम्राज्यमाप्तास्ते)।

(3) पारमेष्ठ्य या गणशासन मे सब लोग एक-दूसरे के अनुभव या व्यक्तिगरिमा को स्वीकार करते है (परानुभावज्ञ) और परस्पर मिल-जुलकर व्यवहार करते है (परेण समवेत॰)। वे स्वय अपनी शक्ति की डीग नही हाँकते, जैसा साम्राज्यवादी किया करते है।

(4) गण-राज्य मे जनपद या देश की विशाल-भूमि भीतर तक जीवन के कल्याणो से भरी-पूरी रहती है, अर्थात् राज्य की समृद्धि का वरदान दूर-दूर तक प्रजाओ के घर-घर मे फैल जाता है। इसके विपरीत साम्राज्य मे सबकुछ सम्राट् के राजकुल या उसकी राजधानी मे सिमटकर रह जाता है। राजकुल के व्यक्ति या जिनकी वहाँ तक पहुँच हो जाती है, वे ही साम्राज्य मे कल्याण के भागी बनते है।

(5) पारमेष्ठ्य-शासन मे शम या शांति शासन का मुख्य-आधार होती है। जो लोग या कह सकते है, कि "शम की नीति मोक्ष या निर्वाण के मार्ग पर चलनेवालो के लिये है", मैं उनसे सहमत नही (शममेव पर मन्ये न तु मोक्षाद् भवेच्छम॰)। राष्ट्रनीति मे यदि साम्राज्य की मनोवृत्ति को छोड दिया जाये, और पारमेष्ठ्य आदर्श स्वीकार कर लिया जाये, तो निश्चय ही शम या शाति की प्राप्ति सम्भव है। साम्राज्य का मूल बल है, पारमेष्ठ्य या गणतत्र का मूल शम है, तभी तो जरासन्ध बलपूर्वक ही साम्राज्य चलाता था।

(6) यह निश्चित है, कि सैनिक-पराक्रम से पारमेष्ठ्य-आदर्श की प्राप्ति कभी नही हो सकती (आरम्भे पारमेष्ठय तु न प्राप्यमिति मे मति:)

(7) पारमेष्ठ्य-शासन मे सदा एक व्यक्ति सर्वोपरि या श्रेष्ठ नहीं रहता। जो गण के प्रतिनिधि है, उनमें कभी कोई और कभी कोई श्रेष्ठ बन जाता है (कश्चित् कदाचिदेतेषा भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन), अर्थात् कुलो की शासन-प्रणाली मे श्रेष्ठता या परमता कभी किसी के पास चली जाती है, कभी किसी के पास।[1]

ऊपर जिन विशेषताओ का उल्लेख किया गया है, वे वैशाली के गणराज्य मे पूर्ण-मात्रा मे विकसित थी, अर्थात् वैशाली-सघ के कुलसस्था का शासन, व्यक्ति का अनुभाव या गरिमा और शम की नीति· — इन तीनो विशेषताओ का वर्णन लिच्छवियों के इतिहास से प्राप्त होता है। लिच्छवियो के 7707 कुल थे। प्रत्येक कुल का कुलवृद्ध या प्रतिनिधि 'राजा' की पदवी धारण करता था — **"एकैक एव मन्यते अह राजा अह राजेति"** — (ललितविस्तर)। इसे ही 'महाभारत' मे **'गृहे-गृहे हि राजानः'** कहा गया है। प्रत्येक 'राजा' का कुल के प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण के ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता में समान अधिकार प्राप्त था। लिच्छवियो के वैशाली-नगर मे गण के अन्तर्गत राजाओ के जितने कुल थे, उनके राज्याधिकार पर अभिषेक करने का जल एक विशेष-पुष्करिणी या कुण्ड से लिया जाता था, जिसे 'मगलपुष्करिणी' कहते थे (वेसालीणगरे गणराजकुलाण अभिसेकमगलपोक्खरणी, जातक 4/148)। उस पुष्करिणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था। अतएव जिन कुलो मे प्रभुसत्ता पीढी-दर-पीढी चली आती थी? — उन्हे ही मगलपुष्करिणी से मूर्धाभिषिक्त बनने के लिये जल प्राप्त करने का अधिकार था। गण की सभा मे वे ही बैठ सकते थे, जो विधिवत् मूर्धाभिषिक्त होते थे। यह अभिषेक किस अवसर पर किया जाता था, इस प्रश्न का उत्तर इसप्रकार है। प्रत्येक कुल का बडा बूढा या कुलवृद्ध उसका प्रतिनिधि होता था। कुलवृद्ध पिता के अनन्तर उसका पुत्र इस पदवी का अधिकारी बनता था। उस अवसर पर उसका मूर्धाभिषेक समस्त समाज की उपस्थिति मे समारोहपूर्वक किया जाता था। आजकल की भाषा मे इस लोक-प्रथा को 'पगडी बाँधना' कहते है। समस्त कुल एक-दूसरे की तुलना मे समानाधिकार रखते थे — **जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा**, अर्थात् सब मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय जन्म और कुल — इन दोनो बातो मे सर्वथा समान थे। कोई किसी तरह की विशिष्टता का दावा न कर सकता था। लिच्छवि-सघ या वृज्जि-जनपद मे जो चिरन्तन-परम्पराये पोषित हुई थी, उनके अनुसार जातीय स्वाभिमान, समत्वभाव, वैयक्तिक-गरिमा और स्वातन्त्र्य-भावनाओ की प्रधानता थी — ऐसा बौद्ध-साहित्य से विदित होता है। पारिवारिक-जीवन की शुद्धि और आदर्श-स्थापना के उनमे कठोर-नियम थे। कहा जाता है, कि यहाँ के क्षत्रिय-कुमार एक-से रथो पर एकसमान वेश पहनकर एक से अनुभाव से निकलते थे। यहाँ की कुलपद्धति के लिये भाषा मे विशेष शब्द ही प्रचलित हो गया था, जिसे कात्यायन ने 'वृजिगार्हपतम्' कहा है (सूत्र 6/2/42)। 'सभापर्व' मे जिसे 'जनपद' का श्रेय कहा है, उस कल्याण-रूप की पूर्ण-मात्रा का दर्शन लिच्छवि-सघ मे उस समय उपलब्ध था। उनके जीवन के रोचनात्मक-वर्णन बौद्ध और जैन-साहित्य मे उपलब्ध है।

लिच्छवि उस समय की सघ-श्रृखला मे केवल एक कडी थे। वस्तुत. महाजनपद-युग मे सघो की यह परम्परा मिथिला से लेकर वाह्लीक तक फैली हुई थी। वह राष्ट्रीय-जीवन का अभूतपूर्व प्रयोग था। मानवीय स्वतन्त्रता और वैयक्तिक-गरिमा का जो अनुभव राष्ट्र ने उस युग मे किया, वैसा फिर देखने मे नही आया। जनपद या सघराज्य-सस्कृति की सच्ची-धात्रियाँ बन गईं। देश का अधिकाश क्षेत्र जनपदीय-सगठन के प्रभाव मे आ गया। उस युग मे तीन बाते विशेष-रूप से प्रकट हुईं। एक आर्थिक-समृद्धि, दूसरे नैतिक-गुणो का

विकास और तीसरे प्रज्ञा या बुद्धि के आकस्मिक-स्फोट द्वारा साहित्य और ज्ञान का चरम-उत्कर्ष। अनेक-शिल्पो का ताना-बाना पूर्व से पश्चिम तक फैले हुये जनपदो मे छा गया था, जिन्हे उस समय की भाषा मे 'जानपदी-वृत्ति' कहते है। यास्क और पाणिनी ने उसका उल्लेख किया है, और बौद्ध एव जैन-साहित्य मे उन शिल्पो की लम्बी-लम्बी सूचियाँ भी पायी जाती है। समता और स्वतन्त्रता की भावना का परिपाक व्यक्ति के नैतिक-गुणो मे देखा जाता है। उस भावना की झलक बुद्ध और महावीर के उपदेशो मे तथा महाभारत के नीतिप्रधान-स्थलो मे पायी जाती है। चरित्र की उच्चता का वह आदर्श अश्वपति कैकेय के इस वाक्य मे अभिव्यक्त होता है —

न मे स्तेनो जनपदे न कदयो न मद्यप·।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

वस्तुत जनपदो के जीवन की नई प्रेरक-शक्ति ही वह महान्-धर्म थी, जिसकी ओर हमने आरम्भ मे सकेत किया था। वही बुद्ध और महावीर के नीति-प्रधान धर्म के रूप मे प्रकट हुई। धर्म रीति-रिवाजवाला प्राचीन समयाचारिक धर्म न था, जो किसी-न-किसी रूप मे सभी जगह मिलता है। धर्म का तात्पर्य उन धारणात्मक-नियमो मे था, जो प्रजा और राष्ट्र धारण करते है। जनपदो मे उत्कृष्ट बुद्धिवाद का एक नया-आदर्श पोषण पा रहा था, जिसे उस युग के साहित्य मे 'प्रज्ञा' कहा गया है। सामान्य-नागरिक और शासन का भार-वहन करनेवाले अधिकारी — दोनो के लिये प्रज्ञा या बुद्धिप्रधान जीवन का उल्लेख प्राचीन-साहित्य मे, विशेषत. 'महाभारत' मे आता है। इस प्रज्ञा का उन्मेष-साहित्य, धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे विशेष-रूप से हुआ। ब्राह्मणो का उपनिषद्-साहित्य, जैनो का अग-साहित्य, और बौद्धो का त्रिपिटक-साहित्य उसी जनपदीय-युग के प्रज्ञाशील व्यक्तियो की देन है। तीन धाराओ मे अभिव्यक्त होने पर भी यह महनीय-साहित्य एक ही प्रज्ञा-भावना से ओतप्रोत है। तत्त्वचिन्तन, सत्यान्वेषण, तथ्यात्मक व्यावहारिक-कौशल ये इस साहित्य की समान-विशेषताये थी।

जनपदो और सघो मे विकसित मानवीय-जीवन के उच्चस्तर की कुछ कल्पना यास्क शाकटायन आरुणि, श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य, जनक, बुद्ध, महावीर, मखलि-गोशाल आदि-आदि अनेक आचार्यों के कार्य और विचारो मे की जा सकती है।

भारतीय-इतिहास मे लगभग 1000 ई पू से 500 ई पू तक का युग 'महाजनपदयुग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी के गर्भ मे लिच्छवि, शाक्य, कुरु, भद्र, गन्धार, मालव, क्षुद्रक आदि महिमाशाली गणो और जनपदो का जीवन अन्तर्निहित है। वस्तुत· उस युग का पूरा महत्त्व अभी तक समझा नही जा सकता है। यूनान के इतिहास मे जो स्थान वहाँ के जगप्रसिद्ध पुरराज्यों का था, कुछ उससे भी अधिक व्यापक और चिरस्थायी-पद भारतीय-इतिहास मे जनपद-राज्यो का है। भारतीय-जनपद राज्यो का प्रयोग यूनान देश से कही अधिक विस्तृत और महान् था। दोनो के विकास और उन्नति का समय भी लगभग एक ही था। यूनान के पुरराज्य जनपदो के समान ही नीतिधर्म के आदर्श को दिव्यगुण और ईश्वरीय-सत्ता का सर्वोत्कृष्ट-रूप मानते थे। दोनो मे जीवन के उच्चतम-परिष्कार का स्रोत नीतिधर्म ही था। सास्कृतिक-दृष्टि से जनपद-युग मे भारतीय-सस्कृति की जो मूल-प्रतिष्ठा हुई, उसका जो क्षेत्रीय-रूप उस युग मे सपन्न था, उसी के आधार पर कालान्तर मे जनपद-सस्कृतियो के मिलने से

राष्ट्रीय-सस्कृति का स्वरूप विकसित हुआ। पुरराज्यों में कुछ छोटे और कुछ अधिक शक्तिशाली होते थे। वैसे ही जनपद और सघराज्य की भी कई कोटियाँ थी। जिसप्रकार 'एथेन्स' और 'स्पार्टा' के बढते हुये साम्राज्यो ने पुरराज्यो को हडप लिया, उसीप्रकार भारत मे बहुत से जनपदो के राजनैतिक-प्रभुत्व और ऐश्वर्य-सत्ता पर चौका फेरकर ही मगध के विक्रान्त-साम्राज्य का उदय हुआ। यद्यपि सघो की शमप्रधान-नीति समुदीर्ण साम्राज्य-शक्ति के सामने विलुप्त हो गई, किन्तु अमरता और स्वतत्रता, समता और व्यक्ति-महिमा, प्रज्ञा और शील के जिन आदर्शों का उस समय विकास हुआ, उनके सौरभ से आज भी मानवीय-सभ्यता सुरभित बनी हुई है। यही धर्म की चिरन्तन-विजय है। ❖❖

संदर्भ-सूची

1 गृहे-गृहे हि राजान स्वस्य स्वस्य प्रियकरा.।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्।।2।।
कथ परानुभावश· स्व प्रशंसितुमर्हति।
परेण समवेतस्तु य प्रशस्त. स पूज्यते।।3।।
विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता।
दूर गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वहा।।4।।
शममेव पर मन्ये नतु मोक्षाद् भवेच्छम ।
आरम्भे पारमेष्ठ्य तु न प्राप्यमिति मे र्मात ।।5।।
एवमेवाभिजानन्ति कुले जाता मनस्विन.।
कश्चित् कदाचिदेतषा भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन।।6।। — *(सभापर्व अ 14)* ❖❖

राज्यश्री और तपःश्री

प्रेयसीय तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयावृता।
चोचितैषा मामयुष्मन् बन्धो न हि सता मुदे।।
विषकण्टकजालीव त्याज्यैषा सर्वथापि नः।
निष्कण्टका तपोलक्ष्मी स्वाधीना कर्तुमिच्छताम्।।
— (आ जिनसेन, महापुराण, 36/97-99)

अर्थ *— (बाहुबलि पाँचो प्रकार के युद्धो के बाद भरत से कहते है) हे आयुष्मान् भरत। यह राज्यलक्ष्मी मेरे योग्य नही है; क्योंकि तुमने इसका अत्यन्त-समादर किया है, अत· यह तुम्हारी प्रिय-पत्नी के तुल्य है। बन्धन की सामग्री सत्पुरुषो को आनदप्रद नही होती है। मुझे तो अब यह विषैले काँटो के समूह से समन्वित प्रतीत हो रही है, अत· यह मुझे पूर्णत. त्याज्य है। मै तो निष्कण्टक-तप श्री को अपने आधीन करने की आकाक्षा रखता हूँ। (अर्थात् अब मै राज्यश्री को छोडकर तपःश्री को अगीकार करने जा रहा हूँ।)* ❖❖

भगवान् महावीर का संदेश

✍ साहू रमेशचन्द्र जैन

दार्शनिक और विचारक जहाँ आत्मकेन्द्रित होकर अपनी साधना करते है, तथा गहन विचार और चिन्तन से समुद्भूत-तत्त्वो को जनजीवन मे विचारार्थ प्रस्तुत करते है; वही समाजसेवी इस दर्शन और चिंतन को निषेचित-तत्त्व को व्यावहारिक-जगत् मे निरन्तर-परीक्षण देखते है, और उसकी व्यावहारिकता एव समसामयिकता परखकर उसकी उपयोगिता की पुष्टि कर पाते है। भगवान् महावीर के कालजयी-सदेश के बारे मे एक समर्पित-समाजसेवी-विचारक के विचार यहाँ प्रस्तुत है। **— सम्पादक**

भगवान् महावीर जैनधर्म के चौबीस-तीर्थंकरो मे अंतिम-तीर्थंकर है, और ईसा से 599 वर्ष-पूर्व पैदा हुये, तथा 72 वर्ष तक जीवित रहे। 'तीर्थंकर' का अर्थ है 'जो प्रकाश एव मुक्ति का मार्ग दिखाये' तथा 'प्राणी को भवसागर से पार उतारे'। बुद्ध और महावीर समकालीन थे, तथा 'श्रमण'-विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे, जो वैदिक तथा ब्राह्मण-परम्परा से सर्वथा भिन्न थी। भारत मे और विदेशो मे शोधकर्ताओ ने इस बात के प्रचुर-प्रमाण उपलब्ध किये है, कि वैदिक अथवा प्राग्वैदिक-काल से पहले से 'श्रमण-सस्कृति' मौजूद थी। प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् हर्मन जैकोबी का कहना है कि "जैनो के 23वे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक- पुरुष थे, तथा महावीर से ढाई सौ वर्ष-पूर्व हुये थे। इनसे पहिले के अर्थात् ऋषभदेव से लेकर पार्श्वनाथ और महावीर तक के सभी तीर्थंकरो ने जो उपदेश दिये, जिन सिद्धान्तो को प्रचारित किया, और जो देशना दी, वही 'जैनधर्म' है।"

जैनधर्म एक स्वतत्र-धर्म है। अनेक विद्वानो ने अज्ञानवश यह धारण प्रकट की है, कि जैनधर्म वैदिक अथवा बौद्धधर्म का एक अग या शाखा है। ऐसे लोगो ने इतिहास के साथ बहुत बडा अन्याय किया है। महावीर अपने असाधारण-शौर्य और साहस के कारण 'महावीर' कहलाये। उनका बाल्यकाल का नाम 'वर्द्धमान' था। वे बिहार मे वैशाली के पास कुण्डपुर में एक क्षत्रिय-वश मे पैदा हुये। उनके पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला थी। वैशाली विदेह की राजधानी थी, और गणतत्र का केन्द्रस्थल तथा सभवत: विश्व का पहला प्रजातत्रीय-शासन था।

शैशवकाल मे असाधारण बल, तेज, विद्या, बुद्धि और साहस की महावीर की अनेक-कथाये है। इसप्रकार वे अपनी मित्र-मडली मे श्रेष्ठतम रहते थे। महावीर मे प्रारभ से ही वैराग्य-भाव था। जैसे-जैसे वे बडे होते गये, उनका चितन ससार की असारता को देखकर वैराग्य की ओर झुकता गया। सासारिक-कष्टो, आपदाओ और जन्म, जरा, मृत्यु को देख उनका चितनशील-मन इनसे मुक्ति के लिये उद्वेलित रहता। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे, कि सासारिक-बधनो मे रहते इन समस्याओ का निवारण नही। तीस-वर्ष की अवस्था मे वे दीक्षा लेकर तप, सयम और घोर आत्म-साधना के मार्ग पर प्रवृत्त हो गये। बौद्ध-साहित्य मे महावीर का 'निगण्ठ नातपुत्त' के रूप मे उल्लेख है। 'निगण्ठ' सस्कृत के 'निर्ग्रन्थ' शब्द का रूपातर है, जिसका अर्थ 'नग्न' मुनि है। दिशाये ही जिनके वस्त्र है। और 'ज्ञातृपुत्र' उनके वश का द्योतक है।

यह एक सयोग की बात है, कि विश्व के अनेक दार्शनिक और चितक ईसापूर्व छठी शताब्दी मे हुये।

भारत में भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध हुये, तो चीन मे कन्फ्यूशियस, यूनान मे सुकरात तथा फारस मे जरस्तुस्त्र हुये। इन सभी ने विश्व को प्रेम और मैत्री का सदेश दिया। महावीर इनमे इस सदेश को देनेवाले सबसे महान् व्यक्ति थे। उन्होने प्राणी के सूक्ष्मतम-स्तर तक अहिसा के पालन और जीवदया पर बल दिया। उन्होने मनुष्य को महामानव स्वय बुद्ध, सिद्ध बनने का मार्ग दिखाया। उन्होने बताया कि मुक्ति, स्वतत्रता तथा निर्वाण आत्मा की परमात्मा-अवस्था है, जो सत्कर्मों के माध्यम से मनुष्य-जीवन मे ही प्राप्त की जा सकती है। महावीर का जीवन इसी दिशा में महान्-प्रेरणा देनेवाला है। महाकवि महावीर की यह विचारधारा आश्चर्यजनक-रूप से व्यापक-रूप से प्रसारित हो गई।

महावीर के समय मानव-समाज जातिभेद, दास-प्रथा, नारी-शोषण, अधविश्वास आदि कुरीतियो के भवर-जाल मे फसा था। पुजारी-लोग कर्मकाण्ड का प्रचार करते थे, और धर्म के नाम पर पशुबलि तक दी जाती थी। अहिसा के अग्रदूत-महावीर ने घोषणा की, कि ससार के सभी प्राणी समान है, तथा सभी को जीवित रहने का समान अधिकार है। सभी जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। इसलिये किसी भी प्राणी को न मारो, न चोट पहुँचाओ, न गुलाम बनाओ, न पीडा दो, और न उसका शोषण करो। किसी भी प्राणी को मारना आत्मघात के समान है, हिसा से शत्रुता बढती है। अत: प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखो। भगवान् महावीर ने न केवल प्राणिमात्र मे समानता के लिये प्रचार किया, अपितु सभी जातियो मे उत्पन्न हर प्राणी को धर्माचरण का अधिकार दिया। उन्होने नारी-जाति को धर्म के पालन मे समान दर्जा दिया, और आगम के अध्ययन की अनुज्ञा दी। समाज मे व्याप्त बुराईयो के खिलाफ महावीर ने जबर्दस्त सघर्ष किया।

भगवान् महावीर ने इस बात पर बल दिया, कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का स्वय निर्माता है। जैनधर्म मे पूजा का उद्देश्य उच्चतम-गुणों की उपलब्धि है। जिन महामानवो ने आत्मिक-विकास के जरिये मोक्ष प्राप्त कर लिया है, और जो परिपूर्ण होकर सर्वज्ञ बने है, उनकी पूजा हम किसी भौतिक-फल की प्राप्ति के लिये नही करते। अपितु उसका उद्देश्य यही है कि "हे प्रभु! हममें भी उन गुणो का विकास हो, जिनको विकसित कर आप परमात्मा बने है।" इसीलिये महावीर ने कहा कि "प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है, और जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पा सकता है।" पाप न करने की भावना मन मे दृढ हो जाने के बाद मनुष्य अपने आचरण मे मन, वचन और काय से सद्व्यवहार मे प्रवृत्त हो जाता है। उसमे आत्मविश्वास पैदा होता है, और वह भगवान् या किसी दैवी-शक्ति अथवा भाग्य के भरोसे नही रहता।

घृणा, आतक, शोषण और अनाचार को वर्तमान-परिस्थितियो मे जैनधर्म का अहिसा का सिद्धान्त न केवल मानव-समाज के लिये, अपितु प्राणिमात्र के कल्याण की दृष्टि से अत्यत-प्रासगिक व महत्त्वपूर्ण है। महावीर ने अहिसा को परमधर्म बताया है। उन्होने कहा, "जैसे अणु से सूक्ष्म और आकाश से विस्तृत दूसरा कोई और कुछ नही। इसीप्रकार अहिसा से बढकर आत्मा का और कोई गुण नही, तथा जीवरक्षा से बढकर कोई दूसरा सुकृत्य नही।"

जैनधर्म मे अहिसा की बडी सूक्ष्मतम-व्याख्या है। इसमे मन, वचन, काय से प्राणिमात्र के प्रति दया, करुणा और मैत्रीभाव पर बल दिया गया है। इसमे सपूर्ण-जगत् के प्रति क्षमा और मैत्री-भाव है। महात्मा गाँधी

ने कहा था — ससार के किसी भी धर्म ने अहिसा की इतनी सूक्ष्म और व्यापक-परिभाषा नही की है, जितनी की जैनधर्म ने की है। उसने इसे विशेषरूप से मन, वचन, काय से आचरण मे उतारने पर बल दिया है। अहिसा का यह उदात्त-सिद्धान्त जब भी ससार मे व्यवहार मे आयेगा, तो उसके प्रतिफलन मे निश्चय ही जैनधर्म का विशेष-योगदान माना जायेगा, और भगवान् महावीर का नाम 'अहिसा' के अग्रदूत के रूप मे लिया जायेगा। महावीर ने हमे अहिसा का सिद्धान्त दिया है। इस पर विचार करे, और इसे जीवन मे उतारे।

जैनधर्म मे अहिसा का पालन मन, वचन, तथा काय — सभीप्रकार से करने पर बल दिया गया है। जैनदर्शन के अनुसार सत्य की कोई एक पूर्ण-परिभाषा नही है। उसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है, और वह अपेक्षायुक्त हो सकता है। इसलिये महावीर ने सभी के विचारो का आदर करने को कहा, और अधविश्वास की बजाय तर्कसगत-बात पर बल दिया।

आज सारे ससार को बार-बार याद दिलाने की जरूरत है, कि यह ससार बिना किसी वर्ण या जातिभेद के एक परिवार के समान है। भगवान् महावीर का यह एक प्रमुख-सदेश है। जैनधर्म मे उत्तरोत्तर-सयम और अपरिग्रह के क्रमिक-विकास पर जोर दिया गया है। परिग्रह मे तृष्णा का कोई अत नही। सयम द्वारा ही जीवन को सतुलित किया जा सकता है। स्वेच्छा से परिग्रह-परिमाण करने से सामाजिक-न्याय की स्थिति बनती है। ससार से विरक्त होने पर मनुष्य समस्त-परिग्रह का त्याग कर देता है, और तभी मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है। ❖❖

शासननायक भगवान् महावीर

'सिद्ध सम्पूर्णभव्यार्थसिद्धे. कारणमुत्तमम्।
प्रशस्तदर्शन-ज्ञान-चारित्र-प्रतिपादनम्।।
सुरेन्द्र-मुकुटाश्लिष्ट-पादपद्माशुकेशरम्।
प्रणमामि महावीर लोकत्रितय-मगलम्।।'

— (*क्रियाकलाप, पृष्ठ 12*)

अर्थ — *जिनको अनन्त-चतुष्टयरूप आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो चुकी है; जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-लक्षण सम्पूर्ण भव्यार्थ की निष्पत्ति के उत्तम-कारण है; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रतिपादन करनेवाले है, जिनके चरण-कमल की किरणरूप केशर इन्द्रो (इन्द्रो मुनीना सखा, — ऋग्वेद 6/1/18) के मुकुट मे आश्लिष्ट है — लगी हुई है, जो तीन लोक के भव्य-प्राणियो के पाप का नाश करनेवाले है; उन चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर वर्धमान को प्रणाम करता हूँ।* ❖❖

जय महावीर नमो!

स्व. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन 'ज्योति'

जय त्रिशलानन्दन महावीर नमो।

भव-भय-भजन वीर नमो।।

सिद्धारथ के राजदुलारे, तिहुँ-जग के उजियारे।

जन-जन-के प्यारे, जय जय-जय महावीर नमो।

पापनिकदन वीर नमो।।

लोकालोक-प्रकाशी, भविजन-कमल-विकाशी

गुण-अनन्त की राशी, जय महावीर नमो।

हरि-कृत-वन्दन वीर नमो।।

मोक्ष-मार्ग-नेता, करम-कलक-विजेता।

शुद्धातम-चेता, जय महावीर नमो।

रहित-सपदन वीर नमो।।

करुणा-सागर पर उपकारी, सत्य-अहिसा अवतारी।

सुधर्म-ध्वज-धारी, जय महावीर नमो।

भक्त-उर-चन्दन वीर नमो।।

सन्मति के दाता, वर्द्धमान सुख-साता।

अखिल जग-त्राता, जय महावीर नमो।

'ज्योति' मन-रजन वीर नमो।। ❖❖

"महात्मा-बुद्ध ने कहा था — "भिक्षुओ। मैने एक प्राचीन-राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन-मार्ग, जो कि प्राचीन-काल के अरिहन्तो द्वारा आचरण किया गया था। मै उसी पर चला और चलते हुये मुझे कई तत्त्वो का रहस्य मिला। भिक्षुओ। प्राचीनकाल मे जो भी अर्हन्त तथा बुद्ध हुये थे, उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे, जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्र, मोग्गलायन थे।" ❖❖

"जैनसाधना जहाँ एक ओर बौद्ध-साधना का उद्गम है, वहाँ दूसरी ओर वह शैवमार्ग का भी आदिस्रोत है।" — (**'सस्कृति के चार अध्याय', रामधारीसिह 'दिनकर', पृ 448**) ❖❖

महावीर की जन्मभूमि 'वैशाली' की महिमा

✍ डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

भगवान् महावीर की जन्मस्थली 'वैशाली' का इतिहास भगवान् राम से भी प्राचीन है। उनके एक पूर्वज 'विशाल' नामक राजा के द्वारा यह बतायी गयी थी — ऐसा उल्लेख मिलता है। स्वय राम ने भी वैशाली नगरी को देखा था — ऐसा उल्लेख 'बाल्मीकि रामायण' मे है। यह महानगरियो मे परिगणित थी। ऐसी सुप्रतितिष्ठित वैशाली-महानगरी की महिमा का परिचय वर्तमान-युग के सुप्रतिष्ठित मनीषी की सारस्वती-लेखनी से प्रसूत इस आलेख मे हुआ है। — **सम्पादक**

महान् है यह नगरी वैशाली, महान् है इसकी परम्परा। जैसा कि आपने सुना है कि हिन्दू-धर्म के सर्वश्रेष्ठ पुरुष मर्यादापुरुषोत्तम राम ने इसको 'पवित्र' कहा है। जैनधर्म के प्रवर्तक या आचार्य, प्रवर्तक तो नही; क्योकि उनके पहले भी कई प्रवर्तक-आचार्य (तीर्थंकर) हो चुके है, महावीर की तो यह जन्मभूमि ही रही है। महात्मा बुद्धदेव के मन मे जब वैराग्य का उदय हुआ, तब पहले योग और ज्ञान की शिक्षा उन्होने इसी नगरी मे प्राप्त की। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद भी वे कई बार यहाँ पधारे।

यह वही नगरी है, जिसमे हमारी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ-पुरुष बराबर आते रहे है। उनकी चरण-रज से पवित्र इस भूमि मे आने पर आदमी थोडा-भावुक हो जाता है। यहाँ का एक-एक धूलिकण, जिसमे भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध और विश्वामित्र जैसे महान्-पुरुषो के चरण की धूल लगी हुई है, न जाने कहाँ से क्या सन्देश देता है। कुछ वर्ष पहले कुछ पढ़े-लिखे लोग ही जानते थे, कि 'वैशाली' नाम की कोई जगह है; लेकिन आज से सौ-सवा वर्ष पहले लोग इतना भी नही जानते थे।

आज से लगभग सवा-सौ वर्ष-पूर्व सन् 1861 ई मे यहाँ कनिघम-साहब पधारे थे। कनिघम उन विदेशी-ज्ञानियो मे है, उन ज्ञान-पिपासुओ मे है, जिन्होने हमारे देश की प्राचीन-सभ्यता के उद्धार मे बडा काम किया है। इतनी लगन के साथ, इतने साहस के साथ, इतने दर्द के साथ किया, कि शायद ही किसी भारतीय ने वैसा किया हो। भारत के पुरातत्त्व के उद्धार करने मे, उनकी प्रेरणा से भारत-सरकार ने आर्कोलॉजिकल-सर्वे का आरम्भ किया। जिस समय कनिघम यहाँ आये थे, उन्हे यह भी पता नही था कि उनके पहले और भी बहुत से विद्वान् आये थे, और उन्होने यह अनुमान लगाया था, कि यही स्थान पुरानी वैशाली-नगरी होगी। लेकिन, कोई निश्चित-प्रमाण उन्हे नही मिला था। कनिघम-साहब मे बडी दिव्य-दृष्टि थी। उन्होने एक दैवी-प्रेरणा से सत्य प्रमाणित किया, और यह सिद्ध कर दिया कि प्राचीन-वैशाली का स्थान यही होना चाहिये। आप कल्पना कीजिये कि उन दिनो यात्रा की कितनी असुविधा थी, सरकारी-सहायता प्राप्त नही थी, वे यहाँ की भाषा नही समझ सकते थे, लोग उन्हे अजनबी समझते थे, लेकिन फिर भी उन्होने इस सुदूर-देहात मे आकर अध्ययन किया, और सप्रमाण यह बतलाने का साहस किया, कि वर्तमान 'बसाढ' गाँव ही प्राचीन-वैशाली है। डॉ. कनिघम सन् 1862 से 1884 ई तक यहाँ कई बार आये। उनका यहाँ आना हमारे लिये बहुत महत्त्व की

बात है। डॉ. कनिघम से पूर्व सन् 1834 ई. मे श्री एस्टीवेन्शन नामक एक दूसरे विदेशी विद्वान् यहाँ आये थे, और उन्होने इस भूमि के सम्बन्ध में अनुमान किया था, कि यही 'वैशाली' है। लेकिन कनिघम-साहब ने बडी खोज के साथ यहाँ के गाँवों को, यहाँ के स्थानो को देखकर फाहियान, ह्वेनत्साग के यात्रा-विवरणो को पढकर पहले-पहल दृढता के साथ यह कहा था, कि वैशाली यही है। परन्तु, फिर भी वैशाली है, यह सिद्ध नही हो सका। यह केवल कल्पना की बात रही, अनुमान की बात रही। कनिघम-साहब के कुछ उद्योग करने पर भारत-सरकार से आर्कोलॉजिकल-विभाग स्थापित किया, और सन् 1903-4 ई. मे और सन् 1913-14 ई. मे दो और विदेशी-विद्वानो का आगमन हुआ, जिनमे एक का नाम 'डॉ. बाल्स' और दूसरे का नाम 'डॉ स्पूनर' था। उन्होने यहाँ कई जगह खुदाइयाँ की। उस खुदाई मे बहुत पुरानी वस्तुये तो नही मिल सकी; क्योकि पानी आ जाने के कारण आगे बढना सम्भव नही था, लेकिन खुदाई मे प्राप्त मिट्टी की मुहरो पर उत्कीर्णित-लेखों से यह सिद्ध हो गया कि यही प्राचीन-वैशाली है।

वैशाली ज्ञान, कर्म और राजशक्ति की त्रिवेणी रही है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन-परम्परा की त्रिवेणी रही है। ज्ञानशक्ति, आत्मशक्ति और धनशक्ति की त्रिवेणी रही है। इसमे कोई शका नही, कि इस स्थान पर ज्ञान की बडी भारी-साधना थी। महात्मा बुद्ध ज्ञान की खोज में निकले, तो उन्हे और कोई स्थान नही दिखा, वैशाली मे आकर ही उन्होने शिक्षा ग्रहण की। ज्ञान की साधना के लिये यह बडी ही पवित्र-भूमि मानी जाती रही है। वीरता के लिये तो वज्जियों और लिच्छवियो की चर्चा करना बेकार है। यह तो इतिहास-प्रसिद्ध है कि **लिच्छवि अजेय-शक्ति थे।** यहाँ फूट डालकर अजातशत्रु ने उन्हे पराजित किया था। लिच्छवियो की शक्ति गुप्तकाल तक अक्षुण्ण रही, तभी समुद्रगुप्त जैसा महान् सम्राट् अपने को 'लिच्छवि-दौहित्र' कहने मे गर्व का अनुभव करता था।

गुप्तकाल के राजा का इतना प्रभुत्व जमा, उसका एक बहुत बडा कारण लिच्छवियो के साथ उसका वैवाहिक-सम्बन्ध था। ज्ञानशक्ति और राज्यशक्ति के अलावा एक तीसरी ताकत भी यहाँ पर थी, यह बड़ी जबरदस्त थी, जो खुदाई मे प्राप्त सामग्री से मालूम होती है, पुराने ग्रन्थो से जिनका पता चलता है। यह स्थान व्यापार का एक बडा-केन्द्र था। बडे-बडे सेठ यहाँ रहते थे। यहाँ के नाविक दूर-दूर से धनराशि सग्रह करके ले आते थे। कला का भी यह स्थान एक प्रमुख-केन्द्र था। ज्ञान और शक्ति का तो यह गढ़ ही माना जाता था। लिच्छवियो के भय से बडे-बडे राज्य काँपते थे। जहाँ तक व्यापार का सवाल है, यहाँ के जो निगम थे, जो कारपोरेशन थे, सेठो के काम करनेवाले जो सघ थे, उनकी इतनी शाखाये थी, कि सारे ससार मे उनकी हुण्डियाँ चलती थी।

इन सेठो के जो निगम या कारपोरेशन थे, सब अलग-अलग थे। शरीफो के अलग थे, श्रेष्ठियो के अलग थे, श्रमिको के अलग थे — इन सबका मिला हुआ सघ भी था। सन् 1913-14 ई की खुदाई मे तो अधिक गहराई तक नही जाया जा सका, इसलिये ज्यादा-से-ज्यादा आज से डेढ-पौने दो हजार वर्ष तक की चीजे ही मिल पाईं। लेकिन, हमारे जिन ग्रन्थो मे वैशाली की चर्चा मिलती है, वे उससे काफी प्राचीन है। पिछले वर्षों की खुदाई मे उससे भी पुरानी चीजे प्राप्त हुई है। वे निश्चित-रूप से आज से ढाई-हजार वर्ष-पूर्व की वैशाली के सम्बन्ध मे गवाही देती हैं। लेकिन, यह नगरी उससे भी पुरानी है। वैशाली की परम्परा यही समाप्त नही होती है। मै सोचता हूँ, कि क्या यह महिमामयी वैशाली है? आज जो मै देख रहा हूँ, क्या यही उन लिच्छवियो

और वज्जियो की सन्ताने है, यही वे मनुष्य थे? उनमे कौन-सी विशेषता थी, कि सारी दुनिया मे उनका सिक्का चलता था, उनकी ध्वजा फहराती थी। भारतवर्ष मे ऐसा कोई महान् सम्राट् भी हिम्मत नही कर सकता था, कि लिच्छवि और वज्जि उनके भीतर आया था। आदम तो वे भी थे। महात्मा बुद्ध भगवान् ने खुद इसका विश्लेषण किया है।

एक बार अजातशत्रु के महामन्त्री ने बुद्धदेव से पूछा था, कि वे उनपर चढाई करे या न करे, उनको जीता जा सकता है, या नही? बुद्धदेव ने बडी चतुरता के साथ अपने शिष्य, आनन्द, जिनके नाम पर तथाकथित आनन्दपुर गाँव है, प्रश्न किया, "क्यो आनन्द! क्या वज्जि-लोग एक साथ उठते-बैठते है? एक होकर काम करते है? क्या ऐसा तुमने सुना है?" आनन्द ने कहा — "हाँ भन्ते! सुना है, कि वैशाली के लोग एक साथ उठते है, एक साथ बैठते है, एक साथ सभा-पचायत करते है।" बुद्धदेव ने फिर पूछा, "क्या तुमने यह भी सुना है, कि एक बार जो अपनी पचायत मे तय कर लेते है, उसको सभी मानते है, ऐसा तो नही होता, कि बाद मे कोई कहे कि हमने तो वोट नही दिया था? मै क्यो मानने जाऊँ?" आनन्द ने कहा, "हाँ। ऐसा ही सुना है, कि इस वैशाली-नगर के रहनेवाले जो एक-बार निश्चय कर लेते है, उससे एक बच्चा भी नही हिलता, सब उसका पालन करते है।" फिर बुद्धदेव ने पूछा — "अच्छा आनन्द। तुमने यह भी सुना है, कि वैशाली के लोग अपने बूढो का सम्मान करते है, अपने बुजुर्गों की कद्र करते है, उनकी बातो को मानते है।" आनन्द ने कहा — "हाँ भन्ते। सुना है।" बुद्ध ने फिर कहा — "आनन्द। तुमने सुना है, कि वैशाली के लोग अपने स्त्रियो का सम्मान करते है, अपनी कुल-कुमारियो का सम्मान करते है। उनके प्रति कोई जोर-जबरदस्ती तो नही करते?" आनन्द ने कहा — "भन्ते। सुना है, कि वैशाली के लोग अपनी स्त्रियो की बडी कद्र करते है। उनका सम्मान करते है, उनपर कभी जोर-जबरदस्ती नही करते, उनपर अत्याचार नही करते है। भन्ते। मैने ऐसा सुना है।" फिर महात्मा बुद्ध ने पूछा — "आनन्द। सुना है, कि वहाँ जो पूजा का स्थान है, जो पूज्य है, जो मन्दिर है, उसमे बाधा-व्यवधान तो नही पडता?" आनन्द ने कहा — "हाँ भन्ते। ऐसा ही सुना है, कि वैशाली मे जो उनके पूज्य-स्थान है, उनकी निरन्तर-पूजा करते है, और जो एक बार मन्दिर को दिया, उसमे किसीप्रकार कमी नही करते है।" अन्तिम-बार महात्मा बुद्ध ने कहा, "आनन्द। यह सुना है, कि वैशाली के लोगो के पास जो अर्हत्-लोग जाते है, जो ज्ञानी-लोग है, गुणी है, वे उनका सम्मान करते है।" "हाँ भन्ते। मैने सुना है, कि वे अर्हंतो का, ज्ञानियो का, जो बाहर से आते है, उनका सम्मान करते है, और सबको स्वच्छन्द-विचरण करने देते है। सबको स्वच्छन्द-रूप से विचार प्रकट करने का मौका देते है।" — आनन्द ने कहा। बुद्धदेव ने कहा — "आनन्द। तुम्हे बताता हूँ, कि **जिनमे ये सात-गुण है, ससार की कोई शक्ति उन्हे पराजित नही कर सकती है।**" इसप्रकार, उन्होने वर्षकार से कहा, कि "भाई वर्षकार।, तुम्हारा वैशाली पर दाँत गडाना सम्भव नही है। यहाँ के लोग एकसाथ बैठते है, उठते है, जो करते है, उसपर दृढ रहते है, और अपने बुजुर्गो की कद्र करते है, अपनी स्त्रियो का सम्मान करते है, अपने पूज्य-स्थानो की पूजा करते है, ज्ञानी-गुणियो का समादर करते है। बाहर से आये हुये लोगो को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करने का अवसर देते है। ऐसे गुणी-लोगो पर कोई राजा, कोई सम्राट् कभी शासन नही कर सकता, उनका बाल-बाँका नही कर सकता।"

यह था वैशाली का गुण। इन्ही गुणो के कारण वैशाली अजेय रही। जैसा कि महात्मा बुद्ध ने कहा था,

कि जितने दिनों तक ये गुण वैशाली मे रहेगे, उतने दिनों तक वैशाली का कोई बाल-बाँका नही कर सकता, और यह बात वर्षकार ने गाँठ बाँध ली, और लौट गया। वर्षकार ने वैशाली के नागरिको मे फूट पैदा कर दी, और फूट के कारण वैशाली का गौरव जाता रहा। परन्तु, बुद्धदेव के बाद भी वैशाली एकदम लुप्त हो गई, ऐसा नही हुआ। बुद्धदेव के कोई आठ-दस सौ वर्ष के बाद तक वैशाली का गौरव जैसा-का-तैसा बना रहा। ससार के इतिहास को इस भूमि ने प्रजातन्त्र दिया। पचायती-राज स्थापित किया। इस भूमि ने, एकमत होकर रहना सिखलाया। इस भूमि ने, स्त्रियो का सम्मान करना सिखाया। आपको मालूम होगा कि बुद्धदेव आजीवन इस बात पर अडिग रहे, कि स्त्रियो का सघ मे प्रवेश नही होना चाहिये। लेकिन, वैशाली मे आकर उन्होने यह भी निश्चय किया, कि स्त्रियो को भी इतना अधिकार मिलना चाहिये, जितना पुरुषो को है। निश्चय ही, वैशाली की महिलाओ को देखकर उनके मन मे यह बात आई होगी, कि यह गलत बात है, कि स्त्रियो को अधिकार नही दिया जाये। वैशाली के नागरिक स्त्रियो का आदर करते थे, सम्मान करते थे, चाहते तो, उनके साथ जोर-जबरदस्ती भी कर सकते थे, किन्तु इतिहास इसका प्रमाण है, कि ऐसा उन्होने नही किया।

आम्रपाली यहाँ की एक गणिका थी, बडी मशहूर गणिका थी, हमारे बेनीपुरीजी ने उसका बडा सुन्दर वर्णन किया है। अगर आप लोगो ने नही पढा हो, तो एक बार अवश्य पढे। एक बार आम्रपाली ने महात्मा बुद्ध को निमन्त्रण दिया। महात्मा बुद्ध भोले थे, उन्होने स्वीकार कर लिया निमन्त्रण। इसके बाद वैशाली के नागरिको ने आम्रपाली से कहा, कि "देखो आम्रपाली! जिसको तुमने आमन्त्रित किया है, जिसने तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार किया है, उसे तुम मेरे हाथ बेच दो, मै तुम्हे एक लाख मुद्रायें दूँगा।" आम्रपाली ने कहा — "मै ऐसा नही चाहती।" कई लोगो मे यह होड मच गई, कि उससे किसीप्रकार इस अधिकार को ले लिया जाये। किसी ने एक लाख, सवा लाख किसी ने दो लाख रख दिया कि "हमे तुम यह अधिकार दे दो, और महात्मा बुद्ध को हमारे घर भोजन करने दो।" आम्रपाली ने कहा — "नही! मै क्यो बेचने जाऊँ? मैने उस महात्मा को बुलाया है, मै उन्हे अपने यहाँ भोजन कराऊँगी।" लेकिन, किसी ने उसको यह नही कहा, कि "मै तुमसे जबरदस्ती यह काम करवाऊँगा।" उसके बाद आम्रपाली महात्मा बुद्ध को अपने आम्रकुज मे ले गई, जहाँ वे कई बार आ चुके थे। एक और मशहूर बाला थी, उसने भी अपने यहाँ महात्मा को आमन्त्रित किया था। इस नगरी की इतनी बडी महिमा है।

वैशाली के इतिहास का पता लगाना बड़े-बड़े धुरन्धर-विद्वानो ने, कुछ विदेशी विद्वानो ने, कुछ भारतीय विद्वानो ने, मै उनकी श्रद्धा और निष्ठा को देखकर लज्जित रह जाता हूँ। परन्तु, बडी कृतज्ञता के साथ उनका नाम लेता हूँ — कितने प्रेम से, कितनी निष्ठा से, कितनी कठिनाई से काम करके उन्होने इन चीजो का उद्धार किया है, उन विदेशी-विद्वानो के प्रति हमे हार्दिक-कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये।

लेकिन सवाल यह है, कि वैशाली मे तो पहले इतना उल्लास नही था, आज क्यो उल्लास है? पहले वे वैशाली की महिमा से अपरिचित थे, किन्तु अब उन्हे विदित हो गया है, कि वैशाली यही थी, यह वह भूमि है, जिसमे भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर की चरण-रज पड़ी है। पता नहीं, जहाँ आप बैठे है, वहाँ भी वे चरण-रज उड़ रही हो! यहाँ के आकाश में, वायुमण्डल मे, उनके सन्देश गूँज रहे है। यह आनन्द पहले भी था, और आज भी है।

एक बाद शान्तिनिकेतन में हमारे एक विदेशी-मित्र, जो सस्कृत के बड़े विद्वान् थे, सस्कृत-नाटको मे आम्रमजरी का नाम सुना था, ठहरे थे। सयोग से उनका स्वागत करने के लिये आम्रकुज मे ही आयोजन किया गया। जब वह आये, तब मैंने उन्हे बताया, कि ये आम के पेड हैं, और यह उनकी आम्रमजरी है। उन्होने बहुत सुना था, आम्रमजरी को देखा भी था, लेकिन जब उनको मालूम हुआ, कि यह आम्रमजरी है, तब उछल पडे, और कहने लगे, कि यही कालिदासवाली आम्रमजरी है, यही वह ऋतुमजरी है, जैसा कि कालिदास ने कई बार कहा है? मैंने कहा, कि हाँ, यही आम्रमजरी है, तो वे बडे उल्लसित हुये। मेरे मन मे प्रश्न उठा, कि वे आम्र की मजरी रोज देखते थे, और यहाँ आने से पहले उन्होने बीसियो बार आम्रमजरी का अध्ययन किया था, आज कौन-सी नई बात हो गई? नई बात यह हुई, कि उस दिन उस शब्द और अर्थ के साथ अन्तरात्मा का योग हुआ था। पद का अर्थ जानना काफी नही है, पद और पदार्थ के भीतर के प्रत्यय होते है, भीतर की अन्तरात्मा का योग होता है, यह अन्तरात्मा का योग उस दिन हुआ। वैशाली वही है, जो आज से हजारो वर्ष पहले और आज से सौ-दो सौ वर्ष पहले वह थी।

इतिहास के साथ हमारा सम्बन्ध थोडे दिनो का है, इसलिये बहुत कम जानता हूँ। आपकी खुदाई मे जो थोडे-से खिलौने मिले है, थोडी-सी मूर्तियाँ मिली है, वह काफी नही है। लेकिन वे इगित करती हैं, उस महिमा की ओर, कोई उनसे पूछे कि उनका घर कहाँ है? अगर अगुली दिखाई, तो अगुली पकडकर वे लटक जायेगी। अगुली जिस जगह को बता रही है, उसी जगह पर जाना चाहिये। किन्तु, हमे यह नही समझना चाहिये, कि ये जो भग्नावशेष है, वही वैशाली है। नही, यह वैशाली का वैभव है। वैशाली के वैभव बतानेवाली अगुलियाँ है, जो बता रही हैं, कि ये चीजे जो सग्रहीत हुई है, बहुत थोडी है, पर बहुत बडी चीज की ओर इशारा करती है, किसी महिमा की ओर इंगित करती हैं, यह हमे समझना चाहिये। ❖❖

महावीर के प्रति विश्रुत-विद्वानों के विचार

भगवान् महावीर ने प्राणीमात्र के कल्याण के लिये महान् सदेश दिया है, ताकि सभी प्राणी शांति से रह सके। हम उनके बताये रास्ते पर चलकर उनके योग्य उत्तराधिकारी बने। ❖❖

— जस्टिस टी.के. टुकोल

भगवान् महावीर, जिन्होने भारत के विचारो को उदारता दी, आचार को पवित्रता दी, जिसने इन्सान के गौरव को बढाया, उसके आदर्श को परमात्मपद की बुलदी तक पहुँचाया, जिसने इन्सान और इन्सान के भेदो को मिटाया, सभी को धर्म और स्वतत्रता का अधिकारी बनाया, जिसने भारत के अध्यात्म-सदेश को अन्य देशो तक पहुँचाने की शक्ति दी। सास्कृतिक-स्रोतो को सुधारा, उन पर जितना भी गर्व करे, थोडा ही है। ❖❖

— डॉ. हेल्मुथफान ग्लाजेनाप्प (जर्मनी)

भगवान् महावीर : वैशाली की दिव्य-विभूति

✍ महोपाध्याय पं. बलदेव उपाध्याय

आज कई लोगो को वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मभूमि मानने मे आपत्ति हो रही है। वे यह भी मानने को तैयार नही है कि 'कुण्डग्राम' या 'क्षत्रिय कुण्डग्राम' विशाल वैशाली का ही अग था। उन्हे वर्तमान-विवाद से परे एक स्वनामधन्य सुप्रतिष्ठित गवेषी-लेखक के दशको-पूर्व लिखे इस आलेख को मननपूर्वक पढना चाहिये, जिसमे उक्त दोनो तथ्यो की सुदृढना के साथ पुष्टि की गयी है। तथा सत्य को स्वीकार करने मे वैयक्तिक-अह को छोडकर आगे आना चाहिये। — **सम्पादक**

वैशाली युगान्तकरकारिणी-नगरी है। इसकी गणना भारत की ही प्रधान-नगरियो मे नही की जाती, प्रत्युत् ससार की कतिपय-नगरियो मे यह प्रमुख है — उन नगरियो मे, जहाँ से धर्म की दिव्य-ज्योति ने दम्भ तथा कपट के घने काने-अन्धकार को दूरकर विश्व के प्राणियो के सामने मगलमय-प्रभात का उदय प्रस्तुत किया; जहाँ से परस्पर-विवाद करनेवाले, कणमात्र के लिये अपने बन्धुजनो के प्रिय-प्राण हरण करनेवाले क्रूर-मानवो के सामने पवित्र भ्रातृभाव की शिक्षा दी गई, जहाँ से 'अहिसा परमो धर्मः' का मन्त्र ससार के कल्याण के लिये उच्चारित किया गया। पाश्चात्य-इतिहास उन नगरो की गौरव-गाथा गाने मे तनिक भी श्रान्त नही होता, जिनमे प्राणियो के रक्त की धारा पानी के समान बही, और जिसे वह भाग्य फेरनेवाले युद्धो का रगस्थल बतलाता है। परन्तु भारत के इस पवित्र देश मे वे नगर हमारे हृदय-पट पर अपना प्रभाव जमाये हुये है, जिन्हे किसी धार्मिक-नेता ने अपने जन्म से पवित्र बनाया, तथा अपने उपदेशो का वैभवशाली-नगर प्रस्तुत किया। वैशाली ऐसी नगरियो मे अन्यतम है। **इसे सही जैनधर्म के सशोधक तथा प्रचारक महावीर वर्द्धमान की जन्मभूमि होने का विशेष-गौरव प्राप्त है।** बौद्धधर्मानुयायियो के हृदय मे 'कपिलवस्तु' तथा 'रुम्मिनदेई' के नाम सुनकर जो श्रद्धा और आदर का भाव जन्मता है, जैनमतावलम्बियो के हृदय मे ठीक वही भाव 'वैशाली' या 'कुण्डग्राम' के नाम सुनने से उत्पन्न होता है।

वैशाली के इतिहास मे बडे-बडे परिवर्तन हुये। उसने बडी राजनीतिक उथल-पुथल देखी। कभी वहाँ की राजसभा मे मन्त्रियो की परिषद् जुटती थी; तो कभी वहाँ के सस्थागार मे प्रजावर्ग के प्रतिनिधि राज्यकार्य के सचालन के लिये जुटते थे। कभी वशानुगत-राजा प्रजाओ पर शासन करता था, तो कभी बहुमत से चुना गया 'राजा'-नामधारी अध्यक्ष अपने ही भाइयो पर उन्ही की राय से उन्ही के मगल-साधन मे सचिन्त रहता था। तात्पर्य यह है, कि प्राचीन-युग मे वैशाली मे राजतन्त्र की प्रधानता थी। 'बाल्मीकि रामायण' मे वर्णित है कि जब राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र ने यहाँ पदार्पण किया था, तब यहाँ के राजा सुमति ने उनका विशेष-सत्कार किया था।[1] जैनसूत्रो तथा बौद्धपिटको मे वैशाली 'प्रजातन्त्र की क्रीडा-स्थली' के रूप मे अकित की गई है। महात्मा बुद्ध ने अपने अनेक चातुर्मास यही बिताये थे। इसमे चार प्रधान-चैत्य थे — पूर्व में 'उदेन', दक्षिण मे 'गोतमक', पश्चिम मे 'सप्ताम्रक' और उत्तर मे 'बहुपुत्रक'।[2] 'अम्बपाली' नामक गणिका जो धार्मिक श्रद्धा

तथा वैराग्य के कारण बौद्धधर्म मे विशेष प्रसिद्ध है, ठीक उसीप्रकार, जिसप्रकार वैष्णवधर्म मे पिंगला, यहीं रहती थी। उसी का आम्रवन बुद्ध के उपदेश देने का प्रधान-स्थान था। बुद्ध के समय लिच्छवि-लोगो को यहाँ प्रजातन्त्र के रूप मे हम शासन करते पाते हैं। इससे बहुत पहले हम यहाँ महावीर वर्धमान् को जन्मते, शिक्षा ग्रहण करते, तथा प्रव्रज्या लेते पाते है। वर्धमान् के समय मे भी यहाँ गणतन्त्र-राज्य ही था। वैशाली के इतिहास मे कोई महान्-परिवर्तन अवश्य हुआ होगा, जिससे यह विशाला तथा मिथिला — दोनो राज्यो की राजधानी बन गई, तथा उसका शासन 'राजतन्त्र' से 'गणतन्त्र' हो गया। इस परिवर्तन के कारणो की छानबीन करना इतिहास-प्रेमियो का कर्तव्य है।

वैशाली मे अनेक विभूतियाँ उत्पन्न हुईं। परन्तु उनमे सबसे सुन्दर विभूति है — भगवान् महावीर, जिनकी प्रभा आज भी भारत को चमत्कृत कर रही है। लौकिक-विभूतियाँ भूतलशायिनी बन गईं,परन्तु यह दिव्य-विभूति आज भी अमर है, और आनेवाली अनेक शताब्दियो मे अपनी शोभा का इसीप्रकार विस्तार करती रहेगी। **बौद्धधर्म से जैनधर्म बहुत पुराना है**। इसका सस्थापन महाराज ऋषभदेव ने किया था, जैनियो की यही मान्यता है। तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ वस्तुतः ऐतिहासिक-पुरुष है। वे महावीर से लगभग दो सौ वर्ष पहले हुये थे। वे काशी के रहनेवाले थे। महावीर ने उनके धर्म मे परिवर्धन कर उसे नवीनरूप प्रदान किया। भारत का प्रत्येक प्रान्त जैनधर्म की विभूतियो से मण्डित है। महावीर गौतमबुद्ध के समसामयिक थे; परन्तु बुद्ध के निर्वाण से पहले ही उनका परिनिर्वाण हो गया था। इसप्रकार वैदिक-धर्म से पृथक् धर्मों के सस्थापको मे महावीर वर्द्धमान ही प्रथम माने जा सकते है, और इनकी जन्मभूमि होने से वैशाली की पर्याप्त-प्रतिष्ठा है।

वैशाली का भौगोलिक-वर्णन

वैशाली तथा उसके आसपास के प्रदेशो का प्रामाणिक-वर्णन जैनसूत्रो मे विशेषरूप से दिया हुआ है। इनकी विशद-सूचना बौद्धग्रन्थो मे भी उपलब्ध नही होती। इन प्रदेशो का संक्षिप्त-वर्णन नीचे दिया जाता है —

वैशाली के पश्चिम मे 'गण्डकी' नदी बहती थी। यह नगरी बडी समृद्धिशालिनी थी। इसका भौगोलिक-विस्तार भी न्यून न था। गण्डकी-नदी के पश्चिमी-तट पर अनेक ग्राम थे, जो **वैशाली के 'शाखानगर'** कहे जाते है। निम्नलिखत ग्रामो का परिचय मिलता है —

(1) **कुण्डग्राम** — इस नाम के दो ग्राम थे। एक का नाम 'ब्राह्मणकुण्डग्राम या कुण्डपुर' था, जिसमे ब्राह्मणो की ही विशेषरूप से बस्ती थी। दूसरे का नाम 'क्षत्रियकुण्डग्राम' था, जिसमे क्षत्रियो का ही प्रधानतया निवास था। इनमे दोनो क्रमशः एक-दूसरे के पूर्व-पश्चिम मे थे। ये दोनो पास ही पास थे। दोनो के बीच मे एक बडा बगीचा था, जो 'बहुसाल-चैत्य' के नाम से विख्यात था। दोनो नगरो के दो-दो खण्ड थे। 'ब्राह्मणकुण्डपुर' का दक्षिणभाग 'ब्रह्मपुरी' कहलाता था, क्योंकि यहाँ ब्राह्मणो का ही निवास था। दक्षिण 'ब्राह्मणकुण्डपुर' के नायक 'ऋषभदत्त' नामक ब्राह्मण थे।, जिनकी भार्या का नाम 'देवानन्द' था। ये दोनो पार्श्वनाथ के साथ स्थापित जैनधर्म के माननेवाले गृहस्थ थे। 'क्षत्रिय-कुण्डग्राम' के भी दो विभाग थे। इसमे करीब पाँच सौ घर 'ज्ञाति' नामक क्षत्रियो के थे, जो उत्तरी-भाग मे जाकर बसे हुये थे। उत्तर-क्षत्रियकुण्डपुर के नायक का नाम 'सिद्धार्थ' था। ये काश्यपगोत्रीय ज्ञातिक्षत्रिय थे, तथा 'राजा' की उपाधि

से मण्डित थे। वैशाली के तत्कालीन राजा का नाम था 'चेटक', जिनकी बहन 'त्रिशला' का विवाह सिद्धार्थ से हुआ था। इन्ही त्रिशला और सिद्धार्थ के 'वर्धमान' थे, जिनका जन्म इसी ग्राम मे हुआ था।

(2) **कर्मारग्राम** — प्राकृत 'कम्मार' कर्मकार का अपभ्रश है। अत: 'कर्मार' का अर्थ है — मजदूरो का गाँव, अर्थात् लोहारो का गाँव। यह गाँव भी कुण्डग्राम के पास ही था। महावीर प्रव्रज्या लेकर पहली रात को यही ठहरे हुये थे।

(3) **कोल्लाक सनिवेश** — यह स्थान पूर्वनिर्दिष्ट ग्राम के समीप ही था। यह नगर वाणिज्यग्राम (जिसका वर्णन नीचे है) के तथा उस बगीचे के बीच मे पडता था।

(4) **वाणिज्यग्राम** — यह जैनसूत्रो का 'वाणिज्यग्राम' — बनियो का गाँव है। गण्डकी नदी के दाहिनी किनारे पर यह बडी भारी व्यापारी-मण्डी थी। ऐसा जान पडता है, कि यहाँ बडे-बडे धनाढ्य-महाजनो की बस्ती थी। यहाँ के एक करोडपति का नाम 'आनन्द-गाथापति' था, जो महावीर के बडे भक्त-सेवक थे। आजकल की वैशाली (मुजफ्फरपुर जिले की बसाढपट्टी) के पास बनिया-ग्राम है। बहुत सम्भव है, कि यह गाँव 'वाणिज्यग्राम' का ही प्रतिनिधि हो।

बौद्धग्रन्थो के विशेषतया दीघनिकाय के अनुशीलन से पता चलता है, कि बुद्ध के समय मे वैशाली बडी समृद्धिशालिनी-नगरी थी। उसमे 7 हजार 7 सौ 77 महलो के होने का उल्लेख स्पष्टत: उसे विशाल तथा समृद्ध-नगर बतला रहा है। नगर के भीतर 'अम्बपाली' नामक बडी ही धनाढ्य और गुणवती गणिका रहती थी। 6 या 7 बडे-बडे चैत्यो के नाम मिलते है, जहाँ महात्मा बुद्ध ने अपना चातुर्मास बिताया। इसके पास ही 'वेणुग्राम' का उल्लेख मिलता है, जहाँ बुद्ध ने वर्षा मे निवास किया था। इस वर्णन से स्पष्ट है कि वैशाली बडी नगरी थी, जिसके उपनगर अनेक थे, तथा उस समय खूब प्रसिद्ध थे। ❖❖

संदर्भ-सूची

1 तस्य पुत्रो महातेजा सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्।
आवसत्परमप्रख्य सुमतिर्नाम दुर्जय ॥16॥
सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम्।
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठ. प्रत्यगच्छन्महायशा.॥120॥ — *(बालकाण्ड, 47 सर्ग)*

2 द्रष्टव्य, दीघनिकाय — महापरिव्वाण-सुत्त (न. 13)। ❖❖

ससार के किसी भी धर्म ने अहिसा की इतनी सूक्ष्म और व्यापक-परिभाषा नही की है, जितनी जैनधर्म ने की है। उसने इसे विशेषरूप से मन, वचन, काय से आचरण मे उतारने पर बल दिया है। अहिसा का यह उदात्त-सिद्धात जब भी ससार मे व्यवहार मे आयेगा, तो निश्चय ही जैनधर्म का विशेष-योगदान रहेगा और भगवान् महावीर का नाम 'अहिसा के अग्रदूत' के रूप मे लिया जायेगा। यदि किसी ने अहिसा के सिद्धात को विकसित किया है, तो वे महावीर है। इस पर विचार करे और इसे जीवन मे उतारें।

— महात्मा गाँधी ❖❖

वैशाली

✍ रामधारी सिंह 'दिनकर'

ओ भारत की भूमि बन्दिनी! ओ जजीरे वाली।
तेरी ही क्या कुक्षि फाडकर जन्मी थी वैशाली?
वैशाली। इतिहास-पृष्ठ पर अकन अगारो का,
वैशाली। अतीत-गह्वर मे गुजन तलवारो का।।
वैशाली। जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूँढता देश आज उस प्रजातन्त्र की माता।।
रुको, एक क्षण पथिक। यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ,
राजसिद्धियो की समाधि पर फूल चढाते जाओ।
डूबा है दिनमान इसी खडहर मे डूबी राका,
छिपी हुई है यही कही धूलो मे राजपताका।
ढूँढो उसे, जगाओ उनको जिसकी ध्वजा गिरी है,
जिनके सो जाने से सिर पर काली-घटा घिरी है।
कहो, जगाती है उनको बन्दिनी बेडियोवाली,
नही उठे वे तो न बसेगी किसी तरह वैशाली।।

फिर आते जागरण-गीत टकरा अतीत-गह्वर से,
उठती है आवाज एक वैशाली के खडहर से।
"करना हो साकार स्वप्न को तो बलिदान चढाओ,
ज्योति चाहते हो तो पहले अपनी शिखा जलाओ।
जिस दिन एक ज्वलन्त-पुरुष तुम मे से बढ आयेगा,
एक-एक कण इस खडहर का जीवित हो जायेगा।
किसी जागरण की प्रत्याशा मे हम पडे हुये है,
लिच्छवी नही मरे, जीवित-मानव ही मरे हुये है।"

❖❖

जैनधर्म मानव को ईश्वरत्व की ओर ले जाता है और सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् आचरण के जरिये पुरुषार्थ से उसे परमात्म-पद प्राप्त करा देता है। — डॉ. मुहम्मद हाफिज

महावीर की जन्मभूमि 'वैशाली' का प्रजातन्त्र

✍ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

भगवान् महावीर का जन्म वैशाली-गणतन्त्र मे हुआ था, तथा उस समय वहाँ पर राजतन्त्रीय शासन-प्रणाली न होकर प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली प्रचलित थी — इस तथ्य को सभी ने स्वीकृति प्रदान की है। किन्तु उस प्रजातन्त्रीय-प्रणाली का स्वरूप क्या था? — इस विषय मे बहुत कम लोग जानते है। एक बहुआयामी-प्रतिभा के धनी अद्वितीय-मनीषी की सारस्वत-लेखनी से प्रसूत इस आलेख मे वैशाली की प्रजातन्त्रीय-प्रणाली का शोधपूर्ण-विवरण प्रस्तुत हुआ है। **— सम्पादक**

वैशाली की यह भूमि कितनी पुनीत है, इसका इतिहास कितना गौरवपूर्ण है, इसका स्मरण करते भी हृदय इतने भावो से भरा हुआ है, जिनके प्रकट करने के लिये वाणी असमर्थ है। आज 2456 वर्ष हुये, जबकि वैशाली के सघ-राज्य, जनता के पचायती-राज्य, की ध्वजा अवनत हुई, और तब से निरकुश रजुल्ले सवा-चौबीस सौ वर्षों तक स्वतन्त्रता की भूमि पर मनमानी करते रहे। दूसरो की तो बात क्या, खुद वैशालीवासी भी भूल गये, कि एक समय था जब उनकी इस गगा और मही (गडक) द्वारा सिंचित वज्जी-भूमि मे किसी राजा का शासन नही था, जनता के 7777 प्रतिनिधि सारा राज-काज चलाते थे, और न्याय का इतना ध्यान था, कि अपने समय और सर्वदा के अद्वितीय महामानव बुद्ध ने अपने मुख से उसकी प्रशसा की थी। गगा-पार का रजुल्ला अजातशत्रु वज्जी की समृद्ध-भूमि को देखकर जीभ से पानी टपका रहा था, और उसने एक-दो बार कोशिश भी की, किन्तु उसे मुँह की खानी पडी। इसके बारे मे 'दीघनिकाय' की 'अट्ठकथा' मे कहा है — "एक नदी के घाट के पास आधा योजन अजातशत्रु का राज्य था, और आधा-योजन लिच्छवियो का । वहाँ पर्वत के नीचे से बहुमूल्य सुगधित माल उतरता था। अजातशत्रु 'आज जाऊँ कल जाऊँ' करता रहता, उधर एकराय एकमत लिच्छवि पहले जाकर सब (कर) ले लेते। अजातशत्रु पीछे जाता, और इस समाचार को सुन कुपित हो लौट आता। वे दूसरे वर्ष भी वैसा ही करते। अजातशत्रु ने अत्यन्त कुपित हो सोचा 'गण (प्रजातत्र) के साथ युद्ध करना कठिन है, उनका एक भी प्रहार विफल नही जाता। किसी बुद्धिमान् से मत्रणा करना अच्छा होगा।' और bl hd sfy , sml usv iuseglekR, o"kZ kg&ckA kd kscq d sik Hkst[2]

बुद्ध का गण-सस्था के प्रति अगाध-प्रेम था, और वैशाली के साथ, और भी अधिक इसीसे 483 ईसा-पूर्व वैसाख मास मे जब उन्होने अन्तिम बार वैशाली को छोडा, तो एक बार फिर उस वीतराग ने अपने सारे शरीर को घुमाकर (नागावलोकन करके) वैशाली को आँख भरकर देख अपने प्रिय शिष्य से कहा — "आनन्द। तथागत (बुद्ध) का यह अन्तिम-बार वैशाली का दर्शन कर रहा है।"[3] इसी वैशाली के प्रति उस दयामूर्ति के हृदयोद्गार थे — "आनन्द। रमणीय है वैशाली, रमणीय है उसका उदयन-चैत्य, गोतमक-चैत्य, सप्ताम्रक-चैत्य, बहुपुत्रक-चैत्य, सारदद-चैत्य।" ये चारो चैत्य वैशाली-नगरद्वार के बाहर क्रमशः पूर्व, दक्षिणउ, पश्चिम, उत्तर दिशाओ मे देवस्थान तथा अनपुष्करिणीसहित रमणीय भू-भाग थे। वैशालीवासी-लिच्छवि भगवान् के दर्शन के लिये वैशाली नगर से कुछ दूर दक्षिण मे अवस्थित अम्बपाली-वन मे पहुँचे। उन्हे देखकर बुद्ध ने कहा था —

"देखो भिक्षुओ। लिच्छवियों की परिषद् को, देखो भिक्षुओ। लिच्छवियो की परिषद् को। भिक्षुओ। इस लिच्छवि-परिषद् को त्रायस्त्रिश (देवताओ) की परिषद् समझो।"[4] त्रायस्त्रिश इन्द्रलोक के देवता हैं। बुद्ध ने वैशालीवासियो की उपमा उनसे दी थी, यह प्रकट करता है, कि बुद्ध के भाव इस भूमि के निवासियो के प्रति कैसे थे।

वर्षकार को अजातशत्रु ने बुद्ध के पास भेजा था, कि उनसे ऐसा कोई उपाय मालूम करे, जिसमे वज्जियो को आसानी से हराया जा सके। बुद्ध को कितना कटु लगा होगा यह प्रश्न, और इसीलिये उन्होने वर्षकार को सीधे-जवाब न दे, पीछे खडे हो पखा झलते आनन्द से कहा —

"आनन्द। सुना है न कि वज्जी बराबर सभा करके, बार-बार सभा करके अपना काम करते है?"

"सुना है भगवान्।... .. ."

"आनन्द। जब तक वज्जी सभा, बार-बार सभा करके काम करेगे, तब तक वज्जियो की उन्नति होगी, हानि नही।"

इसी तरह बुद्ध ने वज्जियो की **समृद्धि और स्वतन्त्रता की कुजी** सात-बातो को एक-एक करके दोहराया — वैशाली के प्रजातन्त्री (1) सभा मे बहुमत से निर्णय करके किसी काम को करते थे, (2) वह एकराय से काम करते, उठते-बैठते थे, (3) अवैधानिक, वज्जिधर्म (वैशाली के कानून)-विरुद्ध कोई काम नही करते थे, (4) अपने वृद्धो को सम्मान-सत्कार करते, उनकी बात पर कान देते थे, (5) स्त्रियो पर अत्याचार और जबर्दस्ती नही करते थे, (6) नगर के भीतर और बाहर के चैत्यो (देवस्थानो) का सत्कार-सम्मान करते, और उनके लिये प्रदत्त सम्पत्ति और धार्मिक-बलि को छीनते नही थे, और (7) धर्माचार्यों (अर्हतो) की रक्षा करते, और इस बात का ध्यान रखते, कि वे देश मे सुख से विचरे।

वैशाली-वासियो के ये सात गुण बुद्ध को बहुत पसन्द आये थे। इनमे पहले तीन तो जनतान्त्रिक-व्यवस्था के मूलमत्र है। वृद्धो और स्त्रियो के प्रति सम्मान का भाव उनकी उच्च-सस्कृति का द्योतक है। अन्तिम दो बाते धर्म के प्रति वज्जियो की उदारता को बतलाती है।

बुद्ध ने इसी वैशाली के बाहर 'सारदद-चैत्य' मे वैशाली-वासियो को उनकी इन सात बातो पर अटल रहने का आदेश दिया था। अजातशत्रु के महामन्त्री वर्षकार को उसकी बात का जवाब देते हुये मगध को तत्कालीन राजधानी राजगृह मे बुद्ध ने कहा था, "ब्राह्मण। एक समय मे वैशाली के 'सारदद-चैत्य' मे ठहरा हुआ था, वहाँ मैने वज्जियो को यह सात पतन-विरोधी बाते बतलायी थी। जब तक ये सात बाते वज्जियो मे रहेगी, तब तक वज्जियो की उन्नति ही होगी, हानि नही।

वैशाली-प्रजातत्र की न्याय-व्यवस्था कितनी सुन्दर थी, इसकी कुछ झलक हमे 'दीघनिकाय' की अट्ठकथा[5] मे मिलती है — "परम्परा से चला आया वज्जि-धर्म यह था कि वज्जि के शासक 'यह चोर है, अपराधी है' न कह आदमी को **विनिश्चय-महामात्य** (न्यायाधीश) के हाथ मे दे देते थे। वह विचार करता, अपराधी न होने पर छोड देता, अपराधी होने पर अपने कुछ न कह **व्यवहारिक** (न्यायाध्यक्ष) को दे देता। .... ..वह भी अपराधी जानने पर **सूत्रधार** को दे देता। .... वह भी विचार कर निरपराध होने पर छोड देता, अपराधी होने

पर **अष्टकुलिक** को दे देता। वह भी वैसा ही करके **सेनापति** को, सेनापति **उपराज** (उपाध्यक्ष) को, और उपराज **राजा** (गणपति) को दे देता। राजा विचार कर यदि अपराधी न होता, तो छोड देता, और अपराधी होने पर **प्रवेणि-पुस्तक** (दण्डविधान) बँचवाता। प्रवेणि-पुस्तक मे लिखा रहता, कि अमुक-अपराध का अमुक दण्ड है। अपराध को उससे मिलाकर दण्ड दिया जाता।"

अपराधी के अपराध के सम्बन्ध मे न्याय करने के लिये कितना ध्यान रखा जाता, वह इस उद्धरण से मालूम होता है। इससे यह भी मालूम होता है, कि वैशाली-प्रजातन्त्र की अपनी प्रवेणि-पुस्तक या दण्डविधान भी था, जिसका बडी-कडाई से अनसुरण किया जाता था।

वर्षकार बुद्ध के मुख से वज्जियो के बारे मे अपने अनुकूल कोई बात नही सुन सका। उसने लौटकर अजातशत्रु से कहा — "श्रमण गौतम (बुद्ध) के कथन से तो वज्जी को किसीप्रकार विजित किया नही जा सकता। इससे अच्छा तो उपलापन (घूस-रिश्वत) और आपस मे फूट पैदा करने मे काम बनाया जाये।" अजातशत्रु और उसके कुटिल-मत्री ने भेद (फूट)-नीति को ही पसन्द किया। वर्षकाार ने सलाह दी — "महाराज। परिषद् मे वज्जियो की बात उठाओ। मै कहूँगा उनसे क्या लेना है, रहने दो, वज्जी के शासक अपनी खेती और वाणिज्य से जीये।" राजा और मन्त्री ने षडयन्त्र किया, दोनो की मिली-भगत रही। वर्षकार वज्जियो का पक्षपाती बनकर राजसभा से निकल गया। उसकी ओर से वज्जियो के पास जाती चीज पकडी गयी। राजा ने उसे इस अपराध मे बन्धन-ताडन न करा, सिर मुडा, नगर से निकाल दिया। वर्षकार गगा पार हो वज्जी-भूमि मे जाने लगा, तो कुछ वज्जियो ने कहा — "ब्राह्मण बडा मायावी है, गगापार न उतरने दो।" लेकिन लिच्छवि वर्षकार के जाल मे फँस गये, और उसे अपने यहाँ शरण ही नही थी, बल्कि अपना विनिश्चय-महामात्य (न्यायाधीश) बना लिया। वर्षकार ने तीन वर्ष तक वैशाली का नमक खाया, और उसका प्रतिशोध उसने अपने विश्वासघात द्वारा किया। तीन वर्ष के भीतर उसने वैशालीवालो मे ऐसी फूट डलवा दी कि "दो आदमी एक साथ नही जा सकते थे।" वर्षकार ने अपने मालिक को सूचना दी, ओर फूट के कारण निर्बल-वज्जी लोगो को अप्रयास मगधराज ने दास बना लिया। वैशाली के पतन का यह समय बौद्ध-परम्परा के अनुसार बुद्ध-निर्वाण (483 ईसापूर्व) से तीन साल बाद है।

वैशाली इतने दिनो तक बनी रही, किन्तु इसी के विस्तृत-इतिहास ने पहले-पहल भारतीयो को बतलाया कि हम सदा निरकुश-राजाओ के जूओ को ही नही ढोते रहे, बल्कि हमारे यहाँ भी अपने प्रजातन्त्र थे। वैशाली-प्रजातन्त्र बहुत शक्तिशाली था। बुद्ध के समय के भारत के सबसे बडे राज्य कोसल, जो गडक, गगा और हिमालय की सीमाओ से घिरा था, का राजा प्रसेनजित एकबार बहुत घबराया हुआ था। उसे देखकर बुद्ध ने पूछा — "क्या महाराज। तुम पर राजा मागध श्रेणिक बिम्बसार या वैशालिक-लिच्छवि तो नही बिगडे है?" लिच्छविओ के कोप से कोसल-राज्य का होश-हवास बिगड सकता था, यह लिच्छवियो की शक्ति का परिचय देता है। वैशाली-गण के सीमान्त पर दो ही प्रबल-राजशक्तियाँ थी — दक्षिण और पूर्व मे मगध, और पश्चिम मे कोसल। पश्चिमी-सीमा पर मही (आधुनिक गडक) नदी बहती थी, इसके लिये साक्षात्-प्रमाण नही मिलता, लेकिन वज्जी के पश्चिम-मल्लो का सघराज्य था, जो कोसल-राज्य के आधिपत्य को स्वीकार

करते अपनी सघप्रणाली को किसी-न-किसी तरह सुरक्षित रखे हुये था। मल्ल और लिच्छवि दोनो पड़ोसी-जातियो की सीमा गडक ही रही होगी, लेकिन उस समय गडक (मही) की धारा वही नही थी, जहाँ कि वह आज है। सोनपुर, शीतलपुर, मढौरा होती जो नदी आजकल छपरा जिले मे बहती है, उसकी निचली-धारा आज भी मही के नाम से प्रसिद्ध है। हम कह सकते हैं, कि वज्जी की प्राचीन-भूमि वही थी, जिसकी सीमाये आज-कल की भोजपुरी, मगही और अगिका (मुगेर की छिका-छिकी) भाषा से सीमित थी, इतने अपवाद के साथ ही वर्तमान चम्पारन भी प्राचीन-वज्जीगण के भीतर पडता था।

वर्तमान-भारत के लिये यह भूमि अत्यन्त-पुनीत है। ढाई हजार वर्ष बाद भारत फिर अपना सघराज्य स्थापित करने जा रहा है। उसे अपने यशस्वी वैशालीगण और उसकी परम्परा का अभिमान होना आवश्यक है। वस्तुतः हमारे ऊपर निरकुश राज-शासन की कालरात्रि मे वैशाली और यौधेय — दो ही जनतन्त्र के प्रकाश-स्तम्भ थे, जो यह भी सिद्ध करते रहे, कि प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली हमारे लिये बिल्कुल नयी चीज नही है। सहस्रो-वर्षों से देशी और विदेशी निरकुश-शासक बराबर यही प्रत्न करते रहे, कि हम अपनी प्रजातान्त्रिक-परम्परा को भूल जाये। वह बहुत हद तक अपने इस कार्य मे सफल भी हुये, किन्तु पुरातत्त्ववेत्ताओ और इतिहासज्ञो की खोजो ने उनके प्रयत्नो को सफल नही होने दिया, और अब तो देश की आवश्यकता और माँग है, कि विदेशी-शासन के हटने के बाद भारत प्रजातन्त्र-राज्य घोषित किया जाये। हम जानते है, कि वह समय दूर नही है, जब हमारे बालको के लिये इतिहास की पुस्तको मे वैशाली-प्रजातन्त्र के लिये एक विशेष-स्थान रखना पडेगा। हाँ, अभी देश के बडे नेता इस महत्त्व को नही समझते, और न समझने की कोशिश कर रहे है, कि भावी-भारतीय प्रजातन्त्र को अपने वैशाली और यौधेय-प्रजातन्त्रो से कितनी प्रेरणा मिलेगी। यौधेय वही भूमि है, जिसमे राजधानी-दिल्ली अवस्थित है, लेकिन दिल्ली के आधुनिक-प्रभुओ को इसका ख्याल नही है, कि एक समय यौधेय के कट्टर-शत्रु ने उनके लिये "*यौधेयाना जयमत्रधारिणाम्*" लिखा था। जनतन्त्रता से ही बहुजनहित हो सकता है, हमारे देश का गौरवपूर्ण-भविष्य इसी बात पर निर्भर करता है, कि यहाँ जनतन्त्रता का एकच्छत्र राज्य हो, और इस जनतान्त्रिक-भावना के सार्वजनीन-प्रसार के लिये हमारे प्राचीन-प्रजातन्त्रो का इतिहास बहुत सहायक हो सकता है।

प्रजातन्त्रीय कार्य-प्रणाली

गणो की सर्वोपरि शासन-सभा या पार्लियामेट को सस्था कहा जाता था, और जहाँ सस्था की बैठक हुआ करती, उसे **सथागार** (सस्थागार) कहा जाता। वैशाली के भीतर सस्थागार की एक बडी शाला थी, जिसमे गणतन्त्र के सदस्य इकट्ठा होकर 'राजाकल' और 'विधान' की बातो का निर्णय किया करते थे। सस्थागार की बैठको मे शासकीय-कार्य के समाप्त हो जाने पर लोग दूसरी सामाजिक आदि चर्चाओ मे लग सकते थे। सस्थागार मे कभी-कभी अतिथियो को भी ठहराया जाता था। पालि-ग्रन्थो मे इस बात का बहुत ध्यान रखा गया है, कि सस्था तथा सस्थागार को राजतन्त्रीय-देशो से सम्बद्ध न किया जाये।

वैशाली या कुसीनारा की **सस्थाये** किस तरह सभा की कार्यवाही करती थी, कैसे वाद-विवाद होते थे, और किस तरह वादो का निर्णय और मत लिया जाता था, इसका हमारे पास कोई साक्षात्-प्रमाण नही है। किन्तु

हम जानते हैं कि बुद्ध ने अपने भिक्षु-सघ की स्थापना इन्ही सघराज्यो के नमूने पर की थी। इसलिये इस विषय में भिक्षुसघ के विधान (विनय-नियमों) से हम समझ सकते है, कि सघराज्यो मे किस तरह सस्था काम करती थी। गण-राज्य के 'लियेल-सघ' का शब्द त्रिपिटक मे आया है — "हे गौतम। यह जो संघ है, जैसे कि वज्जी या मल्ल, वह अपने राज्य मे 'मारो' कहकर मरवा सकते हैं, 'जलाओ' कहकर जलवा सकते हैं, 'देश निकालो' कहकर देश से निकाल सकते हैं।"[6]

सस्था के प्रमुख-व्यक्तियो मे सस्था-राज, उपराज, सेनापति, अष्टकुलिक, व्यवहाथक और विनिश्चय महामात्य का नाम हम बतला चुके है। राजा और उपराज, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति को कहा जाता। सेनापति सारी लिच्छविसेना का प्रमुख होता — बुद्ध के समय 'सिह-सेनापति' लिच्छवियो का सेनापति था। अष्टकुलिक से 'आठ कुलो के प्रधान-व्यक्ति' अर्थ नही लिया जा सकता, क्योंकि 'कुलिक' नामक पदाधिकारी गुप्तकाल मे भी होता था। नगर की निगम-सभा मे एक श्रेष्ठी और एक सार्थवाह हुआ करते थे, और बाकी सदस्य 'कुलिक' कहे जाते थे, जिनका प्रमुख 'प्रथम-कुलिक' होता था। यही बसाढ की खुदाई मे गुप्तकालीन-स्तर से हरि और उग्रसिह नाम के दो प्रथम-कुलिको और भगदत्त, गोरीदास, गोड, ओमभट्ट जैसे कितने ही कुलिको की मुद्राये मिली है। अष्टकुलिक, जान पडता है, वैशाली के आठ नगराधिकारियो कहा जाता था। व्यवहाथक और विनिश्चय-महामात्य — ये दोनो, न्यायधिकारी थे।

सस्था की बैठक सस्था-राज या उपराज की अध्यक्षता मे हुआ करती थी। यदि बौद्ध-भिक्षु-सघ की समानता से काम लिया जाये, तो किसी भी प्रस्ताव को जब कोई सदस्य पेश करता, वह सीधे पूज्य-सघ — या भन्ते-सघ को सम्बोधित करता था। प्रस्ताव रखने के क्रम बधे थे। जैसे — **याचना** मे सघ के सामने प्रस्ताव रखने की आज्ञा माँगी जाती।

उदाहरण के लिये हम **उद्वाहिका** (Select Committee) के निर्वाचन की विध के बारे मे यहाँ 'विनयपिटक' के वचन को देते है —

(1) **याचना** — "पहले उस व्यक्ति से पूछना चाहिये, तब . . . . ।"

(2) **ज्ञप्ति** — "भन्ते। सघ मेरी बात सुने। हमारे इस अधिकरण (विवाद-विषय) पर विचार करते समय अनर्गल बाते होने लगती है, भाषण का अर्थ नही समझ पडता। यदि सघ उचित समझे, तो इस बात को उद्वाहिका द्वारा निर्णय के लिये अमुक-अमुक व्यक्तियो को चुने।"

इसप्रकार प्रस्ताव की सूचना सघ के सामने रख दी जाती। फिर अनुश्रावण द्वारा उसके सम्बन्ध मे खुले वाद-विवाद के लिये प्रस्ताव को रखा जाता, जैसे —

(3) **अनुश्रावण** — "भन्ते। सघ मेरी बात सुने। हमारे इस अधिकरण (विवाद-विषय) पर विचार करते सयम अनर्गल बाते होने लगती है, भाषण का अर्थ नही समझ पडता। सघ इस अधिकरण को उद्वाहिका द्वारा निश्चय कराने के लिये अमुक-अुमक व्यक्तियो को चुन रहा है। जिस आयुष्मान् को यह बात पसन्द हो, वह चुप रहे, जिसे न हो वह बोले।"

यदि कोई प्रस्ताव के विरुद्ध बोलना चाहता, तो उसे बोलने का अधिकार दिया जाता। यदि कोई नही बोलता, तो अनुश्रावण के वाक्य को फिर दोहराया जाता। और इस पर भी यदि कही से कोई विरोध मे बोलने को तेयार नही होत, तो **अनुश्रावण** तेहराया जाता। अन्त मे सघनायक सघ की राय के बारे मे निम्नप्रकार अपनी धारण घोषित करता —

(4) **धारणा** — "सघ ने इस अधिकरण को उद्वाहिका द्वारा निश्चय कराने के लिये अमुक-अमुक व्यक्तियो को चुन लिया। सघ इसे स्वीकारता है, इसीलिये वह चुप है, ऐसा मै धारण करता हूँ।"[7]

जब **संस्था** सर्वसम्मति से किसी निर्णय पर नही पहुँचती, तब इसके लिये सम्मति या वोट लेना पडता था। वोट के लिये उस समय **छन्द** शब्द का प्रयोग होता था। (इसी छन्द से आधुनिक-चन्दा शब्द निकला प्रतीत होता है, जिसमे मतदान के स्थान मे अर्थदान का भाव आ गया है)। छन्द-ग्रहण के लिये रगीन-शलाकाओ का उपयोग किया जाता था, जिन्हे **छन्द-शलाका** कहा जाता था। प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष मे प्रत्येक के लिये अलग-अलग दो रग की शलाकाये निश्चित कर ली जाती थी। फिर इन शलाकाओ को दो भिन्न-भिन्न डलियो मे रखकर **शलाका-ग्रहापक** सदस्यो के भीतर घूमता था, और वह अपने मत के अनुसार एक-एक शलाका ले लेते थे। बाकी बची शलाकाओ को गिनकर मालूम कर लेते थे, कि बहुमत किस पक्ष मे है। इस बहुमत के निर्णय को 'यद्भूयसिक' कहा जाता था। आजकल यह तरीका व्यवहार्य नही हो सकता, और छन्द-शलाका से छन्द-पत्रिका का ढग बेहतर है।

हमारे विशाल-प्रजातन्त्र के इतिहास-धन के ये थोडे से अवशेष रह गये है, और इन्हे भी हम रक्षित नही कर गये थे, बल्कि इन्हे समुद्र-पार सिहल और चीन के लोगो ने सुरक्षित रखा। अथेन्स के प्रजातन्त्र की बहुत-सी बाते लिखित-रूप मे रक्षित रह गयी, जिससे हम वहाँ की प्रजातन्त्रप्रणाली को जान मकते हैं। लेकिन वैशाली को यह सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। अथेन्स के शिल्पियो ने पाषाण पर सौन्दर्य-सृष्टि की, जिससे उसके ध्वसावशेषो मे प्रजातन्त्रीय-गौरव के साक्षात्कार करने मे बडी सहायता मिली। हमारा दुर्भाग्य है कि प्रजातत्रीय-वैशाली के कलाकार पाषाण पर नही, काष्ठ और मृत्तिका जैसे भगुर-पदार्थों पर सौन्दर्य-निर्माण किया करते थे। इसलिये बहुत ही आशा है, कि हम वैशाली के ध्वसावशेषो मे अधिक महत्त्वपूर्ण-वस्तुओ को प्राप्त कर सकेगे। लेकिन यह धरती हमारी प्राचीन-गौरव की किन-किन वस्तुओ को अपने भीतर छिपाये हुये है, इसके बारे मे हम क्या सकते है? आखिर वैशाली के सिर्फ एक छोटे से अश की ही खुदाई हो पायी है।

वैशाली-नगरी

बौद्ध-परम्परा के अनुसार लिच्छवियो की नगरी का यह नाम इसीलिये पडा कि जनसख्या की वृद्धि के कारण नगर-प्राकार को कई बार हटा-हटा कर उसे विशाल किया गया। "उस समय वैशाली समृद्धिशाली, बहुत मनुष्यो से भरी, अन्न-पान-सम्पन्न थी। उसमे 7777 प्रसाद, 7777 कूटागार (कोठे), 7777 आराम (उद्यानगृह) और 7777 पुष्करिणियाँ थी।"[8] जैन-ग्रन्थो से भी यह पता लगता है, कि वैशाली के क्षत्रिय, ब्राह्मण और वणिक् अलग-अलग उपनगर थे। वर्तमान-**बनिया** मे वाणिय-गाम था। **वासुकुण्ड** को क्षत्रियकुण्डग्राम माना जा सकता है। लेकिन प्रश्न है, मुख्य-नगरी कितनी दूर मे थी। बसाढ बन्ती और गढ मुख्य-नगर मे थे,

इसमे सन्देह नहीं। वैशाली का विशाल नगर और दूर तक रहा होगा। उसमे नगर-प्रकार और नगर-द्वार भी थे, किन्तु आज भूमि से ऊपर को चिह्न दिखाई नही देता, यद्यपि वैशाली के समकालीन श्रावस्ती (सहेट-महेट, जिला-गोडा), और कौशाम्बी (कोसम, जिला-प्रयाग) के नगर-प्रकारो के ध्वस अब भी दिखलाई पडते है। नगर-प्राकार का इस तरह लोप यही बतलाता है,कि वैशाली पहले उजाड हो गयी। सातवी शताब्दी के चीन-यात्री ह्वेन-साग के समय वैशाली बिल्कुल उजाड थी, और बौद्ध तीर्थ-स्थान भी इतने उजड गये थे, कि ह्वेन-साग के वर्णन से भिन्न-भिन्न स्थानो का कोई ठीक से परिचय नही मिलता। ईसा की चौथी सदी मे फाहियान का वर्णन अधिक स्पष्ट है, और अधिक प्रामाणिक भी मालूम पडता है। तीरभुक्ति (तिरहुत) के उपरिक (गवर्नर) और कुमारामात्य (जिलाधीश) की मुद्राओ से सिद्ध होता है, कि गुप्तकाल मे उसका महत्त्व था। लेकिन साथ ही इन मोहरो से यह सिद्ध नही होता, कि प्रजातत्रीय वैशाली का वैभव तब तक अक्षुण्ण चला आया था।

कोल्हुआ मे जहाँ आज भी अशोक-स्तम्भ खडा है, वहीं कूटागार-शाला थी। महात्मा बुद्ध वहाँ कई बार निवास कर चुके थे। यह कूटागार-शाला **महावन** के भीतर थी, जो कि हिमालय से समुद्र तक चले गये, महावन का एक अश था। जगलो की इस अधिकता से यह भी मानना होगा, कि मौर्य चन्द्रगुप्कालीन पाटलिपुत्र की तरह वैशाली का नगर-प्राकार भी शाल-काष्ठ का था। इसीलिये उसका पीछे तक बचा रहना सम्भव नही था। पालि-ग्रन्थो[9] से मालूम होता है, कि वैशाली की चार दिशाओ मे चार प्रसिद्ध चैत्य (उद्यान-पुष्करिणी-सहित-देवस्थान) थे — मे **उदयन**-चैत्य, दक्षिण मे **जोतमक**-चैत्य, पश्चिम मे **सप्ताम्रक**-चैत्य और उत्तर मे **बजुपुत्रक**-चैत्य — ये चारो चैत्य, जान पडता है, वैशाली नगर के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के महाद्वारो के बाहर थे। आज भी पूरब के कम्मन-छपरा के चौमुखी महादेव, उत्तर मे बनिगा के चौमुखी महादेव मौजूद है, जो क्रमश उदयन और बहुपुत्रक-चैत्य हो सकते है। फाहियान के अनुसार बुद्ध ने अन्तिम बार वैशाली के पश्चिमद्वार से बाहर निकलकर नागावलोकन किया था। यह स्थान सप्ताम्रक-चैत्य के आसपास रहा होगा, जिसे **बोधा** के आसपास कही होना चाहिये। दक्षिण-द्वार के बाहर गोमतक-चैत्य था, जिसे परमानन्दपुर से कोसा के गुप्त-महादेव के दक्षिण तक ढूँढना होगा। इसप्रकार हम पुरानी-वैशाली के नगर-सीमान्त का अनुमान कर सकते है।

इन प्रधान-चैत्यो मे अच्छा वृत्ति-बन्धान रहा होगा, यह वज्जी-धर्म के अनुसार उचित ही था। इन चार प्रधान-चैत्यो के अतिरिक्त और भी कई चैत्य थे, जिनमे एक था **चापाल चैत्य।** यही पर बुद्ध ने ई पू. की माघ-पूर्णिमा के आसपास कहा था — "आज से तीन मास बाद तथागत का निर्वाण होगा।" फाहियान ने इसे नगर से 3 मील उत्तर-पश्चिम बतलाया है। अनुवादको ने इस शब्द को **धनुषबाण-त्याग** बना दिया है, जो वस्तुत: चापाल (चाप रख देने) के चीनी-भावान्तर का विकृत-रूप है। यह स्थान **भीमसेन-का-पल्ला** के आस-पास कही होना चाहिये। **सारवद-चैत्य** भी वैशाली के पास था। यही पर बुद्ध ने लिच्छवियो को सात **अपरिहाणिय** (हानि से बचानेवाले) धर्मों का उपदेश किया था। यह स्थान कहाँ था, इसे नही कहा जा सकता। फाहियान ने इसके बारे मे कुछ नही लिखा है। इनके अतिरिक्त वैशाली-नगर के बाहर कितने ही और साधुओ के आराम थे, जिनमे **तिदुकखाणु** मे परिव्राजको का आराम और **अवरपुर-वनसड** मे भी एक आराम था — अवरपुर-वनसड नगर से पश्चिम मे रहा होगा। बालुकाराम अशोक-स्तम्भ से पश्चिम मे रहा होगा। यही द्वितीय-सगीति हुई थी।

नगर के भीतर सख्यागार, कूटागारो और प्रसादो के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण-वस्तु थी — **अभिषेक-पुष्करिणी**, जिसमे सस्था के सदस्यो का अभिषेक कराया जाता था, और उसमे किसी भी बाहर आदमी का प्रवेश अत्यन्त निषिद्ध था।

वज्जी के दूसरे नगर और गाँव

पाटलिपुत्र ने गगापार ही कर बुद्ध 'कोटिग्राम' पहुँचे थे। इसके अतिरिक्त 'उक्काचेल' (उल्काचेल) नामक नगर भी गगा के तट पर था। कोटिग्राम और उक्लाचेल कहाँ थे? — इसके बारे मे इससे अधिक कुछ नही कहा जा सकता, कि वे सोनपुर, हाजीपुर के आस-पास थे। गण्डक तो अवश्य ही उस समय सोनपुर से पश्चिम बहती थी।

अपनी अन्तिम-यात्रा मे राजगृह से आते वक्त बुद्ध पाटलिपुत्र मे गगा पार हुये। पाटलिपुत्र को उसी समय राजधानी और एक बडे नगर के रूप मे बसाया जा रहा था। गगा-पार हो वह **कोटिग्राम** पहुँचे थे। कोटिग्राम से अगला पडाव **नादिका** मे पडा। नादिका एक अच्छा खासा नगर था, जो ज्ञातृका का अपभ्रश मालूम होता है। 'ज्ञातृ' के पालि मे **नाट** और **नात** — दोनो रूप मिलते है, जैसे ज्ञातृ-पुत्र का नाटपुत्त और नातपुत्त। नादिका का दूसरा उच्चारण 'नाटिका' भी है। नाटिका मे **मिजकाववसथ** नामक ईटो की बनी एक अच्छी अतिथिशाला थी। बुद्ध ने इसी मे निवास किया था। इसी के पास गोसिग-शालवन नामक शालो का जगल था। 'नादिका' से बुद्ध अम्बपाली के बगीचे मे पहुँचे थे। वैशाली की कीर्तिमती रूपजीवा अम्बपाली ने यही अपने आमो के बगीचे मे बुद्ध को भोजन के लिये निमत्रित किया था, और बुद्ध की स्वीकृति से इतनी उल्लसित हुई थी, कि लौटते समय उसने तरुण-तष्ण-लिच्छवियो के रथ के धुरो से धुरा, चक्को से चक्का और जुओ मे जुआ टकरा दिया। लिच्छवियो ने जब इसका कारण पूछा, तो बोली[9] —

"आर्यपुत्रो' क्योकि मैने भिक्षु-सघ के साथ भगवान् को कल भोज के लिये निमत्रित किया है।"

"अरे। अम्बपाली, सौ हजार लेकर इस भोज को हमे देने दो।"

"यदि वैशाली-जनपद भी दे दो, तो भी इस महान् भोज को मै नही दूँगी।"

इस पर लिच्छवियो ने कहा था — "अरे। हमें अम्बिका ने जीत लिया, हमे अम्बिका ने छका दिया।" इस घटना से यह भी पता लगता है, कि वैशाली के शासक एक गणिका के आत्म-सम्मान का भी कितना ख्याल करते थे। इसी बार अम्बपाली ने अपने आम्रवन को भिक्षु-सघ को प्रदान किया था।

महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन का अन्तिम-वर्षावास 'बेलुवगामक' नामक वैशाली के पास के ग्राम मे बिताया। वैशाली ने अपने निर्वाण-स्थान **कुसीनारा** (कसया) की ओर जाते वक्त रास्ते मे उन्हे **भण्डग्राम**, **अम्बगाम**, **हत्थिगाम** (हस्तिग्राम) मिले थे। इसके आगे भोगनगर आया, जो सम्भवतः वज्जी-प्रजातत्र से बाहर का गाँव था। वज्जी-भूमि की नदियो मे 'मही' और 'वग्गुमुदा' — दो के नाम मिले है। 'वग्गुमुदा' सम्भवतः वागमती का ही नाम था।

वैशाली सघ-राज्य के इतिहास के बारे मे यहाँ पालि मे मौजूद ऐतिहासिक-सामग्री के आधार पर कहा

गया है। बौद्ध-वाङ्मय पालि के अतिरिक्त चीनी और तिब्बती-भाषा मे भी बहुत विशाल-परिमाण में पाया जाता है। उससे भी हमें कितनी ही महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य-बाते मालूम हो सकती है। फिर जैन-वाङ्मय भी बहुत विशाल है, और उसके कितने ही ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित है। जैन प्राचीन-ग्रन्थो की दुहाई देते रहने पर भी वैशालिक भगवान् महावीर को जैन-लोग इस भूमि से दूर खींच ले गये हैं। अपने वाङ्मय के अध्ययन से यह समझना मुश्किल नही होता, कि श्रमण-महावीर कहाँ पैदा हुये थे? जैन-विद्वान् अब इसे समझने लगे है। भगवान् महावीर ने अपने सिद्धिलाभ के पहिले के तपस्वी-जीवन के आठ-वर्षावास वैशाली मे बिताये थे, और सिद्धिलाभ के बाद चार और वर्षावास वैशाली मे बिताये। **वैशाली ही श्रमण-महावीर की जन्मभूमि थी।** यह कम आश्चर्य की बात नही है, कि जैनो ने अपने **तीर्थंकर की जन्मभूमि का नाम तक भुला दिया।** ऐसा क्यो हुआ? इसके लिये दो-चार शताब्दी-समारोह ऐसे होने चाहिये, क्योकि अब वज्जी-भूमि और वैशाली से जैनो का कोई सम्पर्क नही रह गया था। ❖❖

संदर्भ-सूची

2 दीघनिकाय (महापरिनिव्वाणसुत्त) अट्ठकथा।
3 वही।
4 दीघनिकाय-महापरिनिव्वाणसुत्त, पृ 133
5 वही, पृ 118
6 मज्झिमनिकाय 1/4/5, पृ 140
7 विनय-पिटक, (चुल्लवग्ग) 4/3/5 (मेरा अनुवाद, पृ 412)
8 अगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा 2/4/5
9 दीघनिकाय (महापरिनिव्वाणसुत्त) (मेरा अनुवाद, पृ 128) ❖❖

भारत मे महावीर ने मुक्ति का सदेश दिया और बताया कि धर्म एक वास्तविकता है, वह मात्र परम्परा नही है और मुक्ति आत्मसाधना से, धर्माचरण से प्राप्त होती है, बाह्याडम्बरो अथवा कर्मकाण्डो मे लिप्त होने से नही। धर्म कभी भी आदमी-आदमी मे भेद नही करता। महावीर की यह विचारधारा आश्चर्यजनकरूप से व्यापक रूप से प्रसारित हो गई और जातिभेद की दीवारो को तोड उन्होने सारे देश को जीत लिया।

— रवीन्द्रनाथ टैगोर

❖❖

भगवान् महावीर पुन. जैनधर्म के सिद्धात को प्रकाश मे लाये। भारत मे यह धर्म बौद्धधर्म से पहले मौजूद था। प्राचीनकाल मे असख्य-पशुओ की बलि दे दी जाती थी। इस बलि-प्रथा को समाप्त कराने का श्रेय जैनधर्म को है।

— बाल गंगाधर तिलक

❖❖

इस वैशाली के आँगन में

✍ प्रिंसिपल मनोरंजनप्रसाद सिंह

किस अतीत-गौरव की कथा कवि। तू गाने आया है?
किस युग की तू करुण-कहानी हमे सुनाने आया है?
क्यो विस्मृत-घटनाओ की फिर याद दिलाने आया है?
क्यो सदियो की सुप्त-वेदना पुन जगाने आया है?
रहने दे ये मूक-व्यथाये सारी अपने ही मन मे।
मत कह, क्या क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन मे।।

सुना, किसी दिन यही लिच्छवि-शासन था गौरवशाली।
सुना, कभी थी उन्नति के उच्च-शिखर पर वैशाली।।
जग-जग मे थी राजतन्त्र की घटा घिरी काली-काली।
तब भी इस प्राचीन-भूमि मे प्रजातन्त्र की थी लाली।।
लेकिन क्या लाभ भला अब इस अतीत के चिन्तन मे?
मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन मे।।

सुना, यही पर बुद्धदेव ने किया कभी था आप-निवास।
महारण्य की पुण्य-कुटी मे था उनका सुन्दर-आवास।।
यही सुन्दरी-आम्रदारिका तजकर सारे भोग-विलास।
आयी थी श्रद्धा-समेत उपदेश-ग्रहण की उनके पास।।
विकसी थी वह मृदुल-मञ्जरी यही आम्र के कानन मे।
मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन मे।।

सुना, यही उत्पन्न हुआ था किसी समय वह राजकुमार।
त्याग दिये थे जिसने जग के भोग-विलास, साज-शृंगार।।
जिसके निर्मल-जैनधर्म का देश-देश मे हुआ प्रचार।
तीर्थंकर जिस महावीर के यश अब भी गाता ससार।।
है पवित्रता भरी हुई इस विमल-भूमि के कण-कण मे।
मत कह, क्या-क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन मे।।

है उस प्रियदर्शी अशोक का स्तम्भ आज भी गडा हुआ।
उस अतीत-गौरव का है यह चिह्न आज भी खडा हुआ।।
लुप्त हो गये सभी, जिन्हे था पा करके यह बडा हुआ।
राजनगर राजा-विशाल का आज शून्य है पडा हुआ।।
ध्वनि अब भी आती है उसकी गण्डक के कल-क्रन्दन मे।
मत कह, क्या क्या हुआ यहाँ इस वैशाली के आँगन मे।।

प्राचीन-वैशाली के आदर्श

✍ डॉ श्रीकृष्णसिंह

भगवान् महावीर जिस वैशाली-गणतन्त्र मे जन्मे थे, वस्तुतः उसका नाम 'वज्जि'गणतन्त्र' था, तथा उसकी राजधानी 'वैशाली' महानगर था। ये वज्जि अपने गणतन्त्र को कैसे इतना सुदृढ बना सके? उनके आधारभूत-सिद्धान्त क्या थे — इनका वर्णन इस संक्षिप्त, किंतु महत्त्वपूर्ण-आलेख मे प्रस्तुत हुआ है। ये सिद्धान्त आज के गणतन्त्र के कर्णधारो को गभीरतापूर्वक मननीय है। — ***सम्पादक***

बुद्धदेव जब 'वज्जि-रट्ठ' मे थे, तब स्वय उन्होने वज्जियो को ये सप्त अपरिहाणिक-धर्म अर्थात् अवनति न होने की सात शर्तें समझायी थी।

आज जिस धरती पर खडे होकर हम वैशाली की प्राचीन-सभ्यता और सस्कृति का अभिनन्दन कर रहे है, वहाँ ढाई हजार साल पहले प्रजातन्त्र की तूती बोलती थी। यहाँ वज्जियो के प्रतिनिधि जमा होते थे, और शासनकार्य करते थे। जानबूझकर पश्चिमवालो ने हमारे प्राचीन-इतिहास को इस तरह रखा है, जिसमे हमे मालूम पडे, कि हम बराबर निरकुशतापूर्वक शासित होते आये है, और हमारे यहाँ प्रजातन्त्र की कोई परम्परा नही है। पश्चिम देख ले, और अपना अज्ञान दूर कर ले, कि जिस समय उसके पूर्वपुरुष जगलो मे घमते थे, उस समय प्राचीन-भारत मे प्रजातन्त्रवाद अपने पूरे गौरव के साथ फल-फूल रहा था। आज इस बात की बडी जरूरी है, कि हमारा इतिहास फिर से लिखा जाये, और उसमे से गलत-बातों को हटा दिया जाये। हमे अपने देशवासियो को इस ढग से शिक्षित करना है, कि वे न केवल अपने देश का सिर ऊँचा करे, बल्कि विदेशो मे भी अपने देश का गौरव बढाये।

आज हमारी स्वतन्त्रता के लिये स्कीम पर स्कीम पेश की जाती है, और यह भी कहा जाता है, कि भारत मे 'डेमोक्रेसी' चल ही नही सकती। यह सिर्फ लोगो को छलने का प्रयत्न है। मगर पश्चिम का यह प्रयत्न कभी सफल होने का नही। हम जग गये है, और दूसरो के भुलावे मे नही आ सकते।

इतिहास मे जो वैशाली इतनी प्रसिद्ध है, उसके आदर्श क्या थे — यह जानना बुहत जरूरी है। मगर इस बात को भगवान् बुद्ध ने स्वय ही अपने प्रवचन मे रख दिया है। इन 'सत्त अपरिहानिया धम्मा' के आदर्श न केवल प्राचीन वैशाली के थे, बल्कि किसी भी प्रजातन्त्रवादी-राष्ट्र के हो सकते है।

पहली बात जिसपर महात्मा बुद्ध ने जोर दिया था, वह है **शासन-सभाओ मे बार-बार जुटना, और शासन-सभाओ का बार-बार होना।** ऐसा न होने से दो मे तुरन्त फासिज्म अथवा डिक्टेटरशिप फैल जाता है। अतएव पहला आदर्श भगवान् ने इसे ही रखा था। क्या इससे अभी भी इनकार किया जा सकता है? शासन-सभाओ के बार-बार न होने से जो बुराई होती है, उसे हम यूरोप मे हाल मे ही देख चुके है।

दूसरा आदर्श है — **मिलकर काम करना, मिलकर उठना-बैठना, और मिलकर राष्ट्रीय-कर्त्तव्यो को करना।** यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अगर देश मे बहुत-सी पार्टियाँ हो, शासन-सभा की बैठक भी

बार-बार होती हो, और बहुत प्रतिनिधि उसमे भाग भी लेते हो, मगर मेल के बिना एकमत हुये बिना काम आगे नही बढता। फ्रास का इतिहास इसे स्पष्ट करता है, जहाँ की सरकार बराबर बदलती रहती है।

जनतन्त्रवाद का **तीसरा** मूलमन्त्र भगवान् ने रखा था — **बिना कानून बनाये कोई आज्ञा जारी न करना, बने हुये नियम का उच्छेद न करना, और अपने पुराने राष्ट्रीय-कानूनो का पालन करना।** महात्मा **बुद्ध** अवैधानिकता के विरोधी, और मध्यमार्ग के अनुयायी थे। सचमुच जल्द-जल्दी कानून बदलने से देश मे उच्छृखलता फैल जाती है, और अपने राष्ट्रीय-कानूनो के प्रति लोगो के हृदय मे उतनी आस्था नही रहती है।

वैशाली का **चौथा** आदर्श **वृद्ध-जनो का आदर-सत्कार करना, और उनकी सुनने लायक बातो को मानना था।** अपने लोकनेता के विरुद्ध जाने से देश का भविष्य अनिश्चित हो जाता है; दूसरे, अगर सभी नेता बन जाये, तो भी राष्ट्र का काम नही चलेगा। अतएव वृद्ध-बुजुर्गों की बात माननी चाहिये। मगर यहाँ बुद्ध ने वृद्धो या नेताओ को भी एक चेतावनी दे दी है। उनकी सुनने लायक (सोतब्ब) बातो को ही लोग मान सकते है — सभी बातो को नही। इसलिये नेता को भी सावधानी से अपने लोगो के बीच मार्गदर्शन का काम करना चाहिये।

पाँचवाँ आदर्श था — **स्त्रियो के सम्मान की रक्षा करना, कुलस्त्रियो या कुलकुमारियो पर अत्याचार और जबर्दस्ती न करना।** देश मे शान्ति और समृद्धि बनाये रखने के लिये यह नियम भी बहुत जरूरी है। नारी-जाति पर जब तक अत्याचार होते रहेगे, तब तक सुख-शान्ति आने की नही।

छठा आदर्श था — **धार्मिक-स्थानो का आदर-सत्कार करना।** खासकर जहाँ कई धर्मो के माननेवाले लोग है, वहाँ इस बात की बडी जरूरत हो जाती है। लिच्छवियो ने इस बात को महसूस किया था, क्योकि वैशाली कई धर्मों का केन्द्र बनती जा रही थी।

वैशाली का सातवाँ आदर्श था — **धार्मिक-पुरुषो को स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने देना, और राज्य मे उनकी रक्षा का बन्दोबस्त रखना।** वास्तव मे किसी भी उन्नत-राष्ट्र की यही कसौटी है, कि उसमे धार्मिक-पुरुष किसी प्रकार की हानि न पहुँचानेवाले जिज्ञासु-पुरुष बिना किसी कठिनाई के आ-जा सकते है, या नही, और वहाँ निर्भय होकर घूम सकते है, या नही। अगर इसप्रकार की सुविधा नही है, तो उस राष्ट्र को पूरे अर्थ मे सभ्य नही माना जा सकता।

महात्मा बुद्ध ने प्राचीन-वैशाली के जिन आदर्शों को बतलाया है, उनके अनुसार चलने की जरूरत अभी भी हमे है। ये आदर्श वस्तुत सब काल के लिये अनुकरणीय है। इनका पालन करके ही कोई राष्ट्र सच्चे-अर्थ मे प्रजातन्त्र का विकास कर सकता है। इसलिये प्राचीन-वैशाली के आदर्शों से प्रेरणा लेकर अपनी जन्मभूमि का नवनिर्माण करना हमारा परम-कर्त्तव्य है। ❖❖

प्राचीन शिलालेख में वीर-सवत्

'वीराय भगवते चतुरासीतिवसे काये जालामालिनिये रनिविठ माझमिके।"

— (रायबहादुर गौरीशकर ओझा, भारतीय लिपिमाला)

तथ्यों के आलोक में तीर्थंकर-महावीर

✍ श्रीमती रजना जैन

भगवान् महावीर स्वामी के जीवन को अनेको आचार्यों एव मनीषी-लेखको ने विविध-आयामो से अपने-अपने कृतित्व मे उत्कीर्णित किया है। उनका व्यापक-अध्ययन एव अनुसधानपूर्वक विदुषी-लेखिका ने अत्यन्त-सारगर्भित-रीति से इस आलेख मे भगवान् महावीर का तथ्यात्मक-परिचय प्रस्तुत किया है।

— सम्पादक

"ये वीरपादौ प्रणमन्ति नित्य, ध्याने स्थितास्सयम-योगयुक्ता.।
ते वीतशोका हि भवन्ति लोके, संसाराब्धि विषम तरन्ति॥"

आदिब्रह्मा प्रथम-तीर्थंकर ऋषभदेव-आदिनाथ के सर्वांगीण परिपूर्ण आदर्श-व्यक्तित्व से वर्तमान अवसर्पिणीकाल मे शाश्वत श्रमण-परम्परा का नवीन-सस्करण प्रवर्तित हुआ, भोगभूमि से कर्मभूमि का महत्त्व लोगो ने जाना। उनके मगलमय-जीवनदर्शन में श्रमणचर्या के 'श्रमवान्' एव 'समतावान्' — दोनो ही रूप प्रतिबिम्बित थे। उनके द्वारा प्रवर्तित श्रामण्य[1]-परम्परा के भासमान-प्रदीप मे समय-समय पर तेईस (23) तीर्थंकरो ने अपने स्निग्ध-योगदान के द्वारा इसकी मदतर होती ज्योति को पुनः पूर्णप्रभा के साथ प्रदीप्त किया, इसलिये इस वीतराग-जैनशासन के वे 'शासननायक' कहलाये। वर्तमानकाल मे जिनका जिनशासन प्रवर्तित है, वे है चौबीसवे तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, वे सम्प्रति-प्रवर्तित सम्पूर्ण-जैनसघ एव श्रमण-परम्परा के शासननायक है।

ये चौबीसो तीर्थंकर अहिसक-जीवनवृत्तिवाले उच्चकुलीन क्षत्रिय-राजवशो मे उत्पन्न हुये, एव उन्होने आत्मसाधना के द्वारा आत्महित करते हुये धर्मोपदेश द्वारा लोकहित करने का अनुपम-आदर्श उपस्थित किया। वे आत्मविद्या के विशारद[2] थे, जो कि क्षत्रियो के द्वारा अनुशासित[3] मानी गयी है। इनकी प्रशसा मे वैदिक-पुराणो मे स्तुतिगीत लिखे गये है। वैदिक 'पद्मपुराण' मे कहा गया है, कि "इस भारतवर्ष मे उच्च-श्रावककुलो मे उत्पन्न चतुर्विंशति-तीर्थंकरो ने केशलोंचपूर्वक प्रकृष्ट-तपःसाधना से आत्म-कल्याण किया, तथा निर्ग्रन्थ-दिगम्बर-मार्ग का प्रवर्तन/पुरस्करण किया।"[4] वैदिक-विचारधारा का यह एक उदात्तपक्ष है, कि उन्होने वैचारिक-मतभेद होते हुये भी जैनतीर्थकरो की उत्कृष्ट जीवनचर्या एव गुणवत्ता का सम्मान किया, तथा उनकी महिमा का भी बखान किया है। मनुस्मृतिकार ने तो यहाँ तक लिख दिया, कि "अडसठ (68) तीर्थों की यात्रा का जो प्रशस्त फल है, वह आदिनाथ (प्रथम-तीर्थंकर ऋषभदेव) के स्मरणमात्र से प्राप्त हो जाता है।"[5]

वेदो, पुराणो तथा 'महाभारत', 'श्रीमद्भागवत्' आदि ग्रन्थो मे अनेकत्र इन चौबीस तीर्थंकरो के नाम भी उल्लिखित मिले है, तथा वहाँ इनकी जीवनचर्या का यशोगान भी अनेक स्थानो पर किया गया है। बौद्धदर्शन के प्रसिद्ध **आचार्य धर्मकीर्ति** भी लिखते हैं –

"ऋषभो वर्धमानश्च तावादौ यस्य स ऋषभवर्धमानादिः दिगम्बराणा शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति।"

– *(न्यायबिन्दु, 3/131, पृष्ठ 126)*

अर्थ – **प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एव अँतिम तीर्थंकर** वर्द्धमान-पर्यंत **चौबीस तीर्थंकर** हुए, जो कि स्वय नग्न दिगम्बर **सर्वज्ञ** आप्तपुरुष थे।

यह जैन-**सस्कृति** एव परम्परा इतिहास के पृष्ठो से कही अतिप्राचीन है। विश्व की प्राचीनतम-सभ्यताओ मे से एक '**सिन्धु** घाटी की सभ्यता' मे प्राप्त पुरावशेषो के विस्तृत अध्ययन के उपरान्त अनेको विद्वानो ने यह **सत्यापित किया है कि यह सभ्यता जैन-तीर्थंकरो के उपासको की थी।** इसमे प्राप्त सीलो पर जो 'कायोत्सर्ग मुद्रा' मे **ध्यानस्थ** मूर्तियाँ मिली है, वे इस तथ्य की पुष्टि करती है। इसके अनुसार ईसापूर्व 2500 से 3000 मे **जैन-सस्कृति** का उल्लेखनीय प्रभाव सिद्ध हो जाता है। अन्य पुरातात्त्विक प्रमाणो से भी यह स्पष्ट हो जाता है **कि ईसापूर्व** काल मे भी जैन तीर्थकरो की मूर्तियो का निर्माण एव उनकी पूजा होती थी। प्रख्यात विद्वान् श्री **रायकृष्णदास** ने लिखा है कि "ईसापूर्व पॉचवी शताब्दी मे जैन मूर्तियाँ बनती थी।" इसीप्रकार **डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल** के अनुसार "कलिगाधिपति खारवेल के हाथीगुफा-शिलालेख से भी ज्ञात होता है कि **'कुमारी पर्वत' पर जिन-प्रतिमा का पूजन होता था।"**

इसी जैन-सस्कृति की सुदीर्घ परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान-महावीर थे, जिनके बारे मे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् प्रोफेसर **टी एन रामचन्द्रन्** लिखते है कि "महावीर ने एक ऐसी साधु-सस्था का निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण-अहिसा पर आधारित थी। उनका 'अहिसा परमो धर्म ' का सिद्धान्त सारे ससार मे अग्नि की तरह व्याप्त हो गया। बाद मे इसने आधुनिक भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गॉधी को अपनी ओर आकर्षित किया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नही है कि **अहिसा के सिद्धान्त पर ही महात्मा गॉधी ने नवीन भारत का निर्माण किया।"**

इसी महती तीर्थंकर-परम्परा की इस युग मे अन्तिम-कडी शासननायक प्रभु वर्द्धमान-महावीर का गर्भावतरण वैशाली-गणराज्य के प्रधान-राजा चेटक की ज्येष्ठ-पुत्री प्रियकारिणी त्रिशला, जो कि कुण्डग्राम के अधिपति राजा-सिद्धार्थ की सहधर्मिणी थी, की प्रशस्त-कुक्षि मे 599 ई पू मे आषाढ-शुक्ला 6, शुक्रवार, 17 जून को उत्तर-हस्त नक्षत्र मे हुआ था। गर्भावतरण के पहिले इनकी जन्मदायिनी माँ 'प्रियकारिणी त्रिशलादेवी' ने रात्रि के तीसरे प्रहर मे शुभ-सोलह-स्वप्न[6] देखे थे, जिनका स्वप्नशास्त्र के अनुसार फल जानकर निमित्तशास्त्रवेत्ता राजा-सिद्धार्थ[7] ने घोषणा की थी, कि "महान् बलशाली, तेजस्वी, अतिशय-ज्ञानी त्रिलोकपूज्य होनेवाले बालक का अवतरण हो चुका है।" चूँकि 'शुभ और अशुभ, जो घटनेवाला है, प्राय. स्वप्न उसकी सूचना दे देते है' — ऐसी भारतीय-मान्यता है[8], अत· इन स्वप्नो का ऐसा सुफल जानकर प्रियकारिणी त्रिशला के हर्ष का पारावार नही रहा। उस धर्मात्मा-युगल ने अपने आँगन मे साक्षात् त्रिलोकपति तीर्थंकर होनेवाले बालक के अवतरण होने का निश्चित शुभसकेत जानकर जिनेन्द्रपूजनोत्सव आदि का भव्य-आयोजन किया, तथा याचको को यथेष्ट उत्तम वस्तुये दान की। नानाप्रकार के मगल-आयोजनो के द्वारा नगरवासियो ने भी अपने हर्ष की अभिव्यक्ति की। सौधर्म-स्वर्ग के इन्द्र ने भी यह सब जानकर अत्यन्त प्रमोद एव भक्तिभाव से तीर्थंकर-बालक के गर्भकल्याणक की मागलिक-क्रियाये शची द्वारा सम्पन्न करायी, तथा छप्पन कुमारी-देवियो को माता (प्रियकारिणी त्रिशला) की सेवा मे नियुक्त कर दिया, जिन्होने अच्छी सेवा-सुश्रूषा एव विविध-मनोरजनो द्वारा माता को प्रसन्न रखा।

गर्भ के नौ मास, सात दिन एव बारह घटे[9] व्यतीत होने पर ई पू 598 की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, 27 मार्च, दिन सोमवार को 'उत्तराफाल्गुनी' नक्षत्र[10] मे 'अर्यमा'-योग मे एक सर्वांग-सुन्दर बालक को प्राची से उचित होनेवाले सूर्य की भाँति जन्म दिया। वैशाली-गणतन्त्र का कुण्डग्राम[11] तीर्थंकर-बालक की जन्मभूमि होने का सौभाग्य पाकर ऐसा पुलकित था, कि प्रतीत होता था सम्पूर्ण-स्वर्ग का वैभव वहाँ उतर आया हो। इन्द्र और शची ने तीर्थंकर-बालक के मता-पिता का अत्यन्त बहुमान किया, तथा शची ने नवजात-शिशु को लाकर सौधर्मेन्द्र को दिया। इन्द्र ने सहस्रलोचन बनकर बालक के उस अद्भुत-सौन्दर्य को पान करना चाहा, तथापि तृप्त न हो सका। फिर वह अन्य देवगणो के साथ तीर्थकर-बालक को ऐरावत-हाथी पर बैठाकर सुमेरु-पर्वत ले गया, जहाँ पाण्डुकवन-स्थित शुभ-शिला-आसन पर 1008 कलशो के द्वारा क्षीरसागर के जल से उसका दिव्य-अभिषेक किया गया। अभिषेक के उपरान्त उस सर्वांग-सुन्दर-बालक को शची ने दिव्य-वस्त्राभूषण[12] पहनाये, तथा प्रचुर प्रमोदोत्सव किया।

राजा-सिद्धार्थ के 'नन्द्यावर्त' राजप्रासाद पर फहरा रही ध्वजा पर 'सिह' का चिह्न अकित था, अत॰ अन्तिम-तीर्थंकर को 'सिह-लाँछन' निश्चित किया गया।[13]

बालक के जन्मक्षण से ही राजा-सिद्धार्थ मे वैभव, यश, प्रताप आदि गुणो की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होने लगी, तथा वह बालक भी दूज के चन्द्रमा के समान बढने लगा। यह सब देखकर राजा-सिद्धार्थ ने अपने दुलारे का नाम अत्यन्त-चाव से 'वर्द्धमान' रखा।[14] अनुपम-शरीर के धारी उस बालक के शरीर पर शख, चक्र, कमल आदि 1008 शुभ-चिह्न थे, तथा वह जन्म से ही अवधिज्ञान आदि तीन ज्ञानो (सुमतिज्ञान, सुश्रुतज्ञान एव सु-अवधिज्ञान) का धारक था। और क्षायिक-सम्यग्दर्शन तो उन्हे पूर्वभव से ही प्राप्त था।

इसके उपरान्त बालक वर्द्धमान अपने बालसखा-मित्रो चलधर, काकधर, और पक्षधर के साथ नानाविध खेल खेलते हुये स्वनामधन्य हो वृद्धिगत हुये। जब वे आठ वर्ष के हुये, तब उन्होने अहिसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत एव परिग्रहपरिमाणव्रत — इन पाँच अणुव्रतो की मर्यादा के अनुरूप विधिपूर्वक जीवन-आचरण प्रारम्भ कर दिया।[15]

युवा राजकुमार वर्द्धमान का चितन एव सभाषण उनके पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप था। 'वैशाली अभिनदन-ग्रथ' (पृ 113) पर मुद्रित यह सवाद मननीय है –

वर्द्धमान – "सेनापति सिह। आजकल तुम बहुत व्यस्त रहते हो।"

सिह – "हे निगण्ठनातपुत्त। मै कितना भी व्यस्त रहूँ, आपके उपदेश मुझे चिता से मुक्त करते रहेगे।"

वर्द्धमान – "सेनापति सिह। सुनो, मै नही, तुम्हारी आतरिक शक्ति ही तुम्हे मुक्त करेगी। जीव स्वावलम्बी और स्वतत्र है। वह अनन्त-चतुष्टय से परिपूर्ण है और अनत-सामर्थ्यवान् है। परतु वह अपनी इस अनत सामर्थ्य को स्वय ही नही पहिचानता है। जिस दिन पहिचान जाता है, उसी दिन से क्लेशमय बधनो से विमुक्त हो जाता है। इसे पहिचानो।"

कुमार वर्द्धमान का आत्मिक, बौद्धिक और शारीरिक-विकास अब नये आयाम प्रस्तुत करने लगा था।

आपके प्रशान्तचित्त-व्यक्तित्व के दर्शनमात्र स अनेको समस्याओ का समाधान हो जाता है। एक बार 'सजयत' और 'विजयत' नामक दो चारण-ऋद्धिधारी मुनिराज तत्त्वविषयक-शकाओ का समाधान करने हेतु इनकी ज्ञानगरिमा की ख्याति सुनकर इनके पास आये, किन्तु इनकी अतिसौम्य, प्रशान्त-मुखमुद्रा को देखनेमात्र से ही उनके समाधान उन्हे मिल गये। यह अद्भुत-प्रसग देखकर उन मुनियो ने इनका एक और नाम रखा — 'सन्मति'।[16] इसीप्रकार एक मदोन्मत्त-गजराज की विनाशकारी-प्रवृत्ति को देखकर उन्होने अपने अतुलबल एव तेज से उसका मद शात किया एव प्रजाजनो को अभय-प्रदान किया, तब प्रजाजनो ने पुलकित होकर अपने राजकुमार को 'वीर-वर्द्धमान' नाम से सादर सम्बोधित किया। एक दिन जब वे अपने साथियो के साथ वटवृक्ष पर क्रीडा कर रहे थे, तो 'सगम' नामक एक देव ने राजकुमार-वर्द्धमान की निर्भयता की परीक्षा लेने के लिये भयकर-विषधर का रूप धारणकर उन्हे डराना चाहा,[17] किन्तु उन्होने निश्चित-भाव से सहज ही उसे क्रीडामात्र से अपने मार्ग से दूर कर दिया, इस घटना के बाद सगमदेव ने उनकी स्तुति करते हुये उन्हे 'अतिवीर' सज्ञा से अभिहित किया। इसप्रकार सासारिक-घटनाओ के निमित्त बालतीर्थंकर के ये चार नामान्तर प्रसिद्ध हुये, किन्तु जब उन्होने महापुरुषो को भी उन्होने दुर्निवार-कामविकार को कुमारावस्था मे जीता,[18] तो वे 'महावीर' कहलाये।

राजकुमार वर्द्धमान के युवावस्था मे पादन्यास करते ही माता-पिता को उनके विवाह की चिन्ता हुई, तथा वे इस विषय मे प्रयत्नरत हुये। किन्तु कुमार-वर्द्धमान का मन ससार के बधनो मे फँसकर दुर्लभ-मनुष्यभव के बहुमूल्यक्षणो को गँवाना नही चाहता था। तब अपने पुत्र को उसी भव मे तीर्थंकर होनेवाला जानकर तथा उनके सयम एव दृढमनस्विता को लक्षितकर माता-पिता ने भी विवाह की चर्चा पर जोर नही दिया, और इसप्रकार वे 'बालब्रह्मचारी' रहे। वर्द्धमान-महावीर पाँच बालयति-तीर्थंकरों[19] मे परिगणित हुये।

एक दिन पूर्वभवो का स्मरण करने पर उन्होने जाना, कि 'मैने पहिले एक भव से सोलहवे-स्वर्ग मे इन्द्र के रूप मे बाईस-सागर आयुपर्यन्त दिव्य-भोगोपभोगो को भोगा है, किंतु ये भोग निस्सार ही रहे है।' — अत. उन्होने वैराग्य के पथ पर चलने का दृढ-सकल्प लिया, तब लौकान्तिक-देवो ने आकर उनकी स्तुति करते हुये उनके वैराग्य को प्राणिमात्र के लिये उपकारी बताया। कुमार-वर्द्धमान के दृढ-वैराग्य को जानकर पिता नृप-सिद्धार्थ ने याचको को किमिच्छिक-दान[20] दिया। माता के मन मे मोह ने जोर तो मारा, किन्तु पुत्र के अभ्युदय की कामना मे वह उनके मार्ग की बाधा नही बनी। कुमार-वर्द्धमान ने माता-पिता, परिजनो एव प्रियजना को आश्वासन देकर उनसे विदा ली।

तपोवन मे ले जाने के लिये देवगण 'चन्द्रप्रभा'[21] नामक दिव्य-पालकी लेकर आये, जिसमे कुमार-वर्द्धमान वैराग्यरस मे ओतप्रोत होकर द्वादश-अनुप्रेक्षाओ का चितन करते हुये आरूढ हुये। प्रश्न उपस्थित हुआ, कि पालकी को कौन उठाये? देवगण अथवा मनुष्य। नृप-सिद्धार्थ ने समाधान दिया, कि "यह सयम धारण करने का प्रसग है, और मनुष्य चूँकि सयम-धारण कर सकते है, अत पहिले पालकी मनुष्य उठायेगे।" तदनुसार ही उस पालकी को पहिले मनुष्यो ने उठाया, और फिर देवगणो ने उस पालकी को अपने कधो पर रखा एव आकाशमार्ग से उसे लेकर 'ज्ञातृखण्डवन' मे पहुँचे। उस वन मे एक स्वच्छ-शिला पर शची ने स्वस्तिक (卐) की रत्नचूर्ण से रचना की, और उस पर बैठकर कुमार-वर्द्धमान ने समस्त वस्त्राभूषण उतार दिये। मोह-ममता के

समस्त-चिह्नो को त्यागकर अन्तरग-बहिरग ग्रन्थियो को भेदकर निर्ग्रन्थ-दिगम्बर-दशा को आत्मसात् करते हुये **"णमो सिद्धाण"** कहकर पचमुष्टि-केशलोचपूर्वक दिगम्बर-जैन-साधुपद अगीकार किया, तथा सर्वसावद्य[22] का त्यागकर पद्मासन-मुद्रा मे आत्मध्यान (सामायिक) मे लीन हो गये। **"करेमि सामाइय सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खामि'8** — इस उच्चारण के साथ ही साथ उन्हे मन:पर्ययज्ञान की प्राप्ति हुई। इसप्रकार 569 ई पू. मे मगसिर कृष्णादशमी, सोमवार 29 दिसम्बर के दिन 'हस्त' तथा 'उत्तरा' नक्षत्रो के मध्यवर्ती-समय मे प्रभु का दीक्षा-महोत्सव सम्पन्न हुआ।

दिगम्बरी-साधुचर्या अत्यन्त-कठिन है, किन्तु जिनकी ससार, शरीर और भोगो से आसक्ति आत्यन्तिकरूप से टूट गयी हो, उनके लिये यह अत्यन्त-सहज ही है। श्रमण-महावीर समस्त-ऐहिक और भौतिक आसक्तियो से अत्यन्त-रहित थे, अत बाह्यरूप से अपार-उपसर्ग एव दु:सह-परिषहो के प्रसग बनने पर भी वे अडोल-अकम्प-अप्रभावित रहे। उनकी तप:साधना का ऐसा विशिष्ट-प्रभाव था, कि प्रकृत्या-विरोधी जीव भी उनके दर्शनमात्र से बैरभाव भूलकर शाँति एव सह-अस्तित्व की शिक्षा ग्रहण करते थे। विहार करते-करते एक बार श्रमण-महावीर कौशाम्बी-नगरी पहुँचे। वहाँ पर राजा-चेटक की सबसे छोटी-पुत्री चन्दना किसी दुष्ट के अत्याचार से पीडित हो अपने पूर्वकृत-कर्मों का फल भोगती हुई एक सेठ के भवन के तलघर मे बन्दी थी। प्रभु की जयध्वनि सुनकर उसके मन मे प्रभु को आहारदान कराने की प्रबल-भावना हुई। पुण्य के प्रताप से उसके समस्त बन्धन टूट गये एव वह कोदो का आहार लेकर श्रमण-महावीर की पडगाहना के लिये प्रस्तुत हुई। और नवधाभक्तिपूर्वक सती-चन्दना ने[23] प्रभु को आहारदान किया, यह देखकर देवो ने पचाश्चर्य प्रस्तुत किये। चन्दना के बाह्यबन्धन तो पुण्य के प्रताप से टूट ही गये थे, प्रभु को आहारदान देकर उसके मोह के बन्ध भी टूट गये, और वह वैराग्यपथ की पथिका बन गयी। इसीप्रकार आत्मसाधना करते हुये श्रमण-महावीर उज्जयिनी-नगरी के समीपस्थ 'अतिमुक्तक' नामक श्मशान को निर्जन-प्रदेश जानकर आत्मध्यान करने को ठहर गये, तब वहाँ रात्रि के समय 'स्थाणु' नामक एक रुद्र ने उन्हे विचलित करने के लिये घनघोर उपसर्ग किये;[24] किन्तु श्रमण-महावीर **"कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन, कि मदराद्रिशिखर चलित कदाचित्"** की साक्षात् प्रतिकृति बने रहे। अन्त मे वह रुद्र थक-हारकर चला गया।

ऐसी उत्कट-साधना करते-करते श्रमण-महावीर बिहार-प्रान्त मे 'जृम्भिका' नामक ग्राम के समीप 'ऋजुकूला'-नदी के तट पर आये। वहाँ उन्होने 'साल' वृक्ष के नीचे प्रतिमायोग धारणकर[25] क्षपकश्रेणी के द्वारा समस्त घातिया-कर्मों का क्षय करके तेरहवाँ गुणस्थान (अर्हन्त-अवस्था) प्राप्त किया, और केवलज्ञान प्राप्तकर प्रभु 'सयोग-केवली-जिन' बन गये। इसप्रकार श्रमणचर्या के बारह-वर्ष पाँच-मास पन्द्रह-दिवस[26] तक की तपश्चर्या के बाद उन्हे जीवनमुक्त 'सकल-परमात्मा' का पद प्राप्त हुआ। इस मगलकार्य की शुभघडी[27] थी 557 ई पू की बैसाख-शुक्ल दसमी, रविवार, 26 अप्रैल को उत्तरहस्ता-नाम के योग की मगलबेला। इन्द्र ने प्रभु के अरिहन्त बनने का समाचार जानकर अत्यन्त-प्रमोद व्यक्त किया, तथा कुबेर को तत्काल समवशरण (धर्मसभा) की रचना की आज्ञा दी। कुबेर ने तत्काल ऋजुकूला-नदी के तट पर समवशरण (धर्मसभा) की रचना की। देवगण, मनुष्य एव पशु-पक्षी प्रभु के धर्मोपदेश को सुनने उसमे एकत्रित हुये; किंतु प्रधान-श्रोता 'गणधर' के अभाव मे प्रभु का उपदेश (दिव्य-ध्वनि) नही हुआ। कुछ दिनो तक समवशरणसहित विहार करते-करते प्रभु

'राजगृही' के निकट 'विपुलाचल' पर्वत पर पहुँचे; वहाँ भी समवशरण-रचना हुई, किंतु दिव्यध्वनि नही खिरी। सौधर्मेन्द्र ने तब कारण जानकर निकटस्थ सर्वथायोग्य-व्यक्ति 'इन्द्रभूति-गौतम' नामक प्रकाण्ड-ब्राह्मण-विद्वान् के पास जाकर उनसे छद्मवेश मे जैनतत्त्वज्ञान-विषयक-शकाओ का समाधान पूछा। उन्हे जैनतत्त्वज्ञान का अता-पता नही था, किन्त अपने अज्ञान को छिपाने के लिये वे उनके (छद्मवेशधारी-इन्द्र के) गुरु से सीधा वाद-विवाद करने को उनके साथ पहुँचे। समवशरण मे मानस्तम्भ को दखते ही मान विगलित हो गया, तथा प्रभु की वीतरागमुद्रा के दर्शन से उन्हे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई, तथा वे चार-ज्ञानो (मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय) के धारी होकर तीर्थंकर-महावीर के प्रधानशिष्य 'गणधर' बने, और मेघगर्जना के समान गभीर-ऊँकारमयी-दिव्यध्वनि निःसृत हुई। इसप्रकार छियासठ दिनो के सुदीर्घ-मौन के बाद श्रावण-कृष्ण प्रतिपदा के दिन प्रथम-उपदेश हुआ। इस शुभ-दिन को चुतुर्विध-सघ ने 'वीरशासन उदय' के रूप मे मनाया।

चतुर्विध-सघ के साथ समवसरणसहित विहार करते हुये भव्य-जीवो के सौभाग्य एव प्रभु को तीर्थंकरत्व के दिव्य-वचनयोग से तीर्थंकर-महावीर का काशी काश्मीर, कुरु, मगध, कोसल, कामरूप, कच्छ, कुरुजागल, किष्किन्धा, मल्लदेश, पाचाल, केरल, भद्र, चेदि, दशार्ण, बग, अग, आन्ध्र, उशीनर, मलय, विदर्भ, गौड आदि देशो में[28] उनके द्वारा व्यापक-धर्मप्रभावना हुई। महावीर के सघ मे 11 गणधर, 700 केवली 500 मन पर्यय-ज्ञानी, 1300 अवधिज्ञानी, 900 विक्रिया ऋद्धिधारी, 400 अनुत्तरवरवादी, 36000 साध्वी-श्रमणाये, एक लाख तीन लाख श्राविकाये थी। इनके साथ तीर्थकर-महावीर ने 29 वर्ष, 5 माह एव 20 दिनो तक सम्पूर्ण वृहत्तर-भारतवर्ष मे व्यापक-धर्मप्रभावना की।

अन्त मे पावानगर के अनेक सरोवरो के मध्य 'पद्मसरोवर' की उन्नत-भूमि पर स्थित 'महामणि' शिलातल पर ठहर गये। वहाँ उन्होने छह-दिनो तक मौनरूप मे रहकर अन्तिम गुणस्थान 'अयोग केवलीजिन' प्राप्त किया, और पाँच ह्रस्व-स्वरो के उच्चारण-कालप्रमाण समय तक उसमे रहकर समस्त अघातिया-कर्मों को नष्ट कर विदेहमुक्त हो सिद्धपद प्राप्त किया। इसप्रकार 527 ई पू को कार्तिक मास की अमावस्या 15 अक्तूबर, मगलवार के दिन स्वाति-नक्षत्र के समय प्रभु ने मोक्ष/परिनिर्वाण प्राप्त किया, और वे ससार के आवागमन के चक्र से विमुक्त हो गये। प्रभु के निर्वाण का शुभप्रसग देवो एव मनुष्यो ने अति-उत्साहपूर्वक मनाया। मल्ल-गणराज्य के नायक-हस्तिपाल राजा एव अन्य 18 गणनायको के मध्यमे-पावा मे प्रभु का निर्वाणमहोत्सव भक्तिपूर्वक मनाया। सभी ने दीप-प्रज्जवलित करके यह महोत्सव मनाया था, अतः यह दिन 'दीपावली' के रूप मे प्रचलित हो गया।

जिससमय प्रभु-महावीर को परिनिर्वाण की प्राप्ति हुई, जैनकाल-गणना के अनुसार उस समय वर्तमान 'हुण्डावसर्पिणी' नामक चतुर्थ-काल मे तीन-वर्ष एव साढे आठ माह की अवधि शेष रह गयी थी। इसी दिन से 'वीरनिर्वाण-सवत्' का प्रवर्तन हुआ।

यह है अन्तिम शासननायक तीर्थंकर-वर्द्धमान-महावीर के सक्षिप्त-जीवनवृत्त का तथ्यपरक-प्रस्तुतीकरण। प्रभु महावीर के जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर इस देश की दिशा ही बदल गयी। आज हम जिस भारतवर्ष मे रह रहे है, इसके निर्माण मे तीर्थंकर महावीर का एव उनके सदेशो का अन्यतम-योगदान है। इसकी स्वीकारोक्ति करते हुये प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री टी एन रामचन्द्रन लिखते है — "**महावीर ने एक ऐसी साधु-सस्था का** निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण-अहिसा पर निर्धारित थी। उनका **'अहिसा परमोधर्मः'** का सिद्धान्त सारे

ससार मे 2500 वर्षों में अग्नि की तरह व्याप्त हो गया। अन्त मे इसने आधुनिक भारत के राष्ट्रपिता महात्मा-गाँधी को अपनी ओर आकर्षित किया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, कि अहिसा के सिद्धान्त पर ही महात्मा-गाँधी ने नवीन-भारत का निर्माण किया।"

आज के भारत-गणराज्य के सविधान के मुखपृष्ठ पर तीर्थंकर-महावीर का चित्र अंकित है, और उसके नीचे लिखा है, कि **'भगवान् महावीर के अहिसा सिद्धान्त के आधार पर ही इस देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है।'** आज हम शासननायक-महावीर के मगलमय-जीवन एव उनके उपदेशो से प्रेरणा ले, उन्हे अपने जीवन मे अपनाये, तो व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का एव विश्व-भर का कल्याण एव अभ्युदय सुनिश्चित है।

❖❖

संदर्भ-सूची

1 समतायुक्त मनवाला 'श्रमण' है, और श्रमण का भाव 'श्रामण्य' है। — *(भग आ , पृ 174)*

2 'श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदा ।।" — *(श्रीमद्भागवत)*

3 छान्दोग्योपनिषद, 5/3

4 "अस्मिन् वै भारतेवर्षे, जन्म वै श्रावके कुले। तपसा युक्तमात्मान, केशोत्पाटनपूर्वकम्।
तीर्थकराश्चतुर्विशत्तथा तैस्तु पुरस्कृतम्। छायाकृत फणीन्द्रेण ध्यानमात्रप्रदेशिकम्।।" — *(वैदिक पद्मपुराण 5/14/389-90)*

5 "अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्राया यत्फल भवेत्। श्रीआदिनाथदेवस्य स्मरणेनापि तद् भवेत।।"

6 "माता यस्य प्रभाते करिपतिवृषभौ सिहपौत च लक्ष्मीम्।
मालयुग्म शशाक रविशशी युगले पूर्णकुम्भौ तडागम्।।
पायोधि सिहपीठ सुरगणनिभृत व्योमयान मनोज्ञम्।
चन्द्राक्षीन्नागवास मणि-गण-शिखिनौ त जिन नौमि भक्त्या।।"

7 "सिद्धार्थ-नृपति-तनयो भारतवास्ये विदेह-कुण्डपुरे।
देव्या प्रियकारिण्या सुस्वप्नान्सप्रदर्श्य विभु ।।" — *(निर्वाणभक्ति, 4)*

8 "अच्छित्ता णवमासे अट्ठयदिवसे चइत्त सियपक्खे।" — *(जयधवला, भाग 1, पृ 18)*

9 (क) दृष्टे ग्रहैरथ निजोच्चगतै. समग्रैर्लग्ने यथा पतितकालमसूत राज्ञी।
चैत्रे जिन सिततृतीय-जया निशान्ते सोमान्हि चन्द्रमसि चोत्तरफाल्गुनिस्थे।। — *(असगकविकृत 'वर्द्धमानचरित', 17/58)*

(ख) चैत्रसितपक्षे फाल्गुनि शशाकयोगे दिने त्रयोदश्याम्।
जो स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने।। — *(निर्वाणभक्ति, 5)*

10 (क) "भूपति. मौल-माणिक्य सिद्धार्थो नाम भूपति.।
कुण्डग्रामपुरस्वामी तस्य पुत्रो जिनोऽवतु।।" — *(काव्यशिक्षा, 31)*

(ख) "अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
'विदेह' इति विख्यात स्वर्गखण्डसम. श्रिया।।
तत्राखण्डलनेत्राली पद्मिनीखण्डमण्डलम्।
सुखाभ कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुर पुरम्।।" — *(आ जिनसेन, हरि पु , 2/1-5)*

11 "धृत्वा शेखर-पट्टहारपदक ग्रैवेयकालवकम्। केयूरागदमध्वधुर-कटीसूत्र च मुद्रान्वितम्।
चचत्कुडलकर्णपूर.. पाणिद्वये ककणम्। मजीर कटक पदे जिनपते: श्री गधमुद्रांकितम्।।"

12 "सिहोऽर्हता ध्वजा·" — इति हेमचन्द्र.। "सिहो लाछनात्यर्हता" — *(प्रतिष्ठा 11/3)*

13 "तद्गर्भत· प्रतिदिन स्वकुलस्य लक्ष्मी। दृष्ट्वा मुदा विधुकलामिव वर्धमानान्।
सार्धं सुरैर्भगवतो दशमोह्नि तस्य। श्री 'वर्द्धमान' इति नाम चकार राजा।।" — *(वर्द्धमानचरित्र, 17/19)*

14 'स्वायुराद्याष्टवर्षेभ्य. सर्वेषा परतो भवेत्।
उदिताष्टकषायाणा तीर्थेशा देशसयम ।।" — *(आ गुणभद्र, उत्तरपुराण, 53/35)*

15 "तत्त्वार्थनिर्णयात् प्राप्य सन्मतित्व सुबोधवाक्।
पूज्यो देवागमाद् भूत्वात्राकलको बभूविथ।।" — *(उत्तरपुराण 74/2)*

16 (क) "वटवृक्षमथैकदा महान्त सह डिभैरधिरुहा वर्धमानम्।
रममाणमुदीक्ष्य सगमाख्यो विबुधस्त्रासुयित समासाद्।।" — *(वर्द्धमानचरित्र, 7/95)*

(ख) "सगमकनेवदेव ता गऽकेलुत्तुमिर्दु भयराहित्यम्।" — *(कवि आचण्ण, कन्नड वर्धमान पुराण 14/67)*

17 अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभट ।
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजित ।। — *(महावीराष्टकस्तोत्र, 6)*

18 (क) "वासुपूज्यो महावीरो मल्लि पार्श्वो यदुत्तम ।
'कुमार' निर्गता गेहात् पृथिवीपतयोऽपरे।।" — *(पद्मपुराण, 20/67)*

(ख) "णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिदतवो से जिणा रज्जचरिमम्मि।।" — *(तिलायेपण्णत्ति 4 60/72)*

(ग) "वीर अरिट्ठनेमि पास मल्लि च वासुपुज्ज च।
कुमारवासम्मि पव्वइया।।" — *(आवश्यक निर्युक्ति, पत्र 136)*

19 "दीक्षोन्मुखतीर्थकरो जनेभ्य । किमिच्छिक दानमहो। ददौ य ।।" — *(प्रतिक्रमणसूत्र, 10/1)*

20 "चन्द्रप्रभाख्य-शिविकामधिरुढो दृढव्रत ।
ऊढा परिवृढैर्नृणा ततो विद्याधराधिपै ।।" — *(उत्तरपुराण, 74/1299)*

21 "अवद्येन पापेन सह वर्तते — इति सावद्य ससारकारणम्।"

22 द्र , उत्तरपुराण, 75/60

23 "उज्जयिन्यामथान्येद्युस्त श्मशानेऽतिमुक्तके।।
वर्धमान महासत्त्व प्रतिमायोगधारिणम्।।" — *(उत्तरपुराण, 74/331)*

24 "ऋजुकूलास्तीर शालद्रमसंश्रित शिलापट्टे।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृंभिकाग्रामे।।" — *(निर्वाणभक्ति, 11)*

25 "गमइय छदुमत्थत्त बारसवासाणि पचमासे।
पण्णरसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो।।" — *(जयधवला, भाग 1, पृ 81)*

26 'वैशाखसितदशम्या हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चद्रे।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्न केवलज्ञानम्।।" — *(निर्वाणभक्ति, 12)*

27 विशेष द्रष्टव्य, प्रतिष्ठापाठ, 9/6

28 द्र निर्वाणभक्ति, 25

❖❖

वर्द्धमान महावीर : जीवन एवं दर्शन

✍ डॉ. प्रेमचन्द रावका

बालक वर्द्धमान से लेकर तीर्थंकर महावीर तक की यात्रा के संक्षिप्त, किंतु प्रभावी वृत्तान्त के साथ-साथ उनके दर्शन एव परम्परा का भी साकेतिक-विवरण इस आलेख मे दिया गया है। इससे संक्षिप्त-रुचिवाले जिज्ञासुओ के लिये महावीर का जीवन-दर्शन प्रभावीरूप से एकत्र प्राप्त हो सकता है। साधक-मनीषी डॉ. रावका सा. यह आलेख इसी दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत है। — **सम्पादक**

भारतवर्ष की आध्यात्मिक एव सास्कृतिक-परम्परा मे भाद्रपद के समान चैत्रमास का भी विशेष-महत्त्व है। इस मास के प्रारम्भ मे सर्वप्रथम चैत्रकृष्ण चतुर्थी को 23वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का ज्ञानकल्याणक, चैत्रकृष्ण नवमी को आद्य तीर्थंकर आदिनाथ का जन्म व तपकल्याणक, चैत्रशुक्ल प्रतिपदा को नवविक्रम-सम्वत् का प्रारम्भ और नवरात्र-अध्यात्म-साधना पर्व का प्रारम्भ चैत्रशुक्ल-नवमी को मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम का जन्मोत्सव, चैत्रशुक्ल-त्रयोदशी इस युग के अन्तिम-तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्मोत्सव पुनीत पर्व-तिथियाँ आदि प्राणीमात्र को सुख-शान्ति का सन्देश प्रदान करते है। तीर्थंकरो के कई कल्याणक भी इसी माह मे ही होते है। इसप्रकार न केवल राष्ट्र के, अपितु मानव के आध्यात्मिक एव सास्कृतिक-उन्नयन मे प्रारम्भ से ही श्रमण एव वैदिक-धाराओ का महान् योग रहा है। ये दोनो ही धाराये मानव के इहलोक के अभ्युदान और पारलौकिक नि श्रेयस् की आधार-शिलाये है।

आत्मोन्नयन के मार्ग मे जिसने श्रम अर्थात् सयम, तप, त्याग और ज्ञान-ध्यान पर बल दिया, वह 'श्रमणधारा' कहलायी। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव इस 'श्रमणधारा' के सूत्रधार थे। ऋषभदेव ने भोगमूलक-सस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक-सस्कृति की प्रतिष्ठा की। इन्ही के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ। दैववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद का पाठ ऋषभदेव ने ही पढाया। इन्ही ऋषभदेव की धर्मसभा मे दिव्यध्वनि सुनने देव, मनुष्य व तिर्यंच उपस्थित हुये। चक्रवर्ती सम्राट् भरत भी अपने पुत्र मरीचि के साथ दिव्य-देशनार्थ पहुँचे। भगवान् की देशना से प्रभावित हो मरीचि ने ससार से विमुख हो मुनि-दीक्षा ले ली; परन्तु परिषह की अशक्ति से उनका पुरुषार्थ जवाब दे गया और सरल-मार्ग अपना लिया। कुछ समय पश्चात् ऋषभदेव की पुन: धर्म-सभा लगी। चक्रवर्ती भरत भी पहुँचे। भरत ने जिज्ञासावश निवेदन किया — "भगवन्। क्या इस समय इस धर्मसभा मे कोई और भी ऐसी भव्य-आत्मा है, जो कालान्तर मे तीर्थंकर पद प्राप्त करेगी?" उत्तर मे अनन्तज्ञान के धनी त्रिकालदर्शी भगवान् ने सम्बोधित किया — "सामने प्रवेशद्वार पर जो साधु खडा है और भव्यजीवों को प्रेरित कर इस धर्मसभा मे भेज रहा है; वह तुम्हारा पुत्र मरीचि इस भरतक्षेत्र मे और इसी अवसर्पिणी काल का 'महावीर' नामवाला अन्तिम तीर्थंकर होगा। इससे पूर्व वह प्रथम-नारायण और चक्रवर्ती भी बनेगा।"

आत्मज के लिये यह सुनकर भरत बहुत आनन्दित हुये। वे हर्षातिरेक मे तुरन्त यह शुभ-समाचार देने साधु मरीचि के पास गये और गद्गद् उत्कण्ठ से बोले — "मरीचि। तुम धन्य हो, तुम धन्य हो। तुम इस

भरतक्षेत्र मे अन्तिम-तीर्थंकर बनोगे। यह शुभ-सदेश स्वय भगवान् ने दिया है।" सुनकर मरीचि खुशी के आवेग मे उन्मत्त हो उछल पडा और लगा झूम-झूम चिल्लाने — "मै प्रथम-नारायण, चक्रवर्ती और फिर अन्तिम-तीर्थंकर बनूँगा।" इससे मरीचि मे का मद/अहकार जाग उठा। साधुचर्या का कठिन-मार्ग तो वह पहले ही छोड चुका था। अब उसने परिव्राजक का वेष धारणकर भगवान् ऋषभदेव के समानान्तर स्वतत्र-मत स्थापित कर लिया। परिणामस्वरूप चारो गतियो मे जन्म-मरण करता हुआ तीर्थंकरत्व से दस-भव-पूर्व सिह बन मृग का वध करने जा रहा था कि दो ऋद्धिधारियो के उपदेश से उसे आत्मबोध हुआ। कालान्तर मे दो भव पूर्व नन्दमुनि की पर्याय मे तीर्थंकर-प्रकृति का बध किया।

अगले भव मे 16वे स्वर्ग मे देवगति से चयकर वैशाली-गणराज्य के क्षत्रिय-कुण्डग्राम मे महाराजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला की कोख से चैत्र शुक्ल 13 को जन्म लिया। उनके इस जन्म से सर्वत्र सुख-शान्ति हो गई। राजकीय वैभव मे पले अनेक चमत्कृत करनेवाली घटनाओ के बीच वे वर्द्धमान हुये। पर जल से कमलवत् भिन्न रहकर आत्मलीन रहते। 30 वर्ष की युवावस्था मे माता-पिता के विवाहादि आग्रह को अस्वीकार कर राज्य-वैभव के सुख को तृणवत् त्यागकर दिगम्बर-श्रमण हो गये और वैराग्य-पथ पर चल पडे। बारह वर्षो की अखण्ड मौन-साधना से पूर्व-कर्मो की निर्जरा कर कैवल्य को प्राप्त किया। वे अतीन्द्रिय-ज्ञान के धनी लोकालोक के ज्ञाता-द्रष्टा महावीरत्व को प्राप्त हुये।

दिव्यज्ञान होने पर भी, ज्ञान के योग्य सवाहक के अभाव मे 65 दिन तक महावीर की वाणी मुखरित नही हुई। इन्द्र ने इस रहस्य का समझा। अपने वाक्-चातुर्य से (त्रैकाल्य द्रव्यषट्क) से युक्तिपूर्वक स्वाभिमानी वैदिक विद्वान् इन्द्रभूति गौतम को धर्मसभा मे ले आये। उत्तुग मानस्तम्भ पर वर्द्धमान महावीर के सौम्य-वीतरागी व्यक्तित्व को देखते ही गौतम को आत्मानुभूति हुई। उनके क्षयोपशम के अह की निशा का अन्तिम-प्रहर समाप्त हो गया और वे महावीर के परमभक्त बन गये। विचारो की निर्मलता और परिणामो की शुद्धता से उन्हे मन पर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। गौतम जैसे योग्य शिष्य के उपस्थित होते ही महावीर का दिव्य-सन्देश ॐकारमयी भाषा मे प्रारम्भ हुआ, जिसे गौतम ने ग्रहण कर प्राणीमात्र की भाषा मे जन-जन तक पहुँचाया। यह क्रम 30 वर्ष तक चलता रहा। सवाद-सम्प्रेषण की इससे आदर्श तकनीक और क्या हो सकती है?

वीतरागी, सर्वज्ञ बनने के बाद महावीर 30 वर्ष तक मुक्ति अर्थात् परमसुख का मार्ग जगत् के जीवो को बताते रहे। अपनी दिव्य-देशना की त्रिरत्नो (रत्नत्रय) की त्रिवेणी मे जन-जन को आप्लावित किया। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' समस्त जीवो मे आत्मवत् दृष्टि रखनेवाले महावीर ने निरपेक्षभाव से समस्त लोक को अपनाया। उनके साम्यभाव मे आर्य-अनार्य साधु-साध्वी, देव-देवागनाये, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सब समानरूप से शरण पाते थे। सभी जीव परस्पर प्रेमानुभाव करते और समान आत्मा का अनुभव करते।

इसी मध्य गौतम के अनुज वायुभूति, जो महावीर के गणधरो मे एक थे, को मुक्ति मिली। इस घटना ने गौतम के मन को उद्वेलित कर दिया। उन्होने महावीर से प्रश्न किया — "मुझमे और क्या कमी है, जो मेरी मुक्ति मे बाधक है?" महावीर का उत्तर था — "तुम्हारे अतर्मन मे मेरे व्यक्तित्व के प्रति अतिसूक्ष्म राग विद्यमान है, राग तो आग है, जिसमे जगत् के जीव अनादिकाल से झुलस रहे है। राग का अश तो बुरा है। जब तक राग

की आग नही बुझती, तब तक वीतरागता कैसे प्रकट हो और मुक्ति कैसे मिले?" गौतम को उत्तर मिल गया, किन्तु उनका अन्तर्मन शान्त नही हुआ। उनके मन में मुक्त होने का तीव्र भाव जो विद्यमान था। महावीर ने कहा — "गौतम! व्यग्रता से काम नही चलता। प्रारब्ध को तो भोगना ही होगा।" गौतम ने सुना कि महावीर के निर्वाण के बाद, जब उनकी पार्थिव-देह विलुप्त हो जायेगी, गौतम के अतर्मन के राग के तन्तु टूटेंगे और हुआ भी यही कि अमावस्या को प्रात. महावीर को निर्वाण हुआ, तो सायकाल गौतम को कैवल्य की प्राप्ति हुई।

आचार मे अहिसा, विचारो मे अनेकान्त, वाणी मे स्याद्वाद और समाज मे अपरिग्रह — इन्ही चार मणिस्तम्भो पर महावीर का जीवनदर्शनरूपी सर्वोदयी-प्रासाद अवस्थित है। भगवान् महावीर ने अहिसा, स्याद्वाद, कर्मवाद, साम्यवाद (अपरिग्रह) की जिस पावनधारा मे तुमुल-वेग प्रवाहित किया, उसमे निमज्जित होकर मानव युग-युग तक स्थायी-शान्ति और अमरत्व को प्राप्त करता रहा है। अहिसा, अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह महावीर के जीवन-दर्शन की मुख्य रीढ है। आज हमारे परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मे मानव-मन मे जो तनाव, हिसा कलह, सघर्ष का ताण्डव-नृत्य हो रहा है, वह भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन को समझने और तदनुसार आचरण से समाप्त हो सकता है। इसीलिये आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के जीवन-दर्शन को समस्त प्रकार की आपदाओ का शमन करनेवाला 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है —

"सर्वापदामन्तकर समस्त सर्वोदय तीर्थमिद तवैव।"

महावीर के अनुसार किसी के प्राणो का वियोग करना ही हिसा नही, अपितु मन दु:खाना भी हिसा है। सकल्पी हिसा कभी वैध नही हो सकती है। जो अपने प्रतिकूल हो, उसे दूसरे के लिये भी न करो। द्रव्य और भावहिसा से तीव्र कषाये पैदा होती है। महावीर अपने समय मे धर्म के नाम पर होने वाली हिसा का विरोध किया। महावीर की अहिसा मे विरोधी-प्रकृति के जीव भी एक-स्थान पर विचरते थे।

महावीर ने एकान्तवाद का विरोध किया। उनके अनुसार वस्तु अनेकधर्मरूपा है, उनकी कथनशैली है 'स्याद्वाद'। 'स्याद्वाद' हमे समताभाव और सहिष्णुता देता है। आग्रह से मुक्ति मिलती है। विचारो मे विषमता समाप्त होती है। समता ही जीवन है।

महावीर ने **"बह्वारम्भपरिग्रहत्व नारकस्यायुष्य., अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य"** कहकर परिग्रह को पाप का पुज बताया। अनावश्यक-सग्रह सघर्षो की जननी है। सामाजिक विषमताओ का कारण परिग्रह है। अतएव त्याग और सयम पर बल दिया। महावीर का कर्मवाद प्राणीमात्र को पूर्ण स्वतत्रता देता है। प्रत्येक प्राणी अपने सुख-दु:ख, जीवन-मरण, उत्थान-पतन, शुभाशुभ कर्मों का कर्ता-भोक्ता स्वय है। क्रोधादि कषाये आत्म-प्रदेशों के साथ मिलकर आत्मस्वभाव को मलिन कर देती है। कर्मबन्धन से मुक्ति के लिये कषायो पर विजय पाना आवश्यक है। **'कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।"** महावीर का जीवनदर्शन पावन मन्दाकिनी सदश है, जिसमे अवगाहन और स्नान से तन और मन दोनो पवित्र हो जाते है। उनका दर्शन अहिसा, सयम और तप के उत्कृष्टरूप धर्म को धारण करता है, जिस धर्म को देवता भी प्रणाम करते है, वह धर्म उत्कृष्ट मगलस्वरूप है।

❖❖

भगवान् महावीर का बोधि-स्थान

✍ नवीनचन्द्र शास्त्री

भगवान् महावीर को किवलज्ञान की प्राप्ति ऋजुकूला-नदी के तट पर स्थित 'जृम्भिका' नामक ग्राम मे हुई बजायी जाती है। इस प्राचीन 'जृम्भिका ग्राम' एव 'ऋजुकूला नदी' की आजकल पहिचान क्या है, और ये किसरूप मे आज पाये जाते है — इस विषय का शोधपूर्ण-विवेचन विद्वान्-लेखक ने प्रस्तुत आलेख मे किया है।
— सम्पादक

कैवल्य-प्राप्ति का स्थान और समय

भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति **वैशाख शुक्ला दशमी** को 'मघा-नक्षत्र' के विजय-मुहूर्त मे षष्ठोपवास के अनन्तर 'ऋजुकूला' या 'ऋजुवालिका' नदी के वामतट पर 'जम्भृक' नामक गाँव के निकट शालवृक्ष के नीचे हुई थी। **यह स्थान 'सामग' नाम के किसान का खेत था, और इसके उत्तर-पूर्व की ओर एक मन्दिर था।**[1] 'तिलोयपण्णत्ति' मे बताया गया है —

वइसाह सुक्क दहमी हत्ते रिक्खम्मि वीरणाहस्स।
रिजुकूल-णदीतीरे अवरगहे केवल णाण।।
— *(अ 4, गा 700)*

अत यह निश्चित है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर — दोनो सम्प्रदायो के आगम-ग्रथो के अनुसार भगवान् महावीर की केवलज्ञान की प्राप्ति 'ऋजुकूला नदी' के किनारे 'जृम्भिक' या 'जृम्भक' गाँव के किसी खेत मे सालवृक्ष के नीचे हुई थी। इस जृम्भक या जृम्भिक गाँव के सम्बन्ध मे विद्वानो मे अनेक मतभेद है।

विभिन्न मान्यताये

श्री बाबू कामताप्रसाद जी ने 'झरिया' को 'जम्भृक गाँव' माना है। आपका कहना है, कि प्राचीन लाट देश का विजयभूमि प्रान्त वर्तमान बिहार के अन्तर्गत 'छोटानागपुर' डिवीजन के 'मानभूमि' और 'सिहभूमि' मे है। स्व. नन्दलाल डे ने भी झरिया को ही 'जृम्भक गाँव' माना है। यहाँ की 'बराकर नदी' ही प्राचीन ऋजुकूला है। इस कथन मे एक ही बात विचारणीय है। वह है भगवान् की केवलज्ञान-प्राप्ति 'वज्रभूम' मे होना। वर्तमान झरिया मे कोयला निकालते समय यहाँ की पृथ्वी से प्रथम बार पत्थर निकलता है, अत. यह भूमि यथार्थ मे वज्रभूमि है। आगम-साहित्य मे भौगोलिक निर्देशानुसार इस गाँव को 'वजऔरमि' मे होना चाहिये। अत. इस स्थान पर भी ऊहापोह होना आवश्यक है।

श्वेताम्बर आगम-साहित्य मे जृम्भिक गाँव की स्थिति 'लाटदेश' मे मानी गई है। मुनि कल्याण विजय जी इस गाँव की स्थिति का निर्णय करते हुये लिखते है, कि 'जृम्भिक गाँव की स्थिति पर विद्वानो का मतैक्य नही है, कवि-परम्परा के अनुसार सम्मेदशिखर से बारह-कोस पर 'दामोदर नदी' के पास जो 'जभी गाँव' है,

वह प्राचीन जृम्भिक गाँव है। कोई सम्मेदशिखर के दक्षिण-पूर्व मे लगभग 50 मील पर आसी नदी के पासवाले 'जमगाम' को प्राचीन 'जृम्भिक गाँव' बताते हैं। हमारी मान्यतानुसार जृम्भिक गाँव की स्थिति इन दोनो स्थानो से भिन्न स्थान मे होनी चाहिये, क्योंकि भगवान् के विहारवर्णन से अवगत होता है, कि 'जृम्भिक गाँव' चम्पा के निकट ही कही होना चाहिये।'[2]

डॉ स्टीन सा. ने पजाब प्रान्त के रावलपिण्डी जिले में 'कोटरा' नामक ग्राम के निकट 'मूर्ति' नामक पहाडी या प्राचीन जीर्ण-मन्दिर को देखकर लिखा है, कि 'भगवान् महावीर ने यहीं पर केवलज्ञान प्राप्त किया था।'

मौलिक विरोध

श्री बाबू. कामताप्रसाद द्वारा अनुमानित स्थान 'झरिया' प्राचीन जृम्भिक या जृम्भक ग्राम नही है। इस स्थान को ऋजुकूला नदी के किनारे होना चाहिये। बराकर नदी ऋजुकूला का अपभ्रश नाम नही हो सकती; और न झरिया में कोई भी ऐसा प्राचीन-चिह्न ही उपलब्ध है, जिससे इसे भगवान् का कैवल्य-स्थान माना जा सके। श्री बाबू कामताप्रसाद को भी इस स्थान के विषय मे सन्देह है। उनका यह केवल अनुमान-मात्र है।

श्री मुनि कल्याण विजय जी को तो स्वय ही इस स्थान की अवस्थिति के विषय मे सन्देह है। पर इतना उन्हे निश्चय है कि यह चम्पा के आस-पास कही है।

डॉ स्टीन सा की मान्यता तो बिल्कुल ही निराधार है। कारण कि भगवान् को केवलज्ञान मगध के अन्तर्गत हुआ था। उनको बोधि की प्राप्ति नदी के किनारे हुई थी; पर्वत के ऊपर नही। अत: उक्त मत बिल्कुल भ्रामक है।

जृम्भिक गाँव की स्थिति

वर्तमान बिहार के भूगोल का अध्ययन करने तथा बिहार के कतिपय-स्थानो पर पर्यटन करने पर अवगत होता है, कि भगवान् का कैवल्य-प्राप्ति का स्थान वर्तमान मुगेर से 50 मील दक्षिण की दूरी पर स्थित 'जमुई' गाँव है। यह स्थान वर्तमान कियूल नदी के किनारे पर है। यही नदी ऋजुकूला अर्थात् 'ऋष्यकूला' का अपभ्रश है। कियूल स्टेशन से जमुई गाँव 18-19 मील की दूरी पर अवस्थित है। जमुई से 4 मील उत्तर की ओर 'क्षत्रियकुण्ड' और 'काकली' नामक स्थान है। इन स्थानो की प्राचीनता आज भी प्रसिद्ध है। जमुई के तीन मील दक्षिण मे 'एनमेगढ' नामक एक प्राचीन टीला है। कनिघम ने इसे इन्द्रद्युम्नपाल का माना है। यहाँ पर खुदाई मे मिट्टी की अनेक मुद्राये प्राप्त हुई हैं। वर्षाकाल मे अधिक पानी बरसने पर यहाँ अपने आप ही अनेक मनोज्ञ मूर्त्तियाँ निकली है। लेखक ने भी खण्डित पार्श्वनाथ और श्री आदिनाथ की मूर्त्तियो के दर्शन किये है।

'जमुई' और 'लिच्छवाड' के बीच मे 'महादेव सिमरिया गाँव' है। यहाँ सरोवर के मध्य एक 300-400 वर्ष पुराना मन्दिर है। इस मन्दिर मे कुछ प्राचीन जैन-प्रतिमाये भी हैं। जमुई से 15-16 मील पर 'लक्खीसराय' है। यहाँ एक बडी पर्वत-श्रेणी है, जिससे प्रतिवर्ष अनेक जैन और बौद्ध-प्रतिमाये उतरती है। जमुई और राजगृह के बीच 'सिकन्दरा गाँव' है, तथा सिकन्दरा और लक्खीसराय के मध्य मे एक आम्रवन है। कहा जाता है कि इसी आम्रवन मे भगवान् महावीर ने तपश्चरण किया था। आज भी यहाँ के निकटवर्ती लोग इस वन को पावन

मानकर इसके वृक्षो की पूजा करते है।

'जमुई गाँव' की भौगोलिक-स्थिति से यह स्पष्ट है कि यह ऋजुकूला, जिसका सस्कृत मे 'ऋष्यकूला' नाम था, वर्तमान अपभ्रश 'कियूल नदी' ही है, और इसका तटवर्ती वर्तमान जमुई गाँव ही 'जृम्भिक ग्राम' है। मेरे इस कथन की पुष्टि जमुई गाँव के आस-पास भ्रमण करने, वहाँ प्रचलित किवदन्तियो के सकलन करने तथा उपलब्ध पुरातत्त्व के दर्शन करने से स्पष्ट हो जाती है। जमुई के दक्षिण मे लगभग 4-6 मील की दूरी पर एक 'केवल' नामक ग्राम है, जो भगवान् महावीर की केवलज्ञान की स्मृति को बनाये रखने के लिये ही प्रसिद्ध हुआ होगा। इस गाँव के समीप बरसाती 'अजन नदी' बहती है, जिसके किनारे पर बालू अधिक पायी जाती है। सिकन्दराबाद तथा केवली-निवासियो से बाते करने पर वे कहते है कि "यही केवली भगवान् महावीर का केवलज्ञान-स्थान है", तथा वे अजन नदी को 'ऋजुपालिया' या 'ऋजुबालिका' बतलाते है। इस केवली गाँव निवासियो मे कुछ ऐसी धारणाये भी विद्यमान है, जिनसे उनका भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धा तथा भक्तिभाव प्रकट होता है। वैशाख खुक्ला दशमी, जो कि भगवान् महावीर की केवल्यप्राप्ति की तिथि है, इस दिन सामहिक-रूप से उत्सव भी मनाया जाता है। यह प्रथा आज भी अवशेष है। सिकन्दराबाद के निवासी श्री भगवान् दास केसरी ने इस स्थान से अनके पुरातत्त्वावशेषो का सकलन किया है, तथा उनके पास ऐसी अनेक किवदन्तियो का सग्रह भी है, जिनसे जमुई का निकटवर्ती प्रदेश भगवान् महावीर का बोधिप्राप्ति स्थान सिद्ध होता है।

जमुई से राजगिरि लगभग 30 मील की दूरी पर है, जबकि झरिया से 100, 125 मील से कम नही है। यह निश्चित है कि भगवान् महावीर का बोधिस्थान मगध मे, और साथ ही राजगिरि है। यह पहाडी स्थान भी है। जमीन पथरीली और ऊबड-खाबड है। जैन और बौद्ध — दोनो ही का पुरातत्त्व यहाँ उपलब्ध है। आदि खुदाई की जाये, तो निश्चित ही यहाँ से अमूल्य-वस्तुये प्राप्त हो सकती है। अत. वर्तमान जमुई गाँव का निकटवर्ती वह प्रदेश जहाँ आजकल 'केवली ग्राम' बसा है, वही भगवान् का बोधि-स्थान है। ❖❖

सदर्भ-सूची

1 आचाराग-सूत्र जैनसुत्रान्तर्गत, 1 भाग, पृष्ठ 20/57

2 श्रमण भगवान् महावीर, पृष्ठ 370

❖❖

जैन-शासन का ध्वज-गीत

आदि-वृषभ के पुत्र भरत का, भारत-देश महान्।
वृषभदेव से महावीर तक, करे सुमगल-गान।।
पाँच रग पाँचो परमेष्ठी, युग को दे आशीष।
विश्व-शांति के लिये झुकावे, पावन-ध्वज को शीश।।
'जिन' की ध्वनि 'जैन' की सस्कृति, जग-जन को वरदान।
भरत का भारत-देश महान्।।

❖❖

भगवान् महावीर

✍ (स्व.) प. बलभद्र जैन

प्रत्येक विद्वान्-लेखक की भाषा-शैली की मौलिकता तो रहती ही है, विषय-चयन मे भी उनकी विशिष्ट-अभिरुचि का प्रभाव परिलक्षित रहता है। इसी दृष्टि से भगवान् महावीर के जीवन एव व्यक्तित्व को रेखांकित करनेवाले अन्य लेखो के अध्ययन के बाद पाठकवृन्द इस आलेख मे एक नयी ताजगी एव भावबोध का अनुभव करेगे। अनेको बिन्दुओं पर इसमे नयी जानकारी एव दिशाबोध भी समाहित है।

— **सम्पादक**

महावीर की जन्म नगरी 'वैशाली'

वैशाली गणराज्य था, इसे 'वज्जिसघ' अथवा 'लिच्छवी गणसघ' कहा जाता था। इस सघ मे विदेह का वज्जिसघ और वैशाली का लिच्छवीसघ सम्मिलित था। दोनों की पारस्परिक सन्धि के कारण विदेह के गणप्रमुख चेटक को इस सघ का गणप्रमुख चुना गया और इस सघ की राजधानी 'वैशाली' बनी। इस सघ मे आठ कुलो के नौ गण भागीदार थे। ये सभी लिच्छवी थे और इनमे ज्ञातृवशी प्रमुख थे। इन आठ कुलो के नाम ये थे — भोगवशी, इक्ष्वाकुवशी, ज्ञातृवशी, कौरववशी, लिच्छवीवशी, उग्रवशी, विदेहकुल और वज्जिकुल (वृज कुल)। लिच्छवी होने के कारण ही ये अष्टकुल परस्पर सगठित रहे। इस सघ मे शासन का अधिकार इन अष्टकुलो को प्राप्त था। शेष नागरिको को शासन मे भाग लेने का अधिकार नही था। लिच्छवीगण ही अपने सदस्यो को चुनता था। चुने हुए प्रत्येक सदस्य को राजा कहा जाता था। ऐसे राजाओ की कुल सख्या 7707 थी। जब नवीन राजा का चुनाव होता था, उस समय उस राजा का अभिषेक एक पुष्करिणी मे समारोहपूर्वक किया जाता था, जिसे 'अभिषेक' या 'मगल पुष्करिणी' कहते थे। इसमे लिच्छवियो के अतिरिक्त अन्य किसी को स्नान मज्जन करने का अधिकार नही था। इसके ऊपर लोहे की जाली रहती थी और सशस्त्र प्रहरी पहरा देते थे।

वैशाली के तीन भाग थे — वैशाली, कुण्डग्राम और वाणिज्यग्राम। ये क्रमश दक्षिणपूर्व, उत्तरपूर्व या पश्चिम मे स्थित थे। कुण्डग्राम या कुण्डपुर के दो भाग थे — क्षत्रिय-कुण्डपुर-सन्निवेश, ब्राह्मण-कुण्डपुर-सन्निवेश। पहले मे प्राय ज्ञातृवशी क्षत्रिय और दूसरे मे ब्राह्मण रहते थे। वाणिज्य-ग्राम मे प्राय बनिये रहते थे।

लिच्छवी-सघ मे सभी निर्णय सर्वसम्मत होते थे। यदि कभी मतभेद होता था, तो उसका निर्णय छन्द (वोट) द्वारा होता था। वज्जि-सघ के निकट ही मल्ल-गणसघ और काशी-कोल- गणसघ थे।

वज्जिसध के साथ इन दोनो गणसघो की संधि थी। किसी सघ पर आक्रमण होने पर तीनो सघो की सन्निपात-भेरी की सम्मिलित बैठक होती थी। उसमें महासेनापति का निर्वाचन होता था, जो अपनी युद्ध-उद्वाहिका चुनता था।

वैशाली का वैभव अपार था। उसमे 7777 प्रासाद, 7777 कूटागार, 7777 आराम और 7777 पुष्करिणियाँ थी। उसमे 7000 सोने के कलशवाले, 14000 चाँदी के कलशवाले और 21000 ताँबे के कलशवाले महल थे।

वैशाली के लिच्छवी स्वातन्त्र्यप्रिय और मौजी स्वभाव के थे। उनमे परस्पर मे बडा प्रेम था। यदि कोई लिच्छवी बीमार पड जाता था, तो अन्य सभी लिच्छवी उसे देखने आते थे। उत्सव और रगीन वस्त्र पहनने का उन्हे बडा शौक था। एक बार महात्मा बुद्ध ने आनन्द से कहा था — "आनद! जिन्होने त्रायस्त्रिंश स्वर्ग के देव नही देखे है, वे वैशाली के इन लिच्छिवियो को देख ले।"

भगवान् का नामकरण

जब भगवान् का जन्म हुआ, तबसे माता-पिता के श्री, विभूति, प्रभाव, धन-धान्य और समृद्धि आदि सभी में वृद्धि होने लगी थी; इसीलिए उन्होने बालक का नाम 'वर्धमान' रखा। एक दिन बाल भगवान् रत्नजडित पालने मे झूल रहे थे, तभी वहाँ 'सजयत' और 'विजयत' नामक दो चारण-ऋद्धिधारी मुनि पधारे। उन्हे सिद्धान्त-सम्बन्धी कुछ शका थी। बाल भगवान् को देखते ही उनका सन्देह दूर हो गया। तब उन्होने भक्तिवश बालक का नाम 'सन्मति' रखा। एक दिन बाल-भगवान् अपने बाल-सखाओ के साथ प्रमाद-वन मे आमली-क्रीडा का खेल, खेल रहे थे। यह खेल देहातो मे अब भी खेला जाता है। इनमे एक वृक्ष को केन्द्र बनाकर एक निश्चित-स्थान से सब बालक वृक्ष की ओर दौडते है। जो बालक सबसे पहले वृक्ष पर चढकर नीचे उतर आता है, वह शेष बालको के कन्धे पर क्रम से चढकर मैदान का चक्कर लगाता है। 'सगम' नामक एक देव भयानक नाग का रूप धारण करके वर्धमान कुमार के बल-विक्रम की परीक्षा लेने वहाँ आ पहुँचा। उस नाग ने वृक्ष के मूल से स्कन्ध तक सारे भाग पर लिपटकर अपने घेरे मे ले लिया और फण फैलाकर फुँकार मारने लगा। सारे बालक भयभीत होकर भाग गये, किन्तु वर्धमान के मन मे आतक या भय नाममात्र को भी नही था। वे निर्भय होकर सर्प-फन पर खडे होकर क्रीडा करने लगे। देव ने अपनी पराजय स्वीकार ली। पराजित होकर देव ने अजमुख-मानव का रूप धारण करके एक कन्धे पर वर्धमान कुमार को और दूसरे कन्धे पर उनके एक सखा पक्षधर को बैठा लिया तथा दूसरे बालसखा की अँगुली पकडकर उन्हे घर तक पहुँचा दिया। उसने भक्तिपूर्वक वर्धमान कुमार की स्तुति करते हुए कहा — "भगवान्! आपका बल-विक्रम अतुलनीय है। आप ससार मे अजेय है। वास्तव मे आप महावीर है।" तब से भगवान् का महावीर नाम ससार मे प्रसिद्ध हो गया।

अजमुख देव का नाम पुरातत्त्ववेत्ता हरिनैगमेश बताते है। हरिनैगमेश द्वारा वर्धमान कुमार और उनके एक सखा पक्षधर को कन्धे पर बैठाने और दूसरे सखा काकधर की उगली पकडने का दृश्य कुषाणकालीन एक शिला-फलक पर अकित है, जो मथुरा-म्जूजियम मे सुरक्षित है।

इसीप्रकार की घटनाओ के कारण उन्हे लोग 'वीर' और 'अतिवीर' के नाम से पुकारने लगे। इसप्रकार ससार मे उनके पाँच नाम प्रचलित हो गये।

ससार से वैराग्य और दीक्षा

यो ही उनका शैशव बीता और यौवन आया। यौवन आया, किन्तु यौवन की रगीनियाँ नही आई, यौवन की मादकता नही आई। वे राजपुत्र थे। राजसी वैभव और गणतत्र की सत्ता उनकी प्रतीक्षा मे खडे-खडे कुम्हला रही थी। उनके सारे कर्म निष्काम थे। वे चिन्तनशील अनासक्त-योगी थे। तीर्थंकर ससार के जीवो को कल्याण की शिक्षा देने के लिए ही उत्पन्न होते है। वे 'जगद्गुरु' कहलाते है। उन्हे कोई अक्षरज्ञान दे सके, ऐसा कोई

गुरु नही होता। सारा ससार और उसका स्वभाव ही उनकी पुस्तक होता है। उस पर ही वे निरन्तर गहन-चिन्तन करते हैं और उसका सारतत्त्व निकालकर अमृतत्व की ओर बढते रहते हैं।

जब उनका आत्म-चिन्तन अपने अंतिम-बिन्दु (Climax) पर पहुँचा, तो उन्होने ससार से विरक्त होकर दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया। वे किसी अधेरी रात मे किसी से कहे सुने बिना चुपचाप जगल की ओर नही चल दिये, बल्कि उन्होने अपने माता-पिता और परिजनो को अपने निर्णय की सूचना दी, उनसे अनुमति ली और परिजनों के साथ 'ज्ञातृखण्ड वन' मे जाकर, जो क्षत्रियकुण्डपुर के पूर्वोत्तर-भाग मे ज्ञातृवशी-क्षत्रियो का उद्यान था, नग्न दिगम्बर-मुद्रा धारण करके अन्य तीर्थंकरो के समान प्रव्रज्या ले ली और आत्मध्यान मे अवस्थित हो गये।

महावीर की साधना

वे कभी इन्द्रियो के निर्देश पर नही चले, मन की वासना के वश मे कभी नही हो पाये। इन्द्रियो और मन का उन्होने कठोरता से नियमन किया। एक बार तो वे अनार्य लोगो के लाढ-देश मे जा पहुँचे। अनार्यों ने उनके साथ बडा अभद्र व्यवहार किया। तपस्या से दीप्त उनके बलिष्ठ और सुन्दर शरीर पर मुग्ध होकर अनेक ललनाये उनसे काम-याचना करती, अपना प्रणय-निवेदन करती। कई लोग उन्हे पत्थर मारते और कई अर्घ्य लेकर उनकी पूजा करते, किन्तु वे दोनो के प्रति समदृष्टि थे। उन्हे न राग था, न द्वेष। उज्जयिनी मे उनके ऊपर श्मशान मे 'स्थाणु' नामक 'रुद्र' ने घोर उपसर्ग किया, किंतु वे अविचल बने रहे।

वे बारह वर्ष तक नितान्त मौन रहे, किन्तु उनके इस मौन मे ही सत्य का भण्डार भरा पडा था, उससे ही लोक के मानवो मे व्याप्त असत्य के प्रति आग्रह और अविवेकपूर्ण मूढता के प्रति व्यामोह दूर होने लगा था। उनके आक्रोशहीन-मौन और क्षमाशील-वृत्ति का जनसाधारण पर गहरा-प्रभाव पडा था।

चन्दनबाला का उत्तर

उस काल मे भारत मे दास-प्रथा का प्रचलन था। इधर-उधर से अपहृत सुन्दर-स्त्रियाँ चौराहो पर खडी करके बेची जाती थी। सुदूर यवन-देशो मे सुन्दरी यवनियाँ पोतो मे भरकर 'भरुकच्छ' बन्दरगाह पर लाई जाती और यहाँ से वे श्रावस्ती, कौशाम्बी, वत्स, अवन्तिका आदि के बाजारो मे बेच दी जाती। इसीप्रकार दासो का क्रय-विक्रय होता था। राजा और सम्पन्न-परिवार इन्हे खरीद लेते। स्त्रियाँ वासनापूर्ति का साधन बनती, उनसे और दासो से पशुओ के समान व्यवहार किया जाता था। यज्ञो मे ये दास-दासियाँ ऋषियो को भेटस्वरूप दी जाती थी।

वैशाली के महाराज चेटक की सबसे छोटी पुत्री चन्दनबाला एक दिन अपने उद्यान मे सखियो के साथ झूल रही थी। एक विद्याधर की उस पर दृष्टि पडी और वह बलपूर्वक उसे अपने विमान मे ले उडा। इसके बाद वह कई हाथो मे बिकी, किन्तु उसका शील अक्षुण्ण रहा। किसी को उसे धर्मच्युत करने का साहस नही हुआ। अन्त मे वह कौशाम्बी के बाजार मे बिकने के लिए लाई गई। तभी धर्मपरायण सेठ वृषभदत्त जिनालय से दर्शन-पूजन करके निकले। उनकी दृष्टि चन्दना पर पडी। देखते ही वे समझ गये कि यह कन्या किसी उच्च और सम्भ्रान्त-परिवार की है। दुर्दैव से यह इन नर-पिशाचो के हाथो मे पड गई है। यह सोचकर करुणावश उन्होने व्यापारी से उसे खरीद लिया और अपने घर ले आये। घर आकर उन्होने अपनी पत्नी सुभद्रा से कहा "दुर्भाग्यवश हमारे कोई सतान नही थी, किंतु भाग्य ने हमे यह सुलक्षणा-कन्या दे दी है। हम इसे बेटी मानकर

रखेंगे। तुम इसका पूरा ध्यान रखना।"

श्रेष्ठी चन्दना से पुत्रीवत् व्यवहार करते और उसकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखते, किन्तु सदेहशीला सेठानी को श्रेष्ठी का यह व्यवहार कपट-व्यवहार लगता। उसे लगता कि श्रेष्ठी ने एक सँपोली मेरे सिर पर लाकर बैठा दी है, अतः वह चन्दना से मन ही मन कुढती रहती थी। तभी व्यापारिक-कार्यवश श्रेष्ठी को परदेश जाना पड़ा, कितु वे चलते-चलते भी सेठानी से अपनी धर्मपुत्री का ध्यान रखने को कह गये। श्रेष्ठी के जाते ही सेठानी ने अपनी सौतिया-डाह निकालना चालू कर दिया। उसने कैंची से चन्दना के केश काट दिये, जिससे वह विरूप हो जाये, लोहे की साकल से उसके हाथ-पैर बाँध दिए, और तलघर के अधेरे-प्रकोष्ठ मे उसे डलवा दिया। खाने के लिए मिट्टी के सकोरे मे काँजी-मिश्रित कोदो का भात दे दिया।

तभी भगवान् महावीर 'वत्स देश' की राजधानी 'कौशाम्बी' मे आहार के निमित्त पधारे। वे श्रेष्ठी के द्वार के सामने से निकले। भगवान् को चर्या के निमित्त आते देखकर चन्दना का रोम-रोम हर्ष और भक्ति से खिल उठा। वह भूल गई अपनी दुर्दशा, वह भूल गई कि वह त्रिलोकवन्द्य भगवान् के उपयुक्त-आहार नही दे सकेगी। वह तो अपने सात्त्विक-हृदय की भक्ति का अर्घ्य भगवान् के चरणो मे चढाने को आतुर हो उठी। हर्ष के अश्रु उसके नेत्रो से प्रवाहित होने लगे। वह भगवान् का प्रतिग्रह करने के लिए अभी मिले हुए मिट्टी के सकोरे मे कोदो का भात लिए आगे बढी। पुण्य के प्रभाव से उसके बधन टूट गये, सिर पर रेशमी बाल आ गये, मिट्टी का सकोरा स्वर्णपात्र और कोदो का भात अमृतभोजन हो गया। भगवान् ने अपने पाणिपात्र मे निष्काम-भाव से खडे-खडे उसके हाथ से अल्प-आहार लिया और वन की ओर चले गये।

देवो ने आकाश मे और मनुष्यो ने नगर मे चन्दना के भाग्य की सराहना की। तभी श्रेष्ठी प्रवास से वापिस लौटे। वे अपनी पुत्री के सौभाग्य पर बडे हर्षित हुए और अपनी स्त्री द्वारा किये गये दुर्व्यवहार पर बहुत क्षुब्ध हुए। चन्दना द्वारा भगवान् को दिये गये इस आहार की चर्चा सम्पूर्ण कौशाम्बी मे होने लगी। इसकी गूँज राजमहलो मे भी जा पहुँची। यह समाचार सुनकर 'वत्स देश' की पट्टमहिषी 'मृगावती' उस महाभाग रमणीरत्न से मिलने को उत्सुक हो उठी, जिसे भगवान् को आहार देने का पुण्ययोग मिला। स्वय श्रेष्ठी ऋषभदत्त के भवन मे मिलने आई और चन्दना से मिली। वह यह देखकर अवाक् रह गई कि रमणीरत्न और कोई नही, उसकी सगी बहन है। उसने चन्दना से सारा वृत्तान्त सुना और उसे अपने महलो मे ले गई। वहाँ से उसका भाई सिहभद्र 'वैशाली' ले गया, किन्तु चन्दना को इस अल्पवय मे ही ससार का कटु-अनुभव हुआ था, उसके कारण उसे ससार से निर्वेद हो गया। जब भगवान् को केवलज्ञान हो गया, तब चन्दना ने भगवान् के निकट आर्यिका-दीक्षा ले ली और अपनी योग्यता एव साधना के बल पर 36000 आर्यिकाओ के सघ की 'गणिनी' के पद पर प्रतिष्ठित हुई।

भगवान् ने राजमहलो के सुस्वादु व्यजन ठुकराकर एक दासी के नीरस कोदो का आहार लिया, इससे जनसाधारण की निगाह दास-प्रथा की भयकरता की ओर गई। परिणाम यह हुआ कि दास-प्रथा भारत से उठ गई।

भगवान् को केवलज्ञान

बारह वर्ष तक मौन रहकर कठोर-साधना और तप करते हुए भगवान् 'जृम्भिक ग्राम' के निकट 'ऋजुकूला नदी' के तट पर जाकर ध्यानावस्थित हो गये। उन्होने आत्मा के सम्पूर्ण विकारो और घातिया-कर्मों का नाश करके **वैशाख शुक्ल दशमी** के अपराह्न-काल मे केवलज्ञान आदि अनन्त-चतुष्टय प्रकट कर लिये। वे सशरीरी-परमात्मा बन गये।

धर्मचक्र-प्रवर्तन

समवसरण के मध्य मे गन्धकुटी मे सिहासन पर भगवान् विराजमान थे। समवसरण मे देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि असख्य श्रोता विद्यमान थे। वे भगवान् की दिव्यध्वनि सुनने के लिए उत्सुक थे, किन्तु भगवान् मौन थे। मौन की अवधि लम्बी होती जा रही थी। 66 दिन तक, केवलज्ञान होने पर तीर्थकर की दिव्यध्वनि प्रगट न हो, यह अभूतपूर्व घटना थी। सौधर्मेन्द्र ने विचार किया — "क्या कारण है, जो भगवान् की दिव्यध्वनि प्रगट नही हो रही?" इन्द्र को समझने मे देर न लगी कि गणधर के बिना तीर्थंकर की दिव्यध्वनि नही खिरती और भगवान् का गणधर बनने की पात्रता केवल इन्द्रभूति गौतम मे है।

यह विचार करके इन्द्र वृद्ध-ब्राह्मण का रूप-धारण करके ब्राह्मण-समाज के शीर्षस्थ विद्वान् इन्द्रभूति गौतम के आवासीय-गुरुकुल मे जा पहुँचा। वहाँ पाँच सौ शिष्य अध्ययनरत थे। इन्द्र ने गौतम को नमस्कार किया और बोला — "पूज्यवर। मेरे गुरुदेव ने मुझे एक गाथा बताई थी। वह मेरी समझ मे नही आई है। आपकी कीर्ति सुनकर मै आपके पास आया हूँ। कृपाकर आप उसका अर्थ बता दीजिये।"

इन्द्र ने जो गाथा बताई, गौतम उसे देखकर असमजस मे पड गये और बोले — "मुझे अपने गुरु के पास ले चलो। मै उन्ही के सामन तुम्हे अर्थ समझाऊँगा।"

इन्द्रभूमि गौतम अपने पाँच सौ शिष्यो के साथ इन्द्र के साथ चल दिए और 'राजगृह' के बाहर 'विपुलाचल' पर पहुँचे। वहाँ इन्द्रभूति ने समवसरण के प्रवेशद्वार से जैसे ही प्रवेश किया, उनकी दृष्टि सामने खडे मानस्तभ के ऊपर पडी। इस मानस्तभ मे मानगर्वित जनो के मान को गलित करने की अद्‌भुत-क्षमता थी। उन्होने देखा, तो देखते ही रह गये। उनके भावो मे प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहे थे। उनका ज्ञानमद विगलित हो रहा था। वे आगे बढे और जब उन्हे गन्धकुटी मे विराजमान भगवान् के दर्शन हुए, वे विनय और भक्ति की साकार मूर्ति बने हुए भगवान् के चरणो मे प्रणिपात करके बोले "भगवन्। मै ज्ञान के अहकार मे सज्ज्ञान को भूल गया था। अब मुझे अपने चरणो मे शरण दीजिए।" यो कहकर उन्होने मुनि-दीक्षा ले ली। उस समय उनके भाव इतने निर्मल थे कि उन्हे तत्काल अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। वे भगवान् के मुनिसघ के मुख्य-गणधर बने।

इन्द्रभूति द्वारा मुनि-दीक्षा लेते ही 66 दिन रुकी हुई भगवान् की दिव्यध्वनि प्रगट हुई — "गौतम। तेरे मन मे सदेह है कि जीव है या नही?" इस विषय को लेकर भगवान् की दिव्यध्वनि मे जीवतत्त्व का विस्तृत-विवेचन हुआ। भगवान् का प्रथम-उपदेश **श्रावण कृष्ण प्रतिपदा** के दिन प्रातःकाल हुआ था। अत यह दिवस **'वीरशासन जयन्ती'** के रूप मे मनाया गया।

इन्द्रभूति के पाँच सौ शिष्यो ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। इसके बाद ब्राह्मण-समाज के मूर्धन्य विद्वान् अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्म, मण्डिक पुत्र, मौर्य पुत्र, अकम्पित, अचल भ्राता, मेतार्य और प्रभास अपने शिष्य-परिकर के साथ भगवान् को पराजित करने आये और भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार करके मुनि बन गये। ये सभी भगवान् के गणधर बन गये। इनके शिष्य भी भगवान् के चरणो मे मुनि बन गये, जिनकी कुल सख्या 4600 थी। उनका यह धर्मचक्र प्रवर्तन ही तीर्थप्रवर्तन था, जिसके कारण वे 'तीर्थंकर' कहलाये।

इसके बाद उन्होने सम्पूर्ण देश मे विहार करके अपने उपदेशो द्वारा धर्म-जागृति की। उन्होने काशी, कोशल, कुसध्य, अश्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त, पाचाल भद्रकार, पटच्चर, भौम, मत्स्य, शूरसेन, कलिग, कुरुजागल, कैकेय, आजेय, काबोज, वाल्हिक, यवनश्रुति, सिन्धु, गान्धार, सृरभीरू, दशेरुक, वाड्वान, भारजद्वाज, कायतोय, तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल आदि प्रदेशो मे विहार करके लोक मे व्याप्त अज्ञान-अधकार को दूर किया।

भगवान् के उपदेश और उनका दूरगामी प्रभाव

भगवान् महावीर के उपदेश वस्तुत: नवीन थे। वे पूर्ववर्ती तीर्थंकरो के उपदेशो के नवीन सस्करण थे। वे उपदेशमात्र ही नही थे, यह एक महान् क्रान्ति थी, जिसने लोक-मानस मे व्याप्त सारे मूल्यो मे महान्-परिवर्तन ला दिया। उन्होने तत्कालीन मान्यताओ के विरुद्ध नवीन-मूल्यो की स्थापना की। उनके उपदेश प्राणीमात्र के कल्याण के लिए थे। सभी को उनके धर्म का पालन का अधिकार था, सभी को उनकी उपदेश-सभा (समवसरण) मे जाने का अधिकार था। धार्मिक-एकाधिकार के विरुद्ध यह आध्यात्मिक-जनतन्त्र था जिसमे ऊँच-नीच की कल्पना और वर्ग भेद की किसी मान्यता को कोई स्थान न था। सबको विकास का समान अवसर और अधिकार है, यह जीव-साम्य का बाह्य पहलू था। सब मे जीने की समान इच्छा है सबको प्राण समानरूप से प्रिय है, इसलिए किसी को सताने और मारने का भी हमे अधिकार नही है। यह उस जीव-साम्य का आतरिक पहलू था, जिसे समझाना ही उस क्राति का एकमात्र उद्देश्य था।

भाषा के सबध मे लोक मे एक विशेष-मान्यता बद्धमूल हो रही थी। सस्कृत-भाषा धार्मिक-वाड्मय और आभिजात्य-वर्ग के लिए अनिवार्य मानी जाती थी। भाषा के इस व्यामोह ने स्त्रियो और शूद्रो के विरुद्ध घृणा का वातावरण बना दिया था। इस व्यामोह ने अन्य भाषाओ का विकास अवरुद्ध कर दिया था। भगवान् महावीर ने लोकभाषा 'प्राकृत' मे उपदेश देकर भाषाविशेष के प्रति व्यामोह को भग कर दिया और यह समझा दिया कि भाषा का महत्त्व भावो को अभिव्यक्त करने तक है, अधिक कुछ नही। इसीप्रकार सत्य के सबध मे भी एक जडता व्याप्त थी। एक वर्ग की मान्यता थी कि 'जो उनका है, वही सत्य है और सब मिथ्या है।' इसतरह सत्य को अपनी मान्यताओ से जकडकर पगु बना दिया था। सत्य निश्चित-ग्रथो मे ही उपलब्ध है, इस मान्यता से सत्य के अन्वेषण और शोध को कोई अवकाश ही नही रह गया था। महावीर ने कहा "सत्य व्यापक है, सापेक्ष है और उनकी मान्यताओ के बाहर भी वह मिल सकता है।" यह दृष्टि थी सत्य-शोध की, अनेकान्त और स्याद्वाद की। ईश्वरवाद की मान्यता ने लोगों को भाग्यवादी और मनोवैज्ञानिकरूप से पराधीन-मनोवृत्ति वाला बना दिया था। महावीर ने कहा — "सारे प्राणियो मे अनन्त-शक्ति निहित है। उसका उद्घाटन करना प्राणी के अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है। यदि उसे अपनी शक्ति का भान हो जाए और अपने चरम-विकास का

सकल्प दृढ हो जाए, तो वह कर्मों के फल को बदल सकता है, और कर्मों का नाश भी कर सकता है।"

भगवान् पार्श्वनाथ को निर्वाण हुए अभी केवल ढाई सौ वर्ष ही व्यतीत हुए थे, किन्तु इस काल मे वैदिक-ऋषियो ने पूरी शक्ति से हिसामूलक-यज्ञो और क्रियाकाण्डो का प्रचार किया। फलत• स्थान-स्थान पर यज्ञ होने लगे और उनमे असख्य-पशुओ का होम किया जाने लगा। देवताओ के नाम पर बलि दी जाने लगी, पितरो और अतिथियो के लिए पशु काटे जाने लगे। यज्ञो के हवन-कुण्ड और देवताओ की वेदियाँ पशुओ की करुण-चीत्कारों और रक्त से सन गये। हिसक-यज्ञो के विषाक्त-धुये से मनुष्यो के कण्ठ रुद्ध होने लगे। इन यज्ञो मे और देवताओ के आगे नर-बलि तक दी जाने लगी।

इस काल मे महावीर का उदय हुआ। उन्होने घोषणा की 'धर्म अहिसा है, हिसा धर्म नही है। यदि हिसा धर्म हो, तो फिर पाप क्या है?' भगवान् महावीर का ही यह लोकोत्तर-प्रभाव था कि उनके उपदेशो ने लोकमानस मे जबर्दस्त परिस्पन्द पैदा किया। लोग धर्म के नाम पर होनेवाली हिसा से घृणा करने लगे, यज्ञो मे बलिप्रथा समाप्त हो गई। पुरानी मान्यताये टूट-टूट कर गिरने लगी, नये मूल्य उभरने लगे और तब लोग अहिसा की भाषा मे सोचने लगे और बोलने लगे। महावीर की अहिसा का दूरगामी प्रभाव यह पडा कि भारत मे बाद मे सारे धर्मों का विकास अहिसा के आधार पर ही हुआ। यहाँ उस समय अहिसा की जो प्रतिष्ठा हुई, उसी के सस्कार भारतीयो मे अब तक भी विद्यमान है। किसी युग मे किसी एक व्यक्ति ने सारी लोक-मान्यताओ को बदल दिया हो, इतिहास मे महावीर के अतिरिक्त ऐसा अन्य-उदाहरण नही मिलता।

राजन्य-वर्ग पर महावीर का प्रभाव

भगवान् महावीर लोकोत्तर-महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व और देशना का प्रभाव निर्धन से लेकर राजाओ तक समानरूप से पडा था और वे सपरिवार उनके धर्म मे दीक्षित हो गये थे। उनके धर्म मे दीक्षित होनेवाले राजाओ मे वैशाली के गणप्रमुख चेटक, कुण्डग्राम के गणप्रमुख सिद्धार्थ, राजगृह-नरेश श्रेणिक बिम्बसार, सिधु-सौवीर-नरेश उदयन, वत्स-नरेश शतानीक, दशार्ण-नरेश दशरथ, हेमागद (वर्तमान कर्नाटक) के नरेश जीवन्धर कुमार, पोलाशपुर-नरेश विजयसेन, चम्पानरेश कुणिक अजातशत्रु, शूरसेन-नरेश उदितोदय, काम्पिल्य-नरेश जय, पारस्य-देश (ईरान) का राजकुमार आर्द्रक तथा तत्कालीन् काशीनरेश एव कलिग-नरेश आदि भगवान् के अनुयायी भक्त थे। 'इससे भगवान् के व्यापक प्रभाव का पता चलता है।

महावीर का परिनिर्वाण

भगवान् महावीर 72 वर्ष की आयु मे कार्तिक कृष्ण अमावस्या को प्रातःकाल 'मज्झिमा पावा' मे (वर्तमान पावापुरी मे) कर्मों का नाश करके मुक्त हो गये। देवो और मनुष्यो ने तब दीप प्रज्वलित किये। उसी अमावस्या की सध्या को उनके मुख्य-गणधर इन्द्रभूमि गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। रात्रि मे देवो ने रत्न-दीपक सजोये, मनुष्यो ने कहा — "भाव-प्रकाश चला गया। अब हम उनकी स्मृति मे द्रव्य-प्रकाश करेगे।" तब उन्होने दीपको से दीपमालिका सजाई। कृतज्ञ-जनता भगवान् के निर्वाण की स्मृति सुरक्षित रखने के लिए प्रतिवर्ष इस दिन 'दीपावली' मनाने लगी। इसप्रकार 'दीपावली पर्व' का प्रचलन हुआ। ❖❖

अहिंसा के आयाम : महावीर और गाँधी

✍ श्री यशपाल जैन

हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक एव गाँधीवादी-विचारक श्री यशपाल जी बीसवी-शताब्दी के सुपरिचित-हस्ताक्षर रहे है। महावीर की परम्परा से वे जन्मत -परिचित थे, तथा गाँधी के दर्शन को उन्होने अपने जीवन के आदर्श के रूप मे अपनाया था। अत वे इन दोनो की दृष्टियो का सक्षमरीति से तुलनात्मक-अध्ययन करने के लिये सर्वाधिक-उपयुक्त व्यक्ति थे। चूँकि स्वय महात्मा-गाँधी महावीर-दर्शन से प्रभावित थे एव उनका जीवन उससे अनुप्राणित था, अत. यह तुलनात्मक-अध्ययन और अधिक प्रासंगिक एव उपयोगी हो गया है।

— सम्पादक

अहिंसा की श्रेष्ठता

मानव-जाति के कल्याण के लिये अहिसा ही एकमात्र साधन है — इस तथ्य को आज सारा ससार स्वीकार करता है, लेकिन कम ही लोग जानते है कि अहिसा की श्रेष्ठता की ओर प्राचीनकाल से ही भारतवासियो का ध्यान रहा है। वैदिक- काल मे हिसा होती थी, यज्ञो मे पशुओ की बलि दी जाती थी, लेकिन उस युग मे भी ऐसे व्यक्ति थे, जो अनुभव करते थे, कि जिसप्रकार हमे दु.ख-दर्द का अनुभव होता हे, उसीप्रकार दूसरे प्राणियो को भी होता है, अत: जीवो को मारना उचित नही है। आगे चलकर यह भावना और भी विकसित हुई। महाभारत के शाति-पर्व से हम भीष्म-पितामह के मुँह से सुनते है, कि हिसा अत्यन्त-अनर्थकारी है। उससे न केवल मनुष्यो का सहार होता है, अपितु जो जीवित रह जाते है उनका भी भारी पतन होता है। उस समय ऐसे व्यक्तियो की सख्या कम नही थी, जो मानते थे, कि 'यदि हिसा से एकदम बचा नही जा सकता तो कम से कम उन्हे अपन हाथ से तो हिसा नही करनी चाहिये।'

महात्मा बुद्ध ने अहिसा-चिन्तन को एक नयी-दिशा दी। समाज के हित को ध्यान मे रखकर 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का घोष किया। उन्होने कहा — "वह काम करो, जिसमे बहुसख्यक-लोगो को लाभ पहुँचाये, उन्हे सुख मिले।" भगवान् महावीर एक कदम आगे बढे। उन्होने सबके कल्याण की कल्पना का व अहिसा को परम-धर्म मानकर प्रत्येक-प्राणी के लिये उसे अनिवार्य ठहराया। उन्होने कहा — "सब प्राणियो को आयु प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी है, दु.ख सबके प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, सब जीन की इच्छा रखते है, इसलिये किसी को मारना अथवा कष्ट नही पहुँचाना चाहिये।"

हम देखते है, कि महावीर से पहले भी अनेक धर्म-प्रवर्तको तथा महापुरुषो न अहिसा के महत्त्व एव उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला था, लेकिन महावीर ने अहिसा-तत्त्व की जितनी विस्तृत, सूक्ष्म अथवा गहन-मीमासा की, उतनी शायद ही और किसी ने की हो। उन्होने अहिसा को आत्मिक-उन्नति के सोपानो मे प्रथम-स्थान पर रखा, और उस तत्त्व को चरम-सीमा तक पहुँचा दिया। कहना होगा, कि उन्होने अहिसा को सैद्धातिक-भूमिका पर ही खडा नही किया, उसे आचरण का अधिष्ठान भी बनाया।

सबके हित में व्यक्ति का हित

सब जीवो के प्रति आत्मभाव रखने, किसी को त्रास न पहुँचाने, किसी के भी प्रति वैर-विरोधभाव न रखने, अपने कर्म के प्रति सदा विवेकशील रहने, निर्भय बनने, दूसरो को अभय देने, आदि-आदि बातो पर महावीर ने विशेष बल दिया, जो स्वाभाविक ही था। मानव-जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने और समाज मे फैली नाना-प्रकार की व्याधियो को दूर करके उसे स्थायी-सुख और शाति प्रदान करने के अभिलाषी महावीर ने समस्त चराचर-प्राणियों के बीच समता लाने, और उन्हे एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न किया। उनका सिद्धात था — **"जियो और जीने दो"**, अर्थात् यदि तुम चाहते हो, कि सुखपूर्वक-जीवन व्यतीत करो, तो उसके लिये आवश्यक है, कि दूसरो को भी उसीप्रकार जीने का अवसर दो। उन्होने समष्टि के हित को समाविष्ट कर देने की प्रेरणा दी। वैयक्तिक तथा सामाजिक-जीवन को विकृत करनेवाली सभी बुराईयो की ओर उनका ध्यान गया, और उन्हे दूर करने के लिये उन्होने मार्ग सुझाया।

महावीर की अहिसा प्रेम के व्यापक-विस्तार मे से सही उपजी थी। उनका प्रेम असीम था। वह केवल मनुष्य-जाति को ही प्रेम नही करते थे, अपितु उनकी करुणा समस्त जीवधारियो तक व्यापक थी। छोटे-बडे, ऊँचे-नीचे, आदि के भेदभाव को उनके प्रेम ने कभी स्वीकार नही किया। यही कारण है, कि अहिसा का उनका महान् आदर्श प्रत्येक मानव के लिये कल्याणकारी था।

स्वाभाविक धर्म : अहिसा

जिसने राज्य छोडा, राजसी-ऐश्वर्य को तिलाजलि दी, भरी जवानी मे घर-बार से मुँह मोडा, सारा वैभव छोडकर जो अकिचन बना, और जिसने बारह वर्ष तक कठिन तपस्या की, उसके आत्मिक-बल की सहज ही कल्पना नही की जा सकती। महावीर ने रात-दिन अपने को तपाया, और कचन बने। उनकी अहिसा वीरो का अस्त्र थी, दुर्बल व्यक्ति उसका उपयोग नही कर सकता था। जो मारने की सामर्थ्य रखता है, फिर भी मारता नही, और निरन्तर क्षमाशील रहता है, वही अहिसा का पालन कर सकता है। यदि कोई चूहा कहे, कि वह बिल्ली पर आक्रमण नही करेगा, उसने उसे क्षमा कर दिया है, तो उसे अहिसक नही माना जा सकता। वह दिल मे बिल्ली को कोसता है, पर उसमे दम ही नही कि उसका कुछ बिगाड सके। इसी से कहा है — **"क्षमा वीरस्य भूषण"**, यही बात अहिसा के विषय मे कही जा सकती है। कायर या निर्वीर्य व्यक्ति वास्तव मे अहिसक नही हो सकता।

इसप्रकार हम देखते हैं, कि महावीर ने अहिसा का व्यापक प्रचार-प्रसार किया, और उसे धर्म का शक्तिशाली अग बनाया। उस जमाने मे पशु-वध आदि के रूप में घोर-हिसा होती थी। महावीर ने उसके विरुद्ध अपनी आवाज ऊँची की। उन्होने लोगों मे यह विश्वास पैदा किया, कि हिसा अस्वाभाविक है। मनुष्य का स्वाभाविक-धर्म अहिसा है। उसी का अनुसरण करके वह स्वय सुखी रह सकता है, दूसरो को सुखी रख सकता है।

इस दिशा मे हम ईसा के योगदान को भी नही भूल सकते है। उन्होने हिसा का निषेध किया, और यहाँ तक कहा, कि यदि काई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे, तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। उन्होने यह भी कहा, कि तुम अपने को जितना प्रेम करते हो, उतना ही अपने पडोसी को भी करो। पर जैन-परम्परा प्राणीमात्र को अपना पडोसी समझने की प्रेरणा देती है। — ऐसा महात्मा-गाँधी ने कहा था।

अहिंसा का व्यापक-प्रचार

इसके पश्चात् अहिसा के प्रचार के बहुत-से उदाहरण मिलते है। कलिग-युद्ध मे एक लाख व्यक्तियो के मारे जाने से सम्राट् अशोक का मन किसप्रकार अहिसा की ओर आकृष्ट हुआ, यह सर्वविदित है। अपने शिलालेखो मे अशोक ने धर्म की जो शिक्षा दी, उससे अहिसा को सबसे ऊँचा-स्थान मिला। तेरहवी-चौदहवी सदी मे वैष्णव-धर्म की लहर उठी। उसने अहिसा के स्वर को देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचा दिया। और भी बहुत-से सम्प्रदायो ने हिसा को रोकने के लिये प्रयत्न किये। सन्तो की वाणी ने लाखो-करोडो नर-नारियो को प्रभावित किया। परिणाम यह हुआ, कि जो अहिसा किसी समय केवल तपश्चरण की वस्तु मानी जाती थी, उसकी उपयोगिता जीवन या समाज मे व्याप्त हुई। उसके लिये जहाँ कोई सामूहिक-प्रयास नही होता था, वहाँ अब बहुत-से लोग मिल-जुलकर काम करने लगे। इन प्रयासो का प्रत्यक्ष-परिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। जिन मनुष्यो और जातियो ने हिसा का त्याग कर दिया, वे सभ्य कहलाने लगी, उन्हे समाज मे अधिक सम्मान मिलने लगा।

अहिंसा की सामाजिकता और गाँधी

लेकिन अहिसा के विकास की यह अन्तिम-सीमा नही थी। वर्तमान-अवस्था तक आने मे उसे कुछ और सीढियाँ चढनी थी। वह अवसर उसे युगपुरुष गाँधी ने दिया। उन्होने देखा कि निजी-जीवन मे अहिसा और बाह्य-क्षेत्र मे हिसा — ये दोनो चीजे साथ-साथ नही चल सकती, इसलिये उन्होने धार्मिक ही नही, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य सभी क्षेत्रो मे अहिसा के पालन का आग्रह किया। उन्होने कहा — "हम लोगो के दिल मे इस झूठी-मान्यता ने घर कर लिया है, कि अहिसा व्यक्तिगत-रूप से ही विकसित की जा सकती है, और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। वास्तव मे बात ऐसी नही है। अहिसा सामाजिक-धर्म है, वह सामाजिक-रूप से ही विकसित की जा सकती है, यह मनवाने का मेरा प्रयत्न और प्रयोग है।" इतना ही नही उन्होने यहाँ तक कहा — "अगर अहिसा व्यक्तिगत-गुण है, तो वह मेरे लिये त्याज्य-वस्तु है। मेरी अहिसा की कल्पना व्यापक है। वह करोडो की है। मै तो उनका सेवक हूँ। जो चीज करोडो की नही हो सकती है, वह मेरे लिये त्याज्य है, और मेरे साथियो के लिये भी त्याज्य होनी चाहिये। हम तो यह सिद्ध करने के लिये पैदा हुये है, कि सत्य और अहिसा व्यक्तिगत-आचार के ही नियम नही है, वे समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति हो सकते है। मेरा यह विश्वास है, कि अहिसा हमेशा के लिये है, वह आत्मा का गुण है, इसलिये वह व्यापक है, क्योकि आत्मा तो सभी की होती है। अहिसा सबके लिये है, सब जगहो के लिये है,सब समय के लिये है। अगर वह वास्तव मे आत्मा का गुण है, तो हमारे लिये वह सहज हो जाना चाहिये।"

लोगो ने कहा — "सत्य और अहिसा व्यापार मे नही चल सकते। राजनीति में उनकी जगह नही हो सकती।" ऐसे व्यक्तियो को उत्तर देते हुये गाँधी ने कहा — "आज कहा जा सकता है, कि सत्य व्यापार मे नही चलता, राजकाल मे नही चलता, तो फिर कहाँ चलता है? अगर सत्य जीवन के सभी क्षेत्रो मे और सभी व्यवहारो मे नही चल सकता, तो वह कौडी-कीमत की चीज नही है। जीवन मे उसका उपयोग ही क्या रहा? सत्य और अहिसा कोई आकाश-पुष्प नही है। उन्हे हमारे प्रत्येक शब्द, व्यापार और कर्म मे प्रकट होना चाहिये।"

गाँधीजी ने यह सब कहा ही नही, उसपर अमल करके भी दिखाया। उन्होने प्राचीनकाल से चली आती अहिसा की परम्परा को आगे बढाया, उसे नया मोड दिया। उन्होने जहाँ वैयक्तिक-जीवन मे अहिसा की प्रतिष्ठा की, वहाँ उसे सामाजिक तथा राजनैतिक-कार्यों की आधार-शिला भी बनाया। अहिसा के वैयक्तिक, एव सामूहिक-प्रयोग के जितने दृष्टान्त हमे गाँधीजी के जीवन मे मिलते है, उतने कदाचित् किसी दूसरे महापुरुष के जीवन मे नही मिलते।

हिंसा-अहिसा की आँख-मिचौनी

पर दुर्भाग्य से हिसा और अहिसा की आँख-मिचौनी आज भी चल रही है। गाँधीजी ने अपने आत्मिक-बल से अहिसा को जो प्रतिष्ठा प्रदान की थी, वह अब क्षीण हो गयी है। अहिसा की तेजस्विता मन्द पड गयी है, हिसा का स्वर प्रखर हो गया है। इसीसे हम देखते है, कि आज चारो तरफ हिसा का बोलबाला है। विज्ञान की कृपा से नये-नये आविष्कार हो रहे है, और शक्तिशाली-राष्ट्रो की प्रभुता का आधार विनाशकारी आणविक-अस्त्र बने हुये है। हिरोशिमा और नागासाकी के नर-सहार की कहानी, और वहाँ के असख्य-पीडितो की कराह आज भी दिग्दिगन्त मे व्याप्त है, फिर भी राष्ट्र की भौतिक-महत्त्वाकाक्षा तथा अधिकार-लिप्सा तृप्त नही हो पा रही है। सहारक-अस्त्रो का निर्माण तेजी से हो रहा है, और उनका प्रयोग आज भी कुछ राष्ट्र बेधडक कर रहे है।

अहिसा की जड़े गहरी हैं

लेकिन हम यह न भूले, कि अहिसा की जडे बहुत गहरी है, और उन्हे उखाड फेकना सम्भव नही है। उसका विकास निरन्तर होता गया है, और अब भी उसकी प्रगति रुकेगी नही। हम दो विश्वयुद्ध देख चुके है, और आज भी शीतयुद्ध की विभीषिका देख रहे है। विजेता और पराजित — दोनो ही अनुभव कर रहे है, कि यह अस्वाभाविक-स्थिति अधिक समय तक चलनेवाली नही है। यातायात के साधनो ने दुनिया को बहुत छोटा कर दिया है, और छोटे-बडे सभी राष्ट्र यह मानने लगे है, कि उनका अस्तित्व युद्ध से नही, प्रेम से सुरक्षित रह सकता है। पर उनमे अभी इतना साहस नही है, कि वर्ष मे 364 दिन सहारक-अस्त्रो का निर्माण करे, और 365वे दिन उन सारे अस्त्रो को समुद्र मे फेक दे।

अहिसा अब नये मोड पर खडी है, और सकेत करके कह रही है, कि विज्ञान के साथ अध्यात्म को जोडो और वैज्ञानिक-आविष्कारो को रचनात्मक दिशा मे मोडो। जीवन का चरम-लक्ष्य सुख और शान्ति है। उसकी उपलब्धि सघर्ष मे नही, सद्भाव से होगी।

अहिसा मे निराशा को स्थान नही। वह जानती है कि उषा के आगमन से पूर्वरात्रि के अन्तिम-प्रहर का अधकार गहनतम होता है। आज विश्व मे जो कुछ हो रहा है, वह इस बात का सूचक है, कि अब शीघ्र ही नये युग का उदय होगा, और ससार मे वह विवेक जाग्रत होगा, कि मानव-नीति से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नही है। आज नही तो कल, कल नही तो परसो वह दिन आयेगा, जब राष्ट्र नया साहस बटोर पायेंगे, और वीर-शासन के सर्वोदय-तीर्थ तथा गाँधी के रामराज्य की कल्पना को चरितार्थ करेगे। ❖❖

लोकतान्त्रिक-दृष्टि और भगवान् महावीर

✍ प्रभात कुमार दास

वैशाली-गणतन्त्र के पवित्र वातावरण मे जन्मे भगवान् महावीर के जीवन एव दर्शन पर गणतन्त्रीय-सिद्धान्तो एव लोकतान्त्रिक-दृष्टि का प्रभाव पडना अत्यन्त-स्वाभाविक था। यह बात किस सीमा तक घटित हो सकी थी एव इसका असर हमे किसरूप मे दृष्टिगोचर होता है, उसे दर्शाने का नैष्ठिक-प्रयत्न लेखक ने इस आलेख मे किया है। भारत के वर्तमान लोकतन्त्रीय-जीवन के वातावरण मे यह आलेख रुचिकर है।

— सम्पादक

वर्तमान मे भारतवर्ष मे लोकतान्त्रिक-प्रणाली लागू है और हम सभी इसी लोकतन्त्र के वातावरण मे जीवनयापन कर रहे है। 'लोकतन्त्र' की परिभाषा यूनानी दार्शनिक बलीयान ने निम्नानुसार दी है — **"जो जनता का हो, जनता के लिये हो एव जनता के द्वारा हो।"** इसीलिये इसका नामान्तर 'जनतन्त्र' भी है। यही लोकतन्त्र या जनतन्त्र जब सुविचारित रीति से 'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' की कामना के साथ सवैधानिक-नियमो की मर्यादाओ मे आबद्ध हो जाता है, तो इसे ही 'गणतन्त्र' की सज्ञा प्राप्त होती है। इसीलिये जब 15 अगस्त सन् 1947 मे भारत को स्वतन्त्रता मिली, तो वह जनतन्त्र के रूप मे था, तथा 26 जनवरी 1950 को जब इसका अपना सविधान बनकर लागू हुआ, तब भारतवर्ष 'गणतन्त्र' कहलाया।

किन्तु गणतन्त्र की प्रणाली का प्रचलन कोई अभी 20वी शताब्दी की देन नही है। इतिहास साक्षी है कि आज से हजारो वर्ष पूर्व भी इस देश मे गणतान्त्रिक-प्रणाली का आदर्शरूप लोकजीवन मे प्रचलित था। सर्वप्रथम हमे 'वैशाली गणतन्त्र' का उल्लेख मिलता है। सभवत इसीलिये वैशाली को राष्ट्रकवि रामधारी सिह दिनकर ने 'जनतन्त्र का प्रतिपालक' एव 'गणतन्त्र का आदिविधाता' या प्रवर्तक कहा है —

"वैशाली 'जन' का प्रतिपालक 'गण' का आदिविधाता।
जिसे ढूँढ़ता लोक आज उस प्रजातन्त्र की माता।।
रुको एक क्षण पथिक! यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ।
राजसिद्धियो की समाधि पर फूल चढ़ाते जाओ।।"

— *(होम एज टू वैशाली)*

इसके अध्यक्ष लिच्छवी-सघनायक महाराजा चेटक थे। इन्ही महाराजा चेटक की ज्येष्ठ-पुत्री का नाम 'प्रियकारिणी त्रिशला' था, जिनका मगल-परिणय वैशाली-गणतन्त्र के सदस्य एव 'क्षत्रिय कुण्डग्राम' के अधिपति 'महाराजा सिद्धार्थ' के साथ हुआ था। इन्ही महाराज सिद्धार्थ एव महारानी प्रियकारिणी त्रिशला के आँगन मे 'अहिसा के अग्रदूत' जैनधर्म के चौबीसवे तीर्थकर भगवान् महावीर स्वामी का जन्म हुआ था। इसप्रकार भगवान् महावीर के जन्म के समय उनके मातृकुल एव पितृकुल — दोनो मे ही गणतन्त्रीय लोकतन्त्र का वातावरण था, जिसका प्रभाव उनके चितन एव जीवन पर बाल्यावस्था से ही होना स्वाभाविक था।

जैन-परम्परा मे यह वैशिष्ट्य है कि वीतरागता एवं सर्वज्ञता की प्राप्ति पर 'अर्हत्' पद को प्राप्त करनेवाले सभी आत्मा मे 'परमात्मा' होते हैं, उन्हें 'भगवान्' भी कहा जाता है; किन्तु जो 'अर्हत्' या 'भगवान्' इस अवस्था की प्राप्ति से पूर्व ही लोकहित की भावना से ओतप्रोत होते हैं, प्राणीमात्र तक आत्महित का सन्देश पहुँचाने की प्रबल भावना रखते हैं; उन्हें 'तीर्थंकर नामकर्म' नाम उत्कृष्टतम कर्मप्रकृति का बध होता है। इसके फलस्वरूप वे 'अर्हत्' और 'भगवान्' होने के साथ-साथ 'तीर्थंकर' भी कहलाते हैं तथा उनकी दिव्य-देशना या उपदेश से अनेको जीवो के आत्मकल्याण का मार्गप्रशस्त होता है। इसप्रकार आत्महित एव लोकहित — दोनों के अनुविधाता 'तीर्थंकर' कहलाते है। जैन-मान्यतानुसार एक कालखण्ड मे भारतवर्ष मे कुल 24 तीर्थंकर ही हो सकते है, जिनमे इस कालखण्ड के चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर थे।

'तीर्थंकर' होने के कारण उनसे लोकहित भी होना अवश्यभावी था। किन्तु वर्द्धमान महावीर के साथ एक और वैशिष्ट्य जुड़ा हुआ था, और वह था गणतांत्रिक एव लोकतांत्रिक-वातावरण मे जन्मतः रहना। इसीलिये उनका चिंतन मनुष्यमात्र के हित के लिये सीमित न होकर प्राणीमात्र के हित के लिये व्यापक हुआ। भारतवर्ष मे प्रचलित गणतांत्रिक-विचारधारा के लिये यह एक नई-दिशा थी। इसका व्यापक-परिणाम सामने आया, और हर वर्ग के लोग इस उदात्त-चितन से अनुप्राणित होकर उनके अनुगामी बने।

भगवान् महावीर ने बाल्यावस्था से ही लोकतांत्रिक-मर्यादाओ को अपनाया। चाहे वे बाल्य-क्रीडाये हो, या फिर अन्य क्रिया-कलाप; बालक वर्द्धमान से लेकर राजकुमार वर्द्धमान तक की यात्रा मे वे इन चितनो को साथ लेकर चले। अजमुखी सगमदेव के साथ बाल-क्रीडा हो अथवा मदोन्मत्त हाथी को निर्मद करना, — इन सभी घटनाओ के पीछे वैयक्तिक-प्रतिष्ठा की कामना न होकर जनता को निर्भय और सुरक्षित वातावरण प्रदान करना उनका मुख्य-उद्देश्य था। यहाँ यह बात विशेषरूप से मननीय है कि उन्होने प्रजाजनो का सरक्षण तो किया ही; किन्तु विषधर के रूप मे आनेवाले सगमदेव या मदोन्मत्त हाथी — इनमे से किसी को भी किसी प्रकार की पीडा नही पहुँचाई, मात्र उनके निरकुश एव लोकविघातक-आचरण को ही मर्यादित एव नियंत्रित किया। बाल्यकाल से ही प्राणीमात्र के प्रति अहिसक-आचरण की यह लोकतांत्रिक-दृष्टि अपने आप मे एक अनुपम-निदर्शन है।

युवावस्था मे भी जब वह चितन-मग्न होते, तो उनके चितन का विषय आत्महित एव लोकहित — दोनो ही रहते थे। साथ ही उस चितन मे इतनी व्यापकता होती थी कि यदि प्राणीमात्र उसे अपनाना चाहे, तो वह प्राणीमात्र के लिये न केवल उपयोगी होता था; अपितु व्यावहारिक भी होता था। ऐसे ही एक घटनाक्रम मे जब युवराज वर्द्धमान के पास एक देव अपनी आकुलता का समाधान पूछने आये, तो युवराज वर्द्धमान ने कहा कि "हे देव। मै अतीत के बारे मे अनावश्यक-चिता नही करता, और अनागत की कल्पनाओ मे परेशान होकर व्यर्थ के जल्प नही करता हूँ; मात्र वर्तमान को शात और सतुष्ट मन से जीता हूँ, इसीलिये मेरे चेहरे पर शांति और निश्चिंतता रहती है।" दीक्षा लेने के पूर्व ही उनकी ऐसी प्रशान्त मनःस्थिति हो गयी थी कि सजयत और विजयत नामक निर्ग्रंथ-मुनिराजो की जिज्ञासाओ का निरसन भी आपकी प्रशान्त-मुखमुद्रा देखने मात्र से ही हो गया था।

प्राणीमात्र के कल्याण की भावना भगवान् महावीर के मन मे इतनी प्रगाढ थी कि वे अपनी अपेक्षाकृत सीमित-आयु जानकर गृहस्थी के चक्र मे नही फँसे, और कुमार-अवस्था से ही सीधे निर्ग्रंथ-श्रमण की प्रव्रज्या

अंगीकार कर ली। क्योंकि उन्हें जन्मत: प्राप्त अवधिज्ञान से यह विदित था कि उनकी आयु मात्र बहत्तर वर्ष है। तथा लोककल्याण के लिये यह आयु बहुत कम है और भारत का क्षेत्रविस्तार बहुत व्यापक है। इतने बडे कार्य के लिये ससार के प्रपंच में फसना एक बहुत बडी भूल होती। इसका सुफल यह आया कि जहाँ आत्महित के लिये वे बारह वर्षों तक निर्ग्रंथ-मुनि की चर्या मे तपस्यारत रहे, वही लोकहित के निमित्त 30 वर्षों तक देश भर मे अपने दिव्य-उपदेशो के द्वारा प्राणीमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते रहे।

इतना ही नही, उस समय के समाज मे नारी के प्रति पुरुष की अपेक्षाकृत जो हीनदृष्टि थी, उसके निवारण के लिये मुनि-अवस्था मे उन्होने बन्दनी चन्दना के हाथो से नीरस-आहार लेकर सम्पूर्ण समाज को नारी-सम्मान की भावना का उदात्त-सदेश प्रदान किया। इसके साथ ही उन्होने सामान्यजन के लिये सुलभ आहार लेकर सामान्यजनो की भावनाओ का प्रकारान्तर से सम्मान किया।

लोकतन्त्र मे सूचना की स्वतन्त्रता, तथ्यपरकता एव निष्पक्षता को चतुर्थ एव सर्वाधिक उपयोगी स्तम्भ माना जाता है। भगवान् महावीर की धर्मसभा (समवसरण) मे न केवल मनुष्यमात्र, अपितु उपदेश सुनने व समझने की सामान्य-पात्रता (सज्ञी पचेन्द्रियत्व या समनस्कता) वाले प्राणीमात्र के लिये बिना किसी बाधा या भेदभाव के प्रवेश एव 'उपदेशश्रवण' की स्वतन्त्रता थी। यह उनकी लोकतान्त्रिक-सिद्धान्तो का अनन्य-समर्थन माना जा सकता है। तथा उपदेश मे यह कहना कि "स्वरूपत सभी आत्माये समान है, कोई छोटी-बडी नही है। तथा प्रत्येक आत्मा पुरुषार्थ करके परमात्मपद प्राप्त कर सकता है।" यह सन्देश लोकतान्त्रिक-व्यवस्था का उत्कृष्टतम आदर्श है। इसप्रकार भगवान् महावीर का चिन्तन एव दर्शन लोकतन्त्र एव गणतन्त्र के पूर्णत अनुरूप है।

भगवान् महावीर ने तीर्थंकर के रूप मे जब दिव्यदेशना द्वारा लोककल्याण का पुनीत-कार्य प्रारम्भ किया, तो उन्होने लोकतात्रिक-दृष्टि को ही प्रमुख रखा, और उसके अनुरूप लोकभाषा-प्राकृत को अपने उपदेशो का माध्यम बनाया। यद्यपि उनके उपदेशो का स्वरूप ओकारमयी-दिव्यध्वनि थी, किन्तु उसकी भाषा प्राकृत सभी आचार्यों ने बतायी है। उस समय प्राकृतभाषा सामान्य-जनता की भाषा थी, तथा सम्राट् आदि भी अपने आदेश और राजाज्ञाये प्राकृतभाषा मे ही प्रसारित करवाते थे। महावीर के द्वारा प्राकृतभाषा को अपनाने से इस भाषा की प्रतिष्ठा और अधिक बढी, जिसके परिणामस्वरूप शताब्दियो बाद होने वाले सम्राट् अशोक और सम्राट् खारवेल जैसे प्रतापी-राजाओ ने भी अपने सदेश प्राकृतभाषा मे ही उत्कीर्ण करवाये। भगवान् महावीर की इस युक्ति के पीछे लोकतात्रिक-परिवेश का प्रभाव ही मूलकारण था, क्योंकि लोकतत्र लोक की भाषा को अपने विचारों के सम्प्रेषण का माध्यम बनाने का निर्देश देता है। इसीलिये आज हमारी सरकारी तौर पर राष्ट्रभाषा हिन्दी है, न कि अग्रेजी।

भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित अहिसा, अनेकान्त, स्याद्वाद एव अपरिग्रह जैसे सिद्धातो के पीछे भी लोकतात्रिक एव गणतात्रिक-दृष्टि ही मूल थी। वे चाहते थे कि हम लोक को अपनाये तो, किन्तु उसे मात्र 'जन' के रूप मे न छोड दे, अपितु उसे अहिसा आदि के सस्कारो से सस्कारित कर 'गण' के रूप मे प्रतिष्ठित करे। जनतत्र से गणतत्र तक की शिक्षा सम्पूर्ण प्राणीमात्र को देने के लिये बिना किसी सरकारी-आदेश या लौकिक-अधिकारो के मात्र आध्यात्मिक-जागृति के सदेशो को माध्यम बनाकर जो प्रयोग भगवान् महावीर ने किये और उनका जितना व्यापक सुपरिणाम आया, उससे यह भारतवर्ष आज तक अनुप्राणित है। राष्ट्रपिता

महात्मा गाँधी ने भी स्पष्टरूप से कहा है कि "उन्होंने भारतवर्ष को स्वतत्र कराने मे भगवान् महावीर के जीवन और दर्शन से व्यापक-प्रेरणा ली है, क्योंकि उनका जीवन-दर्शन लोकतंत्र एव गणतत्र के मूलभूत-आदर्शों का अनुपम-निदर्शन था।"

आधुनिक गवेषी-विद्वानो ने तो यहाँ तक कहा है कि स्वतन्त्र-भारत का सविधान बनाते समय हमारे सविधान-निर्माताओ ने जो पाश्चात्य-देशो के सविधानो का अनुकरण किया है, उसी से आज हमारे देश का सवैधानिक-ढाँचा सुरक्षित नही है। क्योंकि हमारे देश की परिस्थितियाँ और सस्कार पाश्चात्य-देशो के अनुरूप नही है; इसीलिये उनके सविधानों को अनुसरण करके बनाया गया सविधान यहाँ कैसे उपयुक्त हो सकता है? वे कहते हैं कि यदि वैशाली-गणतन्त्र का सविधान और उसके नियम यदि इस देश के सविधान मे लिये गये होते, तो आज की स्थिति कुछ और ही होती। ❖❖

केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् तीर्थंकर वर्धमान महावीर भगवान्
का मगल-विहार एव उनके समवशरण का शुभ-आगमन

ईसापूर्व	557	राजगृह (विपुलाचल पर्वत)	ईसापूर्व	556	वैशाली
ईसापूर्व	555	वाणिज्यग्राम	ईसापूर्व	554	राजगृह
ईसापूर्व	553	वाणिज्यग्राम	ईसापूर्व	552	राजगृह
ईसापूर्व	551	राजगृह	ईसापूर्व	550	वैशाली
ईसापूर्व	549	वैशाली	ईसापूर्व	548	राजगृह
ईसापूर्व	547	वाणिज्यग्राम	ईसापूर्व	546	राजगृह
ईसापूर्व	545	राजगृह	ईसापूर्व	544	मिथिला
ईसापूर्व	543	श्रावस्ती	ईसापूर्व	542	वाणिज्यग्राम
ईसापूर्व	541	राजगृह	ईसापूर्व	540	वाणिज्यग्राम
ईसापूर्व	539	वैशाली	ईसापूर्व	538	वैशाली
ईसापूर्व	537	राजगृह	ईसापूर्व	536	नालन्दा
ईसापूर्व	535	वैशाली	ईसापूर्व	534	वैशाली
ईसापूर्व	533	राजगृह	ईसापूर्व	532	नालन्दा
ईसापूर्व	531	मिथिला	ईसापूर्व	530	मिथिला
ईसापूर्व	529	राजगृह	ईसापूर्व	528	पावापुरी ("पावाया मध्य-माया हस्तिवालिकामण्डपे नमस्यामीति")

इनके अतिरिक्त उज्जयिनी, जृभिकागाव (बिहार), कलिग तथा भारत के प्रत्येक प्रातो मे धर्म-देशना देते हुये मगल-विहार करते रहे है।

वइसालीए कुमार-वड्ढमाणो

✍ डॉ. उदयचन्द्र जैन

दिगम्बर-जैन-आगम-ग्रन्थो की माध्यम-भाषा शौरसेनी-प्राकृत सहस्राब्दियो-पूर्व से इस देश की प्रमुख भाषा रही है, तथा आज भी इस भाषा मे साहित्य-सृजन हो रहा है। वैशाली-नगरी के कुण्डग्राम में जन्मे भगवान् महावीर, जिन्हे 'वैशालिक' भी कहा जाता था, के बारे मे शौरसेनी-प्राकृतभाषा के माध्यम से परिचय देनेवाला यह आलेख प्राकृतभाषा-प्रेमियो को विशेष-आकर्षण का केन्द्र रहेगा। — **सम्पादक**

जबूदीवे भरहखेत्ते बहुविहदेसा, रज्जा, गणरज्जा-णयर-उवणयराणि अहेसी। बहुगणे गणरज्जेसु वइसालीगणरज्जो वि। सो अदिसमिद्धो वइहवसपण्णो विसालो वित्थिण्णो वि। ईसापुव्वे पच-सद-णिण्णाणवे भरहिज्ज-विविह गणरज्जेसु वइसालीए णाम विक्खादा पसिद्धा।

विदेहवेसस्स पमुहरज्जो — वइसाली विदेहदेसस्स पमुहरज्जो पमुहकेदो, पमुहठाणो रायधाणीइ णामेण समलकिदा। सा वित्थिण्णा गडगी-णदि पेरत चपारण्णतग। तस्स पएसो विदेहो वा तिण्णि-भुत्तो/तिरहुतो। सत्ति सगम-तते वण्णण

गडगी-तीरभारभ चपारण्णवग सिवे।
विवेहभू समक्खावा तीरभुत्ताहिवो मणू॥

ववदेहगणसघो — णाणाविहसघो गणो गणरज्जो य महावीरस्स पुव्वे विक्खादा। पच्छा सव्वगणरज्जाण एगसुत्ते समाहिदूण रायततादु पुधु 'विदेह-गणसघो' इदि णाम किदो। विदेहगणसघो वि गणरज्जो विसालो। अण्णे वज्जी, लिच्छवीसघो वेसालीसघो वि। वज्जीदेसस्स रज्जो 'वेसाली गणतत' णामेण पासिद्धो। अस्सि च विदेहो, णत्तिगो लिच्छवी वज्जि-उग्गो भोगो इक्खागू-कौरवा य।

वइसाली गणततो — वइसाली विसालो गणततो। अस्सि णाणा णिगमा जणवदा गामा रज्जा सघा गणा समाहिदा। **सुत्तसगहे** वेसालीविसए उत्तो वेसाली रमणीया। तस्सि चेतिय रमणीय। वेसालीगणतते लिच्छवीण वासो आसी। ते राजपुरिसा वीरा धीरा धम्मपवीणा वि। ते लिच्छवी णीला होति, णीलवण्णा णीलवत्था णीलालकारा। एकच्चे लिच्छवी पीता होति, पीतवण्णा पीतवत्था पीतालकारा। इच्चाई। (सुत्तसगह 134 135) वइसालीए अबपाली-वण वि। अबपालीए लिच्छवीपुत्तो गोदमो आगच्छदि। अबपाली गणिगा वि वइसालीए परिवसदि। दिग्घ निकाए वि वइसाली गणततस्स उल्लेहो। वइसालीए वज्जिदेसस्स वज्जिपुत्तगो वत्तिपुत्तगो वाहिदो। वज्जिपुत्तगाण विरोह-सतकरणट्ठ वइसालीए वीअसगीदी जादा।

गगा-हिमवदे मज्झे णाईपचदसतरे।
तीरभुतित्ति विक्खावो वेस परम-पावणो॥
कोसिगीदु समारभो गडगीमहिगच्छवे।
जोजणाणि चदुविसि वायामपरिकित्तिदो॥

गंगप्पवाहमारंभं जाव हेमवद वणं।
वित्थरो सोलहो वुत्तो वेसस्स कुलणवणो।।

विण्हुपुराणम्हि मिहिलाखडे जो विदेहो अत्थि, तेसु विसालो वित्थरो वइसाली वि। सा गगा-हिमवत्-पेरत-मज्झे आसि। तस्सि तीरहुत्तदेसो पचदसतर-धवहमाण-णदीजुत्तो अत्थि। तस्सि पुव्वम्हि कोसिगी (कोसी), पच्छिमम्हि गडगी, उत्तरम्हि हिमगिरी, दाहिणम्हि य गगाणई। एसो तीरहुत्त-देसो पुव्व-पच्छिम-पेरत चदुविसजोयणाणि तध दाहिण च सोलह जोयणाणि वित्थरो। विमलपुराणे उत्तरपुराणे वण्णण अत्थि-सिधु-अडविसण्णिगडे वेसाली।

वइसालि-अहिववी वइसाली-गणततस्स मूलणायगो महाराय चेडगो। लिच्छवीण खईण पहाणो वि। 'लिच्छवी' खत्तियाण पमुहवसो। विदेहाण णरवईण लिच्छवीसराण च पुधु पुधु रज्जो। तेसि सजुत्त-रूव कादूण एग गणरज्जस्स ठाविदो। पुव्वे वज्जी वज्जिगण-णामसघ रूवे विक्खादो। सपुण्ण-वज्जिगण-सघस्स रायधाणी वइसाली। सो लिच्छवीवसस्स पमुहो इमस्स गणततस्स अज्झक्खो।

वइसालि-गणरज्जस्स गणाहिववी — एस णिव्वादो अत्थि वइसाली विसालो गणततो। तस्स महाहिराया चेडगो, लिच्छवीण पमुहो वि। सव्वेसु गणततेसु वइसाली पमुहो गणततो। जादग-अट्ठकधाणुसारेण अस्सि समग्गगणरज्जे सदसहस्स-सद-सदा राया रज्जसत्त सचालेति पुधु पुधु रज्जाण। अणेग-राया, अवराया सेणावदी-भडारिगा वि अत्थि। सव्वे रायाणो णिय-णिय-खेत्ताण रायाहियारी। तेसि मूलाहिवदी गणाहिवदी य चेडगो।

उवएसमालाए चेडगस्स वइसाली-पुरीए सासगो जिणभत्त-सावगो भासेज्ज। तस्सि एव हेहय-कुल-सभूओ चेडग णाम णिवो आसि त्ति वुत्तो। बुद्धागमेसु पिडगेसु च चेडगस्स उल्लेहो णत्थि, किण्णु वइसालीए गणरज्जस्स पिडगेसु उल्लेहो आसी।

चेडगस्स कुल-परपरा — चेडगो धम्मणिट्ठो सुसावगो अत्थि। सो कत्तव्व-णिट्ठो कम्मपरायणो वियारगो उदारचेदा परक्कमी जिणिदभत्तो, दाणी, णाणीजणाण माणी सम्माणी विणीदो रायणेइण्णो वि। तस्स पिदू वि सावग-गुणाहि विहूसगो णामेण च कोसिगो मादुसिरी सोहणमदी सोहण-सदवियारसपुण्णा।

धम्मपरायणा पदिपरायणा धम्मसीला सुभद्दा तस्स भज्जा, भद्दपरिणामी विदुसी। ताए दसकुलपुत्ता सत्तपुत्तीओ जादा। धणदत्तो, धणभद्दो, उविदो, सुदत्तो, सिहभद्दो, सुलभोजो, अकपणो, पतगगो, पहजणो, पहासो य दसपुत्ता। पियकारिणी (तिसला), सुपपहा, पहावदी, मिगावदी, चेलणी, जेट्ठा, चदणा य सत्ततणया णाणाविहकला-समावण्णा। सहावेण सरला धीरा गहीरा, सीलेण सेट्ठा चरित्तणिट्ठा। चदुछट्ठकला-कल-कमणिज्जा, लज्जाए पडिमुत्तीओ।

विदेहकुडो — विदेह-देसत्थे कुडपुर णयर आसी। जिणसत्थेसु पुराणेसु आगमेसु विविहणामा-कुडग्गामो कुडगामो कुडलपुर कुडपुरु कडला इच्चादि। विदेहदेसस्स कुडपुर-वासी राया सिद्धत्थो सो णादणाह-णाधवसी वेसालीगणतते वि लोयप्पियो। वइसाली-गणतते कुडगामो वि तस्स परिणयो चेडगाहिवदिणो जेट्ठपुत्ती-पियकारिणीए सह जादो। सा अणण्णप्पियक्कारिणी सव्वप्पिया जिणेसरी णयरी-वइसालीए वि पियकारिणी। तिसला-महिसी जणाण तिस-अभय देदि। णद णदेदि अणद उप्पपादे। सव्वत्थपियप्पियो होदि। राया सिद्धत्थो वि पियो सा अणेगविध-बहुमाणेण समादर पत्ता समादर कुव्वदे। धम्मकलाए धम्माणु सासण जणएदि।

तिसलाए अण्णा पिअकारिणी भगिणीओ खत्तिय-कुमारेहिं परिणीदा। सुप्पहा दसारणदेसत्थस्स हेमकक्खस्स णयरस्स सुज्जवसीराया-दसरह, कच्छणयरस्स रोरुगणयरस्स उदयण-रण्णा पहावदीए। सा पहावदीए सीलव्वदेण **च सीलवदी वि जादा।** वच्छदेसस्स सोम्मवसी रायसद्णीगेण च मिगावदीए विवाहो जादो।

गधारदेसस्स महापुर-णयरस्स महिसी जेट्ठा जायणा किज्जा। राय-सच्चगेण सह ण परिणदा। सा परिणय **विणा** जिण-धम्माणुगामिणी जादा। ताए **एव** भगिणी चेलणाए विवाहो राय-बिवसारेण सह होदि। जेट्ठा चदणा **दु** जिणधम्माणुरागिणी आसी।

वइसाली-कुमार-वड्ढमाणो — वइसाली-गणतते णाणाविध सघा, गणा, रज्जा समाहिदा। तस्स सघाण गणाण रज्जाण रज्ज-रक्खगा रायाणो वि विविधा णिय-णियखेत्तस्स सचालगा। विदेहा, णत्तिगा, लिच्छवी, वज्जी, उग्गा, भोगा, इक्खागु-कुला, कोरवा वि गणा विसाल-गणरज्जस्स वइसालीए गोरवसालीवसा। सिद्धत्थराया कुडगामस्स अहिवदी। जेण सह पिअगारिणी (तिसला) पमुह-महिसीरूवे समवचिट्ठिदा। तस्स कुमारो वड्ढमाणो।

वइसाली-गणतते अण्णे कुमारा रायपुत्ता, रायवरे जेट्ठा पुत्तगा वि। कुमार-गोदमो बुद्धो वि वइसालीए गणततस्स कुमारो। त कुमार वइसालीकुमारो भासदे। वइसालीए लिच्छवी वेसालीए वज्जी, वइसालीए मल्ली, वइसालीए कोसला, अण्णे बहुरायपुत्ता रायकुमारा।

वइसाली-कुमार-वड्ढमाणो — वइसालीए कुडपुरस्स कुमारो। तस्स सासगो सिद्धत्थो। महिसी पिअकारिणी तिसला। सा पिअकारिणी एग पुत्त जणएदि। मासो चेत्तमासो तिही तेरसी। समयो छव्वीस-सदेव अज्जेव पुव्वो। पुराणेसु वुत्तो

> **सिद्धत्थ णिववितणय-अरहवस्से विदेहकुडे।**
> **विव्वा पियकारिणी सुसिविणा सपविस्स-विहू॥**
> **चेत्तसिवपक्ख-फग्गुणि-ससग-जोगे-दिणे।**

कुडउरस्स महिमा अदिपासिद्धा। सो गामो वि कुडगामो। कुडगामे सव्वे जादी-जणजादी रज्जपरिवारा वि **अवट्ठिसे।** जत्थ-वइसाली मगलकारिणी दिव्वा रम्मगा धण-धण्णेहि सामिद्धा तत्थेव कुडपुगे/कुडगामो वि। **सत्तत्थ** वणसपदा हरिद-तिण-लदा-गुम्म-गुच्छ-सछिण्णा जण-मणमोदिणी। जलरासिणो रासदि रासदि भासदि **भासदि** कल-कलकण्णपुण्णसद्देहि।

कुमार-वड्ढमाणो — मादु-तिसला जधेव गब्भ धारदि, तधेव पुव्वे सा सोलह-मगल-कारि-सिविण **अवलोयदि।**

> **गजिव इवस्स वस, गविद-सिव-णोम्मग।**
> **सिह चव सरिच्छ च, कमलासणि-लच्छि च॥**
> **दु-पुप्फ-सुंविर माल, पुण्णचव सुमडल।**
> **उवयाचल-सुज्ज च, कमलाछण्ण-कुभ वो॥**
> **वो कीलतयमच्छ, विव्व सरोवरं णीर।**
> **वेलातडागवोवधि, उच्चसिहासणं रम्म॥**

सग्गागव-विमाणं च, णागिंबभवण वर।
देविपरयणाकलिं, णिद्धूम-अग्गिजाल च॥

मगलोग्गीदेण सह पिअकारिणी जग्गदि। जग्गिदूण च सव्वंकिरिय किदमगल-णेह वत्थालकरण च जुत्ता होदूण णिवठाण पत्तेदि। तत्थ सा सुहासणम्हि आसीण-भूदा सोलह-सिविणाणि णद-णदेण च परिधोलेदि। राया सिद्धत्थो पसण्णो भूदो परिभासदि अदिमंगलकारिणी-सिविणाणि। तुट्ठो सतुट्ठा भूदा तुम णियठाण पत्तोति।

गब्भे समागद कुमारादु धरा वि रयणगब्भा हासजुत्ता समलंकिदा छम्मासपेरत च रयण-रासि-सग्गादु सुरोत्तमेहि परिसिचेति। ते दिव्व-देवा णाणाविहुच्छव कुव्वंति। जणणीए सेवाए सिरी-हिरी-धिदी-बुद्धी-लच्छी एदाओ छक्कुमारीओ सोहाए सचार कुव्वेति। सिरी सोह, हिरी लज्ज वड्ढेदि। िंदी धिज्ज/धीरत्त, कित्ती थुदि परिवड्ढेदि। बुद्धी बोह णिम्मएण कुव्वेदि तध लच्छीविहूदि च। जहिवि सा मादू सहावेण च आणद हरिस मुद णद विसुद्ध-परिणाम छारिदूण च णिच्च णिअगण सुसोहज्जदि।

णव-मासतर-सण्णिगडे आगदे देव-देवगाणाओ कल परिलंकिद च कव्वकला-जुत्त-कलण कुव्वेंति। मुहिदुणा जिद पोंम्म सा पिअकारिणी सव्वत्थ वड्ढमाण-गुणेण च पभाद-काल सुज्जव्व चेदसिद-तेरस-सुह-दिवे पुत्त जणेदि।

तिबोह-किरणेहि उब्भासिदो एस बालो जगस्स अपुव्व-सुज्जो वि। मदि-सुद-ओहि-णाणेहि समलकिदो वड्ढमाणो सव्वत्थ विद्धि च कुव्वेदि। तत्तो कारणादो णिमित्तणाणी णिमित्त-जोग-रासि-जोगादि-पुव्वेण च णाम कुव्वेति वड्ढमाणो वड्ढेदि कला-कलाए। णम्मीभूदा सुरासुरा देव-देविदा अपुव्वुच्छव कुव्वेति। अहिसेग-समए दसिद-लच्छेण सिहो लच्छण कुव्वेति ते।

अधिवदी-राया-सिद्धत्थस्स कुडगामे सव्वत्थ उच्छवो हि उच्छवो। महुच्छवो वइसाली गणरज्जे, लिच्छवी-गण-णायगेसु, इक्खागुवस-पडिपालगेसु, वज्जिसु विदेहकुडे उग्गकुलेसु भोगकुलेसु कोरवेसु च वि।

कुडपुरम्हि महुच्छवो — वइसालीगणरज्जस्स कुडपुरम्हि सव्वत्थ उच्छवो महाजणेहि पण्णजणेहि खत्तिगेहि अण्णेहि च सव्वेहि जणेहि किदो चदुपधम्हि तिमग्गम्हि रज्ज-मह-पथम्हि गामे वा णयरे वा उवणयरे खेडे कव्वडे मडवे मडले वा पट्टणे दोणमुहे घोसे आसमे साला-सण्णिवेसे पडिवेसे वि।

वड्ढमाणस्स बालचेट्ठा — णाणाविध-बालचेट्ठा-समलकिदो कुमारो अदिपससणिज्जो वि होदि। सुउमाल-पाद-कर-पल्लवेहि मोहदि जणाण णेह पत्तेदि अप्पाण-कुडुंबिगेहिं। ति-णाण-वतो वि विज्ज-विहूसण पादु णिच्च अग्गणीभूदो णिय-वयस्साण णदेदि।

तस्स पियमित्ताणि — सो कुमारो दुजचदोव्व चददुति धारतो सव्वेसि णद-णदगो वि। जदि वि सो णाणाविध-लक्खणेहि सजुत्तो पियप्पिओ पाणप्पिओ जणप्पिओ सेट्ठप्पिओ रज्जप्पिओ सो सख-चक्क- पोंम्म-जव-धणु-धजादि इगसहस्स-अट्ठ-लक्खणेहि विहूसिदो किध-किध णद ण पदेज्जा। जे वि त छवि-पासति, ते सव्वे पियमित्ताणि।

किण्णु तस्स कुमारवड्ढमाणो कुमारचलधरो कुमारकाकधरो — कुमारपक्खधरो एदाणि चदुमित्ताणि पारभेण च तेण सह सुसोहिदा णाणाविध-बालसुलह-कील कुव्वेंति। उववणे आरामे वि परिकीलंति सहेव।

कुमार-बुद्धि-गोरवो — जो तित्थयरों होदि सो तिण्णाण जम्मादो वि लहेदि। किण्णु लहुबालो बालो हि जायदे। जदो सो अट्ठवय पत्तो, तदो सो विलक्खण-मदि-वतो असाहरण-पडिभावतो पण्णावतो सोम्मो वि। त असाहरण पडिभा-णाण बुद्धि-विलक्खण पण्ण-महिम सुणेंति सजयत-विजयत-चारणरिद्धिजुदमुणिणो। ते आयार-पूदा पण्णवत्ता वि सव्वे जाणेंति। तेसु च ण सका, तध वि ते तच्च-विसयत्थ सक णेदूण आच्छति। समाहाणत्थ च त समीव पत्तेति। किण्णु ते परम-जुदि-वत-कुमार-वड्ढमाणसदसण काबूण त मिट्ठ-वत्तालाव मुद-सुद-पुण्ण-ववहार जाणिदूण दसण-मेत्तेव तच्चलाह पत्तेंति सम-समय सम-सुदणाण च जाणेति। ते रिद्धि-णाण-बलजुत्ता मुणिवरा णो केवल सयमेव समाहेज्जा अवि दु अप्पहिदत्थ पदक्खिण कुव्वेंति।

सम्मदी कुमारो — जो सव्व सम्मदि देदि सो सम्मदी होदि। सम्म मदीए सम्मणाणेण च सो अट्ठवय-बालो कुमारवड्ढमाण-कुमारचलधर-कुमारकागधर-कुमारपक्खधरेसु च कुमारो वि बालो। ते वि त मदि विसालत्थ जाणिदूण णिच्चेव तस्स अग्गगामी-परममित्त-रूव धारिदूण च सह-सहेव कीलेंति पढेंति तच्च-णाण च समीहिज्जेंति।

जण-जणेहि दिव्वपुरिसेहि मित्तगणेहि च सो वड्ढमाणो सम्मदी। उवहिदजणा दिव्वगणा जण-जणवदवासिणो णर-णारी वि तस्स णाणस्स पुण पुण पससेंज्ज। सो कुमारो लहुबालो बालाण मज्झे अहेसि। सो कुडपुरस्साहिरामो।

कुमार-वीरो — बालो दु बालो हवेदि। सो कीलगणे कील कदेदि मित्तेहि सह आराम उववणे वि गच्छदि। जल- कीड, वणकीड, णाणाविध-दिव्वुच्छव, वसतुच्छव आदि च मण्णेदि। तस्सि समयम्हि कुमारकालम्हि उच्छव-पुण्णो हि।

एस वेसालिय-कुमरो कुमरेहि रायकुमरेहि मित्तवरेहि च सह उज्जाण पडिगच्छदि। गच्छित्ता णाणाविध-कील करेदि। साहा साहे आरोहदि, आरोहेंति ते समागद-समवयस्सगा कुमारा। रुक्खेसु आरोहिदूण णदेति णो तेसि सरक्खणत्थ चितदि। कुमारा चवला हुंति बालचवलत्तेण च इत्थ तत्थ अहिगच्छेति। वाणरव्व उच्छलण कुव्वेंति। कुमारेहि सह एगो दिव्वकुमारो वि आगच्छदि।

सो दिव्वकुमारो देवो सगमहिणामो कुमारो। तेहि सह परिकीलदि। णाणाविध-कील करेदि। णागदेवाण कुमारो सगमो सगच्छेदि सकीलेदि। णिब्भीदो कुमारो वड्ढमाणो वि धावतो लुक्कदि परिदिस्सदि आरोहदि वि। णागकुमारो त भयमुत्तकुमार परिदसिदूण मणे चितेदि कि एस कुमरो जहेट्ठभयमुत्तो। त परिक्खणत्थ च सो णागरूव धारेदि। रुक्ख परिवेढएदि।

कुमारा वड्ढमाण अणवेसएता रुक्खे मूले आगच्छति। पासेति ते सव्वे णाग/सप्प/किण्हसप्प जो दिव्वो विसालो वइसालीए कत्थ वि परिदसिदो।

"णागो-णागो, सप्पो-सप्पो, कालो, भुजगो, विसहरो, फुक्कारवतो णिच्छयमेव कुमार डंसिस्सदि" उच्चसरेहि भासति "कुमारा वड्ढमाणो अणुगच्छेंज्ज बहि, अणुगच्छेंज्ज वहि, विसहरो विकरालो कालो णागो।" सव्वे विरमेंति जत्थ तत्थ अणुधावेति वदता विसहरादु दूरो होदु वड्ढमाणो।

कुमार-वड्ढमाणो वड्ढमाणेण गुणेण जण-णयणाहिरामो णिय-पाद अणुचरेंति भुजंगराय पडि मंद-मद हास-समण्णिदो समभाव-जुत्तो। अप्प सोम्मदिहि कादूण अणुदसेदि पुण पुण अवलोएहि मित्तव्व। सो विअसतो सतो जादो। बालाण अणुपासता अणुपेक्खता एस कुमारो पुच्छ घेत्तूण बहि कुव्वेदि। णागकुमारो णागरूव परिचइदूण

दिव्वरूव धारेदि अणुपस्सेदि वि पुणु पुणु कुमार बालकुमार च। जध सुर्णेज्जा तध सो बालो अत्थि। वीरो अत्थि, साहसी परक्कमी वि। अण्णबालेसु वीरो। तस्स मित्ताणि कुमारा अत्थि सुउमाला वि।

उम्मत्त-हत्थि वसकरेण सो अदिवीरो। वीरो बालो, अदिवीरो बालो। बालरूव पच्छा सव्वकला-पारगदो जुवराजो वि।

जुवराजो वड्ढमाणो — अस्सि समए वड्ढमाण पुरदो सव्व-वइसाली-गणततस्स ठिदि-सठिदा। विविध-गणरज्जस्स ठिदी गामाण परिट्ठिदी उवगामाण वि सव्व-वेदणा। चेदणाए अप्पचेदणाए अणुरत्तो जुवराजो कि कुव्वे, कि बोर्हेज्ज। जत्थेव गच्छदि तत्थेव कम्म-कडेसु आरभा समारभा हि समारभा। समियाए विप्पमुत्ता मुत्ति जाणण अग्गेसरा वि आराजगदाए अच्चाचारादो वध-बधण णीदीए कि कुर्णेज्जा। सव्वे आतकिदा।

जुवराजो समग्ग-जण-भावण अणुचितेदि। चितेदि वि त णिवारणत्थ अणुप्पासो कुव्वेदि। जुवराज-पदे पचिट्ठिदम्हि कि होंज्जा। सव्वत्थ एगो हि वियारो —

जा जा वच्चइ रयणी ण सा पडिणिइत्तइ। अधम्मिगा हि अधम्मिगा। सति-इच्छुगा अणेगा वि सति-मग्ग पत्तु पजण्णसीला। असतीए असतीए सव्वत्थ असतीए को अग्गगामी होदूण संति-दीव पज्जतेस्सदि। जे वि अग्गे अणुगच्छेति ते किचि समय पच्छा विरमेंति। कुमारा अग्गेसरा बलेण जुत्ता बलेति। किण्णु धम्म घेत्तूण च जदि गमिस्सदि, सो एव झत्ति धम्म-चेदण जग्गिस्सदि।

कहेति कुमारा मंतिकुमारा सत्थवाह-कुमारा रज्जरायककुमारा वि। अस्सि गणरज्जे एगमेत्त कुमारो वड्ढमाणो, सो एव धम्मणीदीए सति कत्तु समत्थो होहिदि। सो जाणेदि सव्व तिसला-अणुराग पिदु-रज्जभार च जण-जणेसु च अदिवित्थिण्ण-हिसग वि। हिसगेसु अहिसगो जुवराज-पदेण ण सभवो। मादुप्पियो ह मादु-ममत्त जाणिदूण कुलगिहे कुलगेहि वि इच्छदि।

वीरो महावीरो — वीरो वीरो, अदिवीरो गेहे रमे रज्जे रमे असार-ससार सरेंज्ज महावीहि च। सो **सव्व जग** तु समयाणुपेही सुत्तो वि अणुदिट्ठीए समागदो। पढम णाण तओ दया अप्प हिद सव्वुवरि मण्णेदि। 'अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो' परेहि बधणेहि बहेहि च पर्मोक्ख कादूण दुक्खादु विमुचदि। जौव्वण-जोग-जुवराजो अप्पाणमेव जुज्झाहि। तेणमेव अप्पाणमेव अप्पाण सुहमेहए। सव्वत्थ आद-विण्णाणाहितो अप्पप्पगासो होंज्जदि। वए तिस-वास-गदे हि सो जुवराजो जुवराजपदादु विप्पमुत्तो महापधाणुगामी होंज्जदि। सो अज्ज दोसहस्स-एगे वि महावीरो महावीरत्त पदादु सबोर्हेज्जदि आगम-सुत्त-सिद्धत-वयणेहि।

"जयवु जयवु जयवु जयवु
वीरो जयवु, अदिवीरो जयवु
वड्ढमाणो जयवु, तिसलासुवो जयवु..
सिद्धत्थतणयो जयवु...
महावीरो जयवु, वीवरागो जयवु
वइसाली-कुमारो जयवु, गणगणप्पियो जयवु॥"

❖❖

भगवान् महावीर के व्यक्तित्व का दर्पण : 'वड्ढमाण-चरिउ'

✍ प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन

भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र को विषय बनाकर अनेको प्राचीन आचार्यों और मनीषियो ने विपुल-परिमाण मे साहित्य-सृजन किया है। इनमे से प्राकृत और अपभ्रश-भाषाओ मे भी व्यापक-साहित्य लिखा गया है। इन दोनो मे समर्पित-भाव से अध्ययन और अनुसधान करनेवाले विद्वानो की सख्या अतिन्यून है। सौभाग्य से राष्ट्रपति-प्रशस्ति से सम्मानित कीर्तिपुज प्रो राजाराम जी जैन जैसे कुछ विद्वान् है, जो प्राचीन-पाडुलिपियो के क्षेत्र मे सिद्धहस्त-साधक है। उन्ही के द्वारा व्यापक-अनुसधान से प्राप्त 'वड्ढमाणचरिउ' नामक अपभ्रश-रचना, जो कि भगवान् महावीर का जीवरचरित्र प्रस्तुत करती है, का परिचयात्मक यह आलेख ज्ञानभजन के रूप मे यहाँ प्रस्तुत है। — **सम्पादक**

परम्परा और स्रोत

पुरातन-काल से ही श्रमण-महावीर का पावन-चरित कवियो के लिए एक सरस एव लोकप्रिय-विषय रहा है। 'तिलोयपण्णत्ती'[1]-प्रभृति शौरसेनी-आगम-साहित्य के बीज-सूत्रो के आधार पर दिगम्बर-कवियो एव आचाराग आदि अर्धमागधी आगम-ग्रन्थो के आधार पर श्वेताम्बर-कवियो ने समय-समय पर विविध-भाषाओ मे महावीर-चरितो का प्रणयन किया है।

दिगम्बर महावीर-चरितो मे सस्कृत-भाषा मे आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराणान्तर्गत[2] 'महावीरचरित' (10वी सदी), महाकवि असगकृत वर्धमानचरित्र[3] (11वी सदी), पण्डित आशाधरकृत त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम्[4] के अन्तर्गत महावीर-पुराण, (13वी सदी), आचार्य दामनन्दीकृत पुराणसार-सग्रह[5] के अन्तर्गत महावीरपुराण, भटारक सकलकीर्ति कृत वर्धमानचरित[6] (16वी सदी) एव पद्मनन्दीकृत वर्धमानचरित (अप्रकाशित, सम्भवत: 15वी सदी) प्रमुख है।

दाक्षिणात्य[7] कवियो मे केशव, पद्म, आचण्ण एव वाणीवल्लभकृत 'महावीर चरित' उल्लेखनीय है।

अपभ्रश-भाषा मे आचार्य पुष्पदन्तकृत महापुराणान्तर्गत[8] वड्ढमाणचरिउ (10वी सदी), विबुधश्रीधरकृत वड्ढमाणचरिउ[9] (वि स. 1190), महाकवि रइधूकृत महापुराणान्तर्गत महावीरचरिउ[10] एव स्वतन्त्ररूप से लिखित सम्मइजिणचरिउ[11] (15वी सदी), जयमित्रहालकृत वड्ढमाणकव्व (अप्रकाशित, 14-15वी सदी के आसपास), तथा कवि नरसेनकृत वड्ढमाणकहा[12] (16वी सदी) प्रमुख है।

'जूनी-गुजराती' मे महाकवि पदमकृत महावीर-रास (अप्रकाशित 17वी सदी) तथा बुन्देली-हिन्दी मे नवलशाहकृत 'वर्धमानपुराण'[13] (19वी सदी) प्रमुख है।

श्वेताम्बर-परम्परा मे अर्धमागधी-प्राकृतागमो मे उपलब्ध महावीर-चरितो के अतिरिक्त स्वतन्त्ररूप मे प्राकृतभाषा मे लिखित श्री देवेन्द्रगणिकृत 'महावीरचरिय'[14] (10वीं सदी), श्री सुमतिवाचक के शिष्य गुणचन्द्रकृत 'महावीरचरिय'[15] (10-11वी सदी) तथा देवभद्रसूरिकृत 'महावीरचरिय' तथा शीलाकाचार्यकृत 'चउप्पन्न-महापुरिसचरिय'[16] के अन्तर्गत वड्ढमाणचरिय (वि स 925) प्रमुख है।

अपभ्रंश-भाषा मे जिनेश्वरसूरि के शिष्य द्वारा विरचित महावीरचरिउ[17] महत्त्वपूर्ण-रचना है।

सस्कृत-भाषा मे जिनरत्नसूरि के शिष्य अमरसूरिकृत 'चतुर्विंशति जिनचरित्रान्तर्गत' 'महावीरचरितम्'[18] (13वी सदी), हेमचन्द्राचार्यकृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष'[19]चरितान्तर्गत 'महावीरचरित' (13वी सदी) तथा मेरुतुगकृत महापुराण के अन्तर्गत 'महावीरचरितम्'[20] (14वी सदी) आदि उच्चकोटि की रचनाये है।

उक्त वर्धमानचरितो मे से प्रस्तुत 'वड्ढमाणचरिउ' की कथा का मूल-स्रोत आचार्य गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' के 74वे पर्व मे ग्रथित महावीरचरित्र एव महाकवि असगकृत 'वर्धमानचरित्र' है। यद्यपि विबुध श्रीधर ने इन स्रोत-ग्रन्थो का उल्लेख 'वड्ढमाणचरिउ' में नही किया है, किन्तु तुलनात्मक-अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि उसने उक्त वर्धमानचरित्रो से मूल-कथानक ग्रहण किया है। इतना अवश्य है कि कवि श्रीधर ने उक्त स्रोत-ग्रन्थो से घटनाये लेकर आवश्यकतानुसार उनमे कुछ कतर-ब्यौत कर मूल-कथा को सर्वप्रथम स्वतन्त्र अपभ्रंश-काव्योचित बनाया है। गुणभद्र ने मधुवन-निवासी भिल्लराज पुरुरवा के भवान्तर-वर्णनो से अपने ग्रन्थारम्भ किये है। गुणभद्र द्वारा वर्णित सती चन्दनाचरित[21], राजा श्रेणिकचरित[22] एव अभयकुमारचरित[23], राजा चेटक[24] एव रानी चेलनाचरित[25], जीवन्धरचरित[26], राजा श्वेतवाहन[27], जम्बूस्वामी[28], प्रीतिकर मुनि[29], कल्किपुत्र अजितजय[30] तथा आगामी तीर्थंकर आदि शलाकापुरुषो के चरितो के वर्णन[31] कवि असग की भाँति ही विबुध श्रीधर ने भी अनावश्यक समझकर छोड दिये हैं। गुणभद्र ने मध्य एव अन्त मे दार्शनिक, आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक एव आचारमूलक विस्तृत-विवेचन किया है। किन्तु विबुध श्रीधर ने ग्रन्थ के मध्य मे तो उपर्युक्त विषयो-सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक-नामोल्लेख मात्र करके ही काम चला लिया है तथा अन्त मे भी सैद्धान्तिक एव दार्शनिक विषयो को सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया है। भवावलियो को भी उसने सक्षिप्तरूप मे उपस्थित किया है। इसकारण कथानक अपेक्षाकृत अधिक-सरस एव सहज-ग्राह्य बन गया है।

कवि श्रीधर ने कथावस्तु के गठन में यह पूर्ण-आयास किया है कि प्रस्तुत पौराणिक-सम्बन्ध-स्थापन तथा अन्तर्कथाओ का यथास्थान-सयोजन कुशलतापूर्वक किया है। विविध-पात्रो के माध्यम से लोक-जीवन के विविध-पक्षो की सुन्दर-व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। कथावस्तु के रूप-गठन मे कवि ने योग्यता, अवसर, मत्कार्यता एव रूपाकृति नामक तत्त्वो का पूर्ण-ध्यान रखा है।

कुछ ऐतिहासिक तथ्य

विबुध श्रीधर साहित्यकार होने के साथ-साथ इतिहासवेत्ता भी प्रतीत होते है। उन्होने अपनी रचनाओ मे कुछ ऐसे ऐतिहासिक-तथ्य प्रस्तुत किये है, जो गम्भीररूप से विचारणीय है। उनमे से कुछ तथ्य निम्नप्रकार है —

(1) 'इल' गोत्र एव मुनिराज 'श्रुतसागर'।

(2) 'त्रिपृष्ठ' एव 'हयग्रीव' के युक्त-प्रसगो मे मृतक-योद्धाओ की बन्दीजनो (चारण-भाटो) द्वारा सूचियो का निर्माण।

(3) दिल्ली के प्राचीन नाम — 'ढिल्ली' का उल्लेख।

(4) तोमरवशी राजा अनगपाल एव हम्मीर वीर का उल्लेख।

1 कवि श्रीधर ने राजा नन्दन के मुख से मुनिराज श्रुतसागर को सम्बोधित कराते हुए उन्हे इल-परमेश्वर कहलवाया है।[32] यह इल अथवा इल-गोत्र क्या था, और इस परम्परा मे कौन-कौन से महापुरुष हुए हैं, कवि ने इसकी कोई सूचना नही दी। किन्तु हमारा अनुमान है कि कवि का सकेत उस वश-परम्परा की ओर है, जिसमे कलिग-सम्राट् खारवेल (ई पू. प्रथम सदी) हुआ था। खारवेल ने हाथीगुम्फा-शिलालेख मे अपने को 'ऐर' अथवा 'ऐल' वश का कहा है।[33] यह वश शौर्य-वीर्य एव पराक्रम मे अद्वितीय माना जाता रहा है। राजस्थान की परमार-वशावलियो मे भी कलिग-वश का उल्लेख मिलता है।[34] प्रतीत होता है कि परिस्थितिविशेष के कारण आगे-पीछे कभी खारवेल का वश पर्याप्त-विस्तृत होता रहा तथा उसका 'ऐर' अथवा 'ऐल' गोत्र भी देश, काल एव परिस्थितिवश परिवर्तित होता गया। गोइल्ल, चादिल्ल, गोहिल्य, गोविल, गोयल, गुहिलोत, भारिल्ल, कासिल, वासल, मित्तल, जिन्दल, तायल, बुन्देल, बाघेल, रुहेल, खेर आदि गोत्रो अथवा जातियो मे प्रयुक्त इल्ल, इल, यल, अल, एल तथा एर या ऐर उक्त इल अथवा एल के ही विविध-रूपान्तर प्रतीत होते है। सम्भवत: (खार+व+एल) इस नाम से भी विदित होता है। जो कुछ भी हो, यह निश्चित है कि इल अथवा एल वश पर्याप्त-प्रतिष्ठित एव प्रभावशाली रहा है। 11वी 12वी सदी मे भी वह पर्याप्त प्रसिद्धि-प्राप्त रहा होगा, इसीलिए कवि ने सम्भवत: उसी वश के मुनिराज श्रुतसागर के 'इल' गोत्र का विशेष-रूप से उल्लेख किया है।

2 विबुध श्रीधर उस प्रदेश का निवासी था, जो सदैव ही वीरो की भूमि बनी रही और उसके आसपास निरन्तर युद्ध चलते रहे। कोई असम्भव नही, यदि उसने अपनी आँखो से कुछ युद्धो को देखा भी हो, क्योकि 'वड्ढमाणचरिउ' मे त्रिपृष्ठ एव हयग्रीव के बीच हुए युद्ध[35], उनमें प्रयुक्त विविध-प्रकार के शस्त्रास्त्र[36], मन्त्रि-मण्डल के बीच मे [37]साम, [38]दाम, [39]दण्ड और [40]भेद-नीतियो के समर्थ एव विरोध मे प्रस्तुत किये गये विभिन्न-प्रकार के तर्क, [41]रणनीति, सव्यूह-रचना[42] आदि से यह स्पष्ट विदित होता है। 'वड्ढमाणचरिउ' मे कवि ने लिखा है कि — "चिरकाल तक रण की धुरी को धारण करनेवाले मृतक हुए तेजस्वी-नरनाथो की सूची तैयार करने हेतु बन्दीजनो (चारण-भाटो) ने उनका सक्षेप मे कुल एव नाम पूछना प्रारम्भ कर दिया।[43]"

कवि की यह उक्ति उसकी मानसिक-कल्पना की उपज नही है। उसने प्रचलित-परम्परा को ध्यान मे रखकर ही उसका कथन किया है। बन्दीजनो अथवा चारण-भाटो के कर्तव्यो मे एक कर्तव्य यह भी था कि वे वीर पुरुषो (मृतक अथवा जीवित) की वश-परम्परा तथा उनके कार्यों का विवरण रखा करे। राजस्थान मे यह परम्परा अभी भी प्रचलित है। वहाँ के चारण-भाटो के यहाँ वीर-पुरुषो की वशावलियाँ, उनके प्रमुख-कार्य तथा तत्कालीन महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-सामग्रियाँ भरी पडी है। मुहणोत नैणसी (वि स 1667-1727) नामक एक जैन-इतिहासकार ने उक्त कुछ सामग्री का सकलन-सम्पादन किया था जो 'मुहणोत नैणसी की ख्यात'[44] के नाम से प्रसिद्ध एव प्रकाशित है। राजस्थान तथा उत्तर एव मध्यभारत के इतिहास की दृष्टि से यह सकलन अद्वितीय है। कर्नल टॉड ने इस सामग्री का अच्छा सदुपयोग किया और राजस्थान का इतिहास लिखा। किन्तु उक्त ख्यातो मे जितनी सामग्री सकलित है, उसकी सहस्त्रगुनी सामग्री भी अप्रकाशित ही है। उसके प्रकाशन से अनेक नवीन ऐतिहासिक-तथ्य उभरेगे। इतिहास-लेखन के क्षेत्र मे इन चारण-भाटो का अमूल्य-योगदान विस्मृत करना समाज की सबसे बडी कृतघ्नता होगी। विबुध श्रीधर ने समकालीन चारण-भाटो के उक्त-कार्य का विशेषरूप से उल्लेख कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है।

3. विबुध श्रीधर ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि वह यमुना नदी पार करके हरियाणा से 'ढिल्ली'[45] आया था। 'दिल्ली' नाम पढते-पढते अब 'ढिल्ली' यह नाम अटपटा-जैसा लगने लगा है। किन्तु यथार्थ मे ही दिल्ली का पुराना नाम 'ढिल्ली' एव उसके पूर्व उसका नाम 'किल्ली' था। 'पृथ्वीराजरासो' के अनुसार पृथ्वीराज चौहान की माँ तथा तोमरवशी राजा अनगपाल की पुत्री ने पृथ्वीराज को किल्ली — ढिल्ली का इतिहास इसप्रकार सुनाया है — "मेरे पिता अनगपाल के पुरखा राजा कल्हण (अपरनाम अनगपाल), जो कि हस्तिनापुर मे राज्य करते थे, एक समय अपने शूर-सामन्तो के साथ शिकार खेलने निकले। वे जब एक विशेष-स्थान पर पहुँचे, (जहाँ कि अब दिल्ली नगर बसा है), तो वहाँ देखते है कि एक खरगोश उनके शिकारी-कुत्ते पर आक्रमण कर रहा है। राजा कल्हण (अनगपाल) ने आश्चर्यचकित होकर तथा उस भूमि को वीरभूमि समझकर वहाँ लोहे की एक कीली गाड़ दी तथा उस स्थान का नाम किल्ली अथवा 'कल्हणपुर' रखा।"[46] इसी कल्हण अथवा अनग की अनेक पीढियो के बाद मेरे पिता अनगपाल (तोमर) हुए। उनकी इच्छा एक गढ बनवाने की हुई। अत: व्यास ने मूहूर्त-शोधनकर वास्तु-शास्त्र के अनुसार उसका शिलान्यास किया और कहा कि "हे राजन्! यह जो कीली गाड़ी जा रही है, उसे पाँच घड़ी तक कोई भी न छुए" — यह कहकर व्यास ने 60 अगुल की एक कील वहाँ गाड दी और बताया कि वह कील शेषनाग के मस्तक से सट गयी है। उसे न उखाडने से आपके तोमर-वश का राज्य ससार मे अचल रहेगा। व्यास के चले जाने पर अनगपाल ने जिज्ञासावश वह कील उखड़वा डाली। उसके उखडते ही रुधिर की धारा निकल पडी और कील का कुछ अश भी रुधिर से सना था। यह देख व्यास बडा दु:खी हुआ तथा उसने अनगपाल से कहा —

अनगपाल छक्क वै बुद्धि जोइसी उक्किल्लिय।
भयौ तुअर मतिहीन करी किल्ली तै ढिल्लिय॥
कहै व्यास जगज्योति निगम-आगम हौ जानौ।
तुंवर ते चौहान अनत है है तुरकानौ॥
हूँ गड्डि गयौ किल्लो सज्जीव हल्लाय करी ढिल्ली सईव।
फिरि व्यास कहै सुनि अनगराइ भवितव्य बात मेटी न जाइ॥[47]

उक्त कथन से निम्न तथ्य सम्मुख आते है —

1. अनगपाल प्रथम (कल्हन) ने जिस स्थान पर किल्ली गाडी थी, उसका नाम 'किल्ली' अथवा 'कल्हणपुर' पडा।

2 अनगपाल द्वितीय (तोमर) के व्यास ने जिस स्थान पर किल्ली गाड़ी थी, उसे अनगपाल ने ढीला कर निकलवा दिया। अत: तभी से उस स्थान का नाम 'ढिल्ली' पड गया।

3. जिस स्थान पर किल्ली ढीली होने के कारण इस नगर का नाम 'ढिल्ली' पडा, उसी स्थान पर पृथिवीराज का राजमहल बना था।[48] 'पृथिवीराजरासो' मे इस 'ढिल्ली' शब्द का प्रयोग अनेक-स्थलो पर हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित-ग्रन्थो मे भी उसका यही नामोल्लेख मिलता हे। विबुध श्रीधर ने भी उसका प्रयोग तत्कालीन प्रचलित-परम्परा के अनुसार किया है।[49] अत: इसमे सन्देह नही कि 'दिल्ली' का प्राचीन नाम

'ढिल्ली' था। श्रीधर के उल्लेखानुसार उक्त ढिल्ली नगर 'हरियाणा' प्रदेश मे था।[50]

4. भारतीय-इतिहास में दो अनगपालों के उल्लेख मिलते है। एक पाण्डवशी अनगपाल (अपरनाम कल्हन) और दूसरा, तोमरवशी अनगपाल। इन दोनो की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'पासणाहचरिउ' मे दूसरे अनगपाल[51] की चर्चा है, जो अपने दौहित्र पृथिवीराज चौहान को राज्य सौपकर 'बदरिकाश्रम' चला गया था।[52] उसके वशज 'मालवा' की ओर आ गये थे तथा उन्होने गोपाचल को अपनी राजधानी बनाया था,[53] जो 'तोमरवशी गोपाचल-शाखा' के नाम से प्रसिद्ध है।[54]

'ढिल्ली'-नरेश अनगपाल तोमर के पराक्रम के विषय मे कवि ने कहा है कि उसने हम्मीर-वीर को भी दल-बल-विहीन अर्थात् पराजित कर दिया था।[55] यह हम्मीर-वीर कौन था और कहाँ का था, कवि ने इसका कोई उल्लेख नही किया, किन्तु ऐसा विदित होता है कि यह कागडा का नरेश हाहुलिराव हम्मीर रहा होगा, जो 'हाँ' कहकर अरिदल मे घुस पडता था और उसे मथ डालता था, इसीलिए उसे 'हाहुलिराव' हम्मीर कहा जाता था। यथा —

'हाँ' कहते ढीलन करिय हलकारिय अरि मथ्थ।
ताथे विरद हमीर को हाहुलिराव सुकथ्थ॥

अनगपाल के 'बदरिकाश्रम' चले जाने के बाद यह हम्मीर पृथिवीराज चौहान का सामन्त बन गया था, किन्तु गोरी ने उसे पजाब का आधा राज्य देने का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। इसीकारण यह चालीस सहस्र पैदल सेना और पाँच सहस्र अश्वारोही सेना लेकर गोरी से जा मिला। हम्मीर को समझा-बुझाकर दिल्ली लाने के लिए कवि चन्दवरदाई पृथिवीराज की आज्ञा से कागडा गये थे। चन्दवरदाई ने उसे भली-भाँति समझाया और बहुत कुछ ऊँच-नीच सुनाया, किन्तु वह दुष्ट पजाब का आधा राज्य पाने के लोभ से गोरी के साथ ही रह गया। इतना ही नही, जाते समय वह चन्दवरदाई को जालन्धरी-देवी के मन्दिर मे बन्द कर गया। जिसका फल यह हुआ कि वह गोरी एव चौहान की अन्तिम-लडाई के समय दिल्ली मे उपस्थित न रह सका। चौहान तो हार ही गया, किन्तु हम्मीर को भी प्राणो से हाथ धोना पडा। गौरी ने उसे लालची एव विश्वासघाती समझकर पजाब का आधा राज्य देने के स्थान पर उसकी गर्दन ही काट डाली।[56]

कुछ उद्वेगजनक स्थल

कवि की सरस एव मार्मिक कल्पनाये, सूक्ष्मान्वीक्षण-वृत्ति, चित्रोपमता तथा बहुज्ञता उसकी कृति को लोकप्रिय एव उपादेय बनाने मे सक्षम होती है। किन्तु रचना मे भाव-सौन्दर्य होने पर भी यदि तथ्य-निरूपण मे असन्तुलन तथा घटना-क्रमो के चित्रण मे क्षिप्रता, हो तो काव्य-चमत्कार मे पूर्ण निखार नही आ पाता। विबुध श्रीधर ने 'वड्ढमाणचरिउ' को यद्यपि सर्वगुण-सम्पन्न बनाने का पूर्ण प्रयास किया है, किन्तु अपने क्षिप्र-स्वभाव के कारण वे कही-कही घटनाक्रमो को सन्तुलित बनाने मे जितन समय एव शक्ति की अपेक्षा थी, उसका उन्होने बहुत ही कम-अश व्यय किया है। अत: हमे यह मानने मे सकोच नही है कि श्रीधर मे प्रतिभा का अपूर्व-भण्डार रहने पर भी अपने क्षिप्र-स्वभाव के कारण वे कही-कही आवश्यकतानुसार रम नही सके हैं। उदाहरणार्थ —

(1) त्रिपृष्ठ एव हयग्रीव के भयानक-युद्ध का वर्णन तो कवि ने लगभग 25 कडवको मे किया, किन्तु हयग्रीव के वध (उद्देश्य-प्राप्ति) के बाद त्रिपृष्ठ की विजय के उपलक्ष्य मे सर्वत्र हर्षोन्माद का विस्तृत-वर्णन अवश्य होना चाहिए था, जबकि कवि ने उसका सामान्य-उल्लेख भी नही किया *(5/23)*।

(2) स्वयंप्रभा के स्वयवर के वर्णन-प्रसग मे विविध-देशो मे नरेशो की उपस्थिति, उनके हाव-भाव, उनके मानसिक-उद्वेग, उनकी साज-सज्जा एव वेशभूषा आदि के खुलकर वर्णन करने का कवि के लिए पर्याप्त-अवसर था, किन्तु उसने उसमे अपनी चरम-शक्ति न लगाकर स्वयवर-मण्डप की रचना तथा विवाह-वर्णन गिन-चुनी पंक्तियो मे करके ही सारा प्रकरण समाप्त कर दिया *(6/9)*।

(3) त्रिपृष्ठ की मृत्यु के बाद कवि स्वजनो एव परिजनो के शोक-वर्णन के साथ-साथ सारी सृष्टि के शोकाकुल रहने की विविध-कल्पनाये कर करुण-रस की सर्जना कर सकता था, किन्तु कवि ने विजय से मात्र दो पक्तियो मे रुदन कराकर ही विश्राम ले लिया *(6/10-12)*।

इसीप्रकार द्युतिप्रभा-अमिततेज तथा सुतारा-श्रीविजय के विवाह के साथ त्रिपृष्ठ की मृत्युरूप शुभ एव अशुभ-घटनाओ का क्रमिक-वर्णन कवि ने एक ही कडवक मे एक ही साथ कर दिया, जो घटना-सगठन की दृष्टि से अनुचित एव सदोष है *(6/9)*।

इसीप्रकार अष्ट-द्रव्यो मे से मात्र सात-द्रव्यो के उल्लेख (7/13/3), हरिषेण के जन्म के बाद एकाएक ही उसकी युवावस्था का वर्णन *(7/11)*, एक ही कडवक मे द्वीप, देश,नगर, राजा, रानी, स्वप्नावली एव पुत्रोत्पत्ति के वर्णन (8/1) आदि प्रसगो मे कवि ने अपने क्षिप्र-स्वभाव का परिचय दिया है।

इनके अतिरिक्त 6/5, 6/9, 8/11, 9/19 एव 9/22 के वर्णन-प्रसगो मे भी कवि का वही दोष दृष्टिगोचर होता है। कवि का यह स्वभाव उसकी रचना पर काव्य-दोष की एक कृष्ण-छाया डालने का प्रयास करता-सा प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त कवि ने 'तर' प्रत्ययान्त शब्दो का अनेक-स्थलो पर प्रयोग किया है। जैसे — वरयर (1/1/9), चचलयरु (1/13/10), चलयरु (1/14/3), पजलयर (2/8/8), णिम्मलयर (8/2/4, 10/17/11), पविमलयर (8/14/1, 8/14/6, 8/16/6, 8/17/1), दुल्लहयर (9/8/10, 9/15/4), विमलयर (9/15/4), सुदरयर (1/6/2, 10/18/7), दूसहयर (1/9/7), गुरुयर (1/17/16), थिरयर (2/2/6) एव असुहयर (10/25) आदि। यद्यपि कवि ने अधिकाश-स्थलो पर अनावश्यक होने पर भी मात्रा-पूर्त्यर्थ ही उनका प्रयोग किया है, किन्तु उसमे अस्वाभाविकता भी अधिक आ गयी है, जो काव्य का एक दोष है।

उक्त उपलब्धियो एव अनुपलब्धियो अथवा गुण-दोषो के आलोक मे कोई भी निष्पक्ष-आलोचक विबुध श्रीधर का सहज ही मूल्याकन कर सकता है। कवि ने विविध-विषयक 6 स्वतन्त्र एव विशाल-ग्रन्थ लिखकर अपभ्रश-साहित्य को गौरवान्वित किया है। निस्सन्देह ही वे भाषा एव साहित्य की दृष्टि से महाकवियो की उच्च-श्रेणी मे अपना प्रमुख-स्थान रखते है। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1. जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर (1943, 53 ई) से दो खण्डो में प्रकाशित, सम्पादक : प्रो. ए.एन उपाध्ये तथा डॉ हीरालाल जैन।
2 भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (1954 ई) से प्रकाशित।
3 रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर द्वारा (1931 ई) प्रकाशित।
4 माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई (1937 ई) से प्रकाशित।
5 भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (1954-55) से दो भागो मे प्रकाशित।
6 भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (1975 ई) से प्रकाशित।
7 भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाश्यमान।
8 माणिकचन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला, बम्बई (1937-47) से प्रकाशित।
9 भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (1975 ई) से प्रकाशित (सम्पादक — डॉ. राजाराम जैन)।
10 भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाश्यमान, (सम्पादक — डॉ राजाराम जैन)।
11 रइधू-ग्रन्थावली के अन्तर्गत जीवराज-ग्रन्थमाला शोलापुर से शीघ्र ही प्रकाश्यमान।
12 भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से शीध्र ही प्रकाश्यमान।
13 दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत से प्रकाशित।
14 जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर (वि स 1973) से प्रकाशित।
15 देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई (वि स 1994) से प्रकाशित।
16 द्र, भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान (भोपाल, 1962 ई) लेखक — डॉ हीरालाल जैन पृ 135।
17 प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी (1961 ई) से प्रकाशित।।
18 द्र, भारतीय-सस्कृत मे जैन का योगदान, पृ 158
19 गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा (1932) से प्रकाशित।
20 जैनधर्म-प्रसारक सभा, भावनगर (1906-13 ई) से प्रकाशित।
21 द्र भारतीय-सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ 169
22-24 द्र 'उत्तरपुराण' का 74वा पर्व।
25-27 वही, 75वा पर्व।
28 वही, 76वा पर्व।
29-31 वही 76वा पर्व।
32 वड्ढमाणचरिउ, 1/9/10
33 णमो अराहतान णमो सवसिधान ऐरेण (सस्कृत-ऐलेन), महाराजेण माहामेघवाहनेन . — (*दे नागरी प्रचारिणी, 8/3/12*)
34 मुहणोत नैणसीकी ख्यात, भाग 1, पृ 232
35 वड्ढमाणचरिउ, 5/10-23
36 द्र इसी प्रस्तावना का शस्त्रास्त्र-प्रकरण।
37 वड्ढमाणचरिउ 4/13-14य 4/15/1-7

8-39 वही, 4/15/8-12य 4/16-17

0. वड्ढमाणचरिउ, 4/2-4, राजा प्रजापति ने विद्याधरों मे फूट डालने के लिए ही विद्याधर राजा ज्वलनजटी की पुत्री स्वयंप्रभा को अपनी पुत्रवधू बनाया।

1 पाँचवीं सन्धि द्रष्टव्य।

2 वड्ढमाणचरिउ, 5/10, 16

3 वड्ढमाणचरिउ, 5/11/13-14

4. गौरीशकर हीराचन्द ओझा द्वारा सम्पादित तथा काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा 1929 ई मे प्रकाशित।

5. पासणाहचरिउ, 1/2/16

6 पृथ्वीराज रासो, (ना प्र स), प्र भा, भूमिका, पृ 25-26.

7 सम्राट् पृथ्वीराज, कलकत्ता (1950), पृ 30-31

8 सम्राट् पृथिवीराज, पृ 40

9 पासणाहचरिउ (अप्रकाशित) 1/2/26य 18/1/3

0 वही, 1/2/14

1 वही, 1/4/1

2 पृथिवीराजरासो, 18/2य 96 तथा 19/26-27

3-54 Murry Northern India, Vol I, page 375

5 पासणाहचरिउ, 1/4/2

6 सम्राट् पृथिवीराज, पृ 85। — *(महाकवि विबुध श्रीधर द्वारा रचित 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रस्तावना से उद्धृत। सम्पादक-अनुवादक — डॉ राजाराम जैन, प्रकाशक — भारतीय ज्ञानपीठ, 1975 ई)* ❖❖

महावीर का जीवन अनन्तवीर्य से ओत-प्रोत है। अहिसा का प्रयोग उन्होने स्वय अपने ऊपर किया तथा फिर सत्य और अहिसा के शाश्वत-धर्म को सफल बनाया। जो काल को भी चुनौती देते है और भगवान् को 'जिन और वीर' कहना सार्थक है। आज के लोगो को उनके आदर्श की आवश्यकता है।

— डॉ. फर्नेडो बेल्लिनी फिलिप (इटली)

❖❖

महावीर के वचन मानवीय-आचरण की उज्ज्वलतम प्रस्तुति है। अहिसा का महान् सिद्धात, जिसे पश्चिम-जगत् मे 'ला ऑफ नान-वायलेस' के नाम से जाना जाता है, सर्वाधिक मूलभूत-सिद्धात है, जिसके द्वारा मानवता के कल्याण के लिये आदर्श-ससार का निर्माण किया जा सकता है।

— डॉ. एल्फ्रेड डब्ल्यू पार्कर (इग्लैण्ड)

महावीर-विषयक अनुपम-ग्रन्थ : 'महावीररास'

✍ डॉ. विद्यावती जैन

लोकजीवन मे महापुरुषो के जीवन-चरित्र को प्रचलित एव लोकप्रिय बनाये रखने के लिये लोकसाहित्य की विधाओ को अपनाया था। 'रास' या 'रासक'-परम्परा ऐसी ही लोकसाहित्य की परम्परा या विशिष्ट साहित्यिक-शैली है। इस शैली मे भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र अपभ्रश-भाशा मे महाकवि-पद्म द्वारा रचित 'महावीररास' नामक ग्रथ का अनुसधान एव प्रकाशन विदुषी-लेखिका ने कराया है। उसी ग्रथ का परिचयात्मक-विवरण इस सक्षिप्त-आलेख मे प्रस्तुत है। — **सम्पादक**

'रासा' शब्द की व्युत्पत्ति एव विकासक्रम

महावीर-सम्बन्धी अनेक रचनाओ का विभिन्न-कालो, विविध-भाषाओ और अनेक-शैलियो मे प्रणयन किया गया, किन्तु 'रासा'-शैली मे रचित यह ग्रथ सम्भवत. सर्वप्रथम उपलब्ध हुआ है। इसमे 'रासा' शब्द विचारणीय है। 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे विभिन्न मतभेद पाये जाते है। सुप्रसिद्ध फ्रासीसी विद्वान् गार्सा द तासी ने उसकी उत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से मानी है।[1] डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने 'रहस्य' शब्द से 'रासा' को व्युत्पन्न बतलाया है।[2] प रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' शब्द से इसकी उत्पत्ति सिद्ध की है।[3] नरोत्तम स्वामी 'रासो' की उत्पत्ति 'रसिक' शब्द से मानते है, जबकि प चन्द्रबली पाण्डेय उसकी उत्पत्ति 'रासक' शब्द से मानते है।[4] डॉ दशरथ शर्मा के अनुसार 'रासा' मूलत: गान-युक्त नृत्य-विशेष से क्रमश. विकसित होकर उपरूपक और उपरूपक से वीररस के पद्यात्मक-प्रबन्धो मे परिणत हो गया।[5]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' शब्द पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनके अनुसार रासक एक रूपक-भेद भी है और एक छन्द तो है ही। 'रासक' वस्तुत. एक विशेष-प्रकार का खेल या मनोरजन है। रास मे भी वही भाव है। परवर्त्ती-कालो मे चरितकाव्यो मे चरितनायक के नाम के साथ 'रासो' या 'रासा' शब्द लिखना रूढ हो गया था। इसलिए आदिकाल मे 'रासो' शब्द से रूपको या उपरूपको का कोई सकेत नही मिलता। अत: 'रासा' या 'रासो' केवल चरित-काव्य का ही सूचक रह गया।[6]

निष्कर्षत: 'रासा' शब्द का रासो या 'रासक' शब्द से घनिष्ठ-सम्बन्ध रहा है। सस्कृत मे नाटक का ही एक रूप 'रास' या 'रासक' माना गया है। किन्तु हिन्दी मे 'रासो' या 'रासा'-काव्यो का सम्बन्ध उनसे नही जोडा जा सकता, क्योंकि हिन्दी-साहित्य मे सस्कृत काव्य-परम्परा के प्रमुख लक्षण नही मिलते। अपभ्रश-साहित्य हिन्दी-साहित्य का पूर्ववर्ती-साहित्य है और उसके अनेक-काव्य-रूपो को हिन्दी ने ज्यो का त्यो अपना लिया है। फिर अपभ्रश मे रासा-साहित्य की एक समृद्ध परम्परा भी रही है। अत यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी का रासा-साहित्य अपनी पूर्ववर्ती अपभ्रश-साहित्य-परम्परा का विकसितरूप है।

रासा-साहित्य की समृद्ध-परम्परा

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी-साहित्य के आदिकाल मे रासो या रासा-साहित्य की एक

विस्तृत-परम्परा रही है। यह काव्य-परम्परा 12वीं सदी से 17वी सदी तक अबाध-गति से चलती रही। इस मध्य लिखे गये रासा-ग्रथों में भरतेश्वर-बाहुबलिरास, उपदेशरसायनरास, जम्बुस्वामिरास, रेवतगिरिरास, कच्छुलिरास, गौतमरास, दशार्णभद्ररास, वस्तुपाल-तेजपालरास, श्रेणिकरास एव समरसिघरास के नाम विशेष-उल्लेखनीय है।

'रासा'-नामधारी सभी रचनाओ की यह विशेषता है कि ये इतिहास को अपने आचल मे सजोये हुए है, साथ ही शौर्य-वीर्य और आध्यात्मिकता के महत्-कार्यों की भव्यता का भी दिग्दर्शन कराती है। कवि पद्म ने भी इसी शैली को ग्रहण करते हुए वर्धमान महावीर का चरित रास-शैली मे अंकित किया है। उन्होने स्वय ही कहा है —

> **"ते कथा मि साभलि ए उपनु मनि उल्हास तु।**
> **तेह कथा गुण वरणुव ए रास-रूप वेसीभाष तु॥"**
>
> — *(महावीररास, 1/23)*

महावीर-चरितों की परम्परा : स्रोत तथा 'महावीररास' की विषयवस्तु

प्राचीनकाल से ही त्रिषष्ठिशलाका-महापुरुषो मे श्रमण-महावीर सर्वाधिक-लोकप्रिय महापुरुष रहे हैं। यही कारण है कि सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, कन्नड, तमिल और हिन्दी आदि भाषाओ मे समय-समय पर अनेक महावीर-चरितो का प्रणयन किया गया है।

सस्कृतभाषा मे रचित आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराणान्तर्गत महावीर चरित (10वी सदी), महाकवि असग-कृत 'वर्धमानचरित' (11वी सदी), दामनन्दि (11वी सदी) कृत पुराणसार सग्रहान्तर्गत 'महावीरचरित', भट्टारक सकलकीर्ति कृत 'वर्धमानचरित' (महावीरपुराण 15वी सदी) आदि प्रमुख है।

अपभ्रश-भाषा मे आचार्य पुष्पदन्तकृत महापुराणान्तर्गत 'महावीरचरिउ' (10वी सदी), विबुध श्रीधरकृत 'वड्ढमाणचरिउ' (वि स 1190), महाकवि रइधूकृत 'सम्मइजिणचरिउ' (15-16वीं सदी), जयमित्रहल्ल (15वी सदी) कृत 'वड्ढमाणकव्व' (अप्रकाशित) तथा नरसेनकृत 'वड्ढमाणकहा' (16वी सदी) आदि प्रमुख है।

दाक्षिणात्य-कवियो मे महाकवि केशव, पद्म, आचण्ण एव वाणोवल्लभकृत 'महावीरचरित' उल्लेखनीय है। महाकवि पद्म के सम्मुख यद्यपि पूर्वोक्त महावीरचरितो की एक दीर्घश्रृखला थी, फिर भी उसे भट्टारक सकलकीर्ति के वर्धमान-चरित ने सबसे अधिक प्रभावित किया जैसा कि उसने स्वय लिखा है कि उनकी (भगवान् सकलकीर्ति की) रचना से उल्लसित होकर[7] तथा साधर्मी भाइयो की विनय धारणकर[8], मैं 'महावीररास' की रचना कर रहा हूँ। कवि ने यद्यपि भगवान् सकलकीर्ति को अपना आदर्श माना है, फिर भी अनेक नवीन-घटनाओ के सयोजन तथा वर्ण्य-प्रसगो मे कवि ने अपनी मौलिकता तथा प्रतिभा-चातुर्य की छाप भी छोडी है।

'महावीररास' की रचना करने से पूर्व कवि अत्यनत विनम्रभाव से स्वय को अल्पबुद्धि एव अल्पज्ञानी महत्ता हुआ विद्या की अधिष्ठात्री देवी-सरस्वती की वन्दना करता हुआ कहता है — "हे भगवती भारती। मुझ पर कृपा कीजिए, मुझे ज्ञान-दान दीजिए, जिससे मैं जिनधर्म के इस श्रेष्ठ चरित का गान कर सकूँ।" (1/6, तथा 1/24)।

वह स्वय से प्रश्न करता है कि — 'तू अल्पबुद्धि है, अतः अनेक गुणो से परिपूर्ण भगवान् महावीर के

चरित का वर्णन कैसे कर पायेगा?' पुनः वह स्वय ही उसका उत्तर देते हुए कहता है कि — 'मैंने देव, शास्त्र एव गुरु की वन्दना की है, उसी पुण्य के प्रसाद से मैं वर्धमान-स्वामी के गुणो का गान उसीप्रकार कर सकूँगा, जिसप्रकार कि मोती और हीरा में सुई से सहज ही सूत्र प्रविष्ट हो जाता है और उससे एक सुन्दर हार तैयार हो जाता है। गुरु के उपदेश से यह गान करने मे मुझे कोई कठिनाई नही (1/25-26) होगी।' यही नही, कवि ने अन्य अनेक-स्थलों पर अपनी विनम्रता का परिचय दिया है। उसके ग्रन्थ की अन्तिम-प्रशस्ति मे प्रभु का स्तवन करते हुए कहा है कि — मै तो एक अल्पबुद्धि मनुष्य हूँ। इसीलिए सक्षेप में अपने विचार-सहित इस चरित्र को कह पाया हूँ। जो परोपकारी पण्डित हो, वे इस चरित्र का विस्तार कर ले। इस चरित्र के लिखने मे यदि मुझसे अक्षर, पद, मात्रा एव छन्द की कोई भूल-चूक हुई हो, तो हे शारदा माँ! मुझे क्षमा करना। मै तो तुम्हारा मन्द ज्ञानी बालक हूँ (24/34-35)।"

'मुझे न तो ख्याति की आकाक्षा है और न ही काव्य-रचना का अभिमान ही। मै अपने कर्मों का क्षय चाहता हूँ, इसीलिए साधर्मी-भाइयो की विनय धारणकर और उनका सहयोग प्राप्तकर मैने प्रस्तुत 'महावीररास' की रचना की है (24/47-48)।'

प्रस्तुत-रचना मे कवि ने महावीर-कथा का वर्गीकरण 24 ढालो (सर्गों) मे जो किया है, कि जैन-इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है, किया है। उनमे विविध-शैली के कुल-पद्यो की सख्या 1629 है। पहली-ढाल मे ग्रन्थ की भूमिका-मात्र है, जिसमे महावीर की पश्चाद्वर्त्ती श्रुतज्ञान-परम्परा का तिथिक्रमानुसार संक्षिप्त-इतिहास तथा 'महावीररास' की साहित्यिक-विधा की चर्चा करते हुए बताया गया है, कि वह एक 'धर्मकथा' है। उसमे वक्ता एव श्रोता के विस्तृत लक्षण, तथा सज्जन-दुर्जन की प्रशसा-निन्दा के वर्णन के पश्चात् कहा गया है कि वह महावीररास रूप धर्मकथा का वर्णन 'देश्यभाषा' मे करेगा।

दूसरी-ढाल से तेरहवी-ढाल तक सम्यक्त्व-वर्णन, द्वादशविधव्रत-वर्णन, कर्मफल की विचित्रता, स्वाध्याय करने के लाभ, स्वर्ग-सुख वर्णन आदि के साथ-साथ भगवान् महावीर के 33 पूर्वभवो का विस्तारपूर्वक किया गया है।

14वी ढाल से भगवान् महावीर का जीवन-चरित प्रारम्भ होता है, उसमे विदेहक्षेत्र (वैशाली) एव कुण्डपुर-नगर का वर्णन, माता प्रियकारिणी के सोलह स्वप्न-दर्शन एव उनका फल वर्णन, 15वी-16वी ढाल मे गर्भ, जन्मोत्सव एव वर्द्धमान की बाल-लीलाओ का वर्णन, 17वी-18वी ढाल मे कुमार-काल एव वैराग्य तथा तपस्या का वर्णन, 19वी ढाल मे राजा कुल के यहाँ वर्द्धमान की प्रथम-पारणा, रुद्र-उपसर्ग, चन्दनबाला-कथानक; 20, 21, 22 एव 23 वी ढाल मे महावीर को कैवल्य-प्राप्ति, कुबेर-यक्ष द्वारा समवशरण रचना, इन्द्र द्वारा गणधर की खोज, विस्तृत-तत्त्वचर्चा, षड्द्रव्य आदि सैद्धान्तिक-वर्णन, गौतम को गणधरत्व की प्राप्ति तथा भगवान् महावीर का अग, बंग, तिलग, कान्हड, कोसल, गुर्जर, कूकण, आहीर, कर्णाट, लाड, मरहठ, सुराष्ट्र, मलवार, मुलतान, मेवाड, मरुस्थली, मालवा, गोड, वोड, काशी, सुरम्य, पाचाल आदि देशो मे विहार का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् उनके राजगृही आने तथा वहाँ श्रेणिक द्वारा प्रश्न किये जाने पर महावीर द्वारा प्रतिपादित अनुयोग-साहित्य तथा उसके उपदेशो का वर्णन किया गया है।[9]

अन्तिम 24वीं ढाल में महावीर के निर्वाण-वर्णन के पश्चात् प्रशस्ति एव भरत-वाक्य के साथ ही ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है।

'महावीररास' की विशेषतायें

उक्त विषय-क्रम का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महावीररास' की कथा पूर्वागत-परम्परा के अनुसार ही है, किन्तु कवि की वर्णन-शैली मे कुछ मौलिक विशेषताये हैं। उसकी कथा आद्योपान्त प्रवाहमयी तो है ही, साथ ही वह अत्यन्त-सरस, रोचक, मार्मिक एव श्रोता को भाव-विभोर कर देने वाली भी है। कवि किसी भी प्रसग मे अपने कथन के समर्थन मे लौकिक-उदाहरण प्रस्तुत कर उसे अत्यन्त स्पष्ट एव हृदयग्राह्य बना देता है। उदाहरणार्थ — भील जैसे निपट-गँवार को यदि आगम, दर्शन एव सिद्धान्त की भाषा मे कोई उपदेश दे, तो क्या वह उसे समझ पाएगा? इसी वास्तविकता को ध्यान मे रखते हुए 'महावीररास' के मुनि सागरसेन, क्रूर, अज्ञानी एव अपढ पुरुरवा-भील को हिसा की गहन शास्त्रीय-परिभाषाये कठिन-भाषा मे न समझाकर, उसे मात्र लौकिक-दृष्टान्तो द्वारा ही उसकी बुराइयाँ समझाते है और कहते हैं कि — "हे भिल्लराज। दूसरो को मारने और सताने से गरीबी आती है, वह बीमार रहने लगता है, उसके सिर के बाल अकाल मे ही झडने लगते है। और इसके साथ-साथ वह लूला, लँगडा तथा बहरा भी हो जाता है। अत: दूसरो को मारना अथवा सताना नही चाहिये। दीन-दुखियो पर दया करनेवाले को राजपाट, अपार धन-भण्डार, हाथी, घोडे, रथ, सेना तथा समाज मे आदर की प्राप्ति होती है।" भिल्ल पर इस सीधी सादी एव सरल-मरुभाषा मे दिए गए उपदेश का तत्काल-प्रभाव पडता है तथा उसी समय से वह दया-धर्मरूप अष्टमूलगुणो का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करने लगता है।[10]

(1) यदि आचार्य गुणभद्र, पुष्पदन्त, असग, विबुधश्रीधर, कवि रइधू एव सकलकीर्ति के महावीर-चरितो के सन्दर्भ मे प्रस्तुत 'महावीररास' का अध्ययन किया जाये, तो कई प्रसगो मे उसमे मौलिकताये दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, आचार्य गुणभद्र ने महावीर के जन्म के समय सदल-बल कुण्डपुर पहुँचकर शिशु के अभिषेक-हेतु गर्भगृह मे सौधर्मेन्द्र द्वारा मायामयी-बालक रखकर वर्धमान शिशु-का अपहरण कराया है।[11] इस परम्परा का पालन असग ने भी किया। किन्तु कवि पद्म ने उस परम्परा का निर्वाह उचित नही समझा। गर्भगृह के महिला-कक्ष मे एक अपरिचित पुरुषलिगी का प्रवेश पद्म जैसे देशव्रती एव मर्यादावादी कवि को कैसे सह्य होता? अत: उसने उक्त प्रक्रिया इन्द्र के द्वारा नही, बल्कि एक देवागना के द्वारा सम्पन्न कराई।[12]

(2) कवि असग[13] एव रइधू ने महावीर के जन्माभिषेक के समय सुमेरु-पर्वत को कम्पित माना है। रइधू ने सुमेरु के साथ-साथ सूर्य एव चन्द्र आदि के भी कम्पित होने की चर्चा की।[14] किन्तु कवि पद्म ने इसप्रकार के चित्रण को अनुचित माना है, क्योकि सम्भवत: कवि की दृष्टि से भगवान् महावीर भौतिक-युद्धजगत् के कोई चक्रधारी अथवा खड्गधारी-योद्धा तो थे नही कि जिनके रौद्ररूप से ससार काँप उठता। वे तो सौम्य-प्रकृति के विश्व के महान् हितैषी, एक सत, साधक एव वीतरागी महापुरुष थे। अत: उनके पदार्पण से प्रकृति को तो प्रसन्न ही रहना चाहिए, न कि आतंकित एव प्रकम्पित। सम्भवत: इसीकारण से कवि ने रइधू द्वारा सम्मत-परम्परा की उपेक्षाकर प्रकृति के प्रसन्न रहने की चर्चा की है।[15]

(3) रइधूकृत 'सम्मइजिणचरिउ' के अनुसार महावीर के कुमारकाल मे पहुँचते ही राजा सिद्धार्थ उनके

सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखते हैं; किन्तु महावीर उसे अस्वीकार कर देते है, जिससे उनके पिता को बड़ी ठेस लगती है।[16]

कवि पद्म उक्त विवाह-प्रसग को सर्वथा अनावश्यक समझते हैं, क्योंकि यह प्रसग दिगम्बर एव श्वेताम्बर मे बड़ा ही विवादास्पद रहा है। अतः उक्त प्रसग को उठाकर वह अनावश्यक-विवाद को बढ़ाना नही चाहते थे। इसीलिए उन्होंने उसे अछूता ही छोडकर 30 वर्ष की आयु मे महावीर को वैराग्य प्राप्त करा दिया। महावीररास को 'धर्मकथा' के साँचे मे ढालने वाले कवि के लिए यही नीति उपयुक्त भी थी।

(4) महावीर ने जिस समय दीक्षा-धारण की, उस समय उनके माता-पिता थे अथवा नही तथा महावीर-दीक्षा के समय उनकी क्या स्थिति रही? इस विषय पर आचार्य गुणभद्र, पुष्पदन्त, असग, श्रीधर, रइधू एव सकलकीर्ति ने कोई चर्चा नही की।

किन्तु पद्म ही एकमात्र ऐसे कवि है, जिन्होने मानवीय-भावभूमि पर खडे होकर स्पष्ट लिखा है — 'दीक्षा लेने के पूर्व महावीर ने अपने माता-पिता को सम्बोधा, स्वजनो से क्षमा माँगी, तब बाद मे नन्दन-वन मे जाकर उन्होने दीक्षा ग्रहण की।'[17] इतना ही नही, माता प्रियकारिणी ने अपने इकलौते बेटे को उसके बार-बार समझाने पर दीक्षा लेने के लिए आज्ञा तो प्रदान कर दी, किन्तु बाद मे जब उसका मातृत्व अपने लाडले बेटे के असह्य-वियोग मे रुदन कर उठा, तो वह उसे वापिस लौटा लाने के लिए अपने राज-घराने की समस्त-परम्पराओ को तोडकर रोती-कलपती हुई वन की ओर दौड पडती है।[18]

यह कहना कठिन है कि कवि ने उक्त घटना का उल्लेख किस आधार पर किया है? किन्तु मातृत्व की गहन-सवेदना का चित्रण कर कवि ने निस्सदेह ही माँ प्रियकारिणी के श्री-चरणो मे अपनी सशक्त-श्रद्धाजलि अर्पित की है। कवि ने इस घटना का चित्रण कर एक अभूतपूर्व मौलिक-कार्य तो किया ही, साथ ही एकमात्र पुत्र की वियोगिनी-माता की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रणकर उसने समस्त नारी-जगत् की सहानुभूति भी प्राप्त की है। इस महान्-घटना की उपेक्षा के कारण महावीर-चरितो के लेखको के माथे पर मातृभक्तो के अभिशाप की जो कालिमा गहरी होती जा रही थी, उसे धो डालने का कवि पद्म ने सफल प्रयास किया है।

(5) महावीर जब अपने 19वे पूर्व-भव मे 'त्रिपृष्ठ' चक्रवर्ती थे तब कवि असग[19], श्रीधर[20], एव रइधू[21] ने उनके द्वारा भयकर सिह का वध किये जाने का विस्तृत वर्णन किया है। कवि पद्म ने इस घटना को अनावश्यक तथा अकारण हिसा का कारण मानकर उसका वर्णन अपनी रचना मे नही किया।

(6) महावीररास की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उसके एक प्रसंग के अनुसार वीर-निर्वाण के तुरन्त बाद इन्द्र ने महावीर की एक मायामयी मूर्ति का निर्माण किया और उसे पालकी मे स्थापित कर उसकी पूजा रचाई। बाद मे उसने शव की दाह-क्रिया की।[22]

विशेषण-विशिष्ट वर्णन-प्रसंग

'सिद्धार्थ' नाम की सार्थकता

वर्धमान के पिता का नाम राजा सिद्धार्थ था। कवि ने इस शब्द को सश्लिष्टरूप में प्रस्तुत किया है। उसने

बतलाया है कि यह नाम अपने आप मे बड़ा सार्थक है। क्योंकि वह धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की अविरोध साधना करता है, जिसके सभी अर्थ सिद्ध हो गये हो, ऐसा वह सिद्धार्थ राजा 'सिद्धार्थ' के रूप में जाना जाता था। — *(14/7)*

'महावीर' नामकरण

बचपन मे वर्द्धमान अन्य बालको के साथ क्रीडा-हेतु उपवन मे गये। वहाँ जाकर सभी एक आँवले के वृक्ष पर चढ गये। उसी समय स्वर्ग मे इन्द्र के मुख से वर्द्धमान के बल की प्रशसा सुनकर एक देव जिज्ञासावश उनकी परीक्षा लेने के लिए भयकर सर्प का रूप धारणकर उसी वृक्ष के नीचे आया। उसे देखकर सभी बालक भय से त्रस्त होकर भाग गये। वर्द्धमान बड़े साहसी और वीर थे, उ होने उस सर्प के फण पर पैर रखा और उसे सीढ़ी बनाकर उतर आए। तब देव अपने असली-रूप मे प्रकट होकर उनके बल की प्रशसा करने लगा। उसी समय उसने उनका 'महावीर' नामकरण कर दिया *(17/28)*।

श्री महति-महावीर

वर्धमान-प्रभु जब दीक्षा लेकर तपस्या करने वन मे चले गये और वहाँ स्थिर मन होकर तपस्या मे लीन थे कि तभी रात्रि के समय उनकी परीक्षा लेने-हेतु रुद्र (शिव) वहाँ आया। उसने अनेक विकराल और भयकर रूप धारण किये एव उन पर विविध प्रकार के उपसर्ग किए; किन्तु उन्होने बडे ही धैर्यपूर्वक एव शातभाव से जब उन्हे सहन कर लिया, तब वह रुद्र बहुत ही लज्जित हुआ और हाथ जोड़कर स्तुति करने लगा। उसी समय उसने वीरप्रभु को महति-महावीर की उपाधि से विभूषित किया (19/29-44)। महावीर का यह **'महति'** विशेषण अन्य महावीर-चरितो मे देखने मे नही आया।

महावीर की माता, उनकी वैदुष्य तथा मातृत्व-गुण

गर्भवती माता प्रियकारिणी से स्वर्ग की देवियाँ उनकी सेवा करते समय उनके विविध-प्रकार के गूढ़-प्रश्न पूछती है और माता उनका उत्तर स्वाभाविकरूप मे देती है। कोई देवी माता से प्रबन्ध-रचना के विषय मे पूछती, कोई गूढ-काव्य को पूछती और कोई कठिन-श्लोको के अर्थ जानना चाहती, तो कोई मात्रा और व्यजनच्युत-श्लोको का अर्थ पूछती, उनके रहस्य-गर्भित कुछ प्रश्न निम्नप्रकार है — ससार मे उत्तम-मनुष्य कौन है? प्राणियो का उत्तम-हित क्या है? भव्य-जीवों को क्या ग्रहण करना चाहिए? किसकी सगति मे रहना चाहिए? किसका ध्यान करना चाहिए? और क्या जानना चाहिए? कौन मित्र है? और कौन शत्रु है? सन्तोष भाव कहाँ धारण करना चाहिए और कहाँ उन्नत-भाव रखना चाहिए। आदि (दे. 15/33-41)। ◆◆

सन्दर्भ-सूची

1-2 संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो, पृ. 153, सम्पादक — आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. नामवर सिंह।

3 हिन्दी-साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

4. संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो, पृ 154

5. 'रासो' के अर्थ का क्रमिक-विकास : साहित्य-सन्देश, जुलाई 1951 ई।

6 संदेश-रासक की भूमिका।

7. महावीररास, 1/21.
8 वही, 24/54
9. महावीररास, 1545-48
10 महावीररास पद्य, 86-89.
11 उत्तरपुराण, 74/271
12. महावीररास, पद्य 1015-1018
13. वर्धमान, 17/82.
14 सम्मइ., 5/91.
15 महावीररास, पद्य 1038-39
16 सम्मइजिणचरिउ 5/24-26
17. महावीररास, 1165
18 महावीररास, 1173-1179
19 दे वर्धमानचरित, पाचवा सर्ग।
20 दे. वड्ढमाणचरित, 3/24-28
21 दे. सम्मइजिणचरिउ, 3/24-25
22. महावीररास, 1594-1596 — *(महाकवि पद्मकृत 'महावीररास' की प्रस्तावना से उद्धृत। प्रकाशक — प्राच्य श्रमण भारती, प्रकाशन 1994 ई)* ❖❖

निरोगी कौन?

निशान्ते यो पिबेत् वारि, दिनान्ते यो पिबेत् पयः।
भोजनान्ते पिबेत् तक्र, वैद्यस्य किं प्रयोजनम्॥

अर्थ — *प्रातःकाल जो पानी पीता है, सायकाल जो दूध पीता है और भोजन के बाद जो तक्र (छाछ-मट्ठा) पीता है, उसे वैद्य से क्या काम? अर्थात् वह बीमार नही पडता और उसे वैद्य के पास नही जाना पडता है।* ❖❖

विशिष्ट कौन?

"गो-बाल ब्राह्मण-स्त्री पुण्यभागी यदीष्यते।
सर्वप्राणिगणत्रायी नितरा न तदा कथम्॥"
— (आचार्य अमितगति, श्रावकाचार, 11/3)

अर्थ — *यदि गौ, ब्राह्मण, बालक और स्त्री की रक्षा करनेवाला पुण्य-भागी है, तो जिसने सम्पूर्ण प्राणीसमूह की रक्षा का व्रत लिया है, वह उससे विशिष्ट क्यो नही होगा? वह अवश्य विशिष्ट है।* ❖❖

खण्ड 2

❖❖

वर्धमान महावीर का दर्शन

❖❖

विषय-अनुक्रमणिका : खण्ड 2

भारतीय-संस्कृति का सूत्रपात

"खीष्ट — जन्म के डेढ सौ बरस पहले कलिग के जैन धर्मावलम्बी राजा खारवेल का जो ब्राह्मी अक्षर मे खुदा हुआ ***प्राकृत*** *भाषामय विराट-अनुशासन है, उसे पढकर किसी को सन्देह तक भी नही हो सकता कि राजा का नाम आर्य-भाषा का नही, वरन् द्रविड-भाषा का है; द्रविड 'कार' शब्द का अर्थ 'काला' या 'कृष्ण' और 'बेल' शब्द का अर्थ 'भाला' या 'बल्लम' — मूल 'कारवेल', जिससे शायद खारवेल निकला है। उसका सस्कृत-अनुवाद हो सकता है 'कृष्णर्ष्टि' (अर्थात् कृण या भयानक ऋष्टि या बल्लभ है) जिसका दाक्षिणात्य के आन्ध्रवशीय राजा लोग खीस्टी युग के प्रारम्भ मे राज्य करते थे। इनके प्राकृतभाषा मे लिखे हुए बडे-बडे अनुशासन है, इनके गोत्र नाम इसप्रकार होते थे — 'वाशिष्ठी गोत्र' 'गोतमीपुत्र, 'मढरीपुत्र' इत्यादि, परन्तु इनका वश नाम 'सातवाहन' आर्यभाषा का शब्द नही, यह शब्द 'कोलभाषा' का है और इसका अर्थ 'अइवपुत्र'। जैसे केरल के नायर आदि जातियो मे अभी तक दीखता है, वैसे इनमे भी मातृगत उत्तराधिकारी की रस्म थी, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी फुटकर खबरो से हमे आभास मिलता है कि दो ढाई हजार साल पहले भारतीय-जीवन मे अनार्य-उपादान कितने प्रबल थे, और आर्य-प्रभाव कितना छिछला था।*

— (भारतीय अनुशीलन-ग्रथ, डॉ. श्री सुनीति कुमार चटर्जी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, पृ. 93-94)

❖❖

अर्हद्स्तुतिः

✍ कविवर पं. आशाधर सूरि'

भज भगवन्त प्रथमार्हन्तं वृषभवर त मोक्षमते!
मोहलघिष्ठे भुक्तोच्छिष्टे जगति निकृष्टे को रमते?

अर्थ — हे मोक्ष मे बुद्धि रखनेवाले! कर्मभूमि पर प्रथम अर्हन्त परमदेव भगवान् ऋषभदेव का भजन कर। मोहनीय-कर्मों का उदय करने से अत्यन्त क्षुद्र और बारबार सेवनकर उच्छिष्टरूप मे छोडे हुये उस निकृष्ट ससार मे कौन ज्ञानवान् रमता है?

जहीहि वित्त क्लेशनिमित्तं वीतरागभुवि योजय चित्तम्।
रत्न काकोड्डयने क्षिप्त्वा को मतिमान् गुजा वृणुते?

अर्थ — क्लेश के निमित्तभूत परिग्रहो को छोड़ वीतराग-मार्ग पर मन को लगा मूल्यवान् मणि को काकोड्डयन (कौये को उडाने) मे फेककर कौन बुद्धिमान गुजा का ग्रहण करता है?

दुर्वारो विषयाभिनिवेशः मोह-मान-माया-परिवेषः।
हन्त! क्लेशसंश्लेषोद्देशः समयः परसमयेष्वयते॥

अर्थ — यह विषयो मे रति अतिदुर्वार है। क्रोध, मान, माया, और मोह का परिवेष अतिदुस्त्यज है। खेद है कि मनुष्य ने क्लेशो से आश्लेष करने को ही अपना उद्देश्य बना लिया है। यह समय परसमयो मे ही बीता जा रहा है।

रुद्ध्वा स्रोतानास्रवप्रोतान् सवरमाश्रय निर्जरयैतान्।
'विध्यातेऽग्नौ किस्वित् पाकः' लोकाभाणी चेतयते॥

अर्थ — हे भव्य! आस्रवमार्गों को बन्द कर, सवर धारण कर, इन कर्मों की निर्जरा कर। 'अग्नि के प्रशान्त होने पर क्या पाकसिद्धि हो सकती है?' — यह लोकप्रवाद तुम्हे चेतना के स्वर सुना रहा है, उठ, भगवान् अर्हन्तदेव का भजन कर। ❖❖

जीवनभर स्वाध्याय करें

'अहर्निश-पठन-पाठनाविना जिनमुद्रा भवति'।
— (बोधपाहुड, गाथा 19 टीका)

***अर्थ** — दिन-रात पढ़ने और पढ़ाने से 'जिनमुद्रा' की प्राप्ति होती है।* ❖❖

महावीरस्स आगम-पहो

(महावीर का आगम-पथ)

✍ *काव्यानुवाद : प्रो. हरिराम आचार्य*

अहिंसा

सव्वेसिमासमाण हिदय गब्भोव्व सव्व-सत्थाण।
सव्वेसि वदगुणाण पिडो सारो अहिसा हु॥1॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

अहिसा सब आश्रमो का हृदय है,
सब व्रतो का पावन-धर्म है।
सब व्रतो का, सब गुणो का जगत् मे
अहिसा ही पिण्डरूपित-मर्म है॥

तुग ण मदराओ आगासाओ विसालय णत्थि।
जह तह जयम्मि जाणसु धम्ममहिसा सम णत्थि॥2॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

नही मेरु से ऊँचा कोई, विस्तृत कोई नही गगन से।
कोई बढकर नही जगत् मे, धर्म अहिमा के पालन से।

अपरिग्रह

सगणिमित्त मारवि भणादि अलीय करेदि चोरिय च।
सेवइ मेहुण-मुच्छे अप्परिमाण कुणदि जीवो॥3॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

जीव परिग्रह का आकाक्षी बनकर हिसाये करता है,
झूठ बोलता, चोरी करता सुरतभोग मे रहता है।
अन्धी-ममता से ही उसके इन्द्रियगण मूर्च्छित रहते है,
इन्ही पाँच-पापो की जड है, जिसको हम 'परिग्रह' कहते है॥

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियई रस।
ण य पुप्फ किलोमेदि सो य पीणेवि अप्पय॥4॥

हिन्दी-पद्यानुवाद

जैसे सदय-भाव से भौंरा करता फूलों से रसपान,
और तृप्त भी होता, फूलों को भी नही बनाता म्लान।
वैसे ही श्रेयार्थी-साधक नही जगत् को देता कष्ट,
अपरिग्रह से जीवन जीता और स्वय भी होता तुष्ट।।

अनेकान्त

णियय-वयणिज्ज-सच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण विद्ठसओ विभयइ सच्चे व अलिये वा।।5।।

हिन्दी-पद्यानुवाद

चूँकि सभी नय निज-वक्तव्यो मे तो सच्चे ही होते है,
किन्तु दूसरी नय-कथनो के यदि विरुद्ध हो तो मिथ्या है।
विविध-नयो पर इसीलिये तो 'अनेकान्त' के ज्ञानी द्रष्टा,
'ये सच्चे है', 'वे झूठे है' – ऐसा कभी नही कहते है।।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहवि।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगतवायस्स।।6।।

हिन्दी-पद्यानुवाद

जिसके बिना निभता ही नही कभी, कोई भी लोक का चलन।
त्रिभुवन के एकमात्र गुरुवर, उस 'अनेकान्तवाद' को नमन।

❖❖

ध्यान

'ध्यान' शब्द भारत मे बहुत प्रचलित है, बहुत प्रसिद्ध है। 'ध्यान' शब्द का अर्थ है 'किसी चीज मे एकाग्र हो जाना।' इसका व्यावहारिक-जीवन मे भी बहुत महत्त्व है, बहुत उपयोग है। ध्यान से सुनो, ध्यान से देखो, ध्यान से पढो, ध्यान से काम करो – जैसे वाक्य हम सदैव बोलते रहते है। ध्यान कोई सिखाता नही है, प्राणी अनादिकाल से इसे जानता है, समझता है और इसका व्यवहार/प्रयोग करता है। यदि ध्यान सिखाये जाते, तो बताइये मनुष्य को आर्त-रौद्र ध्यान किसने सिखाया? वह एकाग्र होकर किसी का नुकसान करने के लिए, हानि पहुँचाने के लिए चिन्तन करता रहता है। सोचता है – 'इसने मुझे हानि पहुँचाई है, मै भी इसका नुकसान करूँगा।' मनुष्य ही नही पशु-पक्षी भी आर्त-रौद्र ध्यान करते है। बगुला पानी मे एक पैर से खडा होकर इसीप्रकार का ध्यान करता रहता है। ***किसी प्रकार की चिन्ता, भय से सम्बन्धित चिन्तन करना 'आर्तध्यान' है और किसी को मारने, झूठ बोलने, चोरी करने से सम्बन्धित चिन्तन 'रौद्रध्यान', है।*** *बगुले को रौद्रध्यान होता रहता है। उसे किसने सिखाया है यह? उसमे इसप्रकार के सस्कार अनादिकाल से है।* **– (आचार्य श्री विद्यानन्द मुनिराज)** ❖❖

सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव

✍ आचार्य विद्यानन्द मुनि

तीर्थंकर भगवान् महावीर का 'तीर्थ' अर्थात् 'प्राणीमात्र के लिये हितकारी मगल-उपदेश' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और लोककल्याणकारी था, यह तो निर्विवाद ध्रुवसत्य है ही; साथ ही वर्तमान परिस्थितियो मे उसका सक्षम-रीति से प्रतिपादन किया जाना भी अत्यन्त उपयोगी है। वैचारिक-सकीर्णता के उत्तरोत्तर होते हुये प्रसार के इस वातावरण मे प्राणीमात्र के हित के साथ-साथ प्रकृति और पर्यावरण का हित भी जिसके प्रतिपादन मे समाहित रहा हो, ऐसा महामनीषी विचारक वर्तमानकाल मे अत्यत दुर्लभ है। भगवान् महावीर इन्ही कारणो से आज अत्यत प्रासंगिक है और उनका उपदेश भी आज कही अधिक उपयोगी है। इस तथ्य को रेखांकित करता हुआ महामनीषी आचार्यप्रवर विद्यानन्द जी मुनिराज का यह आलेख नि:सदेह न केवल जिज्ञासुओ के लिये व्यापक उपयोगी होगा, अपितु इस स्मृति-ग्रथ की अनुपम श्रीवृद्धि भी करेगा। — सम्पादक

वीतराग संस्कृति का जन्मदाता जैनधर्म

जैनधर्म अर्थात् जिनो का धर्म। जिन्होने वीतराग-सस्कृति को जन्म दिया, परमश्रुत की प्रभावना से विश्व के पर:कोटि पतितो का उद्धार कर उन्हे भव्यत्व प्रदान किया, सम्यग्दृष्टि दी और भव-सन्तरण का मार्गोपदेश किया, वे 'जिन' है। श्रमण-मुनियो की कठिन-कठोर चर्या ने सम्यक्त्व-सवलित चरित्रो को चरितार्थ किया। वह धर्म जिसने हिसा को परास्त कर 'अहिसा परम धर्म' की स्थापना की। मास, मद्य से पकिल पृथ्वी को अहिसामृत-सिचन से पवित्र किया और दया के धर्म-दुर्ग की रचना की। न केवल मनुष्य- पर्याय उससे उपकृत हुई, अपितु तिर्यंचो के भी भाग्य फले और जिनकी शुभोदय-बेला आई, वे यावज्जीवन पातकी रहकर भी मृत्यु-समय मे महामत्र 'णमोकार' सुन सके और उन्हे उत्तम-योनि और श्रेष्ठ-लोको की प्राप्ति हुई। जीवन्धर ने जन्मपातकी कुत्ते की मरणबेला मे 'पञ्च-परमेष्ठी-मत्र' सुनाया, जिससे उसे सद्‌गति मिली। काष्ठानल मे दग्ध होते नाग-मिथुन अन्तिम समय मे पवित्र 'णमोकार-मत्र' सुनने से वे भवान्तर मे धरणेन्द्र-पद्‌मावती बने।

तीर्थंकरों द्वारा निरूपित सर्वोदय तीर्थ

ऐसा सर्वहितकारी, सबके लिए उदय का मार्ग प्रशस्त करनेवाला, तीर्थंकरो द्वारा प्ररूपित यह धर्म 'सर्वोदय तीर्थ' के रूप मे मानव-जाति के सौभाग्य से तपस्वियो की दीर्घ तप.साधना के पश्चात् पृथ्वी-पुत्रो को प्राप्त हुआ था। चौरासी-लाख जीव-योनियो को इसने अभय दिया। वैर, विद्वेष, काम-वासना, कषाय-परिणति के चक्रवात मे चकराते हुए मानव को इसने परित्राण और आत्म-कल्याण के स्वर दिये तथा श्रेयोमार्ग पर लगाया। इसकी सर्वोदयता ने, विश्व-प्राणीमैत्रीत्व ने, जीवदया के मार्ग पर अतीतकाल से अद्यावधि जितना हितसाधन किया है, वह इतिहास की साक्षी मे अनुपम है। इसीलिए स्तुतिकर्त्ताओ के कण्ठ भावगलित-स्वरो मे पुकार-पुकार कर कहते हैं —

"सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥"

यह उक्ति आचार्य समन्तभद्र की है, जो महान् तार्किक प्राचीन विद्वान् है। सर्वोदय वास्तव में तभी आ सकता है, जब राग-द्वेषों का क्षय होकर समत्व का उदय हो। समत्व का उदय ज्ञान के सम्यक्त्व पर आश्रित है। एक धनिक व्यक्ति किसी धनरहित से और एक ज्ञानसम्पन्न किसी अज्ञानी से घृणा, द्वेष अथवा राग-विराग करता है, वह इसलिए कि बाह्य पौद्गलिक तारतम्य (न्यूनाधिकता) से वह अपने को श्रेष्ठ तथा दूसरे को तुच्छ परिकल्पित करता है। किन्तु वास्तव में स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। यदि दैव से, पुरुषार्थ से अथवा शुभकर्म के उदय से सम्पत्ति और ज्ञान उन अभावग्रस्तो के पास आ जाये और पूर्वकाल की लघुता महत्ता मे परिवर्तित हो जाये; तो उनके प्रति घृणा, उपेक्षा के पूर्वभाव भी बदल जायेगे और सम्मानितो मे नवीन नामावली लिखी जायेगी। इससे सिद्ध हुआ है कि ससार मे सम्पन्नता और विपन्नता कालापेक्षी है। कुये मे रँहट के रिक्त शराव (पात्र) भरते रहते हैं और भरित रिक्त होते रहते हैं। जो वस्तुत. इस तथ्य को हृदयगम कर लेता है, वह समता को तात्त्विकरूप से जान लेता है। उसी के राग-द्वेष का क्षय होता है, एव वही सर्वोदय की भावना ला सकता है।

श्रमण-सस्कृति का समताभाव

श्रमण-सस्कृति का सन्यासी-वर्ग जीवनभर के लिए अन्तर-बाह्य ग्रन्थियो का परित्याग करता है, वह इसलिए भी कि उसे सम्पदाओ और विपदाओ की स्वप्न-सत्ता का ज्ञान हो जाता है। 'अरि-मित्र, महल-मसान, कञ्चन-काँच' मे वह समता धारण करता है और उस धर्म मे स्थित हो जाता हे, जिसका लक्षण 'इष्टे स्थाने धत्ते' — (सर्वार्थसिद्धि, 9/2) है और जो प्राणी को ससार-दावानल से निकालकर अक्षय आनन्द-समुद्र मे निमग्न करता है। देव-देवेन्द्रपूजित भगवान् जिन सहस्रो शाखा-प्रशाखाओ से मण्डलायमान महान् धर्म-वृक्ष है, अधर्मतप्त वहाँ आश्रय लेते है। त्यागी मुनि जो धर्मप्रभावना करते है, मानो उस धर्मवृक्ष के नीचे अमृतोपदेश के अनतकण विकीर्ण करते है, जो धर्म-क्षुधातुरो को वहाँ जिनेन्द्र के चरणमूल मे सुधास्वादन के लिए आमन्त्रित करते है। वीतराग और सम्यक्त्वी होते हुए भी मुनिराज प्राय: पर्यटन करते रहते है और उपदेश प्रदान करते है, वे इसी सर्वोदय के लिए। उपदेशो से उनका आत्मकल्याण होता हो, नितान्त ऐसी बात नही है। तथापि लोक मे धर्मप्रभावना बनाये रखने एव जिस सम्यक्त्व को उन्होने प्राप्त किया है, उसी का निरूपण करने के लिए उनका 'यायावर-व्रत' चलता है। धर्मचर्चा के अतिरिक्त लोकसम्पर्क रखना मुनि के लिए निषिद्ध है। क्योकि —

"जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रम·।
भवन्ति तस्मात् ससर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥" — *(समाधितत्र, 72)*

यदि लोक-सम्पर्क रखा जाएगा, तो उनसे वार्तालाप आवश्यक होगा। वार्तालाप का विषय मानसिक-स्पन्दन और चित्तविभ्रम उत्पन्न करेगा। त्यागी के लिए तो निश्चय ही यह निषिद्ध है। अत: योगी को जन-सम्पर्क नही करना चाहिये।

धर्मप्रभावना मात्र के लिए यदृच्छा से लोकसग्रह होता हो, वह निन्दनीय नही। देश, काल, भाव, क्षेत्र तथा पात्रापात्र का विचार करते हुए मुनि चतुर्विध (आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेदिनी और निर्वेदिनी) धर्मकथाओ का आगमानुमोदित व्याख्यान करते है।

विश्वमानव के सम्पूर्ण हितों की रक्षा

भगवान् ने सर्वोदय तीर्थ की परिकल्पना करते हुए इसे विश्व-मानवो के सम्पूर्ण-हितो की रक्षा करने मे सक्षम बनाया है। रागी और त्यागी — दोनो वर्गों के लिए हितावह-देशनाये की है। राग-परिणति का सर्वथा त्याग सामान्यजन के लिए दुष्कर है, अत: सराग व्यक्ति शनै:-शनै: परिग्रह-परिमाण से तथा अहिसादि-अणुव्रतो से अपने गृहस्थधर्म का समुचित पालन करता हुआ त्याग-मार्ग की ओर प्रवृत्त होने का प्रयत्न करता रहे और त्यागी-वर्ग अपनी सम्यक्चारित्र-विशुद्ध-चर्या से गृहस्थो को विरागपथ का औचित्य-शिक्षण करते रहे। राग अपनी निरकुशता से इतना प्रबल एव अनियत्रित (स्फीत) न हो उठे कि लोक मे बुद्धिजीवी मानवजाति मे 'मत्स्यन्याय' चल पडे। इसलिए त्यागियो को आत्मचिन्तन करते हुए धर्मवर्तना के मूल श्रावको की शास्त्र-प्रवचन द्वारा आत्मा और ससार के विषय मे ज्ञान-चेतना को परिष्कृत करते रहना चाहिए। क्योंकि सर्वहितैषी होने पर भी धर्म को ग्रहण करते रहना मानव-स्वभाव के नितान्त-अनुकूल नही कहा जा सकता। कभी प्रमाद, कभी कालदोष, कभी अशुभ-कर्मबन्ध और कभी ज्ञानावरण का उदय प्राणियो के आस्थाशील मानस् मे भी शैथिल्य उत्पन्न कर देते है।

आचार्य अकलकदेव ने न्यायशास्त्र को अपने समय मे विपन्न पाया और अनुभव किया कि गुणद्वेषियो ने अज्ञान का (लोकव्याप्त अज्ञता का) दुर्लाभ उठाकर उसे विकृत कर दिया है, असम्यक्त्व की ओर घसीट ले गये है। ऐसे समय मे सम्यक् श्रमपूर्वक उन्होने तथा तादृश ज्ञान-सामर्थ्य-सम्पन्न अन्य विद्वद्भटो ने उसकी वास्तविकता को पुन प्रतिष्ठित किया।

यह ज्ञानावरण और काल-प्रभाव 'न्यायविनिश्चय' मे भी भ्रम उत्पन्न करता हो, ऐसी बात नही है, अपितु यह प्रत्येक क्षेत्र को, जिसमे धर्म और सम्यक्त्व मुख्य है, अधिक बाधित करता है। यदि काल-प्रभाव अधिक दुर्धर्ष नही होता, तो कलिकाल को उद्देश्य कर आचार्य धर्मग्लानि से आशकित नही होते। जब उन्होने —

"कलि-प्रावृषि मिथ्याङि्-मेघच्छन्नासु विक्षिवह।
खद्योतवत् सुदेष्टारो हा! द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥"

लिखा, जिसका आशय है कि कलियुग एक वर्षा-ऋतु के समान है, जिसमे दिशाये मिथ्यात्व के मेघो से आच्छादित हो रही है, सम्यक् मार्ग सूझता नही और अच्छे श्रुतधर्म- प्रभावक ज्ञानी खद्योत के समान कही-कही क्षणकाल के लिए दिखायी देते हैं। अर्थात् यदि सुदेष्टाओ की वर्तमान मे न्यूनता है, तो इसमे कालप्रभाव कारण है।

दिगम्बरत्व · महान् साधना

आचार्य सोमदेव सूरि ने भी विस्मय व्यक्त करते हुए कहा कि 'कलियुग मे यदि दिगम्बरत्व देखने को मिलता है, तो यह महान् आश्चर्य है। क्योकि कलियुग मे लोग इन्द्रिय-सयमी नही हो पाते और खाते भी बहुत है, मानो शरीर अन्नकीट ही हो। और दिगम्बर-मुनि की चर्या सम्पूर्ण रागजयशील तथा एकभुक्तिमय है। यह बात कालधर्म को चुनौती देने के समान है।' इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए उन्होने लिखा —

"काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥"

और वस्तुतः काल की प्रभविष्णुता दुर्जय है। **'कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा'** कहकर आचार्य समन्तभद्र ने कलिकाल को कलुषित-हृदय बताया है। इस युग मे भद्रपरिणामी और इससे भी उत्कृष्ट विशेषणधारियो में भी चित्तविशुद्धि सर्वथा नही पायी जाती। उनकी मानसिक-वृत्तियाँ भी राग-द्वेष और नाना उधेडबुन मे लगी हुई देखी जाती है। यह दुर्जय काल-प्रभाव है। 'भद्रबाहुचरित' मे ठीक ही लिखा है — **"बोधो धर्मो धन सौख्य कलौ हीनत्वमेष्यति"** — अर्थात् कलियुग मे ज्ञान, धर्म, धन और सुख उत्तरोत्तर हीनता को प्राप्त हो जायेगे। तब ज्ञान के स्थान पर ज्ञान का दर्प, धर्म के स्थान पर धर्मध्वज होने का प्रदर्शन, धन के स्थान पर अपार-तृष्णा और सुख के स्थान पर अतृप्तिकर इन्द्रिय-विलास रह जायेगे। लोगो की रुचि परिष्कृति और सत्-सस्कार से हीन होने के कारण उच्च-भूमियो से उतर जाएगी। ज्ञान, जिससे आत्महित-बोध हो, प्रायः तिरोहित हो जाएगा और सामान्यज्ञान का पाठ पढकर लोग महन्तबुद्धि का गर्व करने लगेगे। धर्म-पालन करने मे आत्म-रुचि, अन्तरग प्रेरणा नही रहेगी, अपितु उसके प्रदर्शन से समाज मे उच्चासन का मार्ग प्राप्त किया जाएगा, तथा धन का अपार-सचय भी तृष्णाशामक नही होगा।

आजकल इतनी त्वरा बढ़ गई

आज कलियुग मे ये बाते यथार्थ घटित हो रही है। क्या धन, क्या धर्म और क्या ज्ञान सभी क्षेत्र तुच्छ एव कपटपूर्ण-वृत्ति के आखेट हो रहे है। वास्तविकता मे किसी भी स्वीकृत-मार्ग का पालन करनेवाला बडी कठिनता से मिल पाता है। हाथ मे जपमाला लेकर विश्वयात्रा करने वाले मनोविचारो के साथ उडनेवाले ध्यानियो की आज कमी नही है। त्रियोग को सभालना उच्चकोटि के ज्ञान-ध्यान की शुभ-परिणति से शक्य है और वैसी परिणति नाना-कषाय-वेष्टित, कर्म-मल-दूषित आधुनिक कलिकाल मे दुष्कर है। प्रायः मानव उस कोटि तक पहुँचने का तप तथा श्रम करता ही नही, परन्तु फलवाञ्छा मे यह कल्पतरुओ के सर्वस्व को पा लेना चाहता है। त्वरा इतनी बढ गई है कि बीज बोने के बाद क्षण-क्षण पर उसकी मिट्टी कुरेदकर देखता है कि अकुर निकला कि नही। एक माली जितना धैर्य भी नही है और फलाकाक्षा की कोई सीमा नही है। बस, आर्त-रौद्र-ध्यानो मे ही अधिकाश समय व्यतीत हो जाता है। धनिक होने की इच्छा मे वह सट्टा, मटका आदि द्यूतवर्गीय व्यसनो मे लिप्त होकर एक मुहूर्त मे धनपति होने की लालसा रखता है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

विद्या और ज्ञान-प्राप्ति के क्षेत्र मे जो आज हो रहा है, वह सर्वविदित है। छात्र विलासी, शौकीन, उद्दण्ड, क्रीडाप्रिय, दीर्घसूत्री, हठी, अविनयी, ध्वसनीतिपरायण एव हिसाप्रिय हो गए हैं। ज्ञान की पिपासा, जो प्राचीनकाल मे भारतीयो का प्रिय-धन थी, मरुभूमि मे स्वल्पतोया-नदी के समान सूख गई है। धन बढने पर जहाँ दान-धर्म की प्रवृत्ति बढने लगती थी, वहाँ आज विलासिता और कामुकता बढ रही है। प्राचीन समय मे (चतुर्थकाल मे) ज्ञान, धन तथा धर्म जो आत्म-कल्याण के साधन थे, आज साध्य बन गये हैं। यह स्थिति अन्धकारपूर्ण है और धर्मकीर्ति के शब्दो मे — **'धिग् व्यापक तमः'** — इन सब क्षेत्रो को (जीवन के सभी अगो को) छेकनेवाले

(व्यापक) अन्धकार को धिक्कार है।

आशाधर कहते हैं — **'धिग् दु:षमा-कालरात्रिम्'** इस दु:षमा-कालरूपी रात्रि को धिक्कार है। और भी एक सूक्ति है — **'कलिकालबल प्राप्य सलिलै: तैलबिन्दुवत् अधर्मो वर्धते'** कलिकाल के प्रभाव से पानी पर तैलबिन्दु के समान अधर्म बढ रहा है। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि काल का प्रभाव अमोघ है।

जिनेन्द्र का सर्वोदय धर्म

शिशिर-ऋतु वन-प्रकृति के लिए दु:षमा-काल-रात्रिवत् है और वसन्त उन्हे फल-पुष्प-पल्लवो से सम्पन्न करने में चतुर्थकाल-तुल्य है। 'काल: पचति भूतानि, काल: सहरते प्रजा:' — काल की भट्टी मे सारा जगत् पक रहा है और काल के शस्त्र से सभी का सहार हो रहा है। प्रजा मे व्याप्त धर्म को काल न्यून और अधिक करता है। भगवान् जिनेन्द्र का धर्म 'सर्वोदय' होकर भी यदि आज ससार की जनसख्या के अधिकाश का प्रतिनिधित्व नही करता, तो यह दु:षमाकाल का प्रभाव ही कहना चाहिए, अन्यथा सम्यक्‌रूपेण मानवोपयोगी जिन उदात्त एव उदार-तत्त्वो का समावेश श्रमणधर्म मे है, वे समस्त भूमण्डल के लोक-समुदाय को सम्यग्दृष्टि देने मे समर्थ है।

अहिसा और जिनशासन

मानवता का निर्माण जिस अहिसा-प्रभृति चरित्र से सुलभ है, उसका व्यवहरणीय स्वरूप अखिलरूप मे जिनशासन मे निबद्ध है। व्यवहारनय और निश्चयनय द्वारा अहिसादि का पालन तथा आत्मस्वरूप-परिज्ञान-निरूपण जैनधर्म का वह विशिष्ट-अमृतमार्ग है, जिसे विश्व का पूर्वाग्रहरहित कोई भी व्यक्ति मानेगा और उसकी अकाट्यता पर अपनी सहमति प्रदर्शित करेगा। बारह-अनुप्रेक्षाओ ने मर्त्यजीवन की असारता का इतना स्पष्ट विवेचन किया है कि रागान्धो के लोचनो का कज्जल भी धुलकर साफ हो जाएगा। पञ्च महाव्रत, जिन्हे त्यागी-मुनि धारण करते है, ससार से वैर-कलह और अशान्ति मिटाने के अचूक उपाय है। हिसा, अशान्ति और परराष्ट्र-सीमातिक्रमण क्यो होते हैं? क्योंकि मानव का हृदय सच्चे धर्म की प्रतिष्ठा से रहित है। मैत्री, सह-अस्तित्व, समता तथा उदारवृत्तियो का कितना मूल्य है? — यह जानकारी उसे नही है। धर्मरहित होने से पशुवाहक (जानवरो द्वारा जीविकार्जन करनेवाला) पशुओ पर नाना अत्याचार करता है, अधिक भार लादता है, नृशसतापूर्वक शारीरिक-यन्त्रणा देता है और यथावत् आहार-पानी नही देता। यही स्थिति मनुष्य-समाज मे अधार्मिकता से बढ जाती है। अधिक श्रम और अल्प-वेतन, शोषण तथा उत्पीडन ही तो है। एक कम तौलनेवाला, झूठ बोलनेवाला, मिलावट करनेवाला, ठगी, चोरी और भ्रष्टाचार का अपराधी नही तो क्या है? समाज मे अपने-अपने क्षेत्र मे हानिकर्त्ता और हानिभोक्ता दो दल है। हानिकर्त्ता व्यक्ति पर-उत्पीडक है और हिसा का भागी है। इस गम्भीर आत्मपतित, अनैतिक स्थिति का अन्त धर्म के बिना अशक्य है। मानव- जीवन के उदात्त-तत्त्वो का सकलन धर्म मे समाविष्ट किया गया है। सम्यग्धर्म उत्तम-जीवन की कला है। बिना वैर-विद्वेष के ससार-यात्रा कैसे की जा सकती है? — यह धर्म सिखाता है। पञ्च-अणुव्रतो का पालन ही यदि मनुष्य करने लगे, तो देवता स्वर्ग को छोडकर पृथ्वी पर उतरने लगे। कथनी और करनी का भेद मिटाकर मन, वचन, काय की एकवाक्यता सिद्ध करने पर कल्पवृक्षो का युग आ सकता है।

पाँच अणुव्रतो का पालन करें

ससार में व्याप्त इस मानसिक भ्रष्टाचार को, जो कथनी तथा करनी मे भेद उत्पन्न करता है, सम्यग्दृष्टि वीतराग अच्छी प्रकार जानते थे। उन्हे मानव की इस प्रवृत्ति का तप:सिद्धि से ज्ञान हो गया था। इसीलिए समीचीन सर्वोदय-धर्म की देशना करते हुए उन्होने धर्म की दस-सूत्री-योजना को प्रस्तुत किया। पञ्च-अणुव्रतो का पालन लोक के लिए आवश्यक बताया। मूलगुणो को चारित्रमार्ग से चरितार्थ कर लोक-प्रबोध दे सके तथा आत्मकल्याण-साधन कर सके, इसके लिए त्याग का सर्वोत्कृष्ट मुनिमार्ग स्वीकार किया। ये ही ऐसे सक्षम साधन है, जिनके द्वारा पृथ्वी पर स्वर्ग की रचना हो सकती है। मनुष्य मनुष्यता के आनद को प्राप्त कर सकता है। दशलक्षण मानो निर्विरोध प्रगतिशील-जीवन की खुली हुई दशो दिशाये हैं। मनुष्य के दैनिक तथा आयुपर्यन्तगामी व्यवहारो का मणिकोष है। मानव-ससार मे नित्य जिनका उपयोग होता है और सफलता की सिद्धि प्राप्त की जाती है, — ऐसे अनुभूत प्रयोग, सर्वथा अहिसक, निर्वैर और स्वपर- कल्याणकारी, जो घर को आनन्द-मन्दिर और ससार को निरापद भूमि बना सकते है। जिनके पालन से अन्तर्बाह्य शान्ति मिलती है और अणु-आयुधो की निर्माण-भट्टियाँ बुझ जाती है, प्रक्षेपास्त्र शून्य मे खो जाते है, ताल ठोककर रण-आमन्त्रण करनेवाले सिहनाद मैत्री-स्वरो मे परिवर्तित होते है और आत्मा के तलस्पर्शी-रत्नो की उपलब्धि सहज हो जाती है।

सामाजिकता के लिए शुचिता धर्म

जो मनुष्य इन धर्म-लक्षणो को किसी त्यागी-विशेष के लिए, किसी भव्यात्मा के लिए अथवा जातिगत-आचरण के लिए सीमित मानते है, वे निश्चय ही 'समीचीन' शब्द का अर्थ नही जानते, 'सर्वोदय तीर्थ' की परिभाषा से अनभिज्ञ है। 'क्षमा' क्या जैनो का धर्म ही है? 'मार्दव' और 'आर्जव' को सम्प्रदाय-विशेष के लिए उपकारक मानते हो? 'सत्य' क्या प्रत्येक व्यक्ति के लिए पालनीय नही? 'शौच' के बिना सामाजिकता और आत्मशुद्धि टिक सकेगी? दीर्घजीवन के लिए 'सयम' कितना आवश्यक है? कार्यों की सिद्धि 'तप' बिना हुई है? महान् उपलब्धियो को 'त्यागी' ही पा सकता है, राग करने से तो अपनी छाया भी आगे-आगे भागती है। अभिमान और दर्प के विन्ध्याचलो को ओढकर कितनी दूर चलोगे? चलने के लिए तथा ऊपर पहुँचने के लिए लघुभारवान् होने की परम आवश्यकता है। 'अकिचन्यत्व' ही वह स्थिति है, जिससे मनुष्य ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, सहनन — इन आठो मदो से रहित हो सकता है। मद पाप है और पाप का निरोध सम्पत्तियो की प्राप्ति है। 'ब्रह्मचर्य-व्रत' तो अपार महिमाशील है। जैसे अब अगो की क्रिया के लिए मनुष्य के लिए कन्धे से ऊपर का भाग आवश्यक है, उसीप्रकार धर्म के पालनार्थ ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। मति, मेधा, बल, ओज, स्मृति, धृति, ज्ञान, विज्ञान-सामर्थ्य, नव-नवस्फुरण-कारिणी प्रतिभा ब्रह्मचर्य के सुगम (सुलभ) परिणाम है। जो धीर मनुष्य अपने श्वेत-शोणित अर्थात् शुक्र को अपने शरीर मे ही पचा लेता है, वही अदृष्टवीर्य सच्चा वीर्यवान् है। सत्त्व और तेज उसके नेत्रो मे दीप्ति बनकर दमकते रहते है। इन दश लक्षणो को ही 'धर्म' कहते है। यदि जीवन के मित्र सहकारी और सहायक इन सुहृदो से वञ्चित रहकर चलना पसन्द करे, तो उसे महाअरण्य मे पथ भूला हुआ अन्धा, बधिर और पगु कहना चाहिए।

आज हम क्या बनने जा रहे हैं?

आज लोग धर्म का लोप करने को कटि बाँधे खडे है। उन्हे धर्म शब्द से चिढ है, मानो अपने सच्चे साथियो से वैर है। क्षमा, मृदुता, ऋजुता और आकिचनता को वे आत्महीनता समझते है, सत्य-भाषण को मूर्खता कहत है। शौच को अण्डे-माँस मे भूनकर पचा रहे हैं, सयम को नपुसकत्व मानते है, तप उनके लिये पाखड (ढोग) है और त्याग को परिग्रहो के विपुल भार के नीचे शव-समाधि दे दी गई है, अकिञ्चन होना व्यक्तित्व को कुण्ठित करना है। उन्हें तो किञ्चन (कुछ) होने की धुन सवार है और इसका मूल्य चुकाने मे वे अपना शील, धर्म, सभी दाँव पर लगा रहे है। ब्रह्मचर्य एक बकवास है, जिसे वे अस्वाभाविक एव हानिकारक मानते हैं। प्राचीनकाल से आज तक जिन्होने ब्रह्मचर्य धारण किया, वे या तो पुस्त्वहीन थे या नितान्त मूर्ख, जिन्होंने देहेन्द्रियो को स्वाद से भर देने वाले अब्रह्म की उपासना नही की।

यही चिन्तन-दिशा पञ्च-अणुव्रत-पालन के विषय मे है। जैसे अरबी-लिपि उल्टे हाथ से (वामगतिक) अक्षर बनाती है, वैसे ही उन अधार्मिको का विचार, चिन्तन और वर्तन वाममार्गी है। वे प्रत्येक पुराण को 'जीर्ण' और अनुपयोगी कहते है। उनकी इन विकृत परिभाषाओ का परिणाम स्पष्ट है। ससार घोर-दु.खसन्तप्त है। अशान्ति शूल बनकर चुभने लगी है। रोग दूर करने को एक 'इजेक्शन' लगवाता है और दूसरा रोग उत्पन्न कर लेता है। — यह है आज की वास्तविक स्थिति, जिसमे आदमी घुट-घुट कर जीता है और प्रत्येक श्वास मे मरण-वेदना का अनुभव करता है। इसीलिए तो शास्त्रकारो ने कहा —

"बावत्तरी-कला-कुसला पडिय-पुरिसा अपडिया चेव।
सव्व-कलाण वि पवर जे धम्मकल ण जाणति॥"

अर्थात् यदि कोई बहत्तर कलाओ मे कुशल है; किन्तु धर्म-कला मे अकुशल है, तो वह चाहे पडित हो या अपडित हो, निष्फल है, क्योकि कला तो उज्ज्वलता, कुशलता और रोचिष्णुता तथा आह्लादकता का नाम है। धर्मरहित कलाये तो नट-विद्या है। 'ज्यो रहीम नट-कुण्डली सिमटि कर कूदि जात' — शिक्षा-प्राप्त नट कुण्डली (एक छोटे घेरे) मे से सिमटकर, कूदकर निकल जाता है, वैसे ही बाह्य सासारिक चपलताओ का दर्शन ही धर्मरहित करता है। आत्मा का दृश्य उसके कृतित्वो मे नही झलकता। इसी को 'मिथ्यादृष्टि' कहा गया है। मनुष्य की सत्य-दृष्टि उसके आत्मपरिज्ञान मे है और इससे व्यतिरिक्त सभी दृष्टियाँ मिथ्या है। दशलक्षण धर्म और पञ्चअणुव्रत (अथवा महाव्रत) जीवन के अन्तरबाह्य, भौतिक आत्मिक-पक्षो को सँवारते है, उनमे वास्तविक कला-कुशलता की उद्‌भावना करते हैं। परन्तु बाजार की दौने मे धरी हुई मिठाई खाकर जिसका स्वाद बिगड गया है, वह अपने घर मे शुद्धिपूर्वक बनायी हुई चौके की मिठाई पसन्द नही करता। वैसे ही धर्म-रहस्यो से अनभिज्ञ-व्यक्ति अधार्मिकता को लुब्धक की निगाह से रच-रचकर स्वीकार करता है। मानो, छिलका और गुठली खाता है, रस को थूकता है। आश्चर्य होता है इस तमःपरम्परा पर और इन असम्यक्-सविदाओ पर धिक्कार भेजने को जी चाहता है।

बहुत वर्षों पूर्व भारत के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था —

"हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी?
आओ, विचारे आज मिलकर ये समस्याये सभी॥"

वास्तव में स्थिति इतनी विषम हो चुकी है कि जिन आर्यवशजो (भारतीयो) को देखकर देवत्व की कल्पना साकार हो उठती थी, आज उनके शरीर से, बुद्धि से, मन से मानवता के स्वाभाविक स्तर का भान भी नही होता। एक अतिरंजित भौतिक-लालसाओं के लिए दुर्दमनीय-वासना रखनेवाले यांत्रिक-सस्करण से प्रतीयमान मनुष्य-नामधारी जीवो से भववीथियाँ सकुल हो रही है। सब एक-दूसरे को धकेलकर, कुचलकर आगे बढ जाने को आतुर हैं। किसी की किसी के साथ सवेदना नही, मानवत्व नही। मशीनो के युग में श्वास लेनेवाला मानव स्वय मशीन हो गया है, और इस मशीन को ही सर्वस्व मान बैठा है।

धर्मप्राणता हमारी सस्कृति का मूल-मत्र

प्राचीन-भारत के धर्मप्राण-जीवन से तुलना करने पर तत्कालीन-जीवन से आज आकाश-पाताल जितनी दूरी दिखायी देती है। जन-जीवन शून्य होता जा रहा है। जिससे अपवित्रता का परिहार और पवित्रता का आधान किया जाता है, जो दयारूप-जल से सिक्त है, इच्छितों की प्रसविता है, उस धर्म-कल्पवृक्ष की स्थापना अपने-अपने हृदयो मे करना लोग भूलते जा रहे है। यदि प्रत्येक मानव के मानस-नेत्रो के समक्ष धार्मिकता का 'स्मरण-पत्र' नही रखा गया, तो ससार निकट-भविष्य मे रहने योग्य नही रह जाएगा। आने वाली सन्ताने अपने पूर्वजो पर गर्व कर सके और धर्म को समादर की दृष्टि से देख पाये, इसके लिए तप करने का समय वर्तमान है। मोह, अविद्या-अन्धकार मे भटकते हुए जनो को 'सर्वोदय-तीर्थ' का अनुजीवी ही अपने समत्व से उपकृत कर सकता है। यह कथचित् सत्य है कि कालदोष से मानवो की धार्मिकता मे ह्रास आया है, सम्यक्त्व की ओर प्रवृत्ति न्यून हुई है, मानव अपने सर्वाभ्युदय-साधक मित्र से वञ्चित हो गया है, तथापि मोक्ष-प्राप्ति के लिए परम-पुरुषार्थ का निरूपण करनेवाला, सम्यक्चारित्र को प्रमुखता देने वाला सर्वोदयी धर्म अपने तप और पुरुषार्थ को न छोडते हुए धार्मिक पराक्रम तो कर सकता है। दैवाधीन अथवा कालाधीन होकर अपने आत्मबल को अकिचन नही करना चाहिए। सदैव उग्र-पुरुषार्थ और आत्मप्रदेशो मे निरवद्य-विचरने के सकल्पों को अप्रतिहत रखना हितावह है। आगम, स्वाध्याय और चारित्रमार्गी मुनि-महेश्वरो से प्रेरणा लेकर श्रेयोमार्ग पर आगे बढते रहने की अदम्य-इच्छा कदाचित् कालप्रभाव को भी मृदु होने के लिए बाध्य कर देती है। मात्र काल को दोषभागी बनाकर बच निकलने का प्रयास करना भी पुरुषार्थ-पराङ्मुखता है। 'ज्ञानार्णव' मे आचार्य शुभचन्द्र का वचन है कि —

"तवारोढु प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुन्नतम्।
सोपानराजिकाऽमीषा पादच्छाया भविष्यति॥5/18॥

मुनि-परमेष्ठियो की चरणकान्ति का अनुसरण करते हुए भव्य मुक्ति-मन्दिर तक जा सकेगे — इसमे क्या सन्देह है? विशुद्ध बोध-पीयूष का पान करनेवाले करुणासिन्धु महाव्रती जहाँ पदविन्यास करते है, वहाँ धन्य-क्षणो का आविर्भाव ज्ञान से लोक को सम्पन्न करना, सर्वोदय-तीर्थ का विस्तार करना है। लोक अज्ञान से, असस्कार से किसी पक्ष-विशेष के प्रति दुराग्रह रखने से, हठवाद से यथार्थ-ज्ञान को स्वीकार करना नही चाहता। उसे युक्ति, आगम, तर्क तथा सौहार्दभाव से मिथ्यात्व से हटाकर सम्यक्त्व मे प्रतिष्ठित कराना धार्मिको

का कर्तव्य है। 'सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव' कहने वाले के हृदय में यह दृढता विद्यमान है कि वह श्रमण-धर्म को सार्वजनीन, विश्वहितावह मानता है। इस 'सर्वोदय' के दावे को सिद्ध करने के लिए निम्न-तथ्य प्रस्तुत हैं —

आठ मदों को दूर करे

श्रमण-सस्कृति ने आठ मदो मे जाति, कुल, बल, ऋद्धि आदि को लेते हुए परम्परा-प्राप्त श्रेष्ठत्व को निरस्त किया है और साथ ही वस्तु-स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को महत्त्व देते हुए सम्यग्ज्ञाता और सम्यग्द्रष्टा को धर्मज्ञान का अधिकारी माना है। आत्मा से व्यतिरिक्त सभी पदार्थ 'परवस्तु' है और परवस्तु मे आसक्ति मोह है। ससार मे आसक्ति ही युद्ध, वैर, कलह, विषय-मूढता इत्यादि को जन्म देती है और मानव का पतन कराती है। आसक्ति से मनुष्य अकार्य मे प्रवृत्त होता है, परवस्तु के मोह मे आत्मविस्मृत हो जाता है। तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि से प्रसूत आगम इन दुरन्त मोहच्छेद के लिए तीक्ष्ण-कुठार है। 'व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से ऊँचा उठता है, अन्य द्वारा विहित कर्म अन्य के लिए सहायक नही होता, अत· स्वयप्रवृत्ति ही पुरुषार्थ-सिद्धिप्रद है।' इस ज्ञान से व्यक्ति कर्तृत्व और भोक्तृत्व मे भ्रान्तिमान् नही रहता, तथा शुभाशुभ-कर्मबन्धजन्य परिणामो के अवश्य भोक्तृत्व को जान लेता है। जानने के उपरान्त वह शुभकर्ममात्र का बन्ध रख सकता है। अथवा सर्वकर्मारम्भ-सन्यासव्रत लेकर कर्म-परिणमन का सर्वथा क्षय करने की ओर प्रवृत्त हो सकता है। आत्मा ही परमात्मा है और वह बन्धन से मुक्त होने पर ससार-परिभ्रमण से मुक्त होकर अपने स्वरूप मे ही समाहित हो जाती है। इस तत्त्वज्ञान से मानव परमात्म-स्थिति प्राप्त करने के लिए उत्साहित होता है, उसे आत्मा के सर्वोच्च स्वरूप का, स्व से स्व के लिए ज्ञान हो जाता है। दशलक्षण-धर्म तथा पाँच-अणुव्रत मानवमात्र की हितसाधना के अमोघ-मन्त्र है। सवर, निर्जरा ऐसे प्रकरण है, जो सचित-कर्ममलो को निकाल बाहर फेकते है, नये कर्मों का आगमन रोकते है और इसप्रकार मनुष्य को आत्मिक-योगमार्ग का निर्देश करते है, जिस पर चलकर वह आत्मसिद्धि प्राप्त कर लेता है। 'ससार असार है' — इसी विषय को 'द्वादश अनुप्रेक्षा' से समझाते हुए अनेक दृष्टियो से निर्भ्रान्त सिद्ध कर दिया है कि आपात-रमणीय-प्रतीयमान दैहिक-भोग क्षय होनेवाले हैं और इनके हितसाधन मे आत्महित-विस्मरण करना अपने ही सर्वनाश को आमन्त्रण देना है। जहाँ अनेक धर्म कोरे-ज्ञान को ही महत्त्व देते है तथा उसी से मुक्ति-प्राप्ति का निरूपण करते है, वहाँ श्रमण-सस्कृति मे सम्यग्ज्ञानानुपूर्वी सम्यक्चारित्र को उपयोगिता का अन्तिम-चरण मानते है। यह स्थापना इतनी क्रान्तिकर है कि प्रतिवाद के अशेष अस्त्र कुण्ठित हो जाते है। श्रद्धा के बिना कोरे ज्ञान को 'ज्ञान पगु क्रिया, चान्धा' — कहकर उपेक्षणीय, असमर्थ, अनुपयोगी बताया है। कषायो को नि शेष करना, विषयो को निर्मूल करना श्रेय·साधना के लिए अपरिहार्य है, क्योकि इनसे आर्त-रौद्र ध्यान बने रहते है, तथा नि सगत्व की प्राप्ति नही होती। सर्व सावद्यविरत होने वाले को अन्तर्बाह्य परिग्रहमात्र हेय है और दिगम्बरत्व ही वह उपाय है, जिसमे कर्मक्षय करने की सातिशय-क्षमता है। सर्वोदय धर्म इसी उच्च-भूमिका का समादर करता है। मानव ज्ञानवान् होकर सर्वसन्यास का व्रत ग्रहण करे तथा आवागमन से सदा के लिये छूट जाए, दिगम्बरत्व का यही अभिप्राय है। मोक्ष-सिद्धि के लिए स्वीकार किया जाने वाला व्रत (निर्ग्रन्थ मुनिचर्या) यदि अष्टविंश-मूलगुणो से रहित करके भी देखे, तो इतना कठिन है कि पालन करना अशक्य प्रतीत होता है। उस पर मूलगुणो-सहित का मुनिधर्म-पालन करते है, यह तो अत्यन्त असहनीय है। सारे तप दिगम्बरत्व मे समा जाते है और नि.शक यह कहा जा सकता है कि उनके लिए मोक्षमार्ग खुला है।

आत्मोपलब्धि के लिए महातपा दिगम्बर-मुनि कौन-सा उत्सर्ग नही करते है? ससार के यावत् पदार्थों का नि:सगत्व क्या सामान्य बात है? जब लोग नित्य सुख-सुविधा के साधनो का आविर्भाव करने मे लगे हैं, तब सब ओर से मनोवृत्तियो को हटाकर सर्वसयम ले लेना 'अतिदुस्तर पन्था.' है। यह वेष चारित्र-सहित तीर्थंकरो ने अपनाया और आज तक उनके अनुगामी अपनाते आये है। यह अकिञ्चनता की पराकाष्ठा है। इससे अधिक आकिञ्चन्य क्या हो सकता है? जैसे बीज मिट्टी मे मिल जाए, वैसे अपने अहकार को नि:शेष विगलित करने वाले महाव्रती सर्वोदय-तीर्थ की देन ही हो सकते है। विश्व-समाज मे भगवान् के सर्वोदय-तीर्थरूपी मगल को प्रचारित करने के लिए श्रावक, तपस्वी और विद्वान् अपने धर्मश्रम का उपयाग कर आधि-व्याधि-ग्रस्त ससार तक परित्राण के स्वर पहुँचाये तथा समभावी हो, तभी आचार्यप्रोक्त 'तवैव' (सर्वोदय तीर्थमिद तवैव) पद आशीर्वादक होगा। ❖❖

कुंबले ने कहा : शाकाहारी बनो

*आजकल बडे क्रिकेटरो के नाम मैच फिक्सिग से जोडे जा रहे है, एक क्रिकेटर का नाम शाकाहार से जुड रहा है। लेग-स्पिनर **अनिल कुम्बले** आजकल जमकर शाकाहार की वकालत कर रहे है।*

'पीपुल फॉर द एथिकल ट्रीटमेट ऑफ एनिमल' की एक विज्ञप्ति के अनुसार अनिल कुम्बले का कहना है कि "शाकाहार पशुओ की रक्षा करता है। उनका यह भी मानना है कि शाकाहारी भोजन मे सभी तरह के जरूरी विटामिन और प्रोटीन होते है। इसमे वसा, कोलेस्ट्रोल मास से कम होते है।"

कुम्बले ने शाकाहार को बढावा देने के लिए हाल ही मे एक विज्ञापन के लिए भी काम किया है। यह विज्ञापन क्रिकेट स्टेडियमो मे अगले कुछ महीनो मे दिखाई देगा। इस विज्ञापन मे यह गेदबाज बल्ला हाथ मे लिए है और कह रहे है कि 'शाकाहारी हो जाओ'।

*भारत से पहले 'पटा' के अभियान के चलते अमेरिका म 1 करोड 70 लाख अमेरिकी शाकाहारी हो चुके है। इग्लैड मे हर सप्ताह औसतन 2000 लोग शाकाहार को अपना रहे है। भारत मे 'पेटा' ने जनवरी मे अपना अभियान शुरू किया था। इस अभियान मे **अमिताभ बच्चन, महिमा चौधरी, जूही चावला** आदि कई भारतीय-सितारे भी शामिल हो चुके है।* ❖❖

— (साभार उद्धृत, नवभारत टाईम्स, 2 अगस्त 2000)

अहिंसा-प्रशिक्षण : एक सार्वभौम-आयाम

✍ आचार्य महाप्रज्ञ

भगवान् महावीर के सदेशो मे सर्वाधिक प्रसिद्धि-प्राप्त 'अहिसा' की चर्चा आज बहुत लोग करते है। प्राचीन-आचार्यों एव मनीषियो ने भी इसकी बहुआयामी-दृष्टिकोणो से चर्चा की है। आज वैज्ञानिक एव व्यावहारिक-धरातल पर प्रत्येक सिद्धान्त की उपयोगिता परखने का प्रचलन है। उसी दृष्टि से व्यापक-चितन एव अनुभवो से समृद्ध एक गहन-चितनशील साधक-मनीषी की लेखनी से प्रसूत 'अहिसा' के प्रशिक्षण की प्रेरणा देनेवाला यह आलेख अवश्य मननीय है। — **सम्पादक**

अहिसा और आत्मनिरीक्षण — ये दो नही है। हिसा और परदर्शन को भी पृथक् नही किया जा सकता। जिस व्यक्ति ने सदा दूसरो को देखा है, पदार्थ को देखा है, वह हिसा मे उतर जायेगा। जिसने अपने आपको देखना शुरू किया है, अपना दर्शन, अपना निरीक्षण किया है, वह हिसा से दूर होता चला जायेगा, उसके जीवन मे अहिसा उतरती चली जायेगी। आज पूरे विश्व मे 'अहिसा' एक चर्चित-शब्द बन गया है। हजारो-वर्ष पहले अहिसा को एक प्रशिक्षण और सिद्धान्त बताया गया है। महात्मा गाँधी ने अहिसा को एक व्यापक-स्वरूप प्रदान किया है, और विश्व के सामने अहिसा की शक्ति को तेजस्वी-रूप मे प्रस्तुत किया। वर्तमान दो-तीन दशको मे जिसप्रकार हिसा बढी है, अहिसा की अभीप्सा और अधिक जागृत हुई है।

विचारणीय प्रश्न

हम इस बात को जानते है – प्रथम विश्व-युद्ध मे बहुत नरसहार हुआ, दूसरा महायुद्ध हुआ, तो उसमे भी भयकर-नरसहार हुआ। इस बात को कम लोग जानते है, कि दूसरे महायुद्ध के बाद आज तक जितना नरसहार हुआ, उतना दोनो महायुद्धो मे नही हुआ। छोटे-छोटे राष्ट्रो ने इतनी लडाइयाँ लडी है, कि उनमे लाखो-करोडो लोगो का नरसहार हुआ है। पिछले दिनो 'रवाडा' और 'सोमालिया' मे दो जातियो के सत्ता-सघर्ष मे गृह-युद्ध छिड गया। अस्पताल मे हजारो लोग घायलावस्था मे एक-दूसरे को मार रहे थे। सत्ता-सघर्ष से प्रेरित जातीय-सघर्ष ने इतनी विभीषिका मचाई है, कि कुछ ही दिनो मे लाखो आदमी कट-मर गये। आज विश्व के सामने यह प्रश्न उठ रहा है, कि ये गरीब और छोटे देश इतनी हिसा कर आखिर क्या पाना चाहते है? इस प्रश्न का कोई उत्तर नही मिल रहा है। सयुक्त राष्ट्रसघ है, तमाम शक्तिशाली देश है, जिनका विश्व के अधिकाश देशो पर दबाव है, प्रभुत्व है। इन देशो की हिसा को रोकने मे उन्होने कितना योगदान किया यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

बडे देशो मे कोई सघर्ष होता है, तो अमेरिका, इग्लैड जैसी शक्तियाँ तुरन्त बीच-बचाव करने के लिये दौड पडती है। अफ्रीकी-राष्ट्र मे मनुष्य का मूल्य इतना कम है, कि उसके लिये कोई चिन्ता करने की जरूरत नही समझता। उन्ही के लडाई-झगडे को रोकने के लिये प्रयत्न किये जाते है, जिनका बाजार मे मूल्य ज्यादा है जिनका बाजार मे मूल्य कम है, खनिज-खाद्यान्न और दूसरी आवश्यक-चीजो को जो उत्पादन नही कर सकते,

हर दृष्टि से पिछडे हैं, उनके लिये कोई चिन्ता नही होती।

इन सारी स्थितियों ने आज चिन्तन को आन्दोलित किया है। आखिर दुनिया मे बढती जा रही यह हिसा कहाँ जाकर रुकेगी? कब विराम लेगी? इस परिप्रेक्ष्य मे अहिसा का प्रश्न और भी अधिक-ज्वलत बन गया है। इस बात को सब समझ रहे हैं, कि इसका एकमात्र-उपाय अहिसा ही है। यह उपाय नही हुआ, तो प्राकृतिक-प्रलय से पूर्व आदमी स्वय प्रलयकर बन जायेगा, और सारी सृष्टि को समाप्त कर देगा। इसलिये अहिसा का विकास बहुत जरूरी है। प्रश्न है कि यह विकास कैसे हो? समाधान अहिसा है, किन्तु उसकी प्रक्रिया क्या हो? यह जटिल प्रश्न है।

नया नक्षण

अहिसा की केवल चर्चा ही पर्याप्त नही है। अहिसा का अनुसधान होना चाहिये, उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये, उसका प्रयोग होना चाहिये। जैसे ही ये तीन सूत्र आये, चिन्तन के क्षेत्र मे एक नया नक्षत्र उदित हो गया। सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्र जी ने पूछा — "यह बहुत सुन्दर कल्पना है। अहिसा सार्वभौम की कल्पना के रूप मे इसे आगे बढाना चाहिये।" गुजरात के साहित्यकारो ने, सर्वोदय के कार्यकर्त्ताओ न इसे एक नये दृष्टिकोण के रूप मे देखा। त्रिसूत्री-कार्यक्रम के बिना केवल अहिसा के सिद्धान्त की चर्चा से आगे नही बढा जा सकता। आज जब विज्ञान अनुसधान के बल पर, प्रशिक्षण और प्रयोग के बल पर बहुत आगे बढ रहा है, इन तीनो के अभाव मे मात्र एक वाड्मय और शब्दो का घेरा बन जाता है, कोई बडा आयोजन या काम नही हो सकता।

प्रशिक्षण · चार-सूत्र

प्रशिक्षण की विधि को भी जानना बहुत जरूरी है। प्रश्न है अहिसा का प्रशिक्षण कैसे हो? एक प्राचीन-ग्रन्थ है 'बृहत्कल्प भाष्य'। उसमे प्रशिक्षण की बहुत बढिया-विधि निर्देशित है। इसके चार-सूत्र है — **पहला सूत्र** है — मूलपाठ का उच्चारण। मूलपाठ यह है — 'मै किसी निरपराध-प्राणी का सकल्पपूर्वक वध नही करूँगा। आत्महत्या नही करूँगा। परहत्या नही करूँगा। भ्रूण-हत्या नही करूँगा।' **दूसरा सूत्र** है — अर्थबोध। **तीसरा सूत्र** है — अधिगम। यह पूछो कि तुम्हारी समझ मे नही आया। अधिगत किया या नही किया? **चौथा सूत्र** है — श्रद्धा। इस विषय मे जो पाठ पढाया है, जो अर्थ बताया, और जो तुमने समझा, उसमे तुम्हारी श्रद्धा पैदा हुई या नही हुई?

मूलपाठ, अर्थ, अधिगम और श्रद्धा — जब तक ये चार-सूत्र नही होते, प्रशिक्षण की बात आगे नही बढती। कोई भी प्रशिक्षण हो, उसके लिये ये चार-सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रशिक्षण के ये महत्त्वपूर्ण-सूत्र आचार्य सघदास और आचार्य मलयगिरि ने दिये।

सकल्प सस्कार बने

अणुव्रत-अहिसा के प्रशिक्षण की आचार-सहिता है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है — अणुव्रत का अर्थ है, अहिसा की आचार-संहिता, अहिसा के प्रशिक्षण की प्रक्रिया। बहुत लोग अणुव्रती बनते है, अणुव्रतो

को स्वीकार करते है, किन्तु पूरी प्रक्रिया नही करते। जब तक पूरी प्रक्रिया नही होती, तब तक उसका पूरा फल नही आता। एक व्यक्ति रोटी खाने बैठा। भूख है पाँच रोटी की। यह आधी रोटी खाकर उठ गया। क्या शरीर को पूरा पोषण मिलेगा? पोषण तब मिलेगा, जब भूख के समानान्तर भोजन करेगे। प्यास है, एक लोटे पानी की। एक घूँट पानी पिया। क्या पानी पीने का फल आयेगा? प्यास बुझेगी? दवा का कोर्स है दस दिन का, और दवा ली मात्र एक दिन, तो दवा का परिणाम नही आयेगा। ठीक यही प्रक्रिया आज धर्म के लोग अपना रहे है। धर्म करते हैं, किन्तु अधूरा करते है। यह मानते है — पाठ पढ लिया, और समझ लिया, धर्म पूरा हो गया। एक व्यक्ति अणुव्रती बनता है, वह आचार-सहिता का पाठ भी कर लेता है, और सकल्प भी कर लेता है — 'मै किसी भी निरपराध-प्राणी का सकल्पपूर्वक-वध नही करूँगा।' वस्तुत यह पर्याप्त नही है। जब अहिसा के प्रशिक्षण की दिशा मे हम प्रस्थान करेगे, तो समझ मे आयेगा, कि यह बिल्कुल अधूरी बात है। जब इस सकल्प को अनुप्रेक्षा की जाँच पर पायेगे, तब सकल्प पकेगा। 'मै किसी निरपराध-प्राणी का सकल्पपूर्वक-वध नही करूँगा' — इस सकल्प को एक सप्ताह, दो सप्ताह, चार सप्ताह तक दोहराये और तब तक दोहराये, जब तक यह वाक्य आपका सस्कार न बन जाये। जब यह वाक्य सस्कार बन जाये, तो फिर इसे दोहराने की जरूरत नही होगी।

अतर है शिक्षण और प्रशिक्षण मे

हम सस्कारो का निर्माण करना चाहते है। एक बार किसी से कह देते है — झूठ मत बोलो, बुराई मे मत जाओ और हम यह मान लेते है — उसे अच्छी शिक्षा दे दी। यह भ्रम है। पाँच-पाँच हाथ के हजार कुये खोद ले, तो पानी नही निकलेगा। पानी निकालना है, तो उसे एक स्थान पर ही वहाँ तक खोदना होगा, जब तक पानी न निकल आये। पानी की पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी परत तक जाते है, तब पानी का अच्छा स्रोत निकलता है।

हम लोग प्रशिक्षण को अभी जानते नही है। टीचिग एक बात है, और ट्रेनिग बिल्कुल दूसरी बात है। शिक्षण और प्रशिक्षण मे बहुत अतर है। शिक्षण मे तो पाठ याद कर लेते है, या थोडा अर्थ समझ लेते है, और मान लेते है, कि बस काम हो गया। किन्तु प्रशिक्षण मे शब्द कोई बहुत काम नही देता। शब्द प्राथमिक-रूप म थोडी-सी सहायता करता है, किन्तु जब तक इस शब्द का जो अर्थ है, वह हमारा अपना न बन जाये तादात्म्य न हो जाये तब तक वह आचरण नही बन सकता। शरीर को पोषण तब मिलेगा, जब खाया पिया पचकर रक्त और मॉस मे बदल जायेगा। यह है प्रशिक्षण की प्रक्रिया। आयुर्वेद मे सात-धातुओ मे अतिम-धातु मानी गयी है — ओज। प्रशिक्षण मे अतिम-धातु है — सस्कारनिर्माण। जब सस्कार-निर्माण हो गया, आदत बन गई, फिर वह अलग नही होती। सस्कार-निर्माण हुआ और हमारा कार्य सपन्न हो गया।

सदर्भ आचार-सहिता का

अणुव्रत की आचार-सहिता का सन्दर्भ ले — 'मै पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति जागरुक रहूँगा' व्यक्ति ने इस पाठ को पढ लिया, इसका अर्थ भी समझ लिया। पर्यावरण का प्रदूषण क्या है? इसे जान लिया। इसमे श्रद्धा भी पैदा हो गई। इसका तात्पर्य है — हमने भूमि को उर्वरा बना लिया। अब बीज बोने लायक भूमि बन गई, इसके बाद अनुप्रेक्षा का प्रयोग अपेक्षित है। मै पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति जागरूक रहूँगा — इस शब्दावली

को नौ बार दोहरायें। पहले बोलकर नौ बार दोहराये, फिर होठो में नौ बार दोहरायें, और फिर मन में नौ बार दोहराये, इसके बाद इस वाक्य के साथ एकाकार बन जायें, इसे अपने में समाहित कर लें। इसे कायोत्सर्ग की मुद्रा मे दोहराये, फिर इसके साथ ध्यान का प्रयोग करें। रग के ध्यान का प्रयोग करे, अनुचितन करे। अनुप्रेक्षा के जितने सारे चरण है, उनमे से गुजरे।' क्या यह काम एक दिन मे हो जायेगा? कभी सभव नही है। दो दिन मे करे, चार दिन मे करे, दस दिन मे करे। जब तक यह लगे, कि अब यह मेरा सस्कार बन गया है, तब तक अनुप्रेक्षा का प्रयोग करते रहे। यह मूल्याकन व्यक्ति-स्वय कर सकता है, कि वह मेरा सस्कार बना या नही बना।

सकल्प और सिद्धि

मुझे यह कहने मे सकोच नही है, कि साधु-समाज और गृहस्थ-समाज — दोनो मे प्रशिक्षण की विधि का प्रयोग आज नही हो रहा है। सकल्प और मिद्धि — ये दो शब्द बहुत पुराने है। एक सकल्प, एक लक्ष्य बना, किन्तु यह सकल्प ही रहता है, तो सिद्ध नही होता। सिद्धि तब मिलेगी, जब उसे प्रयोग की आँच पर पकाया जायेगा। आँच तेज होगी, तो जल्दी पकेगा, धीमी आँच होगी, तो देर से पकेगा। यह प्रक्रिया का भेद है, लेकिन पकाये बिना, अहिसा का सकल्प हो, या सत्य का सकल्प, फल नही देता।

आहार और हिसा

हम प्रशिक्षण की विधि पर विशेष-ध्यान केन्द्रित करे। अहिसा के प्रशिक्षण का पहला अग है — आहार का प्रशिक्षण। आहार और हिसा मे गहरा-सम्बन्ध है। प्रश्न है — आहार कैसा है? वह सात्त्विक है, या तामसिक? यदि आहार मे मद्य-माँस का प्रयोग होता है, तो वह हिसा की प्रवृत्ति को बढावा देगा। हम ऐतिहासिक-दृष्टि से देखे। भारतीय-समाज को ले, या बाहर के समाज को ले। जिन लोगो को लडाई मे ज्यादा रहना पडा, जो सुरक्षा के मोर्चों पर रहे, लडना ही जिनका पेशा बन गया, उन क्षत्रियो के लिये मद्य और माँस की खुली-छूट समाज ने दी। शायद बहुत कम क्षत्रिय ऐसे हुये है, जिन्होने इनका प्रयोग न किया हो। एकप्रकार से यह क्षत्रियो का धर्म बन गया। ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र — इनके लिये माँसाहार कोई विकल्प नही था। यह अलग बात है, कि वे खाने लग गये, किन्तु उनके लिय वह कोई विकल्प नही था। क्षत्रियो के लिये आहार का एक विकल्प माँस बन गया। जब लडाई मे ही रहना है, तो शराब और माँस का सहारा आवश्यक है। ऐसी स्थिति मे क्रूर बनना पडेगा, दया और सवेदनशीलता खत्म करनी पडेगी। सवेदनहीन हुये बिना हिसा हो ही नही सकती। वर्तमान मे आतकवाद के प्रशिक्षण मे प्रशिक्षुओ को सवेदनहीन बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है। कुछ देशो मे सवेदनहीनता के लिये मनोरजन होते है। अरब के एक देश मे ऐसा ही एक सवेदनहीन खेल होता है, जिसमे ऊँट की पीठ पर एक बच्चे को बाँध दिया जाता है। फिर ऊँट को बेतहाशा दौडाया जाता है। जब बच्चा भय और पीडा से चीखता है, चिल्लाता है, तो शेख और दूसरे दर्शक प्रसन्न एव आनदित होते है। बच्चो की करुण-चीत्कारे तब तक सुनते रहते है, जब तक कि उनके प्राण-पखेरू न उड जाये। क्या सवेदनहीनता के बिना ऐसा दृश्य देखा जा सकता है?

निदर्शन रोम का

रोम का साम्राज्य बहुत शक्तिशाली था। वहाँ हिसा और खूनी-सघर्ष मे लोग इतने हृदयहीन और सवेदनहीन

हो गये, कि तलवार-बदूक से किसी को मारने मे उनकी रुचि ही समाप्त हो गई। फलस्वरूप हत्या की नई-नई विधियो को ईजाद कर वहाँ आदमी को तडपा-तडपा कर मारा जाने लगा। जिस्म से उबलते रक्त के छूटते फव्वारो, चीखो और चीत्कारो से वहाँ के लोगो को अपूर्व-तोष और आनन्द का अनुभव होता था। इस दृष्टि से वहाँ भयानक-यातनागृह बनाये गये। अन्ततः इसी सवेदनहीनता ने रोम-साम्राज्य का पतन कर दिया। पहले वे दूसरो को मारते थे, किन्तु जब हिसा उनका सस्कार बन गया, तो वे अपनो को ही मारने लगे। सैनिक अपनी पत्नियो को मारने लगे, अपने पुत्रो को मारने लगे, पडोसियो को मारने लगे। धीरे-धीरे वह साम्राज्य आपस मे ही लड-कटकर समाप्त हो गया।

स्थिति अमेरिका की

समाचार-पत्रो मे पढा, अमेरिकी सैनिक भी उसी पगडडी को पकड रहे है। युद्ध के प्रशिक्षण, वियतनाम, इराक, सोमालिया आदि देशो मे युद्धरत सैनिको की आदत ही इतनी हिसक हो गई, दिमाग इतना गर्म हो गया, हिसा से इतना भावित हो गया, कि हिसा एक सामान्य-घटना बन गई। घर मे पत्नी या किसी ने मन के प्रतिकूल कुछ भी कहा, तो फौरन गोली मार दी जाती है। छोटे-छोटे विद्यार्थियो मे भी यह प्रवृत्ति घर करती जा रही है। वहाँ लाखो विद्यार्थी विद्यालयो मे पिस्तौल या कोई अन्य मारक-हथियार लेकर जाते है।

सस्कार-निर्माण का प्रयोग

अहिसा के विकास के लिये सवेदनशीलता का विकास करना बहुत जरूरी है। सवेदनशीलता के विकास के लिये अनुप्रेक्षा की विधि अपनानी होगी। सस्कार-निर्माण की यह विधि जितनी अच्छी है, उतनी अच्छी विधि शायद अभी दूसरी विकसित नही हुई है। **सव्वभूयाण भूयस्स सम्म भूयाहि पासआ** — सब जीवो को अपने तुल्य समझो। **"आयतुले पयासु"** — सब आत्माओ को अपनी आत्मतुला से तोलो — इन दो पर अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया। कुछ लोगो ने कहा — इससे हमारा सारा दृष्टिकोण ही बदल गया। आज अपेक्षा है — दृष्टिकोण को बदलने के लिये अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जाये, सच्चाई को बार-बार दोहराया जाये। शिला बहुत मजबूत होती है, किन्तु उसपर यदि मजबूत रस्सी बार-बार चले, तो शिला पर भी निशान बन जाते है। प्रशिक्षण का एक सूत्र है — भावना, पुनः-पुन. प्रवृत्ति, और अभ्यास। सस्कार-निर्माण का यह शक्तिशाली-प्रयोग है।

शरीर और अहिसा

अहिसा के प्रशिक्षण का एक अग है — स्वास्थ्य। शरीर ठीक रहे, उसमे कोई पीडा न रहे, हमने इस सीमा तक ही स्वास्थ्य को सीमित कर रखा है। यह स्वास्थ्य का सही मूल्याकन नही है। मानसिक और भावनात्मक-स्वास्थ्य की बात को छोड दे, शारीरिक-स्वास्थ्य का भी हमारी हिसा और अहिसा के साथ गहरा सम्बन्ध है। आज यह वैज्ञानिक-अध्ययन का विषय बना हुआ है। अगर लीवर का फक्शन ठीक नही है, तो आपमे हिसा की भावना पैदा हो जायेगी। हाइपर-एसिडिटी है, तो बुरे विचार, बुरे-भाव पैदा होते चले जायेगे। रक्त मे ग्लूकोज का 'लो' परसेटेज है, तो आत्महत्या या दूसरो की हत्या की भावनाये पैदा होगी। स्नायुतत्र का सतुलन नही है, अन्त स्रावी-ग्रन्थियो के रसायन सतुलित पैदा नही हो रहे है, तो हिसा की भावना पैदा हो जायेगी।

जरूरी है परीक्षण

मनुष्य शरीर को हृष्ट-पुष्ट और निरोग रखने के लिये शरीर पर ध्यान देता है। उसे गलत नही कहा जा सकता है। यह भी एक प्राथमिक-आवश्यकता है, किन्तु इस दृष्टि से भी ध्यान देना जरूरी है, कि शरीर के महत्त्वपूर्ण-अवयवों का हमारी वृत्तियो और मन पर क्या असर हो रहा है? आजकल लोग शरीर का टेस्ट बहुत कराते है? टेस्ट मे हजारो-लाखो रुपये खर्च कर देते हैं, किन्तु यह टेस्ट नही कराते कि थायराइड, पिट्यूटरी, एड्रीनल आदि ग्रन्थियाँ कैसे काम कर रही हैं? वे ठीक से काम कर रही है, या नही? हिसा को रोकने के लिये इनका टैस्ट बहुत आवश्यक है।

नेपोलियन वाटर-लू की लडाई हार गया। एक प्रश्न उभरा कि विश्व-विजय का सपना देखनेवाले इस योद्धा की पराजय क्यो हुई? उसके मस्तिष्क की मेडिकल जाँच की गई। जाँच से पता चला, जिस समय नेपोलियन ने वाटर-लू की लडाई का निर्णय लिया था, उस समय उसकी पिट्यूटरी-ग्लेण्ड फेल हो गई थी, इसलिये युद्ध के दौरान वह उचित-निर्णय नही ले सका, और पराजित हो गया।

अहिसा-प्रशिक्षण का अर्थ

आहार और स्वास्थ्य का प्रशिक्षण बहुत-महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिक इसमे लगे, और खोजे, तो एक दिन अहिसा की ऐसी कोई विधि सामने आ सकती है, जिसके प्रति पूरे विश्व का ध्यान आकर्षित हो सकता है जबसे अहिसा के प्रशिक्षण का स्वर उभरा, अहिसा प्रशिक्षण पर दो काफ्रेसे हुईं, दुनिया का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। अनेक पत्र आये, यह जिज्ञासा मुखर हुई कि अहिसा-प्रशिक्षण की विधि क्या है? सामान्यत: अहिसा-प्रशिक्षण का मतलब है — कही लडाई हो रही है, तो शान्ति-सैनिक वहाँ जाये, उन्हे समझा-बुझाकर शान्त करे। यह एक कोण हो सकता है। इसे हम अहिसा-प्रशिक्षण की परिपूर्ण-विधि नही मान सकते। हिसा और अहिसा को हमने युद्ध और शान्ति के क्षेत्र तक ही सीमित कर दिया। वस्तुत· यह जीवन का व्यवहार है, हर व्यक्ति के जीवन मे बार-बार हिसा और अहिसा के क्षण आते ही रहते हैं। इससे विरत होने के लिये हम मन से चले। आहार का प्रशिक्षण, स्वास्थ्य के प्रशिक्षण की यात्रा शुरू हो, तो अहिसक-समाज-रचना का स्वप्न साकार होगा।

शान्ति की वर्तमान-भाषा

विश्व-शान्ति के लिये सयुक्त-राष्ट्र-सघ बना। अब झटपट युद्ध नही होते। पहले चर्चा होती है, चिन्तन होता है, इससे प्राय: आवेश शान्त हो जाता है। युद्ध आवेश मे शुरू होते है। सयुक्त-राष्ट्र-सघ द्वारा उस आवेग पर छीटा डालकर उफान को शान्त कर दिया जाता है। तुरत-फुरत युद्ध शुरू नही हो पाते। शान्ति की परिभाषा करते हुये युद्ध-शास्त्रियो ने कहा है — 'शान्ति का मतलब है —दो युद्धो के बीच की जानेवाली तैयारी।" युद्ध कम हो जाने का एक कारण यह है, कि युद्धोपकरण महगे हो गये है, और शक्ति-सतुलन इतना बराबर हो गया है, कि हर किसी को दूसरा खतरा दिखाई देता है। परमाणु-युद्ध कभी भी हो सकता था, यदि शक्ति-सतुलन न होता तो। यदि अहिसा-प्रशिक्षण का सूत्र व्यापक बनता, तो शक्ति-सतुलन के नाम शस्त्रीकरण को बढावा नही मिलता, शान्ति और सुरक्षा का दर्शन शस्त्रो मे नही मिलता।

हथियार-उद्योग पर नियंत्रण हो

अहिसा-प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अग है — हथियार-उद्योग पर नियत्रण। आज युद्ध शुरू करानेवाला सबसे बडा कारण है हथियार-उद्योग। अमेरिका जैसे हथियार-उद्योग के व्यापारी आज दुनिया के सम्राट् बने हुये है। हथियारो का उत्पादन इतना हो गया है, कि खपत की समस्या ज्वलत बन रही है। इसके लिये कोई ऐसा क्षेत्र ढूढा जाता है, जहाँ युद्ध शुरू कराया जा सके, फिर उस युद्ध मे उन हथियारो की खपत हो।

इस हथियार-उद्योग को कैसे निष्प्रभावी बनाया जा सके, इस प्रश्न पर भी अहिसा-प्रशिक्षण के सदर्भ मे विमर्श आवश्यक है।

दूरदर्शिता-व्रत

भगवान् महावीर ने एक श्रावक के लिये इस व्रत का विधान किया था, "मै शस्त्र का निर्माण नही करूँगा, शस्त्र के पुर्जों का सयोजन नही करूँगा।" आजकल हथियार के कल-पुर्जों का सयोजन होता है। हवाई जहाज अपने यहाँ बनाया, और इजन वहाँ से खरीदा। टैक अपने यहाँ विकसित किया, उसमे इजन, रॉकेट और तोप दूसरे देश की उन्नतशील-किस्म की लगाई। एक श्रावक के लिये कितनी दूरदर्शितापूर्ण-व्रत था, जो अहिसा के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण-अग बना था।

जीवन-शैली बदले

अहिसा के प्रशिक्षण का एक सूत्र है — जीवन-शैली का परिवर्तन। इस परिवर्तन के बिना अहिसा के प्रशिक्षण की बात पूरी नही होगी। बहुत आवश्यक है जीवन-शैली का बदलाव। जीवन-शैली अच्छी नही है, तो उसमे हर किसी को असफलता ही मिलेगी। ❖❖

समता ही आनन्द की क्रीडास्थली है

'समामृतानन्दभरेण पीडिते, भवन्मन कुड्मलके स्फुटत्यति।
विगाह्य लीलामुवियाय केवल, स्फुटैक विश्वोदर-दीपकार्चिषः॥'

— (आचार्य अमृतचन्द्र, लघुतत्त्वस्फोट, 6/11)

अर्थ — (समतामृतभरेण) समतारूपी अमृतजन्य आनद के भार से (पीडिते) पीडित-युक्त (भवन्मन- कुड्मलके स्फुटयत्यति) आपके मनरूपी कुड्मल-कलीके सर्वथा विकसित हो जाने पर (लीला विगाह्य) अनन्त-आनद की क्रीडा मे प्रवेश करके (स्फुटैक विश्वोदर-दीपकार्चिष· केवल उदियाय) समस्त विश्व के उदर को स्फुटरूप से प्रकट करनेवाले दीपक की ज्योतिस्वरूप को आपको केवलज्ञान प्रकट हुआ।

तात्पर्य उसका यही है कि जब समतारूपी-अमृत का आनद आपकी आत्मा मे भर गया, तब समस्त विश्व को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान आपको प्राप्त हुआ, यही आपकी लीला-क्रीडा (धर्मक्रीडा) है। ❖❖

आधुनिक-युग और भगवान् महावीर

✍ (स्व.) पं. दलसुख मालवणिया

समसामयिक-सन्दर्भों मे भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन की उपादेयता का प्ररूपण आज की पीढी की पहिली माँग है। किन्तु इसके प्रतिपादन के लिये मात्र आधुनिक-युग की आवश्यकताओ का विशेषज्ञ ही पर्याप्त नही है, उसे महावीर के जीवन-दर्शन का गहन-अध्येता भी होना अनिवार्य है। इस अपेक्षा को पूरा करनेवाले वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध मनीषी-साधक स्व प. दलसुख भाईजी मालवणिया से बेहतर प्रस्तोता कौन हो सकता था? अत: उनकी ही सारस्वत-लेखनी से प्रसूत यह आलेख यहाँ प्रस्तुत है। — सम्पादक

विज्ञान और धर्म

विज्ञान ने अपने प्रारम्भ मे तो धार्मिक-मान्यताओ का विरोध किया था, और समझा जाने लगा था, कि विज्ञान और धर्म का कभी मेल नही हो सकता। एक अश में यह बात सत्य भी थी, क्योंकि पश्चिम मे ही इस विज्ञान का उदय हुआ, और वहाँ धर्म का तात्पर्य था — केवल ईसाई-धर्म और उसकी मान्यताओ से। किन्तु जब पश्चिम के विद्वानो को भारतीय विविध-धर्मों और उनकी परस्पर-विरोधी मान्यताओ का परिचय होने लगा, तो पहले यह स्थिति थी, कि जो धार्मिक-मान्यताये ईसाई-धर्म से अनुकूल थी, उन्हे तो वे धर्म के क्षेत्र मे सम्मिलित करने को राजी हो गये, किन्तु जैन और बौद्ध, जिनकी ईश्वर-विषयक मान्यताये ईसाई (खिस्ती) और कुछ वैदिक धार्मिक-सम्प्रदायो से भी विरुद्ध थी, उन्हे धर्म कैसे कहा जाये — यह उनकी समझ में नही आया। किन्तु जैसे धर्म की विविधता अैर उसमे ध्येय की एकता जब उन्होने देखी, तो वे जैन और बौद्ध-धर्म भी धर्म हो सकते है, और वे भी धर्म है — ऐसा मानने लगे। अब किसी को सन्देह नही रहा है, कि जगन्नियता और जगत्कर्ता ईश्वर को न मानकर भी धार्मिक बना जा सकता है, और इसलिये विज्ञान और धर्म मे दिखाई देनेवाले विरोध की खाई कम हो गई है।

बाहरी-भटकाव बनाम आन्तर-जगत् की खोज

विज्ञान ने जब अब तक विशेष-ध्यान जगत् के निरीक्षण-परीक्षण मे दिया है, किन्तु अब जब वह बाह्य-जगत् की मूल-शक्ति की शोध तक पहुँच गया है, तब उसका ध्यान अन्तर्जगत् की ओर गया है। विज्ञान ने सुख-सुविधा के अनेक साधन जुटा दिये, इतना ही नही, किन्तु विकास के भी चरम-सीमा के साधन जुटा दिये है। परिस्थिति यह हुई, कि किसी अगुली के गलत चलने पर अणु-बम का विस्फोट होकर मनुष्य-जगत् का क्षण-भर मे विनाश हो सकता है। वैज्ञानिको ने इस मानव-भक्षी तो क्या समग्र-जीव-भक्षी राक्षस को पैदा तो कर लिया, अब उसे कैसे काबू मे रखा जाये, यह समस्या पैदा हो गई है। चन्द्र और उससे भी परे मनुष्य पहुँच गया, किन्तु अब उसे मालूम हुआ है, कि वह बाहर ही भटक रहा है। उसने अपने भीतरी-तत्त्व का तो निरीक्षण-परीक्षण किया ही नही, और जब तक वह इस अतर्जगत् की खोज नही करता — मानव या जीव-जगत् की जो समस्या है, उसका हल उसे मिल नही सकता है। अतएव वह अब अतर्जगत् की खोज मे

लगा है। दिमाग और मन की शोध भी वह कई वर्षों से कर रहा है, किन्तु जो रहस्य खुल रहे हैं उनसे वह संतुष्ट नहीं है। इन दिमाग और मन — दोनो से भी परे कोई तत्त्व है, उसे ही खोजना सब वैज्ञानिकों ने ठान लिया है। वैज्ञानिक अपनी इस खोज में भी सफल होंगे ही और किसी न किसी दिन वे अन्तर्जगत् के रहस्य को भी सुलझा देंगे, ऐसा हमें विश्वास करना चाहिये। जब तक वे उसमे सफल नही होते, तब तक हमें राह देखकर बैठे नही रहना है। मानव-समाज की जो समस्याये हैं, उन्हे धर्म किसप्रकार सुलझा सकता है? — इस पर विचार करना ही चाहिये। यहाँ तो आधुनिक-युग की समस्या के हल के लिये भगवान् महावीर का क्या सदेश है, यह देखना है।

महावीर की देन : आत्मनिर्भरता की साधना

धार्मिक-जगत् को सबसे बडी कोई देन भगवान् महावीर ने दी है, तो वह है — आत्मनिर्भरता। आज का वैज्ञानिक ईश्वर से छुट्टी ले रहा है। 'God is dead' का नारा बुलन्द हो रहा है, किन्तु आज से ढाई-हजार वर्ष-पूर्व भगवान् महावीर का उपदेश ही नही, किन्तु आचरण भी इसी नारे के आधार पर था। उन्होंने जब साधना शुरू की, तब ही अपनी साधना के लिये अकेले निःसहाय होकर साधना करने की प्रतिज्ञा की। इन्द्र ने उनकी साधना-काल मे मदद करनी चाही, किन्तु उन्होने इन्कार कर दिया, और कहा कि अपनी शक्ति पर अटल-विश्वास के बल पर ही साधना की जा सकती है। साधना भी क्या थी, कोई ईश्वर या वैसी बौद्ध-शक्ति की भक्ति और प्रार्थना नही, किन्तु अपनी आत्मा का निरीक्षण ही था। अपनी आत्मा में रहे हुये राग और द्वेष को दूरकर आत्मा को विशुद्ध करने की तमन्ना के कारण ये नाना-प्रदेशो मे अपने साधना-काल मे घूमते रहे, जिससे यह काई शायद ही जान सके, कि वह तो वैशाली का राजकुमार है — इसे सुख-सुविधा दी जानी चाहिये। वे दूर-सुदूर अनार्य-देश मे भी घूमे, जहाँ उन्हे नाना-प्रकार के कष्ट दिये गये। अपनी आत्मा मे साम्यभाव कितना है, इसके परीक्षण के लिये वह जानबूझकर अनार्य-देश मे गये थे, और विशुद्ध-सुवर्ण की तरह अग्नि से तपकर वे आत्मा को विशुद्धकर पुनः अपने देश मे लौटे। यही उनकी आत्मनिर्भरता की साधना थी, जो उनके उपदेशो मे भी है।

उनके उपदेश का प्रथम-वाक्य है, कि 'जीव यह नही जानता, कि वह कहाँ से आया है, और कहाँ जानेवाला है?' जो यह जान लेता है, कि 'यह जीव नाना-योनियो मे भटक रहा है', वही आत्मवादी हो सकता है, कर्मवादी हो सकता है, क्रियावादी हो सकता है, पुनर्जन्म की निष्ठा कहो या आत्मा की शाश्वत-स्थिति की निष्ठा भी स्पष्ट होती ही है। साथ ही कर्म और लोक के विषय मे उनकी निष्ठा भी स्पष्ट होती है। सारे ससार मे जो कुछ हो रहा है, वह जीव के कर्म और क्रिया के कारण हो रहा है। कोई ईश्वर ससार का निर्माण नही करता। जीव अपने कर्म से ही अपने ससार का निर्माण करता है — यह तथ्य जीव को आत्मनिर्भर बनाता है। कर्म करना जैसे जीव के अधीन है, वैसे कर्म से मुक्त होना भी जीव के आधीन है। किसी की कृपा के अधीन जीव की मुक्ति नही है।

सर्वसाम्य का मूल त्याग और सयम

आज के व्यावहारिक-जगत् मे भी आत्मनिर्भरता का यह सिद्धान्त अत्यन्त-उपयोगी है। अरबो ने तेल की

नई नीति अपनाई, तो सारा विश्व काँप उठा है, और परेशान है, और आत्मनिर्भर कैसे बना जाये, इसके लिये नाना-उपाय सोचे जा रहे हैं। इससे एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है, कि आत्मनिर्भर बनना हो, तो संयम अनिवार्य है। अपने उपयोग मे आनेवाली वस्तुओं का अनिवार्य होने पर ही उपयोग करना, यह सयम नहीं तो और क्या है? इसी से जीवन मे संयम की आवश्यकता महसूस होकर व्यक्ति संयम की ओर अग्रसर होता है, राष्ट्र और समाज भी संयम की ओर अनिवार्य-रूप से अग्रसर होता है। इसी सयम को यदि जीवन का ध्येय मान लिया जाये, तब वह आगे जाकर जीवन की साधना का रूप ले लेता है, और त्याग-प्रधान जीवन की ओर अनिवार्य-रूप से प्रयाण होता है। यही साधुता है, यही श्रमण है। भगवान् महावीर के इस मौलिक-सन्देश की आज जितनी आवश्यकता है, उतनी कभी नही थी।

विश्व मे जो लडाइयाँ होती हैं, उनका मूल-कारण मनुष्य मे रही हुई परिग्रह-वृत्ति ही है। यदि इस परिग्रह-वृत्ति को दूर किया जाये, तो लडाई का कारण नही रहे। भगवान् महावीर ने अपनी साधना का प्रारम्भ ही परिग्रह-मुक्ति से किया है, और साधना की पूर्णाहुति के बाद जो उपदेश दिया, उसमें भी सबसे बड़े बन्धन-रूप मे परिग्रह के पाप को ही बताया है। मनुष्य हिंसा करता है, या चोरी या झूठ बोलता है, तो उसका कारण परिग्रह-वृत्ति ही है। यदि परिग्रह की भावना नही, तो वह क्यो हिंसा करेगा, क्यो झूठ या अनाचार का सेवन करेगा? जीवन मे जितना सयम होगा, उतनी ही परिग्रह-वृत्ति की कमी होगी। परिग्रह से सर्वथा-मुक्ति का नाम है राग और द्वेष से मुक्ति अर्थात् वीतरागता। जो वीतराग बना, उसके लिये 'मेरा-तेरा' रहता नहीं, और जहाँ यह भाव नष्ट हुआ, वहाँ सर्वसाम्य की भावना आती है। सर्वसाम्य की भावना के मूल मे परिग्रह का त्याग अनिवार्य है, और इसी के लिये भगवान् ने अपने जीवन में साधना की और वीतराग होकर अन्य जीवो को मुक्त कराने के लिये प्रेरणा दी। उनके जीवन मे साधना का प्रारम्भ सामायिक-व्रत से होता है, और पूर्णाहुति वीतराग-भाव या सर्वसाम्य-भाव से होती है।

यह सामायिक क्या है? 'आचाराग' मे कहा गया है — "सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता, सभी को सुख प्रिय है, दु:ख कोई नही चाहता, अतएव किसी की हिसा नही करनी चाहिये।" यही हुआ सामायिक-व्रत या जीवो के प्रति समभाव धारण करने का व्रत। यह व्रत तब ही सिद्ध हो सकता है, जब व्यक्ति, समाज या राष्ट्र नि:स्वार्थ होकर जीना सीखे, सब सुख-दु:ख मे समभागी बनना सीखे। यह तब ही हो सकता है, जब विश्व मे वात्सल्य-भाव की जागृति हो। दुनिया ने स्वार्थी-लडाइयाँ बहुत देखी है, उनके निवारण के लिये एटम-बम बनाये, किन्तु आज उसी एटम-बम से दुनिया त्रस्त है। सुख का उपाय एटम-बम नही, किन्तु बाँटकर खाना है। यही समभाव की विजय है। दुनिया माने या न माने, इस समभाव के रास्ते पर चलने के सिवा कोई चारा नही है।

अहिसा की पूर्णता विश्व-वात्सल्य मे

अहिसा का सदेश भगवान् महावीर ने दिया, उसका तात्पर्य विश्व-वात्सल्य से है। यदि विश्व-वात्सल्य मे अहिसा-भाव परिणत नही होता है, तो वह अहिसा की पूर्णता नही है। मनुष्य शत्रुओं को अपने बाहर खोजता है। वस्तुत: शत्रु की खोज अपने भीतर होनी चाहिये। भगवान् महावीर ने कहा है, कि "अरे जीव! बाहर त्रुटि

क्यों खोजता है, वह तो तेरे भीतर ही है।" राग और द्वेष — ये ही बडे शत्रु हैं, यदि इनका निराकरण किया तो कल कोई भी शत्रु नही दिखेगा। इस वीतराग-भाव की भी सिद्धि तब ही हो सकती है, जब मनुष्य अन्तर्मुखी हो। विज्ञान से बाहर बहुत-कुछ देख लिया, किन्तु मनुष्य या राग-द्वेष की समस्या का यह हल नही कर सका। परिग्रह कितना भी वह जुटा सकता है, किन्तु उचित बँटवारा तो मनुष्य के स्वभाव पर आधारित है, और यदि वही नहीं बदला, तो परिग्रह का ढेर लग जाये, तब भी वह सुखी नही हो सकता। सुखी तो वह तब ही होगा, जब वह वस्तुत: अपने भीतरी राग-द्वेष का निराकरण करके विश्व-वत्सल बनेगा। दुनिया मे विज्ञान ने बहुत-कुछ प्रगति कर ली, किन्तु भीतर नही देखा। परिणाम स्पष्ट है — अनेक विश्व-युद्ध हुये। इन सबके निवारण का उपाय अन्तर-जगत् की शोध है, और उसका रास्ता भगवान् महावीर ने बताया है।

मनुष्य-स्वभाव की स्वतन्त्रता है, तो विचार-भेद अनिवार्य है। विचार-भेद को लेकर मतभेद किया जा सकता है, किन्तु मन-भेद तो नही होना चाहिये। मतभेद होते हुये भी भावात्मक-एकता का नारा आज बुलन्द किया जाता है, क्योकि दुनिया मे कई राजनीतिक-प्रणालियाँ चलती है। अतएव सब प्रणालियाँ अपने-अपने क्षेत्र मे चले, एक-दूसरे का विरोध न करे, इसप्रकार की भावात्मक-एकता की स्वीकारोक्ति, नाना-प्रणाली की सहस्थिति शक्य है, और अनिवार्य है। ऐसी भावना राजनीतिको मे बढ रही है। किन्तु आज से ढाई हजार वर्ष-पूर्व भगवान् महावीर ने विरोधी-मतो के समन्वय का मार्ग वैचारिक-अहिसा अर्थात् 'अनेकान्तवाद' उपस्थित किया था, वह आज हमे भावात्मक-एकता कहो, या सहस्थिति, उस रूप मे उपयोगी सिद्ध हो रहा है। अतएव इस समन्वय के सिद्धान्त को जीवन के प्रत्येक-क्षेत्र मे यदि मानव-समाज लागू करता है, तो उसका कल्याण ही नही, विश्व-मैत्री भी सिद्ध की जा सकती है।" ❖❖

उदासीनता

'हासी मे विषाद बसे, विद्या मे विवाद बसे, काया मे मरन, गुरु वर्तन मे हीनता।
शुचि मे गिलानी बसे, प्रापति मे हानि बसे, जैसे हारि सुन्दरदशा मे छवि-हीनता॥
रोग बसे भोग मे, सयोग मे वियोग बसे, गुण मे गरब बसे, सेवामाँहि हीनता।
और जगरीति जेती गर्भित असाता सेती, साता की सहेली है अकेली उदासीनता॥'

— (समयसार नाटक 11)

अर्थ *— हास-परिहास मे विषाद का निवास है, विद्या मे विवाद का भय है, काय मे मृत्यु भीति है, गुरुता मे लघुता से भय है, पवित्रता मे पवित्रता नष्ट न हो कही — यह ग्लानि बसी हुई है, प्राप्ति मे हानि की आशका है, जय मे पराजय का भय है,* **सौन्दर्य मे उसके क्षीण होने का दु:ख बसा है,** *भोगो मे रोग बसे है, सयोग मे वियोग की अन्तर्ध्वनि है, गुणो मे गर्व का निवास है और सेवा मे हीनता का बोध होता रहता है। इसप्रकार जितनी ससार की रीतियाँ है, वे असाता (दु:ख) से गर्भित है,* **सुखो की सखी तो एकमात्र उदासीनवृत्ति, वैराग्यचर्या है।** ❖❖

'तिलोयपण्णत्ती' में भगवान् महावीर और उनका सर्वोदयी दर्शन

✍ डॉ. राजेन्द्र कुमार बसल

आचार्य यतिवृषभ द्वारा विरचित 'तिलोयपण्णत्ती' नामक ग्रन्थ जैन-आगम-परम्परा मे ज्ञान-विज्ञान का अद्भुत-भण्डार माना जाता है। इसमे धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान, इतिहास, खगोल, भूगोल एव अन्य बहुआयामी प्ररूपण प्राप्त होते है। भगवान् महावीर के मागलिक-उपदेशो क विचार-बिन्दुओ का जैसा प्रासंगिक-प्ररूपण इस ग्रन्थ मे आचार्यप्रवर ने किया है, विद्वान् लेखक ने उनका श्रमपूर्वक सकलन करके व्यवस्थित लिपिबद्धीकरण इस आलेख मे किया है। **— सम्पादक**

'तिलोयपण्णत्ती' जैनधर्म के करणानुयोग का महत्त्वपूर्ण-ग्रथ है। इसकी रचना प्राकृतभाषा में आचार्य यतिवृषभ ने ईसा की 5वी शताब्दी मे की थी। इस महाग्रथ मे 5746 प्राकृत गाथाये हैं, जो नौ महाधिकारो मे निबद्ध हैं। इसमे जैन भूगोल, खगोल, इतिहास, महापुरुषो का जीवन और सिद्धत्व-प्राप्ति के कारणों आदि का वर्णन है। आचार्य यतिवृषभ ने इस ग्रथ के अतिरिक्त जैन-साहित्य के आद्य-ग्रथ 'कसायपाहुड' पर चूर्णिसूत्रो की रचना की थी। प्रस्तुत आलेख मे 'तिलोयपण्णत्ती' मे वर्णित भगवान् महावीर और उनके दर्शन का वर्णन किया है।

'तिलोयपण्णत्ती' मे भगवान् महावीर

विद्यमान अवसर्पिणी-काल मे नाभिराय कुलकर के पश्चात् भरतक्षेत्र मे पुण्योदय से मानवो मे श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोक मे प्रसिद्ध 63 शलाकापुरुष उत्पन्न हुए।[1] चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण — इसप्रकार 63 महापुरुष होते है।[2] भरतक्षेत्र मे वदन करने योग्य ऋषभदेव से लेकर महावीर-पर्यंत चौबीस तीर्थंकर हुये। तीर्थंकर भव्य जीवो के ससाररूपी वृक्ष को ज्ञानरूपी फरसे से छेदते है।[3] इसप्रकार आत्मज्ञान के द्वारा जगत् के जीवो को मुक्ति का मार्ग दर्शाकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करना ही तीर्थंकरो की सहज-प्रवृत्ति होती है।

चतुर्थ-काल के 75 वर्ष, 8 माह शेष रहने पर चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर 'पुष्पोत्तर विमान' से अवतरित हुए थे।[4] उनका जन्म भगवान् पार्श्वनाथ की उत्पत्ति के पश्चात 278 वर्ष व्यतीत हो जाने पर हुआ।[5] महावीर का जन्म वैशाली-कुण्डग्राम में पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला से चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को 'उत्तरफाल्गुनी' नक्षत्र मे हुआ।[6] उनका वश नाथ-वश था।[7] उनकी आयु 72 वर्ष प्रमाण थी।[8] उनका कुमारकाल 30 वर्ष[9] और शरीर का प्रमाण सात हाथ था।[10]

महावीर स्वर्ण-समान वर्ण के थे।[11] उनका चिह्न 'सिह' था।[12] जाति-स्मरण के कारण उन्होंने कुमारावस्था मे कुण्डलपुर मे अकेले ही 'जिनेश्वरी दीक्षा' ली।[13] उन्हे बारह वर्ष बाद केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[14] यह काल 'छद्मस्थ-काल' कहलाता है।

महावीर को 'ऋजुकूला' नदी के किनारे वैशाख शुक्ल दसमी अपराह्न मे 'हस्त' नक्षत्र मे केवलज्ञान हुआ।[15] इसके साथ ही सौधर्मादिक इन्द्रो के आसन कम्पायमान हुए।[16] केवलज्ञान की उत्पत्ति पर इन्द्र, अहमिन्द्र एव चारो जाति के देवो ने सात कदम आगे चलकर महावीर जिनेन्द्रदेव को प्रणाम किया।[17] भगवान् पार्श्वनाथ के 289 वर्ष, 8 माह बाद महावीर को केवलज्ञान हुआ।[18]

महावीर को केवलज्ञान होने पर सौधर्म-इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने विक्रिया ऋद्धि से समवसरणरूपी धर्मसभा की अद्भुत-रचना की।[19] उनके समवसरण की रक्षा करने वाले 'गुह्ययक्ष' और 'सिद्धायनी-यक्षिणी' थी।[20] महावीर का केवली-काल तीस वर्ष का था अर्थात् तीस वर्ष तक उन्होने धर्मोपदेश दिया।[21] महावीर के इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधर थे।[22] ये सभी ब्राह्मण-मूल के थे।

महावीर के धर्मतीर्थ मे 300 पूर्वधर, 1100 शिक्षक, 1300 अवधिज्ञानी, 700 केवली, 900 विक्रिया ऋद्धिधारी, 500 विपुलमति एव 400 वादी थे।[23] उनके धर्मतीर्थ मे 36000 आर्यिकाये थी,[24] उनकी प्रमुखा चन्दना थी।[25] महावीर के अनुयायी श्रावक-श्राविकाओ की सख्या क्रमश: एक लाख और तीन लाख थी।[26]

चतुर्थ काल मे तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष शेष रहने पर महावीर कार्तिककृष्ण अमावस्या के प्रत्यूष-काल मे स्वाति-नक्षत्र मे 'कायोत्सर्ग-आसन' मे पावापुरी से अकेले ही सिद्ध हुए।[27] महावीर के बाद तीन अननुबद्ध केवली हुए। उनकी मुक्ति के पश्चात् 6 वर्ष मे 4400 मुनि-शिष्यो ने मुक्ति प्राप्त की।[28] आठ सौ मुनि सौधर्म-स्वर्ग से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक गये।[29] आठ हजार आठ सौ मुनि अनुत्तर-विमानो मे गये।[30] भगवान् पार्श्वनाथ के 250 वर्ष व्यतीत होने पर महावीर मोक्ष गये।[31] महावीर का तीर्थकाल 21042 वर्ष-प्रमाण है।[32] भगवान् महावीर के निर्वाण-महोत्सव के उपलक्ष मे प्रतिवर्ष दीपावली-पर्व उल्लासपूर्वक मनाया जाता है। इसप्रकार पूर्व पर्याय मे सिह की अवस्था मे आत्मबोध करनेवाला महावीर का जीव 10वीं पर्याय मे अत्मोन्नति/शुद्धता मे वृद्धि करता हुआ पशु से परमात्मा हो गया।

भगवान् महावीर का दर्शन और आत्मविज्ञान के सिद्धान्त

'तिलोयपण्णत्ति' के नवमे महाधिकार की 82 गाथाओ मे सिद्ध-लोक-प्रज्ञप्ति का वर्णन है। इसमे भगवान् महावीर के दर्शन के अनुसार सिद्धो का निवास, सिद्धो का सुख एव सिद्धत्व-साधना के सिद्धान्तो/सूत्रो का दिशाबोधक वर्णन है, जो मननीय है। आधुनिक-सदर्भ मे भगवान् महावीर का दर्शन 'आत्म-विज्ञान' का सर्वोदयी दर्शन कहा जाता है।

स्वतंत्रता का स्व-समय का सिद्धान्त

महावीर का सर्वोदयी दर्शन-प्रत्येक प्राणी को परमात्मा होने का मार्ग बताता है। स्वभाव से प्रत्येक जीव शुद्ध है, सिद्ध-समान है। अज्ञान के कारण वर्तमान-अवस्था विकारी है, अशुद्ध है। अशुद्धता विकार से मुक्ति पाने का सूत्र है — स्व-समय के सिद्धान्त का ज्ञान। 'समय' शब्द का प्रयोग काल, पदार्थ और जीवात्मा[33] के रूप मे किया है, जो एकत्वरूप से एकसमय मे जानता और परिणमन करता है। आत्मा अपने ज्ञानदर्शन-स्वभाव का श्रद्धान, ज्ञान कर उसी मे स्थित-लीन रहे, यही उसका सौन्दर्य और सिद्धत्व है। इसे ही स्व-समय शुद्धात्मा समयसार कहा है। इसके विपरीत मिथ्यात्व, राग-द्वेष रूप पर्याय मे परिणमित होना पर-समय या बहिरात्मा है,

जो दु:खरूप है। 'तिलोयपण्णत्ती' में आत्मा के स्व-समय (स्व-चारित्र) का सिद्धान्त बताते हुए कहा है कि — 'जो (अन्तरग-बहिरग) सर्वसग से रहित और अनन्यमन (एकाग्रचित्त) होता हुआ अपने चैतन्य-स्वभाव से आत्मा को जानता और देखता है, वह जीव स्व-चारित्ररूप स्व-समय है।[34] ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भावना करना चाहिये, यह तीनो आत्मस्वरूप है; अत: आत्मा की भावना करो।[35] स्व-समय मे प्रवृत्ति शुद्धनय से होती है।

शुद्धनय से स्व-समय की सिद्धि : अशुद्धनय से पर-समय की पुष्टि

सिद्ध-स्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति शुद्धनय (दृष्टि) से होती है। इसकी पुष्टि करते हुए कहा है — 'न मै पर-पदार्थों का हूँ और न पर-पदार्थ मेरे हैं, मैं तो अकेला (केवल) ज्ञान ही हूँ; इसप्रकार जो ध्यान मे चितन करता है, वह आठ कर्मों से मुक्त होता है।[36] 'मैं दूसरो का नही हूँ पर मेरे नही हैं, इसप्रकार लोक मे मेरा कुछ भी नही है, — ऐसी जो भावना भाता है, उसका कल्याण होता है।[37] इसप्रकार शुद्धनय से स्व-समय की सिद्धि होती है। ठीक इसके विपरीत जो जीव देह मे 'अहम्' (अहबुद्धि) और धनादिक मे ममेद (यह मेरा) इसप्रकार के ममत्व को नही छोडता, वह अज्ञानी दुष्टकर्मों से बधता है।[38] इस दृष्टि से अशुद्धनय से पर-समय रूप प्रवृत्ति होती है। अत· साधक को शुद्धनय उपादेय है।

स्वावलम्बन का शुद्धोपयोग का सिद्धान्त

आत्मा सदा से एक शुद्ध दर्शन-ज्ञानात्मक और अरूपी है; परमाणुमात्र भी अन्य-पदार्थ उसका नही है।[39] आत्मा का ज्ञानदर्शन का व्यापार या प्रवृत्ति 'उपयोग' कहलाता है। भाव-अनुष्ठान की दृष्टि से उपयोग तीन प्रकार का है — शुभ, अशुभ और शुद्ध। जीव जब शुभ या अशुभ भाव से परिणमता है, तब शुभ या अशुभ रूप होता है और जब शुद्धभाव से परिणमित होता है, तब शुद्ध होता है।[40] शुद्धभाव से उपयोग शुद्ध होता है। शुद्धोपयोग से निष्पन्न सिद्धो को अतिशय, आत्मीक, विषयातीत, अनुपम, अनत, अविच्छिन्न-सुख मिलता है।[41] धर्मपरिणत-आत्मा के शुद्धोपयोग से निर्वाण, शुभोपयोग से स्वर्गादिक-सुख और अशुभोपयोग से कुमानुष, तिर्यंच और नरकगति का अनत दु:खरूप ससार-भ्रमण होता है।[42] शुद्धोपयोग आत्मा की स्वाबलम्बी ज्ञान-परिणति है; जबकि शुभ-अशुभ-उपयोग पर-द्रव्याश्रित अज्ञान-परिणति है। अत: जिन्हे ससार-मुक्त होना है, उन्हे स्वावलम्बी शुद्धोपयोगी-परिणति को समझना और जीवन मे प्रयुक्त करना आवश्यक है।

स्व-समय-प्रवृत्ति का आधार 'भेद-विज्ञान'

जीव अनादिकाल से अज्ञानवश शुभ-अशुभरूप पर-समय की प्रवृत्ति दिन-रात करता है, जो अनन्त-दु.ख का कारण है। इसकी निवृत्ति एव शुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति का आधार 'स्व' और 'पर' को पृथक्-पृथक् जानने रूप भेद-विज्ञान है। इससे स्वभाव-विभाव, आत्मा-अनात्मा का ज्ञान होता है? इसी को रेखांकित करते हुए कहा है कि 'जब तक जीव आत्मा और आस्रव (शुभाशुभरूप भाव) का विशेष नही जानता, तब तक वह अज्ञानी विषयो मे प्रवृत्त रहता है। तथा जो बध के स्वभाव और आत्मा के स्वभाव को जानकर, बध के प्रति विरक्त होता है, वह कर्मों से मुक्त होता है।[43] जो भेद-विज्ञान द्वारा सर्व परिग्रहों से रहित अपने आत्मा का आत्मा द्वारा ध्यान करता है, वह अल्पकाल में ही समस्त दु:खो से छुटकारा पा लेता है। इसप्रकार जो गहरे संसार-समुद्र से निकलना चाहता है, वह शुद्धात्मा का ध्यान करता है। भेद-विज्ञान से मोहग्रथी का क्षय और सुख-दु:ख में समत्वभाव आता है।[44]

कर्मक्षय हेतु आत्म-ध्यान का सिद्धान्त

ध्यानरूपी अग्नि बहुत भारी कर्मरूपी ईंधन को क्षणमात्र मे जला देती है। रागादि-परिग्रह से रहित मुनि शुक्लध्यान द्वारा अनेक भवों के संचित कर्मों को शीघ्र जला देता है।[45] ध्यान निर्जरा का कारण है।[46] अत: रत्नत्रयादि गुणो से युक्त अविनश्वर, अखड-प्रदेशी शुद्ध इन्द्रियातीत निजात्मा का ध्यान करना चाहिये।[47]

ध्यान में राग और पुण्यभाव के दुष्परिणाम

जिसके देहादिक मे अल्पराग भी है, वह समस्त-शास्त्रो का ज्ञाता होकर भी अपने समय (आत्मा) को नही जानता।[48] परमार्थ से बाहर मोक्ष का हेतु न जाननेवाले अज्ञानी-पुरुष पुण्य की इच्छा करते है। पुण्य से वैभव-मद-मतिमोह और पाप होता है; अत· पुण्य छोडना चाहिये। इस दृष्टि से जो पुण्य और पाप मे भेद मानता है, वह मोही अपार ससार का भ्रमण करता है।[49]

भगवान् महावीर आत्मा के स्वावलम्बन से स्वतत्रता का उद्घोष कर 'सर्वोदयी तीर्थ' की स्थापना करते है। जगत् के जीव अपने को जान-पहिचान एव रमणता द्वारा ससार-मुक्त हो — यही भावना है। ❖❖

संदर्भ-सूची

1 तिलोयपण्णत्ती, भाग 2, चतुर्थ महाधिकार, गाथा 517 2 वही, गाथा 518 3 वही, गाथा 521 4 वही, गाथा 531 5 वही, गाथा 584 6 वही, गाथा 556 7 वही गाथा 557 8 वही, गाथा 583 9 वही गाथा 591 10. वही, गाथा 594 11. वही, गाथा 596 12 वही, गाथा 612 13 वही, गाथा 675-677 14. वही, गाथा 585 15. वही, गाथा 709 16. वही, गाथा 714 17 वही, गाथा 715-717 18. वही, गाथा 711 19. वही, गाथा 718 20. वही, गाथा 943-948 21 वही, गाथा 969 22 वही, गाथा 972-975 23. वही गाथा 1171-1172 24 वही, गाथा 1187 25 वही, गाथा 1191 26 वही, गाथा 1193-1194 27 वही, गाथा 1250-1219 28 वही, गाथा 1240-1242 29 वही, गाथा 1248 30 वही, गाथा 1228 31 ही, गाथा 1260 32 वही, गाथा 1285 33 समयसार-आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 2 टीका 34 तिलोयपण्णत्ती भाग 3, नवम महाधिकार (सिद्धलोक प्रज्ञप्ति), गाथा 26 (एव पचास्तिकाय सग्रह, गाथा 158 एव 154)। 35. वही (तिलोयपण्णत्ति), गाथा 27 36. वही, गाथा 30, 36-29 37 वही, गाथा 38-39 38 वही, गाथा 55-47 39 वही, गाथा 28. 40 वही, गाथा 60 41 वही, गाथा 63 42. वही, गाथा 61-62 43. वही, गाथा 67-66 44 वही, गाथा 51-52-54 45 वही, गाथा 22-64 46 वही, गाथा 25 47 वही, गाथा 45-43 48. वही, गाथा 41 49 वही, गाथा 57 56, 58

❖❖

आत्मज्ञान की महिमा

"तातै आत्मज्ञानशून्य-आगमज्ञान भी कार्यकारी नाही। या प्रकार सम्यग्ज्ञान के अर्थि जैनशास्त्रनिका अभ्यास करै है, तो भी याके सम्यग्ज्ञान नाही।" — *('मोक्षमार्ग' प्रकाशक, 7, पृष्ठ 349)*

❖❖

भारतीय दर्शन एवं जैनदर्शन

✍ डॉ. मगलदेव शास्त्री

भारतीय-सस्कृति का दर्शन के स्वनामधन्य मनीषी एव काशी-विद्यापीठ के कृतकार्य-कुलपति, यश:काय विद्वद्वरेण्य डॉ. मगलदेव शास्त्री निष्पक्ष-विचारक एव गहन अध्येता थे। वैचारिक-उदारता एव गुणग्राहिता की महती-दृष्टि उनके व्यक्तित्व की अन्यतम-विशेषता है। प्रस्तुत आलेख मे उन्होने भारतीय-दर्शन एव जैनदर्शन का तुलनात्मक-दृष्टि से अध्ययन करते हुये विचारसाम्य को साधार सशक्तनीति से प्रस्तुत किया है।

— **सम्पादक**

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भिन्न-भिन्न समय मे अधिकारभेद से अनेक दर्शनो का उत्थान इस देश मे हुआ। दृश्य-जगत् के सम्पर्क से विभिन्न-परिस्थितियो के कारण मनुष्य के हृदय मे जो अनेक-प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान करना ही दर्शन का मुख्य-लक्ष्य होता है। जिज्ञासा-भेद से दर्शनो मे भेद होना स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनो मे जैनदर्शन का भी एक प्रधान-स्थान है। इसका हमारी समझ मे एक मुख्य-वैशिष्ट्य यह है कि इसके आचार्यों ने प्रचलित परम्परागत-विचार और रूढियो से अपने को पृथक् करके स्वतन्त्र-दृष्टि से दार्शनिक-प्रेमियो के विश्लेषण की चेष्टा की है। हम यहाँ 'विश्लेषण' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रहे है। वस्तुस्थिति मे एक दार्शनिक का कार्य, जिसप्रकार एक वैयाकरण शब्द का व्याकरण अर्थात् विश्लेषण, न कि निर्माण, करता है, इसीप्रकार पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारो और उनके सम्बन्धो के रहस्य का उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थों की सत्ता हमारे विचारो से निरपेक्ष, स्वत·सिद्ध है' — इस सिद्धान्त को प्राय: लोग भूल जाते है। हम समझते है कि जैनदर्शन का अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभित्ति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्त को लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

'अनेकान्तवाद' का मौलिक-अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्व के विषय मे आग्रह न होते हुए भी उसके विषय मे तत्तदवस्था-भेद के कारण दृष्टिभेद सभव है। इस सिद्धान्त की मौलिकता मे किसको सन्देह हो सकता है? क्या हम **"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना. नैको मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्।"** — (महाभारत)

"यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानता विज्ञातमविजानताम्॥"

— *(केनोपनिषत्, 2/3)*

इत्यादि वचनो को मूल मे अनेकान्तवाद का ही प्रतिपादक नही कह सकते? 'दर्शन' शब्द ही स्वत· दृष्टिभेद के अर्थ को प्रकट करता है। इस अभिप्राय से जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद के द्वारा दार्शनिक-आधार पर विभिन्न दर्शनो मे विरोध-भावना को हटाकर परस्पर समन्वय-स्थापित करने का एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक-अवस्थाओ से बद्ध, विभिन्न-दृष्टिकोणो से पदार्थों को देखने का अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थ के अखण्ड सकल-स्वरूप को कैसे जान सकता है? उन अखण्ड-मूलस्वरूप को हम सच्चे-अर्थ मे **"गुहाहित**

गह्वरेष्ठ पुराणम्" कह सकते हैं। **"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"** (यजुर्वेद, पुरुषसूक्त) इस वैदिकश्रुति का भी **वास्तविक तात्पर्य यही है।** इसमे सन्देह नही कि जैनदर्शन मे प्रतिपादित अनेकान्तवाद के इस मौलिक-अभिप्राय को समझने से दार्शनिक-जगत् मे परस्पर-विरोध तथा कलह की भावनाओ के नाश से परस्पर सौमनस्य और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्म की भारतीय-सस्कृति को बडी भारी देन 'अहिसावाद' है। जो कि वास्तव मे दार्शनिक-भित्ति पर स्थापित अनेकान्तवाद का ही नैतिकशास्त्र की दृष्टि से अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिक-दृष्टि से यदि अहिसावाद को ही जैनधर्म मे सर्वप्रथम-स्थान देना आवश्यक हो, तो हम अनेकान्तवाद को ही उसका दार्शनिक दृष्टि से अनुवाद कह सकते है। 'अहिसा' शब्द का अर्थ भी मानवीय-सभ्यता के उत्कर्षानुत्कर्ष की दृष्टि से भिन्न-भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण-मनुष्य के स्थूल-विचारो की दृष्टि से हिसा किसी की जान लेने मे ही हो सकती है। किसी के भावो को आघात पहुँचाने को वह हिसा नही कहेगा। परन्तु एक सभ्य-मनुष्य तो विरुद्ध-विचारो की असहिष्णुता को भी हिसा ही कहेगा। उनका सिद्धान्त तो यही होता है कि —

"अभ्यावहति कल्याण विविध वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते॥
वाक् सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहनि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥"
— *(विदुरनीति, 2/77, 80)*

सभ्य-जगत् का आदर्श विचार-स्वातन्त्र्य है। इस आदर्श की रक्षा अहिसावाद (हिसा-असहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारो की सकीर्णता या असहिष्णुता ईर्षा-द्वेष की जननी है। इस असहिष्णुता को हम किसी अन्धकार से कम नही समझते। आज हमारे देश मे जो अशान्ति है, उसका एक मुख्य-कारण यही विचारो की सकीर्णता है। प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे पाया जानेवाला **'आनृशस्य'** शब्द भी इसी अहिसावाद का द्योतक है। इसप्रकार के अहिसावाद की आवश्यकता सारे ससार को है। जैनधर्म के द्वारा इसमे बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टि से जैनदर्शन भारतीय-दर्शनो मे अपना एक विशिष्ट-स्थान रखता है।

चिरकाल से ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देश मे दार्शनिक-अध्ययन साम्प्रदायिक-सकीर्णता से निकलकर विशुद्ध दार्शनिक-दृष्टि से किया जाये। उसमे दार्शनिक समस्याओ को सामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक-दृष्टि का यथासभव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धति के अवलम्बन से भारतीय-दर्शन का क्रमिक-विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक-अध्ययन मे एक प्रकार की सजीवता आ सकती है। ❖❖

'यमाय नमो अस्तु मृत्यवे' — (ऋग्वेद, *10/165/4*) ❖❖

महावीर-देशना के अनुपम रत्न

✍ डॉ. सुदीप जैन

भगवान् महावीर के लोकहितकारी-उपदेशो मे अनेको महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दु समाहित थे, किन्तु उन अमृतमय-विचारो मे से मात्र चार-बिन्दुओ पर इस आलेख मे गम्भीरतापूर्वक-विचार किया गया है। जीवन के चार आयामो – आचरण, विचार, वचन एव जीवन का परिष्कार करनेवाले ये चारो बिन्दु महावीर की देशना के अनुपम-रत्न माने गये है। इनमे 'अहिसा' आचरण की शुद्धि करती है, तो 'अनेकान्त' विचारो का परिष्कार करता है, 'स्याद्वाद' हमारी भाषा को निर्दोष बनाता है, तो 'अपरिग्रह' को अपनाकर हम पारस्परिक-सौहार्द एव सहअस्तित्व की मगल-भावना को मूर्त्तरूप दे सकते है। इन्ही चारो सिद्धान्तो पर संक्षिप्त-विवेचन इस आलेख मे किया गया है। **– सम्पादक**

भगवान् महावीर के दर्शन के चार आधार-स्तम्भ हैं — आचार मे अहिसा, विचार मे अनेकान्त, वाणी मे स्याद्वाद एव जीवन मे अपरिग्रह। इनका संक्षिप्त एव क्रमिक-विवेचन यहाँ प्रस्तुत है —

1 सद्भावपूर्ण सहअस्तित्व का दर्शन 'अहिसा'

सम्पूर्ण जैन-परम्परा आज 'अहिसा' के उत्कर्ष से जानी-पहिचानी जाती है। "अहिसा परमो धर्मः" का आदर्श वाक्य जैन-सस्कृति की मौलिक पहिचान है। जैनाचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने 'हिसा' को प्रमुख पाप और 'अहिसा' को प्रधान धर्म बताया है तथा कहा है कि पापो मे जो झूठ, चोरी आदि की गणना करायी गयी है, वह तो मात्र शिष्यो को समझाने के लिए है —

"अनृतवचनादि-केवलमुदाहृत शिष्यबोधाय।"
— *(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)*

जैन-ग्रथो मे 'अहिसा' की महिमा अनेकत्र गायी गयी है —

"अहिसा सर्वेषु व्रतेषु प्रधानम्।"
— *(आ अकलकदेव, राजवार्तिक, 7/1/6)*

अर्थ — सभी व्रतो मे अहिसा की ही प्रधानता है।

"अहिसैव जगन्माताऽहिसैवानन्दपद्धतिः।"
— *(आ. शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, 8/32)*

अर्थ — अहिसा ही जगत् की माता है और अहिसा ही आनन्द की पद्धति या आनन्दानुभूति की प्रक्रिया है।

इसीकारण अहिसा धर्म की श्रद्धा करने की वे प्रेरणा देते है —

"धम्मु अहिंसउ सव्वहिइ।"

— *(कवि पुष्पदन्त, महापुराण)*

अर्थ — (हे भव्य जीवो! तुम) अहिंसा धर्म की श्रद्धा करो।

जैन-परम्परा मे अहिंसा की प्रधानता की पुष्टि करते हुए राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी लिखते है —

"जीवदया जैनो का मुख्यतत्त्व है, मै सब अहिंसावादी लोगो को जैन ही समझता हूँ।"

— *(द्र दैनिक नवाकाल, 27 नवम्बर 1932 ई.)*

अहिंसा की प्रधानता का जैसा प्रभावी प्ररूपण भगवान् महावीर के द्वारा किया गया, उसका उनके समकालीन-दार्शनिको और विचारको पर गहरा-प्रभाव परिलक्षित होता है। एक क्षपणक लिखते हैं —

"महाभाग! अहिंसा पलमो धम्मोऽत्थि।"

— *(प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, 3/15)*

अर्थ — हे महाभाग! अहिंसा ही परमधर्म है।

वस्तुत· पापरूपी घने अधकार मे नैतिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक-विकास के लिए अहिंसा ही एकमात्र प्रकाश की किरण हैं। इसीकारण अहिंसा सम्पूर्ण भारतीय-सस्कृति का मूलमन्त्र बन गयी है। वैदिक-परम्परा के ग्रथो मे भी लिखा है —

"हे भगवन्! मुझे अहिंसक-मित्र का समागम मिले।"

— *(ऋग्वेद, 5/64/3)*

"अहिंसक-व्यक्ति इस पृथ्वीतल मे मूर्धास्थानीय (सर्वश्रेष्ठ) है।"

— *(ऋग्वेद, सायणभाष्य, 8/67/13)*

"अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।"

— *(मनुस्मृति, 2/159)*

अर्थ — प्राणियो पर अनुशासन भी अहिंसक-रीति से किया जाना ही श्रेयस्कर है।

महर्षि पतजलि मानते है कि अहिंसा जब तक जीवन मे प्रतिष्ठित नही होगी, तब तक वैरभाव जीवन से दूर नही किया जा सकता है —

"अहिंसा-प्रतिष्ठया तत्सन्निधौ वैरत्यागः।"

— *(पातजल योगसूत्र, 2/35)*

अर्थ — अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर ही उसकी सन्निधि मे वैर का त्याग सभव है।

जैनाचार्यों ने तो प्राणीमात्र का स्वभाव ही अहिंसा बताया है —

"अत्ता चेव अहिंसा।"

— *(जयधवला, भाग 1, पृष्ठ 94)*

अर्थ — इसका स्पष्टीकरण करते हुए मनीषीगण लिखते है कि जैसे क्रूर प्राणी भी अपनी सतान की

हिसा नही करते हैं, तथा कसाई भी अपने परिवार और बच्चो को नही मारता है। इससे स्पष्ट है कि अहिसा प्राणीमात्र मे विद्यमान है।

चूँकि निराशा, अभाव और हीनभावना से व्यक्ति मे हिसक प्रवृत्ति का जन्म होता है, अतः प्राणीमात्र के प्रति आत्मीयता, सौहार्द एव शान्तिपूर्ण-सहअस्तित्व की प्रक्रिया अपनाने से ही अहिसा का सार्वत्रिक प्रसार सभव है। इस अहिसक-भावना से समन्वित विवेक के उत्पन्न होने वाला उत्साह ही गौरवपूर्ण सफलता का एकमात्र मूलमन्त्र है, अतः आज यह आवश्यक है कि समाज मे केवल रथोत्सवो का ही नही अहिसा आदि के व्रतोत्सवो का भी आयोजन होना चाहिए; सभी को उल्लासपूर्वक इन्हे मनाना और अपनाना चाहिए तथा इसके साथ-साथ सभी को अहिसक-समाजसेवा का व्रत भी लेना चाहिए।

हिसक-व्यक्ति का जीवन बिना स्टेयरिग एव बिना ब्रेक की गाडी के समान अनियन्त्रित होता है, जबकि अहिसक-व्यक्ति का अपने आप पर पूर्ण-नियत्रण होता है, इसी से उसके जीवन मे स्व-पर-अहितकारी कोई दुर्घटना नही होती है। लौकिक एव पारमार्थिक-जीवन जीने की कला हमे अहिसा ही सिखाती है। हमारी जीवनयात्रा भी अहिसा से ही प्रारम्भ होती है। अहिसा ही सिहनी जैसी क्रूरसत्त्वा माँ के हृदय मे सन्तान के प्रति ममता का भाव भरकर उसके मातृत्व को चरितार्थ करती थी। अहिसा के बिना जीवन की कल्पना भी अशक्य है।

इसीलिये भारतीय जीवनदर्शन का मेरुदण्ड 'अहिसाधर्म' को माना गया है। जैनदार्शनिको के अनुसार अहिसा एक विराट वटवृक्ष हैं और उसकी जड सम्यग्दर्शन है। इसीलिये "दसणमूलो धम्मो" का मगलसूत्र आचार्य कुन्दकुन्द ने दिया है। अहिसा की भावना से जीवन मे समताभाव जागृत होता है, जो कि धर्मात्माओ के जीवन मे आनन्द की क्रीडास्थली बन जाता है। क्षमता एव वैराग्य की भावना से अहिसाधर्म जीवन मे सुदृढता को प्राप्त करता है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखते है —

"कमलमिव निरुपलेपत्वप्रसिद्धेरहिसक एव स्यात्।"

— (प्रवचनसार टीका, गाथा 18)

अर्थ — अहिसक-व्यक्ति ही इस ससार मे रहकर भी जल मे कमल की भाँति निर्लिप्त रह सकता है।

इस अहिसाधर्म का बिना किसी भेदभाव या पूर्वाग्रह की भावना से प्राणीमात्र मे प्रचार-प्रसार करने के लिए जैन-परम्परा मे कतिपय नित्यप्रयोग किये जाते है। ऐसे मे कुछ इसप्रकार है —

**"क्षेम सर्वप्रजाना, प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः।
काले काले च वृष्टि, वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥
दुर्भिक्ष चौर-मारी, क्षणमपि जगता मास्म भूज्जीवलोके।
जैनेन्द्र धर्मचक्र, प्रभवतु सतत सर्व-सौख्य-प्रदायी॥"**

अर्थ — सम्पूर्ण प्रजाजनो का कल्याण हो, राजा धार्मिक एव समर्थ बने, उचित समय पर पर्याप्त-परिमाण मे वर्षा हो तथा व्याधियो का नाश हो। दुर्भिक्ष (अकाल), चोरी, महामारी आदि की दुर्घटनाये क्षणभर को भी इस जीवलोक मे नही हो तथा प्राणीमात्र को सुख प्रदान करनेवाला जिनेन्द्र भगवान् का धर्मचक्र निरन्तर प्रवर्तित होता रहे।

इसीप्रकार यह भावना भी मननीय है —

"सम्पूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र-सामान्यतपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्रः॥"

अर्थ — पूजा करनेवालो के लिये, प्रतिपालन करनेवालो के लिए, यतीन्द्रो (आचार्यों) के लिए, सामान्य तपस्वियो के लिए, देश के लिए, राष्ट्र के लिए, नगर के लिए — इन सबके लिये हे भगवन् जिनेन्द्र! आप शान्ति प्रदान करे।

आज ऐसी उदात्त भावनाये मात्र पूजन-पाठ का अंग बनकर रह गयी है। वास्तव मे हमारे आचार-विचार मे इनका स्थान अन्वेषणीय होता जा रहा है। ऐसी स्थिति मे अहिसा की चर्चा ऊँट के मुँह मे जीरे के समान नगण्य सिद्ध होती जा रही है; जबकि वर्तमान परिस्थितियों मे अहिसा की आवश्यकता और उपयोगिता पहिले की अपेक्षा कही ज्यादा है।

आज जब पारस्परिक सौहार्द एव जीवदया स्वरूप स्थूल अहिसा का प्रसार क्षेत्र दिनोंदिन सिकुडता/सिमटता जा रहा है; तब आत्मा मे रागादिभावो की उत्पत्ति हिसा है और आत्मा मे राग-द्वेष-मोह के परिणाम उत्पन्न ही नही होना 'अहिसा' है। — ऐसी सूक्ष्म निश्चय अहिसा की चर्चा की प्रासगिकता चिन्तनीय-विषय बन गया है। जैनदर्शन मे प्रतिपादित अहिसा की अतिव्यापक उदात्त-भावना को हम अपने से शुरू करके विश्वभर मे प्राणीमात्र मे आध्यात्मिक-सदेश के रूप मे प्रसारित करे — यह समय की माँग है।

क्योंकि इसी अहिसा के बल पर राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने इस देश को स्वतन्त्र कराया था, तथा इस तथ्य की मुखर-स्वीकृति भारतीय-गणतन्त्र के सँविधान की मूल-प्रति पर की गयी है। उसमे सबसे ऊपर बगाल के एक चित्रकार द्वारा निर्मित निर्ग्रन्थ-मुद्रा का भगवान् महावीर का एक मनोरम-चित्र है और उसके नीचे लिखा है कि भगवान् महावीर की अहिसा के बल पर ही महात्मा गाँधी ने भारतवर्ष को अग्रेजो की दासता से स्वतन्त्र कराया है।

वर्तमान की आतकवाद, नक्सलवाद जैसी उत्तरोत्तर बढती हुई हिसक-प्रवृत्तियो के विषम-वातावरण मे महावीर की अहिसा और अधिक प्रासगिक है। आवश्यक है इसके नैष्ठिक प्रचार-प्रसार की और उसके लिए महात्मा गाँधी जैसी समर्पित मानसिकता वाले व्यक्तियो की। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वय इसे दृढता से अपनाने को तत्पर हो जाये, तो भारतवर्ष को ही नही, सम्पूर्ण विश्व को हिसा और आतक से मुक्ति मिल सकती है।

2 वैचारिक सहिष्णुता का सिद्धान्त 'अनेकान्त'

मनुष्य के मस्तिष्क मे विचारो की उत्पत्ति समनस्कता के कारण होती ही रहती है। किन्तु दिशाहीन एव लोकहित से रहित विचारो को वस्तुत· बौद्धिक-व्यापार का चिह्न नही माना गया है। 'खाली दिमाग शैतान का घर' जैसी लोकोक्तियाँ ऐसे चिन्तनो को चरितार्थ करती हैं। परन्तु जो चितन सुव्यवस्थित, तार्किक एव दिशाबोधक होते हुए भी पूर्वाग्रह अथवा अहमन्यता के कारण पर विचार-असहिष्णु हो जाते है, उन्हे 'ऐकान्तिक चिन्तन' कहा जाता है। इसीकारण दार्शनिक-जगत् मे दो प्रकार के वैचारिक-वर्गीकरण मिलते है — 1 एकान्तवादी

दार्शनिक-विचारधारा और 2. अनेकान्तवादी दार्शनिक-विचारधारा।

भारतीय आर्य-संस्कृति की दो मूलधारायें हैं — 1. श्रमण-परम्परा और 2 वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा। इनमे से श्रमण-परम्परा अनेकान्तवादी-चिन्तन की पक्षधर रही है और वैदिक-परम्परा एकान्तवादी-विचारो की पोषक रही है। क्योंकि वेदों को 'एकान्तवादी दर्शन' के रूप में माना गया है —

"एकान्तदर्शना वेदाः"

— *(महाभारत, मोक्षधर्म, शांतिपर्व, 2/306/46)*

इसी वैचारिक अन्तर के कारण इन दोनो धाराओ मे व्यापक मतभेद भी रहे, और इसी कारण से **"श्रमण-ब्राह्मणम् — येषा च विरोधः शाश्वतिकः इत्यवकाशः"** — *(पातजल महाभाष्य, 1/4/911)* जैसे वाक्य भी प्रचलन मे आ गये; फिर भी मनभेद न रखकर ये दोनो धाराये भारतीय संस्कृति को गतिशील बनाये हुये हैं।

वस्तुत: प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप अनेकान्तात्मक ही है। यह अनेकान्तात्मकता स्वय वस्तु को ही इष्ट है, उसमे ही निहित है; तो उस पर आक्षेप या आपत्ति खडी करने का किसी भी व्यक्ति को क्या अधिकार है? **आचार्य समन्तभद्र** इसी बात को इन शब्दो मे अभिव्यक्त करते है — **"यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते, तत्र के वयम्।"**

तथा किसी भी पसन्द या नापसन्द के आधार पर वस्तु का स्वभाव तो बदलने से रहा; अत: हमे अपनी दृष्टि बदलनी होगी तथा वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता या अनेकान्तात्मकता को वाचित स्वीकृति देनी होगी। तब हमारे पास 'स्याद्वाद' की कथनशैली अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नही बचेगा। यहाँ तक कि जिन दर्शनो एव दार्शनिको ने 'स्याद्वाद' की कथन-पद्धति एव 'अनेकान्तात्मक' वस्तुस्वरूप की स्वीकृति नही भी की है; उन्हे भी प्रकारान्तर से इन दोनो को मानना पडा है। कतिपय निदर्शन द्रष्टव्य है —

"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥"

— *(गीता, 2/96; योगवाशिष्ठ, 3/7/38)*

भाष्य — **"एवमात्मनात्मनोः सदसतो. उभयो· अपि दृष्ट उपलब्धोऽन्तः निर्णयः सत् सदेवासदेवेति त्वनयो यथोक्तयो. तत्त्वदर्शिभि.।"**

अर्थ — इसप्रकार 'सत्' आत्मा और 'असत्' अनात्मा — इन दोनो का ही यह निर्णय तत्त्वदर्शियो द्वारा देखा गया है, अर्थात् प्रत्यक्ष किया जा चुका है कि 'सत्' सत् ही है और 'असत्' असत् ही है।

लगभग इसी तथ्य को परमपूज्य आचार्य **कुन्दकुन्द** इन शब्दो मे अभिव्यक्त करते है —

"भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
एव सदो विणासो, असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो॥"

अर्थ — 'सत्' रूप पदार्थ का नाश नही हो सकता है तथा 'असत्' का उत्पाद नही हो सकता है। पदार्थ अपने गुण-पर्यायो व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप रहते है।

एक अन्य निदर्शन देखे —

"नैकस्मिन्नसम्भवात्"

— *(आ बादरायण, 'ब्रह्मसूत्र', 2/2/23)*

शांकरभाष्य — "न चैषा पदार्थानामवक्तव्यत्व सम्भवति। अवक्तव्याश्चेन्नोचयेरन्। उच्यन्ते चावक्त-व्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्।"

अर्थ — ये पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य है — ऐसा भी नही कहा जा सकता है। क्योकि यदि वे सर्वथा अवक्तव्य हो, तो उच्चरित नही हो सकते। यदि उच्चारण मे भी आते है और अवक्तव्य भी है — ऐसा तो **विप्रतिषिद्ध** (तुल्यबलविरोध) है।

उपनिषद्कार इस विषय मे लिखते है —

"व्यक्ताव्यक्तम्।" — *(श्वेताश्वतरोपनिषद्, 1/8)*

अर्थात् वस्तु 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' — दोनो रूप है। जैसेकि मेहदी मे हरा रग व्यक्त है तथा लाल रग अव्यक्त है।

इसीलिए शकराचार्य ने लिखा है कि —

"महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा।" — *(विवेकचूडामणि, 111)*

अर्थ — *तत्त्व महान्, अद्भुत और अनिर्वचनीय है।*

वस्तुतत्त्व के इस विशिष्टरूप को वस्तुस्वभाव के अनुसार ही समझा जा सकता है, 'तर्क' के व्यायाम द्वारा नही। **आचार्य समतभद्र** लिखते है —

"स्वभावोऽतर्कगोचरः।" — *(आप्तमीमासा, 100)*

जहाँ वेदान्तदर्शन सम्पूर्ण जगत् को अद्वैतब्रह्ममय कहता है, वही साख्य, वैशेषिक आदि अन्य वैदिक-दर्शन-जगत् को भेदाभेद एव एकानेकरूप प्रतिपादित करते है। यदि ब्रह्म-अद्वैत है, तो जीव की सत्ता है या नही? — इसका उत्तर देते हुए गीताकार लिखते है —

"ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातनः।" — *(गीता 15/7)*

अर्थात् इस जीवलोक मे समस्त जीवराशि मुझ ब्रह्म या ईश्वर का ही सनातन अश है। इसी बात को **सत तुलसीदास** (रामचरितमानस, बालकाण्ड) लिखते है —

"ईश्वर-अश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखराशी।"

यह अश-अशी का स्वतत्र सनातन अस्तित्व 'द्वैतवाद' का पोषक है।

'वेद' भी इस तथ्य का समर्थन करते है —

"एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।" — *(ऋग्वेद, 16)*

अर्थात् उस एक सत् को ही विद्वज्जन अनेक प्रकार से कहते है।

जैनो की 'स्याद्वाद'-शैली के द्वारा वस्तु के अनेकान्तात्मक की स्वीकृति की पुष्टि **शकराचार्य** ने भी की है —

"अपरे वेदबाह्या दिगम्बरा एकस्मिन्नेव पदार्थे भावाभावौ मन्यते।"
— (*ब्रह्मसूत्र, विज्ञानामृतभाष्य, 2/2/33*)

अर्थात् अन्य जो वेदबाह्य दिगम्बर लोग है, वे एक ही पदार्थ मे भाव (अस्ति) और अभाव (नास्ति) धर्मों को युगपत् मानते है।

ऐसा नही है कि अनेकात की अवधारणा जैनेतरो मे नितात अस्वीकृत रही है। वैदिक-वाड्मय मे भी अनेकात के तत्त्व मिलते हैं, भले ही उन्होने अनेकात के सिद्धात को स्वीकार न किया हो —

असति सत् प्रतिष्ठित, सति भूत प्रतिष्ठितम्।
— (*अथर्ववेद, 17/1/19*)

अर्थात् 'असत्' मे ही 'सत्' प्रतिष्ठित है, 'सत्' मे भी 'असत्' प्रतिष्ठित है।

'अनेकान्तवाद' यह एक सिद्धान्त ही नही, अपितु एक विशिष्ट-चिन्तशैली का भी परिचायक है, जो पर-विचार-सहिष्णुता का मत्र प्रदान करता है। एकान्तवादी चिन्तन को प्रकारान्तर से 'वैचारिक हिसा' भी विद्वानो ने माना है। 'अनेकान्तवाद' के इस पक्ष पर प्रख्यात मनीषी **डॉ. मगलदेव शास्त्री** के विचार मननीय हैं —

"'अनेकान्तवाद' का मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्व के विषय मे आग्रह न होते हुए भी उसके विषय मे तत्तदवस्था भेद के कारण दृष्टिभेद सभव है। इस सिद्धान्त की मौलिकता मे किसको सन्देह हो सकता है? क्या हम

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।" — (*महाभारत*)

"यस्यामत तस्य मत मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानता विज्ञातमविजानताम्।।" — (*केनोपनिषत्, 2/3*)

इत्यादि वचनो को मूल मे अनेकान्तवाद का ही प्रतिपादक नही कह सकते? दर्शन शब्द ही स्वतः दृष्टिभेद के अर्थ को प्रकट करता है। इस अभिप्राय से जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद के द्वारा दार्शनिक-आधार पर विभिन्न-दर्शनो मे विरोध-भावना को हटाकर परस्पर समन्वय स्थापित करने का एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेकान्त मे परस्पर-विरोधी धर्म-युगलो का अविरोध-भाव से सहावस्थान सिद्ध किया जाता है। अनेकान्त अविरोधी-गुणो पर घटित नही होता है, यह इसकी एक विशेष ध्यातव्य बात है। तथा इसका परस्पर विरोधीपना भी उन धर्मों का कार्यसिद्धि मे अनुकूलत्व ही प्रमाणित करता है। जैसे कि अगुली और अगूठा — दोना परस्पर-विरोधी दिशो मे काम करते है, तभी वे लिखने, सिलने या अन्य कला-शिल्प आदि के कार्य कर पाते है। अनेकान्त मे जो विरोध प्रतीत होता है, वह वस्तुतः विरोधी नही, बल्कि पूरक होकर प्रस्तुत होता है, इस विरोध मे भी पूरकपने को समझने के लिये दृष्टि-विशेष चाहिये, और इसी दृष्टि-विशेष का नाम 'अनेकान्त' है। जैसे कि गाडी मे पहिया और धुरी, दो अलग-अलग चीजें है, इनमे पहिया सचल होता है, और धुरी अचल

होती है। यदि ये दोनो समान-धर्मी होने की चेष्टा करे, अर्थात् पहिया धुरी के समान अचल होना चाहे, अथवा धुरी पहिये के समान सचल होना चाहे; तो दोनो ही स्थितियो मे गमन-क्रिया का प्रयोजन सिद्ध नही हो सकेगा। ये दोनो परस्पर-विरोधी प्रतीत होकर भी अविरोध-भाव से एक-दूसरे को योगदान करते है, तभी गमन-क्रिया सम्भव होती है। इसीप्रकार रोटी बनाते समय चकला अचल होता है, और बेलन सचल होता है, तभी रोटी बनती है। यदि दोनो ही अचल या सचल हो जाये, तो रोटी भी नही सकती है। पारस्परिक-विरोधी स्वभाववाले होते हुये भी क्रियात्मक-रूप मे अविरोध की सिद्धि करना अनेकान्त का दर्शन है, और यह सम्पूर्ण-वस्तुस्वरूप को न केवल स्वीकार्य है; बल्कि प्रत्येक वस्तु इसे आत्मसात् किये हुये है।

वस्तुगत प्रतीयमान-विरोध को वैचारिक-स्तर पर अविरोध प्रदान करना ही अनेकान्त का व्यावहारिक-रूप है। धर्म भले ही परस्पर-विरोधी हो, किन्तु उनका चिन्तन हमे विरोध-भाव जगाये, यह आवश्यक नही है। जैसे कि अग्नि और जल — दोनो परस्पर-विरोधी स्वभाव के पदार्थ है, फिर भी अग्नि का चिन्तन करने से विचार गर्म नही हो जाते, और जल का चिन्तन करने से ठण्डे नही हो जाते। विचारो मे ऐसी अविरोध की स्थिति को उत्पन्न करना अनेकान्त का व्यावहारिक-पक्ष है। यदि इसे हम समझ सके, और अपना सके तो हिसा की स्थिति ही उत्पन्न नही होगी। किन्तु जब हम वैचारिक-विरोध को सहन नही कर पाते है, तभी हमारे जीवन मे हिसा, अनाचार और पारस्परिक-सघर्ष की सम्भावनाये विकसित होती है।

एक और बात अनेकान्त के विषय मे ध्यातव्य है, कि परस्पर-विरोधी विषय अनेकान्त की परिधि मे आकर विचार के समय 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' के रूप मे रहते है, 'विपक्ष' के रूप मे नही। प्रतिपक्ष मे वस्तुस्थितिगत-भिन्नता होती है, उद्देश्य या परिणतिगत नही। जबकि विपक्ष की स्थिति पूर्वाग्रहपूर्ण-चिन्तन की देन होती है, और उनमे उद्देश्य और व्यवहार निश्चितरूप से भिन्न होते है। इसीलिये मनीषियो ने अनेकान्त को समझ का विषय माना है, समझौते का नही। ऐसा नही है कि साख्य वस्तु को नित्य मानते है, और बौद्ध वस्तु को अनित्य मानते है, तो अनेकान्तवादी-जैन आकर उनमे समझौता कराने की दृष्टि से वस्तु को कथचित-नित्य और कथचित-अनित्य कहने लगते हो। एकान्तवादियो की मान्यताओ मे सामजस्य बिठाना या समझौता कराना अनेकान्त और अनेकान्तवादी का दृष्टिकोण नही होता, वह कोई समझौता करानेवाला वकील नही है। अनेकान्त का स्वरूप तो वस्तु के परस्पर-विरोधी धर्मों का अविरोधी-सहावस्थान समझने के लिये दृष्टि प्रदान करना है। विरोध जब पूर्वाग्रह एव अहमन्यता का चोला पहन लेता है, तभी वह हिसा का जनक बनता है, इसीलिये अनेकान्तवाद का सिद्धान्त वस्तु को नही समझाना है, क्योकि वह तो अनेकान्तरूप ही है, बल्कि यह सिद्धान्त व्यक्ति को समझना है, क्योकि इसके समझने बिना न तो वह वस्तु को सही समझ पाता है, और न ही अपनी विचारधारा को सहिष्णुता और उदात्तता के धरातल पर ला सकता है।

अनेक अवस्थाओ से बद्ध, विभिन्न दृष्टिकोणो से पदार्थों को देखने का अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थ के अखण्ड सकल-स्वरूप को कैसे जान सकता है? उन अखण्ड मूलस्वरूप को हम सच्चे अर्थ मे **"गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम्"** कह सकते है। **"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि"** (यजुर्वेद, पुरुषसूक्त) — इस वैदिकश्रुति का भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमे सन्देह नही कि जैनदर्शन मे प्रतिपादित अनेकान्तवाद के इस मौलिक अभिप्राय को समझने से दार्शनिक जगत् मे परस्पर विरोध तथा कलह की भावनाओ के नाश से

परस्पर सौमनस्य और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्म की भारतीय सस्कृति को बडी भारी देन अहिसावाद है। जो कि वास्तव मे दार्शनिक-भित्ति पर स्थापित अनेकान्तवाद का ही नैतिकशास्त्र की दृष्टि से अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिक-दृष्टि से यदि अहिसावाद को ही जैनधर्म मे सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो, तो हम अनेकान्तवाद को ही उसका दार्शनिक दृष्टि से अनुवाद कह सकते हैं। 'अहिसा' शब्द का अर्थ भी मानवीय-सभ्यता के उत्कर्षानुत्कर्ष की दृष्टि से भिन्न-भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण-मनुष्य के स्थूल-विचारो की दृष्टि से हिसा किसी की जान लेने मे ही हो सकती है। किसी के भावो को आघात पहुँचाने को वह हिंसा नहीं कहेगा; परन्तु एक सभ्य-मनुष्य तो विरुद्ध-विचारो की असहिष्णुता को भी हिसा ही कहेगा। उनका सिद्धान्त तो यही होता है कि —

"अभ्यावहति कल्याणं विविध वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते।।
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः।।"

— *(विदुरनीति, 2/77, 80)*

सभ्य-जगत् का आदर्श विचार-स्वातन्त्र्य है। इस आदर्श की रक्षा अहिसावाद (हिंसा-असहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारो की सकीर्णता या असहिष्णुता ईर्ष्या-द्वेष की जननी है। इस असहिष्णुता को हम किसी अन्धकार से कम नही समझते। आज हमारे देश मे जो अशान्ति है, उसका एक मुख्य-कारण यही विचारो की सकीर्णता है। प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे पाया जानेवाला **'आनृशंस्य'** शब्द भी इसी अहिसावाद का द्योतक है। इसप्रकार के अहिसावाद की आवश्यकता सारे संसार को है। जैनधर्म के द्वारा इसमे बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टि से जैनदर्शन भारतीय-दर्शनो में अपना एक विशिष्ट-स्थान रखता है।"

अनेकातवाद शब्द का प्रयोग वैदिक-परम्परा के 'विष्णुपुराण' (18/10.11) मे भी हुआ है। जैनदर्शन मे तो अनेकात को प्राणतत्त्व ही माना गया है —

तुहवयणं चिय साहवि णूणमणेगतवाय वियड यह।
तह हिवयपगासयरं सव्वण्णुत्तमप्पणो णाह।। — *(उसहदेवत्थोत्त, 33)*

अर्थ — हे तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव! आपके दिव्यध्वनि से प्रसूत वचन निश्चय से अवश्य ही 'अनेकातवाद' के विकट-पथ को सिद्ध करते है, तथा हे वृषभनाथ! आपश्री का स्वय का सर्वज्ञत्व भव्य-मानव के हृदयरूपी कमल को प्रकाशित करनेवाले सूर्य के समान है।

आचार्य सिद्धसेन ने अनेकात को इस लोक का अद्वितीय-गुरु, सभवतः इसी चितन के कारण प्रतिपादित किया है कि इसके बिना वस्तुस्वरूप का ज्ञान एव प्रतिपादन दोनो ही सभव नही है।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहवि।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।

— *(आचार्य सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र, 3/69)*

अर्थ — जिसके बिना लोक का भी व्यवहार कदापि नही हो सकता है, ऐसे उस विश्व के एक अद्वितीय गुरु 'अनेकातवाद' के लिये नमस्कार है।

जैनाचार्यों ने अनेकात को 'पारमेश्वरी विद्या' — (*पारमेश्वरीमनेकान्तवाद विद्यामुपगम्य, प्रवचनसार, पृष्ठ 2*) एव 'विरोध का नाशक' — (*विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम्, पुरुषार्थसिद्धियुपाय, 1/2*) कहा है। आचार्य सिद्धसेन तो इसे 'मिथ्यादर्शन के समूह का विघातक' भी कहते है —

भद्द मिच्छावसण-समूहमहयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ सविग्ग सुहाहिगम्मस्स॥
— (*आचार्य सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र, 3/60*)

अर्थ — एकात मिथ्यादर्शनो के समूह का मथक अमृतसाररूप तथा तत्त्वज्ञ आचार्य मुनिजनो द्वारा सुखपूर्वक जाने गये ऐसे महत्त्वशाली तीर्थंकर सन्मति भगवान् के वचन से सुमुमुक्षु-जगत् का कल्याण हो।

इस अनेकातवाद का वाचिक परिचायक 'स्यात्' शब्द माना जाता है।

"तस्यानेकान्तवादस्य लिग स्याच्छब्द उच्यते।
तदुक्तार्थै बिन भावे, लोकयात्रा न सिद्ध्यति॥"
— (*आचार्य जटासिहनंदि, वरागचरित, 26/83*)

अर्थात् उस अनेकातवाद का लिग (प्रधानचिह्न) 'स्यात्' शब्द है, जिसके कहे बिना लोक-व्यवहार भी नही चल सकता है, अर्थात् सिद्ध नही हो सकता है।

यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण-विचारबिन्दु है कि अनेकान्तपरक-चिन्तन के बिना लोक का व्यवहार ही नही चल सकता है। सकीर्ण-विचारधारा से लोक मे काम कभी नही चला है, चिन्तन की उदारता (विशालता या व्यापकता) इसमे प्रतिपल अपेक्षित है। अन्यथा 'शातिपूर्ण सह-अस्तित्व' जैसी आधुनिक सुन्दर विचारणाये कभी भी मूर्तरूप नही ले सकेगी। किसी भी सघटन या समवाय मे अनेकविध व्यक्ति चाहिए, अन्यथा उसका कार्य सुचारुरूप से नही चल सकेगा। यहाँ तक कि उसके विरोधी भी चाहिये। यदि वे नही हो, तो सावधानवृत्ति एव विचारशुद्धि निश्चितरूप से बाधित होगी। विरोध करने वालों को नीतिविदो ने 'उपकारक' कहा है, क्योकि यदि वे न हो, तो अनुयायी अहकार की वृद्धि कर विचारो को कलुषित बना देते है। जैसे राख से मजे बर्तन चमक उठते है, उसीप्रकार विरोधी विचारधारा भी वैचारिक सहिष्णुता एव परिष्कार के लिए अनिवार्य है। कहा भी है —

"निदक नियरे राखिये आगन कुटी छवाय।
जे साबू-पानी बिना, निर्मल करे सुभाय॥"

इसीलिये विवेकजन 'विरोध' को 'विनोद' समझते है। और उससे वे अपने चितन एव प्ररूपण मे निरन्तर विकास, परिशोधन एव अनुसधान करते रहते है। अतः अनेकान्तात्मक-चिन्तन मनुष्य के विचारो को व्यापक एव सहिष्णु बनाता है।

अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है — यह स्वीकृति मनुष्य को 'अनेकान्तवाद' के अन्वेषण के अहकार से भी दूर रखती है। तथा पारस्परिक सौहार्द को तो बढाती ही है।

3. वाचिक सहिष्णुता का सिद्धान्त 'स्याद्वाद'

इस विश्व मे यों तो दो-इन्द्री (द्वीन्द्रिय) जीवों से ही वचन-क्षमता मानी गयी है, अर्थात् वे भी बोल सकते हैं। अत: बोल लेना — यह कोई बडी गौरवशाली उपलब्धि नही है। महत्त्व तो इस बात का है कि 'क्या बोला और कैसे बोला?' जैनाचार्य न्यायग्रथो मे जैनसिद्धान्त का स्पष्ट विरोध करनेवाली बातो से 'पूर्वपक्ष' के रूप मे कई पृष्ठ भर देते हैं, और उसके अन्त मे "इति केचित्" कहकर उन बातो से अपना साफ पल्ला झाड लेते है कि "यह तो अन्य कोई कहते है — यह हमारी मान्यता नही है।" इससे सिद्ध होता है कि वचनो की विषयवस्तु से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है वक्ता की वक्तृत्वशैली; उसी से वस्तु का निर्दोष एव यथार्थ अवबोध होता है। अन्यथा तो सही विषय को भी गलत समझा जा सकता है और उसका अनर्थकारी प्रभाव भी हो सकता है। 'राम' का नाम यथार्थ और सत्य है, किन्तु मागलिक-प्रसगो पर यदि 'राम नाम सत्य है' का घोष कर दिया जाये, तो वह लोकपरपरा-विरुद्ध होने से आपके लिए नाई के खर्च की बचत भी करा सकता है।

लोक मे कहावत है कि एक बार दाँतो और जीभ के बीच तकरार हो गयी। दाँतो ने अकडकर कहा कि "अरी जीभ। तू नाजुक-सी चीज है, ज्यादा इधर-उधर मत घूमा कर, नही तो हम बत्तीस है और वज्र-सदृश कठोर भी है, तुझे चबा डालेगे।" जो जीभ बोली "दन्त महाशयो! इतना मत इतराईये, नही तो अभी किसी पहलवान को तीखी-सी गाली दूँगी, तो बत्तीसो के बत्तीस आसनच्युत होकर धूलधूसरित नज़र आओगे।"

कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि वाच्य-विषय एव वाचनशैली — दोनो का यदि सतुलित एव मर्यादित व्यवहार नही हो, तो वचनो का अनर्थकारी रूप भी हो सकता है, तथा यदि यही सुनियोजित एव मर्यादित हो, तो वह पुष्पार्चन-योग्य भी बना सकता है। इसीलिए किसी की 'बोली गोली-सी' लगती है, तो किसी के वचनामृत 'मुखचन्द्र तै अमृत झरै', प्रतीत होते है।

लोक मे अनेक प्रकार के जीव है, उनकी विविध मान्यताये है। और इसके भी महत्त्वपूर्ण कारण है। जहाँ वैयक्तिक समझ एव योग्यता कारण है, वही वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता एव ससारी प्राणी की सीमित समझ भी सर्वाधिक महनीय कारण है। अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को क्षुद्रक्षयोपशमवाला ससारी प्राणी पूर्णत. समझ नही पाता है, और अपनी सीमित समझ को ही कूपमडूकवत् 'सर्वज्ञोऽह' मानता हुआ "यह ऐसा ही है" के वचनप्रयोग से विवाद खडा करता है; जैसे कि छह अधे हाथी के विभिन्न अगों को टटोलते हुये हाथी को परस्पर-विरुद्ध नानारूपोवाला प्रतिपादित करके परस्पर कलह उत्पन्न करते है। कदाचित् उनमे स्पर्शज्ञान के अतिरिक्त अन्यधर्म-अवलोकनी दृष्टि भी होती, तो ऐसी दुरवस्था नही होती। इससे स्पष्ट है कि यदि जिनकी दृष्टि व्यापक नही है तथा ज्ञान विशद नही है, तथा 'जितना मैंने देखा-जाना — वही सत्य है' का पूर्वाग्रह भी है; तो उन लोगो के वचन मात्र विसवाद के ही निमित्त हो सकते है।

वस्तुतत्त्व के अनन्तधर्मों के प्रति अपार जिज्ञासा एव विनयभाव के साथ-साथ यदि वाचिक-सहिष्णुता भी हो, तो व्यक्ति के वचन हित-मित-प्रिय हुये बिना नही रह सकते। इसी वचनशैली के सर्वोत्कृष्ट-स्वरूप की अभिव्यक्ति का नाम है 'स्याद्वाद', जो कि जैनदर्शन के स्तम्भ-चतुष्टय (अहिसा, अनेकान्त, स्याद्वाद, अपरिग्रह) मे से अन्यतम है।

'स्याद्वाद' पद मे दो पद हैं — 'स्यात्' एव 'वाद'। इनमें से 'स्यात्' पद 'क्वचित्', 'कथंचित्' या 'किसी अपेक्षा से' — इस अर्थ को सूचित करनेवाला 'निपात' है। तथा 'वदन वाद:' की व्युत्पत्ति के अनुसार 'वाद' शब्द का अर्थ है 'कथन'। इसप्रकार समुच्चयरूप से 'स्याद्वाद' पद का अर्थ है 'एक ऐसी कथनपद्धति, जिसमे विवक्षित-धर्म का कथन तो हो; किन्तु अन्य अवशिष्ट-धर्मों का निषेध न होकर उनकी विनम्र-स्वीकृति भी हो' *अथवा* 'जो कथन किया जा रहा है, वह सर्वथा न होकर किसी अपेक्षा-विशेष से ही है और उसे उसी मर्यादा मे समझना चाहिये।'

आद्य शकराचार्य 'स्यात्' पद की प्रयोगविधि को अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुये लिखते है —

"सत्यत्व एव स्याद् यथा अर्थवावाना विधिशेषाणाम्।"

— *('गीता' का शाकरभाष्य, 18/66)*

अर्थ — विधिवाक्य के अन्त मे कहे जाने वाले 'अर्थवाद' वाक्यो की सत्यता 'स्यात् एव' से मानी जाती है, यथा — 'स्यात् पार्थ: धनुर्धर एव'।

चूँकि शब्द की सामर्थ्य सीमित है तथा वस्तु का स्वरूप अनन्त-धर्मात्मक है, अत: वस्तु के पूर्णरूप को युगपत् कहने मे शब्द सदैव असमर्थ रहते है। इसीलिए वस्तु को शब्दो के द्वारा 'अवक्तव्य' या 'अकथनीय' भी कहा गया है। इसी तथ्य के **आचार्य समन्तभद्र** लिखते है —

"सहावाच्यावक्तव्य:।"

किन्तु जैन यह 'अवक्तव्यत्व' भी मात्र यौगपद्य कथन की अपेक्षा मानते है, सर्वथा नही। इसीलिए 'स्यात् अवक्तव्य' के रूप मे वे वस्तुतत्त्व का कथन करते है, जो निर्दोष है। 'सर्वथा अवक्तव्य' मानते ही वह वचन सदोष हो जाता है। वस्तु को वेदान्तदर्शन ने 'अनिर्वचनीय' तथा बौद्धदार्शनिको ने 'अव्याकृत' कहकर 'अवक्तव्य' माना है; किन्तु वहाँ 'स्यात्' पद का प्रयोग न होने से वे वचन पूर्णत· निर्दोष नही है।

इसीप्रकार नानाधर्मों का कथन करते समय वस्तु का 'स्याद्वाद' शैली से विवेचन करने की उक्तियाँ जैनग्रथो मे द्रष्टव्य है —

'कधमेक्कस्सेव जहण्णुक्कस्स-ववदेसो? ण एस दोसो। कणिट्ठो वि जेट्ठो वि एसो चेव ममपुत्तो त्ति लोगे ववहारुवलभा।' — *(आचार्य वीरसेन, धवला पु 4, पृ 424)*

शका — तो फिर एक समय के **जघन्य** और **उत्कृष्ट** का व्यवदेश कैसे किया?

समाधान — यह कोई दोष नही, क्योंकि कनिष्ठ भी और ज्येष्ठ भी 'यही हमारा पुत्र है' — इसप्रकार का व्यवहार पाया जाता है, इसलिए एक मे भी जघन्य और उत्कृष्ट व्यपदेश हो सकता है।

एक मे भी भेद-व्यवहार सभव है, यथा — 'देवदत्त का ज्ञान' इस वाक्य मे देवदत्त और ज्ञान अभिन्न है तथा 'देवदत्त का धन' इसमे देवदत्त और धन — दोनो भिन्न पदार्थ है। इसीप्रकार का एक अन्य दृष्टान्त है —

'सिलापुत्तस्स सरीरमिच्चाविसु एँक्कम्हि वि भेव ववहारो।'

— *(आचार्य वीरसेन, धवला 4/1/5/2, पृ. 321)*

अर्थ — 'शिलापुत्र का (पाषाणमूर्ति का) शरीर' इत्यादि लोकोक्तियों में भी एक या अभिन्न मे भी भेद-व्यवहार होता है।

सापेक्ष कथन, यथा — दूध का बर्तन, पानी का कलश, घी का घडा, मिट्टी का घर आदि बहुप्रचलित हैं।

'पितृपुत्रादि-संबन्ध एकस्मिन्नपुरुषे यथा।
न ह्येकस्य पितृत्वेन सर्वेषामपिता भवेत्॥'

— *(आचार्य जटासिहनन्दि, वरागचरित्र, 26/87)*

अर्थ — *एक ही मनुष्य किसी का पुत्र होता है तथा दूसरो का पिता होता है, इसप्रकार एक ही पुरुष मे पिता-पुत्रादि सबध निर्विरोधत: सभव है।*

काक. कृष्ण — प्राधान्यपव (धवलवण्ण बलयाए)

'बहुवण्णस्स जीवसरीरस्स कथमेक्का लेस्सा जुजवे? ण पाधाण्णपवमासेज्ज किसणो कागो त्ति पच-वण्णस्स कागस्स कसणववदेसोव्व एगवण्ण-ववहारविरोहाभावावो।'

— *(आचार्य वीरसेन, धवला 1, 1, 2, पृष्ठ 538)*

शका — बहुत वर्णवाले जीव के शरीर की एक लेश्या कैसे बन सकता है?

समाधान — नही, क्योकि **प्राधान्य पव का आश्रय कर** 'काककृष्ण' है, इसप्रकार पाचो वर्णवाले काक को जिसप्रकार व्यवहार से 'कृष्णवर्ण' कहते है; उसीप्रकार **प्रत्येक शरीर में द्रव्य से** छहो लेश्याओ के होने पर भी **एक वर्णवाली लेश्या व्यवहार** करने मे कोई विरोध नही आता है।

कर्मद्वैत फलद्वैत लोकद्वैत च नो भवेत्।
विद्याऽविद्या-द्वय न स्याद्, बध-मोक्षद्वय तथा॥

— *(आप्तमीमासा, 25)*

अर्थ — अद्वैत-एकान्त मे पुण्य और पाप — ये दो कर्म (शुभ-अशुभ) सुख-दुःख मे उनके दो फल इहलोक और परलोक ये दो लोक तथा विद्या और अविद्या मे दो ज्ञान एव बध और मोक्ष — ये दो तत्त्व नही बन सकते है।

'स्याद्वाद' शैली की इसी महनीयता एव अनिवार्य-उपयोगिता को स्वीकार करते हुये जैनाचार्यों ने स्पष्ट घोषित किया कि यदि वचन मे सत्य की पहिचान करना है, तो 'स्यात्' का प्रयोग अवश्य देख लेना चाहिये। **आचार्य समन्तभद्र** लिखते है —

"स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः।" — *(आप्तमीमासा, 112)*

वृत्ति — स्यात्कार: स्याद्वाद: सत्यलाञ्छन: सत्यभूतोऽभिप्रेत:।

'स्याद्वाद' को 'प्रतिष्ठातिलक' (1/27) मे 'अमोघ-वाक्य' भी कहा गया है —

"स्याद्वावामोघवाक्यम्।"

इसीलिए विभिन्न-ग्रथों के मगलचरणो मे इष्टदेवता-स्मरण के साथ ही 'स्याद्वाद' का भी सादर स्मरण किया गया है —

"श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम्॥"
— *(जैन शिलालेख-सग्रह)*

"धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्येः स्वात्मोपलब्धये॥"
— *(आ. अकलकदेव, लघीयस्त्रय, 1/1)*

एक जगह तो 'स्याद्वाद' को जिनशासन का भेरीनाद भी कहा गया है। जैसे रणक्षेत्र मे रणभेरी का नाद सुनकर कायरो का पलायन होता है, वैसे ही 'स्याद्वाद' का भेरीनाद सुनते ही मोह और अज्ञान का पलायन हो जाता है —

"यावत्स्याद्वादभेरी या जिनसैन्ये प्रगर्जति।
तावत्भंग समायान्ति दर्शनान्याशु पञ्च वै॥"
— *(मदनपराजय, 4/71)*

यहाँ यह प्रश्न सभव है कि स्याद्वादी-वचनपद्धति मे 'स्यात्' पद का प्रयोग करके धर्मों का कथन तो होता है परतु क्या इसका कोई सुमर्यादित-विधान भी है? — इसका उत्तर देते हुये जैनाचार्य कहते है कि एक धर्मयुगल के बारे मे **सात** प्रकार की ही **जिज्ञासाये** सभव है, जिसके कारण उसके **प्रश्न** भी **सात** ही होते है और **उत्तर** भी **सात** होने से सात वाक्य 'स्यात्' पद-युक्त बनते है। इसे ही 'सप्तभगी सिद्धान्त' कहते है। इन सप्तभग 'स्यात्' पदशोभित वाक्यो का 'अस्ति-नास्ति' धर्मयुगल पर प्रयोग करके निम्नानुसार दर्शाया गया है —

"स्यादस्ति स्वचतुष्टयादितरत. स्यान्नास्त्यपक्षमक्रमात्,
तत् स्यादस्ति च नास्ति चेति युगपत् सा स्यादवक्तव्यता।
तद्वत् स्यात् पृथगस्ति नास्ति युगपत् स्यादस्तिनास्त्याहिते,
वक्तव्ये गुणमुख्य-भावनियतः स्यात् सप्तभगीविधिः॥"
— *(श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रम्, 10)*

अर्थ — 1 स्यादस्ति, 2 स्यान्नास्ति, 3 स्यादस्तिनास्ति, 4 स्यादवक्तव्य, 5 स्यादस्त्यवक्तव्य 6 स्यान्नास्त्यवक्तव्य और 7 स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य — ये सात भग हैं। वक्तव्य मे गौण और मुख्यभाव नियत करनेवाली यह सप्तभग-विधि है।

इसकी सार्थकता बतलाते हुये आचार्य समन्तभद्र लिखते है —

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥15॥

अर्थात् सभी पदार्थ किचित सत् है और किचित् असत् है। समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से 'सत्स्वरूप' है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षया 'असत्-स्वरूप' है। यदि ऐसा अपेक्षया स्वीकार न किया जाए, तो किसी इष्ट-तत्त्व की व्यवस्था नही बन सकती।

'सप्त' सख्या का भी **अतिविशिष्ट-महत्त्व है। इसे पूर्णपीठ** माना गया है। लोक मे भी 'सप्त' सख्यावाले अनेकों प्रयोग प्रचलित **हैं, यथा** — सप्ताह (सात दिन), सप्तपदी, सप्तसिधु, सप्तऋषि, सप्तागराज्य, सप्तव्यसनत्याग, सप्तस्वर, सप्तपरमस्थान, सप्तनरक, सप्ततत्त्व, सात विभक्ति-प्रत्यय आदि।

'सप्तभगी' की सप्त सख्या का विशेष महत्त्व बतलाते हुये 'प्रतिष्ठातिलक' के कर्त्ता लिखते है —

स्याद्वादन्यायनायकः परमाप्तो तीर्थंकरवृषभनाथदिपरमभट्टारक —

'जिनेश्वरश्रीचरणाम्बुजग्रे, सर्वाणि धान्यानि विमिश्रितानि।
अनतधर्मेष्वपि सभवन्तीमर्हन्तु दिव्यध्वनि सप्तभगीम्॥'
— *(प नेमिचन्द्र, प्रतिष्ठातिलक, 10/3, 1/267)*

भावार्थ — प्रतिष्ठा के समय केवलज्ञान कल्याण की पूजा करनेवाला जो प्रतिष्ठा आचार्य है, वह धान्यो को मिलाकर जिनेश्वर के श्रीचरणो मे बढाता है, उसपर श्री नेमिचद्र जी (प्रतिष्ठातिलक रचयिता) ने भव्यजीवो को शिक्षा देने के निमित्त यह हार्दिक अभिप्राय व्यक्त किया है कि जिस तरह से सप्तधान्य परस्पर मे मिलकर कार्यकारी है, उसीप्रकार अनत धर्मात्मक तत्त्वो को समझने के लिए तीर्थंकर जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि (दिव्य अर्थों की (जननकर्त्री) भी सप्तभगात्मक (सहाद्यैव तत्सदेह समुत्पादात्) ही खिरती है। तभी वह परस्पर मे एक-दूसरे धर्म का समन्वय करती हुई विद्वज्जन-सेवनीय होती है।

वैदिक-वाङ्मय मे भी सप्तविध-वचनो की स्वीकृति एव महत्ता मानी गयी है —

'सप्तधा वै वागववत्, सप्तविभक्तय· इति।' — *(ऐतरेय ब्राह्मण, 7/7)*

'स्याद्वाव-वर्त्मनि परात्मविचारसारे, ज्ञानक्रियातिशय-वैभवभावनाया।
शब्दार्थ-सघटनसीम्नि रसातिरेके, व्युत्पत्तिमाप्तुमनसा दिगसौ शिशूनाम्॥'
— *(आचार्य अमृतचन्द्र, लघुतत्त्वस्फोट, अन्तिम प्रशस्ति 2)*

अर्थात् पर और आत्मा के विचारभूत स्याद्वादरूपी मार्गाग्रणी मे और ज्ञान-चारित्र के अतिशय-वैभव की भावना मे, व्युत्पत्ति (बोध) प्राप्त करने के इच्छुक-शिशुओ के लिये यह शब्द-अर्थ का सीमित रसातिरेक शब्द-समूह मात्र दिशा दिखलाता है, विशेष-अनुभव से ही प्राप्त होगा।

सुनयो से युक्त वाणी की महिमा एव कामना के स्वर वैदिक-वाङ्मय मे भी गुंजित है —

'आ नो गोत्रा वर्द्दहि गोपते गा·, समस्मभ्य सु-नयो यतु वाजा।
वेवक्षा अतिवृषभ सत्य शुष्माडस्मभ्य, सु मघवन्बोधि गोवाः॥'
— *(ऋग्वेद, 3/2/30/21)*

अर्थात् हे पृथ्वी के पालक देव! हमे सुनय-सहित वाणियो को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियो और इन्द्रियों को संयत रख सके। हे वृषभ! तू सूर्य के समान सब दिशाओ मे प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमात्र मघवन्! हमे बोधि प्रदान कर।

अत: वाचिक सहिष्णुता के सिद्धान्त 'स्याद्वाद' का जीवन मे व्यावहारिक धरातल पर व्यापक प्रयोग करना समय और समझ — दोनो के अनुकूल है।

4. सामाजिक-सौहार्द का मत्र 'अपरिग्रह'

जब हम मनुष्य के सामाजिक-प्राणी होने की बात करते हैं, तो उससे मूल-अभिप्राय यही होता है, कि हम सब मिल-जुलकर सौहार्दपूर्वक अपने कार्य निपटाये। यदि हम जीवन मे परिग्रह का आकर्षण रखते है, तो यह आकर्षणमात्र ही हमारे जीवन मे एक-दूसरे के प्रति ऊँच-नीच और कटुता का भाव उत्पन्न कर देता है। इससे हमारा पारस्परिक-सौहार्द खडित हो जाता है, और यहाँ तक नौबत आ जाती है कि भाई भी अपने सगे-भाई के खून का प्यासा हो जाता है। अत. भगवान् महावीर ने अपरिग्रह के सिद्धान्त के द्वारा हमारे सम्पूर्ण-जीवन को और समाज को मगलमय बनाने का अद्वितीय-मत्र दिया है।

गृहस्थावस्था एव साधु-अवस्था — इन दोनो की दृष्टि से अपरिग्रह के सिद्धान्त के दो स्तर भगवान् महावीर ने प्रतिपादित किये है, वे है — गृहस्थो के लिये 'परिग्रह-परिमाणव्रत' तथा साधुओ के लिये 'अपरिग्रह-महाव्रत'। परिग्रह-परिमाणव्रत मे यह सिखाया जाता है कि हम अपनी दैनदिन की आवश्यकता के अलावा न तो परिग्रह का सचय करे, और न ही उसके सचय के लिये प्रयत्नशील रहे। इसके परिणामस्वरूप जीवन मे मनुष्य सतोष के मगलमय-भावना का अनुपम-उपहार प्राप्त करता है। इसका एक अन्य पक्ष यह भी है, कि जब हम आवश्यकता से अधिक सचय नही करेगे, तो वह सामग्री दूसरो के लिये आसानी से उपलब्ध हो सकेगी, तथा सभी अपनी आवश्यकतो की पूर्ति शान्ति और सौहार्दपूर्वक कर सकेगे। अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी यह विचारधारा अत्यधिक-उपयोगी है। यदि कोई एक व्यक्ति अपने अपार-धन के बल पर बाजार की अधिकाश-सामग्री खरीद ले, तो बाकी लोगो के लिये अपेक्षित-ससाधन न मिलने पर समाज मे विप्लव एव राष्ट्र मे गृहयुद्ध की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। जब व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ को मर्यादित कर अतिरिक्त-परिग्रह को अनुपयोगी-स्थिति मे अपने लिये सचित न करता हुआ दूसरो के निमित्त दान-आदि की विधि से समर्पित कर देता है, तो पारस्परिक-सौहार्द सुदृढ होता है, तथा समाज एव राष्ट्र मे सर्वत्र-शान्ति और समृद्धि का वातावरण व्याप्त हो जाता है।

जैन-परम्परा के श्रमण अपने लिये सयम के उपकरण — पिच्छि एव कमण्डलु के अतिरिक्त अन्य कोई भी सामग्री साथ नही रखते है, और न ही उनमे कोई ममत्व रखते है, जिस कारण से कोई भी उनका वैरी नही होता है, और वे जगत्-बन्धु के रूप मे सर्वमान्य हो जाते है। इस अपरिग्रह की वृत्ति के कारण जहाँ उनकी मानसिक-शान्ति अखण्ड बनी रहती है, ध्यान-साधना मे विघ्न नही पडता है, वही अन्य लोगो के मन मे उनके प्रति एक अनुपम-श्रद्धा का भाव जागृत होता है।

इसप्रकार हम देखते है कि अपरिग्रह की वृत्ति को अपनी भूमिका के अनुरूप अपनाकर व्यक्ति न केवल अपने जीवन को मगलमय बनाता है, अपितु समाज और राष्ट्र को भी मागलिक-वातावरण प्रदान करता है।

निष्कर्षत: हम पाते है कि उपर्युक्त अहिसादि चारो सिद्धान्त मनुष्य के जीवन के लिये ही नही, अपितु प्राणिमात्र के लिये अत्यन्त-हितकारी एव अभ्युदय प्रदान करनेवाले है। ❖❖

महावीर-दर्शन में 'शब्द' की स्थिति

✍ श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

*"**शब्दब्रह्म परब्रह्म के वाचकवाच्य-नियोग**" जैसे मगलाचरण जैन-मनीषियो ने अनेकत्र प्रयुक्त किये है। इनमें शब्दजय तो है ही, शब्दप्रमाण के रूक्ष मे सम्पूर्ण 'आगम' को ही स्वीकृत किया गया है। दार्शनिक-दृष्टि से जैनदर्शन मे 'शब्द' का क्या स्वरूप माना गया है? — यह तथ्य एक गूढ-अन्वेषक-मनीषी की लेखनी से यह न्यायपरक-शैली मे गुंथित होकर प्रस्तुत हुआ है। एक नये आयाम से महावीरदर्शन को देखने का यह अच्छा प्रयास है।* — **सम्पादक**

प्रास्ताविक

'शब्द' और 'अर्थ' क्या है? इनका सम्बन्ध है या नही? ये नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है, तो इनका क्या स्वरूप है, और अनित्य है, तो क्या? अर्थतत्त्व का ज्ञान कैसे और क्यो होता है? अर्थतत्त्व का निर्णय किसप्रकार से, और किन साधनो से किया जाता है? — आदि प्रश्नो का समाधान वैयाकरणो के अतिरिक्त दार्शनिको ने भी किया है। 'शब्द' सुदूर प्राचीनकाल से ही दार्शनिको के लिये विचार का विषय रहा है जैन-दर्शनकारो ने भी 'शब्द' और 'अर्थतत्त्व' पर पर्याप्त ऊहापोह किया है। **प्रमोत्पत्ति** का प्रधान-साधन 'शब्द' ही है। अत: इसके स्वरूप पर विचार करना दर्शन-शास्त्र का एक अनिवार्य-अग है।

स्वरूप

जैन-दर्शन मे शब्द को पुद्गल का पर्याय या रूपान्तर माना गया है। इसकी उत्पत्ति स्कन्धो के परस्पर टकराने से होती है। इस लोक मे सर्वत्र पुद्गलरूप शब्द-वर्गणाये, अतिसूक्ष्म और अव्याहत-रूप से भरी हुई है। इसे अपने मुँह से ताल्वादि के प्रयत्न द्वारा वायु-विशेष का निस्सरण करते है, यही वायु पुद्गल-वर्गणाओ से टकराती है, जिससे शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' मे शब्द के आकाश-गुणत्व का निराकरण करते हुये बतलाया गया है, कि परमाणुओ के सयोग-रूप स्कन्धो — शब्दवर्गणाओ के सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान रहने पर भी ये वर्गणाये शब्दरूप तभी परिणमन करती है, जब अर्थबोध की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न से प्रेरित होकर पौद्गलिक-स्कन्धो मे परस्पर-घर्षण होता है। वाद्यध्वनि तथा मेघ आदि की गर्जना भी वर्गणाओ के घर्षण का ही फल है। कुन्दकुन्दस्वामी ने शब्द-स्वरूप का विवेचन करते हुये लिखा है —

सद्दो खधप्पभवो खधो परमाणुसंग-सघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियमा॥
— (पचत्थिकायसगहो)

अर्थात् शब्द 'स्कन्ध' से उत्पन्न होता है। अनेक परमाणुओ के बन्ध को 'स्कन्ध' कहते है। इन स्कन्धो के परस्पर टकराने से शब्द की उत्पत्ति होती है।

अत: सिद्ध है, कि शब्द 'पुद्गल' की पर्याय है — पुद्गल-स्वरूप है, और इसकी उत्पत्ति स्कन्धो के

परस्पर टकराने से होती है।

जब शब्द पुद्गल की पर्याय है, तो यह किस गुण के विकार से उत्पन्न होता है, क्योकि प्रत्येक पर्याय गुणो की विकृति-परिवर्तन से उत्पन्न होती है। पुद्गल मे प्रधान चार गुण होते हैं — (1) रूप, (2) रस, (3) गन्ध, और (4) स्पर्श। **शब्द 'स्पर्श' गुण के विकार से उत्पन्न होता है।** भाषा-वर्गणाये, जो पुद्गलरूप है, उनमे पुद्गल के चारो प्रधान-गुणो के रहने पर भी स्पर्श-गुण के परिवर्तन से शब्द की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि शब्द कर्ण-इन्द्रिय से स्पर्श करने पर ही अर्थबोध का कारण बनता है। आज के विज्ञान ने ध्वनि (Sound) की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो प्रक्रिया प्रस्तुत की है, उससे भी उपर्युक्त-कथन की सिद्धि होती है। विज्ञान 'ध्वनि' की उत्पत्ति मे 'कम्पन' को आवश्यक मानता है। यह कम्पन स्पर्श-गुण के परिवर्तन से ही सभव है। जैन-दार्शनिको ने शब्द को गतिमान, स्थितिमान और मूर्तिक माना है। परीक्षण से भी उक्त तीनो गुण शब्द मे सिद्ध होते है। अत. शब्द पुद्गल की पर्याय है, और स्पर्श-गुण के विकार से उत्पन्न होता है, तथा इसमे पुद्गल के चारो गुणो मे से स्पर्श-गुण ही प्रधानरूप से व्यक्तावस्था मे पाया जाता है।

नित्यानित्यत्व

मीमासक का कहना है, कि शब्द को अनित्य मानने से अर्थ की प्रतीति सभव नही, किन्तु शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, अत· शब्द नित्य है। शब्द नित्य न हो, तो वह अपने अर्थ का वाचक नही हो सकता है। शब्द मे वाचकत्व और अर्थ मे वाच्यत्व-शक्ति है, अत: शब्द और अर्थ मे वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमादि प्रमाणो से सिद्ध है। उदाहरण के लिये यो कह सकते है, कि हमने किसी व्यक्ति से पानी लाने को कहा। शब्द अनित्य होता, तो 'पानी' शब्द कहने के साथ ही नष्ट हो जाता, और श्रोता को अर्थ की प्रतीति ही नही होती, तथा हम प्यासे ही बने रहते, और सुननेवाला हमे कभी भी पानी लाकर नही देता। पर यह सब होता नही है, श्रोता हमारे कहने के साथ ही अर्थबोध कर लेता है, और जिस अर्थ मे जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, श्रोता उसकी क्रिया को भी सम्पन्न कर देता है। अतएव शब्द नित्य है, अन्यथा अर्थबोध नही हो सकता था। अनित्य शब्द से अर्थ की प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति असभव है।

'यह घट है' इस शब्द की सदृशता इसीप्रकार के विभिन्न-देशवर्ती शब्दो मे पायी जाती है, अत· यह सदृशता अर्थ की वाचक हो जायेगी, नित्यता नही — यह आशका भी निरर्थक है, अत: शब्द-सदृशता से अर्थ का वाचक नही हो सकता, क्योकि शब्द मे वाचकत्व एकत्व से सभव है, सदृशता से नही। न सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से अर्थ का निश्चय किया जाता है; क्योकि ऐसा मानने मे शब्द-ज्ञान मे भ्रान्तिदोष आयेगा। एक शब्द मे सकेत होने पर दूसरे शब्द से अर्थ का निश्चय निर्भ्रान्त नही हो सकता, अन्यथा-गृहीत सकेत 'गो' शब्द मे 'अश्व' शब्द से गाय अर्थ का निश्चय भी अभ्रान्त हो जायेगा। यदि शब्द के अवयवो के साम्य से शब्द मे सदृशता स्वीकार की जाये, तो यह भी असगत होगा, क्योंकि वर्ण-निरन्वय होते है। गत्व से विशिष्ट गादि शब्दो मे भी वाचकत्व नही बन सकता है; अत: गादि सामान्य् का अभाव है, और सामान्य के अभाव के कारण शब्दो मे नानात्व भी सभव नही। अतएव नित्य-शब्द द्वारा ही अर्थबोध हो सकता है।

पतजलि ने 'ऋलृक्' सूत्र की व्याख्या मे जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और यदृच्छा-शब्दो का

विवेचन करते हुये जाति-शब्दो को नित्य; क्रियावाचक-शब्दों को अत्यन्त सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष; गुणवाचक-शब्दो को अव्यवहार्य और स्वानुभूति-सवेद्य एव यदृच्छा शब्दों को लोक-व्यवहार का हेतु माना है। यदृच्छा शब्द भौतिक है, ये नित्य नहीं; प्रतिक्षण-परिवर्तनशील है।

कैयट ने इसी सूत्र की व्याख्या मे 'यदृच्छा' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व स्वीकार नही किया। ये इसे माया, अविद्या और अज्ञान का ही प्रपंच मानते है।

नैयायिक और वैशेषिक शब्द को अनित्य मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि उत्पत्ति के तृतीय-क्षण मे शब्द का ध्वस हो जाता है, यह आकाश का गुण-विशेष है। लौकिक-व्यवहार मे वर्ण से भिन्न नाद-ध्वनि को ही शब्द कहा जाता है।

बौद्ध अपोह अर्थात् अन्यनिवृत्ति-रूप शब्द को मानता है, तथा इस दर्शन मे शब्द को अनित्य माना गया है।

प्रभाकर ने शब्द की दो स्थितियाँ मानी है — (1) ध्वनिरूप, और (2) वर्णरूप। दोनो रूप आकाश के गुण है। इनमे ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य है, और वर्णात्मक शब्द नित्य।

जैनदर्शन मे उपर्युक्त सभी दर्शनो की आलोचना करते हुये शब्द को नित्यानित्यात्मक माना गया है। असल बात यह है कि जैन-दर्शन मे विचार करने की दो पद्धतियाँ है — द्रव्यार्थिकनय या द्रव्यदृष्टि और पर्यायार्थिक या पर्यायदृष्टि। किसी भी वस्तु का विचार करते समय उपर्युक्त दोनो दृष्टियो मे से जब एक दृष्टि प्रधान रहती है, तब दूसरी दृष्टि गौण, और दूसरी के प्रधान होने पर पहली गौण हो जाती है। अतः द्रव्यदृष्टि से विचार करने पर शब्द कथञ्चित् नित्य सिद्ध होता है, क्योंकि द्रव्यरूप शब्द-वर्गणाये सर्वदा विद्यमान रहती है, और पर्याय-दृष्टि की अपेक्षा से शब्द कथञ्चित् अनित्य है; क्योंकि व्यक्ति-विशेष जिन शब्दो का उच्चारण करता है, वे उसी समय या उसके कुछ समय पश्चात् नष्ट हो जाते है। जैन-दार्शनिको ने पर्यायापेक्षा भी शब्द को इतना क्षण-विध्वसी नही माना है, जिससे वह श्रोता के कान तक ही नही पहुँच सके, और बीच मे ही नष्ट हो जाये। एक ही शब्द की स्थिति कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक हो सकती हैं। यही कारण है, कि जैन-दार्शनिको ने शब्द की एकान्त-रूप से नित्य या अनित्य माननेवाले पक्षो का तर्कसगत निराकरण किया है। कुमारिल भट्ट के नित्यपक्ष की आलोचना करते हुये प्रभाचन्द्र ने बतलाया है, कि अर्थ के वाचकत्व के लिये शब्द को नित्य मानना अनुपयुक्त है; क्योंकि शब्द के नित्यत्व के बिना अनित्यत्व से भी अर्थ का प्रतिपादन सभव है। जैसे अनित्य धूमादि से सदृशता के कारण पर्वत और रसोईघर मे अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उसीप्रकार गृहीत-सकेतवाले अनित्य-शब्द से भी सदृशता के कारण अर्थ का प्रतिपादन सभव है। यदि कार्यकारण एव सदृशता सम्बन्धो को वस्तुप्रतिपादक न माना जाये, और केवल नित्यता को ही प्रधानता दी जाये, तो सर्वत्र सभी पदार्थों को नित्यत्वापत्ति हो जायेगी। अतएव कुमारिल भट्ट ने जो शब्द को नित्य माना है, तथा शब्द की उत्पत्ति न मानकर उसका आविर्भाव एव तिरोभाव माना है, वह सदोष है। तर्क द्वारा शब्द कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक ही सिद्ध होता है। शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नही।

अर्थ-प्रतिपत्ति

जैन-दार्शनिको ने अर्थ मे वाच्य-रूप और शब्दो मे वाचक-रूप एक स्वाभाविक-योग्यता मानी है। इस

योग्यता के कारण ही सकेतादि के द्वारा शब्द सत्य-अर्थ का ज्ञान कराते है। घट-शब्द मे कम्बु-ग्रीवादि वाले घडे को कहने की शक्ति है, और उस घड़े मे कहे जाने की शक्ति है। जिस व्यक्ति को इसप्रकार का सकेत-ग्रहण हो जाता है, कि 'घट शब्द इसप्रकार के घट-अर्थ को कहता है', वह व्यक्ति घट-शब्द के श्रवण-मात्र से ही जलधारण-क्रिया को करनेवाले घट-पदार्थ का बोध प्राप्त कर लेता है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने अर्थप्रतिपत्ति का निर्देश करते हुये कहा है —

"सहजयोग्यतासकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः।"

— *(परीक्षामुखसूत्र)*

प्रभाचन्द्र ने शब्द और अर्थ के वास्तविक सम्बन्ध की सिद्धि मे उपथित किये गये तर्कों का उत्तर देते हुये लिखा है, कि अर्थज्ञान के विभिन्न साधनो से अर्थ का ज्ञान समानरूप से स्पष्ट नही होता, कोई अधिक स्पष्टरूप से वस्तु का ज्ञान कराते हैं, और कोई नही। अग्नि-शब्द से उतना अग्नि का स्पष्ट-ज्ञान नही होता, जितना कि अग्नि के जलने से उत्पन्न दाह का। साधन के भेद से स्पष्ट या अस्पष्ट-ज्ञान होता है, विषय के भेद से नही। अतः स्पष्ट-ज्ञान करानेवाले साधन से ज्ञात-पदार्थ को असत्य नही कह सकते। साधन के भेद से एक ही शब्द विभिन्न-दशाओ मे विभिन्न-अर्थों के प्रकट करने की योग्यता रखता है।

शब्द और अर्थ की इस स्वाभाविक योग्यता पर मीमासक ने आपत्ति प्रस्तुत की है, कि शब्द-अर्थ मे यह स्वाभाविकी-योग्यता नित्य है या अनित्य? प्रथम-पक्ष मे अनवस्था-दूषण आयेगा, और द्वितीय-पक्ष मे सिद्ध-साक्ष्यतापत्ति हो जायेगी। इस शका का समाधान करते हुये बताया गया है, कि हस्त, नेत्र, अगुली सज्ञा-सम्बन्ध की तरह शब्द का सम्बन्ध अनित्य होने पर भी अर्थ का बोध कराने मे पूर्ण समर्थ हैं। हस्त, सज्ञादि का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य नही है, क्योकि हस्त-सज्ञादि स्वय अनित्य है, अतः इनके आश्रित रहनेवाला सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है। जिसप्रकार दीवार पर अकित चित्र दीवार के रहने पर रहता है, और दीवार के गिर जाने पर नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार शब्द के रहने पर स्वाभाविक योग्यता के कारण अर्थबोध होता है, और शब्दाभाव मे अर्थबोध नही होता। मीमासक के समस्त-आक्षेपो का उत्तर आचार्य प्रभाचन्द्र ने तर्कपूर्ण-पद्धति से दिया है।

भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' मे शब्द और अर्थ की विभिन्न-शक्तियो का निरूपण किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' मे शब्द और अर्थ की स्वाभाविक-योग्यता का निरूपण करते हुये भर्तृहरि के सिद्धान्त की विस्तृत-आलोचना की है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

जैन-दर्शन शब्द के साथ अर्थ का तादात्म्य-सम्बन्ध मानता है। यह स्वाभाविक है, तथा कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक है। इन दोनो मे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-शक्ति है। जिसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय मे ज्ञाप्य-ज्ञापक-शक्ति है, उसीप्रकार शब्द और अर्थ मे योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य-कारण आदि सम्बन्ध नही है। शब्द और अर्थ मे योग्यता का सम्बन्ध होने पर ही सकेत होता है। सकेत द्वारा ही शब्द वस्तु-ज्ञान के साधन बनते है। इतनी विशेषता है कि यह सम्बन्ध नित्य नही है, तथा इसकी सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति — इन तीनो प्रमाणो द्वारा होती है।

जैन-दार्शनिको ने नित्य-सम्बन्ध, अनित्य-सम्बन्ध एव सम्बन्धाभाव का बडे जोरदार-शब्दो मे निराकरण किया है। 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' मे आचार्य प्रभाचन्द्र ने जो विस्तृत समालोचना की है, उसी के आधार पर थोडा-सा इस सम्बन्ध मे विवेचन कर देना, अप्रासंगिक न होगा।

वैयाकरण अर्थबोध शब्द से न मानकर शब्द को अभिव्यक्त करनेवाली सामूहिक ध्वनि-विशेष से ही अर्थबोध मानते हैं, और इसीका नाम उन्होने 'स्फोटवाद' रखा है। इनका कहना है, कि अर्थ मे निश्चित वाच्य-शक्ति है, और उसका वाचक 'स्फोट' है। यदि वर्णों में वाचकत्व-शक्ति स्वीकार की जाये, तो वर्णों में यह वाचकत्व-शक्ति न तो उनके समूहपने से सभव हो सकती है, और न पृथक्पने से। पृथक्पने के मार्ग को स्वीकार करने मे 'गौ' शब्द मे से 'ग' वर्ण ही गाय पदार्थ का वाचक हो जायेगा। 'औ' और विसर्ग का उच्चारण निष्फल ही होगा। यदि सामूहिक-वर्णों को अर्थबोधक माना जायेगा, तो वर्णों की सामूहिकता ही एक काल मे कैसे सभव हो सकेगी? क्योकि वर्ण अनित्य है। उनका उच्चारण क्रमशः होता है, तथा इनके उच्चारण-स्थान भी निश्चित है, और ये एकसाथ अपना काम नही करते है। अतः सामूहिक-वर्ण अर्थबोध के हेतु नही हो सकते।

अनुग्राह्य और अनुग्राहक-सम्बन्ध की अपेक्षा भी वर्णों मे वाचकत्व-शक्ति सिद्ध नही हो सकती; अतः अनुग्राह्य-अनुग्राहक-सम्बन्ध मूर्त्त मे होता है, अर्थात् अनुग्राह्य-वस्तु और अनुग्राहक-वस्तु — दोनो के सद्भाव मे यह नियम घटित होता है। इनमे से प्रथम के सद्भाव मे, और द्वितीय के अभाव मे या द्वितीय के सद्भाव, और प्रथम के अभाव मे यह नियम किस तरह कार्यकारी हो सकेगा? ग, औ और विसर्ग मे 'ग' 'औ' पूर्व-वर्ण है, और विसर्ग पर वर्ण है। अतः उपर्युक्त सम्बन्ध वर्णों मे नही है।

पूर्व-वर्ण और अन्त्य-वर्ण मे जन्य-जनक सम्बन्ध भी नहीं है, जिसके आधार पर पूर्व-वर्ण और अन्त्य-वर्ण का सम्बन्ध मानकर वर्णों की सामूहिकता एक काल मे एक साथ बन सके, और उस सामूहिकता की अपेक्षा वर्ण अर्थ के वाचक हो सके। अन्यथा वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होने लगेगी।

सहकार्य-सहकारी सम्बन्ध की अपेक्षा भी पूर्व-वर्णा और अन्त्य-वर्णों का सद्भाव एकसाथ एककाल मे नही माना जा सकता है, यत. विद्यमानो मे ही यह सम्बन्ध होता है। अन्त्य-वर्ण के समय मे पूर्व-वर्ण अविद्यमान है, फिर इस सम्बन्ध की कल्पना इनमे कैसे सभव है? जिसप्रकार यह सम्बन्ध वर्णों मे सभव नही, उसीप्रकार पूर्ववर्ण-ज्ञान और पूर्व-वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार मे भी नही बन सकता है; क्योकि पूर्व-वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार पूर्ववर्ण-ज्ञान के विषय की स्मृति मे कारण हो सकता है, अन्य मे नही। वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार से उत्पन्न स्मृतियाँ भी अन्त्यवर्ण की सहायता नही कर सकती, अतः उनकी उत्पत्ति भी एकसाथ सभव नही। क्रमशः उत्पन्न स्मृतियो की उत्पत्ति भी असभव है। यदि सम्पूर्ण-सस्कारो से उत्पन्न एक स्मृति-अन्त्यवर्ण की सहायता करती है, यह माना जाये, तो विरोधी घटपदार्थ अनेक पदार्थों के अनुभव से उत्पन्न सस्कार भी एक स्मृतिजनक हो जायेगे। निरपेक्ष-वर्ण पदार्थवाचक नही हो सकते है, क्योकि पूर्व-वर्णों का उच्चारण निरर्थक हो जायेगा। अतः किसी भी सम्बन्ध में ऐसी शक्ति नही है, जिससे गौः आदि शब्दो द्वारा गवादि अर्थों की प्रतीति हो सके। पर, अर्थ की प्रतीति शब्दो द्वारा देखी जाती है, अतः 'स्फोट' नाम की शक्ति ही अर्थबोध का कारण है। स्फोटवादी शब्द को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। यही ज्ञाता और ज्ञेय-रूप है। स्फोट को भी नित्य, अखण्ड,

अनिर्वचनीय और निर्लेप माना गया है।

जैन-दर्शनकारो ने इस 'स्फोटवाद' की विस्तृत-समीक्षा करते हुये बताया है, कि एक का अभाव अन्य वस्तु के सद्भाव का कारण होता है। यह कारण उपादान हो अथवा निमित्त, पर कार्योत्पत्ति मे सहायक अवश्य रहता है। प्रत्येक कार्य उपादान और निमित्त — दोनो प्रकार के कारणो से उत्पन्न होता है। बलिष्ठ उपादान भी तब तक कार्य उत्पन्न नही कर सकता है, जब तक निमित्त सहायता नही करता है। शब्द की अन्तिम ध्वनि अर्थ-प्रतीति मे उपादान-कारण है, पर यह उपादान अपने सहकारी पूर्व-वर्ण की अपेक्षा करता है। यद्यपि अन्त्य-वर्ण के समय मे पूर्व-वर्ण का सद्भाव नही है, फिर भी श्रूयमाण पूर्व-वर्ण का अभाव तो अन्त्य-वर्ण के समय मे विद्यमान है। इस अभाव की सहायता से अन्त्यर्ण अर्थ-प्रतीति मे पूर्ण-समर्थ है। जैसे आम्रवृक्ष की शाखा पर लगा हुआ आम अपने भार के कारण स्वय गिरकर अथवा दूसरे किसी कारण से च्युत होने पर वह अपना सयोग पृथ्वी से स्थापित करता है। इस सयोग मे उसके पूर्व-सयोग का अभाव कारण है; अन्यथा पृथ्वी से उसका सयोग हो ही नही सकता। अतएव पूर्ववर्ण-ज्ञान के अभाव से विशिष्ट अथवा पूर्व-वर्णज्ञानोत्पन्न सस्कार की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति करा देता है।

पूर्व-वर्ण विज्ञानोत्पन्न-सस्कार प्रवाह से अन्त्यवर्ण की सहायता को प्राप्त करता है। प्रथम-वर्ण और उससे और उससे उत्पन्न ज्ञान से सस्कार की उत्पत्ति होती है; द्वितीय-वर्ण का ज्ञान और उससे प्रथम वर्ण ज्ञानोत्पन्न-सस्कार से विशिष्ट-सस्कार उत्पन्न होता है। इसीप्रकार अन्त्य-सस्कार तक क्रम चलता रहता है। अतएव इस अन्त्य-सस्कार की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति मे जनक होता है।

शब्दार्थ की प्राप्ति मे सबसे प्रमुख-कारण क्षयोपशम-रूप शक्ति है, इसी शक्ति के कारण पूर्वापर-उत्पन्न वर्णज्ञानोत्पन्न-सस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है, जिसकी सहायता से अन्त्य-वर्ण अर्थ-प्रतीति का कारण बनता है। इसीप्रकार वाक्य और पद भी अर्थ-प्रतीति मे सहायक होते है।

जैन-दर्शन मे कथचित् तादात्म्य-लक्षण-सम्बन्ध शब्द और अर्थ का माना गया है, जिससे स्फोटवादी के द्वारा उठायी गयी शकाओ को यहाँ स्थान ही नही। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने कहा है —

अभिहाण अभिहेयाउ होह भिण्ण अभिण्ण च।
खुद अग्गिमोयगुच्च, रणम्मि जम्हा उवयणसवणाण॥1॥
विच्छेदो ण चि दाहो ण पूरण तेण्ण भिण्णतु।
जम्हा य मोयगुच्चारणम्मिभतत्थेव पच्चआ होवि॥2॥
ण य होइस अण्णत्थे तेण अभिण्ण तवत्थाओ।

— *(न्यायावतार, पृष्ठ 13)*

शब्दरूपी-अभिधान अर्थरूपी-अभिधेय से भिन्न और अभिन्न दोनो ही है। चूँकि खुर, अग्नि, और मोदक इनका उच्चारण करने से वक्ता के मुँह और श्रोता के कान नष्ट या जल भर नही जाते हैं, इसलिये तो अर्थ से शब्द कथञ्चिद् भिन्न है, और चूँकि 'मोदक' शब्द से 'मोदक' अर्थ मे ही ज्ञान होता है, और किसी पदार्थ मे नही होता, इसलिये अपने अर्थ से शब्द कथञ्चित्-भिन्न है।

शब्द के भेद

शब्द के मूलतः दो भेद हैं — (1) भाषा-रूप, और (2) अभाषा-रूप। भाषा-रूप शब्द भी दो प्रकार का है — (1) अक्षररूप, और (1) अनक्षररूप। मनुष्यो के व्यवहार मे आनेवाली अनेक बोलियाँ अक्षररूप भाषात्मक-शब्द हैं, और पशु-पक्षियों की टे-टें, मैं-मैं अनक्षर-रूप भाषात्मक-शब्द है। अभाषा-रूप शब्दो के दो भेद है — (1) प्रायोगिक, और (2) स्वाभाविक। जो शब्द पुरुष-प्रयत्न से उत्पन्न होता है, उसे 'प्रायोगिक', और जो बिना पुरुष-प्रयत्न के मेघादि की गर्जना से होता है, उसे 'स्वाभाविक' कहते है। प्रायोगिक के चार भेद है — (1) तत, (2) वितत, (3) घन, और (4) सुषिर। चमडे को मढकर ढोल, नगाडे आदि का जो शब्द होता है, वह 'तत' है। सितार, पियानो और तानपुरा आदि के शब्द को 'वितत'; घण्टा, झालर आदि के शब्द को 'घन' एव बाँसुरी, शख आदि के शब्द को 'सुषिर' कहते है।

उपसहार

जैन-दर्शन मे शब्द को महत्त्वपूर्ण-स्थान प्राप्त है। इसके बिना प्रमा ही सभव नही, तथा सर्वज्ञ-वचनो की प्रमाणता के अभाव मे आगम भी प्रमाण नही हो सकेगा। शब्द को जैन-दार्शनिको ने आकाश-गुण नही माना है, प्रत्युत पौद्गलिक सिद्ध किया है। शब्द की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा मानी है। पूज्यपाद ने अपने व्याकरण के आरभ मे — **"सिद्धिरनेकान्तात्"** सूत्र लिखा है, जिसकी वृत्ति लिखते हुये सोमदेव ने बतलाया है — **"सिद्धिः शब्दाना निष्पत्तिसंज्ञिर्वा भवत्येनकान्तात्, अस्तित्वनास्तित्व-नित्यत्वानित्यत्व-विशेषण-विशेष्याद्यात्मकत्वात् दृष्टेष्टप्रमाणविरुद्धत्वात्"** अर्थात् शब्दो की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा ही हो सकती है।

न शब्द. स्वगुणो बाह्यकरणज्ञानगोचरः।
सिद्धो गंधादिवन्नैव सोऽमूर्तद्रव्यमध्यतः॥
न स्फोटात्मापि तस्यैव स्वभावस्य प्रतीतितः।
शब्दात्मनस्पदा नानास्वभावस्यावभासनात्॥
अन्तःप्रकाशरूपस्तु शब्द स्फोटः किं नोपगम्यते।
तन्निक्षेप-समाधान-समत्वात्सर्वथार्थतः॥

अतः जैन-दर्शन ने 'शब्द' को आकाश-गुण न मानकर पौद्गलिक माना है, तथा शब्द और अर्थ का कथञ्चित्-तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध किया है। ❖❖

कमण्डलु में ही भूमण्डल का अर्थशास्त्र है

'कमण्डलु' भारतीय सस्कृति का सारोपदेष्टा है। उसका आगमन-मार्ग स्फीत और निर्गमन-मार्ग सकुचित है। अधिक ग्रहण करना और अल्पव्यय करना अर्थशास्त्र का ही नही, सम्पूर्ण लोकशास्त्र का विषय है। सयम का पाठ कमण्डलु से सीखना चाहिये। कमण्डलु का जल शुद्धिकार्य मे आता है। ❖❖

अहिंसा : विश्वधर्म

✍ श्रीमती रंजना जैन

भगवान् महावीर के दर्शन मे अनेको सिद्धान्तो की प्रमुखता रही है, किंतु उनकी प्रमुख-परिचान आज विश्वभर मे 'अहिसा' के सिद्धान्त की सर्वाधिक स्फीत एव सशक्त-प्रस्तुति के कारण है। प्रस्तुत-आलेख मे विदुषी-लेखिका ने एक व्यापक-परिदृश्य मे अहिसा-दर्शन को दिखाने का प्रयत्न किया है। अहिसा के वैश्वरूप को समझने के लिये यह आलेख सक्षिप्त होते हुये भी व्यापक-महत्त्व से समन्वित है।

— सम्पादक

'अत्ता चेव अहिसा' का मूलमत्र भारतीय-सस्कृति का प्राणतत्त्व रहा है। इसके अनुसार आत्मा या प्राणीमात्र का स्वभाव मूलत: अहिसक है, भले ही सिह आदि प्राणी सस्कारवश या परिस्थितिवश भोजनादि के लिए हिसा करते भी है; किन्तु वे पूर्णत: हिसक कभी भी नही बन सके है। अपने बच्चो पर ममता, दया एव रक्षा की भावना उनमे अहिसा के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। 'अहिसा' को प्राय: कमजोरी का प्रतीक समझा जाता है, किंतु वस्तुत: यह दृढ-मनस्वीजनो एव वीरो का आभूषण है। यह मानसिक विकारो की निवृत्ति का सर्वोत्तम साधन भी है। क्रोध, बैर, झूठ, चोरी, दुराचार, अनावश्यक सग्रह, छल-प्रपच आदि की दुष्प्रवृत्तियाँ अहिसक-मानस मे कभी पनप नही पाती है। इसीलिए **महर्षि पतजलि** ने लिखा है कि —

"अहिसा-प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग:।"

— *(योगसूत्र, 2/35)*

अर्थात् जब जीवन मे अहिसा की भावना प्रतिष्ठित हो जाती है, तो व्यक्ति के मन से वैरभाव का त्याग हो ही जाता है। अहिसा एक ऐसे विराट वटवृक्ष के समान है, जिसमे सत्य, शील, दया, क्षमा, निरभिमानिता, परोपकार आदि की सद्भावनाये पक्षियो की तरह घोंसले बनाकर निवास करती है। विश्व को सभ्यता और सस्कृति की शिक्षा देने के कारण 'विश्वगुरु' की पदवी प्राप्त भारतवर्ष मे अहिसा को जीवनदर्शन का मेरुदण्ड माना गया है। भारतीय जीवनदर्शन मे जो मर्यादा एव अनुशासन के सस्कार गहरे घर किये हुए है, उसका मूलकारण भी अहिसक जीवनदृष्टि ही है। **महर्षि मनु** ने हजारो वर्ष पूर्व लिखा था कि —

"अहिसयैव भूताना कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।"

— *(मनुस्मृति, 2/159)*

'अहिसा' की साधना वास्तव मे एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक-साधना है, इसीलिए भारतीय मनीषियो एव सतो ने इसे मात्र अन्य जीवो की रक्षा तक ही सीमित नही रखा है। उनकी मान्यता है कि यदि आपका मन प्रमाद, असावधानी या आवेश आदि से युक्त होता है, फिर किसी जीव के प्राणो का घात हो या नही, हिसा की उत्पत्ति हो चुकी है। इसप्रकार उन्होने मात्र हिसा की परिणति को नही, अपितु उसे उत्पत्ति के स्तर पर ही मर्यादित/नियन्त्रित कर उसे आध्यात्मिक-ऊँचाइयाँ प्रदान की है। उनकी स्पष्ट-मानसिकता रही है कि मन से पूर्ण

अहिसक बने बिना व्यक्ति यदि पूजा, यज्ञ आदि या व्रत, उपवास आदि अनुष्ठान कर भी ले; तो भी उसे आत्मदृष्टि नही मिल सकती है, आत्मबोध नही हो सकता है; क्योंकि उसकी दृष्टि हिसा की कालिमा से कलुषित है।

उपनिषद्कर्त्ता ऋषि लिखते हैं —

"तद्यथेहकर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।"

— *(छान्दोग्य उपनिषद्, 8/1/6)*

अर्थ — जिसप्रकार इस लोक मे श्रमरूप-पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त (धन-वस्त्रादि) सामग्री नष्ट हो जाने वाली है, उसीप्रकार यज्ञादि द्वारा प्राप्त पुण्य भी नष्ट हो जाने वाले ही है। इसी बात को **महर्षि बाल्मीकि** ने भी स्पष्ट किया है —

"न श्रुतेन न पुण्येन ज्ञायते ज्ञेयमात्मनः।"

— *(योगवाशिष्ठ, 6/83/14)*

अर्थ — आत्मा-सम्बन्धी ज्ञातव्य (आत्मज्ञान) को श्रुति (शास्त्र) को पढकर या (यज्ञादि से) पुण्यसंचित करके भी नही जाना जा सकता है।

वस्तुत: पुण्य की आसक्ति एव आकर्षण हिसा के मूलकारण राग-द्वेष की वृत्तियो से कलुषित चित्त है। जो व्यक्ति अपने मन को इस मुक्त पूर्ण-अहिसक बनाकर आत्मज्ञानी बन जाता है, उसे पुण्यकर्मों के प्रति विवशता जैसी भावना नही रह जाती है।

नारायण श्रीकृष्ण 'गीता' मे लिखते है —

"आत्मवन्त हि कर्माणि न बध्नन्ति धनंजय!"

अर्थात् हे अर्जुन! जो आत्मज्ञानी है, जिनका चित्त विषयवासनाओं एव राग-द्वेष आदि हिसामूलक भावनाओ से रहित है, उन्हे कर्मों का बधन नहीं होता है।

यह आश्वासन मिलने के बाद दृढ विश्वास से भरपूर आत्मवेत्ता को भला सामान्य-जनोचित पुण्यादि कार्यों का क्या आकर्षण रह जायेगा? **महात्मा बुद्ध** इसी तथ्य की पुष्टि करते हुये कहते है —

"अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्जपापपहीणस्स नत्थि जागरतो भय॥"

— *(धम्मपद, चित्तवग्ग, 12)*

अर्थ — जिसका हृदय राग से रहित एव द्वेष से मुक्त हो गया है, उस जागृत पुरुष (आत्मवेत्ता व्यक्ति) को पुण्य और पाप से पृथक् हो जाने का कोई भय नही रह जाता है।

अहिसा की इतनी उदात्त एव उच्चतम प्रतिष्ठा करनेवाली भारतीय सस्कृति ने मात्र आध्यात्मिक-स्तर पर ही अहिसा की प्रतिष्ठा नही की है, अपितु व्यावहारिक-जीवन मे भी उसकी तार्किक एव सतुलित-अवधारणा

को प्रस्तुत किया है। अग्नि में होम/हवन करके पुण्य की आकाक्षा करनेवालो के प्रति वैदिक-पुराणो मे भी सावधान करते हुए स्पष्टत: अहिसा का पालन करने का निर्देश दिया गया है —

"अहिंसा परमो धर्मस्तवग्निर्ज्वाल्यते कुतः।
हूयमाने यतो वह्नौ सूक्ष्मजीववधो महान्॥"
— *(स्कन्दपुराण, 59/37)*

अर्थ — 'अहिंसा परमधर्म है' — ऐसी स्थिति मे अग्नि को (धर्मकार्यों में) जलाना कहाँ तक उचित है? क्योकि अग्नि मे आहुति देने आदिरूप क्रियाओ से सूक्ष्मजीवो का अपार-वध (भारी हिसा) होती ही है।

वस्तुत: उत्कृष्ट अहिसक-मानसिकता से ही प्राणीमात्र के प्रति करुणा, दया एव वात्सल्य की उदारभावना के द्वारा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्ति को चरितार्थ किया जा सकता है। अत: अहिसा एक अतिव्यापक-धर्म होने से विश्वधर्म है तथा सम्पूर्ण विश्व इसी की छाया मे सरक्षित रह सकता है।

महावीर के दर्शन मे अहिसा को अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे भी विस्तारित किया गया है। इसका सक्षिप्त-विवेचन निम्नानुसार है —

लोक मे 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' की बात सभी स्वीकार करते है, जिनमे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष समाहित है। इन चार पुरुषार्थों मे 'अर्थ' नामक पुरुषार्थ के शाब्दिकरूप से कई पर्यायवाची कहे गये है। इनमे प्रयोजन, धन, शब्दार्थ, पदार्थ या वस्तु आदि विशेषत: उल्लेखनीय है। पुरुषार्थ-चतुष्टय मे इनमे से 'धन' को ही अभिप्रेत माना गया है।

हमारे देश मे उक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय के सभी अगो पर पर्याप्त ग्रथ लिखे गये है। 'अर्थ' पुरुषार्थ पर महामात्य कौटिल्य (चाणक्य) का लिखा 'अर्थशास्त्र' अत्यन्त प्रसिद्ध एव प्रतिष्ठित है। ज्ञातव्य है कि महामात्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का राज्य निष्कटक करने के उपरान्त नग्न-दिगम्बर जैन-साधु के रूप मे दीक्षा लेकर धर्म-मोक्ष-पुरुषार्थों का साधन किया था। 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ का प्रणयन इसके पूर्व सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्यशासन को निर्विघ्न सचालित करने के लिए मार्गदर्शन-स्वरूप किया था; क्योकि प्रशासन की पकड अर्थतन्त्र के बिना नही बनती है। जैनाचार्यों एव मनीषियो ने भी प्रसगवशात् 'अर्थ' पुरुषार्थ के बारे मे महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये है। यद्यपि जैनदर्शन 'धन' को परिग्रह मानता है तथा इस रूप मे वह उसे 'अनर्थ का मूल' भी बताता है —

"अत्थ अणत्थमूल"
— *(आचार्य शिवार्य, 'भगवती आराधना', 1808)*

वस्तुत: आवश्यकता से अधिक तथा अवरुद्ध-प्रवाह वाले धनसचय को व्यवहार मे भी हम 'अनर्थ का मूल' अनुभव करते है। धन के कारण भाई-भाई मे, पिता-पुत्र मे, मित्रो मे और सगे-सम्बन्धियो मे भी आये दिन अनेक प्रकार के झगडे, उपद्रव और षड्यन्त्रो को घटित होते देखते रहते है। इतिहास की घटनाये एव पौराणिक-कथानको के अतिरिक्त अन्य प्रकीर्णक-कथाये भी इस तथ्य की पुष्टि करती है।

फिर भी जैनाचार्यों ने इसके सात्त्विक-प्रयोगो के लिए अनेको ऐसे महत्त्वपूर्ण-दिशानिर्देश भी दिये है, जिससे

इसकी समाजहित एव राष्ट्रहित में उपादेयता सिद्ध होती है। साथ ही व्यक्ति के चारित्रिक-निर्माण एव विकास में भी वे निर्देश अतिमहत्त्वपूर्ण-भूमिका निभाते हैं। राज्य-प्रशासन एव सचालन के साथ-साथ परिवार की सुरक्षित उन्नति मे 'अर्थ' के स्वरूप का निर्देश करते हुये आचार्य सोमदेव 'नीतिवाक्यामृत' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं —

"आय-व्यय-मुखयोर्मुनि-कमण्डलुरेव निदर्शनम्"

— *(18/6, पृष्ठ 152)*

अर्थात् राष्ट्र, सस्था या व्यक्ति की आय का स्रोत जैन मुनिराज के कमण्डलु मे जल भरने के मुख के समान बडा होना चाहिए तथा खर्च का द्वार कमण्डलु के जल-निकासी-द्वार की भाँति छोटा होना चाहिये।

यदि कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति अपनी आय से अधिक व्यय करता है, तो उसका पतन सुनिश्चित है; तथा यदि बराबर भी व्यय करता है, तो भी उन्नति कदापि नहीं हो सकेगी। हाँ! यदि वह आय अधिक एव व्यय मर्यादित करता है, तो उसकी उन्नति अवश्यभावी है। यह मत्र कजूसी के लिए नही, अपितु अपव्ययता पर नियत्रण के लिए है। अप्रयोजनभूत कार्यों, भौंडे प्रदर्शनो एव झूठी मान-बढाई के लिए किये जाने वाले खर्च तथा दुर्व्यसनो की पूर्ति के लिए किये जाने वाले खर्च को रोकना इस कथन का उद्देश्य है। मात्र धन-सचय करना यहाँ अभिप्रेत नही है।

जैनाचार्यों ने 'परिग्रह-परिमाणव्रत' का विधान करके अर्थशास्त्र को लोकहितकारी अहिसक-दिशा प्रदान की है। वस्तुत· अहिसक-रीति से नीति-न्यायपूर्वक कमाया जानेवाला धन निश्चय यही 'अर्थ' सज्ञा के योग्य है। हिसक-रीति, अन्याय-अनीतिपूर्वक कमाया गया धन को तो 'अनर्थ' कहा जाता है; क्योंकि उसके फलस्वरूप दुर्व्यसनो का ही प्रसार होता है। जैनाचार्यों ने यह भी एक अद्भुत-प्रतिपादन किया है कि 'अपार धन का सचय वस्तुतः नीति-न्यायपूर्वक किया ही नही जा सकता है।'

आचार्य गुणभद्र लिखते है —

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पवः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥"

— *(आत्मानुशासनम्, 45)*

अर्थ — सज्जनो के भी अपार-सम्पत्ति की प्राप्ति शुद्ध (निर्दोष) धन से सभव नही होती है। समुद्र जैसे महान् जलनिधि मे जलापूर्ति कभी भी निर्मल-जल से नही, अपितु वर्षा के मलिन-जल से ही होती है।

इसका कारण भी है। वह यह कि अपार धन-सचय समाज और राष्ट्र मे आर्थिक-विषमता को उत्पन्न करता है। और आर्थिक-विषमता का मूल 'भ्रष्टाचार' को माना गया है।

यह कथन पचमकाल मे धनसग्रह की प्रवृत्तियो एव उसकेससाधनो को लक्ष्य मे रखकर किया गया है। धनप्राप्ति का कारण तो पूर्वकृत-पुण्यभाव है। कहा भी है —

"पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः।"

— *(अमृताशीति, 1.4)*

पुण्य के भी दो रूप हैं; एक सम्यग्दृष्टि का पुण्य होता है, जो उसे फलस्वरूप वीतरागी-देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य विशेषतः उपलब्ध कराता है। साथ ही जो धन उसे मिलता है, उसका उपयोग दानादि सत्कार्यों मे ही मुख्यतः होता है। जबकि मिथ्यादृष्टि का पुण्य धन-प्राप्ति में तो फलित होता है, किन्तु वह विषय-वासनाओ की पूर्ति, परिग्रह का सचय एव नाना प्रकार के तनावो व झगडो की उत्पत्ति मे चरितार्थ होता है। अतः ऐसे पुण्य का निषेध करते हुये जैनाचार्य लिखते हैं —

"पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पाव, तम्हा पुण्णो विवज्जेज्जो॥"
— *(तिलोयपण्णत्ति, 9/56)*

अर्थ — पुण्य से वैभव (धनसम्पत्ति आदि) की प्राप्ति होती है, वैभव से अभिमान उत्पन्न होता है, अभिमान के कारण बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। भ्रष्ट-बुद्धि से नियम से (ऐसे कार्य होते है, जिनके फलस्वरूप) दुर्गति के कारण पापभाव की प्राप्ति होती है। अतः ऐसा पुण्य 'वर्जित' कहा गया है, छोडने योग्य है।

यदि जैनाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित अहिसक-अर्थशास्त्र को अपनाया जाये, तो अपराधो पर नियत्रण, राष्ट्र की उन्नति, मानसिक शांति एव पारस्परिक सौहार्द का प्रतिफल नियमतः प्राप्त होगा। अतः उक्त दृष्टियो से व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र के हित मे अहिसक-अर्थशास्त्र को अपनाया जाये, तो विश्व मे शाति एव समृद्धि का प्रसार होगा तथा 'अर्थ' का अनर्थकारी-प्रतिफलन रुक सकेगा।

'अर्थशास्त्र' के प्रणेता की अर्थ-दृष्टि

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य मे यूनान का राजदूत मेगास्थनीज़ आया और वह अपने परिचयपत्र आदि प्रस्तुत करने साम्राज्य के महामात्य चाणक्य के पास पहुँचा। महामात्य चाणक्य एक साधारण-सी झोपडी मे बैठकर कार्य कर रहे थे। मेगास्थनीज ने वहाँ पहुँचकर ससम्मान अपना परिचयपत्र एव आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की। औपचारिकता-पूर्ति के उपरान्त जब मेगास्थनीज वापस लौटने लगा, तो आचार्य चाणक्य ने जलते हुये दीपक को बुझाकर दूसरा दीप जला लिया। यह देखकर मेगास्थनीज वापस लौटा और विनयभाव से पूछा कि "श्रीमान्! आपने ऐसा क्यों किया?" तो आचार्य चाणक्य बोले कि "पहिले वाले दीप मे सरकारी-तेल जलता है। जब तक मै सरकारी-कार्य कर रहा था, उस दीप को प्रज्वलित किये रहा। अब मै निजी-कार्य कर रहा हूँ, अतः सरकारी-खर्चवाला दीप बुझाकर निजी-खर्चवाला दीप जला लिया है। यदि मै इतनी सावधानी नही रखूँगा, तो मेरे चरित्र मे तो दोष लगेगा ही; अन्य सारे कर्मचारी भी सरकारी-ससाधनो का उपयोग निजी-कार्यों के लिए करने लगेगे। तब यह राष्ट्र उन्नति कैसे कर सकेगा, जब यहाँ रक्षक ही भक्षक बन जायेगा, बाड ही खेत को खाने लगेगी?"

आज के सन्दर्भ मे यह घटनाक्रम गम्भीरता से मननीय एव अनुकरणीय है।

जैनदर्शन में 'द्रव्य' की अवधारणा

✍ डॉ. वीरसागर जैन, नई दिल्ली

*जैनदर्शन मे 'द्रव्य' के स्वरूप की मौलिकता अपने आप मे अत्यन्त-महत्त्वपूर्ण है। इसका सर्वांगीण-विवचेन अनेक जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे किया है। 'द्रव्य' का यह विवेचन अकेले 'द्रव्य' तक सीमित नही रहता है, अपितु सम्पूर्ण वस्तु-व्यवस्था का प्रतिपीलक बन जाता है। इस विषय के प्रतिपादक-ग्रन्थो को जैनदर्शन में 'द्रव्यानुयोग-साहित्य' के अन्तर्गत रखा जाता है। इसमे छह द्रव्य, सात तत्त्व, पचास्तिकाय एव नवपदार्थों का विववचेन आता है। प्रस्तुत-आलेख मे 'द्रव्य' का स्वरूप पारगर्भित-रूप मे वर्णित है। — **सम्पादक***

जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व अनन्तानन्त-द्रव्यो के समूह का ही अपर-नाम है, अत: इस विश्व को भली-भाँति जानने के लिये 'द्रव्य' का स्वरूप जानना अत्यन्त-आवश्यक है।

'द्रव्य' जैनदर्शन का एक विशेष पारिभाषिक-शब्द है, जो सामान्यदृष्टि से देखा जाये, तो वस्तु या पदार्थ के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि 'द्रव्य' का लक्षण बताते हुये आचार्य उमास्वामी (विक्रम की प्रथम-शती) लिखते है कि —

"सत् द्रव्यलक्षणम्।"[1]

अर्थात् 'सत्' ही 'द्रव्य' का लक्षण है। जो सत् है, वही द्रव्य है।

'सत्' क्या है — इस सम्बन्ध मे भी उनका निम्नलिखित-कथन विशेषतया ध्यातव्य है —

"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।"[2]

अर्थात् जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो, वही 'सत्' है। जैनदर्शन के अनुसार इस विश्व मे जितने भी चेतनाचेतन-पदार्थ है, वे सभी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है; अत: 'द्रव्य' है। पदार्थ मे नवीन-अवस्था के आगमन को 'उत्पाद' कहते है, पूर्व-अवस्था के त्याग को 'व्यय' कहते है, और वस्तु के स्वभाव की स्थिरता को 'ध्रौव्य' कहते है।[3] इसप्रकार जगत् के समस्त-पदार्थों मे प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हुआ करता है, अत: वे समस्त-पदार्थ 'सत्' है, और सत् ही द्रव्य का लक्षण है।

सत् के अतिरिक्त द्रव्य का एक अन्य-लक्षण जैनदर्शन में यह भी पाया जाता है, कि जो गुण-पर्याय से सहित हो, वही 'द्रव्य' है; जैसा कि जैनदर्शन के महान् सूत्रग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्रम्' के निम्नलिखित-सूत्र से स्पष्ट है —

"गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।"[4]

जो द्रव्य के सहभावी-अश हैं, उनको 'गुण' कहते है, और जो क्रमभावी-अश हैं, उनको 'पर्याय' कहते हैं। जगत् में कोई ऐसा पदार्थ नही है, जो गुणों और पयार्यों से सहित न हो। ज्ञान, दर्शन, सुख आदि जीवद्रव्य के गुण हैं, और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान आदि उसकी पर्यायें हैं। इसीप्रकार रूप, रस, स्पर्श आदि 'पुद्गलद्रव्य' के गुण हैं, और काला, पीला, नीला आदि उसकी पर्याये हैं।

इसप्रकार, हम देखते हैं, कि द्रव्य वह है, जो सत् है, और सत् वह है, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो, अथवा अनन्त गुण-पर्यायो से सहित हो।

जैनदर्शन के अनुसार इस विश्व मे अनन्तानन्त-द्रव्य पाये जाते है, परन्तु उनकी सख्या जाति-अपेक्षा से छह मानी गई है, जो इसप्रकार है — (1) जीवद्रव्य, (2) पुद्गलद्रव्य, (3) धर्मद्रव्य, (4) अधर्मद्रव्य, (5) आकाशद्रव्य, और (6) कालद्रव्य। इसका क्रमानुसार-विवेचन निम्नानुसार है —

(1) जीवद्रव्य — जिनमे चेतना अथवा ज्ञान-दर्शनादि पाये जाते है, वे जीवद्रव्य है। जीवद्रव्य परमार्थ से स्पर्श-रस-गध-वर्णादि गुणो से रहित 'अमूर्तिक' है। वह यद्यपि ससार-अवस्था मे इंद्रिय, बल, आयु एव श्वोसोच्छ्वास-रूप द्रव्यप्राणो से जीता है, परन्तु परमार्थ से मुक्त-अवस्था मे अपने ज्ञान-दर्शनादि भावप्राणो से सदाकाल जीता रहता है।[5]

(2) पुद्गलद्रव्य — जिसमे स्पर्श, रस, गध, वर्णादि पाये जाते है, वे 'पुद्गल-द्रव्य' है। पुद्गलद्रव्य 'मूर्तिक' होते है। इस जगत् मे हमको जा कुछ पच-इद्रियो से प्रत्यक्ष होता है, वह सब पुद्गलद्रव्य ही है। पुद्गल के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य तो 'अमूर्तिक' होने से इन्द्रियो द्वारा नही जाने जा सकते है। शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, सस्थान, भेद, अधकार, छाया, उद्योत, आतप आदि पुद्गल-द्रव्य की पर्याये है।[6] 'अणु' और 'स्कन्ध' के भेद से पुद्गल-द्रव्य के दो भेद होते है। जो एक अविभागी परमाणु-द्रव्य है, उसे 'अणु' कहते है, और एक से अधिक अणुओ के सयोगबन्ध को 'स्कन्ध' कहते हैं।

(3) धर्मद्रव्य — धर्म और अधर्म का अर्थ यहाँ पुण्य-पाप जैसा कुछ नही ग्रहण करना चाहिये। जैनदर्शन के अनुसार इस विश्व मे जीव, पुद्गल की तरह 'धर्म' और 'अधर्म' नाम के दो द्रव्य भी वस्तु-सत्य के रूप मे पाये जाते हैं। यद्यपि ये अमूर्तिक है, इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष नही हो सकते है, परन्तु ऐसा कहते है कि आधुनिक-विज्ञान ने भी इनकी सत्ता सिद्ध कर दी है। धर्मद्रव्य वह है, जो स्वय गमन करनेवाले जीव-पुद्गलो को गमन करने मे सहायक होता है।[7] उसीप्रकार जिसप्रकार कि स्वय गमन करनेवाली मछली को गमन करने मे जल सहायक होता है, अथवा स्वय गमन करनेवाली रेलगाडी को पटरियाँ सहायक होती है।

(4) अधर्मद्रव्य — अधर्मद्रव्य वह है, जो स्वय रुकनेवाले जीव और पुद्गलो को रुकने मे सहकारी होता है। उसीप्रकार जिसप्रकार कि किसी स्वय रुकनेवाले पथिक को रुकने मे वृक्ष की छाया निमित्त हो जाती है।

धर्म और अधर्मद्रव्य के सम्बन्ध मे यहाँ यह एक तथ्य निश्चितरूप से समझ लेना चाहिये, कि ये दोनो द्रव्य क्रमशः गमन और स्थिति मे निमित्तमात्र है, बलात् कभी किसी द्रव्य को गमन और स्थिति नही कराते है। जैनदर्शन मे जहाँ भी किसी भी ग्रन्थ मे 'धर्म' और 'अधर्म-द्रव्य' का स्वरूप समझा गया है, वहाँ इस तथ्य को सर्वत्र स्पष्ट किया गया है। प्रमाणस्वरूप 'द्रव्यसग्रह' (दव्वसगहो) नामक ग्रन्थ मे समागत-धर्म और अधर्मद्रव्य का निरूपण करनेवाली दोनो गाथाओ के **"अच्छता णेव सो णेई"**[9] और **"गच्छता णेव सो धरदि"**[10] — इन कथनो पर गभीरता से ध्यान देना चाहिये।

(5) आकाशद्रव्य — जो जीव-पुद्गलादि समस्त-द्रव्यों को रहने के लिये स्थान देता है, उसे 'आकाशद्रव्य' कहते है।[11] आकाशद्रव्य एक है, और सम्पूर्ण-विश्व मे सर्वत्र व्याप्त है। कही किचिद् भी स्थान ऐसा नही है,

जहाँ आकाशद्रव्य न हो। आकाशद्रव्य यद्यपि एक अखण्ड-द्रव्य है, तथा षड्द्रव्यो के अवस्थान-अनवस्थान की अपेक्षा से उसे निम्नलिखित दो भेद करके भी समझाया जाता है — (1) लोकाकाश, और (2) अलोकाकाश। जहाँ उपर्युक्त छहो जाति के द्रव्य दृष्टिगोचर होते है, निवास करते हैं अथवा विद्यमान है, उतने आकाशाश को लोकाकाश कहते है, और उससे बाहर का अनन्त-आकाश, जहाँ मात्र उस आकाशद्रव्य को छोडकर और कोई द्रव्य नही है, 'अलोकाकाश' कहलाता है। जिसप्रकार एक गिलास दूध से आधा भरा हुआ, हो तो कोई उस एक गिलास को ही हाथ लगाकर ऐसे बोल सकता है, कि यह भरा हुआ गिलास है, और यह खाली गिलास है। यहाँ किसी को ऐसा लग सकता है, कि दो गिलास है, एक भरा हुआ और एक खाली; परन्तु वस्तुत: गिलास एक ही है, उसे दूध के अवस्थान-अनवस्थान की अपेक्षा भरा और खाली — इन दो भागो मे बाँटा गया है। उसीप्रकार आकाश एक अखण्ड-द्रव्य ही है; दो नही है, परन्तु षट्द्रव्यो के अवस्थान-अनवस्थान की अपेक्षा उसे लोकाकाश और अलोकाकाश — इन दो भागो मे बाँटकर समझाया गया है।

(6) कालद्रव्य — जो जीव-पुद्गलादि सर्वद्रव्यों के परिणमन या परिवर्तन मे निमित्त हो, उसे 'कालद्रव्य' कहते है।[12] कालद्रव्य 'अमूर्तिक' है, और सख्या-अपेक्षा असख्य हैं। ये सम्पूर्ण-लोक मे सर्वत्र रत्नो के ढेर की तरह बिछे पडे है। व्यवहार मे मिनट, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि कालद्रव्य की ही पर्याये है। यदि कालद्रव्य न हो, तो जगत् मे कही कोई परिणमन या परिवर्तन नहीं हो सकता। जगत् के समस्त चेतनाचेतन-पदार्थों मे दिखाई देनेवाला परिवर्तन ही कालद्रव्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। जैनदर्शन के श्वेताम्बर मत मे कही-कही कालद्रव्य की सत्ता को नही माना गया है।

इसप्रकार इस विश्व मे जाति-अपेक्षा उक्त छह-प्रकार के द्रव्य पाये जाते है; किन्तु जैनग्रन्थो मे इन छह जातियो को कही-कही इन दो ही जातियो मे भी कहा गया है — (1) जीवद्रव्य, और (2) अजीवद्रव्य; क्योंकि उक्त छह जातियो मे एक जीवद्रव्य को छोडकर शेष पाँचो चेतना-रहित होने से अजीव है। 'द्रव्यसग्रह' नामक ग्रन्थराज मे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने ऐसा ही किया है। उन्होने द्रव्य दो ही प्रकार के बताये है। यथा —

'जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठ।
देविंदविंद-वंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥'[13]

अर्थ — जिन जिनेन्द्रदेव ने जीव और अजीव — ये दो द्रव्य निर्दिष्ट किये हैं, उन देवेन्द्रवृन्द-वन्दित जिनेन्द्र को मैं सर्वदा सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।

इसके अतिरिक्त अन्य-अनेक दृष्टियो से भी जैनाचार्यों ने द्रव्यो को दो जातियो मे विभाजित किया है, जिनमे से कतिपय-प्रमुख इसप्रकार है —

(क) मूर्त और अमूर्त — एक पुद्गल-द्रव्य ही स्पर्श, रस, गध, वर्णादि से युक्त होने के कारण 'मूर्त' है, और अन्य पाँचो (जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य-स्पर्शादि-गुणो से रहित होने के कारण 'अमूर्त' है।[14]

(ख) सक्रिय और निष्क्रिय — 'क्रिया' का अर्थ यहाँ आवागमन-रूप-क्रिया समझना चाहिये। यह आवागमनरूप-क्रिया मात्र जीव और पुद्गल — इन दो द्रव्यो मे ही पायी जाती है, अत: इनको 'सक्रिय-द्रव्य'

कहते हैं, और शेष चार (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) द्रव्य आवागमनरूप-क्रिया से रहित होने के कारण 'निष्क्रिय-द्रव्य' कहलाते हैं।[15]

(ग) बहुप्रदेशी और एकप्रदेशी — उक्त छहों प्रकार के द्रव्यों मे से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश — ये पाँच-प्रकार के द्रव्य-बहुप्रदेशी हैं; किन्तु कालद्रव्य मात्र एक-प्रदेशवाला है। अतः एकप्रदेशी है। एकप्रदेशी को 'अप्रदेशी' भी कहा गया है। बहुप्रदेशी-द्रव्यो को 'अस्तिकाय' भी कहते है; यही कारण है, कि जैनदर्शन में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश — इन पाँच-द्रव्यों को पचास्तिकाय कहा गया है।[16] आचार्य कुन्दकुन्द के सुप्रसिद्ध-ग्रन्थ 'पंचास्तिकायसग्रह' (पचात्थेकायसगहो) में इन्ही पाँचो-द्रव्यों का विस्तृत-वर्णन पाया जाता है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है, कि द्रव्यो की सख्या एक अपेक्षा से दो भी बतायी जा सकती है, अन्य अपेक्षा से भी छह भी बतायी जा सकती है, और एक तीसरी-अपेक्षा से अनन्त भी बतायी जा सकती है।

जैनदर्शन के उक्त सम्पूर्ण द्रव्य-विववेचन को सक्षेप मे निम्नलिखित सारणी के द्वारा भी भली-भाँति समझा जा सकता है —

क्रम	नाम	स्वरूप	सख्या	प्रदेश	मूर्त्तत्व	चेतनत्व	क्रिया	अस्तिकायत्व
1.	जीव	अमूर्तिक, ज्ञानानन्दमय	अनन्त	असख्य	अमूर्तिक	चेतन	सक्रिय	अस्तिकाय है
2.	पुद्गल	स्पर्श-रस-गध-वर्णमय	अनतानता	सख्य, असख्य, अनत	मूर्तिक	अचेतन	सक्रिय	अस्तिकाय है
3.	धर्म	गतिहेतुत्व	एक	असख्य	अमूर्तिक	"	निष्क्रिय	"
4	अधर्म	स्थितिहेतुत्व	एक	असख्य	"	"	"	"
5.	आकाश	अवगाहन-हेतुत्व	एक	अनन्त	"	"	"	"
6.	काल	परिणमन-हेतुत्व	असख्य	एक	"	"	"	अस्तिकाय नही है।

जैनदर्शन मे इन षट्द्रव्यो के सम्बन्ध मे एक और अत्यन्त-महत्त्वपूर्ण बात स्थान-स्थान पर कही गयी है, कि ये सभी द्रव्य अनादि-अनन्त हैं, और अपने-अपने मे परिपूर्ण है। कभी भी किसी भी द्रव्य का न तो नये सिर से उत्पाद होता है, और न ही सर्वथा विनाश। इसीप्रकार कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य-द्रव्य के अधीन नही है। कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य-द्रव्य का कोई कार्य नही करता, अन्य-द्रव्य के कार्य मे रचमात्र-हस्तक्षेप भी नही करता। यद्यपि व्यवहार से सभी द्रव्य परस्पर-निमित्त होते हैं, पर परमार्थ से कोई किसी का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नही है। सभी द्रव्य सदा अपने ही स्वभाव या स्वरूप मे रहते है। कोई भी द्रव्य कभी भी परद्रव्य के स्वभाव मे प्रवेश नहीं करता, परद्रव्यरूप परिणमन नही करता। इस सम्बन्ध मे जैनदर्शन के शिरोमणि-आचार्य कुन्दकुन्द

की निम्नलिखित गाथा विशेषरूप से स्मरणीय है —

"अण्णोण्णं पविसंता विंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति।।"[17]

अर्थात् ये सभी द्रव्य परस्पर-प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को जगह देते है, बारबार खूब मिलते भी है, परन्तु कभी भी अपने स्वभाव को नही छोडते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द की भाँति इसीप्रकार के विचार अन्य भी अनेक जैनाचार्यों ने प्रकट किये है, जिनमे आचार्य वीरसेन एव स्वामी कार्तिकेय के नाम विशेष-उल्लेखनीय है। ❖❖

संदर्भ-सूची

1 तत्त्वार्थसूत्र, 5/29, 2. वही, 5/30; 3. आप्तमीमासा, कारिका 72; 4. तत्त्वार्थसूत्र, 5/38 5. द्रव्यसग्रह, 1/3, 6. वही, 1/16 7. वही, 1/7; 8 वही, 1/18, 9. वही, 1/17; 10. वही, 1/18, 11 वही, 1/19, 12 वही, 1/20; 13 वही, 1/1, 14. परमात्मप्रकाश, 2/29 टीका, 15 वही, 2/29 टीका; 16. द्रव्यसग्रह, 1/24, 17 पचास्तिकायसग्रह, गाथा 7 ❖❖

कलियुग

जब पाडव अपने दिन अज्ञातवास मे बिता रहे थे, तब एक दिन वे [illegible] खेलने निकले। रास्ते मे एक जगह भीम को प्यास लग गई। वे पानी खोजते हुए कुछ दूर स्थित एक सरोवर तक आ पहुँचे। उन्होने देखा कि वहाँ एक धर्मशाला भी बनी थी, जिसमे तीन कमरे थे। एक कमरे मे एक विचित्र भैसा बधा था, जो दोनो तरफ से चारा खा रहा था। दूसरे कमरे मे एक हस था, जिसे कौवे चोच मार-मार कर घायल किए दे रहे थे। तीसरे मे मिट्टी के बर्तन रखे थे, जो अकारण आपस मे टकरा रहे थे और फूट रहे थे। भीम चकित हो गए और बिना पानी पिए ही लौट आए। आकर उन्होने यह विचित्र-वृत्तात युधिष्ठिर को सुनाया।

युधिष्ठिर ने उनकी शका का शमन करते हुए कहा, 'तुम कलियुग को देखकर आए हो। कलियुग मे ऐसे ही अधिकारी होगे, जो वेतन भी लेगे और रिश्वत भी। दोनो ओर से खानेवाला भैसा इसी का प्रतीक है। हस वह सत्पुरुष है, जिसे कलियुग मे दुर्जन नोच-नोंच कर खायेगे और यह पीडा वह सहन करेगा। एक ही कुम्हार के परस्पर टकराकर टूटनेवाले बर्तन वास्तव मे एक ही पिता के परस्पर लडकर मिटनेवाले भाई है।'

भीम 'कलियुग' का यह प्रकोप सुनकर हतप्रभ रह गए। ❖❖

— *(साभार उद्धृत, नवभारत टाइम्स)*

'शास्त्र' और 'शस्त्र'

"शास्विनि वाग्विधिविव्भिर्धातुः पापठ्यतेऽनुशिष्ट्यर्थः
त्रैङिति च पालनार्थे विनिश्चितः सर्वशब्दविदाम्।"

— (प्रशमरति प्रकरण, 186)

अर्थ — *चौदह-पूर्व ज्ञान के धारी 'शास्' धातु को 'अनुशासन' के अर्थ मे पढते (बताते) है। 'त्रैङ्' धातु को सभी शब्दवेत्ता 'पालन' करने के अर्थ मे निश्चित करते है। इसप्रकार 'अनुशासन' एव 'रक्षण' — इन दो अभिप्रायो को सजोकर 'शास्त्र' शब्द का निर्माण हुआ है। वैयाकरणो के अनुसार 'शास्' धातु से उणादिगणपठित "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' सूत्र के द्वारा 'ष्ट्रन्' प्रत्यय का प्रयोग करके 'शास्त्र' शब्द निष्पन्न होता है, जो कि नपुसकलिंग माना गया है। कोशकारो ने इस शब्द के 'नियम, आज्ञा, विधि, धर्मग्रन्थ' आदि अर्थ किये है। — (द्रष्टव्य, आप्टेकृत सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ 104)*

'शास्त्र' शब्द के अतिरिक्त 'शस्त्र' शब्द आता है, जो कि 'शस्' — हिसार्थक धातु से पूर्वोक्त 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगकर 'शस्त्र' शब्द बनता है। इसे 'हथियार, आयुध, उपकरण एव औजार' आदि अर्थों मे माना गया है। यदि तुलनात्मक-दृष्टि से देखे, तो 'शास्त्र' का काम रक्षा करना है, तो 'शस्त्र' का काम मारना है। यदि हमारा दृष्टिकोण अनुशासन का पालन करते हुये अपनी और दूसरे की रक्षा करना है, तो 'शास्त्र' रूप है तथा यदि अपने को अहितकारी एव परघातक-चितन जिनमे हो, वे शास्त्र नही, 'शस्त्र' है।

'शास्त्र' के भेदो का कथन करते हुये 'भगवती आराधना' (गा 612) की टीका मे लिखा है —

"स्त्रीपुरुषलक्षण निमित्त, ज्योतिर्ज्ञान, छन्दः, अर्थशास्त्र, लौकिक-वैदिकसमयाश्च बाह्यशास्त्राणि।"

अर्थ — *स्त्री-पुरुषो के लक्षणो का वर्णन करनेवाला 'निमित्तशास्त्र' है। इनके अतिरिक्त ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र एव मत्रवाद आदि 'बाह्यशास्त्र' कहे जाते है।*

इसीप्रकार 'मूलाचार' की 'भाषावचनिका' मे व्याकरण-गणित आदि को 'लौकिक-शास्त्र', सिद्धान्तग्रथो को 'वैदिक-शास्त्र' एव स्याद्वाद-न्याय-अध्यात्मगर्भित शास्त्रो को 'सामायिक-शास्त्र' कहा गया है। निष्कर्षतः देखे तो आत्महित-करनेवाले एव अन्य जीवो के प्रति दयाभाव आदि सत्सदेशो को देनेवाले ग्रथ ही 'शास्त्र' की सीमा मे आते है। जिनमे परवधकारक, कठोर, निद्य, लोकापवादकारक, असत्य, तथ्यविरुद्ध आदि बातो का प्ररूपण हो, वे 'शस्त्र' है, 'शास्त्र' नही। स्वाध्यायीजनो को चाहिये कि वे 'शास्त्रो' एव शास्त्र का भ्रम उत्पन्न करनेवाले 'शस्त्रो' मे बारीकी से भेदकर स्व-परहित की कामना से स्वाध्यायविधि का पालन करे। ❖❖

खण्ड 3

❖❖

वर्धमान महावीर की परम्परा

❖❖

विषय-अनुक्रमणिका : खण्ड 3

पुस्तक-कर्म

'पोंत्थकम्म' और पोंत्थिकार शब्दो का प्रयोग भी इसी सूत्र मे हुआ है। 'पोंत्थ' शब्द 'पुस्त' का प्राकृत-रूप है। पुस्त से ही स्वार्थिक 'क' प्रत्यय लगाकर 'पुस्तक' शब्द बना है। टीकाकार ने 'पोंत्थकम्म' का अर्थ ताडपत्र आदि पर वर्ण-वर्तिका आदि से लिखना बताया है। इसीप्रकार 'पुस्तक' का प्राकृतरूप है। टीकाकार के अनुसार इसका तात्पर्य 'पुस्तक के द्वारा जीवन-निर्वाह करनेवाला' है। पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने का अर्थ पुस्तक को लेखबद्ध या लिपिबद्ध करके पारिश्रमिक प्राप्त करना है। नई पुस्तक लिखने का अभिप्राय यहाँ नही है। आज की भाषा मे उसे 'प्रतिलिपिकार' कहा जा सकता है। ❖❖

जय जिनेन्द्र

✍ डॉ. हरिराम आचार्य

प्रेम से कहो सभी,
भक्ति से सुनो सभी,
हृदय मे गुनो सभी,

तीर्थंकर महावीर वर्धमान जय जय।
जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय-जय।।

जिनका नाम कोटि-कोटि मगलो की खान है,
जिनका रूप दिव्य-सूर्य-सा प्रकाशमान है।
जिनका धर्म सत्य की उपासना का धर्म है,
जिनका ध्यान ही अखण्ड-मुक्ति का विधान है।।

वीतराग, वीतद्वेष, गुणनिधान, जय-जय।
जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय-जय।।

इस धरा की कोख जिनके दिव्य-जन्म से फली,
जिनके पुण्यकर्म से ही ज्योति धर्म की जली।
त्याग और विराग-भाव जिनमे मूर्तिमन्त थे,
सालवृक्ष के तले जो बन गये थे केवली।।

महाश्रमण! त्रिशला के सुखनिधान! जय-जय।
जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय-जय।।

'जिन' के पथ मे पुनीत-आचरण प्रधान है,
जिनकी दृष्टि ऊँच-नीच पर सदा समान है।
तप-अहिसा-सयम ही जिनका धर्मचक्र है,
जिनका शब्द-शब्द कोटि-ग्रन्थ से महान है।।

अनेकान्तदर्शन के शुद्धज्ञान! जय-जय।
जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय-जय।।

❖❖

श्रमण-परम्परा

✍ आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनि

तीर्थंकर ऋषभदेव से तीर्थंकर महावीर तक चौबीसो तीर्थंकरो की परम्परा को 'श्रमण-परम्परा' सज्ञा दी गयी है। बाद मे कुछ लोग बौद्धो को भी श्रमण-परम्परा मे जोडने लगे थे। श्रमण-परम्परा मूलतः जैनो की थी — इस तथ्य को व्यापक-प्रमाणो से पुष्ट करते हुये एक निर्ग्रन्थ-श्रमण की पावन-लेखनी ने इस आलेख मे सिद्ध किया है। — **सम्पादक**

श्रमण-सस्कृति

हमारे देश का नाम भारतवर्ष है। इस नाम मे नागरिक सभ्यता का इतिहास अन्तर्निहित है, जो इस देश ने ससार को दी थी। इस नाम के लेते ही हमारे-नेत्रो के समक्ष वह चित्र चलचित्र की तरह घूम जाता है, जब एक नई-सभ्यता द्रुतगति से विकसित हो रही थी, मानव वन्य-सस्कृति को अन्तिम—नमस्कार करके नागरिक-सभ्यता अपना रहा था। ससार के आद्य-महापुरुष, आद्य-तीर्थकर ऋषभदेव, असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प — इन छह-कर्मों की जगत् को शिक्षा देकर एव सामाजिक ओर प्रशासकिन-व्यवस्था स्थापित करके प्रव्रजित हो गये थे, और एक हजार- वर्ष तक अपूर्व आध्यात्मिक-तपःसाधना द्वारा पूर्ण-आत्मसिद्धि प्राप्त करने मे सफल हुये व भगवान् बन गये। उन्होने जगत् को उपदेश दिया — "सब मृत्यु से डरते है, किन्तु समय आने पर सब मरते है। दुःख कोई नही चाहता, किन्तु सब दुःखी है। कोई व्यक्ति, कोई शक्ति तुम्हे मृत्यु और दुःख से नही छुडा मकती। यदि तुम्हे मृत्यु और दुःख से सदा के लिये छूटना है, तो तुम्हे श्रम करना होगा, पुरुषार्थ करना होगा।" यही श्रमाधारित पुरुषार्थमूलक-सस्कृत आगे चलकर 'श्रमण-सस्कृति' कहलाने लगी। यह इस देश की मूल-सस्कृति थी।

भारतवर्ष का नामकरण

इन्ही दिनो मे भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ-पुत्र महाराज-भरत इस देश के (तत्कालीन नाम 'अजनाभवर्ष') बिखरे हुये राज्यो को जीतकर एक सगठित महासाम्राज्य की स्थापना मे लगे हुये थे। जब वे देश की सम्पूर्ण-इकाइयो को एक झण्डे के नीचे सगठित करने मे सफल हो गये, तो समूचे देश के प्रतिनिधियो की सभा बुलाकर उसमे दो महत्त्वपूर्ण-घोषाणाये की। प्रथम-घोषणा के द्वारा उन्होने 'चक्रवर्ती-सम्राट्' का विरुद धारण किया। दूसरी महत्त्वपूर्ण-घोषणा उन्होने यह की — "आज से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' घोषित किया जाता है।"

सहस्राब्दियाँ, लक्षाब्दियाँ बीत गईं, आज तक इस देश का नाम 'भारतवर्ष' ही चला आ रहा है। इसके साथ इस देश के प्रथम-चक्रवर्ती के रूप मे ऋषभदेव के पुत्र भरत को इस देश का नामकरण 'भारतवर्ष' करने का श्रेय दिया जाता है।

श्रमणेतर-सस्कृति

मूलतः इस देश के निवासियो की एक ही सस्कृति थी, वह भी श्रमण-सस्कृति। अनेक युग बीत गये। तब इस देश ने एक नई सस्कृति के दर्शन किये। इस सस्कृति मे 'ईश्वर' नाम की एक ऐसी शक्ति की कल्पना

की गई, जो इस जगत् का कर्त्ता, पालनकर्त्ता और सहारकर्त्ता है। इसको प्रसन्न करने से हमारी कामनाओ की पूर्ति हो जायेगी। इसमे पुरुषार्थ के स्थान पर भाग्य को प्रधानता दी गई थी।

श्रमण और इतर-सस्कृति मे मौलिक-अन्तर

श्रमण-सस्कृति के प्रतिष्ठापक क्षत्रिय थे। अत: श्रमण-सस्कृति को क्षत्रिय-सस्कृति भी कहा जाता था। श्रमणेतर-सस्कृति वैदिक-ब्राह्मणो ने प्रतिष्ठित की थी। अत: उसे वैदिक-सस्कृति अथवा ब्राह्मण-सस्कृति भी कहा जाता था। श्रमणो के धर्म का मूल-आधार अहिसा थी। उसमे क्रियाकाण्ड पर विशेष-बल न देकर अध्यात्म पर जोर दिया गया था। उसमे आत्मा-अनात्मा की गहरी मीमासा की गई थी। उसमे दु:खो से पूर्ण-मुक्ति के लिये मोह और उसके साधन-पदार्थों का त्याग करते हुये सर्वस्वत्यागी-मुनिदशा प्राप्त करना अनावश्यक बताया गया। दूसरी ओर वैदिक-सस्कृति मे हिसामूलक-क्रियाकाण्डो को अपरिहार्य करार दिया गया। इस सस्कृति मे आत्मा की चर्चा नही है, त्याग को महत्त्व नही दिया गया, सन्यास आश्रमवाद की कल्पना है। इसमे परिनिर्वाण अथवा मोक्ष की भी कोई स्पष्ट परिकल्पना नही मिलती। इसको ईश्वर से याचना करना ही भक्ति बताई गयी है। यह याचनाप्रधान-सस्कृति है।

श्रमण-परम्परा की प्राचीनता

जैन और वैदिक-साहित्य के गहन-तुलनात्मक-अध्ययन से यह फलित होता है, कि प्राचीनकाल से जैनमुनियो को 'श्रमण' कहा जाता रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द आदि जैन-आचार्यों ने जैन-मुनियो के लिये 'श्रमण' शब्द का उपयोग अनेक स्थलो पर किया है। इसीप्रकार हिन्दू-पुराणों[1], नारिदीय-सँहिता, बाल्मीकि-रामायण[2] आदि वैदिक-ग्रन्थो मे भी 'श्रमण' शब्द जैन-मुनियो के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। अनेक जैनेतर-विद्वानो ने यह स्वीकार किया है, कि 'श्रमणो की परम्परा एक प्राग्वैदिक-परम्परा थी।' वाराणसीय संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति (स्व.) डॉ मंगलदेव शास्त्री[3] ने लिखा है — "वैदिक-साहित्य की अपेक्षा यह शब्द जैन-परम्परा मे बहुत प्रचलित है, और वहाँ इसका प्रयोग जैन-मुनियो के लिये रूढ़ है। इसका अर्थ प्राय: दिगम्बर ही किया जाता है। 'श्रमण' शब्द भी क्रमश जैन, बौद्ध-साधुओ के लिये प्रयुक्त होने लगा था। स्पष्टतया 'वातरशना' शब्द 'श्रमण' शब्द की तरह मुनि-सम्प्रदाय का ही शब्द है, जो निश्चय ही एक प्राग्वैदिक-परम्परा थी। इस शब्द के प्रयोग से भी वैदिकधारा पर प्राग्वैदिक मुनि-सम्प्रदाय की धारा का प्रभाव स्पष्ट होता है।"

भागवतकार की दृष्टि मे श्रमण

यहाँ श्रीमद्भागवत[4] से एक उद्धरण देना ही पर्याप्त होगा, जिसमे श्रमणो के महान्-चारित्र की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की गई है — "कृतयुग मे लोग चार-प्रकार का धर्म धारण करते है। धर्म के वे चार-पाद है — सत्य, दया, तप और दान। प्रायश: श्रमण (मुनि) सन्तुष्ट, करुणावान्, मैत्रीभावयुक्त, शान्तस्वभावी, इन्द्रियविजयी, तितिक्षा से युक्त, आत्मा मे रमण करनेवाले और समदृष्टि होते है।"

वातरशना-मुनि

वेदो, उपनिषदो और निघण्टु आदि भाष्यो मे जैन-मुनियो के लिये व्रात्य, श्रमण और वातरशना शब्दो का प्रयोग अनेक-स्थानो पर किया गया है। यह तो शोध का विषय हो सकता है, कि इन शब्दो का प्रयोग किस

प्रागैतिहासिक-काल मे किया गया है। किन्तु इतना निश्चित है, कि 'व्रात्य' शब्द ऋग्वेद मे अनेक-स्थलो पर प्रयुक्त हुआ है; उसमे एक पृथक् 'व्रात्य-सूक्त' ही है। उसमे व्रात्यो की स्तुति की गई है। वेदो और उपनिषदो में वातरशना मुनियों की भी चर्चा मिलती है। श्रीमद्‌भागवत्, बाल्मीकि-रामायण और हिन्दु-पुराणो में वातरशना-मुनियो और श्रमणो की चर्चा अथवा उल्लेख मिलते है।

'सायणभाष्य' मे वातरशना-मुनियो की प्रशसा करते हुये लिखा है — "वातरशन श्रमण-ऋषि ऊर्ध्वमन्थी हुये। उनके समीप उत्तर-ऋषि प्रयोजनवश उपस्थित हुये। उन्हे देखकर वातरशन-ऋषि कही अन्तर्हित हो गये। वे वातरशन 'कूष्माण्ड' नामक मत्रवाक्यो मे अन्तर्हित थे। तब उन्हे अन्य ऋषियो ने श्रद्धा और[5] तप से प्राप्तकर लिया। ऋषियो ने उन वातरशन-मुनियो से प्रश्न किया — "किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते हैं?" वातरशन-मुनियो ने उन्हे अपने अध्यात्म-निलय मे आये हुये अतिथि जानकर कहा — "हे श्रमण मुनिजनो। आपको नमोऽस्तु है, हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करे" फिर ऋषियों ने कहा — "हमे पवित्र (आत्मविद्या) का सदेश दीजिये, जिससे हम निष्पाप हो जाये।"

श्री अब्जाक्ष[6] सरकार, एम ए , बी एल., का अभिमत है, कि **'मुनयो वातरशना'** कहकर ऋगवेद (10/163/2) मे जिन नग्न-मुनियो का उल्लेख है, विद्वानो का कथन है, कि वे जैन-दिगम्बर सन्यासी ही है।

निघण्टु ने कहा है — **"श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणाः वातरशना.।"** 'श्रीमद्‌भागवत्' (19/2/20) मे बताया गया है — **"श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदा.।"** अर्थात् श्रमण वातरशन होते हैं, और अध्यात्मविद्या मे निपुण होते है।

❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 "पद्‌मिनी-राजहसाश्च, श्रमणाश्च तपोधना:।"

2 "स चास्य कथयामास, शबरी धर्मचारिणी। श्रमणा धर्मानिपुणामभिगच्छति राघव·।।" — *(बालकाण्ड)*

"श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी।" — *(अरण्यकाण्ड, 73/26)*

"तामुवाच ततो राम श्रमणी धर्मसंस्थिताम्।" — *(अरण्यकाण्ड, 74/7)*

3 'नवनीत', जून 1974, पृ 66

4 कृते प्रवर्तिते धर्मश्चतुष्पादोजनैर्धृत.। सत्य दया तपोदानमिति पादा विभो नृप।
सन्तुष्टा करुणा मैत्रा शान्ता दान्तास्तितिक्षव । आत्मारामा. समदृश प्रायश श्रमणा जना ।।

— *(श्रीमद्‌भागवत्, 12/3//18/12)*

5 "वातरशनाख्या ऋषय श्रमणास्तपविन. ऊर्ध्वमन्थिन ऊर्ध्वरेतस । तान् प्रति अन्ये ऋज्ञश्य अर्थयितुमागता । एतान् वीक्ष्य वातरशना. कुत्रचित् अनिलाय-अन्तर्हिता । ते हि कूष्माण्डाख्यानि मत्रवाक्यानि अनुप्रविष्टा.। अरपेस अपापा·।"
"वातरशन ह वा ऋषय· श्रमणा ऊर्धवमन्थिनो बभुदुस्तावृषयोऽर्धमायस्तेऽनिलयमाचरस्तेऽप्रविशु कूष्माण्डानि तास्तेष्वन्वविन्दत् श्रद्धया च तपसा। तानृषयोऽब्रुवन् क्रियानिलय चरथेति ते ऋषीनबुवन्नमो वोऽस्तुभवनतोऽस्मिन्न-धार्म्मिकेन व सपर्यामेतिसानृषयोऽब्रुवन् पवित्र नो ब्रूत येनारेपस. स्यामेतित एतानि सूक्तान्यपश्यन्।"

— *(सायण, तैत्तिरीय आरण्यक, प्रपाठक, अनुवाक 1-2)*

6 वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ 92

❖❖

जैन-संस्कृति एवं तीर्थंकर-परम्परा

✍ बिशम्भरनाथ पांडे

यह महत्त्वपूर्ण-सामग्री सुप्रसिद्ध विद्वान् एव उड़ीसा प्रात के भूतपूर्व राज्यपाल स्व श्री बिशम्बरनाथ जी पाडे की अमरकृति 'भारत और मानव-सस्कृति' मे आयी है। जैन-सस्कृति एव तीर्थंकर-परम्परा के बारे मे उनके निष्पक्ष एव प्रामाणिक विचार निश्चय ही सीमित-सोच एव पूर्वाग्रह रखनेवाले व्यक्तियो को चिंतन के नूतन-आयाम प्रदान करेगे। अन्य जिज्ञासु-पाठकवृन्द को तो यह आलेख एक पौष्टिक-ज्ञानभोजन के रूप मे आनददायी होगा ही। **— सम्पादक**

जैन-सस्कृति का मर्म

जैन-सस्कृति के बाहरी-स्वरूप मे अनेक वस्तुओ का समावेश हुआ है। शास्त्र, भाषा, मन्दिर, स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमे काम आने वाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयो का जैनसमाज के साथ एक निराला-सबध है।

प्रश्न यह है कि जैन-सस्कृति का मर्म क्या है? इसका सक्षिप्त-जवाब तो यही है कि 'निवर्तक-धर्म' जैन-सस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति करानेवाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश करानेवाला हो या उस निवृत्ति के साधनरूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो, वह 'निवर्तक-धर्म' कहलाता है।

निस्सदेह जैन-श्रमणो ने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका — इस 'चतुर्विधि सघ' का सुदर सगठन किया था। श्रावक-श्राविका अपने धर्मगुरुओ के आहार आदि की व्यवस्था करते थे, जबकि धर्मगुरु अपने 'चतुर्विधि सघ' की देखभाल करते, धर्मप्रचार और आत्म-सशोधन मे अपनी सारी शक्ति लगाते थे। वास्तव मे देखा जाये तो यह बडा ही सुदर कार्य-विभाजन था।

जैन-सस्कृति की विशेषता है कि केवल मनुष्य को ही नही, अपितु जीवमात्र को अभय बनाना। जैन-सस्कृति कहती है "दूसरो को विवेकपूर्ण-जीवन बिताने के लिये प्रोत्साहित करो, उन्हे सहयोग दो।" जैन-सस्कृति गृहस्थ को भी इन्द्रियवासना से मुक्त होने की शिक्षा देती है। जैनधर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति को सात-व्यसनो का पहले त्याग करना चाहिये, तब कही वह श्रावक बन सकता है। धर्म पर श्रद्धा लाते ही उसे वासनाओ को जीतने का प्रयत्न प्रारभ कर देना होगा। सात व्यसन ये है, जिनका त्याग उसे करना चाहिए — 1 शिकार खेलना, मछली मारना आदि, 2 झूठ बोलना, 3. वेश्या-सेवन और परस्त्रीगमन, 4. चोरी, 5. शराब, भाग, चरस, मद्यपान आदि, 6 जुआ खेलना और 7 मास खाना।*

जब यह गृहस्थ अपनी वासनाओं को जीत लेगा, उन पर अधिकार जमाने की क्षमता हासिल कर लेगा, तब वह पापो और दोषो से बचने के लिये अहिसा आदि व्रतो को धारण करेगा। उसका नैतिक-चरित्र दृढ होगा और हृदय दया से परिपूर्ण होगा। नागरिक आध्यात्मिक-उन्नति करता हुआ गृहस्थ के ग्यारह दर्जों को पालता

हुआ, जब कषाय और कामवासना को पूर्णतः जीतने के लिये कटिबद्ध होता है, तब वह साधु होता है और **दिगम्बर-वेष मे ज्ञान-ध्यान** मे लीन रहकर लोकोपकार मे अपनी सारी शक्ति लगा देता है। साधु होने के पहले वह गृहस्थ के सातवें दर्जे से पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास प्रारभ करता है और ग्यारहवे दर्जे मे पहुँचकर अपने तन पर सिर्फ एक लगोटी रखता है। उसका ध्येय साधुपद धारण करके स्वय बधनमुक्त होना और लोक को बधनमुक्त करना होता है। यह है जैन-सस्कृति की साधारण रूपरेखा।

तीर्थंकर-परम्परा

जैनदर्शन का विश्वास है कि जैनधर्म शाश्वत है, उसके तत्त्वो का कभी नाश नही होता। अहिसा और मैत्री मनुष्य के लिए प्रकृति-सुलभ हैं — वे मिटे कैसे? और जैनधर्म की आधारशिला अहिसा ही है। ऋतु-परिवर्तन की तरह धर्म का भी उन्नति और अवनति होती है। इसलिए जैनी कहते है कि प्रत्येक कल्पकाल मे चौबीस तीर्थंकर क्रमशः जन्म लेकर जगत् का उद्धार करते है। इस कल्पकाल मे भी चौबीस तीर्थंकर हो चुके है, जिनमे से पहले श्री ऋषभदेव थे और अतिम वर्द्धमान महावीर।

ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान महावीर तक जैन-मान्यता के अनुसार 24 महापुरुष हुए है, जिनको 'तीर्थंकर' कहते है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से उन सबने एकप्रकार के ही उपदेश दिये है। समय के अनुसार आचार का बदलना अनिवार्य होने पर भी तत्त्वज्ञान के विषय मे सभी एकमत है। यह बात ऐतिहासिको को न जँचे, यह सम्भव है; किन्तु हमारे पास इसकी सत्यासत्यता जाँचने का कोई साधन नही है। इन सभी तीर्थंकरो का जो अस्तित्वकाल जैन-विद्वान् बताते है, उनकी परीक्षा करने का भी हमारे पास कोई साधन नही है। फिर भी ऋषभदेव, शान्तिनाथ और नेमिनाथ — इन तीनो प्रागैतिहासिक पुरुषो के अस्तित्व मे सदेह की गुजाइश नही है। उनके निश्चित समय के बारे मे भले ही सदेह हो सकता है। पार्श्वनाथ और महावीर के विषय मे तो अब ऐतिहासिक लोग भी असंदिग्ध हो गये है। पर जैन-तत्त्वज्ञान और आचार के उपदेशो के रूप मे जो कुछ आज हमारे सामने ग्रथबद्ध मौजूद है, वह तो तीर्थंकर महावीर के उपदेश का ही फल है। महावीर ने तीर्थंकरो की परम्परा मे से बहुत कुछ सीखा और समझा होगा और अपने उपदेश की धारा उसी परम्परा के अनुरूप बहायी होगी। महावीर के उपदेश के रूप मे जो कुछ हमारे सामने है, उसमे से बहुत कुछ पूर्ववर्ती तीर्थंकरो का ही उपदेश समझना चाहिये, शब्द चाहे भले ही महावीर के हो।

पहले तीर्थंकर ऋषभदेव जी को हिंदू-पुराणो मे आठवाँ-अवतार माना गया है। तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी के इक्ष्वाकुवशी राजा विश्वसेन के सुपुत्र थे। वह अतिम तीर्थंकर महावीर से 250 वर्ष पहले सम्मेदशिखर से मुक्त हुए थे। अंतिम तीर्थंकर महावीर क्षत्रियराजा-सिद्धार्थ के राजकुमार थे। उन्होने ईसवी सन् से 527 वर्ष पहले 'निर्वाण' पद पाया था। बिहार प्रात का 'पावाग्राम' ही उनका निर्वाणधाम है। जैनशास्त्रो मे चौबीसो तीर्थंकरो के जीवन-चरित्र अंकित है, परतु पहले 22 तीर्थंकरो की आयु और कार्य का लबा-चौडा वर्णन जिज्ञासुओ को शका मे डाल देता है। पाश्चात्य विद्वान् तो उन्हे पौराणिक बताते है और कहते है कि जैनधर्म के सस्थापक तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ है। कितु यह मान्यता निराधार है और जैकोबी को यह स्वीकार करना पडा कि जैन-मान्यता मे कुछ ऐतिहासिकता है। पूर्वकाल मे मनुष्यो की आयु और काय लबी और बडी होती थी।

मोहन-जोदड़ो (सिंधु) से मानव-शरीरों के जो अस्थिपिंजर मिले हैं, वे इनके साक्षी हैं। वहाँ से लगभग 4-5 हजार वर्ष पुरानी मुद्रायें और मूर्तियाँ मिली हैं, जो कुछ विद्वानों के अनुसार जैन-मूर्तियों से मिलती हैं।

यथार्थत: जैनधर्म का इस काल में आदिप्रचार तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा ही हुआ है। ब्राह्मण एव बौद्ध-साहित्य और शिलालेखीय-साक्ष्य भी यही बताते हैं। यू तो स्वय 'ऋग्वेद' मे ही 'ऋषभ' नामक व्यक्ति का उल्लेख है, परतु विद्वानों को शका है कि वह जैन-तीर्थंकर थे। सायण ने वह व्यक्तिवाचक नाम बताया है। यहाँ पर इस हिदू-पुराण-प्रकरण को स्पष्ट कर देते है। उनमे सिर्फ एक ही 'ऋषभ' का वर्णन है, जो जैन-तीर्थंकर के चरित्र के सर्वथा अनुकूल है। अत: प्रो विरूपाक्ष वहियर वेदतीर्थ के मतानुसार 'ऋग्वेद' मे प्रथम-तीर्थंकर का उल्लेख मानना अनुचित नही है। बौद्ध-ग्रथ 'न्यायबिदु' (अ. 3), 'र तशास्त्र' और 'आर्यमजुश्री मूलकल्प' मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख है और उन्हे 'जैनधर्म का प्रतिपादक' लिखा है।

उधर कलिग की हाथीगुम्फावाले प्रसिद्ध (ई पूर्व द्वितीय शताब्दी) शिलालेख मे अग्रजिन (ऋषभदेव) की उस मूर्ति का उल्लेख है, जिसे नदवर्द्धन पटना ले गया था। यहाँ उस काल की अन्य तीर्थंकरो की मूर्तियाँ मिलती है। अतएव यह स्पष्ट है कि ऋषभदेव की मान्यता नद-राजाओ के काल मे भी प्रचलित थी। 'ककाली टीला' मथुरा से कुषाणकालीन ऐसी जिन-मूर्तियाँ निकली है, जिन पर ऋषभ आदि अनेक तीर्थंकरो के नाम अकित है। वहाँ एक शिलापट (आयागपट्ट) ऐसा मिला है, जिस पर कई तीर्थंकरो की मूर्तियाँ अंकित हैं और जिसे प्रो **बुल्हर** व **स्मिथ** तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय का बताते है। इसका अर्थ यह हुआ कि चौबीस तीर्थंकरो की मान्यता ईसापूर्व आठवी शताब्दी मे भी प्रचलित थी। अब यदि यह तीर्थंकर वास्तव मे हुये ही न होते, तो उस प्राचीन काल के लोग उनकी मूर्तियाँ क्यो बनाते और क्यो उनके नाम की माला जपते? अत: जैनो की मान्यता की 24 तीर्थंकरो ने क्रमानुसार इस काल मे धर्म का प्रतिपादन किया उचित प्रतीत होती है।

जैनशास्त्र कहते हैं कि मध्यवर्ती तीर्थंकरो के समय में जीव सरल और विवेकी थे, इसलिये जैनधर्म के आचार-नियमो का प्रतिपादन सामान्यरूप मे किया गया था — उनकी भेद-विवक्षा नही की गई थी। वे सामयिक-चरित्र का पालन करते थे, परतु पहले और अंतिम तीर्थंकरो के समय जीव क्रमशः भोले-भाले थे, इसलिये उन्हे धर्म के आचार-विचार बताये गये थे (मूलाचार देखो)। पार्श्वनाथ के शिष्यगण कुशील आदि दोषो का प्रायश्चित पृथक् न लेकर समष्टिरूप मे लेते थे, परतु महावीर ने प्रत्येक पाप का पृथक् उल्लेख करके उसका प्रायश्चित भी अलग किया। अंतिम-तीर्थंकर का बताया हुआ शासन अब तक चला आ रहा है। इस तरह तीर्थंकरो की भाव-परपरा अभी तक जीवित है। उसकी यह विशेषता है कि उसमे केवल त्याग और साधना के चरम-प्रतीक साधुओ और अर्जिकाओ (साध्विओ) को ही स्थान प्राप्त हो, यह बात नही वरन् गृहस्थ श्रावक और श्राविकाओ को भी उसमे स्थान प्राप्त था। दोनो के सहयोग से ही जैनसघ का अभ्युदय हुआ था और वह अब तक मौजूद है। ❖❖

---

* जैन-परम्परा में इनका उल्लेख इसप्रकार है — 1 जुआ खेलना, 2. माँस-भक्षण करना, 3 मदिरापान या नशीली-वस्तुओं का सेवन करना, 4. वेश्यागमन करना, 5 शिकार खेलना, 6. चोरी करना, और 7. परस्त्रीगमन करना।

भारतीय-संस्कृति को तीर्थंकर ऋषभदेव की देन

✍ पद्मभूषण पं. बलदेव उपाध्याय

जैन-सस्कृति के वर्तमान अवसर्पिणीकाल के आदि-धर्मप्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव और उनकी परम्परा के परिचय के साथ-साथ उस देश के नामकरण का आधार भी इन्ही से अनुस्यूत था — इस तथ्य से प्राय: जैन भी अनभिज्ञ है। जब पाठ्यक्रमो मे महावीर से जैनधर्म का प्रवर्तन पढाया जा रहा हो, तब एक प्रतिष्ठित-शिक्षाविद् वैदिक-विद्वान् के द्वारा जैन-सस्कृति और परम्परा के इन तथ्यो की अकाट्य-प्रमाणो से प्रस्तुति विशेष-उल्लेखनीय हो जाती है। सारे जीवन अध्ययन-मनन-चितन और लेखन के व्यापक-अनुभवो के बाद लिखा गया यह लेख पूर्णत: परिपक्व-चितन का परिणाम है। — **सम्पादक**

सस्कृत-साहित्य का इतिहास तथा विविध-ग्रन्थो के लेखनकार्य के समय मुझे जैनधर्म, दर्शन, साहित्य और इसके इतिहास के गहन-अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन सबके अध्ययन से जैनधर्म के प्रति मेरा काफी लगाव रहा और प्रभावित रहा हूँ। मेरे द्वारा लिखित अन्य-ग्रन्थो की तरह जैनधर्म, दर्शन और साहित्य के इतिहास तथा विवेचन से सबंधित स्वतत्र-ग्रन्थ लिखने की प्रबल-भावना रही, मन मे इसकी पूरी रूपरेखा भी रही; किन्तु अन्यान्य-लेखन मे व्यस्तता के चलते यह इच्छा अधूरी ही रही। अब इस पश्चिमवय, वह भी 98-99 वर्ष की इस उम्र मे वैसा लेखन सम्भव नही हो पा रहा है। फिर भी जैनधर्म, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एव भरत और भारतवर्ष नामकरण आदि के विषय मे जनमानस को परिचित करने की दृष्टि से यह लघु-निबध प्रस्तुत कर रहा हूँ।

जैन-परम्परा के विशाल-वाङ्मय तथा इसके प्रमुख आचार्यों मे आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त, भूतबलि, आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलक, हरिभद्र, विद्यानन्दि, हेमचन्द्र आदि आचार्यों के व्यक्तित्व एव कृतित्व ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया। साथ ही इसके अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अहिसा, सयम, अपरिग्रह और सर्वोदय के सिद्धान्तों और श्रावक तथा श्रमण की आचार-पद्धति का मै सदा से प्रशसक रहा हूँ। अत: ऐतिहासिक-दृष्टि से मात्र यहाँ जैनधर्म और ऋषभदेव एव इनकी परम्परा आदि के विषय मे कुछ कहना उपयुक्त होगा।

वस्तुत: भारतवर्ष के इतिहास मे वैदिक और श्रमण — ये दो धार्मिक परम्पराये प्राचीनकाल से ही सर्वतोभावेन मान्य रही हैं। श्रमण-परम्परा मे यद्यपि जैन और बौद्ध — ये दो धर्म मान लिये गये, किन्तु जैनधर्म काफी प्राचीन है। वैदिक-साहित्य मे भी जैनधर्म और तीर्थंकरो से सबंधित अनेक-उल्लेख मिलते हैं। अब तो अनेक साहित्यिक, पुरातात्त्विक, भाषावैज्ञानिक एव शिलालेखी-साक्ष्यों ने इसे एक स्वतत्र, मौलिक और प्राचीनधर्म सिद्ध कर दिया है। महात्मा बुद्ध ने स्वय जैनधर्म की पूर्वभाविता को स्वीकार किया है।

इस धर्म के लिए 'जैन' सज्ञा तो बहुत बाद की है। इसके पहले इसके प्राचीन नाम आर्हत्, श्रमण (समण), निगण्ठ इत्यादि के उल्लेख वैदिक तथा इतर-प्राचीन-भारतीय-वाङ्मय में मिलते हैं। 'निगण्ठ' शब्द 'निर्ग्रन्थ' का

प्राकृत-पालिभाषा का रूपान्तर-मात्र है। 'पालि- तिपिटको' मे वर्धमान महावीर के लिए 'निगण्ठनातपुत्त' शब्द आया है। जैनधर्म मे चार प्रकार के कर्म-विजेता, त्रैलोक्यपूजित, त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ-पुरुषो की 'अर्हत्' सज्ञा है और अर्हत् द्वारा प्रचारित होने के कारण इस धर्म का नाम 'आर्हत' है। राग-द्वेष एव कर्मरूपी शत्रुओ तथा इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के कारण इन वीतरागी-महापुरुषो को 'जिन' कहा जाता है। 'जिन' शब्द 'जि' धातु से 'नङ्' उणादि-प्रत्यय के द्वारा सिद्ध होता है। 'जयतीति जिनः' अर्थात् जीतनेवाला। 'जिन' द्वारा प्रवर्तित या प्रचारित होने के कारण इस धर्म का नाम ही 'जैन' हो गया। धर्मरूपी-तीर्थ के प्रवर्तक की सज्ञा 'तीर्थंकर' है।

जैनधर्म मे ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हुए है। इसके आदिप्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव हैं, जिन्हे आदिदेव, आदिनाथ, आदिब्रह्मा या वृषभदेव भी कहा जाता है। जैन-मान्यतानुसार ये 'अवसर्पिणी काल' के 'प्रथम तीर्थंकर' है, जिन्होने सर्वप्रथम विविध ज्ञान-विज्ञान और कलाओ की शिक्षा दी थी तथा सर्वप्रथम असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प — इन छह कलाओ का उपदेश देकर अच्छी समाज-व्यवस्था स्थापित की। ऋषभदेव का वेदो मे उल्लेख मिलता है। 'श्रीमद्भागवत' (स्कन्ध 5, अध्याय 4-6) मे तो इनका विस्तृत-जीवनवृत्त भी मिलता है। आप मनुवशी-महीपति 'नाभिराज' तथा महाराज्ञी 'मरुदेवी' के पुत्र थे। ये ही 'प्रथम-तीर्थंकर भगवान्-ऋषभदेव' कहलाये। इनके सौ पुत्र भी थे। इनमे प्रथम-चक्रवर्ती-सम्राट् 'भरत' तथा द्वितीय आदिकेवली महान्-तपस्वी 'बाहुबली' बहुत-प्रसिद्ध महापुरुष हुए है। इन्ही बाहुबली-भगवान् की विश्व-प्रसिद्ध अद्भुत-चमत्कारी 57 फुट की विशाल-मूर्ति कर्नाटक मे बैंगलोर के निकट 'श्रवणबेलगोल' नामक तीर्थस्थान के 'विन्ध्यगिरि पर्वत' पर एक हजार वर्षों से भी अधिक समय से स्थापित है।

जैनधर्म के लिए यह गौरव की बात है कि **इन्ही प्रथम-तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र 'भरत' के नाम से इस देश का नामकरण 'भारतवर्ष' इन्ही की प्रसिद्धि के कारण विख्यात हुआ।** इतना ही नही अपितु कुछ विद्वान् भी सम्भवत. इस तथ्य से अपरिचित होगे कि आर्यखण्डरूप इस भारतवर्ष का एक प्राचीन-नाम नाभिखण्ड या 'अजनाभवर्ष' भी इन्ही ऋषभदेव के पिता 'नाभिराज' के नाम से प्रसिद्ध था। ये नाभि और कोई नही, अपितु स्वायभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत के पुत्र 'नाभि' थे। नाभिराज का एक नाम 'अजनाभ' भी था। 'स्कन्दपुराण' (1/2/37/55) मे कहा है — **"हिमाद्रि-जलधरेन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम्।"** 'श्रीमद्भागवत' मे कहा है —

"अजनाभ नामैतव्द्वर्षभारतमिति यत् आरभ्य व्यपविशन्ति" — *(5/7/3)*

अर्थात् 'अजनाभवर्ष' ही आगे चलकर 'भारतवर्ष' इस सज्ञा से अभिहित हुआ।

यद्यपि आधुनिक-इतिहास की पुस्तको मे 'भारतवर्ष' — इस नामकरण की अनेक किवदंतियाँ मिलती है किन्तु उनके विशेष शास्त्रीय-प्रमाण उपलब्ध नही होते, जबकि पूर्वोक्त ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र 'भरत' के नाम से प्रसिद्धि के अनेक ऐतिहासिक-प्रमाण वैदिक-पुराणो मे मिलते है। जैन-पुराणो का अध्ययन तो मेरा कम ही है, इसलिये उनके प्रमाण खोजना तो मेरे लिए इस समय कठिन है, किन्तु वैदिक-पुराणो मे सम्बन्धित कुछ तथ्यो के उल्लेख मिलते है, उन्हें यहाँ प्रस्तुत करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

'श्रीमद्भागवत्' मे कहा है कि महायोगी भरत, ऋषभ के सौ पुत्रो मे से ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ थे और उन्ही के नाम से यह देश 'भारतवर्ष' कहलाया —

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्।
येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति॥

— (*श्रीमद्भागवत्, 5/4/9*)

'श्रीमद्भागवत' मे एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य इसप्रकार उल्लिखित है —

तेषा वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातवर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥

— (*11/2/17*)

'अग्निपुराण' (10/10 11) मे कहा है —

जरामृत्युभय नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्,
नाधर्म मध्यम तुल्या हिमदेशात्तु नाभितः।
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्॥
ऋषभोऽदात् श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरि गतः।
भरताद् भारत वर्षं भरतात् सुगतिस्त्वभूत्॥

'मार्कण्डेयपुराण' (50/39-42) मे कहा है — "स्वाम्भुव मनु के पुत्र आग्नीध्र-आग्नीध्र के पुत्र नाभि, नाभि के पुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भरत थे, जिनके नाम पर इस देश का नामकरण 'भारतवर्ष' हुआ —

आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् द्विज.।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वर·॥
सोऽभिषिञ्च्यर्षभः पुत्र महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम-सश्रय·॥
हिमाह्व दक्षिण वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारत वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥

इसीतरह के अनेक प्रमाण 'ब्रह्माण्डपुराण' (पूर्व 2/14), 'वायुपुराण' (पूर्वार्ध 30/50-53), 'नारदपुराण' (पूर्वखण्ड 48/5-6), 'लिगपुराण' (57/98-23), 'शिवपुराण' (37/57), 'मत्स्यपुराण' (114/5-6) — इन पुराणों मे द्रष्टव्य होने से महत्त्वपूर्ण है। अन्वेषण करने पर और भी इसके प्रमाण मिल सकते हैं। इसीप्रकार 'स्कन्धपुराण' के माहेश्वर-खण्डस्थ 'कौमारखण्ड' (37/57) मे भी कहा है —

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते॥

जैन तथा अन्य पुराणो मे भी इसीतरह के प्रमाण हो सकते है, किन्तु नवी शती के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन ने अपने 'महापुराण' (17/76) मे जो कहा है, उसे उद्धृत करना आवश्यक है —

ततोऽभिषिंच्य साम्राज्ये भरत सूनुमग्रिमम्।
भगवान् भारत वर्षं तत्सनाथ व्यधादिदम्॥

इसतरह के प्रमाणों के आधार पर अब उन लोगों की आँखें खुल जानी चाहिए, अर्थात् वे भ्रान्तियाँ मिट जानी चाहिए, जो दुष्यन्तपुत्र भरत या अन्य को इस देश के नामकरण से सम्बद्ध करते है। तथा विद्यालयों, कॉलेजों के पाठ्यक्रम में निर्धारित इतिहास की पुस्तको मे भी इससे सबंधित भ्रमो का संशोधन करके इतिहास की सच्चाईयो से अवगत कराना बहुत आवश्यक है। 'पुराण विमर्श' नामक अपने बहुप्रसिद्ध-ग्रन्थ के सप्तम-परिच्छेद (प्र चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी) मे मैने इन्ही सब प्रमाणो के अध्ययन के बाद लिखा भी था कि — 'प्राचीन निरुक्ति के अनुसार 'स्वायम्भुव मनु' के पुत्र थे 'प्रियव्रत', जिनके पुत्र थे 'नाभि'। 'नाभि' के पुत्र थे 'वृषभ', जिनके एकशतपुत्रो मे से ज्येष्ठपुत्र 'भरत' ने पिता का राजसिहासन प्राप्त किया और इन्ही राजा भरत के नाम पर यह देश 'अजनाभवर्ष' से परिवर्तित होकर 'भारतवर्ष' कहलाने लगा। **जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते है, वे परम्परा-विरोधी होने से अप्रामाणिक है।**

1 सितम्बर 1993 मे वाराणसी के 'श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन सस्थान' मे एक व्याख्यानमाला का मैने उद्घाटन करते हुए इस देश का प्राचीन नाम 'अजनाभवर्ष' का सम्बन्ध प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पिता नाभिराज के नाम पर तथा ऋषभ के ज्येष्ठपुत्र भरत के नाम पर 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध होने की बात कही, तो वहाँ उपस्थित अनेक उन जैनधर्मावलम्बियो तक को बहुत आश्चर्य हुआ था, जो इन तथ्यो से अपरिचित थे।

प्रथम-तीर्थकर ऋषभ के बाद तेईस तीर्थंकर और हुए। इसतरह जैनधर्म मे चौबीस तीर्थंकरो की एक लम्बी परम्परा इसप्रकार है — 1 ऋषभदेव, 2 अजितनाथ, 3 सभवनाथ, 4 अभिनन्दन, 5 सुमतिनाथ, 6 पद्मप्रभ, 7 सुपार्श्वनाथ, 8 चन्द्रप्रभ, 9 पुष्पदन्त, 10. शीतलनाथ, 11 श्रेयासनाथ, 12 वासुपूज्य, 13. विमलनाथ, 14 अनन्तनाथ, 15. धर्मनाथ, 16 शान्तिनाथ, 17 कुन्थुनाथ, 18 अर्हनाथ, 19 मल्लिनाथ, 20 मुनिसुव्रत, 21 नमिनाथ, 22. नेमिनाथ, 23 पार्श्वनाथ तथा 24. महावीर।

इन सभी तीर्थकरो के विषय मे एक बात विशेष उल्लेखनीय है, वह यह कि **ये सभी तीर्थंकर 'क्षत्रिय' थे।** इनमे सप्तम सुपार्श्वनाथ, अष्टम चन्द्रप्रभ, ग्यारहवे श्रेयासनाथ और तेइसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ — इन चार तीर्थंकरो की जन्मभूमि का गौरव 'वाराणसी' नगरी को है। ऋषभ के बाद ऐतिहासिक तीर्थंकरो मे जिनकी अधिक प्रसिद्धि है — उनमे नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एव चौबीसवे तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान हैं। इन सबका परिचय तद्-विषयक-साहित्य मे द्रष्टव्य है। ❖❖

ध्यानरत-साधु

"ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददाति दीक्षादिकञ्च शिष्याणाम्।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः॥"

— (क्रियाकलाप ॥5॥, पृष्ठ 143)

अर्थ *— जो मुनि न व्याख्यान देते है, न ही शास्त्र-रचना करते है, और न ही शिष्यो को दीक्षा आदि देते है; ऐसे कर्मों के विनाश मे समर्थ ध्यानलीन (ज्ञानध्यानतपोरक्त) पुरुषो को 'साधु' जानना चाहिये।* ❖❖

विश्व-इतिहास और भूगोल के लिये जैन-साहित्य की महत्ता

✍ बाबू कामताप्रसाद जैन

जैन-तीर्थंकर सर्वज्ञ थे, और उनके प्रतिपादन सर्वज्ञत्व के अनुरूप ही थे। हम कूपमडूक की भाँति अल्पज्ञ रहकर उनके इतिहास और भूगोल-सम्बन्धी प्रतिपादनो की सत्यता और तथ्यपरकता को नही समझ पाये। जैनधर्म भी सयोग से आज मात्र मंदिर मे बैठकर पूजा-पाठ करने तक सीमित रहनेवाले श्रद्धालुओ मे सिमटकर रह गया है, अत: सर्वज्ञ के वचनो का व्यापक-परिदृश्य मे चितन, अध्ययन और अनुसधान जैनो मे नही होता है। एक व्याक-दृष्टिकोण के धनी गहन-अध्येता गवेषी-विद्वान् की लेखनी से प्रसूत यह आलेख हमे जैन-इतिहास और भूगोल के बारे मे अनेको महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु एव दिशाबोध प्रदान करता है। — **सम्पादक**

विश्व-इतिहास से अधुना मानव-जाति का इस कल्पकाजीन-इतिहास अभिप्रेत है, और मानव जहाँ-जहाँ रहा, वहाँ का विवरण विश्वभूगोल का स्थापक है। इन दोनो विषयो मे आधुनिक-विद्वानो की शोध-प्रक्रिया अभी परिपूर्णता का दावा नही कर सकती। विद्वानो ने जैसी जो शोध की, वैसी ही उन्होने अपनी धारणाये बनायी। एक समय पाश्चात्य-विद्वानो को ही शोध-क्रिया का सारा श्रेय प्राप्त था, वे ही उस दिशा मे एकमात्र कार्य करनेवाले पडित थे; परन्तु अब समय बदला है। भारत मे भी शोध और अन्वेषण-कार्य को वैज्ञानिक-रीति से करनेवाले विद्वान् और सस्थाये दिखती है। वे ऐतिहासिक-अन्वेषण के लिये सच्चे-हृदय से उद्योगशील है। किन्तु वे पाश्चात्य-विद्वानो की प्रणाली को ही अपनाये हुये है — यह ठीक नही है। पाश्चात्य-विद्वानो का दृष्टिकोण हमसे भिन्न है। पाश्चात्य-जगत् का इतिहास और भूगोल भारत के इतिहास और भूगोल से समता नही रखता।

पाश्चात्य-विद्वानो ने पहले-पहल विश्व-इतिहास का निर्माण 'बाईबिल' के आधार से किया था, जिसके अनुसार सर्वप्रथम मानव 'आदम' की उत्पत्ति ईसा से 4004 वर्ष-पूर्व प्रमाणित है। उस समय उनकी यह दृढ़-धारणा थी, कि उन्हे मानव का इतिहास आदि से लेकर तब तक का पूर्ण-ज्ञात है, किन्तु इसके उपरान्त भूगर्भ-विद्या, पुरातत्त्व-विद्या आदि विषयो की खोज हुई, और उनसे मानव-इतिहास की प्राचीनता 4004 ई पूर्व से भी प्राचीन सिद्ध हुई। आज ईसा से हजारो वर्षों पहले की घटनाओ का उल्लेख इतिहासकार करते है। मिस्र देश के गुम्मट (Pyramids) जहाँ एक ओर ईसा से पाँच हजार वर्ष पहले बने घोषित किये जाते है, वहाँ दूसरी ओर शाल्डिया (Chaldea) और मैसोपोटामिया के सास्कृतिक ध्वशावशेष छह-सात हजार वर्ष ईस्वी-पूर्व के बताये जाते हैं। आज भारतवर्ष मे मोहनजोदडो, हडप्पा और चन्द्रदल्ली से उपलब्ध हुआ पुरातत्त्व भी ईस्वीपूर्व पाँच-छह हजार वर्षों जितना प्राचीन घोषित किया गया है। ऐसी सूरत मे पाश्चात्य-विद्वानो के मत को सर्वथा-निर्भ्रान्त मानकर उसके आधार से शोधकार्य का परिचालन करना खतरे से खाली नही कहा जा सकता। पाश्चात्य-विद्वानो की विचार-सरणी मे बहकर हमे भारतीय-मान्यताओ और अनुश्रुतियो को ठुकरा नही देना चाहिये।

भारतीय-साहित्य मे पुराणगत-साहित्य एक सीमा तक इतिहास की कोटि मे आता है। कौटिल्य के

'अर्थशास्त्र' में पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का समावेश इतिहास मे ही किया गया है। ('पुराणेतिवृत्तमाख्यायिकोदाहरण धर्म्मशास्त्रमर्थशास्त्र चेतिहास:।') किन्तु भारतीय-विद्वानों ने पुराणों की कथाओ और धर्म्मशास्त्रो की बातो को उतना महत्त्व नही दिया है, जितना कि देना चाहिये। स्व के पी जायसवालजी सदृश इने-गिने ही भारतीय-विद्वान् हैं, जिन्होने भारतीय-पुराणो को महत्त्व दिया है। यह सच है कि हिन्दू-पुराणो मे विशुद्ध-इतिहास ही सर्वथा नही है, उसमे अधिकाश रूपक अलकृत-भाषा के है, जिनसे अद्भुत-घटनाओ और देवी-देवताओ का सृजन हुआ है। फिर भी, भारतीय-इतिहासकार अनेक आधारो से विश्व-इतिहास का निर्माण कर सकता है। भारतीय-साहित्य की विशेषता एक बात मे निर्विवाद है, कि उसमे कोई भी ऐसा कथानक नही मिलता, जिससे यह सिद्ध हो कि भारत मे पहले अनार्य-लोग बसते थे, और आर्य-लोग भारत में बाहर से आये। किन्तु भारतीय-विद्वान् पाश्चात्य-मान्यता को ही श्रेय देते है। प्रस्तुत लेख मे जैन-साहित्य की महत्ता विश्व-इतिहास के अध्ययन मे द्रष्टव्य है।

निस्सन्देह जैन-साहित्य वैदिक-साहित्य से विलक्षण है। जैन-पुराणवार्ता इतिहास के अतिनिकट हैं। जैन-पुराणों मे अलकृत (Pictographic) भाषा मे लिखित रूपकों का अभाव है। उनमे आर्य-जगत् के महापुरुषो का वर्णन ओत-प्रोत है, अथवा कर्म-सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये विश्वसनीय-दृष्टान्तो का समावेश है। यदि हम अनेक आधार से विश्व-इतिहास का सकलन करने बैठे, तो आधुनिक-ऐतिहासिक मान्यता का प्रतिरूप-सा ही उनमे मिलेगा। जैनअग-साहित्य मे इतिहास और पुराण का समावेश है, और वह अग-साहित्य स्वय भगवान् महावीर द्वारा ही निरूपित हुआ था। जैनपुराण उस अग-साहित्य के आधार से ही रचे गये हैं। अतएव उनकी आधार-परम्परा स्वय भगवान् महावीर के समय से ही मानना उपयुक्त है। उनको परवर्तीकाल की स्वतन्त्र-रचना मानना भूल-भरा है। प्रत्येक जैन-पुराणकार ने अपनी कथा-वार्ता का मूल-स्रोत भगवान् महावीर को बताया है, और अपने पूर्वज-पुराणकारो का भी उल्लेख किया है। ऐसी सूरत में जैनपुराणगत-कथावार्ता का आधार ईस्वी-पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी मे प्रचलित-परम्परा ही माननी पडती है। खेद है, जैनो ने साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक-खोज के लिये कोई भी सगठित-उद्योग नही किया है। सब जैनपुराण और कथाग्रन्थ अभी प्रकाश मे भी नहीं आये हैं। व्यक्तिगत-रूप मे इने-गिने विद्वानो के किये गये प्रयत्न समुद्र मे बिन्दु के समान है। अत: जैनो का यह प्रथम कर्त्तव्य है, कि वे एक सशोधक-सस्था की स्थापना करके शोध-खोज के कार्य को आगे बढाये।

यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि जैन-पुराण-साहित्य मे मानव-जाति के इतिहास-विषयक मूलतत्त्व विद्यमान है — इस कल्पकालीन-मानव की आदिकालीन-अवस्था से लेकर आज तक का इतिहास सकलित करने के लिये जैन-पुराणो मे पर्याप्त-सामग्री बिखरी पडी है। इस रूप मे ही जैन-पुराणो की महत्ता आकने मे आती है। इतिहासकारो से यह छिपा नहीं है, कि अधुना मानव-इतिहास का प्रागैतिहासिक-काल (1) पाषाणयुग, (2) ताम्रयुग, और (3) लौहयुग मे विभक्त मिलता है। इन तीनो युगो मे मानव-जीवन सभ्य और सुसस्कृत नही था — मानव प्रकृति का होकर ही जीवन-यापन कर रहा था। क्रमश: उन्नति करके मानव ने सभ्य और सुसस्कृत जीवन-यापन करना सीखा।

जैन-पुराण बताते है, कि पहले इस दक्षिण-भारत-खंड मे भोगभूमि का स्वर्णकाल था। इस क्षेत्र की

भोग-भूमियाँ मानव-सुख से बिना श्रम के कालयापन करती थी। उनके जीवन की आश्यकताये कल्पवृक्षो से पूरा हो जाया करती थी। मानव-मानवी-युगल आनन्द-विभोर हो कालक्षेप करते थे। उनके घर-सम्पत्ति नही थी, उनमे 'मेरे, 'तेरे' का भेदभाव नही था। तथा सन्तति के उत्तराधिकार का उनमे झगडा ही न था। भोग-भूमि की यह सुख-दशा क्या प्राकृतिक-जीवन (Life according to Nature) का प्रतिरूप नही है? पाषाणयुग से लौहयुग तक मानव-प्रकृति के आश्रय मे ही तो रह रहा था। उसका न अपना कुछ था, और न उसे अपनी सम्पत्ति या सन्तति की फिक्र थी।

जैन-पुराण बताते है, कि भोगभूमि की यह सुखद-दशा क्रमशः बदली। कल्पवृक्षो का लोप हुआ, मानव को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये श्रम करना आवश्यक हुआ। पसीने की कमाई से मानव को मोह होना स्वाभाविक था। 'मेरा' और 'तेरा' का भेद मानव-हृदय मे जागृत हुआ। मानव गृहस्थी माडकर बैठा, 'कुलो' मे अखण्ड मानव-समुदाय खड-खड हो बँट गया। व्यक्तिगत-सपत्ति का मालिक जो बना था, वही अब उसकी पत्नी थी, उसके बच्चे थे, उसके कुटुम्बी थे। कृषि आदि उद्यम उसने किये, कलाओ मे वह निष्णात हो गया। चौदह 'कुलकर' अथवा 'मनु' हुये, जिन्होने मानव को सभ्य-सुसस्कृत होने योग्य बनाया। आधुनिक-इतिहास भी तो यही कहता है कि आधुनिक-सभ्यता के आदि-धुरधरो ने विविध-उद्यमो और कलाओ का आविष्कार कर मानवो को सभ्यता का पाठ पढाया। पहले तीर्थंकर 'ऋषभदेव' ने मानव को कर्मभूमि के योग्य बना दिया। जैन उन्ही को सभ्यता और सस्कृति का 'आदि-सृष्टा' मानते है।

इसप्रकार जैन-पुराणो मे मानव-इतिहास के प्रारभ का विश्वसनीय-वर्णन मिलता है। जैन-मतानुसार हम प्रागैतिहासिक-काल को निम्नलिखित युगो मे विभक्त कर सकते है —

1. भोगभूमि-काल

इसमे मानव प्राकृतिक-सुखी-जीवन बिताता था। इस काल के अन्त मे मानव इस योग्य बन सका था, कि वह सभ्यता का पाठ पढ सके। पाषाण-युग से लोहयुग तक के मानव-जीवन को 'भोगभूमियुग' कहा जाये, तो अत्युक्ति नही होगी।

2. कर्मभूमि का उदयकाल

इसमे मानव ने सभ्य होकर असि-मसि-कृषि आदि कर्मों को करना सीखा, और वह श्रमपूर्वक जीवन-यापन करके सभ्य और सुसस्कृत हुआ। कर्मभूमि-काल के प्रारभिक-अश को पाँच भागो मे बाँटना ठीक दिखता है, यथा —

(1) **अहिसक-सस्कृति का अरुणोदय-काल** — जिसमे मानव ने सभ्यता और सस्कृति का पाठ पढा, और अहिसाधर्म की शिक्षा आदि-तीर्थंकर ऋषभनाथ जी से ली। यह द्रष्टव्य है कि ऋषभदेव के अहिसाधर्म का उपदेश देने के पहले ही मारीचि ने वानप्रस्थमत अहिसेतर-धर्म की घोषणा की थी। किन्तु ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत-चक्रवर्ती ने अहिसाधर्म का महत्-उत्कर्ष किया था। अधुना-इतिहासकार पूर्व-भारत मे (क) श्रमण, और (ख) ब्राह्मण — दो भिन्न विचारो का उल्लेख करते ही हैं। जैनशास्त्र सारे आर्यखड मे पहले अहिसा-सस्कृति का ही आधिपत्य हुआ बताते है।

(2) अहिंसा-सस्कृति का अभ्युवयोत्कर्ष-काल — जिसके अन्तर्गत श्री ऋषभदेव, अजित, सभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त — इन आठ तीर्थंकरो द्वारा अहिसा-सस्कृति का पूर्ण-अभ्युदय हुआ था। अहिसा का प्रयोग जीवन की प्रत्येक आवश्यकता मे सफल सिद्ध किया गया था। मानव अहिसादेवी की गोद मे सुखी रहा था। जैन-इतिहासकार विश्व-साहित्य का अध्ययन करके इस जैन-मान्यता को प्रमाणित करे, यह वाञ्वछनीय है।

(3) अहिंसा-सस्कृति का अवसान-काल — दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ के समय से अहिसा-सस्कृति के सूर्य को पाखड-रूपी राहु ने ग्रस्त कर लिया। अब तक ब्राह्मण-वर्ग ब्रह्म मे चर्य्या करता हुआ आत्मानुभूति मे आनन्द-विभोर न था। ब्राह्मण-विद्वानो ने आत्मविद्या के ज्ञान से ओत-प्रोत काव्यो को रचा। उनके काव्यो के रहस्य को जाननेवाला समुदाय तब अहिसा-सस्कृति का अनन्य-उपासक था। किन्तु शीतलनाथ जी के समय मे वह शिथिलाचार का शिकार बना। ऋषि मुगडशालायन ने परिग्रह-पोट को सिर पर उठाया — हाथी, घोडा, कन्या, सुवर्ण आदि का दान लेना उसने स्वीकार किया। अब से एक अन्य विचारधारा वह निकली, जिसमे 'आत्मा' नही, परिग्रह को — शरीर-पुष्टि और इन्द्रिय-लिप्सा को प्रमुख-स्थान मिला। यह विचारधारा ऐसी बदलती हुई कि 'आत्मा' की बात लोग भूल-से गये, धर्ममार्ग तब निर्जन-सूना-सा हुआ।

ग्यारहवे तीर्थंकर श्रेयासनाथ के तीर्थ मे हम उसकी प्रतिक्रिया हुई देखते है। श्रेयासप्रभु ने अहिसा-सस्कृति का महत्त्व मानव को यद्यपि बताया, परन्तु मानव तो वासना के मद मे मदहोश हो गया था। अभी तक वह मान और लोभ के चगुल मे उतना बुरा नही फँसा था, जैसे वह अब फँसा है। इसी समय हम सगटित-रूप मे प्रलोभन के वशवर्ती हुई मानवीय-शक्तियों मे घोर सघर्ष होना पाते है। भरत और बाहुबलि का अहिसक-युद्ध अहिसा-सस्कृति की विजय का प्रतीक था, अरुणोदयकाल मे; पर यह तो अहिसा का अवसानकाल था। इसमें अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ से हिसक-युद्धो का श्रीगणेश हुआ दिखता है। क्या वह हिसा-प्रगति का प्रतीक नही है? तारा का अपहरण हिंसक-वासना की जीत का गीत नहीं है क्या? जैन-पुराणो मे इन सबका इतिहास पढिये।

(4) हिंसक-प्रगति का काल — श्रेयासनाथ जी के पश्चात् श्रीमुनिसुव्रतनाथ जी के समय तक ऐसा मालूम होता है कि अहिसेतर विचारधारा बलवती होती गई थी। बीच मे धर्म की रक्षा करने के लिये तीन-तीर्थंकर अर्थात् शान्ति, कुन्थु और अरनाथ ने चक्रवर्तीपना भी धारण किया था। सारे लोक को दिग्विजय करके के उन्होने धर्म-साम्राज्य की स्थापना की थी, और अहिसा-सस्कृति के पुनरुद्धार का उद्योग किया था। किन्तु अहिसा और हिसा के इस सघर्ष मे आखिर तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ मे हिसा ही विजयी होकर निकली। वैदिक-ऋचाओ का कल्पित शब्दार्थ लगाया गया, और हिसक-आहुति का विधान हुआ, माँस और सुरा के बिना कोरी-कामनी का काययोग वासना की तृप्ति नही करता। परिणामत: हिसक-क्रियाकाण्ड ओर इन्द्रिय-वासनातृप्ति का बोलबाला हुआ। पर्वत और नारद का सवाद हिसा और अहिसा का सघर्ष था, शक्ति ने उसका निपटारा किया। राजा बसु मे तब शक्ति केन्द्रीभूत थी। बसु ने जबान हिलाकर हिसा को सिहासन पर बैठाया। सत्य-शील-सयम का आसन क्षमाशील पृथ्वीमाता ने अपनी छाती मे चीरकर रख दिया। उसकी प्रतिच्छाया क्षीण हुई, किंतु वह श्रमण-विचारधारा मे झलकती रही। 'महाभारत' की कथा और 'सुत्तनिपात' का

वर्णन भी तो यही बताता है, कि पहले ब्राह्मणवर्ग अहिसक-यज्ञ किया करता था, परन्तु उपरान्त वह पशुयज्ञो को करने मे सलग्न हुआ। देश मे तामसिक-पाशविकता का प्राबल्य हुआ। लोक मे मूढता फैली, भूत-प्रेतो के भय से मानव घबराया, और पशुबलि देकर उसने उनको प्रसन्न करने का स्वाग रचा। इसप्रकार पर्वत जैसे कठोर तामसी-जीवो की पाँचो उँगलियाँ घी मे हो गईं, और इससे उनको प्रतिष्ठा तो मिली ही, साथ ही उनकी वासना की तृप्ति भी हुई। इसके बाद भूतो और यक्षो के आवास-वृक्षो की भी पूजा और मान्यता होने लगी तथा वैदिक-ऋचाओ की आत्मिक-मान्यता का रहस्य दृष्टि से ओझल हो गया, उनके शब्दार्थ लगाये गये। इन्द्र, वरुण आदि देवता पूजे जाने लगे, और इसप्रकार प्रकृति की उपासना चल पडी। हिसा खिलखिला कर हँसी, पर श्रमण इससे घबराये नही। तीर्थंकर-नमि और नेमि ने पुनः अहिसा का झडा ऊँचा उठाया। उनके समयो मे कामिनी-कचन और मद्य-माँस की वासना मे लोक बहा जा रहा था। अहिसा के इन महारथियो ने समय के उस प्रवाह को एकदम न बहने दिया, वह प्रवाह तितर-बितर हुआ। पुत्र और कामिनी का मोह मानव से छूटने लगा। नेमि ने बाडे मे घिरे पशुओ मे बिलबिलाती हुई युगवर्ती घोर हिसा को देखा था। महाभारत-युद्ध मे घटित मानव के नैतिक-पतन का अन्यतम दृश्य उनकी आँखो के आगे नाचता था। मानव आत्मा का नही, अपने पार्थिव-व्यक्तित्व का पुजारी हो रहा था। द्रोण ने अपनी मान-रक्षा के लिये पाचाल के दो टुकडे कर डाले। धर्ममूर्ति युधिष्ठिर सती द्रौपदी को जुए मे दाँव पर लगा बैठे। यादव सुरा-पान मे अपने कुल का नाश कर बैठे। नेमि ने युग-प्रवाह को पलटने के लिये महान् अनुष्ठान किया। पुत्र और पत्नी ही जीवन की सार्थकता के लिये आवश्यक नही।[1]

राजुल-सी कमनीय-कामिनी के प्रेम मे वह नही फँसे। वह लोकोद्धारक जो थे। राजुल भी उनके पदचिह्नो पर चलकर लोक के लिये कल्याणकर्त्री सिद्ध हुईं। मानव-समाज मे प्रतिक्रिया जन्मी। मानव विचारशील हुआ। भारत मे उपनिषदो द्वारा आत्म-विद्या का प्रचार किया गया। भारत के बाहर भी यह प्रतिक्रिया अपना प्रभाव छोड गई। पारसी, यहूदी और यूनानी आदि भारतेतर प्राचीन-दर्शन और मत प्रारभ मे अहिसा-सस्कृति के ही पोषक थे। किन्तु उनके धार्मिक विधान अलकृत-भाषा (Pictographic Language) में उसी तरह लिखे गये थे, जैसे वेद काव्यमयी-वाणी मे गुम्फित थे। यह कोरा अनुमान नही है, बल्कि स्वय उन मतो के पूर्वजो की वैसी मान्यता थी। ईस्वी-पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी मे रचे गये 'अरिस्टियस के पत्र' (The Letter of Aristeas) मे इस रहस्यमयी-भाषा का घूघट उघाडा गया है। उसमे स्पष्ट कहा है कि सकेत-रूप मे आत्मशुद्धि की शिक्षा हमारे पूर्वजो ने दी है, और सकेतो का रहस्य भी बताया है।[2] यहूदियो के पवित्र-ग्रन्थ 'जोहर' (Zohar) मे एक अध्याय 'गुप्त रचना' (The Concealed Treatise) शीर्षक का है, और उसमे यहूदी-सकेतो का रहस्य बताया गया है। उसमे स्पष्टत. कहा है कि शब्दार्थ मे धर्मग्रथो के उपदेश और कथा-वार्त्ता को ग्रहण नही करना चाहिये।

यूनानी तत्त्वेत्ता 'सिकरो' (Cicero) ने लिखा है कि "ऐसे विद्वान् हो चुके है, जिन्होने अलकारो मे रचनाये की, कि शायद खुली भाषा मे उनके भाव को भ्रष्ट किया जाये।" (There have been those who have written allegorically, lst open speech should betry them -- *The Influence of Greek Ideas & Usages o the Christian Church p 84*) यह सब उल्लेख यही बताते है, कि प्रारभ मे आत्मज्ञान और अहिसा-सस्कार सारे

लोक में व्याप्त थे। गुरुओं ने वह सत्य विज्ञान अपनी मान्यता के लिये अथवा अन्य किसी कारण से अलकृत-भाषा मे लिखा। दुर्भाग्यवश एक समय ऐसा आया, जिसमे अलंकारों का रहस्य ओझल हो गया, और शब्दार्थ मे हिसा का विधान धर्मग्रन्थो के आधार से किया जाने लगा। वासना और पशुता इस काल मे खूब थिरकी।

(5) ज्ञान के प्रतिशोध का काल — किन्तु हिसा का भयावह-युग अधिक न चल सका। तीर्थंकर नमि-नेमि के उपदेश से प्रतिशोध की भावना लोक मे व्याप्त हो गई थी। भारत मे श्रमणो के अतिरिक्त ब्राह्मण-परम्परा ने भी क्रियाकाण्ड की सार्थकता के लये शुष्क-ज्ञान और योगविद्या को अपनाया। पशुयज्ञो के साथ ही हठयोग को प्रधानता मिली। अलकारो का सहारा लेने पर विवाद हुआ। अजातशत्रु और ऋषि वाल्मीकि, जो याज्ञवल्क्य के समकालीन थे, उनमे परस्पर जो वाद हुआ, वह कुछ ऐसा ही था। बाल्मीकि सूर्य मे आत्मा का ध्यान करना उचित समझते थे, पर अजातशत्रु सूर्य को प्रकृति का एक अग मानते थे।[3]

जनता मे जिज्ञासा और शोध की भावना बलवती है। सूर्य की उपासना भी इसी समय चली प्रतीत होती है। जैन-पुराण उसकी उत्पत्ति का प्रसग तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्व 'भव-वर्णन' में करते हैं। पार्श्वनाथ जी का जीव आनन्दकुमार राजा था, जिसने अहिसक जिन-यज्ञ किया, और सूर्यस्थित जिनबिम्ब को नमस्कार किया। कहते है, तभी से उनकी देखा-देखी जनता ने सूर्य को पूजना प्रारभ कर दिया।[4] किन्तु उसके रहस्य को जनता न समझ पायी। सूर्योपासना का प्रचार ईरानवासियो मे अधिक हुआ। ससारव्यापी 'हीलियोलिथिक कल्चर' इस उथल-पुथल के जमाने मे पैदा हुआ, और फला-फूला अनुमानित होता है। उसके द्वारा सूर्योपासना, हिसक-बलि और मदिर-निर्माण की कला को प्रोत्साहन मिला। किन्तु प्रतिशोध के जमाने मे वह अधिक चल न सका। तीर्थंकर पार्श्वनाथ, महात्मा गौतम बुद्ध, भगवान् महावीर आदि श्रमण-परम्परा के नेताओ द्वारा सत्य और अहिसा का जयनाद हुआ।

यूनान के तत्त्ववेत्ता भारत मे आये और अहिसा-सस्कृति से प्रभावित हुये। अलकारो का रहस्य उनको अपने धर्मग्रन्थो मे दृष्टिगत हुआ। जैन-श्रमण अरब, ईरान और यूनान तक विचरे थे।[5] उनके द्वारा अहिसा-सस्कृति का प्रचार उधर हुआ। परिणामत: हम देखते है, कि ईरान मे जहाँ पहले करीब 6000 ईसापूर्व मे जरस्तु प्रथम (Zoroaster-I) द्वारा हिसक-बलिदान का विधान हुआ बताया जाता है, वहाँ जरस्तु द्वितीय (Zoroaster II — B C) के उपदेश मे अहिसक-बलिदान का ही निरूपण मिलता है। यहूदियो के प्रतिशोध का फल भी अहिसक-सस्कृति के अनुरूप था, वे अलकारो का रहस्य जान गये थे। यूनान मे पाइथागोरस (Pythagoras) एव अन्य तत्त्वेत्ताओ द्वारा अहिसा-सस्कृति का ही विधान हुआ था।[6] इसप्रकार मानव-इतिहास की मूल-बातो को हम जैन-पुराणो मे बीजभूत पा लेते है। आवश्कता है सही दिशा मे वैज्ञानिक-रीति से अन्वेषण करने की। तो भी जैनसाहित्य की महत्ता आँकने के लिये यह सूत्ररूप मे विवेचन निरर्थक नही है।

राक्षस-आदि विद्याधरवंश और उनकी भौगोलिक-स्थिति

श्री रविषेणाचार्यकृत 'पद्मपुराण' मे राक्षस और वानरवशो का वर्णन मिलता है। रावण और हनुमान इन्ही राजवशो के नर-रत्न थे। 'पद्मपुराण' से स्पष्ट है कि दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के समय मे विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी के चक्रवाल नगर के राजा पूर्णधन को 'विहायोतिलक नगर' के राजा सहस्रनयन ने सम्राट् सगर की

सहायता से हरा दिया था। पूर्णधन का पुत्र मेघवाहन भागकर भगवान् अजितनाथ की शरण में पहुँचा। समवसरण मे राक्षस-देवों के इन्द्र उससे प्रसन्न हुये, और उसे लवण-समुद्र के राक्षसद्वीप का राजा बना दिया। मेघवाहन का पुत्र महारक्ष उसके पश्चात् उसके जैनमुनि हो जाने पर राजा हुआ, और उसकी सन्तान उस द्वीप पर बराबर राज्य करती रही। इन राजाओ मे एक राजा 'राक्षस' नाम का बडा पराक्रमी हुआ। उसीके कारण यह विद्याधर-वश 'राक्षस' कहलाने लगा था। राक्षस के पुत्र कीर्तिधवल को मेघपुर के विद्याधर-नरेश श्रीकठ की पुत्री ब्याही थी। एक सग्राम मे श्रीकठ अपने राज्य से हाथ धो बैठा था। इसलिये कीर्तिधवल ने उसे लका से उत्तर भाग तीन सौ योजन समुद्र के मध्य वानर-द्वीप का शासनाधिकारी बनाया। उस द्वीप मे वानर-मनुष्यो के समान क्रीडा करते थे, अर्थात् उसमें वनमानुष रहते थे। श्रीकठ ने उन वनमानुषो को पाला, और वही 'किहुकद पर्वत' पर 'किहुकद नगर' बसाया। इसके उत्तराधिकारियो मे एक अमरप्रभ राजा हुआ, जिसने अपनी ध्वजा मे 'वानर' का चिह्न रखना प्रारभ किया। इसी कारण वह 'वानरवशी' नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह लाल-मुखवाले विद्याधर-राजा थे। बीसवे तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय मे विद्याधरो मे इन्द्र नाम का राजा महापराक्रमी हुआ। इनके सब विद्याधर-राजाओ को अपने आधीन करके उन्हे सगठित बनाया, और उनका सगठन देवलोक की शाश्वतरचना के अनुरूप किया; देवो मे जितने भेद है, वे सब उसने यही विद्याधर-राजाओ मे निश्चित किये। इस अनुरूप ही सुर, असुर, नाग, यक्ष, राक्षस आदि भेद राजाओ मे मिलते है। राक्षसद्वीप अथवा लका और पाताललका का पराक्रमी राजा 'रावण' हुआ, जो अहिसाधर्म का अनुयायी था, और जिसने पशुयज्ञो का अन्त किया था। सीता-अपहरण के कारण उसकी सच्चरित्रता पर काला धब्बा लगा था। इसप्रकार यह कथा राक्षस और वानरवशी-राजाओ की उत्पत्ति उनको मानव घोषित करती है।

हिन्दू-पुराणकारो ने भी राजा इन्द्र का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार इन्द्र की राजधानी और उद्यान आदि उत्तरी-प्रदेश मे थे। वहाँ पर ही इन्द्र ने स्वर्गादि की कल्पना की थी।[7] किन्तु गलती से परवर्तीकालीन-लेखको ने इन्द्र और उसके देवनामधारी-सामन्तो को वस्तुत: देवयोनि का समझ लिया। वास्तव मे वह विद्याधर राजा थे। इस समीकरण को दृष्टि मे रखने पर जैन-शास्त्रो का विजयार्द्ध-पर्वत उत्तरी-ध्रुव मे कही पर अवस्थित अनुमानित होता है। उत्तरी-ध्रुव की जो खोज हुई है, उससे पता चला है कि किसी जमाने मे वहाँ सभ्य मनुष्य रहते थे उजडे हुये नगरो के खडहर वहाँ मिले हैं। सभवत: शीत के अधिक प्रकोप के कारण वहाँ के निवासी यूरोप और मध्य-एशिया मे आ रहे थे।[8] ससार मे एकसमय शीत के अत्यधिक प्रकोप का पता वैज्ञानिको को चला है।[9] उसी समय विद्याधर-लोग अपने नगरो को छोडकर चले आये होगे।[10] मध्य-एशिया, तुर्किस्तान और तातार-देशवासी अपने को 'काश्यप' नामक पूर्वज का वशज बतलाते है,[11] जो कि भगवान् ऋषभदेव के गोत्र का एव उग्रवश के मूल-नायक 'काश्यप' का द्योतक है। स्वय अंतिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर भी 'कश्यपगोत्री' कहे गये है।

जैन-शास्त्रो मे विजयार्द्ध-पर्वत भरत-क्षेत्र के बीच मे बतलाया है। इस पर्वत और गगा-सिन्धु नदियो से भरत-क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते है, जिसमे बीच का एक 'आर्यखड' है। भरतक्षेत्र का विस्तार $526^{6}/_{19}$ योजन है, और एक योजन 2000 कोस का माना जाता है। अत: भरत-क्षेत्र का विस्तार उपलब्ध लोक से बहुत बडा होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि भारतवर्ष को भरतक्षेत्र नही समझा जा सकता, और न भारत की

गगा, सिन्धु नदियाँ वे महागगा और महासिन्धु नाम की नदियाँ है। हाँ, भारतवर्ष सहित सब ही उपलब्ध और ज्ञात लोक का समावेश भरतक्षेत्र के आर्यखड मे हो सकता है। स्व. प गोपालदास जी बरैया भी उपलब्ध दुनिया को आर्यखड के अन्तर्गत मानते थे।[12] श्रवणबेलगोल के स्व. पंडिताचार्य जी ने आर्यखड को जिन 56 देशो मे विभक्त किया था, उनमे चीन, अरब आदि देश भी शामिल थे।[13] मध्य एशिया, अफ्रीका आदि देशो को पुराने साहित्य मे 'आर्यबीज' कहा भी गया है।[14] अतः इन सब देशो को आर्यखड के अन्तर्ग मानना ठीक है। इस अवस्था में जैन-शास्त्रो मे जिन स्थानो का वर्णन मिलता है, जैसे भरतचक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन, तो वह विश्वभूगोल का परिचय पाने के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। योग्य-विद्वानो को इस दिशा मे विशेष अध्ययन और अन्वेषण करने की आवश्यकता है।

उदाहरणरूप में राक्षसवशी-विद्याधरो के मूल-निवासस्थान राक्षसद्वीप को लीजिये भारतवर्ष अथवा मध्यएशिया मे इस नाम को कोई देश नही मिलता है। किन्तु यूनानी लेखको ने मिस्रदेश मे कतिपय ऐसे प्रदेशो का उल्लेख किया है, जिसे 'राक्षस-द्वीप' कहा जा सकता है। यूनानी-लेखक उस प्रदेश को रॉकोटिस (Rhacotis) कहते थे।[15] यूनानी भूगोलवेत्ता केडरेनस (Cedrenus) ने उसे 'रॉखास्तेन' (Rakhasten) (राक्षस्थान) कहा है। यह प्रदेश सिकन्दरिया के निकट स्थित था।[16] लिनी (Pliny) ने लिखा है कि मेसफीस (Mesphees) नामक मिस्र के एक प्राचीन राजा ने यहाँ पर दो स्तभ बनवाये थे, और उससे पहले अनेक राजाओ ने वहाँ दुर्ग वगैरह बनवाये थे।[17] यह प्रदेश अन्तरीय कुशद्वीप के किनारे पर 'त्रिशृग' अर्थात् तीनकूट वाले पर्वत से सटकर विद्यमान था।[18] जैन-शास्त्रो मे भी राक्षसद्वीप मे तीनकूटवाला 'त्रिकूटाचल' पर्वत बतलाया गया है। वहाँ पर कमलो से मडित उद्यान और वन भी बताये गये है। मिस्र के उस भाग मे जहाँ सिकन्दरिया बसी है, पुराने जमाने मे बहुत-से वन थे, जिसके कारण वह 'अटवी' कहलाता था। नील नदी का यह मुहाना गहन-वन से भरा था। यूनानी-लोग उसे अपनी देवी का पवित्र-स्थान (Sacred to the Goddess Diana) मानते थे।[19] इन सादृश्यो को देखकर यदि राक्षसद्वीप मिस्र की ओर माना जाये, तो अनुचित नही है। भारत मे तो वैसा कोई स्थान दिखता नही। हमारे लिखने का अभिप्राय यह है, कि यदि जैन-शास्त्रो के कथनो का अध्ययन तुलनात्मक-रूप मे किया जाये, तो एक नया प्रकाश विद्वत्-जगत् को प्राप्त हो। प्राचीन-भूगोल के विषय मे भी बहुत-सी नई बाते मालूम हो। विद्याधर-वश के राजाओ का सम्पर्क भारत-बाह्य देशो से रहा है, इसलिये उनके कथानको का मध्य-एशिया आदि देशो की कथाओ से तुलना करके अध्ययन करना आवश्यक है।

इक्ष्वाकु आदि वश

भारत के अवशेष मुख्य राजवशो मे कुरुवश, हरिवश, इक्ष्वाकुवश, काश्यपवश और नाथवश रहते हैं। **कुरुवश** के ही अधीश्वर 'जयसेन' प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत के सेनापति थे। वह 'मेघेश्वर' भी कहलाते थे। कुरुक्षेत्र के वह शासक थे, और उनकी राजधानी हस्तिनागपुर थी। शान्ति, कुन्थु, और अर-तीर्थंकर और चक्रवर्ती भी इस वश में हुये थे। वात्सल्यधर्म के आदर्श के सस्थापक मुनि विष्णुकुमार भी इसी वश के रत्न थे। 'महाभारत युद्ध' मे कौरव पाडवो के प्रतिपक्षी थे। साराश कुरुवश एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वशाली राजवश रहा है। इसका इतिवृत्त करके देखने की आवश्यकता है, कि विश्व-इतिहास मे उनका क्या स्थान है?

हरिवश

सभवत: कुरुवश इतना प्राचीन नही है। 'हरिवश-पुराण' में इस वश की उत्पत्ति राजा हरि द्वारा भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में हुई बताई जाती है। विद्याधर-वश का एक राजा इस देश मे आ गया था। उसका पुत्र 'हरि' हुआ, जो अपने पराक्रम के लिये प्रसिद्ध था।[20] किन्तु 'आदिपुराण मे (16/341-275) 'हरिवश' की उत्पत्ति भी भगवान् ऋषभ द्वारा हुई निर्दिष्ट है। वहाँ राजा हरिकान्त को इस वश का मूलनायक बताया है। इसी 'हरिवश' मे उपरान्त राजा यदु हुये थे, जिनसे 'यादव'-वश प्रसिद्ध हुआ। इन यादवो का जनतत्रात्मक राजसघ था, जिसका प्रत्येक सदस्य राजा कहलाता था। इन वशो के विषय मे भी विशेष अध्ययन की आवश्यकता है। विदेशो से इसका सम्पर्क रहा है।[21]

इक्ष्वाकुवश — भगवान् ऋषभनाथ का मूल 'राजवश' था। 'आदिपुराण' मे लिखा है, कि "जिस समय कल्पवृक्ष नष्ट हुये थे, उस समय भगवान् ने मनुष्यो के लिये प्रथम ही इक्षुरस ग्रहण करने का उपदेश दिया था, इसलिये लोग इन्हे 'इक्ष्वाकु' कहते थे। 'इक्षून् आकयति कथयतीति इक्ष्वाकु:' अर्थात् जो ईख लाने को कहे, उसे 'इक्ष्वाकु' कहते है।" — *(आदिपुराण सक्षिप्त, पृष्ठ 77-78)।* इस वश मे बडे-बडे पराक्रमी-राजा हुये थे। पश्चात् इसी वश से 'सूर्य' और चन्द्र' वशो की भी उत्पत्ति हुई थी। इक्ष्वाकुवशी-राजाओ के शिलालेख भी मिलते है, जिनको अध्ययन करने की जरूरत है। विदेशी 'किश' राजवशावली मे भी इक्ष्वाकु का उल्लेख मिलता है। इसे विदित होता है, कि इस वश के महापुरुषो ने विदेशो मे भी राज्य-स्थापना की थी।

काश्यपवश का ही अपर नाम 'उग्रवश' है। 'सक्षिप्त आदिपुराण' (पृ 77) मे लिखा है कि "काश्यप ने अपना नाम 'मघवा' रखा, और 'उग्रवश' का मूलनायक हुआ।" तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ भी उग्रवश के थे। उपरान्त नागवश के राजाओ का सम्पर्क उग्रवश से माना जाता है। 'उरग' या 'उग्र' नागवश के समान ही 'उइगरस्' (Uigurs) नामक जाति के लोग मध्य-एशिया मे रहते थे।[22] सभव है, यह मूलत् उग्रवश से सम्बन्धित हो। मध्य-एशिया के ये लोग अपने पूर्व का नाम 'काश्यप' ही बताते हैं।[23] ❖❖

संदर्भ-सूची

1 नेमि-निर्वाण के उपरान्त हुये ब्राह्मण-ऋषि याज्ञवल्क्य हुये। उन्होंने पुरातन वैदिक-परम्परा मे सुधार उपस्थित किया। अपने 'आत्मकास' मे उन्होने पुत्र और कामिनी के प्रेम के साथ ही परमात्म-प्रेम का समावेश किया। किन्तु श्रमण-प्रतिक्रिया बलवान थी, जिसमे आसुरी-व्यवस्था मे परमात्म-प्रेम ही सर्वोपरि माना गया।

2 Encyclos of Religion & Ethics, Vol XII, pp 143-144

3 A History of Pre-Buddhistic Indian philosophy, pp 151-152

4 आनन्दकुमार अयोध्या का इक्ष्वाकुवशी राजा था। उसीके निमित्त से 'सूर्योपासक' सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई, जैन-पुराण बताते है — (उत्तरपुराण, पार्श्वनाथ चरित्र, पृष्ठ 324, पार्श्वपुराण पृष्ठ 55 [राजा जब सूर्य-स्थित जिन-प्रतिमाओ को नमस्कार करता, तो देखादेखी प्रजा भी करती, 'समझै नही मूढ परनये, भानु-उपासक तबसौ भये।')

5 सम्राट् सम्प्रति मौर्य के समय मे इन देशो मे जैन-मुनियो का विहार हुआ था।

6- Jaina Antiquary, Vol XI, pp 14-19

7 एशियाटिक रिसर्चेज, भाग 3, पृष्ठ 52

8 'वीर', भाग 2, अक 10-11.
9 प्री-हिस्टॉरिक इंडिया, पृष्ठ 43
10 'पद्मपुराण' (पृष्ठ 52-125) पढ़ने से यही बात स्पष्ट होती है।
11 इंडियन हिस्टॉरिकल क्वारटर्ली, भाग 2, पृष्ठ 28
12 जैनहितैषी, भा 7, अक 6
13 एशियाटिक रिसर्चेज, भाग 9, पृष्ठ 282
14 हिन्दी विश्वकोष, भा 2, पृ 683-674 एव एशि रि., भा 3, पृ 88
15 एशियाटिक रिसर्चेज, भा 3, पृ. 10 व 89
16 पूर्व, पृ 183
17 पूर्व, पृ 154
18 पूर्व, पृ 97 व 164
19 वही।
20 'हरिवशपुराण' (मा च ग्र) सर्ग 15, श्लो 52-55, 0 46
21 जो 'यहूदी' लोग कहे जाते है, वे इन्ही यदुवशी-लोगो मे है। कहा जाता है कि जब तीर्थंकर नेमिनाथ ने बारह-वर्ष बाद द्वारिका के दहन की भविष्यवाणी की, और यादवकुमारो के मद्यपान से प्रेरित अमर्यादित-आचरण को उसमे निमित्त बताया, तो तीर्थंकर के वचनो पर आस्था रखनेवाले बहुत-से यदुवशी-लोग पानी के महाजो पर चढकर मध्य-एशिया और यूरोप की तरफ भाग गये थे। ये ही बाद मे 'यहूदी' कहलाये।
22 इंडियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भाग 1, पृ 460
23 वही भाग 2, पृ 28

❖❖

मंगलाचरण

'नाभेयादिजिनाधिपास्त्रिभुवनख्याताश्चतुर्विंशति.।
श्रीमन्तो भरतेश्वर-प्रभृतयो ये चक्रिणो द्वावश॥
ये विष्णु-प्रतिविष्णु-लागलधराः सप्तोत्तरा विशति-
स्त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मगलम्॥'

— (मगलाष्टकम्, पद्य 3)

अर्थ *— श्रीमान् महीपति नाभिराजा के पुत्र आदि तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव से लेकर भगवान् महावीर-पर्यंत जो तीन लोक मे विख्यात* ***चौबीस*** *जिनेन्द्र हुए है, भरत इत्यादि* ***बारह*** *चक्रवर्ती, तथा* ***सत्ताईस*** *बलभद्र और विष्णु, प्रतिविष्णु (नारायण, प्रतिनारायण) हुए है, उन तीन काल मे प्रसिद्ध* ***त्रिषष्टि****-महापुरुषो की (मै वदना करता हूँ), वे सबको मगलकारक हो।* ❖❖

भारतवर्ष का एक प्राचीन जैन-विश्वविद्यालय

✍ डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति के इतिहास का प्रामाणिक ज्ञान न होने से न तो हमे अपने अतीत का गौरवबोध हो पाता है और न ही अपनी महती-परम्परा का वास्तविक-ज्ञान ही हो पाता है। स्वनामधन्य यशःकाय मनीषी डॉ. ज्योतिप्रसाद जी जैन ने इस गहन-शोधपूर्ण-आलेख मे 'वाटग्राम' के जैन-विश्वविद्यालय, उसकी गौरवशाली-परम्परा तथा ज्ञान-विज्ञान-महासिन्धु महाज्ञानी आचार्य वीरसेनस्वामी के द्वारा उसका कुलपतित्व ग्रहण करने का जो उल्लेख इसमे है, इससे इसकी महत्ता का स्पष्टबोध हो जाता है। कदाचित् जैन-मनीषियो मे आज ऐसे गभीर इतिहास-अन्वेषक होते और ऐसे समर्पितभाव से कार्य करते, तो न जाने कितने अनजाने रहस्य आज प्रकट होते और निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति की गरिमा प्रतिष्ठित होती। — **सम्पादक**

ईस्वी सन् की आठवी शताब्दी मे भारतवर्ष ने एकसाथ तीन साम्राज्यो का उदय देखा — दक्षिणापथ मे 'राष्ट्रकूट', बिहार-बगाल मे 'पाल' और उत्तरापथ के मध्यप्रदेश (गगा के दोआबे) मे 'गुर्जर-प्रतिहार'। लगभग दो शताब्दी-पर्यन्त इन तीनो ही साम्राज्यो मे सम्पूर्ण भारतवर्ष के एकच्छत्र शासन के लिए परस्पर प्रबल-प्रतिद्वन्द्विता एव होड रही, किन्तु उक्त उद्देश्य मे तीनो मे से एक भी सफल न हो सका। तीनो की ही साथ-साथ स्वतन्त्र-सत्ता बनी रही। इतना अवश्य है कि उन तीनो मे विस्तार, शक्ति एव समृद्धि की दृष्टि से राष्ट्रकूट-साम्राज्य ही सभवतया सर्वोपरि रहा। राष्ट्रकूटो का सम्बन्ध दक्षिणापथ के अशोककालीन प्राचीन 'रट्ठिको' के साथ जोडा जाता है, और यह अनुमान किया जाता है कि छठी-सातवी शती मे इनका मूल निवास-स्थान 'वराड' या 'वरट' (आधुनिक 'बरार' और प्राचीन 'विदर्भ') देश मे स्थित 'लातूर' नामक स्थान था, जहाँ उस काल मे वे पहले 'बनवासी' के कदम्बो के और तदनन्तर 'वातापी' के प्राचीन पश्चिमीय चालुक्य-नरेशो के अतिसामान्य करद-सामन्तो के रूप मे निवास करते थे। सातवी शती के उत्तरार्ध मे उन्होने शक्ति-सवर्द्धन प्रारम्भ किया और आठवी शती के द्वितीय-पाद के प्रारम्भ के लगभग राष्ट्रकूट-राजा 'दन्तिदुर्ग' एक शक्तिशाली राज्य की नीव डालने मे सफल हुआ और आगामी 25-30 वर्षों मे वह प्राय: सम्पूर्ण दक्षिणापथ का स्वामी बन बैठा। अवश्य ही उसने अपने पूर्व प्रभुओ, वातापी के चालुक्य-सम्राटो, की उत्तरोत्तर होने वाली अवनति का पूरा लाभ उठाया, अपितु उनके प्रभुत्व का अन्त करने मे सक्रिय योग दिया और शनै -शनै. उनके सम्पूर्ण साम्राज्य को हस्तगत कर लिया। तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारियो — कृष्ण-प्रथम अकालवर्ष (756-772 ई), गोविन्द-द्वितीय (772-779 ई), ध्रुव-धारावर्ष-निरुपम श्रीवल्लभ (779-793 ई) और गोविन्द-तृतीय जगतुग प्रभूतवर्ष (793-814 ई) ने अपनी सफल आक्रामक-नीति के फलस्वरूप दन्तिदुर्ग के उक्त राष्ट्रकूट-राज्य को एक भारी-साम्राज्य के रूप मे परिणत कर दिया, जिसका कि विस्तार सुदूर-दक्षिण मे 'केरल' और 'काँची'-पर्यन्त था और उत्तर मे मालवा-पर्यन्त, उत्तर-पश्चिम दिशा मे प्राय: सम्पूर्ण गुजरात और राजस्थान के कुछ भाग उसके अग बन गये थे और पूर्व मे 'वेंगि' के पूर्वी-चालुक्य उसके करद-सामन्त बन गये थे। तदुपरान्त लगभग डेढ सौ वर्ष-पर्यन्त यह विशाल राष्ट्रकूट-साम्राज्य अपनी शक्ति, वैभव एव समृद्धि की चरमावस्था का उपयोग करता हुआ प्राय:

अक्षुण्ण बना रहा। दसवी शती के तृतीय पाद के अन्त के लगभग वह अकस्मात् धराशायी हो गया।

अढ़ाई सौ वर्ष का यह काल दक्षिणापथ के इतिहास मे 'राष्ट्रकूट-युग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने समय के इस सर्वाधिक विस्तृत, वैभवशाली एव शक्ति-सम्पन्न भारतीय-साम्राज्य के अधीश्वर इन राष्ट्रकूट-नरेशो की कीर्तिगाथा अरब-सौदागरो के द्वारा सुदूर मध्य- एशियाई देशों तक पहुँची थी, जहाँ वे 'बलहरा' (वल्लभराय) के नाम से प्रसिद्ध हुए। राष्ट्रकूटो की इस महती-सफलता का श्रेय जहाँ अनुकूल-परिस्थितियो, उनकी स्वय की महत्त्वाकाक्षा, शौर्य और राजनीतिक-पटुता को है; वहाँ उसका एक प्रमुख-कारण उनकी सामान्य-नीति भी थी। वे सुसभ्य और सुसस्कृत भी थे, साहित्य और कला के प्रश्रयदाता थे और सबसे बडी बात यह कि वे पूर्णतया सर्वधर्म-सहिष्णु थे। एलोरा के प्रख्यात गुहामन्दिरों का उत्खनन-कार्य कृष्ण-प्रथम के समय मे प्रारम्भ हुआ, जिसमे शैव, जैन और बौद्ध – तीनो ही सम्प्रदायो ने योग दिया तथा उत्खनित-गुहा-स्थापत्य के अप्रतिम-उदाहरण प्रस्तुत किये। महानगरी मान्यखेट की नीव गोविन्द-तृतीय ने ही डाल दी थी और उसके पुत्र एव उत्तराधिकारी सम्राट्-अमोघवर्ष प्रथम नृपतुग-सर्ववर्म (815 877 ई) ने उसका निर्माण करके और उसे अपनी राजधानी बनाकर उसे द्वितीय इन्द्रपुरी बना दिया था। साम्राज्य के विभिन्न भागो मे जैनादि विभिन्न-धर्मों के अनेक सुन्दर देवालय तथा धार्मिक, सास्कृतिक एव शिक्षा-सस्थान स्थापित हुए। इन धर्मायतनो एव सस्थानो के निर्माण एव सरक्षण मे स्वय इन सम्राटो ने, इनके सामन्त सरदारो और राजकीय अधिकारियो ने तथा समृद्ध प्रजाजनो ने उदार-अनुदान दिये। उस युग मे पच्चीसियो उद्भट-विद्वानो ने प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश और कन्नड की विविध-विषयक महत्त्वपूर्ण-कृतियो से भारती के भडार की प्रभूत श्रीवृद्धि की। विभिन्न-धार्मिक सम्प्रदाय साम्राज्य मे साथ-साथ फल-फूल रहे थे। उनके अनुयायी- विद्वानो मे परस्पर मौखिक वाद-विवाद भी होते थे, बहुधा स्वय सम्राट् की राजसभा मे ही, और साहित्य द्वारा भी खडन-मडन होते थे, किन्तु ये वाद-विवाद और खडन-मडन बौद्धिक स्तर से नीचे नही उतरते थे, उनमे प्राय: कटुता नही होती थी और न विद्वेष या वैमनस्य भडकाते थे। धार्मिक-अत्याचार और बलात् धर्म-परिवर्तन उस युग मे अज्ञात थे। सभी सम्प्रदाय लोकहित, जनजीवन के उत्थान और राष्ट्र के अभ्युदय मे यथाशक्ति सक्रिय-सहयोग देते थे।

उपलब्ध प्रमाणाक्षरो से स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट-साम्राज्य मे जैनधर्म की स्थिति पर्याप्त स्पृहणीय थी। उसे राज्य एव जनता, दोनो का ही प्रभूत प्रश्रय एव समादर प्राप्त था। राष्ट्रकूट-इतिहास के विशेषज्ञ **डॉ. अनन्त सदाशिव अलतेकर** के अनुसार "उस काल मे दक्षिणापथ की सम्पूर्ण जनसख्या का ही कम से कम तृतीयाश जैन-धर्मावलम्बी था। इस धर्म के अनुयायियो मे प्राय: सभी वर्णों, जातियो एव वर्गों का प्रतिनिधित्व था — उनमे राज्यवश के स्त्री-पुरुष भी थे, अनेक सामन्त-सरदार, सेनापति और दण्डनायक भी थे, ब्राह्मण, पंडित और व्यापारी एव व्यवसायी भी थे, सैनिक और कृषक भी थे, शिल्पी, कर्मकार और दलित भी थे। जैनाचार्यों ने भी इस सुयोग का लाभ उठाकर स्वधर्म को राज्य एव समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप ढालने मे और उसे सचेतन एव प्रगतिशील बनाने मे कोई कसर नही उठा रखी। फलस्वरूप जनजीवन के अभ्युत्थान में वे प्रमुख भाग लेने मे समर्थ हुए।"

डॉ अल्तेकर के मतानुसार "सार्वजनिक-शिक्षा के क्षेत्र मे तो उनका सक्रिय-योगदान सम्भवत: सर्वोपरि था, जिसका एक प्रमाण यह है कि आज भी दक्षिण-भारत मे बालको के शिक्षारम्भ के समय जब उन्हे

वर्णमाला सिखाई जाती है, तो सर्वप्रथम उन्हें **'ॐ नमः सिद्धेभ्यः'** नाम का मगल-सूत्र रटाया जाता है, न कि ब्राह्मण-परम्परा का 'श्री गणेशाय नमः'। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' विशिष्टतया जैन-मन्त्र है, हिन्दू, बौद्ध आदि अन्य धर्मों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी आधार पर **डॉ. चिन्तामणि विनायक वैद्य** ने भी यह कथन किया है कि उस युग मे सार्वजनिक-शिक्षा के क्षेत्र पर जैन-शिक्षको ने ऐसा पूर्ण एव व्यापक नियन्त्रण स्थापित कर लिया था कि जैनधर्म की अवनति के उपरान्त भी हिन्दूजन अपने बालको का शिक्षारम्भ उसी जैन-मन्त्र से कराते रहे है। वस्तुतः उत्तर-भारत के अनेक-भागो की प्राचीन-पद्धति की प्राथमिक-पाठशालाओ (चटसालो आदि) मे भी बालकों का शिक्षारम्भ उसी जैन-मन्त्र के विकृत-रूप 'ओ-ना-मा-सीधम' से होता आया है, जिसका अर्थ भी प्राय न पढनेवाले ही समझते है और न पढानेवाले ही। इसीप्रकार, जैन-व्याकरण 'कातन्त्र' का मगल-सूत्र स्वय **'सिद्धो वर्णसमाम्नाय.'** भी अपने विकृतरूप 'सरदा वरना सवा मनाया' मे आज भी पाठशालाओ मे प्रचलित पाया जाता है।

अतएव इस विषय मे सन्देह नहीं है कि उस काल मे उस प्रदेश मे ऐसे अनगिनत जैन- सस्थान थे, जो शिक्षा-केन्द्रो के रूप मे चल रहे थे और उनके कोई-कोई तो ऐसे विशाल विद्यापीठ या ज्ञानकेन्द्र थे, जिनसे ज्ञान की किरणे चतुर्दिक् प्रसरित होती थी।

प्रायः प्रत्येक वसति (जिनमदिर) से सम्बद्ध जो पाठशाला होती थी, उसमे धार्मिक एव सतोषी-वृत्ति के जैन-गृहस्थ शिक्षा देते थे, जिनमे बहुधा गृह-सेवी या गृह-त्यागी ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियाँ आदि भी होते थे। क्षुल्लक, ऐलक और निर्ग्रन्थ-मुनि भी जब-जब अपने विहार-काल मे वहाँ निवास करते, विशेषकर वर्षावास या चातुर्मास-काल मे, तो वे भी इस शिक्षण मे योग देते थे। **किन्तु जो विशाल ज्ञानपीठ होते थे, उनका नियन्त्रण एव सचालन दिग्गज निर्ग्रन्थाचार्य ही करते थे और वहाँ अपने गुरु-बन्धुओ, शिष्यो-प्रशिष्यो के वृहत्-परिवार के साथ ज्ञानाराधना करते थे।** अपनी चर्चा के नियमानुसार ये निष्परिग्रही तपस्वी दिगम्बर-मुनिजन समय-समय पर यत्र-तत्र अल्पाधिक विहार भी करते रहते थे, किन्तु स्थायी-निवास उनका प्रायः वही स्थान होता था। इन विद्यापीठो मे साहित्य-साधना के अतिरिक्त तात्त्विक, दार्शनिक एव धार्मिक ही नही, लौकिक-विषयो, यहाँ तक कि राजनीति का भी शिक्षण दिया जाता था। साधुओ के अतिरिक्त विशेष-ज्ञान के अर्थी गृहस्थ-छात्र, जिनमे बहुधा राजपुरुष भी होते थे, इस शिक्षण का लाभ उठाते थे। इन केन्द्रो मे नि शुल्क-आवास एव भोजन और सार्वजनिक-चिकित्सा की भी बहुधा व्यवस्था रहती थी।

राष्ट्रकूट-काल और साम्राज्य के प्रमुख-ज्ञानपीठो मे सभवतया सर्वमहान् 'वाटग्राम' का ज्ञानकेन्द्र था। 'वराड प्रदेश' (बरार) मे तत्कालीन नासिक-देश (प्रान्त) के 'वाटनगर' नामक विषय (जिले) का मुख्य-स्थान यह वाटग्राम, वाटग्रामपुर या वाटनगर था, जिसकी पहचान वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के नासिक जिले के 'डिडोरी' तालुके मे स्थित 'वानी' नामक ग्राम से की गई है। नासिक नगर से पाँच मील उत्तर की ओर 'सतमाला' अपरनाम 'चन्दोर' नाम की पहाडीमाला है, जिसकी एक पहाडी पर 'चाम्भार-लेण' नाम से प्रसिद्ध एक प्राचीन उत्खनित जैन-गुफा-श्रेणी है। यह अनुमान किया जाता है कि प्राचीनकाल मे ये गुफाये जैन-मुनियो के निवास के उपयोग मे आती थी। इस पहाड़ी के उस पार ही 'वानी' नाम का गाँव बसा हुआ है, जहाँ कि उक्त काल

मे उपरोक्त 'वाटनगर' बसा हुआ था। बहुसख्यक गुफाओ के इस सिलसिले को देखकर यह सहज ही अनुमान होता है कि यहाँ किसी समय एक महान् जैन-सस्थान रहा होगा। वस्तुत. राष्ट्रकूट-युग मे रहा ही था। उस समय इस सस्थान के केन्द्रीय-भाग मे अष्टम-तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का एक मनोरम-चैत्यालय भी स्थित था, जिसके सम्बन्ध मे उस काल मे भी यह किवदन्ती प्रचलित थी कि 'वह आणतेन्द्र द्वारा निर्मापित है।' यह पुनीत-चैत्यालय ही सभवतया सस्थान के कुलपति का आवास-स्थल था।

'वाटनगर' के इस ज्ञानपीठ की स्थापना का श्रेय सभवतया 'पचस्तूप-निकाय' (जो कालान्तर मे 'सेनसघ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के दिगम्बराचार्यों को ही है। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आसपास हस्तिनापुर, मथुरा अथवा किसी अन्य स्थान के प्राचीन पाँच जैन- स्तूपो से सबधित होने के कारण मुनियो की यह शाखा 'पञ्चस्तूपान्वय' कहलाई। पाँचवी शती ई मे इसी स्तूपान्वय के एक प्रसिद्ध आचार्य गुहनन्दि ने वाराणसी से बगाल-देशस्थ 'पहाडपुर' की ओर विहार किया था, जहाँ उनके शिष्य-प्रशिष्यो ने 'बटगोहाली' का प्रसिद्ध सस्थान स्थापित किया था। छठी शती मे इसी अन्वय के एक **आचार्य वृषभनन्दि** की शिष्य-परम्परा मे सातवी शती के उत्तरार्ध में सभवतया **श्रीसेन** नाम के एक आचार्य हुए और सभवतया इन श्रीसेन के शिष्य **चन्द्रसेनाचार्य** थे, जिन्होने आठवी शती ई के प्रथम पाद के लगभग राष्ट्रकूटो के सम्भावित उत्कर्ष को लक्ष्य करके वाटनगर की बस्ती के बाहर स्थित 'चदोर पर्वतमाला' की इन चाम्भार-लेणो मे उपरोक्त ज्ञानपीठ की स्थापना की थी। सम्पूर्ण नासिक्य-क्षेत्र तीर्थंकर-चन्द्रप्रभु से सबधित तीर्थक्षेत्र माना जाता था और इस स्थान मे तो स्वय धवलवर्ण चन्द्रप्रभु का तथाकथित आणतेन्द्र-निर्मित धवल-भवन विद्यमान था। 'गजपन्था' और 'मागी-तुगी' के प्रसिद्ध प्राचीन जैनतीर्थ भी निकट थे, 'एलाउर' या 'ऐलपुर' (एलौरा) का शैव-सस्थान और 'कन्हेरी' का बौद्ध-सस्थान भी दूर नही। राष्ट्रकूटो की प्रधान सैनिक-छावनी भी कुछ हटकर उसी प्रदेश के 'मयूरखडी' नामक दुर्ग मे थी और तत्कालीन राजधानी 'सूलुभजन' (सोरभज) भी नातिदूर थी। इसप्रकार यह स्थान निर्जन और प्राकृतिक भी था, प्राचीन पवित्र-परम्पराओ से युक्त था, राजधानी आदि के झमेले से दूर भी, किन्तु शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से उसके प्रभावक्षेत्र मे ही था। अच्छी बस्ती के नैकट्य से प्राप्त-सुविधाओ का भी लाभ था और उसके शोरगुल से असम्पृक्त भी रह सकता था। एक महत्त्वपूर्ण ज्ञानकेन्द्र के लिए यह आदर्श-स्थिति थी।

चन्द्रसेनाचार्य के पश्चात् उनके प्रधान-शिष्य **आर्यनन्दि** ने सस्थान को विकसित किया। सभवतया इन दोनो ही गुरु-शिष्यो की यह आकाक्षा थी कि यह सस्थान एक विशाल ज्ञानकेन्द्र बने और इसमे 'षट्खडागम' आदि आगमग्रन्थो पर विशेषरूप से कार्य किया जाये। सयोग से आर्यनन्दि को वीरसेन के रूप मे ऐसे प्रतिभासम्पन्न सुयोग्य-शिष्य की प्राप्ति हुई, जिसके द्वारा उन्हे अपनी चिराभिलाषा फलवती होती दीख पडी। वीरसेन, जो सम्भवतया स्वय राजकुलोत्पन्न थे और यह सभावना है कि राजस्थान के सुप्रसिद्ध चित्तौडगढ के मोरी (मौर्य) राजा धवलप्पदेव के कनिष्ठ-पुत्र थे, गुरु की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए सन्नद्ध हो गये। गुरु की प्रेरणा से वह आगमो के विशिष्ट-ज्ञानी एलाचार्य की सेवा मे पहुँचे, जो उस समय चित्रकूटपुर (उपरोक्त चितौड) मे ही निवास करते थे, और उनके समीप उन्होने 'कम्मपयडिपाहुड' आदि आगमो का गभीर-अध्ययन किया। तदनन्तर वह अपने 'वाटनगर' के सस्थान मे वापस आये और आठवी शती ई. के मध्य के लगभग गुरु के निधनोपरान्त उक्त सस्थान के अध्यक्ष या कुलपति बने और आगमों की अपनी विशाल टीकाओ के निर्माण-कार्य

मे एकनिष्ठ होकर जुट गये।

स्वामी **वीरसेन को प्राकृत और सस्कृत उभय-भाषाओं पर पूर्ण-अधिकार था** तथा सिद्धान्त, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष और प्रमाण-शास्त्रो मे वह परम-निष्णात थे। उनके शिष्य जिनसेन ने उनके लिए 'कवि-चक्रवर्ती' विशेषण भी प्रयुक्त किया है। वीरसेन अपने समय के सर्वोपरि 'पुस्तक-शिष्य' समझे जाते थे, जिसका अर्थ है कि उन्होने उस समय उपलब्ध प्राय: समस्त साहित्य पढ डाला था। यह तथ्य उनकी कृतियो मे उपलब्ध अनगिनत-सदर्भ-सकेतो एव उद्धरणो से भी स्पष्ट है। इन आचार्यपुगव ने जो विशाल साहित्य-सृजन किया, उसमे 'षट्खण्डागम' के प्रथम पाँच-खण्डो पर निर्मित 'धवला' नाम की 72000 श्लोक परिमाण महती टीका, छठे खण्ड 'महाबन्ध' का 30000 श्लोक-परिमाण सटिप्पण-सम्पादन 'महाधवल' के रूप मे, 'कसाय-पाहुड' की 'जयधवल' नाम्नी टीका का लगभग तृतीयाश जो लगभग 26500 श्लोक-परिमाण है, 'सिद्ध-भूपद्धति' नाम का गणित-शास्त्र तथा दूसरी शती ई के यतिवृषभाचार्यकृत 'तिलोयपण्णत्ति' का किसी जीर्ण-शीर्ण प्राचीन-प्रति पर से उद्धार करके बनाया उसका अन्तिम-सस्करण तो है ही, अन्य कोई रचना भी रही हो, तो इसका अभी पता नही चला। इसमे सन्देह नही कि उन्होने अपने सस्थान मे एक अत्यन्त समृद्ध ग्रन्थ-भडार का सग्रह किया होगा। लेखन के लिए टनो ताडपत्र तथा अन्य लेखन-सामग्री की आवश्यकता-पूर्ति के लिए भी वहाँ इन वस्तुओ का एक अच्छा बडा कारखाना होगा।

अपने कार्य मे तथा सस्थान की अन्य गतिविधियो मे योग देनेवाले उनके दर्जनो सहायक और सहयोगी भी होगे। उनके सधर्मा के रूप मे जयसेन का और प्रमुख-शिष्यो के रूप मे दशरथ गुरु, श्रीपाल, विनयसेन, पद्मसेन, देवसेन और जिनसेन के नाम तो प्राप्त होते ही है। अन्य समकालीन विद्वानो में उनके दीक्षागुरु **आर्यनन्दि** और विद्यागुरु **एलाचार्य** के अतिरिक्त दक्षिणापथ मे गगनरेश **श्रीपुरुप मुत्तरस शत्रुभयकर** (726 776 ई) द्वारा समादृत था। निर्गुंडराज के राजनीति-विद्यागुरु विमलचन्द्र, राष्ट्रकूट-कृष्ण-प्रथम की सभा मे वाद-विजय करनेवाले परवादिमल्ल अकलकदेव के प्रथम टीकाकार अनन्तवीर्य-प्रथम, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-अष्टसहस्री आदि के कर्त्ता स्वामी विद्यानन्दि, हरिवशपुराणकार जिनसेनसूरि, रामायण आदि के रचयिता अपभ्रश के महाकवि स्वयभू आदि उल्लेखनीय है। चित्तौड-निवासी महान् श्वेताम्बराचार्य याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि भी इनके समकालीन थे। भट्टाकलकदेव को अपनी बाल्यावस्था मे स्वामी वीरसेन ने देखा-सुना हो सकता है, उनका स्मरण वीरसेन 'पूज्यपाद' नाम से करते थे। स्वामी वीरसेन ने 'धवला' टीका की समाप्ति सन् 781 ई (विक्रम स 838) मे की थी और 793 ई के लगभग उनका स्वर्गवास हो गया प्रतीत होता है। इसमे सदेह नही है कि 'वाटनगर' मे ज्ञानकेन्द्र को स्वामी वीरसेन ने उन्नति के चरम-शिखर पर पहुँचा दिया था।

उनके पश्चात् सस्थान का कार्यभार उनके प्रिय-शिष्य जिनसेन-स्वामी ने सभाला। यह अविद्धकर्ण बाल-तपस्वी भी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न थे। 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य उनके काव्य-कौशल का उत्तम-परिचायक है। सन् 837 ई (शक स 759) मे उन्होने गुरु द्वारा अधूरे छोडे कार्य – 'जयधवल' के शेषाष को लगभग 40000 श्लोक-परिमाण पूर्ण किया। इस महाग्रन्थ का सम्पादन उनके ज्येष्ठ सधर्मा **श्रीपाल** ने किया था। ऐसा लगता है कि तदनन्तर जिनसेन ने 'महापुराण' की रचना प्रारभ की; किन्तु वह उसके आद्य 10380 श्लोक ही

रच पाये और उनमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का चरित्र भी पूरा न कर पाये कि 850 ई से कुछ पूर्व ही उनका निधन हो गया। राष्ट्रकूट-सम्राट् अमोघवर्ष-प्रथम नृपतुग (815-877 ई.) उन्हे अपना गुरु मानता था और यदा-कदा राज्यकार्य से विराम लेकर उनके तपोवन मे आकर उनके सान्निध्य मे समय व्यतीत करता था। वह स्वय भी अच्छा विद्वान् और कवि था। स्वामी जिनसेन के समकालीन विद्वानों मे उनके गुरु एव सधर्माओ के अतिरिक्त हरिवशपुराणकार जिनसेनसूरि, स्वामि विद्यानन्द, अनन्तवीर्य द्वितीय, अर्ककीर्ति, विजयकीर्ति, स्वयभूपुत्र कवि त्रिभुवनस्वयभू, शिवकोटखाचार्य, वैद्यक-शास्त्र कल्याणकारक के रचियता उग्रादित्य, गणितसारसग्रह के कर्त्ता महावीराचार्य और वैयाकरणी शाकटायन पाल्यकीर्ति उल्लेखनीय है। इनमे से कम से कम अन्तिम तीन को भी सम्राट् अमोघवर्ष का प्रश्रय प्राप्त हुआ था।

स्वामी जिनसेन के प्रधान-शिष्य आचार्य गुणभद्र थे, जिन्होने गुरु के अधूरे छोडे 'आदिपुराण' को सक्षेप मे पूरा किया तथा 'उत्तरपुराण' के रूप मे अन्य तेईस तीर्थंकरो का चरित्र निबद्ध किया। उन्होने 'आत्मानुशासन' और 'जिनदत्तचरित्र' की भी रचना की। कहा जाता है कि सम्राट् अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण-द्वितीय का गुरु उन्हे नियुक्त किया था। **गुणभद्राचार्य** का निधन कृष्ण-द्वितीय के राज्यकाल (878-914 ई) के प्रारम्भ मे लगभग 880 ई मे हो गया लगता है। उनके समय तक इस परम्परा के गुरुओ का ही वाटग्राम के केन्द्र से सीधा एव प्रधान-सम्बन्ध रहा और वह पूर्ववत् फलता-फूलता रहा, किन्तु गुणभद्र के प्रधान-शिष्य **लोकसेन** ने अमोघवर्ष के जैन-सेनापति **बकेयरस** के पुत्र **लोकादित्य** के प्रश्रय मे उसकी राजधानी 'बकापुर' को अपना केन्द्र बना लिया प्रतीत होता है, जहाँ उसने 898 ई मे गुरु द्वारा रचित 'उत्तरपुराण' का 'ग्रन्थविमोचन-समारोह' किया था।

हाल मे ही नासिक जिले के 'वजीरखेडा' ग्राम मे प्राप्त दो ताम्रशासनो से पता चलता है कि कृष्ण-द्वितीय के पौत्र एव उत्तराधिकारी राष्ट्रकूटवशी राजा इन्द्र-तृतीय (914-922 ई) ने अपने सिहासनारोहण के उपलक्ष्य मे, एक के द्वारा 'चन्दनापुर-पत्तन' (चन्द्र या चन्द्रपुर) की जैन-बसति की और दूसरे के द्वारा 'नेरपत्तन' (बडनगरपत्तन या वाटनगर) की जैन-बसदि को भूमि आदि का दान दिया था। ये दान द्रविडसघ वीरगण की चीर्न्नायान्वय शाखा या विर्णयान्वय शाखा वर्धमान-गुरु के शिष्य लोकभद्र को समर्पित किये गये, ऐसा लगता है कि इस काल मे इस प्रदेश मे सेनगण के गुरुओ का अभाव और द्रविडसघ का प्राबल्य हो गया था। गुणभद्र या लोकसेन के वर्धमान गुरु नामक किसी शिष्य द्रविडसघ से अपना सम्बन्ध जोड लिया हो और अपने परम्परा-गुरु वीरसेन के नाम पर 'वीरगण' स्थापना करके इस सस्थान का अधिकार अपने हाथ मे लिया हो। 'वजीरखेडा' का प्राचीन नाम भी 'वीरखेड' या 'वीरग्राम' रहा बताया जाता है, 'वडनगरपत्तन' तो 'वाटग्राम' से अभिन्न ही प्रतीत होता है, 'चन्द्रपुर' या 'चन्द्रपुर ग्राम' की कोई नवीन बस्ती पूर्वोक्त चन्द्रप्रभु-चैत्यालय के इर्द-गिर्द विकसित हो गई हो सकती है।

इसप्रकार इस महान् धर्मकेन्द्र की प्रसिद्धि, सभवतया उन देवायतनो आदि तथा कतिपय सस्थाओ की विद्यमान भी, कम से कम अगले सौ-डेढ सौ वर्ष-पर्यन्त बनी रही। सन् 1043 ई. (वि स. 1100) मे धारानगरी प्रसिद्ध महाराज भोज (1006-1050 ई.) के समय अपना अपभ्रश 'सुदर्शनचरित' पूर्ण करनेवाले आचार्य नदि ने अपने 'सकल विधि-विधान काव्य' में एक स्थान पर लिखा है कि "उत्तम एव प्रसिद्ध वराड देश के

अन्तर्गत कीर्ति लक्ष्मी सरस्वती (के सयोग) से मनोहर वाटग्राम के महान् महल शिखर (उत्तुग भवन) मे आठवे जिनेन्द्र चन्द्रप्रभु विराजते थे, वीरसेन-जिनसेन देव 'धवल, जयधवल और महाबन्ध' नाम के तीन शिव (मोक्षमार्गी) सिद्धान्त-ग्रन्थो की रचना भव्यजनो के लिए सुखदायी की थी। वही सिद्धिरमणी के हार पुडरीक कवि **धनजय** हुये थे और **स्वयभु** (कवि) ने भुवन को रजायमान किया था।"

इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि **नयनदि** ने स्वय इस साहित्यिक-तीर्थ की यात्रा की थी और उसकी स्तुति मे उपरोक्त-वाक्य लिखे थे। हमारी इस धारणा की पुष्टि भी इस कथन से हो जाती है कि महाकवि स्वयभु, जो वीरसेन के समकालीन तो थे ही और उन्ही की भाँति राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुव धारावर्ष से सम्मान प्राप्त थे, स्वय वीरसेन के गृहस्थ-शिष्य एव साहित्यिक-कार्य के सहयोग रहे थे। यह धनञ्जय भी, सभव है जिनका अपरनाम पुडरीक हो, भोजकालीन धनञ्जय (श्रुतकीर्ति) के पूर्ववर्ती है और वीरसेन के ज्येष्ठ समकालीन रहे हो सकते है, क्योकि उनकी 'नाममाला' के उद्धरण वीरसेन ने दिये है। अन्य भी अनेक न जाने कितने विद्वानो का, जिनका नाम ऊपर लिया जा चुका है अथवा नही भी लिया गया, 'वाटनगर' के इस सस्थान से प्रत्यक्ष या परोक्ष सबध रहा, कहा नही जा सकता। वह अपनी उपलब्धियो एव सक्षमताओ के कारण विद्वानो का आकर्षण-केन्द्र भी रहा होगा और प्रेरणा स्रोत भी। राष्ट्रकूट-युग के इस सर्वमहान् ज्ञानकेन्द्र एव विद्यापीठ की स्मृति भी आज लुप्त हो गई है, किन्तु इसमे सन्देह नही है कि अपने समय मे यह अपने समकालीन नालन्दा और विक्रमशिला के सुप्रसिद्ध बौद्ध-विद्यापीठो को समर्थ चुनौती देता होगा। भारत के प्राचीन विश्वविद्यालयो मे तक्षशिला, विक्रमशील और नालन्दा की ही भाँति यह 'वाटग्राम-विश्वविद्यालय' भी परिगणनीय है। ❖❖

'नेता' के लक्षण

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष. प्रियवद·।
रक्तलोक शुचिर्वाग्मी रूपवश स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मान-समन्वित ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक ॥"

— (दशरूपकम्, 2-1/2)

अर्थ *— नेता विनयवान् होता है, मधुरभाषी होता है त्यागवृत्तिवाला होता है, (अपना कार्य करने मे) निपुण होता है, प्रियवचन बोलता है, लोकप्रिय होता है, पवित्र जीवनवाला होता है, वाग्मी (वक्तृत्वकला मे निष्णात) होता है, प्रतिष्ठित-वशवाला (अर्थात् जिनके वश मे कलकित जीवन किसी का भी न हो) होता है, स्थिर-चित्तवाला होता है, युवा (कर्मठ) होता है, बुद्धि-उत्साह-स्मृतिक्षमता- प्रज्ञा-कला-सम्मान से समन्वित होता है, शूरवीर होता है, दृढमनस्वी होता है, युवा (कर्मठ) होता है, बुद्धि-उत्साह-स्मृतिक्षमता-प्रज्ञा-कला-सम्मान से समन्वित होता है, शूरवीर होता है, दृढमनस्वी होता है, तेजवान् होता है, शास्त्रचक्षु (अर्थात् शास्त्रविरुद्ध कार्य कभी भी न करनेवाला) होता है और धर्मप्राण होता है।* ❖❖

जैनधर्म का महान्-प्रचारक — सम्राट्-सम्प्रति

✍ डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

भगवान् महावीर की परम्परा मे जिनधर्मानुरागी एव जिनधर्मप्रभावक सम्राटो की भी बहुलता रही है। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य एव सम्राट् खारवेल के इस क्षेत्र मे योगदानो की चर्चा अभी तक विद्वानो मे रही है; किन्तु अशोकपौत्र सम्प्रति-प्रियदर्शी के जिनधर्मानुयायी एव जिनधर्मप्रभावक होने की प्रमाणबहुल-प्रस्तुति इस आलेख की महती विशेषता है। एक प्रतिष्ठित-गवेषी विद्वान्-लेखक के द्वारा शोधपूर्ण-शैली मे लिखा गया यह आलेख अवश्य ही विचारप्रेरक है। — **सम्पादक**

मौर्य-राजाओ मे सम्राट् चन्द्रगुप्त और सम्प्रति दोनो ही जैनधर्म के महान् प्रचारक हुये है। बौद्धधर्म के प्रचार मे जो स्थान अशोक को प्राप्त है, जैनधर्म के प्रचार और प्रसार मे वही स्थान सम्प्रति का है। सम्प्रति की जीवन-गाथा के सम्बन्ध मे हेमचन्द्र ने अपने 'परिशिष्ट-पर्व' मे लिखा है, कि बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक राज्यासीन हुआ। अशोक के लाडिले पुत्र का नाम 'कुणाल' था। सम्राट् अशोक को सर्वदा यह चिन्ता बनी रहती थी, कि कही ऐसा न हो कि विमाता तिष्यरक्षिता कुमार कुणाल के जीवन को खतरे मे डाल दे, तथा वह अपने षड्यन्त्र द्वारा अपने पुत्र को राज्याधिकारी न बना दे। अत: अशोक ने कुणाल को उज्जयिनी मे अपने भाई के सरक्षण मे रखा। जब कुणाल आठ वर्ष को हो गया, तो रक्षक-पुरुषो ने राजा अशोक को सूचना दी, कि कुमार अब विद्याध्ययन करने के योग्य हो गया है। सम्राट् अशोक इस समाचार को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ, और अपने हाथ से कुमार को विद्याध्ययन कराने का आदेशसूचक-पत्र लिखा। पत्र समाप्त करने के पश्चात् सील-मुहर करने से पहले ही अशोक किसी आवश्यक कार्य से बाहर चला गया। इधर रानी तिष्यरक्षिता वहाँ आ पहुँची, और उसने उस पत्र को पढा। पढकर अपने मनोवांछित-कार्य को पूरा करने के लिये 'कुमारो अधीयउ' के स्थान पर अपनी आँख के काजल से एक अनुस्वार बढाकर 'कुमारो अधीयउ' बना दिया। आवश्यक-कार्य से लौटकर अशोक ने पत्र बिना पढे ही बन्दकर दूत पत्रवाहक को दे दिया।

उज्जयिनी मे पत्रवाहक ने जब पत्र दिया, और उसे खोलकर पढा गया, तो वहाँ शोक छा गया। कुमार कुणाल के अभिभावक महाराज अशोक के भाई ने तत्काल समझ लिया, कि यह राजकीय-विवाद का परिणाम है। परन्तु पितृ-भक्त कुणाल ने विचार किया, कि पिता ने मुझे अन्धा होने के लिये लिखा है, यदि मै पिता की आज्ञा का पालन नही करता हूँ, तो मुझसे बडा मौर्यवश मे पातकी कौन होगा? अत. उसने आग मे गर्मकर लोहे की सलाइयो से अपनी दोनो आँखे फोड डाली, और वह स्वय सदा के लिये अन्धा बन गया। पत्रवाहक के वापस आने पर इस दु.खद समाचार ने पाटलीपुत्र मे तहलका मचा दिया। सम्राट् अशोक भी प्रिय-पुत्र के अन्धे हो जाने से बहुत दु:खी हुआ, तथा अपने प्रमाद पर उन्हे बहुत पश्चात्ताप हुआ।

अन्धा हो जाने से कुणाल का राज्य-गद्दी पर अधिकार न रहा। अशोक ने उसे जीविका सम्पन्न करने के लिये उज्जयिनी के आस-पास के कुछ गाँव दे दिये। कुणाल को कुछ दिन के पश्चात् सर्वलक्षण-सम्पन्न

एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनकर कुणाल को बहुत प्रसन्नता हुई, और उसने अपनी सौतेली माता से बदला लेने का विचार किया। कुणाल सगीत-विद्या में बहुत निपुण था, उसके सगीत की मधुर-लहर जड-चेतन सभी को आनन्द-विभोर करती थी। अतएव वह पाटलीपुत्र मे गया, और वहाँ सगीत द्वारा सारे नगर को अपने आधीन कर लिया। अन्धे गायक की प्रशसा राजमहलो तक पहुँची, राजा अशोक ने भी पर्दे की ओट से गाना सुना। कुणाल ने मधुर-कठ से अमृत उडेलते हुये कहा —

"प्रपौत्रश्चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारस्य नप्त.।
एषोऽशोकश्रिय. सूनुरन्धो याचति काकणिम्॥"

इस श्लोक को सुनकर अशोक को बडा आश्चर्य हुआ, और पर्दे की ओट से निकलकर अन्धे गायक का पूरा परिचय पूछा। जब राजा को कुणाल का पूरा-वृत्तान्त अवगत हो गया, तो उसने कहा — "पुत्र! क्या चाहता है? जो माँगेगा, दूँगा।" कुणाल ने कहा — "पिताजी। मै एक काकिनी चाहता हूँ।" मत्री ने राजा को समझाया कि राजपुत्र काकिनी से राज्य की याचना करते है। अशोक ने पुन· कुणाल से कहा कि अन्धे होकर तुम राज्य का क्या करोगे? अन्धे को राजगद्दी कैसे दी जा सकती है? कुणाल ने पुन. कहा — "पिताजी। आपकी कृपा से मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है, आप उसी का राज्याभिषेक कीजिये।"

यह सुनकर राजा अशोक ने कहा — "तुम्हारे यहाँ पुत्र कब उत्पन्न हुआ है?" कुणाल ने हाथ जोडकर कहा — "सम्प्रति" अर्थात् अभी। यह सुनकर अशोक ने बालक को धूमधाम के साथ पाटलिपुत्र मे बुलवाया, और उसका जन्मोत्सव मनाया। बालक का नाम कुणाल के उच्चारण पर 'सम्प्रति' ही रख दिया। सम्प्रति का जन्म ई.पू 304 पौषमास-जनवरी मे हुआ था। मगध मे लाये जाने पर इसकी अवस्था 10 दिन की थी। सम्प्रति का राज्याभिषेक ई पू 298 मे 15 वर्ष की अवस्था मे अक्षयतृतीया के दिन हुआ था।

ऐतिहासिक मतभेद

'विष्णुपुराण' मे अशोक का उत्तराधिकारी सुयश को जाता है।[1] 'राजतरिगणी' के अनुसार काश्मीर-प्रान्त पर अशोक का पुत्र वीरसेन गान्धार का शासक था। 'विष्णुपुराण' और 'मत्स्यपुराण' मे अशोक का पोता दशरथ बताया गया है।[2] दशरथ का पुत्र नागार्जुन पहाडी (गया के पास) की गुफा मे एक दानसूचक-अभिलेख मिला है, जिसकी लिपि के आधार पर विन्सेण्ट स्मिथ का अनुमान है, कि यही अशोक के राज्य का उत्तराधिकारी था।[3] जैकोबी ने सम्प्रति को कल्पित बताया है, अथवा इनका अनुमान है कि पूर्वीय-राज्य का 'दशरथ' उत्तराधिकारी था, और पश्चिमीय राज्य का 'सम्प्रति' रहा होगा।

'वायुपुराण' मे कुणाल का पुत्र 'बन्धुपालित' और उसका उत्तराधिकारी 'इन्द्रपालित' बताया गया है। जायसवाल यह निष्कर्ष निकालते है, कि बन्धुपालित और इन्द्रपालित क्रमश दशरथ और सम्प्रति के उपनाम थे, तथा सम्प्रति दशरथ का छोटा भाई, और उत्तराधिकारी था।[4] तारानाथ कुणाल के पुत्र का नाम 'विगताशोक' बतलाते है, सभवत· यह सम्प्रति का उपनाम हो। अशोक के शिलालेखो के आधार पर सम्प्रति का उपनाम 'प्रियदर्शिन्' भी बताया जाता है। श्री गिरनारजी की तलहटी मे 'सुदर्शन' नाम का तालाब है, जिसके पुनररुद्धार-सम्बन्धी शिलालेख का पीटर्सन साहब ने अनुवाद करते हुये कहा है, कि इस तालाब को प्रथम

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय मे विष्णुगुप्त ने बनवाया था।[5] इसके पश्चात् इसके चारो ओर की दीवारे सम्राट् अशोक के समय मे 'तुपस' नामक सत्ताधारी ने पहली बार सुधरवायी थी। तत्पश्चात् दूसरी बार पुनरुद्धार प्रियदर्शिन् के समय मे हुआ। इस कथन मे (1) चन्द्रगुप्त, (2) अशोक और (3) प्रियदर्शिन — इन तीन शासको के नाम आये है। पीटर्सन साहब ने प्रियदर्शिन उर्फ सम्प्रति के सम्बन्ध मे शिलालेख से निष्कर्ष निकाला है, कि "उस राजवशी-पुरुष की जन्मकाल से लेकर उत्तरोत्तर अप्रतिहत-समृद्धि निरन्तर बढती ही चली गयी।"

ऐतिहासिक प्रमाण

(1) प्रो. रा.गो. भण्डारकर का कथन है कि राजा सम्प्रति को केवल 10 दिन की अवस्था मे गद्दी पर बैठाया गया था।[6]

(2) मगध के सिहासन पर श्रेणिक के पश्चात् सत्रहवाँ राजा 'सम्प्रति' हुआ। उसका शासनकाल वी नि स 238 (ई.पू. 289) से आरम्भ हुआ, जब सम्राट् अशोक के शासन का अन्त हो रहा था।[7]

(3) कर्नल टॉड साहब 'सम्प्रति' का शासनकाल ई.पू 303-304 मे आरम्भ हुआ बताते है, तथा उनका कहना है, कि दस महीने की अवस्था मे यह गद्दी पर बैठाया गया था, और 15 वर्ष की अवस्था मे ई पू 290-289 मे इसका राज्याभिषेक हुआ था।[8]

(4) तिब्बत-देश के ग्रन्थो मे लिखा गया है कि 'सम्प्रति' बादशाह म स 235 मे सिहासनासीन हुआ था।[9]

(5) प्रो पिशल साहब की दृढ-सम्मति है कि रूपनाथ, सासाराम और बैराट के शिलालेख भी सम्प्रति के ही खुदवाये हुये है। इस अभिप्राय से प्रो रोजडेविस साहब भी सहमत है।[10]

(6) 'दिव्यावदान' के पृष्ठ 430 मे स्पष्ट लिखा हुआ है कि सम्प्रति कुणाल का पुत्र था। इस लेख मे यह बताया गया है, कि अशोक के बाद राजगद्दी पर आसीन होनेवाला प्रियदर्शिन् ही 'सम्प्रति' है। यह जैनधर्मानुयायी था। इसके अनुसार सम्प्रति का पुत्र बृहस्पति, बृहस्पति का पुत्र वृषसेन, तथा वृषसेन का पुण्यधर्मा था।[11]

(7) सम्प्रति के समय मे जैनधर्म की बुनियाद तमिल-भारत के नये राज्यो मे भी जा जमी, इसमे सन्देह नही। उत्तर-पश्चिम के अनार्य देशो मे भी सम्प्रति के समय जैन-प्रचारक भेजे गये, और वहाँ जैन-साधुओ के लिये अनेक विहार स्थापित किये गये।[12]

(8) बौद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य की कथाओ से सिद्ध होता है, कि सम्प्रति जैनधर्म का अनुयायी प्रभावक-शासक था। इसने अपने राज्य का खूब विस्तार किया था।[13]

(9) 'कल्पसूत्र' की टीका मे बताया गया है, कि 'सम्प्रति' को रथयात्रा के समय आर्य-सुहस्ति के दर्शन से जाति-स्मरण हो गया था; जिससे उसने जैनधर्म के प्रसार के लिये लिये सवा करोड जिनालय बनवाये।[14]

(10) स्मिथ साहब ने बताया है, कि 'सम्प्रति' प्राचीन-भारत मे बडा प्रभावक-शासक हुआ है। अशोक ने जिसप्रकार बौद्धधर्म का प्रचार किया था, उसीप्रकार इसने जैनधर्म प्रचार किया। धर्म-प्रचार के कार्यों की दृष्टि से चन्द्रगुप्त से भी बढकर इसका स्थान है।[15]

(11) तीन खण्डो का स्वामी परम-प्रतामी कुणाल का पुत्र महाराज 'सम्प्रति' हुआ। यह अर्हन्त-भगवान् का भक्त था। इसने अनार्य देशो मे भी जैनधर्म के प्रचारको को भेजा था, तथा जैन-मुनियो के लिये विहार बनवाये थे। आर्य-सुहस्ति से इसने जिनदीक्षा ली थी।[16]

जीवन-गाथा

सम्प्रति[17] ने अपने बाहुबल से अनेक देश-देशान्तरो को जीतकर आधीन कर लिया था। दिग्विजय के पश्चात् यह एक दिन अपने उज्जयिनी के महल के वातायन मे बैठा हुआ था। इतने मे अर्हन्त भगवान् की रथयात्रा का जुलूस निकला था, रथ के ऊपरी भाग पर आर्यमहागिरि[18] और आर्यसुहस्ति[19] थे। इन आचार्यों को देखते ही राजा के मन मे विचार आया, कि 'इन्हे मैने कभी देखा है,' इसप्रकार ऊहापोह करने पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया, और पूर्वजन्म की बाते याद आ गयी। विचारो मे तल्लीन होने से राजा को मूर्च्छा आ गयी। मन्त्रियो ने वायु-प्रक्षेप और शीतोपचारो से राजा को सचेत किया।

सावधान होकर महाराज सम्प्रति महल से नीचे आया, और अपने गुरु आर्य-सुहस्ति की तीन प्रदक्षिणा दी, तथा नमोऽस्तुकर कहने लगा — "प्रभो। क्या आप मुझे पहचानते है?" आर्य-सुहस्ति ने अपने ज्ञानबल से तत्काल ही उसके पूर्वजन्म की घटना अवगत कर ली। उन्होने कहा कि "सामायिक-व्रत के प्रभाव से तुम राजघराने मे उत्पन्न हुये हो। यद्यपि तुमने क्षुल्लक के ही व्रतो का पालन किया था, पर अहिसक-जैनधर्म के पालन करने से ऐसे तुच्छ-फलो का कोई महत्त्व नही। यह कल्याणकारी धर्म मोक्ष देनेवाला है, इससे जीव अपना सब तरह से उद्धार कर सकता है।"

सम्प्रति को गुरुवचनो पर बडी भारी श्रद्धा हुई, और उसने तत्काल जैनधर्म स्वीकार कर लिया। इसके दो वर्ष बाद उसने कलिग-देश जीता, और व्रत ग्रहण किये। सम्राट् सम्प्रति ने युवावस्था मे भारत के समस्त राजाओ को करदाता बना दिया था। अष्टक के निकट आकर सिन्धु नदी पार करने के उपरान्त अफगानिस्तान के मार्ग से ईरान, अरब और मिस्त्र आदि देशो पर अपना अधिकार किया।

इसके सम्बन्ध मे बताया गया है, कि इसने सिन्धु नदी के पार के उन सरदारो को जीतकर, जिन्हे सम्राट्-अशोक भी अपनी आधीन नही करा सका था, उनसे कर वसूल किया।[20] जिसप्रकार अजातशत्रु के आधीन 16000 करद-राज्य थे, उसीप्रकार इसके आधीन राज्यो की सख्या भी उतनी ही थी। इस तरह सम्राट् सम्प्रति जब दिग्विजय कर वापस लौटा, तो अशोक के मुँह से ये उद्गार निकले कि, "मेरे पितामह चन्द्रगुप्त तो केवल भारत के ही सम्राट् थे, किन्तु मेरा पौत्र सम्प्रति तो ससार-भर का सम्राट् है।"

मौर्य राजाओ के[21] राज्यविस्तार की यत्र से उपमा देते हुये बताया है, कि जिसप्रकार यत्र (जो) प्रारम्भ मे कुछ मोटा, उसके बाद अधिक मोटा और मध्य मे सबसे अधिक मोटा होता है, पश्चात् धीरे-धीरे घटते-घटते सूक्ष्म हो जाता है, इसीप्रकार चन्द्रगुप्त की विभूति से अधिक बिन्दुसार की विभूति, उससे अधिक अशोक की और अशोक से भी ज्यादा सम्प्रति की विभूति थी। इसके पश्चात् इस वश की विभूति उत्तरोत्तर कम होती चली गयी। इसने अपने राज्य मे सब प्रकार से अहिसा-धर्म का प्रचार करने का यत्न किया।

सम्राट्-सम्प्रति ने राज्य की सुव्यवस्था करने के लिये अपनी राजधानी 'अवन्ती'[22] (उज्जयिनी) मे

बनायी थी। राजनीतिक-दृष्टिकोण से पाटलीपुत्र में इतने बड़े साम्राज्य की राजधानी रखने से शासनसूत्र चलाने मे अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता। एक बात यह भी थी, कि प्रारम्भ से उज्जयिनी में ही सम्प्रति की शिक्षा-दीक्षा भी हुई थी, इसलिये इस स्थान से उसे विशेष-प्रेम भी था; अतः उज्जयिनी में राजधानी स्थापित कर आनन्दपूर्वक-शासन करता था। पाँच अणुव्रतों का यथार्थ-रीति से पालन करते हुये उसने अनेक धर्मकार्य किये थे।

दिग्विजय के दो वर्ष पश्चात् सम्प्रति सम्यग्दृष्टि-श्रावक बनकर सघ-सहित तीर्थयात्रा के लिये रवाना हुआ। इसने मार्ग में कुयें, धर्मशालायें, जिनमन्दिर, और अनेक दानशालायें स्थापित की थी। यह सघसहित यात्रा करता हुआ ऊर्जयन्त-गिरि (गिरनारजी) पर पहुँचा, तथा वहाँ के 'सुदर्शन' नाम के तालाब का पुनरुद्धार कराया, और शत्रुञ्जय पर जिनमन्दिरों का निर्माण कराया। इसने अपने राज्य में शिकार खेलने का पूर्ण-निषेध करवा दिया था। इसका जीवन पूर्णतया श्रावक का था। इसकी आयु सौ वर्ष की बतायी गयी है।

शिलालेख

यद्यपि वर्तमान में एक भी शिलालेख 'सम्प्रति' के नाम का नहीं माना जाता है, प्रायः उपलब्ध मौर्यवश के अधिकाश शिलालेख अशोक के नाम से प्रचलित हैं। पर ईमानदारी के साथ इन शिलालेखों का परीक्षण किया जाये, तो दो-चार अभिलेखों को छोड़, शेष सभी अभिलेख सम्प्रति के ही प्रतीत होंगे। यहाँ पर कुछ विचार-विनिमय किया जायेगा, जिससे पाठक उक्त-कथन की यथार्थता को सहज हृदयंगम कर सकेंगे।

1 पुरातत्त्व-विभाग के असि. डायरेक्टर[23] जनरल स्व. पी सी. बनर्जी लिखते हैं, कि ये सब शिलालेख, जिनमें यवन-राजाओं के नामो का अंगुलि-निर्देश किया गया है, किसी भी तरह सम्राट्-अशोक[24] (द्वितीय) के बनाये हुये नही हो सकते। अधिक सभव तो उसके पौत्र राजा सम्प्रति द्वारा बनाये जाने का है, जिसने जैनधर्म स्वीकार कर अपने पितामह का पदानुकरण करते हुये शिलालेख खुदवाये होंगे।

2 प्रो. पिशेल साहब[25] रूपनाथ, सासाराम और वैराट के शिलालेखों को अशोक के नही मानते, वे उन्हे सम्प्रति द्वारा खुदवाये बतलाते हैं।

3. पालिभाषा के अधिकारी विद्वान् प्रो. विलसन[26] साहब लिखते हैं, कि प्राणियों का वध रोकने विषयक उसके आर्डीनेंस बौद्धधर्म की अपेक्षा उसके प्रतिस्पर्धी जैनधर्म के सिद्धान्तों से अधिक मेल खाते हैं।

4. भण्डारकर महोदय लिखते हैं, कि स्तम्भ-लेख न. 3 में पाँच आस्रव बताये गये हैं। बौद्धधर्म मे तीन ही आस्रव होते हैं। हाँ जैनधर्म में पाँच आस्रव[27] माने गये हैं।

5. राधाकुमुद मुखर्जी[28] ने निष्कर्ष निकाला है कि फाहियान और युआनच्वाग नाम के दो चीनी-यात्री भारतवर्ष में आये थे, उनके किये हुये वर्णनों में इन शिलालेखों की चर्चा आवश्यक है, किन्तु यह कही भी नहीं लिखा है कि ये शिलालेख अशोक के खुदवाये हुये हैं। केवल इतनी बात लिखी है कि ये लेख प्राचीन हैं, इनमें लिखी बातें इनसे भी पहले की हैं।

6 प्रो. हुल्ट्श साहब[29] का मत है कि बौद्धमत की तत्त्वविद्या में आत्मविद्या-विषयक जो विकासक्रम

बतलाया गया है, उसमें और शिलालेखों की लिपि मे धम्मपद-विषयक जो विकासक्रम लिखा गया है, अत्यधिक अन्तर है। यह समग्र रचना ही जैनधर्म के अनुसार खोदी गयी है।

7. अशोक के सभी शिलालेख[30] सिकन्दरशाह के समय से लगभग 80 वर्ष बाद के सिद्ध होते है, और इस गणना से उनका समय ई.पू. 323 से ई पू. 243 वर्ष आता है। पर अशोक की मृत्यु ई पू 290 में हो चुकी थी, अत: ये शिलालेख अशोक के कभी नही हो सकते। इनका निर्माता जैनधर्मानुयायी सम्प्रति अपर नामक प्रियदर्शिन् ही है।

आन्तरिक परीक्षण

अशोक के शिलालेखो का आभ्यन्तरिक-परीक्षण करने पर प्रतीत होता है, कि अधिकाश शिलालेख जैन-सम्राट् प्रियदर्शिन् उपनाम सम्प्रति के हैं। विचार करने के लिये निम्न-प्रमाण उपस्थित किये जा रहे है, जिनसे पाठक यथार्थता अवगत कर सकेगे।

(1) अधिकाश शिलालेखो मे 'देवानाप्रिय[31] प्रियदर्शी' आता है। यह प्रियदर्शी न तो अशोक का उपनाम है, और न विशेषण ही था। अत: प्रियदर्शी के नाम के सभी शिलालेख सम्प्रति के हैं।

(2) जिन लेखो मे अशोक का नाम स्पष्टत. आया है, उनमे बौद्धधर्म के सिद्धान्त पाये जाते है, किन्तु जिनमे प्रियदर्शी का नाम आया है, उनमे जैनधर्म के सिद्धान्त ही वर्तमान हैं, इसी कारण कई ऐतिहासिक विद्वान् अशोक के जैनधर्मानुयायी होने की आशका करते है। वास्तव मे बात यह है कि मौर्यवश मे अकेला अशोक ही बौद्धधर्मानुयायी हुआ, शेष सभी पूर्व और परवर्ती सम्राट् जैनधर्मानुयायी ही थी।

(3) पाँचवे शिलालेख मे बताया गया है कि "इह ब्राह्मणेषु च नगरेषु सर्वेषु अवरोधनेषु भ्रातृणा च अन्ये भगिनीना एव अपि अन्ये ज्ञातिषु सर्वत्र व्यापृता:[32]" अर्थात् राजा प्रियदर्शिन् ने पाटलीपुत्र नगर एव अन्यान्य स्थानो मे अपने भाई, बहिनो को नियुक्त किया था। यदि इस कथन को अशोक के लिये माना जाये, तो अनेक दोष आयेगे। क्योंकि अशोक के सम्बन्ध मे प्रसिद्धि है कि उसने अपने एक भाई को छोड शेष सभी कुटुम्बियो को निष्कण्टक राज्य करने के लिये राज्याभिषेक से पूर्व ही मरवा डाला था, अतएव शिलालेख मे उल्लिखित उसके भाई-बहन कैसे हो सकते है? प्रियदर्शिन् के भाई, पुत्र और कुटुम्बियो के सम्बन्ध मे उल्लेख दिल्ली-टोपरा के स्तम्भलेख न 7 मे पाया जाता है। अत: प्रियदर्शिन का ही यह लेख होगा।

(4) चौथे और गयारहवे शिलालेख मे अहिसा-तत्त्व का वर्णन जैनधर्म की अपेक्षा ही किया गया है। बौद्धमत मे स्थावर जीव-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय की हिसा का त्याग कही नही बताया गया है। यदि ये शिलालेख अशोक के होते, तो सजीवतुष को जलाने का निषेध तथा वन मे आग लगाने का निषेध कभी नही किया जाता। शिलालेखो मे अहिसा का सूक्ष्म-वर्णन जैनधर्म के सिद्धान्तो के साथ ही समत्व रखता है, बौद्धधर्म के सिद्धान्तो के साथ नही।

(5) परभव के सुख के लिये लेखो में सर्व-प्राणियो की रक्षा, सयम, समाचरण और मार्दव-धर्म की शिक्षा दी

गयी है।[33] समाचरण और सयम जैनधर्म[34] के आचार के प्रमुख अग हैं, बौद्धधर्म में इन्हे महत्त्वपूर्ण-स्थान प्राप्त नही है।

(6) स्तम्भ-लेख न. 5 मे पक्षियो के वध, जलचर प्राणियो के शिकार तथा अन्य प्राणियो के वध करने का अष्टमी, चतुर्दशी और कार्तिक, फाल्गुन एव आषाढ की अष्टाह्निका तथा पर्यूषण-पर्व की पुण्यतिथियो मे निषेध किया गया है। इस निषेध से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि इन तिथियो का महत्त्व जैनो के लिये जितना है, उतना अन्य धर्मावलम्बियो के लिये नही। अतः इस आज्ञा का प्रचारक जैन ही हो सकता है। अष्टमी और चतुर्दशी को पर्व-तिथियाँ जैनो ने ही माना है, बौद्ध और वैदिको ने नही।

(7) जैनधर्म के पारिभाषिक-शब्द शिलालेखो मे इतने अधिक हैं, जिससे उनके निर्माता को बौद्ध कभी नही माना जा सकता। स्तम्भ लेख न. 6 मे पचूपगमन (प्रायुपगमन), शिलालेख न. 3 मे प्राणारम्भ (प्राण अनारम्भ), शिलालेख न 5 कल्प, शिलालेख न 12 गुति (गुप्ति) और समवाय (समवायाङ्ग), स्तम्भलेख न 2 मे सयम, भाव-शुद्धि और आस्रव, शिलालेख न 13 मे वेदनीय तथा पचम स्तम्भलेख मे जीवनिकाय और प्रोषध (प्रोषधोपवास) आदि शब्द आये है। इन शिलालेखो का निर्माता सम्प्रति उपनाम प्रियदर्शिन्[35] होना चाहिये।

(8) गिरनार के लेख न 3 मे 'स्वामिवात्सल्यता' का प्रयोग आया है। बौद्धधर्म की दृष्टि से यह बन नही सकता, क्योकि बौद्धधर्म मे भिक्षु और भिक्षुणी — इन दोनो को मिलाकर ही द्विविध-सघ होता है, पर जैनधर्म मे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका — इन चारो को मिलाने से चतुर्विध-सघ होता है अत स्वामिवात्सल्यता जैनधर्म की दृष्टि से ही बन सकती है, बौद्धधर्म की दृष्टि से नही।

(9) शिलालेख न 8 मे 'सबोधिमयाय' शब्द आया है, जिसके अर्थ मे आज तक विशेषज्ञो को सन्देह है। जैन-मान्यता मे यह साधारण शब्द है, इसका अर्थ 'सम्यक्त्व-प्राप्ति' है। कुछ लोगो ने खीचतान कर इसका अर्थ 'जिस वृक्ष के नीचे महात्मा-बुद्ध को सर्वोत्कृष्ट-ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस बोधि-वृक्ष के नीचे छाया मे जाकर' किया है, जो असगत प्रतीत होता है।

(10) सम्प्रति ने स्तम्भ बनवाये और उन पर सिह की मूर्तियाँ इसलिये अंकित करवायी, कि यह उनके आराध्य भगवान् महावीर का चिह्न है, तथा सम्यग्दृष्टि के निर्भयपने का सूचक भी है। सिह की मूर्तियाँ और चक्र 'सम्प्रति' उर्फ 'प्रियदर्शिन्' के ही है, क्योंकि इनका निकट सम्बन्ध जैन-सस्कृति से है।

शकाये

यदि अशोक का उपनाम या विशेषण 'प्रियदर्शिन्' न माना जाये, तो मक्सी के शिलालेख मे 'अशोक' शब्द स्पष्ट क्यो लिखा गया है? प्रियदर्शी बौद्धधर्म के यात्रास्थान 'लुंबिनी' और 'निग्लिवि' मे क्यो गया था? यदि वह बौद्धधर्मी न होता, तो वह वहाँ क्यो जाता? अतः 'प्रियदर्शिन्' अशोक का विशेषण उपनाम है।

समाधान

मक्सी के शिलालेख मे 'देवानांप्रिय असोकस' आया है, प्रियदर्शिन् का नाम नही आया है, अतः यह

शिलालेख अशोक का ही है। देवानांप्रिय उपाधि राजाओं के लिये उस काल में व्यवहृत होती थी, इसलिये इस शिलालेख से अशोक और प्रियदर्शी एक सिद्ध नही होते हैं। यदि इसमें देवानांप्रिय प्रियदर्शिन् अशोक, ऐसा पाठ होता, तो अवश्य अशोक का दूसरा नाम 'प्रियदर्शिन्' माना जा सकता था।

दूसरी शका का समाधान यह है, कि अशोक की मृत्यु 'सम्प्रति' के राज्याभिषेक के 19 वर्ष बाद ई.पू. 270 में हुई थी, अत: यह एक वर्ष बाद अपने पूज्य पितामह की सावत्सरिक-क्रिया करने के लिये गया होगा। दूसरी बात यह भी है कि राजा सभी धर्मों का सरक्षक तथा धर्म-सहिष्णु होता है, अत: सम्प्रति ने अन्य-स्थानो के निरीक्षण के समान उक्त धर्मस्थानो का भी निरीक्षण और दर्शन किया होगा। अत: शिलालेखों द्वारा सम्प्रति के कार्यों का अनुमानकर उसे यश मिलना चाहिये। वर्तमान मे राष्ट्रध्वज और राष्ट्रमुद्रा के लाञ्छन सम्प्रति के ही हैं, लोग उन्हे भ्रमवश अशोक के समझे बैठे है।

धर्म-प्रचार

सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार के लिये सवा लाख नवीन जैन मन्दिर, दो हजार धर्मशालाये, ग्यारह हजार वापिकाये और कुये खुदवाकर पक्के घाट बनवाये। सवा करोड जिन-बिम्बो की प्रतिष्ठा करायी, तथा छत्तीस हजार मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। 'एपीटॅम[36] ऑफ जैनिज्म' मे बताया गया है, कि सम्प्रति महान् वीर जैन-धर्मानुयायी था। इसने धर्म की वृद्धि के लिये सुदूर-देशो मे धर्म का प्रचार कराया, अनार्य-देशो मे सघ का विहार कराया, तथा अपने आधीन सभी राजाओ को जैनी बनाकर जैनधर्म के प्रचारको को सबप्रकार से सहयोग दिया।

खरतरगच्छावली मे भी सम्प्रति के कार्यों का उल्लेख करते हुये बताया गया है, कि जैन-साधुओ ब्रह्मचारी-गृहस्थो को धर्म-प्रचार के लिये राजदूत बनाकर विदेशो मे भेजा गया था। ये साधु सातवी प्रतिमा के धारी होते थे।[37]

सम्प्रति के धर्म-प्रभावना के कार्यों का निरूपण करते हुये कहा गया है, कि यह सम्राट् रथयात्रा मे साथ रहता था, तथा नानाप्रकार के पुष्पहार, तोरण, मालाओ आदि से रथ को सज्जित कर भगवान् जिनेन्द्र की सवारी गाजे-बाजे के साथ निकालता था। इसने अपने अधीनस्थ राजाओ को आदेश दिया[38] था, कि "यदि आप लोग मुझे अपना स्वामी मानते हैं, तो जैन-साधुओ का सम्मान करे, चतुर्विध-सघ का आदर करे। मुझे दण्ड द्वारा द्रव्य की आवश्यकता नही है। अपने-अपने राज्य मे अभयदान करे, अहिसा-धर्म का प्रचार एव पालनकर अपना कल्याण करे। चतुर्विध-सघ को तथा विशेषत: जैन-साधुओ को शुद्ध-आहार, पात्र तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुये दान मे दे।"

सम्राट्-सम्प्रति ने अरब, ईरान, सिहलद्वीप, रत्नद्वीप, महाराष्ट्र, कुडक्कु आदि देशो मे जैनधर्म का प्रचार करवाया था। इसके द्वारा निर्मित मन्दिरो में गुजरात और राजपूताने मे कुछ मन्दिरो के ध्वसावशेष अब भी वर्तमान हैं। कर्नल टॉड[39] ने लिखा है, कि "कमलमेर का शेष शिखर समुद्रतल से 3353 फुट ऊँचा है। यहाँ से मैने मरुक्षेत्र के बहुदूरवर्ती स्थानो का प्रान्त निश्चय कर लिया। यहाँ ऐसे कितने ही दृश्य विद्यमान हैं, जिनका समय अंकित करने मे लगभग एक मास का समय लगने की सभावना है। किन्तु हमने केवल उक्त दुर्ग और एक बहुत पुराने जैन-मन्दिर का चित्राक समाप्त करने का समय पाया था। इस मन्दिर की गठन-प्रणाली बहुत

प्राचीनकाल के समान है। मन्दिर के बीच मे केवल खिलानयुक्त ऊँची-चोटी का विग्रह-कक्ष (कमरा) है, और उसके चारों ओर स्तम्भावलि शोभित गोल-बरामदा है। यह निश्चय ही जैन-मन्दिर है।" कथन से स्पष्ट है कि यह मन्दिर ई.पू. 200 से भी पहले का है, टॉड साहब ने आगे भी इसी बात को स्वीकार किया है। अत: यह सम्प्रति का बनाया हुआ बताया जाता है।

सम्प्रति ने कई पिजरागोल पशुरक्षण के लिये खुलवाये थे। गुजरात मे इस प्रथा के शेष चिह्न आज भी वर्तमान है। इसके धर्म-प्रचार का उल्लेख श्वेताम्बर-साहित्य मे ही पाया जाता है, दिगम्बर-साहित्य मे नही। सम्प्रति ने जैन-साधुओं की धर्म-प्रचार मे सबप्रकार से सहायता की थी।[40] इसलिये राजकीय आश्रय को पाकर जैनधर्म उस काल मे खूब फैला। लोकोपकारी-कार्य भी इसने अनेक किये। आहारदान, ज्ञानदान, औषधदान और अभयदान भी इसने अपने जीवन मे खूब दिये। राजनीति मे अहिसा का प्रयोग भी खूब किया। उसने अनार्य देशो मे जैनधर्म के प्रचार के लिये सेना के योद्धाओ को साधुओ का भेष बनाकर भेजा था। अपने प्रिय जैनधर्म के प्रसार मे इसने सभी सभव-उपायो से काम लिया था।[41] ❖❖

संदर्भ-सूची

1 भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ 615
2 अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ 192
3 प्राचीन भारत, पृ 218; प्राचीन राजवश, द्वितीय भाग, पृ 134
4 भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ 616
5 भावनगर के शिलालेख, सस्कृत और प्राकृत, पृ 20
6 भाण्डारकर साहब की रिपोर्ट IV, सन् 1883-84, पृ 135
7 इंडियन ऐंटिक्वेरी पु 11, पृ 246
8 टॉड, राजस्थान, द्वितीय आवृत्ति।
9 इण्डियन ऐंटिक्वेरी, पु 32, पृ 230
10 इण्डियन ऐंटिक्वेरी, पु 6, पृ 349
11 राधा कुमुदमुकुर्जी, अशोक, पृ 8, इण्डियन ऐण्टी 1914, पृ 168, फुटनोट 67
12 भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ 616
13 Both the Buddhist and the Jain traditions about Samprati have been referred to us Cf Ray Chaudhury, op cip, p 220
14 सम्प्रति पितामहदत्तराज्यो रथयात्राप्रवृत्त श्रीआर्यसुहस्तदर्शनाजात जातिस्मृति;. जिनालयसपादकोटि. अकरोत्-कल्पसूत्र सुखबोध टीका, सूत्र 6, पृ 163
15 "Almost all ancient Jain tempes or monuments of unknown orign are ascribed by the popular voice to Samprati, who is in fact regarded as a Jaina Asoka" — (Smith Early History of India, p 202)
16. तद्वसे तु बिन्दुपारोऽशोकश्रीकुशालपूनुस्त्रिवण्डभरताधिप. परमाहतो अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहार. सम्प्रति-महाराजश्चाभवत्। — *(विविधतीर्थकल्पे पाटलीपुत्रनगरकल्प, पृ 69)*
17 परिशिष्ट पर्व, दूसरा भाग, पृ 115-124
18 श्वेताम्बर-आगम में आर्य महागिरि को दिगम्बर बताया है, तथा इन्हे आर्य सुहस्ति का भाई भी माना है।

आर्य-सुहस्ति आर्य-महागिरि की वन्दना करते थे, तथा सबप्रकार से उनका सम्मान करते थे।

19 आर्य-सुहस्ति 'अर्द्धफालक-सम्प्रदाय' के प्रवर्तक थे; क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बरो का सघ-भेद विक्रम-सवत् 139 मे हुआ था। यह अर्द्धफालक-सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बरों की मध्य की चीज था, इसीसे आगे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय निकला है। आर्य-सुहस्ति ने उज्जयिनी मे उस वर्ष चातुर्मास किया था, और चातुर्मास की समाप्ति के हर्षोपलक्ष मे ही रथयात्रा वहाँ की गयी थी।

20 नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 6, अक 1, पृ 41

21 जवमज्झमुरियवसे, दाणावणिविवणिदारसलोए।
तसजीवपडिक्कमओ पभावओ समणसघस्स।।
यथा यवो मध्यभागे पृथुल आदावन्ते च हीन एव मौर्यवशोऽपि। तथादि — चन्द्रगुप्तस्तावद् बहुलवाहनादिभिभूत्या विभूषित आसीत्। ततो बिन्दुसारो वृहत्तरस्ततोऽष्वशोकश्रीर्यहत्तमस्तत· सम्प्रति सर्वोत्कृष्ट । ततो भूयोऽपि तथैव हानिरवसातब्या एव यवमध्कल्प सम्प्रतिनृपतिरासीत्। — *(अभिधानराजेन्द्र, सप्तम-भाग, पृ 198)*

22 प्राचीन भारत, पृ. 218-219, और कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, प्रथम पुस्तक, पृ 56-172, भरतेश्वरबाहुबर्लवृत्ति।

23 इण्डियन ऐंटि 32 पर तर्क उपस्थित करते हुये उन्होने लिखा है, कि यदि ये सभी शिलालेख अशोक के होते, तउे उनमे से किसी मे भी उन्होने अपना नाम क्यो नही लिखा? प्रियदर्शिन् ने राज्याभिषेक के नौ वर्ष बाद व्रत लिये, ऐसी दशा मे उक्त वर्णन अशोक से सम्बन्ध रखता हो, तो उसने राज्याभिषेक से छ मास पूर्व और गद्दी पर बैठने के चौथे वर्ष बौद्धधर्म मे प्रवेश किया होगा। यदि दूसरा धर्म-परिवर्तन कहा जा सकता हो, तो राजा प्रियदर्शिन् ने मगल-सघयात्रा अपने राज्य के दसवे वर्ष मे की थी, जबकि मोग्गज पुत्र के नेतृत्व मे तीसरी बौद्ध-कौंसिल अशोक राज्य के सत्रहवे वर्ष मे हुई थी। इन सब कारणो से अशोक के शिलालेख नही हो सकते।

24 शिशुनागवशी कालाशोक उपनाम महापद्म को 'प्रथम अशोक' कहा जाता है। समय ई पू 454-426

25 इण्डियन ऐण्टीक्वेरी पु 7, पु. 42

26 His ordinances concerning sparing of animal life agree much more closely with the ideas of the heretical Jains than those of the Buddhists — *(ज रा ए सो 1887, पृ 275)*

27 मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग — ये पाँच आस्रव के कारण है।

28- Radha Kumood Mookerjee, p 14, F N 3 It should be noted that neither of these Chinese pilgrims (Fa-hian, Youan Chwang) has described the inscriptions they had noticed as the inscriptions of Asoka They generally describe them as belonging to and recording events of earlier times

29 कोर इन्स्क्रिप्शन् इंडि के पु 1, पृ XLVII

30 सर कनिघम् 'बुक ऑफ एंशियट इराज पृ 2

31 'देवानांप्रिय' विशेषण का उपयोग प्राय· साधु, महाराज, भक्तजन या किसी सेठ के लिये होता था। कभी-कभी पति-पत्नी भी एक-दूसरे के सम्बोधन के लिये इसका व्यवहार करते थे।— *(कल्पसूत्र की सुखबोधिनी टीका, पृ 47)*

32 अशोक-धर्म लेख, पृ 162.

33 सव भूतान अछति, सयम, समचरिय मादव च। — *(अशोक शिला-लेख 13, पृ 250)*

34 समदा समाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिंहि सम्माण समाचारो दु आचारो।। — *(मूलाचार, 123।।4।।)*

35 शिलालेख न 2 और 13 में ऐसे उद्धरण हैं, जिनमें बताया गया है कि सम्राट् प्रियदर्शिन् के शासनकाल मे ग्रीक-साम्राज्य के पाँच हिस्से हो गये थे। उनमे जो नाम बताये गये हैं, उन पाँचों के आधार पर यूरोपीय-विद्वानों ने उनका शासनकाल इसप्रकार निश्चित किया है — (1) ई पू 263-246, (2) ई पू 285-247, (3) ई पू 275-242, (4) ई नू 246, और (5) ई पू 272-254। शिलालेखो की खुदाई का समय भले ही बाद का हो, पर उपर्युक्त घटना प्रियदर्शिन् राजा द्वारा राज्याभिषेक होने के आठ वर्ष बाद कलिग जीत लेने से पहले हुई है। ऐसी दशा मे यदि अशोक और प्रियदर्शी एक ही हो, तो ई पू 325-8 मे अशोक का राज्याभिषेक होने के हिसाब से वह समय ई पू 317 होता है, और इस दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त पाँच वर्षों मे से किसी के साथ भी (राज्यशासन के आरम्भ या अन्त से) उसका क्रम नही जुडता है; बल्कि उसके विपरीत वह और 50-60 वर्ष पहले चला जाता है। इससे सिद्ध होता है, कि प्रियदर्शिन् और अशोक — ये दोनो एक नही, भिन्न व्यक्ति है। — *(ना म प भाग 16, अक 1, पृ 22-23)*

36 Samprati was a great Jain monarch and a staunch supporter of the faith He erected thousands of temples throughout the length and breadth of his vast empire and consecreted large number of images He is stated further to have sent Jain missionaries and ascetics abroad to preach Jainism in the distant countires and spraed the faith amongst the people there – *(An Empitome of Jainism, Appendex A, p v)*

37 येन सम्प्रतिना ..साधुवेषधारी-निज-किकरजनप्रेवशेन अनार्यदेशेऽपि साधुविहार कारितवान्।
— *(खरतरगच्छावलि सग्रह, पृ 7)*

38 जति म जाणह सामि, समणाण पणमहा सुविहियाण।
दव्वेण मे न कज्ज, एय खु पिय कुणह मज्झ।।
यदि मा स्वामिन यूय जानीय मन्यध्वे तत· श्रमणप्रणमनादिक मम प्रिय तदेव यूथ कुरुत।
वीसज्जिया य तेण, समण घीसावण सरज्जेसु।
साहूण सुहविहारा, जाता पच्चंतिया देसा।
समणभडभाविए सु, तेसु रज्जेसु एसणादीसु।
साहू सुह विहरिया तेण वि य भद्दगा तेउ।।
उदिणजोहाउलसिद्सेणापडिढ्वितो णिज्जियसत्तुसेणो।
समततो साहुसुद्दप्पयारे अकासि अधे दविले य घोरे।। — *(अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग 7, पृ 199-200)*

39 कर्नल टॉड, राजस्थान पहला भाग, द्वि ख , अ 26, पृ 721-723

40 जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, पृ 144-145

41 इत्यधिकार्य्य, धर्मविचार सप्रतिभूपतिवृत्तमुदारम्।
सद्गुरुप्रहताखिलबहुमान भव्यजना दधता बहुमानम्।। — (दर्शनशुद्धि, गा 33)

❖❖

समाजसेवा

सेवा धर्म-समाज की, आगम के अनुकूल।
यह पुनीत उद्देश्य है, जैनधर्म का मूल।।

❖❖

दक्षिण-भारत के जैन-वीर

✍ श्री त्रिवेणीप्रसाद

सम्पूर्ण भारतवर्ष जैनधर्म के प्रसार का क्षेत्र रहा है। जैन मूलतः क्षत्रिय रहे है, इसका प्रमाण यह है कि चौबीसों तीर्थंकर आदि सभी महापुरुष क्षत्रिय थे। अतः शूरवीरता इनके स्वभाव मे शामिल रही है। आचार्य भद्रबाहु के प्रभाव से अनेको राजा-महाराज-सामत जिनधर्म-भक्त बने थे, और उन्होने जैनधर्म की व्यापक-प्रभावना की थी। यह परम्परा सुदीर्घ-काल तक चली। इस विषय मे संक्षिप्त-रूपरेखा इस आलेख मे विद्वान्-लेखक ने प्रस्तुत की है।

— **सम्पादक**

अहिसा का सिद्धान्त जैनमत की सबसे बडी विशेषता है। वास्तव में इसी सिद्धान्त की नींव पर जैनमत स्थित है। लेकिन इस सिद्धान्त को विदेशी और कतिपय देशी-इतिहासकारों ने जो भारत की अधोगति का कारण माना है, वह मिथ्या है। अन्य मतावलम्बियों की बात तो दूर, स्वय अहिसाव्रतावलम्बी-जैनों ने ही कर्मक्षेत्र मे जिस कर्त्तव्यपरायणता का उदाहरण उपस्थित किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। जहाँ जैन-साधुओ ने अहिसाव्रत को तपस्या की सीढी तक पहुँचा दिया है, वहाँ कर्म-क्षेत्र में निरत रहनेवाले जैनो ने उसे कर्मयोग की दृष्टि से देखा और समझा है। देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के समय उन्होंने अहिसा को कभी अपने मार्ग की बाधा नही होने दिया है। जिन जैन-वीरो के हाथ में प्रजापालन और देश-रक्षा का भार आया था, उन्होने अहिसा मे कर्म को देखा, और कर्म मे अहिसा को। कर्म के दर्शन में उन्होने अहिसा-दर्शन को घुला-मिला दिया, और अहिसा की आड़ मे भीरुता को छिपानेवालो के आगे मार्ग-प्रदर्शक का काम किया। आज हम दक्षिण-भारत के कुछ ऐसे ही जैन-वीरो का इतिहास उपस्थित करते हैं।

चामुण्डराय

जैन-इतिहास मे चामुण्डराय का नाम स्वर्णाक्षरो मे अंकित है। वे केवल वीर ही नहीं बडे भारी कवि भी थे। 'चामुण्डराय-पुराण' (जिसका समय 978 ई. माना जाता है) उन्हीं की कृति है। ये कर्णाटक के रहनेवाले थे। ये गगवश के राजा मारसिह और उनके पुत्र और उत्तराधिकारी राचमल्ल के दरबार मे थे। चामुण्डराय ने अपने को 'ब्रह्मक्षत्र' जाति का बतलाया है; इसीलिये उनकी एक उपाधि 'ब्रह्मक्षत्र-शिखामणि' भी है।

पता चलता है कि उनके गुरु प्रसिद्ध अजितसेन थे। लेकिन नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती का भी उन पर काफी प्रभाव पडा था। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने अपनी रचना 'गोम्मटसार' में चामुण्डराय की बडी प्रशसा की है। इसके अतिरिक्त कन्नड कवि, चिदानन्द ने भी अपनी रचना 'मुनिवशाभ्युदय' में नेमिचन्द्र को चामुण्डराय का गुरु बतलाया है।

जिस युग में चामुण्डराय हुये थे, वह गंगवश के राजाओं के लिये बडी मुसीबत का था। वे चारों ओर से दुश्मनो से घिरे हुये थे। अपना अस्तित्व कायम रखने के लिये और अपनी उन्नति के लिये उन्हे निरन्तर युद्ध करना पडा, और इसमें सन्देह नहीं कि इन युद्धो के सचालक चामुण्डराय ही थे।

चामुण्डराय के समय में गगराज मारसिह पर 'नोलबों' ने चढाई की; लेकिन 'गोनूर' के मैदान में चामुण्डराय ने उनकी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। 'चामुण्डराय-पुराण' से पता चलता है, कि इस वीरता के लिये चामुण्डराय 'वीरमार्तण्ड' की उपाधि से विभूषित किये गये। ब्रह्मदेव के स्तम्भलेख से मालूम होता है, कि इस विजय के अवसर पर स्वय मारसिह ने 'नोलबकुलान्तक' की उपाधि धारण की थी।

दूसरा सकट पश्चिमी-चालुक्यों की ओर से था। मारसिह के ही समय में पश्चिमी-चालुक्यो ने उपद्रव मचाना आरम्भ किया था। मारसिह के पुत्र राचमल्ल के समय मे चामुण्डराय ने राजादित्य को परास्त कर यह विपत्ति दूर की। कहा जाता है कि 'उच्चंगि' के दुर्जेय किले में राजादित्य ने आश्रय लिया था। इस दुर्ग को जीतना एकप्रकार से असम्भव ही माना जाता था। कुछ समय पहले 'काडुवेदी' ने इस किले का घेरा डाला था, पर बुहत दिनो तक घेरा डालने पर भी वह इसे वश मे नही ला सका था। लेकिन चामुण्डराय के आगे इस दुर्ग की दुर्जेयता न रह सकी। ब्रह्मदेव-स्तम्भ के लेख से (जो 974 ई. का है, और जो श्रवणबेल्गोल मे पाया गया था) पता चलता है, कि चामुण्डराय ने इस किले को विध्वस्त कर ससार को आश्चर्य मे डाल दिया। स्वय चामुण्यडराय की कृति, 'चामुण्डराय-पुराण' से भी इस बात की पुष्टि होती है। वह लिखते हैं कि 'उच्चंगि' के किले को वीरतापूर्वक हस्तगत करने के कारण उन्हे 'रणरगसिग' की उपाधि मिली थी। त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ के लेख से मालूम होता है, कि 'रणसिग' राजादित्य की उपाधि थी। इसप्रकार चामुण्डराय ने शत्रु को परास्त कर उसकी उपाधि धारण की थी। स्वय राचमल्ल ने इस विजयोपलक्ष मे 'जगदेकवीर' की उपाधि ग्रहण की थी।

तीसरी घटना, जिसकी वजह से चामुण्डराय ने 'समर-धुरधर' की उपाधि पाई, वह 'खेडग' का युद्ध है। इस युद्ध मे उन्होने वजवलदेव (वज्जल) को परास्त किया था। इसका वृत्तात 'चामुण्डराय-पुराण' मे मिलता है। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ-लेख मे भी इसका उल्लेख है।

उक्त पुराण के अनुसार चामुण्डराय ने 'बागयूर' दुर्ग के 'त्रिभुवनवीर' नामक एक सरदार को मारकर 'वैरिकुलकलीदण्ड' की उपाधि पाई। इसके बाद राज, बास, सिवर, कुणाक आदि सरदारो को 'काम' नामक राजा के दुर्ग मे मारकर 'भुजविक्रम' की उपाधि प्राप्त की । मदुराचय ने, जो 'चलदक गग' और 'गगरभट्ट' के नाम से भी प्रसिद्ध है, चामुण्डराय के छोटे भाई, नागवर्मा को मार डाला था। चामुण्डराय ने उसे मारकर भाई की मृत्यु का बदला चुकाया। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ-लेख से मालूम होता है, कि चलदक-गग ने गग-राजसिहासन पर अधिकार जमाना चाहा था। चामुण्डराय ने उसके प्रयास को निष्फल करके उसका नाश किया, और इस तरह अपना बदला भी चुका लिया। इस सफलता पर उन्हें 'समर-परशुराम' की उपाधि मिली। उक्त पुराण ही से यह भी पता चलता है, कि अन्य कई वीरो पर विजय पाने के कारण उन्हें 'प्रतिपक्षराक्षस' की उपाधि मिली थी। इन उपाधियो के अतिरिक्त वे 'भटमारि' और 'सुभटचूडामणि' की उपाधियो से भी भूषित किये गये थे।

चामुण्डराय केवल वीर और युद्धपरायण ही नही थे, उनमे वे सभी गुण थे, जो विशिष्ट और धर्मानुरागी व्यक्तियो में पाये जाते हैं। अपने सद्गुणों के कारण ही उन्हें 'सत्ययुधिष्ठिर', 'गुणरत्नभूषण' और 'कविजनशेखर' की उपाधियाँ मिली थीं। 'राय' भी एक उपाधि ही थी, जो राजा ने उनकी उपकारप्रियता और उदारता प्रसन्न होकर उन्हें दी थी।

चामुण्डराय ने जैनधर्म के लिये क्या किया, यह बताने के लिये 1159 ई. के एक लेख का उद्धरण देना उचित होगा। उक्त लेख मे लिखा है — "यदि यह पूछा जाये, कि शुरू मे जैनमत की उन्नति मे सहायता पहुँचानेवालो मे कौन-कौन लोग है," तो इसका उत्तर होगा — "केवल चामुण्डराय।" उनके धर्मोन्नति-सबधी कार्यों का विशद-वर्णन न कर हम सिर्फ इतना ही उल्लेख करेगे कि श्रवणबेल्गोल मे 'गोम्मटेश्वर' की विशाल मूर्ति चामुण्डराय की ही कीर्ति है। यह मूर्ति 57 फुट ऊँची है, और एक ही प्रस्तर-खण्ड की बनी है। 'गोम्मटेश्वर' की मूर्ति के समीप ही 'द्वारपालको' की बाईं ओर प्राप्त एक लेख से, जो 1180 ई का है, निम्नलिखित बाते इस मूर्ति के निर्माण के सबध मे मालूम होती है —

महात्मा बाहुबली 'पुरु' के पुत्र थे। उनके बडे भाई द्वन्द्व-युद्ध में उनसे हार गये, लेकिन महात्मा बाहुबली पृथ्वी का राज्य उन्हे ही सौपकर तपस्या करने चले गये, और उन्हो 'कर्म' पर विजय प्राप्त की। पुरुदेव के पुत्र राजा भरत ने पौदनपुर मे महात्मा बाहुबली-केवली की 525 धनुष ऊँची एक मूर्ति बनवाई। कुछ कालोपरान्त, उस स्थान मे, जहाँ बाहुबली की मूर्ति थी, असख्य कुक्कुटसर्प (एकप्रकार के पक्षी, जिनके सिर तो सर्प के सिर के समान होता था, और शरीर का बाकी भाग कुक्कुट के समान) उत्पन्न हुये। इसीलिये उस मूर्ति का नाम 'कुक्कुटेश्वर' भी पडा। कुछ समय बाद यह स्थान साधारण मनुष्यो के लिये अगम्य हो गया। इस मूर्ति मे अलौकिक-शक्ति थी। उसके तेजःपूर्ण नखो को जो मनुष्य देख लेता था, वह अपने पूर्वजन्म की बाते जान जाता था। जब चामुण्डराय ने लोगो से इस जिनमूर्ति के बारे मे सुना, तो उन्हे उसके देखने की उत्कट अभिलाषा हुई। जब वे वहाँ जाने को तैयार हुये, तो उनके गुरुओ ने उनसे कहा, कि वह स्थान बहुत दूर और अगम्य है। इस पर चामुण्डराय ने इस वर्तमान मूर्ति का निर्माण कराया। चामुण्डराय का ही दूसरा नाम 'गोम्मट' था, इसलिये उस नवनिर्मित-मूर्ति का नाम 'गोम्मटेश्वर' पडा।*

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ के विषय मे 1068 ई के एक लेख से पता चलता है, कि इनके पिता का नाम 'गोविन्दराज' था। इनके गुरु का नाम वर्द्धमान व्रती था, जो मूलसघ के और देशीयगण के थे। शान्तिनाथ पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय के समय मे बनवसेनाड प्रान्त के शासक रायदड गोपाललक्ष्म के मत्री और सेनापति थे। 1068 के उक्त लेख मे उन्हे 'बनवसेनाड' राज्य का कोषाध्यक्ष और उसका उन्नायक कहा गया है। इसी लेख मे उन्हे 'श्रेष्ठ जैनमत-रूपी कमल के लिये राजहस' कहा गया है।

शान्तिनाथ केवल सेनानायक ही नही, निपुण कवि भी थे। उक्त लेख मे उन्हे जन्मजात और निपुण कवि कहा गया है। उन्हे 'सरस्वती-मुख-मुखर' की उपाधि मिली थी। जैनमत के लिये शान्तिनाथ ने जो कुछ किया है, वह चिरस्थायी है। कहा जाता है कि उनकी ही प्रेरणा से सलक्ष्म ने पत्थर का एक जिनमन्दिर निर्मित कराया, और उसने तथा उसके राजा सोमेश्वर द्वितीय ने भी उस मन्दिर को भारी जागीरे दी। उस मन्दिर का नाम 'मल्लिकामोद शान्तिनाथ-बसदि' है।

गगराज

होयसल राजा विष्णुवर्द्धन बिट्टिगदेव के यहाँ गगराज, बोप्प, पुणिष, बलदेव, मरियण्ण, भरत, एच और

विष्णु — ये आठ जैन-योद्धा थे। विष्णुवर्द्धन 12वी शताब्दी मे हुआ था, अतः इन वीरो का समय निश्चित है।

गगराज कोण्डिन्य-गोत्र के द्विज थे। उनके पिता का नाम 'एच', 'एचियाग' या 'बुद्धमित्र' था, और माता का 'पूचिकब्बे'। उनके पितामह का नाम 'मार' और पितामही का 'माकणब्बे' था। इन बातो का पता 1118 और 1119 के शिलालेखो से लगता है। गगराज माता-पिता की सबसे छोटी सतान थे। उनकी स्त्री का नाम 'नागलादेवी' या 'लक्ष्मी' और लडके का नाम 'बोप्प' या 'एच' था।

श्रवणबेलगोल के एक लेख से पता चलता है, कि गगराज के माता-पिता कट्टर जैन थे। 1120 ई के एक शिलालेख से पता चलता है, कि गगराज की माता ने इसी साल (1120 ई. मे) सल्लेखना की विधि से प्राण-त्याग किया। चामुण्डराय-बसदि के एक शिलालेख मे गगराज की प्रशसा की गई है, और उनकी उपाधियो का वर्णन किया गया है। इन्ही शिलालेखो से यह भी पता चलता है, कि गगराज ने अपने अतुल पराक्रम से होयसल-राज्य का काफी विस्तार किया था।

विष्णुवर्द्धन के समय मे होयसल-राज्य की उन्नति और रक्षा के लिये सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण काम था — तलकाड से चोलो को मार भगाना। विष्णुवर्द्धन ने यह काम गगराज को सौपा। यह काम अत्यन्त दु शक्य था, क्योकि तलकाड से चोलो को मार भगाने के लिये वहाँ के सामन्त को जीतने के अतिरिक्त तलकाड के पूर्वीय भाग मे स्थित सामन्त दाम या दामोदर और पश्चिमी घाट के सामन्त नरसिहवर्मा को परास्त करना आवश्यक था। इस समय चोलो के राजा राजेन्द्रदेव थे। गगराज ने बडी वीरता और कुशलता से तलकाड से चोलशक्ति का समूल नाश कर दिया। 1135 ई के एक शिलालेख से इस बात की पुष्टि होती है। अगडि के शिलालेख से यह भी मालूम होता है, कि यह विजय 1117 मे प्राप्त हुई थी। इसके बाद गगराज ने पूर्वी तलकाड के सामत दामोदर को युद्ध मे परास्त किया। दामोदर प्राण-रक्षणार्थ जगलो मे भाग गया। श्रवणबेल्गोल मे प्राप्त 1175 के एक शिलालेख से यह बात विदित होती है।

अब सिर्फ एक सामत पश्चिमी घाट का शासक नरसिह वर्मा रह गया। श्रवणबेल्गोल के उक्त शिलालेख और अरेगल्लु बसती के शिलालेख से पता चलता है, कि नरसिहवर्मा और चोल राजा के दूसरे सामत हारकर घाट की पहाडियो पर भाग गये, और इस तरह समूचा 'नाडु' होयसल राजा के अधीन हो गया। पीछे नरसिहवर्मा मारा गया।

जब गगराज ने इसप्रकार होयसल राज्य का विस्तार किया, तो विष्णुवर्द्धन ने कृतज्ञता-प्रकाशन के निमित्त उनसे पुरस्कार माँगने को कहा। गगराज ने केवल 'गगवादि' माग लिया। जान पडता है, कि 'गगवाडि' मे गोम्मटदेव तथा अन्य अनेक जिन-मन्दिर थे, जिनकी व्यवस्था ठीक नही हो रही थी। यह भी अनुमान होता है, कि वहाँ जैनमत का काफी प्रचार हो गया था। अत. गगराज का उद्देश्य वहाँ के मन्दिरो का जीर्णोद्धार करके जैनमत की उन्नति करना था। यही कारण था कि अन्य दुर्लभ-वस्तुओ और धन-धान्य की इच्छा न करके उन्होने केवल गगवाडि ही माँगा, जिसे राजा ने सहर्ष उन्हे समर्पित किया। धर्म के प्रति इस अनुराग से गगराज को बहुत यश प्राप्त हुआ। जैन-साधुओ ने मुक्तकठ से उनकी प्रशसा की। वर्द्धमानाचारी ने 1118 ई के अपने शिलालेख मे उन्हे चामुण्डराय से सौ-गुना सौभाग्यशाली बताया।

गगराज का पुत्र बोप्प भी अपने पिता के ही मार्ग का अनुगामी था। वह भी वीर सेनानायक और कट्टर जैन था। अपने पिता की मृत्यु के बाद उसने 'दोहरसमुद्र' मे एक जिनालय बनवाया। कहा जाता है कि 1134 ई में बोप्प ने कई शक्तिशाली शत्रुओ को परास्त किया, और अपने बाहुबल से 'कोग' लोगो को अधीन किया।

पुणिष

पुणिष या पुणिषमय्य के पूर्वज राजमत्री थे। उनके पिता का नाम पुणिषराज दडाधीश था, और उनकी उपाधि 'सकलशासनवाचकचक्रवर्ती' थी। पुणिषमय्य राजा विष्णुवर्द्धन के 'संधिविग्रहिक' मन्त्री थे। चामराजनगर मे पार्श्वनाथ-बस्ती के पास पाये गये शिलालेख से यह बात विदित होती है। बेलूर मे केशवमंदिर मे पाये गये लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है।

इतिहासकारों का मत है कि पुणिष ने यद्यपि अपने पराक्रम से गगराज की तरह कर्णाटक मे एक नया युग नही उपास्थित किया, तो भी उनकी विजयो ने होयसल राजाओ के लिये दक्षिण का द्वारा खोल दिया, और उनकी विजयो के फलस्वरूप ही विष्णुवर्द्धन अपना साम्राज्य बढाने मे समर्थ हो सके। जिस समय गगराज तलकाड मे चोलो की शक्ति मर्दित कर रहे थे, उस समय पुणिष ने कोगाल्व, कोडग, टोड और केरल-राजाओ को जीतकर विष्णुवर्द्धन की विजय-वाहिनी के लिये नीलगिरि के दक्षिण का मार्ग खोल दिया। 1117 ई के चामराज नगर बस्ती-लेख से उक्त कथन की पुष्टि होती है। गगराज की ही तरह पुणिष भी उदारचेता और धर्मानुरागी थे। उन्होने भी कई जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया था। इस बात का भी प्रमाण मौजूद है, कि स्वधर्मानुरागी होने पर भी पुणिष के हृदय मे अन्य धर्मों के प्रति उदारता का भाव था।

बलदेव

बलदेव या बलदेवण्ण राजा आदित्य या अरसादित्य के तीसरे लडके थे। उनकी माता का नाम 'आचाम्बिके' था। 1120 ई मे वे वर्तमान थे। ये भी राजा विष्णुवर्द्धन के आठ मत्रियो मे से थे। ये तीन भाई थे, और तीनो कर्णाटक का मुख उज्ज्वल करनेवाले थे। इनके सैनिक-जीवन के सबध मे कोई विशेष बात मालूम नही।

विष्णुबिट्टिमय्य

विष्णुबिट्टिमय्य भी होयसल राजा विष्णुवर्द्धन के ही समय मे हुये थे। इन्हे इम्मडि दण्डनायक बिट्मिय्य के नाम से भी पुकारा गया है। ये बडे प्रतिभाशाली थे, और बहुत थोडी ही उम्र मे इन्होने अपनी बुद्धि और वीरता प्रदर्शित की थी। बेलूर के सौम्यनाथ के मन्दिर के 1136 के एक लेख से इनका वृत्तान्त विदित होता है। इनके पूर्वज बराबर से राजमन्त्री का पद सुशोभित करते आये थे। इनके पितामह का नाम उदयादित्य और पिता का नाम चेन्नराज दडाधीश था। विष्णु चेन्नराज के द्वितीय और छोटे पुत्र थे। राजा विष्णुवर्द्धन ने बड़े समारोह से इनका उपनयन-सस्कार कराया था। 7 या 8 साल की उम्र मे ही वे शस्त्रविद्या मे निपुण हो गये थे। इसी उम्र मे विष्णुवर्द्धन की प्रेरणा से उनके एक मन्त्री की कन्या से बिट्मिय्य का विवाह हुआ। इस अवसर पर राजा ने स्वय सुवर्ण-कलश उठाकर उनका अभिषेक किया था। दस या ग्यारह वर्ष की आयु में विष्णुबिट्टिमय्य की प्रतिभा इतनी प्रखर हो चुकी थी, कि राजा ने उन्हे 'महाप्रचड दडनायक' की उपाधि से विभूषित किया।

शीघ्र ही बिट्टिमय्य के शौर्य की परीक्षा का अवसर आया। कोंगु ने राजा विष्णुवर्द्धन को कर देना बन्द कर दिया था। राजा ने उसे दड देने का भार बिट्टिमय्य पर ही सौंपा। एक सप्ताह के भीतर ही उन्होंने कोगु पर चढ़ाई कर दी। इस तरह चोल, चेर, पाण्ड्य और पल्लव-राजाओं ने मिलकर विष्णुबिट्टिमय्य के विरुद्ध सम्मिलित सगठन किया। समुद्र के किनारे इन राजाओं की सेना इकट्ठी हुई। किन्तु बिट्टिमय्य ने एक पखवाड़े के भीतर ही इस सम्मिलित विशाल-सेना का ध्वस कर दिया। उन्हे इस युद्ध में शत्रुओ के बहुत-से हाथी हाथ लगे। रायराजपुर जला दिया गया। इस तरह कोंगु परास्त हुआ। बिट्टिमय्य ने अपनी विजय के स्मारक-स्वरूप दक्षिण में एक कीर्ति-स्तम्भ भी बनवाया।

विष्णुबिट्टिमय्य परमधार्मिक जैन थे। उन्होने दोरसमुद्र मे एक जिनालय बनवाया था, जिसका नाम उन्होंने अपने राजा के नाम पर विष्णुवर्द्धन-जिनालय रखा। उनके गुरु का नाम श्रीपाल त्रैविद्यदेव था। उन्होने जिन-मन्दिर की व्यवस्था और ऋषियो के भोजनादि के प्रबध के लिये कई गाँव अपने गुरु को समर्पित किये थे। इन्ही गाँवो में 'बीबोल्लल' नामक गाँव भी था, जो उन्हे राजा की ओर से पुरस्कार में मिला था।

देवराज

विष्णुवर्द्धन के बाद उसका पुत्र नरसिह प्रथम (1141-1173 ई) सिहासनारूढ हुआ। इसके समय मे चार जैन-वीर हुये। ये थे — देवराय (देवराज), हुल्ल, शान्तियण्ण, और ईश्वर।

देवराज कौशिक-गौत्र के थे। इनके गुरु का नाम मुनिचन्द्र भट्टारक था। इतिहास मे देवराज को चामुण्डराय और गगराज के तुल्य स्थान दिया गया है। राजा नरसिह ने इन्हें 'सूरनहल्लि' नामक गाँव पुरस्कार में दिया था। देवराज ने इस गाँव मे एक चैत्यालय बनवाया, और अपने गुरु के नाम पर उसका उत्सर्ग कर दिया। राजा ने इस गाँव का नाम बदल का 'पर्वपुर' रखा। देवराज के सैनिक-जीवन के सम्बन्ध मे हमे विशेष-रूप से कुछ मालूम नही।

श्रवणबेल्गोल के लेखो से, जो 1159 से 1163 ई. के बीच के भिन्न-भिन्न समय के हैं, पता चलता है कि, पिता का नाम 'यक्षराज' या 'जक्कराज', माता का नाम 'लोकाम्बके' और स्त्री का नाम 'पद्मावती' था। इन लेखो से मालूम होता है कि इनके दो भाई थे — लक्ष्मण, और अमर। उनका कुल 'वाजिकुल' कहलाता था। किन्तु मदेश्वर मन्दिर के शिलालेख से, जिसका समय 1164 ई है, पता चलता है कि उनके वश का नाम 'वाजिकुल' था, पर उनके पति का नाम मधुसूदन और माता का मुद्दियक्के था। उसी लेख के अनुसार उनके भाईयो का नाम कान्तिमय्य और हरियण्ण था। यह सभव है, कि उनके माता-पिता और भाइयो के दो-दो नाम रहे हो, और इस शिलालेख मे केवल प्रसिद्ध नामो का ही उल्लेख हो। लेकिन पूर्व-कथित शिलालेख के सम्बध मे भी यही बात कही जा सकती है। जो कुछ हो, इस सम्बन्ध मे कुछ निश्चय करना अत्यन्त-कठिन है, जब तक कि इस सम्बन्ध मे अन्य-प्रमाण उपलब्ध न हो।

हुल्ल ने विष्णुवर्द्धन, नरसिह प्रथम और उसके उत्तराधिकारी बल्लाल द्वितीय — इन तीनो के समय मे राजमन्त्रित्व का कार्य किया था।

हुल्ल ने श्रवणबेल्गोल मे प्रसिद्ध 'चतुर्विंशति जिनालय' का निर्माण कराया था। चौबीस तीर्थंकरों का मन्दिर होने के कारण उसका उक्त नाम पडा था। यह जिनालय 1157 ई. मे बनकर तैयार हुआ था। यह

गोम्मटपुर का आभूषण माना जाता है। राजा नरसिह द्वितीय अपनी विजय-यात्रा के अवसर पर स्वय यहाँ आये थे, और उन्होने इस जिनालय की व्यवस्था के लिये कई गाँवों का दान दिया था। राजा ने इसका नाम 'भव्यचूडामणि' रखा। 1175 ई मे हुल्ल को राजा बल्लाल द्वितीय ने सवनेरु तथा अन्य दो गाँव पुरस्कार मे दिये, और हुल्ल ने ये गाँव भी इसी जिनालय को उत्सर्ग पर दिये। श्रवणबेल्गोल के अतिरिक्त अन्य कई स्थानो मे भी उन्होने धर्मानुराग और उदारता प्रदर्शित की।

शान्मियण्ण

शातियण्ण के पिता का नाम 'पारिषण्ण' या 'पार्श्वदेव' और माता का बम्मल देवी था। शान्तियण्ण के पिता स्वय एक पराक्रमी योद्धा थे। वे होयसल राजा के कोषाध्यक्ष थे। उन्होंने आह्वमल को परास्त किया था, किन्तु स्वय इस लडाई मे मारे गये थे। राजा नरसिह ने शाँतियण्ण को, उनके पिता की मृत्यु के बाद, 'कारिगुड' नामक ग्राम दिया था। इसके बाद ही शाँतियण्ण दडनायक के पद से विभूषित किये गये। इन्होने भी कई जिनालयो का निर्माण कराया।

ईश्वर चमूपति

ईश्वर चमूपति के पिता का नाम 'एरेयगमय्य' था, जो 'सर्वाधिकारी' और 'सेनापति-दडनायक' के पद से विभूषित थे। कहा जाता है कि ईश्वर ने ही मन्दारगिरि पर स्थिति जिनालय का जीर्णोद्धार कराया था। उसी बसदि के 1160 ई के एक लेख से उनके सम्बध की बाते मालूम होती है। उनके सैनिक-पराक्रम के सम्बन्ध मे हमे कुछ मालूम नही।

अन्य जैन-वीर

कर्णाटक मे अन्य अनेक जैन-वीर हो गये है, जिनके सम्बन्ध मे हमे अधिक बाते मालूम नही। इन वीरो मे रेचिमय्य का नाम प्रसिद्ध है। इन्हे 'वसुधैकबान्धव' की उपाधि मिली थी। पहले ये कलचुरीय राजा के यहाँ थे, पीछे होयसल राजा के यहाँ चले आये। ये होयसल राजा बल्लाल द्वितीय थे। जैनमत की उन्नति के लिये इन्होने जो कुछ किया, उसकी प्रशसा कई लेखो मे मिलती है। बल्लाल द्वितीय के ही यहाँ 'बूचिराज' नाम के एक दूसरे जैन-सेनापति थे। ये कन्नड और सस्कृत — दोनो भाषाओ के विद्वान् थे, और दोनो मे कविता करते थे। उन्होने सिगेनाड मे एक त्रिकूट-जिनालय बनवाया था।

बल्लाल द्वितीय के राज्य-काल के अतिम भाग मे एक और प्रसिद्ध जैन-सेनापति का आगमन होता है। इनका नाम 'अमृत' था। कहा जाता है कि ये शूद्र-परिवार के थे। इनके पिता का नाम हरियम सेट्टि, और माता का नाम सुग्गव्वे था। ये दडनायक के पद पर थे। इन्होने 1203 मे यक्कोटि-जिनालय का निर्माण कर अपने धर्मानुरागी होने का परिचय दिया। अन्य धर्मों के प्रति भी इन्होने अपनी उदारता का परिचय दिया था। अन्तिम होयसल राजा वीर बल्लाल द्वितीय के समय मे कैतेय दडनायक का पता मिलता है। ये एक प्रमुख जैन-सेनापति थे। ये 1332 ई मे वर्तमान थे, और 'सर्वाधिकारी' के पद पर थे, ऐसा लेखो से विदित होता है। ❖❖

---

* इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। — *(के भुजबली शास्त्री)*

जैनधर्म-दर्शन का विश्वव्यापित्व : कतिपय तथ्य

✍ डॉ. सुदीप जैन

प्राय: विद्वान् यह कहा करते है कि "अपनी कठोर-आचार्यचर्या सीमित रह गये, जबकि बौद्ध, इस्लाम एव क्रिश्चियन-धर्म अपेक्षाकृत सरल होने के कारण विश्वभर मे फैल गये है"; किन्तु यह सत्य और तथ्यपरक-कथन नही है। इस आलेख मे यह साधार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, कि विश्वभर में अतिप्राचीनकाल से जैनधर्म एव सस्कृति का प्रसार था। — सम्पादक

दार्शनिक-पृष्ठभूमि मे जैनदर्शन का इतिवृत्त कब से प्रारम्भ हुआ — यह खोज पाना बडा कठिन है। जैन-मान्यता के अनुसार यह धर्म-दर्शन अनादि है, इसका न कभी प्रारम्भ हुआ, और न ही कभी इसका अवसान हो सकता है। वस्तु का स्वभाव धर्म है, तथा प्रत्येक आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है — ये जैनदर्शन के कुछ ऐसे सिद्धान्त है, जिनके आधार पर हम इसे अनादि-अनन्त मान सकते है।

जैनदर्शन मे 'उत्सर्पिणी' और 'अवसर्पिणी' — ये दो काल-विभाग माने गये है। ये दोनो ही क्रमश· अनादिकाल से प्रवर्तित रहे है, और अनन्तकाल तक प्रवर्तित रहेगे। इन दोनो काल-विभागो मे जैन-मान्यता के अनुसार छह-छह खण्ड होते है, जिनके चतुर्थ-खण्ड मे, जिसका कि नाम 'सुखमा-दु:खमा' है, भरतक्षेत्र मे चौबीस-तीर्थंकरो का जन्म होता है। ये सभी तीर्थंकर आत्मसाधनापूर्वक चरम-विकास की सीमा तक पहुँच कर पूर्ण-वीतरागी और सर्वज्ञ बनते हैं, तथा अपने मागलिक-उपदेशो के द्वारा लोक मे धर्म-तीर्थ की प्रभावना करने के कारण 'तीर्थंकर' कहलाते है। वर्तमान मे जो अवसर्पिणी-काल चल रहा है, उसे 'हुण्डावसर्पिणी' कहा गया है। इस काल के चतुर्थ-खण्ड मे जैन-धर्म के प्रभावक प्रथम-तीर्थंकर 'आदिब्रह्मा-ऋषभदेव' हुये, जो कि नाभिराय के पुत्र थे। इन्ही ऋषभदेव के ज्येष्ठ-पुत्र 'चक्रवर्ती-भरत' के नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' सम्पूर्ण भारतीय-परम्परा के मनीषियों ने स्वीकृत किया है। ऋषभदेव के बाद अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनदननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदतनाथ, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्यनाथ, विमलनाथ, अनतनाथ, धर्मनाथ, शातिनाथ, कुथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नम्निाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ — ये बाईस-तीर्थंकर महापुरुष हुये। इनमे से नेमिनाथ और पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक-महापुरुषो के रूप मे भी सभी ने स्वीकार किया है। पार्श्वनाथ के बाद इस परम्परा के अतिम और प्रमुख-प्रभावक महापुरुष चौबीसवे-तीर्थकर 'भगवान् महावीर' हुये। महावीर के परिनिर्वाण के बाद इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मस्वामी, और जम्बूस्वामी — ये तीन केवली हुये, तथा विष्णुगुप्त, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धनाचार्य एव आचार्य भद्रबाहु — ये पाँच श्रुतकेवली हुये। फिर इनके बाद परम्परापोषक-आचार्यों एव मनीषियो ने भगवान् महावीर की परम्परा को एव उनके द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान को यथासभव अक्षुण्ण बनाये रखा। कालदोष, स्मृति-क्षीणता एव प्रमाद आदि अनेकों कारणो से क्षरित, अशत:-विनष्ट एव आंशिक-विकृत इत्यादि अनेको विषमताओ के बाद भी यह परम्परा अपने मूलभूत

अभिप्रायो को यथासम्भव अनवरत बनाये हुये है। इस परम्परा का प्रभाव वर्तमान भारतवर्ष के बाहर भी रहा, जिसका संक्षिप्त-आकलन यहाँ प्रस्तुत है।

यह एक बहुत बड़ा भ्रम है कि जैनधर्म अपनी कठोर-आचारचर्या एव साधना-पद्धति के कारण भारत में ही सिमटकर रह गया, और भारत की सीमाओ के बाहर इसका प्रचार-प्रसार नहीं हुआ। इसप्रकार के चिन्तन के विकास का एक प्रमुख-कारण जैनों की वर्तमान-परम्परा का व्यापार-वृत्ति में सीमित होना भी रहा है। जबकि इसी व्यापारिक-वृत्ति के कारण प्राचीनकाल मे जैन-परम्परा और उसके सिद्धान्तों, आचार-विचारों आदि का विश्वभर में व्यापकरूप से प्रचार-प्रसार हुआ। जैन-श्रमणो मे भी विश्वभर मे रहकर अपनी कठोर किंतु आदर्श अहिंसक साधना-पद्धति के द्वारा सम्पूर्ण-विश्व मे जैनधर्म और परम्परा का अमिट-प्रभाव अंकित किया। समय के पृष्ठो पर अंकित ये स्वर्णिम-हस्ताक्षर आज विस्मृति की धूल से भले ही तिरोहित हो गये हों, किन्तु वे मिटे नहीं हैं। आवश्यकता है उन्हे खोजने, पहचानने और निर्विवादरूप से दृढतापूर्वक प्रस्तुत करने की। यद्यपि यह विषय कई शोध-प्रबन्धो के निर्माण की अपेक्षा रखता है, फिर भी इस संक्षिप्त-आलेख मे इसकी छवि को दर्शाने का प्रयत्न किया गया है।

भारत के बाहर जैन-संस्कृति का अस्तित्व एवं प्रभाव

जैनधर्म एव सस्कृति का मूलरूप अहिसा एव अपरिग्रह की भित्ति पर आधारित होने से यह अचेलक, निर्ग्रन्थ एव त्यागमयी जीवनवृत्ति की प्रतिमान बनकर रही है। जैनेतर दार्शनिको, विदेशी यात्रियो, समालोचको एव इतिहासकारों आदि ने भी इसका विवरण या समीक्षा इसी रूप में दी है। अन्य सम्प्रदायभेद एव सचेलकत्व आदि पर्याप्त-परवर्ती एव परिस्थितिजन्य-प्रभाव से उद्भूत स्वरूप हैं, जिन्हें जैनेतरों एव तटस्थ-प्रमाणपुरुषो ने मात्र 'अपवाद' समझा और उनका उल्लेख तक नही किया। इसप्रकार जैनधर्म एव सस्कृति का सर्वमान्य एव मूलस्वरूप निर्ग्रन्थ-अचेलक ही रहा है, जो उसके अहिसक, अपरिग्रही एव त्यागप्रधान जीवनदर्शन के पूर्णतया अनुरूप एव यथार्थ है।

कई विद्वानो ने विभिन्न आयामों से सप्रमाण उपर्युक्त-तथ्य की सिद्धि की है; अत: मैं पुनःकथन (पिष्टपेषण) के दोष से बचती हुई इस आलेख मे भारतवर्ष के अतिरिक्त जिन देशों मे जैनधर्म एव सस्कृति की कल्पना भी नही की जा सकती है, उन देशो मे प्राप्त विविध-प्रमाणो के आधार पर वहाँ जैनधर्म एव सस्कृति के अस्तित्व एव व्यापक-प्रभाव की संक्षिप्त-चर्चा इस आलेख में करना चाहती हूँ।

सामान्यत: यह माना जाता है कि 'कठोर जीवनचर्या एव नियमो के कारण जैनधर्म एव सस्कृति भारतवर्ष तक सीमित रह गयी; जबकि बौद्धधर्म आदि का भारत मे जन्म होने पर भी विश्व के विभिन्न देशो में प्रचार हुआ।' किन्तु यह कथन एकागी-अध्ययन का ही परिणाम है; इस सिक्के के दूसरे पहलू की ओर दृष्टिपात करे, तो हम पाते है कि बौद्धधर्म का भारतवर्ष के बाहर प्रचार राजनीतिक-कारणो से अधिक हुआ था; फिर भी वह प्राय: दक्षिण एव पूर्वी एशिया तक सीमित रहा। जबकि जैनधर्म विश्व के सुदूर एव दुर्गम-क्षेत्रों (अमेरिका, यूरोप एव अफ्रीका आदि महाद्वीपो) मे भी ईसापूर्व-काल से ही अपना अस्तित्व एव प्रभाव स्थापित कर चुका था।

इस आलेख की आधार-सामग्री विश्वविश्रुत विद्वान् **डॉ. विशम्भरनाथ पाडे** (पूर्व राज्यपाल, उडीसा)

की नवीनतम शोधपूर्ण कृति '**भारत और मानव सस्कृति**' से ली गयी है। इस कृति के 'प्राक्कथन' मे वरिष्ठ विद्वान् **श्री लोकेश चन्द्र** (पूर्व ससद सदस्य) लिखते हैं —

'जैन सस्कृति का मर्म' नामक अध्याय में पाडेजी ने हमारी चेतना के मार्मिक-शिखरो का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ — आत्मशुद्धि, इसमे बाधक आध्यात्मिक अविद्या, तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद और जीवन को निस्तृष्ण बनाना आदि। **जीवन की परा-सात्त्विकता के मूर्तिमत प्रतिनिधि, जैन-साधुओ और मुनियों की तपस्या ने सदा जीवन को सुसस्कृत किया है। महात्मा गांधी की जीवन-सरणि पर गहरा जैन-प्रतिबिम्ब था।** भावी मगलसाधना मे **जैन-संस्कारो** का सहारा जीवनचर्या और प्रकृति को सुसम्पन्न बनाएगा। पाडेजी **धार्मिक सहिष्णुता और अपरिग्रह को जैन आचार-विचार का केन्द्रबिन्दु मानते है** और उन्होने इनका विशद विवेचन किया है। आधुनिक-परिस्थितियो के लिए दोनो को समझना आवश्यक है।

जैन-सस्कृति एव उसकी परम्परा के बारे मे स्वय डॉ पाडे जी के विचार निम्नानुसार है —

जैन-सस्कृति का मर्म

जैन-सस्कृति के बाहरी-स्वरूप में अनेक वस्तुओं का समावेश हुआ है। शास्त्र, भाषा, मन्दिर, स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आने वाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयो का जैन-समाज के साथ एक निराला-सबध है।

प्रश्न यह है कि जैन-सस्कृति का मर्म क्या है? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि 'निवर्तक-धर्म' **जैन-सस्कृति की आत्मा** है। जो धर्म निवृत्ति करानेवाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश करानेवाला हो या उस निवृत्ति के साधनरूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो, वह 'निवर्तक-धर्म' कहलाता है।

जो तत्त्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी ब्राह्मणो के वशज होकर भी निवर्तक धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे, उन्होने चिन्तन और जीवन मे निवर्तक-धर्म का महत्त्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होने अपनी पैतृक-सपत्तिरूप प्रवर्तक-धर्म और उसके आधारभूत-वेदो का प्रामाण्य मान्य रखा। न्याय-वैशेषिक दर्शन के और औपनिषद-दर्शन के आद्य-दृष्टा ऐसे ही तत्त्वज्ञ-ऋषि थे। निवर्तक-धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान और आत्म-साक्षात्कार के बाधक क्रियाकाण्ड का तो आत्यतिक-विरोध किया, पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नही किया। ऐसे व्यक्तियो मे साख्य-दर्शन के आदिपुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल मे साख्य-योगदर्शन 'प्रवर्तक-धर्म' का विरोधी होने पर भी अन्त मे वैदिक-दर्शनों मे समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश मे शताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनो धर्मों मे होते रहे कि वे अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक-धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे और न युक्त बतलाते थे। **महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक 'निवर्तक-धर्म' के पुरस्कर्ता हुए है।** फिर भी महावीर और बुद्ध के समय मे तो देश में निवर्तक-धर्म की पोषक ऐसी अनेक सस्थाये थी और दूसरी अनेक ऐसी नई पैदा हो रही थी कि जो 'प्रवर्तक-धर्म' का उग्रता से विरोध करती थी। अब तक नीचे से ऊँचे तक के

वर्गों मे 'निवर्तक-धर्म' की छाया मे विकास पानेवाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचरणो का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय मे 'प्रवर्तक-धर्म' और 'निवर्तक-धर्म' के बीच प्रबल-विरोध की लहर उठी।

तीर्थंकर-परम्परा

जैनदर्शन का विश्वास है कि जैनधर्म शाश्वत है, उसके तत्त्वो का कभी नाश नही होता। अहिसा और मैत्री मनुष्य के लिए प्रकृति-सुलभ हैं — वे मिटे कैसे? और जैनधर्म की आधारशिला अहिसा ही है। ऋतु-परिवर्तन की तरह धर्म की भी उन्नति और अवनति होती है। इसलिए जैनी कहते है कि प्रत्येक कल्पकाल मे चौबीस तीर्थंकर क्रमशः जन्म लेकर जगत् का उद्धार करते हैं। इस कल्पकाल मे भी चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं, **जिनमे से पहले श्री ऋषभदेव थे और अतिम वर्द्धमान महावीर।**

ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान महावीर तक जैन-मान्यता के अनुसार 24 महापुरुष हुए हैं, जिनको **'तीर्थंकर'** कहते है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से उन सबने एक प्रकार के ही उपदेश दिये है। समय के अनुसार आचार का बदलना अनिवार्य होने पर भी तत्त्वज्ञान के विषय मे सभी एकमत है। यह बात ऐतिहासिको को न जँचे, यह सम्भव है, किन्तु हमारे पास इसकी सत्यासत्यता जाँचने का कोई साधन नही है। इन सभी तीर्थकरो का जो अस्तित्वकाल जैन-विद्वान् बताते है, उसकी परीक्षा करने का भी हमारे पास कोई साधन नही। फिर भी **ऋषभदेव, शान्तिनाथ और नेमिनाथ — इन तीनो प्रागैतिहासिक पुरुषो के अस्तित्व मे सदेह की गुजाइश नही है।** उनके निश्चित-समय के बारे मे भले ही सदेह हो सकता है। **पार्श्वनाथ और महावीर के विषय मे तो अब ऐतिहासिक लोग भी असदिग्ध हो गये है। पर जैन-तत्त्वज्ञान और आचार के उपदेशो के रूप मे जो कुछ आज हमारे सामने ग्रथबद्ध मौजूद है,** वह तो तीर्थंकर महावीर के उपदेश का ही फल है, महावीर ने तीर्थंकरो की परम्परा मे से बहुत कुछ सीखा और समझा होगा और अपने उपदेश की धारा उसी परम्परा के अनुरूप बहाई होगी। महावीर के उपदेश के रूप मे जो कुछ हमारे सामने है, उसमे से बहुत कुछ पूर्व **तीर्थंकरो का ही उपदेश समझना चाहिये, शब्द चाहे भले ही महावीर के हो।**

मूल **दिगम्बर-जैन-सस्कृति के यूनानदेश मे प्रभाव के** बारे मे डॉ पाडे जी लिखते है —

यूनानी इतिहास से पता चलता है कि ईसा से कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व ये **दिगम्बर भारतीय** तत्त्ववेता पश्चिमी-एशिया मे पहुँच चुके थे।

ईसापूर्वकाल मे भारत और यूनान के घनिष्ठ सबधो का प्रामाणिक-इतिवृत्त मिलता हे। सम्राट् **सिकन्दर** एव दिगम्बर जैन-श्रमण **कल्याणमुनि** (जिन्हे आज भी यूनान मे **सेट कोलानस** के नाम से जाना एव पूजा जाता है), जैन-सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल मे मगस्थनीज यूनान का राजदूत बनकर भारत रहा। सम्राट् बिन्दुसार के शासन मे डेईमेकस तथा सम्राट् अशोक के समय मे डायोनीमियस् भारत मे यूनान के राजदूत बनकर रहे। — ये तथ्य ईसापूर्वकाल मे यूनान और भारत के सुदृढ-सम्बन्धो के प्रामाणिक-दस्तावेज है।

पोप के पुस्तकालय के एक लातीनी-आलेख से, जिसका हाल मे अनुवाद हुआ है, पता चलता है कि ईसा की जन्म की शताब्दी तक इन **दिगम्बर भारतीय दार्शनिको** की एक बहुत बडी सख्या **इथियोपिया** (अफ्रीका)

के वनो मे रहती थी और अनेक यूनानी-विद्वान् वही जाकर उनके दर्शन करते थे और उनसे शिक्षा लेते थे।

यूनान के दर्शन और अध्यात्म पर इन **दिगम्बर महात्माओ** का इतना गहरा-प्रभाव पडा कि **चौथी सदी ई.पू.** में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् पिरो (पेरो) ने भारत आकर उनके ग्रथो और सिद्धांतो का यानी भारतीय अध्यात्म और भारतीय-दर्शन का विशेष-अध्ययन किया और फिर यूनान लौटकर 'एलिस' नगर मे एक नई यूनानी दर्शन-पद्धति की स्थापना की। इस नई पद्धति का मुख्य-सिद्धात था कि **इंद्रियो द्वारा वास्तविक-ज्ञान की प्राप्ति असभव है, वास्तविक-ज्ञान की प्राप्ति केवल अत:करण की शुद्धि द्वारा ही सभव है और उसके लिये मनुष्य को सरल से सरल जीवन व्यतीत करके आत्मसयम और योग द्वारा अपने अतर मे धसना चाहिए।** भारत से लौटने के बाद **पिरो दिगम्बर रहता था।** उसका जीवन इतना सरल और सयमी था कि यूनान के लोग उसे बडी भक्ति की दृष्टि से देखते थे। वह योगाभ्यास करता थाा और निर्विकल्प-समाधि मे विश्वास रखता था।

इसीप्रकार 'यहूदी सप्रदाय' पर जैन-सस्कृति का प्रभाव बतलाते हुये वे लिखते है —

जैन-श्रमणो, बौद्ध-भिक्षुओ और भारतीय-महात्माओ के प्रभाव से दूसरी सदी ई पू. मे यहूदियो के अदर 'ऐस्सेनी' नामक एक नयी सप्रदाय की स्थापना हुई। यहूदी इतिहास-लेखक यूसुफ और फाइलो तथा और कई यूनानी इतिहास-लेखको ने विस्तार के साथ इन लोगो का वर्णन किया है।

इन लोगो की बस्तिया, जिन्हे बडे-बडे 'मठ' या 'खानकाह' कहा जा सकता है, शहर से दूर होती थी, बस्ती के अदर हर एक कुटिया अलग, कितु एक-दूसरे के आस-पास होती थी। वे आजन्म अविवाहित रहते थे और बडा सरल, **सयमी** तथा **तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे।** सारी बस्ती एक कुल की तरह रहती थी, जिसका एक कुलपति होता था तथा समस्त सम्पत्ति सारे कुल की सम्पत्ति होती थी। सबका एक जगह भोजन बनता था और एक स्थान पर बैठकर सब एकसाथ भोजन करते थे।

प्रतिदिन कई घटे हर व्यक्ति को अपने हाथ से कुछ न कुछ श्रम करना पडता था, जिसका समस्त लाभ सामूहिक-कोष मे जाता था। इस श्रम मे मुख्य काम थे — खेतो मे अनाज पैदा करना, भोजन बनाना, सबके लिये कपडा बुनना ओर अन्य आवश्यक धन्धे करना। किसी काम के लिये दूसरे मनुष्य को नौकर, दास या गुलाम बनाकर रखने को वे पाप समझते थे। न कोई अपने अलग-गुजारे के लिये कोई अलग-काम कर सकता था।

हर ऐस्सेनी ब्राह्ममुहूर्त मे उठता था और सूर्योदय से पहले प्रात: क्रिया, स्नान, ध्यान, उपासना आदि से निवृत्त हो जाता था। सुबह के स्नान के अतिरिक्त दोनो समय भोजन से पहले स्नान करना हर एक के लिये आवश्यक था। उनका सबसे मुख्य-सिद्धात था **अहिसा।** इसलिये हर तरह की पशुबलि, मास-भक्षण या मदिरा-पान के वे विरुद्ध थे। उनका भोजन मात्र रोटी या साग होता था। ठडे पानी के अतिरिक्त वे कभी कोई अन्य पेय न पीते थे। भोजन प्रारभ करते समय और समाप्त करने पर वे मिलकर ईश्वर को धन्यवाद देते थे। बालो मे तेल लगाना पाप समझते थे। किसी के पास बदन के कपडो के अतिरिक्त कपडो का दूसरा जोडा न होता था। यहूदी-मदिरो मे पशु-बलि के कारण वे इन मंदिरो मे न जाते थे। कितु प्राचीन-धर्म की ओर अपनी श्रद्धा दर्शाने के लिये समय-समय पर शुद्ध-उपहार और जलाने की धूप यरूशलम के मदिर को भेजते रहते थे।

हर ऐस्सेनी का कर्तव्य होता था कि दिन के साधारण दैनिक-श्रम के बाद आस-पास की गरीब-बस्तियो

मे जाकर दीन-दुखियों और दरिद्रो की सेवा करे। यदि इस काम मे उसे यह अनुभव होता कि उसकी बस्ती की सामूहिक-सम्पत्ति मे से किसी चीज के जरिये किसी दीन-दुखिया की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती है, तो उसे अधिकार होता था कि बिना कुलपति या किसी दूसरे से पूछे वह तुरत उस चीज को उसे लाकर दे दे। गरीबो को आवश्यकता-पूर्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे कार्य के लिये वह कुल की किसी वस्तु को बिना कुलपति की अनुमति के हाथ न लगा सकता था।

इस सबसे बचा हुआ समय और खासकर रात का बहुत सा समय वह एकात-सेवन, धार्मिक-ग्रथों के अध्ययन, मनन और योग के अभ्यास में बिताता था। निस्सन्देह पवित्र-जीवन, दीन-दुखियो की सेवा, शारीरिक-श्रम और योग द्वारा चित्त को स्थिर करना — ये चार बाते ऐस्सेनियो के अनुसार आत्मा की उन्नति के चार मुख्य-साधन थे। आध्यात्मिक-उन्नति की दृष्टि से हर ऐस्सेनी को कई उत्तरोत्तर-श्रेणियो मे होकर निकलना पडता था।

ईसा के जन्म के समय इनकी सख्या खूब बढी हुई थी। सीरिया, फलस्तीन और मिस्र के पहाडो और जगलो मे ठडे पानी के चश्मो के पास जगह-जगह इनकी बस्तिया थी। **फाइलो** के समय मे इनकी कुल सख्या **चार हजार** बताई जाती है।

इतिहास-लेखक **फाइलो** अपने समय के भारतीय और ईरानी सतो, महात्माओ के चरित्र और उनकी तपस्या की प्रशसा करते हुए लिखता है कि यहूदियो मे ठीक इसी तरह के तपस्वी ऐस्सेनी थे। यूनानी इतिहास-लेखक **स्ट्रैबो** उन्हे — 'दार्शनिक और वैज्ञानिको का सघ' कहकर वर्णन करता है और लिखता है कि **अफलातून जैसे दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता उनके दर्शन करने और उनसे उपदेश लेने के लिये आते थे।**

अफ्रीका की किसी-किसी ऐस्सेनी बस्ती मे ये लोग एक-एक सप्ताह एकात-सेवन करते थे और एक प्रकार की समाधि मे पडे रहते थे। **फाइलो** लिखता है कि उनके इस लबे एकात-सेवन का उद्देश्य होता था — "ध्यान द्वारा परमेश्वर के व्यापक-अस्तित्व के साथ अपनी आत्मा को मिलाकर एक कर लेना।" इनमे से कई विशेष-नामो या मत्रो का जाप भी करते थे। समय-समय पर उनमे अनेक दार्शनिक-विषयो पर चर्चा होती थी। भजन गाए जाते थे और कही-कही ईश्वर-स्तुति के साथ एक प्रकार का नृत्य भी होता था।

योग की विधियो और ध्यान के तरीको को वे सिवाय दीक्षितो के दूसरो को न बताते थे। सरल-भोजन और सयमी-जीवन के कारण उनकी आयु खूब लबी होती थी और अपने चरित्र और तत्त्वज्ञान के लिये आस-पास के देशो मे वे बडे आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

अपने मठो के अदर नए सदस्यो के रूप मे वे केवल या तो इतने छोटे बालको को लेते थे, जिन्हे आरम्भ से अपने रहन-सहन और सिद्धातो मे पक्का कर सके और या युवावस्था पार किये हुए उन लोगो को लेते थे, जिन्हें सासारिक भोग-विलास की ओर अधिक आकर्षण न रह गया हो। आगन्तुक को अपनी समस्त धन-सम्पत्ति सामूहिक-सम्पत्ति मे मिला देनी पडती थी। पहले तीन वर्ष उसे उम्मीदवार रहना पडता था। इन तीन वर्षों के अदर उसे बडे-बडे उपवास रखने पडते थे, व्रत करने पडते थे और कई तरह से अपने मन और इद्रियो को साधना पडता था। इतिहास-लेखक **यूसुफ** के अनुसार अत मे उसे दीक्षा से पहले कुलपति के सामने इस तरह

प्रतिज्ञा करनी पडती थी कि —

"मैं परमात्मा का भक्त रहूँगा। मैं मनुष्यमात्र के साथ सदा न्याय-व्यवहार करूँगा। स्वय अपनी इच्छा से या किसी दूसरे के कहने से भी मैं कभी किसी की हिसा न करूँगा, न किसी को हानि पहुँचाऊगा। मै सदा बुरे लोगो से दूर रहूँगा। मै भले लोगो की सहायता करूँगा। मनुष्य मात्र के साथ मै अपने वचनो का पालन करूँगा। अपने ऊपर के अधिकारी के साथ सच्चा-व्यवहार करूँगा, क्योंकि सिवाय परमात्मा के किसी दूसरे से किसी को कोई अधिकार प्राप्त नही हो सकता। यदि स्वय मुझे कोई अधिकार प्राप्त होगा, तो उसके कारण न मै अपने व्यक्तिगत-विचार या अपनी व्यक्तिगत-सत्ता किसी दूसरे पर लादूँगा और न अपनी विशेष-पोशाक या विशेष-ढग द्वारा दूसरो पर बडप्पन दिखाऊँगा। मै सदा सत्य से प्रेम करूँगा, और असत्य से घृणा करूँगा। मै सदा अपने हाथो को चोरी से और अपनी आत्मा को पाप की कमाई से दूर रखूँगा। मै अपने भाइयो (यानी कुल के दूसरे लोगो) से कभी कोई बात न छिपाऊँगा, न उनके किसी रहस्य को दूसरे पर प्रकट करूँगा; चाहे इसमे मेरे प्राण भी क्यो न चले जाये।"

सिवाय इस एक अवसर के वे और कभी किसी तरह की शपथ न खाते थे।

आमतौर पर इनके मठो मे केवल पुरुष ही भरती किये जाते थे, किंतु अफ्रीका मे वे कही-कही स्त्री-जिज्ञासुओ को भी भरती कर लेते थे। जिन विविध 'इबरानी' शब्दो से 'ऐस्सेनी' शब्द का विकास माना जाता है, इनके अर्थ है — 'मौन रहनेवाला', 'धर्मनिष्ठ' और 'सन्यासिनी'।

ईसा से लगभग एक सौ वर्ष बाद फिर इन लोगो का कही पता नही चलता। इतिहास-लेखक यूसुफ लिखता है कि यूनान के **पाइथोगोरियन और स्टोइक** दार्शनिको ने अपने अनेक सिद्धात इन्ही ऐस्सेनियो से सीखे। ईसाई धर्म मे मठो और महन्तो की प्रथा भी ऐस्सेनियो ही से चली।

"जैन भारत के मूल-निवासी थे, जब आर्य भारत आये, तब यहाँ जैन-सस्कृति का ही प्रमुख-प्रभाव एव प्रचार-प्रसार था।" — ऐसा प जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' नामक अपनी विख्यात कृति मे स्पष्टरूप से समुद्घोषित किया है। प्राय: विद्वत्सन्तति भी जैनधर्म-दर्शन एव सस्कृति को भारतवर्ष की सीमाओ मे ही स्वीकार करती है, किन्तु इसका चिरकाल से विश्वव्यापी-प्रभावक्षेत्र भी रहा है — यह तथ्य बहुत कम लोगो की ज्ञान-परिधि मे आया है। जैनधर्म-दर्शन एव सस्कृति के विश्वव्यापी-स्वरूप की स्वीकृति करते हुये प्रख्यात विद्वान् नीलकण्ठदास लिखते है —

"ईसा के पूर्व सातवी सदी मे मनीषी **पायथागोरस** हुये, वे एक जैनसाधक थे, और जैनसन्यासी भी। उनके देश और भारतदेश का सम्बन्ध मात्र 'इयावाणी' और 'ऋष्यश्रृग' के उपाख्यान से ही अनुमित नही होता, बल्कि अति-प्राचीनतम मे भी 'बेबीलोन' और 'केपाडोसिया' (आज का ईराक एव तुर्कीस्तान) आदि पश्चिम के देशो एव द्रविडदेश भारत — इन दोनो का आपस मे घनिष्ठ-सम्बन्ध था। सभवत. दोनो मे एक ही विचारधारा के लोग थे। ...अब ज्ञात होता है, कि जैनधर्म भी मूलत· अध्यात्मधर्म होने से जैन-आदर्श एव जैनसाधना-पद्धति प्राग्वैदिक-भारत मे, अर्थात् उस समय के सभ्य-जाति के द्रविडो मे विकसित होकर पृथ्वी मे व्याप्त हुआ था। ....इस तरह जैनधर्म सारे ससार के धार्मिक तथा मानविक-आत्मविकास का मूल है। कहा जा

सकता है, कि इसी के ऊपर मानव-समाज के विकास की प्रतिष्ठा आधारित है।"

इतना ही नहीं, प्रख्यात पुरातत्त्वेत्ता एव गवेषी-विचारक मेजर जनरल जे.सी.आर. फर्लांग लिखते है — "पठन-पाठन से हमने दुनिया के सब विश्वासो तथा विचारो का विमर्श किया है, तथा सोचा, कि 'ये भाव कहाँ से उठे?' उस मूल का अन्वेषण करें, तो कहना होगा, कि 'ये भाव विचारशील-जैनसाधुओ से उत्पन्न हुये है।' ये जैनसाधु अति-प्राचीनकाल से समस्त-पृथ्वी पर रहते आये है, जो कि ससार त्यागकर पवित्र-उद्देश्य से एकान्त-वनों तथा पर्वत-कन्दराओ मे रहा करते थे।"[1]

वैदिक-साहित्य में तो अनेकत्र जैन-तीर्थंकरों, महापुरुषों, मुनियों एव दार्शनिक-सास्कृतिक-विचारधारा का बहुमानसहित-उल्लेख मिलता है, जिनका अनेको विद्वानों ने अनेको पुस्तको एव लेखो मे विस्तार से वर्णन किया है; किन्तु वैदिकेतर धर्मों, विचारधाराओ एव सस्कृतियो पर भी जैनधर्म-दर्शन एव सस्कृति का प्रभाव रहा है — इसकी भी शोध-खोज आज सामने आने लगी है। प्रख्यात अन्वेषी विद्वान् डॉ वेदप्रकाश सिह ने अमेरिका, जिसे हम ईसाई धर्मप्रधान देश मानते है, मे जैनधर्म-दर्शन एव सस्कृति के प्रभाव का वर्णन करते हुये लिखा है कि —

"जैनधर्म मे दृढ-आस्था रखनेवाले कुछ लोग अमेरिका मे जैनधर्म की विद्यमानना अतिप्राचीन-काल से ही मानते है। उनका कहना है, कि 'यदि भारत के 'पद्मपुराण' तथा कुछ अन्य प्राचीन-ग्रथो मे वर्णित 'मय' नामक नरेश के बारे मे यह कहा जाता है, कि वह उसी 'मय' जाति का एक नरेश था, जिसका अस्तित्व हजारो वर्ष-पूर्व अमेरिका मे था; तो इसमे सन्देह करने की कोई गुजाइश नही है, कि वह 'मय' नरेश जैनधर्म से प्रभावित था। 'हिन्दू-अमेरिका' नामक प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक भारतीय विद्वान् श्री चमनलाल ने भी अपनी पुस्तक मे इस बात का स्पष्टरूप से उल्लेख किया है, कि "मैक्सिको, जो कि प्राचीनकाल मे मय-सभ्यता का प्रसिद्ध गढ रहा है, मे उन्हे प्रचलित जैन-रीति-रिवाज दृष्टिगोचर हुये। मैक्सिको मे कुछ स्थानो पर ऐसी मूर्तियाँ मिली है, जो जैनो के भगवान् ऋषभदेव की मूर्तियो से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, और इस सम्बन्ध मे तो सन्देह करने की कोई गुजाइश ही नही है, कि जैन-लोगो की तरह ही 'मय'-जाति के लोग भी पर्वतो के शिखरो पर अपने देवी-देवताओ के चरण-चिह्न स्थापित कर उनकी पूजा-अर्चना किया करते थे।"

वे आगे लिखते है, कि "अमेरिका मे किसी समय 'होपी' और 'हुजा' नामक दो रेड-इडियन जनजातियाँ काफी प्रभावशाली और शक्तिसम्पन्न थी, तथा आज भी इनके वश 'एरिजोना' नामक राज्य मे निवास करते है, और आज भी वे पूर्णत. शाकाहारी है। अज़ेरको के अन्तिम-सम्राट् मानतेजुमा ने जिस त्यागभाव और दृढता से अहिसाधर्म का पालन किया, वह भी केवल एक जैनश्रावक के ही बस की बात थी। 'होपी' का अर्थ है — 'प्रशान्त', जो उनकी शान्तिप्रिय और अहिसक-प्रवृत्ति का द्योतक है। अपने सुदीर्घ-इतिहास मे इस जनजाति ने शायद ही किसी विरोधी के विरुद्ध शस्त्र उठाये हो। उनकी सबसे बडी धार्मिक-मान्यता थी, कि "किसी भी जीव की हत्या मत करो।" आज भी होपी-जनजाति के वशज अपनी मान्यता पर दृढता से कायम है।"[2]

लगभग ईसापूर्व तीसरी-शताब्दी मे जब विश्वविजय की कामना लेकर सम्राट्-सिकन्दर भारत को जीतने के लिये यूनान से चला, तो रास्ते मे काकेकस-पर्वत की हिमाच्छादित-पहाडियो को पार करते समय उसने उस भीषण-शीत की स्थिति मे कई दिगम्बर-जैनश्रमणो को वहाँ तपस्या/आत्मसाधाना करते देखा। इसी से

अत्यधिक-प्रभावित होकर वह जब भारत से वापस यूनान लौटने लगा, तो अत्यन्त अनुनय-विनयपूर्वक एक दिगम्बर-जैनश्रमण 'कल्याण-मुनि' को अपने साथ यूनान ले गया था, जहाँ उन्होने वीतराग-जैनधर्म-दर्शन एव सस्कृति का व्यापक-प्रचार किया, तथा आज भी उनकी एथेन्स (यूनान) में समाधि है, जो कि 'सेट कोलानस' के नाम से प्रसिद्ध है। इतिहास साक्षी है, कि यूनान के जनजीवन एव विचारधारा पर कल्याण-मुनि (सेट कोलानस) का जो व्यापक-प्रभाव पडा, वह शताब्दियो तक परिलक्षित होता रहा।"[3]

कुछ वर्ष-पूर्व ही ज्ञात हुआ है, कि लीबिया की राजधानी 'त्रिपोली'-शहर के पास निर्जन-रेगिस्तान मे अतिप्राचीन एव भव्य 'नन्दीश्वरद्वीप-जिनालय' की एव 'समवसरण-मन्दिर' की रचना मिली है, जिसे अज्ञानता या प्रमादवश किसी ने महात्मा-बुद्ध के मन्दिर के रूप मे बता दिया; जिसके फलस्वरूप आजकल वहाँ इसी रूप मे उसका परिचय दिया जाता है। जबकि नन्दीश्वरद्वीप एव समवशरण की विशिष्ट-रचनाशैली का जैनग्रन्थो मे विशदरीत्या-वर्णन प्राप्त होता है, तथा इन दोनो मन्दिरो की रचनाशैली एकदम हू-ब-हू उस वर्णन के अनुरूप ही है, तथा इनमे जो प्रतिमाये है, वे भी दिगम्बर-मुद्रा मे ही है। सम्प्रति प्रामाणिक-पुरातत्त्वविदो एव जैनकला-स्थापत्य-शैली के विशेषज्ञो से सम्पर्क कर इस तथ्य को उनसे पुष्ट कराना अपेक्षित है, ताकि सरकारी-स्तर से इनको 'जैन-मान्यूमेट्स' (जैन-पुरावशेष) घोषित कराया जा सके। बुद्ध के स्मारक तो ये कदापि हो ही नही सकते है, क्योकि बौद्धधर्म-दर्शन-सस्कृति का प्रभाव-क्षेत्र उत्तर, मध्य एव पूर्व-एशिया रहा है, पश्चिम के विशेषज्ञ-विद्वान् निर्विवादरूप से स्वीकार करते है। बौद्धो के ग्रन्थो मे भी इन क्षेत्रो मे भिक्षुओ के जाने या बौद्ध-धर्म-दर्शन का प्रचार प्रसार करने का कोई उल्लेख नही मिलता है। यहाँ यह ध्यातव्य है, कि बौद्धदर्शन का प्रारम्भ ईसापूर्व छठी-शताब्दी मे हुआ था, और उसके अभ्युदय एव विकास की पूरी-यात्रा का वृत्तान्त प्रायश. उनके ग्रन्थो मे उपलब्ध है; जबकि जैनधर्म के अन्तिम-तीर्थंकर भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे, उनसे पूर्व तेईस और तीर्थंकर सहस्राब्दियो के विभिन्न-कालखण्डो मे हुये, जिन्होने जैनधर्म-दर्शन एव सस्कृति की समय-समय पर प्रभावना की थी। इतना प्राचीन-इतिहास तो किसी भी देश मे उपलब्ध नही है, जिसके आधार पर किन-किन देशो मे, किस समय, कितना जैनधर्म-दर्शन और सस्कृति का प्रभाव था — इसे रेखाकित किया जा सके। किन्तु आधुनिक-ससाधनो से समृद्ध-शोधो के द्वारा उपलब्ध-पुरावशेषो एव विचारो जनजीवन पर इसके प्रभाव की परम्परा का सूक्ष्म एव निष्पक्ष-अध्ययन करके ही इसका प्रभाव एव प्रसारक्षेत्र पहिचाना जा सकता है।

जब इस्लामी-सस्कृति के देश लीबिया मे जैन-पुरावशेष सुरक्षित मिले, तो मेरा ध्यान इस्लामधर्म एव उसके धर्मग्रन्थो, धार्मिक-स्थानो की ओर आकर्षित हुआ। मैने एकाध-बार कुछ मनीषियो से साकेतिकरूप से यह सुना था, कि हजरत-मुहम्मद साहब के अभ्युदय के पूर्व इस्लाम के जन्मक्षेत्र (मक्का-मदीना) मे जैनधर्म-दर्शन एव सस्कृति का व्यापक-प्रभाव था। मैने इस क्षेत्र मे कुछ बौद्धिक-आयास प्रारभ किये, तो प्रारम्भ मे ही मुझे विश्वविख्यात-विचारक एव महान् लेखक साने गुरुजी द्वारा लिखित 'इस्लामी-सस्कृति'[4] नामक पुस्तक, जो कि कई खण्डो मे है, हस्तगत हुई। इस पुस्तक की प्रस्तावना 'सत विनोबा भावे' एव पूर्व-राष्ट्रपति 'जाकिर हुसैन' जैसे विख्यात मनीषियो ने लिखी है — यह देखकर इसे पढने की और अधिक जिज्ञासा हुई। मराठी-भाषा मे होने से किचित्प्रारम्भिक-कठिनाइयो के उपरान्त मै इसे पढ गया, और मुझे मेरी मनोवाछित-वस्तु इसमे प्राप्त

हो गयी। श्री साने गुरुजी ने इसमे स्पष्टरूप से घोषित किया है, कि 'हज-यात्रा के समय जो नियम पाले जाते हैं, तथा मक्का के पवित्र-काबा के मंदिर (मस्जिद) मे जो आचार-संहिता का विधान है; वह दिगम्बर-जैन-सस्कृति के प्रभाव एव अनुकरण का ही परिणाम है।' स्वय साने गुरुजी के शब्दो मे —

"काबाच्या मंदिरामुळे मक्काच नव्हे तर सारा जिल्हाच पवित्र मानला जाई। त्या काळया पाषाणाचे चुबन घेण्यासाठी प्रतिवर्षी हजारो हरब येत दिगबर होऊन सात प्रदक्षिण घालीत। दिगबर का व्हायचे? जे कपडे अगावर घालून पापे केली, ते कपडे प्रदक्षिणेच्या वेळेस नकोत। हा दिगबरजैन धर्माचा परिणाम असावा।"[5]

अर्थ — काबा के मदिरो मे मक्का ही नही, बल्कि पूरा जिला ही पवित्र माना जाता था। उस काले-पत्थर का चुबन लेने के लिये प्रतिवर्ष हजारो अरब-लोग आते थे। दिगम्बर (निर्वस्त्र) बनकर सात प्रदक्षिणा देते थे। दिगबर क्यो होते थे? क्योकि जिन कपडो को शरीर पर धारणकर पाप किये थे, वे कपडे प्रदक्षिणा के योग्य नही हो सकते है। — यह सभवत· दिगबर जैनधर्म का प्रभाव रहा होगा।

उक्त-प्रमाण मिलने के बाद इस्लाम धर्म-दर्शन एव सस्कृति के विशेष-अध्ययन की जिज्ञासा हुई। तो 'कुरान-शरीफ' का हिन्दी-रूपान्तर एव अन्य प्रासंगिक-पुस्तकों का अध्ययन किया, तो कुछ और महत्त्वपूर्ण-तथ्य मिले। यथा —

"काऽन-न्नाऽसु उम्मतव्वा हिवतन।"[6]

अर्थ — 'आरम्भ मे सभी लोगो का एक ही धर्म था।' — इस 'धर्म' से उनका तात्पर्य 'शांति' से प्रतीत होता है, क्योकि प्रत्येक प्राणी सुख-शाति चाहता है, तथा प्रत्येक धर्म भी अपना लक्ष्य प्राणी से सुख-शाति की प्राप्ति कराना ज्ञापित करता है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है, कि 'इस्लाम' शब्द का निर्माण 'सलम' शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ 'शाति' है।

जैनदर्शन की मूलभित्ति आत्मिक-चिन्तन एव आत्मिक-शांति पर आधारित है। यह बात समस्त-विचारक निर्विवादरूप से विद्वज्जनो मे स्वीकृत है। जैनसतो ने आत्मचितन-ध्यान के आगे पुण्यकार्यों की गौणता प्रतिपादित की है,[7] इस्लाम मे भी आत्मचितन की प्रधानता के बिना पुण्कार्यों मे निरत रहने की प्रवृत्ति रहने पर समस्त शास्त्राभ्यास की विफलता सूचित की है —

"अतअ् मुरून-न्नाऽसा बिल्बिर्रि व तन्सइना अन्फुसकुम।
च अन्तुम् तत्लूनऽल्किताबा, अफलाऽन अकिलून्॥"[8]

अर्थ — क्या तुम अन्य मनुष्यो को पुण्य करने की प्रेरणा करते हो, और आत्मचिन्तन नही करते? तुम तो 'इलाही' (धर्मग्रन्थ) पढते हो, फिर क्या इतनी बात भी नही समझते?

यहाँ 'इलाही' शब्द से अभिप्राय 'ईश्वरीय-उपदेश' या 'ईश्वरीय-ग्रन्थ' से है, क्योकि 'यहूदी-भाषा (हिब्रू) मे 'इलोहा' (अरबी मे 'इलाह') ईश्वर को कहते हैं। किन्तु हजरत-मूसा ने यहूदियो के मुख्य उपास्यदेव का नामकरण 'जिहोवा' कर दिया। 'जिहोवा' यहूदी-भाषा का शब्द नही है, यह 'खाल्दी'-भाषा 'यवे' (सस्कृत — 'जल्ह') शब्द से निकला बताया जाता है।[9]

जैनदर्शन मे 'आत्मा' को ही परमात्मतत्त्व माना गया है। आ. कुन्दकुन्द कहते हैं, कि — **"अप्पा तो परमप्पा"** यह जैनदर्शन की मौलिक-विशेषता है। इस्लाम मे भी इसकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है।

"अनल्क ला इलाहा इल्ला अना", अर्थात् "(मसूर ने ऐसा कहा कि) मेरे अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा अल्लाह (परमात्मा) नही है, (तो उसे सबकुछ मिल गया)।" यहाँ 'अनल्हक' शब्द 'अह ब्रह्मास्मि' या 'अप्पा सो परमप्पा' का ही सूचक है। इस बारे मे किसी सूफी ने लिखा है —

"किया दावा 'अनलूहक' का, हुआ सरदार आलम का।
अगर सूली पे न चढ़ता, तो वो 'मसूर' क्यो होता?"

जैन-इतिहासपरक कथाग्रन्थ 'महापुराण' मे लिखा है, कि **"मनुष्यजातिरेकैव"**, तो इस्लाम भी मानता है, कि **"कानन्नासु उम्मतिन् वाहिदतिन् है"**,[10] — अर्थात् आरम्भ मे सारे मनुष्य एक जाति के थे। बौद्धग्रन्थ मे भी लिखा है — **"एकैव मानुषी जातिरन्यत् सर्व प्रपञ्चनम्"** — अर्थात् समग्र मनुष्य-जाति एक है, उसमे भेद की परिकल्पना एक प्रपच है।

जैनदर्शन मे सिद्धपरमात्मा को जन्म-जरा-मृत्यु से रहित, पूर्णज्ञानी एव अनन्त-आनन्दमय माना गया है। 'इस्लाम' मे भी कहा है, कि — **"कुल हुबल्लाहु अहद्। अल्लाहुस्समद्। लम् यलिद् व लम् यूलतद्। व लम् यकुन् कुफुवन् अहद्॥"**[11] — अर्थात् 'कहो कि वह परमेश्वर एक सर्वाधार-पूर्णज्ञानी है। वह न उत्पन्न करता है, और न उत्पन्न होता है, और न ही कोई उसके समान है।'

कुरान मे कहा गया है, कि — 'ऐसे परमात्मतत्त्व को जो विस्मृत करता है, वह अपने आपको भूल जाता है, तथा आत्मविस्मृति से बढकर हानिकारक अन्य कुछ नही है।"[12] आध्यात्मिक-चिन्तन की परकाष्ठा पर वे जैन- अध्यात्मवादियो के स्वर मे स्वर मिलाकर कहने लगते है, कि 'कोरे शुष्क शास्त्रज्ञान से कोई लाभ नही है, बडी-बडी पुस्तको को पढकर कोई ज्ञानी नही हो सकता, इसके लिये तो अपने उपयोग को आत्मा मे स्थिर करना होगा' —

"सद् किताबो सद् वरक् दर् नार् कुन्।
जानो दिल् रा जानिबे दिलदार कुन्॥"[13]

अर्थात् 'सैकडो पृष्ठोवाली सैकडो पुस्तको को दूर करो (उनसे ज्ञान की प्राप्ति होने वाली नही है), अपने मन को अन्तर मे स्थित परमात्मतत्त्व की ओर लगाओ।'

'नमाज', वस्तुत यह 'नम:' (नमस्कार हो) का ही बहुवचनसूचक-रूप प्रतीत होता है। 'नम: के विसर्ग के 'स्' हो जाने पर रूप बनेगा — 'नमस्', इसको यदि अग्रेजी मे लिखा जाये, तो NAMAS ही लिखा जायेगा, जो कि उच्चारण करते समय 'नमास्' या 'नमाज' की ध्वनि देगा। भारतीय-सस्कृति मे इष्ट-देवताओ को नमस्कार करके अपना आस्तिक्य प्रकट किया जाता है। उसी का परिवर्तितरूप 'नमाज' है।

'नमाज' मे जो विनय एव स्तुति का क्रम अपनाया गया है, वह विशुद्धरूप जैनधर्म मे आगत 'चत्तारिदण्डक'[14] की पद्धति पर आधारित है। 'चत्तारि-दण्डक' मे परमपूज्य-परमात्मा को सर्वप्रथम 'मगल' रूप कहा है, फिर

लोक मे 'उत्तम' बताया है, और फिर उनकी 'शरण' लेने की भावना प्रकट की गयी है। 'नमाज' मे भी ठीक यही शैली अपनायी गयी है। देखे —

"सुब्हानक अल्लाहुमा! व बिहम्दक, व तबारक स्मुक, व न आला। जहुक, व ला इलाह गेरुक, अऊजु बिल्लाहि मिनश्शैतानिर्रजीम्॥"[15]

अर्थ — मगल हो तेरा हे महाप्रभो! तेरी स्तुति और तेरा नाम मगलमय है, और तेरा माहात्म्य उत्तम है। तेरे अतिरिक्त कोई पूजनीय नही है। दुष्ट-शैतान (अर्थात् पापभाव) से बचने के लिये मै तुझ महाप्रभु की शरण लेता हूँ। "सुब्हान रब्बिय-ल्-अजीम" — महाप्रभु का मगल हो

'सुब्हान' शब्द सस्कृत के 'शुभानि' शब्द के प्राकृतरूप 'सुहाणि' से निःसृत प्रतीत होता है।

इसप्रकार इस्लाम-सस्कृति मे अहिसामूलक-विचार एव पवित्रताप्रधान धार्मिक-जीवन-पद्धति के मूल मे किसी अन्य प्राचीन-सस्कृति के उदात्त-विचार एव सात्त्विक-जीवनशैली रही होगी — यह स्पष्टरूप से प्रतीत होता है, और वह सस्कृति जैनसस्कृति ही रही होगी — यह बात उपरिवर्णित-तथ्यो से स्पष्ट हो जाती है, किन्तु इसके अनुयायियो मे जो अन्य हिसाप्रधान कुछ बाते आयी, वे इनके अनुयायियो की इस्लाम अपनाने से पूर्व की जीवन-पद्धति का प्रभाव प्रतीत होती है।

जैनधर्म-दर्शन-सस्कृति की साधना अपेक्षाकृत कठिन होते हुये भी इसका इतना विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार कैसे हो सका? — इस प्रश्न का उत्तर प्रसिद्ध-विद्वान् स्व प सत्यदेव विद्यालकार के निम्नलिखित विचारो मे निहित है —

"बौद्धधर्म तथा ब्राह्मणधर्म की तरह जैनधर्म पतनोन्मुखी न होकर सदैव उत्क्रान्तिमूलक रहा है, और उसका अस्तित्त्व युग-युगान्तरो की विनाशकारी-परिस्थितियो मे भी बना रहा है। जब समाज मे धर्म से निराश होकर धर्मनिरपेक्ष-भावना प्रबल हो रही है, तब जैनधर्म के अनुयायियो को यह सिद्ध कर देना चाहिये, कि उनका धर्म-विकासोन्मुखी होने के कारण सदा ही परिवर्धनशील रहा है। हर युग की माँग तथा आवश्यकता की उसने पूर्ति की है, और आज भी उसमे 'राष्ट्रधर्म' की आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता विद्यमान है। जैनधर्म का साम्यभाव केवल मानव-समाज तक सीमित नही है, प्राणिमात्र उसकी परिधि मे समा जाते है। इसप्रकार व्यावहारिकरूप मे जैनधर्म की क्षमता असीम है।"[16]

❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 साइन्स ऑफ कॅम्परेटिव रिलीजन, पृष्ठ 14

2 डॉ वेदप्रकाश सिह, 'भारत और अमेरिका', पृष्ठ 135

3 विशेष-दृष्टव्य , क्षुल्लक-पार्श्वकीर्तिजी द्वारा लिखित 'कल्याणमुनि और सिकन्दर' नामक पुस्तक।

4 यह पुस्तक 'साधना प्रकाशन', पुणे (महाराष्ट्र) से प्रकाशित है।

5 इस्लामी सस्कृति, खड 1, पृष्ठ 34

6 कुरान, सूरये बकर, 1/2/24/213

7 आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि एव आचार्य योगीन्द्रदेव का साहित्य इस दृष्टि से अवलोकनीय है।

8 कुरान, सूरये बकर, 1/1/6/44

9 रामधानी सिंह दिनकर, सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 523
10 राहुल साकृत्यायनकृत 'इस्लामधर्म की रूपरेखा', पृ 20 (कुरान, आयत 213)।
11 वही, पृ 15 (कुरान, आयत 112)।
12 'नसुल्लहा फअन् साहुम् अन् फुसुहुम्,
इन्नल् खसिरीन् अल्लज् जीना खसेरु अन्फु सहुम्।"
13 मौलाना रूपी।
14 'चत्तारि मगल " आदि पाठ।
15 राहुल साकृत्यायनकृत 'इस्लामधर्म की रूपरेखा', पृष्ठ 93
16. 'बाबू छोटेलाल जैन समृतिग्रथ' मे प्रकाशित स्व प सत्यदेव विद्यालकार का लेख 'भारतीय जीवन महानद के दो किनारे', पृष्ठ 354 ❖❖

अनित्य-भावना

'नलिनी-दलगत-जलवत्तरल तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।
क्षणमपि सज्जन-सगतिरेका भवति भवार्णव-तरणे नौका॥'

— (आद्य शकराचार्य, मोहमुद्गर, 7)

अर्थ — *जैसे कि कमलिनी के पत्ते पर पडा हुआ जलबिन्दु अत्यधिक चचल, अस्थिर होता है, उसीप्रकार यह जीवन भी अत्यन्त चपल (क्षणभगुर या विनाशशील) है। ऐमी विषमता मे भी यदि कोई व्यक्ति क्षणभर के लिए भी सज्जन की सगति करता है, तो वह उसे ससाररूपी-समुद्र से पार उतरने के लिए नौका के समान सहायक सिद्ध होती है।* ❖❖

प्रथम-तीर्थंकर ऋषभदेव के समय के मनुष्यो को 'ऋजु-जड' (अर्थात् सरल परिणामी भोले अज्ञानी जीव) कहा गया है, तथा अंतिम-तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के समय पचमकाल का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगने से शिष्यो मे कुटिलता बढ जाने से उन्हे 'वक्र-जड' (अर्थात् छल-कपट मे चतुर अज्ञानी जीव) कहा गया है। ये दोनो ही आचरण मे भूल करते थे, अत. इन्हे प्रतिदिन 'प्रतिक्रमण' की अनिवार्यता बतायी गयी है। शेष मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरो के शासनकाल के जीव 'ऋजु-विज्ञ' (सरलपरिणामी व समझदार) होने से उन्हे 'प्रतिक्रमण' प्रतिदिन अनिवार्य नही था; क्योंकि वे त्रुटियाँ नही करते थे। वे धर्मविधि सावधानीपूर्वक शुद्धरीति से करते थे। ❖❖

हड़प्पा की मोहरों पर जैनपुराण और आचरण के सन्दर्भ

✍ डॉ. रमेशचन्द्र जैन

जैन-तीर्थकरो की परम्परा का सम्पूर्ण भारतीय-सभ्यता एव सस्कृति पर गहन-प्रभाव था। इसका परिचय हमे पुरातात्त्विक-साक्ष्यो से भली-भाँति प्राप्त होता है। अभी तक जिन सभ्यताओ के पुरातात्त्विक-साक्ष्यो का गभीरतापूर्वक व्यापक-अध्ययन, मनन-चितन किया जा चुका है, उनमे सिधुघाटी की सभ्यता प्रमुख है। सिधुघाटी के प्रमुख स्थान 'हडप्पा' से प्राप्त पुरासाक्ष्यो से जैन-परम्परा एव सस्कृति का प्रभाव विद्वान्-लेखक ने इस आलेख मे स्पष्ट करने की चेष्टा की है। **— सम्पादक**

सर्वप्रथम यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हडप्पा की लिपि अभी तक बोधगम्य स्वीकार नही की गई है। मैने अपनी ओर से पूर्णत: वैज्ञानिक पद्धति का अनुकरण करते हुए वाचन के प्रयास किये है और अपनी अवधारणा के अनुरूप हडप्पा-लिपि की चारित्रिक विशेषताये गिनाते हुए उसके अनुरूप विकसित की गई वाचन-पद्धति का ब्यौरा भी विभिन्न प्रकाशित एव प्रसारित शोध-पत्रो मे प्रस्तुत किया है। उन्ही वाचन-प्रयासो मे से चुने गए जैन पौराणिक व आचरण-विषयक कुछ उदाहरण यहाँ उपलब्ध किये जा रहे है। उन उदाहरणो से सबधित हडप्पा की मोहरो के चिह्नो और उन पर उकेरे गये चित्रो के विवरण भी **इरावती महादेवन** के ग्रन्थ से प्रस्तुत किये जा रहे है।[1] इसीप्रकार यहाँ यह जोड देना उपयोगी होगा कि वाचन-प्रयासो से उपलब्ध सभी शब्दो के अर्थ **सर मोनियर-विलियम्स** के सस्कृत-अग्रेजी-शब्दकोष पर आधारित है।[2]

हड़प्पा के लेखन की मूल-प्रवृत्तियाँ

वर्ष 1986-87 के हडप्पा की लिपि के वाचन-प्रयासो के प्रारम्भिक दिनो मे जैन- विषयो की उपस्थिति के सकेत मुझे चौकाने वाले लगते थे। फिर हडप्पा-लिपि के अध्ययन-सबधी अपने शोध (शोध-उपाधि के लिये) कार्य मे सतत उनकी पुष्टि होती दिखती रही।[3] भाषा और लिपि का अध्ययन ज्यो-ज्यो आगे बढता गया, हडप्पा-सस्कृति के विषय मे उसके विशुद्ध भारतीय, आचलिक होने का विश्वास पक्का होता गया। और अपने सहज-सरल-स्वरूप मे सस्कृत की सहोदरा और प्राकृत के समान भारतीय अचलो की धूल-माटी मे सनी भाषा उजागर होती गई। उसी के साथ मोटे तौर पर लिखावट मे निहित साहित्य श्रमणिक-स्वभाव का होना सुनिश्चित होता गया। विषय को सूत्ररूप मे प्रस्तुत करना इस लिखावट की विशेषता है। काव्यमयी-भाषा मे उकेरे गये शब्द अपनी प्रकृति से ही विशुद्ध सरल-स्वभाव के है। हर शब्द अपने मौलिक-स्वरूप मे, सम्पूर्ण बहुआयामी विविधता के साथ, लेखक के सन्देश को जहाँ एक ओर अग्रसर करता है, वही दूसरी ओर वह अपने भावात्मक इतिहास का अहसास करा देता है और इन शब्दो मे पिरोया हुआ मिलता है, एक श्रमणिक-समाज का वृहत्तर ताना-बाना। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि हडप्पा-लिपि मूलगुणो को भी सजाये हुए है। इससे वाचन-प्रयासो का मार्ग प्रशस्त होता है एव वाचन-प्रयास के लिये प्रामाणिकता का आधार भी तैयार होता है।[4]

हड़प्पा संस्कृति : मानव-सभ्यता का प्राचीनतम झूलाघर

इस बीच हडप्पा के समान प्राचीन सस्कृति में जैन-पौराणिक-सन्दर्भों की समीक्षा करने के लिये तैयार होने मे, कुछ पुस्तको के अध्ययन ने मेरी बडी मदद की। इनमे से दो लेखक और उनका साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। प्रथम स्थान पर 19वी सदी के मध्य मे **ई. पोकॉक** नामक अग्रेज विद्वान् द्वारा लिखा गया ग्रथ है 'भारत की यूनान मे उपस्थिति' (इण्डिया इन ग्रीस)[5]। इस ग्रथ मे वह यूनान-देश के प्राचीन-इतिहास की विसगतियो का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए सविस्तार बताता है कि प्रारम्भिक दौर मे यूनान के मूल-निवासी अत्यत दीन-हीन अवस्था मे निवास करते थे। उन्हे भारत से विस्थापित होकर आये श्रमणिक-समुदाय के लोगो ने न सिर्फ सभ्यता का पाठ पढाया, बल्कि उनको धार्मिक, पौराणिक और भाषायी पहचान भी प्रदान की। इसी श्रेणी के दूसरे विद्वान् है प्रसिद्ध ईसाई पादरी **फादर हेरास**। आप हडप्पा की लिपि के प्रारम्भि अध्येताओ मे से एक है। आपने भारत के साथ-साथ यूरोप और मध्य-एशिया के विभिन्न-देशो के प्राचीन-इतिहास और वहाँ प्रचलित-भाषाओ का गहन-अध्ययन किया। और उस आधार पर हडप्पा के लेखन को समझने का प्रयास किया। अपने ग्रथ 'स्टडीज इन प्रोटा-इण्डो-मैडीटरेनियम कल्चर',[6] मे आपने प्राचीन इराक देश के 'सुमेरियन' नामक सास्कृतिक स्तर पर 'अन' नामक देवता का जिक्र किया है। जिसके विषय मे वे विस्तार से वर्णन करते है। और वहाँ की खुदाई से प्राप्त उसकी कास्य-प्रतिमाओ के फोटोग्राफ प्रस्तुत करते हुए उसकी समानता हडप्पा की सस्कृति से उपलब्ध मूर्ति-शिल्पो और बाद के *भारतीय ऐतिहासिक व पौराणिक व्यक्तियो मे देखते* है। सुमेरी 'अन' के खोफजे नामक स्थान से उत्खनित मूर्तियो की कुछ विशेषताये उन्होने गिनाई है, वे उदाहरणार्थ प्रस्तुत है –

अ मूर्ति सदा नग्न-अवस्था मे प्रस्तुत की गई है।

ब बहुधा मूर्ति के कन्धो पर बालो की दो लटे प्रदर्शित की जाती है, जबकि उसके सिर के शेष हिस्से मे बालो का अभाव दर्शाया गया है।

स मूर्ति के सिर पर चारो ओर चार फलकोवाला त्रिशूल दर्शाया जाता है।

द ताँबे की इन मूर्तियो मे आँखे अलग से भरकर बनाई जाती है।

ह. मूर्ति की कमर के चारो ओर रस्सी या पट्टीनुमा कोई चीज लिपटी हुई दिखाई जाती है।

फ *'अन' की मूर्तियो के साथ उसी रूपाकार की, दो थोडी छोटी मूर्तियाँ* भी मिलती है, इनमे से कभी-कभी एक नारी मूर्ति भी होती है। 'अन' की इन मूर्तियो मे, नग्नता, कन्धो तक फैली बालो की लटे, सिर के ऊपर स्थापित त्रिरत्न या एक ही समय मे चारो ओर देख पाने की क्षमता के प्रतीक की उपस्थिति और भारतीय जैन-मूर्तियो की परम्परा के समान मात्र मूर्ति की आखो को भरकर (इनले की पद्धति से) बनाने की परिपाटी का अनुकरण इत्यादि विशेषताये उसे सीधे हडप्पा-सस्कृति के माध्यम से जैनो की ऋषभदेव की मूर्ति-परम्परा से जोडती है। यहाँ यह बताना समीचीन होगा कि 'अन' नाम 'अक' शब्द या फिर इण्डो योरोपियन शब्द 'वन' (अग्रेजी) का पूर्वज रहा होगा, जो ऋषभदेव के पर्यायवाची 'आदि' का समानधर्मा है। इस पर फादर हेरास का यह कथन महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि सास्कृतिक प्रवाह की धारा मार्शल के उस वक्तव्य से भी पुष्ट होती है, जो हडप्पा-सस्कृति की खोज को स्थापित

करने के तुरन्त बाद 1923-24 मे उन्होने दिया था।[7] अपने समय के श्रेष्ठ पुरातत्त्वविदो की अनुशसाओ को ध्यान मे रखते हुए उसमे उन्होने सभावना व्यक्त की थी कि 'भारत मानव-सस्कृति का प्रथम झूलाघर रहा होगा।'

हड़प्पा-लिपि के अध्ययन से जुड़ी कुछ विसगतियाँ

अत: हडप्पा-सस्कृति की लिपि के अध्ययन से उभरते जैनो के आचरण-सबधी और पौराणिक-स्वरो और उस समय की समकालीन-सस्कृतियो के विकास पर उनकी गहरी छाप के रहते मेरा हडप्पा की मोहरो पर उत्कीर्ण-अभिलेखो का अध्ययन आगे बढता रहा। मगर हडप्पा की लिपि विश्व के लिपिशास्त्रियो के लिये एक अभेद्य-दीवार बनी हुई है। इतना ही नही, बलिक वैश्विक स्तर पर विद्वानो के बीच एक प्रकार का दुराग्रह विकसित होता रहा है। सभवत: इसके पीछे कुछ राजनैतिक कारण भी रहे है। सामान्यत: विदेशी पाश्चात्य विद्वान् जहाँ एक ओर इस लिपि मे व्यक्त भाषा को द्रविड सिद्ध करने पर तुले हुए है और उन्ही के इस प्रवाह के रहते कुछ तमिलभाषी विद्वान् हडप्पा-लिपि के चिह्नो को मात्र प्रतीक-चिह्न (इडियोग्राफ्स) समझकर मोहरो पर तमिलभाषा उकेरी गई होने का आग्रह करते है। इसके विपरीत भारतीय विद्वान् जाने अनजाने और सम्भवत· भारतीय उपमहाद्वीप की भौगोलिक-स्थिति और उसके सास्कृतिक-इतिहास को दृष्टि मे रखते हुए, हडप्पा की लिखावट मे सस्कृत-मूलक भाषा पर जोर दे रहे है। ऐसी परिस्थिति मे किसी भी अध्येता के लिये अपने विचारो को प्रभावीरूप से प्रस्तुत करने मे कठिनाई होती है और अगर वह अपनी बात कहे भी, तो विद्वत्-समाज सहमति देने मे कठिनाई का अनुभव करता है। इस विषय की सबसे बडी बाधा ऐसे बाहरी-प्रमाण के नितात अभाव की है, जो लिपि के वाचन के किसी प्रयास के लिये निर्णायक हो सके। कई प्राचीन लिपियो के वाचन-प्रयासो के समय द्विभाषिक-अभिलेख बडे सहायक सिद्ध हुए थे, मगर हडप्पा के सन्दर्भ मे ऐसा कोई द्विभाषिक-अभिलेख प्राप्त नही हुआ है।

मोहरो पर उकेरे गये चित्रो का महत्त्व

इन विसगतियो और कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए, यहाँ वाचन-प्रयास करते हुए अभिलेखो मे उपलब्ध आतरिक-प्रमाणो पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। और सौभाग्य से हडप्पा-लिपि मे ऐसे आतरिक वाचन-प्रमाणो की कमी नही है। इनमे सबसे उल्लेखनीय, मोहरो पर उकेरे गये विभिन्न चित्र है, जो हडप्पा के चिह्नो के साथ बडी कुशलता के साथ उकेरे गये है। इन्हे इरावती महादेवन ने 'फिल्ड सिम्बल' नाम दिया है।[8] महादेवन ने ऐसे लगभग एक सौ अलग-अलग चित्रो (फिल्ड सिम्बल्स) की पहचान की है। अनेक बार मोहरो का लेखक इन चित्रो से लेख की चित्रात्मक अभिव्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत करता प्रतीत होता है और वाचन-प्रयास को प्रामाणिकता भी प्रदान करती हुई दिखती है। इन्ही चित्रो के कुछ उदाहरणो मे यदि जैन पौराणिक-कथाये दर्शाई गई प्रतीत होती है, तो कुछ चित्र ऐसे भी है जिनमे जैनमुनियो के समान मानवाकृतियाँ, सौम्यभाव लिये कायोत्सर्ग-मुद्रा मे उत्कीर्णित है।[9]

हड़प्पा की लिपि मे उकेरे गये जैन-आचरण और पुराणो के सन्दर्भ ·

जैसाकि पहले कहा गया, प्रारम्भ से हडप्पा की मोहरो पर जैन विषय-वस्तु का अहसास होने लगा था।

कुछ चुने हुए वाचन-प्रयासो के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे है।

1. **अपरिग्रह[10], सील-क्रमाक 4318, 210001 प य भर (ण)** – जो परिग्रहो को नियत्रित करता है (210001) व्यक्ति सिर पर त्रिरत्न धारण किये हुए है और दो स्तम्भो के मध्य मे स्थित है। सील पर उकेरा गया चित्र विषय का चित्रात्मक-अलकरण प्रतीत होता है। यहाँ व्यक्ति सौम्यभाव लिये नग्नावस्था मे कायोत्सर्ग-मुद्रा मे दिखाया गया है। उकेरे गये चित्र का सम्पूर्ण-वातावरण जैनो के समान श्रमणिक प्रतीत होता है।

2. **निग्रथ[11], सील-क्रमाक 4307, 210001 य रह गण्ड/ग्रथि** – जिसने बधन त्याग दिये है। (25090) उपरोक्त के समान चित्र मे व्यक्ति को नग्न-अवस्था मे कायोत्सर्ग-मुद्रा मे दिखाया गया है, जो पत्तो युक्त गोलाकार द्वार मे दिखाया गया है। पुनः चित्र म जैनो के समान श्रमण-परम्परा के एक मुनि की चित्रात्मक-अभिव्यक्ति प्रतीत होती है।

3. **योगाभ्यास[12], सील-क्रमाक 2222, 104701 य शासनकर्ता** – जो (स्वय पर) शासन करता है। सीग धारण किये एक व्यक्ति तख्त जैसे आसन पर विराजमान है। यह चित्र स्पष्टरूप से योगसाधना मे रत एक व्यक्ति का है, जिसे योगाभ्यास के रूप मे स्वय पर नियत्रण करते हुए दर्शाया गया है।

4 **स्वय मे लीन, सील क्रमाक 2410, 100401 य व्रात्य/धर्म स्वसग** – जो व्रात्य या धर्मपुरुष स्वय के साथ अर्थात् अकेला है। इसे सम्भवत. ऐसे भी कहा जा सकता है – जिसने सब बधनो को त्याग दिया है और नितात अकेला हो गया है। यह चित्र छोटे सीगवाले एक साड का है। हडप्पा के लिपि के वाचन-प्रयास का कार्य आगे बढने से अनुभव होता है कि सम्भवतः छोटे सीगवाले साड का यह चित्र मोहरो पर ऋषभ के प्रतीक के रूप मे अकित किया गया है। उसी को थोडे व्यापक-सन्दर्भ मे शायद एक सीगवाले साड अर्थात् यूनीकार्न के रूप मे उकेरा जाता है। जब इसके साथ एक पौराणिक-छत्र अर्थात् अक्ष का भी अकन किया जाता है।

5 **जड़ भरत[13], सील क्रमाक 4303, 216001 सत/सुत ज (द्व) व्रत** – सुत य द्व वृत अथवा सुत जड भरत (ऋषभ) पुत्र जिसके दो (जन्म) वृत (यहाँ चित्रित है) अथवा (ऋषभ) पुत्र (ही) जड भरत (है)।

एक पक्की मिट्टी की पट्टिका के दोनो और दो अलग-अलग मोहरो के छापे अंकित है। हडप्पा के प्रतीक चिह्नो के साथ एक दो मजिला रूपाकार और एक त्रिशूलनुमा यष्टि के साथ स्थित एक छोटे सीगवाले साड के बीच मे एक मानवाकृति का चित्र है।

यह पूरा फलक हड़प्पा की लेखन-पद्धति का दुर्लभ प्रमाण है, जिसमे लेखन और चित्रण की सीमाये निर्धारित नही की गई है। लेखन की समग्रता मे चित्रण, प्रतीक-चिह्न और अक्षर सब एक साथ है। सम्पूर्ण चित्र सम्भवतः ऋषभ के पुत्र भरत, जिसे 'जड भरत' के नाम से भी जाना जाता है। उसकी एक जीवनकथा-अलकरण है।[14] मजेदार तथ्य यह है कि जिसे महादेवन बीच की मानवाकृति मान रहे है, वह भी अक्षर-प्रतीक है 'सुत' अर्थात् 'पुत्र'। ऋषभ (छोटे सीग वाला साड) पुत्र और पालकी मे

बैठे सौवीरराज के बीच सवाद का दृश्य चित्रित किया गया है।

बिना प्रतीक-चिह्नों वाला फलक, दाँयी ओर से प्रारम्भ करके एक शेर, एक बकरी, एक आसन पर विराजमान एक व्यक्ति और पेड की मचान पर बैठा व्यक्ति नीचे शेर के साथ।

यह चित्र पुनः जड भरत की एक और जन्मकथा का दृश्य है। **इसमे महादेवन ने जिसे बकरी समझा है, वह वास्तव मे मृग-शावक है।** कथा के अनुसार, सिह के भय से एक गर्भिणी मृगी, अपने गर्भ के शिशु को त्याग, जल मे गिरकर मर जाती है। और उस नन्हे मृग-शावक को भरत मुनि पाल लेते हैं। मगर उसके मोह मे पडने के कारण उन्हे पुन· एक ब्राह्मण के कुल मे जन्म लेना पडता है। उसी जन्म की एक कथा को दूसरे फलक पर चित्रित किया गया है।

6 **ऋषभदेव को समर्पित सत-आसन[15], मोहर-क्रमाक 2430, 107811 परमात्म या प्रमातृ या परम नत/व्रात्य** – सत्य धर्म/धारणा के प्रतिपादक अथवा परम (महामहिम) नत (हैं)। मोहर पर दाँयी ओर, क्रम से उकेरे गये है –

अ माथे पर सीगयुक्त, पीपल की डालो के बीच एक खडी मानवाकृति।

ब एक कम ऊँचा आसन, जिस पर कुछ रखा प्रतीत होता है।

स माथे पर सीगयुक्त एक नतमस्तक बैठी हुई मानवाकृति।

द एक मेढा

य नीचे की ओर पंक्तिबद्ध, पोशाक पहने सात लोग।

21 सत/सुत आसन, सत्य का आसन/सिहासन/सोम का आसन। 33 भृ धारण करना – यहाँ पहली पंक्ति नतमस्तक व्यक्तित्व का वर्णन हो सकता है, मगर एक सम्भावना नतमस्तक व्यक्ति द्वारा पीपल की डाली मे खडे व्यक्ति को सम्बोधन भी हो सकता है – **परमात्मा/परम सत्य के उद्घोषक? परम-व्रात्य! सत्य/सोम/राज्य के सिहासन का आरोहण करे।**

जैन-पुराण मे वर्णन है कि सन्यास धारण करने के बाद ऋषभदेव छः माह तक कायोत्सर्ग-मुद्रा मे खडे रहे। फिर उसके बाद छ· माह तक भोजन या आहार-प्राप्ति के निमित्त घूमते रहे। इस बीच तीर्थंकर-परम्परा से अनभिज्ञ सब राजे, महाराजे (भरत चक्रवर्ती सहित) उन्हे तरह-तरह के उपहार व राजसिहासन इत्यादि अर्पित करते थे।[16] इसीप्रकार 'अथर्ववेद' के 'व्रात्य सूक्त' मे वर्णन आता है कि व्रात्य (=ऋषभदेव/जैनमुनि/ वातरशन मुनि) को एक वर्ष तक खडे पाकर देव उनसे खडे रहने का कारण पूछते है और जवाब मे व्रात्य उन्हे आसन देने को कहते है, जिसे 'देव' उपलब्ध कराते है।[17]

दोनो ही कथाओ मे, एक वर्ष की अवधि, के उपरान्त 'आसन' प्रदान करना उल्लेखित है। इसमे यदि अथर्ववेद की कथा के 'देव' को 'शासक' स्वीकार कर लिया जाये, तो मोहर पर के चित्राकन को समझना बहुत हद तक सरल हो जाता है। इससे, एक और सम्भावित कथा[18] के स्वीकार की सम्भावनाये भी बढ जाती है, जिसमे सम्भवतः चक्रवर्ती भरत अपने छोटे भाई बाहुबली की असफल तपस्या का कारण उसके मन मे फँसी 'पराये राज्य' मे खडे होने के क्षोभ की भावना को जानकर उसकी मुक्ति के लिये राज्य-सिहासन अर्पण

करता है। सम्भव है कि भारत की अन्यान्य पौराणिक कथायें, और हो सकता है कई विदेशी कथायें, भी किसी एक ही मूल-सत्य पर आधारित हो।

7. **सोमत्व[19], मोहर क्रमांक 2420, 104811 य सोमामृत/य सोमामरण/सोमामर** – सोम जो अमर है अथवा सोम मे जो अमर है। सिर पर सीग धारण किये हुए तीन दृश्यमान चेहरे युक्त आसन पर विराजमान व्यक्ति जिसे पाँच जीवो ने घेरा हुआ है। दायी ओर से पशुओ का क्रम मे गेंडा, भैसा, मृग, शेर और हाथी। मृग की उपस्थिति के विषय में उल्लेखनीय है कि 'वह' युगलरूप मे आसन के नीचे, विपरीत दिशाओ मे गर्दन घुमाये हुए दर्शाये गये है। मानो वे उपरोक्त व्यक्तित्व के वाहन के प्रतीक हो।

   यहाँ सोम, चन्द्र के माध्यम से शिव के व्यक्तित्व से जुडता है। और शिव अपनी मूल-अवधारणा मे ऋषभ के पर्यायवाची प्रतीत होते है। इससे क्या हम निष्पत्ति निकाल सकते है कि सोमत्व ही शिवत्व या केवलज्ञान अथवा अमृत है? इसीप्रकार यदि ऋषभदेव को ऐतिहासिक-अवधारणा से ऊपर उठकर पहचानने का प्रयास करे, तो क्या वे दिन रात की तरह दो विपरीत, मगर समान-कालखण्डो के सूर्योदय अथवा दूज के चाद के समान मिलन-बिन्दु का मानवीकरण है?

8 **मेधिवृत मे जुते हुए पशुओ, मुक्त होओ[20]**, (धौलावीरा, कच्छ, गुजरात की गढी के उत्तरी द्वार पर अकित धर्म-सदेश) **मेधिवृत जग प्रवृत पशु भव भ्रम् वृत**, पशुवत् होकर मानव-समाज (जग) मेधिवृत मे जुतकर चक्कर लगाता है।

   यह सदेश हडप्पा के दस चिह्नो के माध्यम से उपरोक्त द्वार के शीर्ष पर, 'मोजाइक' पद्धति से सम्भवत· काष्ठ-फलक पर बनाया गया था, जो पुरातत्त्ववेत्ता डॉ आर बिष्ट को द्वार मार्ग के पास वाले बरामदे मे उलटा पडा मिला है। जैसा कि वाचन-प्रयास से उपलब्ध शब्दो से ज्ञात होता है, धर्म-सदेश का यह मात्र आधा-भाग है, दूसरा पूर्ण करनेवाला शेष-भाग, द्वार-मार्ग के दूसरी ओर अकित रहा होगा, या फिर इस फलक के नीचे एक दूसरी पंक्ति भी लिखी गई होगी, जो अब नष्ट हो गई है।

❖❖

संदर्भ-सूची

1 'द इण्डस स्क्रिप्ट', इरावती महादेवन, भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण निदेशालय, नई दिल्ली, 1997

2 'सस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', सर मोनियर विलियम्स, मुशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली, तृतीय पुनरावृत्ति, 1998

3 'जैन सब्जैक्ट मैटर ऑन द हडप्पन सील्स', डॉ रमेश जैन ऋषभ सौरभ, ऋषभदेव प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1992, पृ 113-116

4 'टेस्ट डिसाईफरमेट ऑफ द हडप्पन इंस्क्रिपशन्स', डॉ रमेश जैन (शोधपत्र भारतीय पुराभिलेखन परिषद् के 26-39 अप्रैल 2000 को इरोड, तमिलनाडु मे सम्पन्न वार्षिक अधिवेशन मे प्रस्तुत किया गया)।

5 'इण्डिया इन ग्रीस', ई पोकाका, ओरिएण्टल पब्लिशर्स, देहली, भारत, वर्ष 1972 (पुरावृत्ति)।

6 'स्टडीज़ इन प्रोटो-इण्डो-मैडीटरेनियन कल्चर', फादर ह, हेरास, इण्डियन हिस्टॉरिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मुम्बई, 1953, पृ 170-181

7 'एनुअल रिपोर्ट, आर्कोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया', 1923-24, सर जॉन मार्शल, पृ. 50।
8 इरावती महादेवन, 1977
9 'हडप्पन्स रोट इन वैदिक लैंगुएज', डॉ. रमेश जैन, पुराभिलेख पत्रिका, अक 24, 1998, पृ 46 50
10. सन्दर्भ 9 की तरह।
11 सन्दर्भ 9 की तरह।
12 सन्दर्भ 9 की तरह।
13 सन्दर्भ 9 की तरह।
14 'ए क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ इण्डिया', जॉन गैरेट, एटलान्टिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स, नई दिल्ली (पुनर्मुद्रण), 1989
15 रमेश जैन, 2000
16 'पुण्यास्रवकथाकोषम्', श्री रामचन्द, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर, 1987, पृ 269
17 'जिन ऋषभ तथा श्रमण-परम्परा का वैदिक मूल', डॉ मुनीशचन्द्र जोशी, ऋषभ सौरभ, 1992, पृ 66-67
18 श्री रामचन्द्र, 1978, पृ 276
19 सन्दर्भ 12 की तरह।
20 आवरण-कथा ओजस्विनी, वर्ष 5, अक 6, पृ 17

❖❖

पुस्तक-रत्न

पुस्तक का मूल्य रत्नो से भी अधिक है, क्योंकि रत्न बाहरी चमक-दमक दिखाते है, जबकि पुस्तके अन्त करण को उज्ज्वल करती है।

— महात्मा गाँधी

❖❖

'न धर्मो धार्मिकैर्विना'

'अर्हच्चरण-सपर्या-महानुभाव महात्मनामवदत्।
भेक प्रमोवमत्तः कुसमनैकेन राजगृहनगरे॥'

— (आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 5/3/120)

अर्थ *— अरिहतभगवान् के चरणो की पूजा के माहात्म्य को राजगृही-नगरी मे एक छोटे से पुष्प को ले करके प्रमोद मे मत्त होता हुआ मेढक महापुरुषो की देवपर्याय प्राप्त हुआ।*

'सपर्या' *— (ऋग्वेद 1/73/2, पृष्ठ 145)*

'सपर्या' शब्द 'पूजा' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

❖❖

भारतीय शिक्षण-व्यवस्था एवं जैन विद्वान्

✍ श्रीमती अमिता जैन

भगवान् महावीर की परम्परा मे वर्तमान-युग मे विद्वानो का विशिष्ट-योगदान रहा है। ये विद्वान् कैसे बन, इनकी गुणवत्ता का स्तर क्या था, तथा इनका समाज एव देश के विकास मे क्या योगदान रहा है? — यह एक विशाल-शोधप्रबन्ध का विषय है। प्रस्तुत-आलेख मे विगत बीसवी-शताब्दी की उस विषम-स्थितियो का उल्लेख है, जो जैन-विद्वानो के व्यक्तित्व-निर्माण मे प्रबल-बाधक थी, तथा जैन-विद्वान् उन्हे पारकर कैसे अपने लक्ष्य को पाकर समाजसेवा कर सके — इसका मार्मिक-निरूपण संक्षिप्त-आकार मे किया गया है।

— **सम्पादक**

भारतीय शिक्षण-व्यवस्था मे प्राचीनकाल से ही सस्कृत एव प्राकृतभाषाओ का शिक्षा-माध्यमो के रूप मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ईसापूर्वकाल से ही प्राचीन शिलालेखो, अभिलेखो, धार्मिक-साहित्य, लोक-साहित्य (विशेषत. नाटको) एव वैज्ञानिक साहित्य (लोकोपयोगी कलाओ, विद्याओ, तकनीकी-शिक्षा, रसायन एव भौतिक ज्ञान-विधाओ आदि को प्रस्तुत करनेवाले साहित्य) मे इन्ही दोनो भाषाओ का ही प्रमुखत: योगदान मिलता है। इस तरह से हम सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ को भारतीय ज्ञान-विज्ञान एव साहित्य-सस्कृति-इतिहास की 'सवाहिका भाषाये' कह सकते है।

भारत मे दो प्रधान सस्कृतियाँ रही हैं, एक 'श्रमण-सस्कृति' और दूसरी 'वैदिक-सस्कृति'। इनमे श्रमण सस्कृति के पुरोधाओ ने **जन-जन तक निष्पक्षभाव से ज्ञान का आलोक पहुँचाने की दृष्टि से मूलत: 'प्राकृतभाषा' को अपनाया**, किंतु उन्होने ज्ञान एव लेखन के लिए 'सस्कृत' को भी समानरूप से प्रश्रय दिया। आज उपलब्ध जैन-वाड्मय इस तथ्य का प्रबल साक्षी है, कि जहाँ आगम-ग्रथ 'प्राकृत' मे निबद्ध हुये, वही उसका अपार व्याख्या-साहित्य, उपजीवी साहित्य एव स्वतत्र लेखन 'सस्कृतभाषा' मे विपुल-परिमाण मे निबद्ध हुआ है। प्राय. सभी जैनाचार्य एव विद्वान् 'प्राकृत' के साथ-साथ 'सस्कृत' के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होने न केवल स्वय 'प्राकृत' के साथ 'सस्कृत' को विधिवत् सीखा, अपितु 'समाज-व्यवस्था' मे भी जनसामान्य के मध्य इस तथ्य को प्रसारित किया। इसीलिए सामान्य जैन श्रावक-श्राविकाये एव बच्चे 'प्राकृत' एव 'सस्कृत' को सीखते-समझते रहे।

प्राचीन भारतीय शिक्षण-व्यवस्था में भी कोई भेदभाव मुख्यत: नही था, इसीलिए उन्हे अध्यापकगण 'गुरुकुलो' मे निष्पक्षभाव से भाषाओ एव शास्त्रो का ज्ञान प्रदान करते रहे। किंतु मुगलो के शासन मे भारतीय जनमानस बुरी तरह पददलित होने से कुछ कुठाग्रस्त हो गया तथा उसके परिणामस्वरूप वैचारिक सकीर्णता उदित हुई। इसका प्रभाव शिक्षा-जगत् पर भी पडा। जहाँ एक ओर स्त्रीशिक्षा इससे प्रभावित हुई, वही जातिवादी-सकीर्ण-मानसिकता के वर्गविशेष के अतिरिक्त शेष भारतीय-समाज को शिक्षा के द्वार बद कर दिये गये। फिर भी जैनसमाज ने शिक्षा के प्रसार को 'परमात्मा की आराधना के समान आवश्यक' मानते हुये अनेकों प्रतिबधो के बाद भी येन-केन-प्रकारेण

चालू रखा। **बच्चो को बाल्यावस्था से ही णमोकार-मत्र, चत्तारि-मगलपाठ, प्रतिक्रमणसूत्र, सामायिक-पाठ, द्रव्यसग्रह आदि के माध्यम से 'प्राकृतभाषा' का अभ्यास कराते रहे, तो भक्तामर-स्तोत्र, कल्याणमंदिर-स्तोत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि के द्वारा 'सस्कृतभाषा' का बोध जीवित रखा। इसमे उन्होने स्त्रियो को प्रतिबधित नही किया, तभी तो मात्र चौके-चूल्हे तक सीमित रहने वाली महिलाये भी इन पाठो का नित्य-पारायण करती रही। और इनके माध्यम से सस्कृत-प्राकृत भाषायें उनकी साँसों मे प्रतिध्वनित होती रही।**

जैन-समाज की आतरिक-शिक्षण-व्यवस्था भले ही कितनी ही उदार रही हो, कितु भारतीय-समाज इस युग मे शिक्षण-व्यवस्था के प्रति पर्याप्त सकीर्ण-विचारधारा मे जकड चुका था। शैक्षिकरूप से उच्चवर्ग कहे जाने वाले ब्राह्मण-समाज ने निम्नवर्गों के साथ-साथ जैनो एव बौद्धो को भी शिक्षालयो के द्वार बन्द कर दिये थे। जो जैन विद्वान्, यदि विधिवत् शिक्षा-ग्रहण कर भी सके, तो वह उनके अदम्य साहस, अपूर्व त्याग एव अनुपम सहिष्णुता का ही निदर्शन था। जैसे बौद्धो के प्रचण्ड-प्रभाव के युग मे अकलकदेव ने बौद्ध बनकर गुरुकुल मे शिक्षा ली थी और कैसे जान हथेली पर रखकर वे पढ सके थे — यह अपने आप मे एक रोमाचकारी वृत्तान्त है। उनके भाई निकलक का बलिदान एव अकलक का पद्मसरोवर मे छुपकर प्राणरक्षा करना 'शिक्षा व्यवस्था' के वैषम्य का स्पष्ट प्रमाण है। लगभग ऐसी ही विकट-स्थितियाँ अट्ठारहवी सदी के प्रारभ से लेकर बीसवी सदी के छठवे दशक तक विद्यमान रही। यद्यपि इस बारे मे विधिवत् प्रमाण सकलित कर कोई व्यवस्थित-लेखन किया जाये, तो हजारो पृष्ठो का शोधग्रथ बन सकता है, फिर भी यहाँ मात्र दो दृष्टान्तो को ही सक्षेपत प्रस्तुत किया जा रहा है —

महामनीषी विद्वद्वर्य **पडित माणिकचन्द्र जी कौन्देय** ने 'धर्मफल-सिद्धान्त' नामक अपनी पुस्तक मे इस दुर्व्यवस्था के प्रति प्रकाश डालते हुए उस समय की स्थिति के रोमाचकारी-विवरण प्रस्तुत किये है। तदनुसार बीसवी शताब्दी के प्रारभिक दशक मे ज्ञाननगरी 'वाराणसी' मे जैनो को पढने-सीखने के लिए कोई विद्यालय नही था। सस्कृत-शिक्षा के केन्द्र अनेक थे, कितु उनमे जैनो को प्रवेश नही मिलता था। यहाँ तक कि उन्हे अस्पृश्य (अछूत) माना जाता है, वे उनके स्पर्श मात्र से घर, वस्त्र और शरीर को अपवित्र हुआ मानकर उसकी शुद्धि किया करते थे। पराकाष्ठा तो यह थी कि उनके साथ सभाषण-मात्र से वे वैदिक विद्वान् अपना मुख अशुद्ध हुआ मानते थे। इसलिए उत्साही एव लगनशील जैन-छात्रो को अपनी धार्मिक-पहिचान छिपाते हुए वैदिको के रूप मे ज्ञानार्जन कराना पडता था। उक्त पुस्तक के अनुसार प नरसिह दास जी, प रणछोरदास जी, न्यायदिवाकर प पन्नालाल जी, प गौरीलाल जी, प रामदयालु ही एव प कलाधर जी आदि उनके (लेखक के) पूर्ववर्ती विद्वानो ने ब्राह्मणवेश मे सस्कृतभाषा एव दर्शन न्याय आदि का शिक्षण प्राप्त किया, ताकि वे जैनग्रथो का हार्द समझ सके और समाज के अन्य जिज्ञासुओ को पढा-लिखा सके तथा ग्रथो का सम्पादन-अनुवाद कर सके। तथा उन्ही तथ्यो को सरल-शब्दो मे नवीन-पुस्तको के रूप मे लिख भी सके।

यदि किसी जैन-अध्येता की किचित् भी असावधानी से उसके 'जैन' होने का रहस्य खुल जाता था, जो उसे रातोरात भागकर अपनी जान बचानी पडती थी। ऐसे ही एक घटनाक्रम मे एक जैन-अध्येता को वाराणसी से भागकर नदिया (नवद्वीप-बगाल) मे जाकर छद्मरूप मे अपने शेष-अध्ययन को पूर्ण करना पडा था।

उक्त बिन्दुओं पर विचार करे, तो हम पाते हैं कि हमारे पूर्वज ने किस कीमत पर समाज मे शिक्षण-व्यवस्था चालू रखी और ज्ञानज्योति को अखण्ड-प्रज्वलित रखा। आज यह सरकार की समभावीनीति एव स्वनामधन्य **डॉ मण्डन मिश्र जी** एव **प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी** जैसे उदारचेता-महामनीषियो का ही महान् योगदान है, जिसके फलस्वरूप आज जैनो को सस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओ एव दर्शन-न्याय आदि ज्ञानविधाओ का निष्पक्षभाव से शिक्षण सस्कृत-महाविद्यालयो एव विश्वविद्यालयो मे दिया जाता है। यही नही, प्राकृतभाषा एव जैनदर्शन के जितने भी विभाग, अध्ययनकेन्द्र आज देशभर मे चल रहे है, नये खुल रहे है — वे भी इन्ही के प्रत्यक्ष या परोक्ष योगदान से ही गतिशील हैं।

प्राचीन-व्यवस्था एव परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे हम पाते है कि इन दोनो महामनीषियो ने जैनसमाज मे भारतीय परपरित-शिक्षा को निष्पक्षभाव से प्रदान करने के लिए जो योगदान किया है, वह निश्चय ही स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य है। ❖❖

नाम का व्यामोह

आचार्यप्रवर शांतिसागर जी के सघ मे एक मुनिश्री नेमिसागर जी थे। एक बार पूज्य आचार्य शांतिसागर जी के अनन्य-भक्त श्रावक श्रेष्ठि (गुलाबचद जी) ने पूज्य आचार्यश्री से पूछा कि "आचार्यश्री! मै दस हजार रुपये दान देना चाहता हूँ, कहाँ दूँ? कृपा करके मार्गनिर्देशन करें।" तो आचार्य शांतिसागर जी बोले कि "कमाते समय क्या मेरे से परामर्श या अनुमति ली थी, जो अब उपयोग करते समय पूछ रहे हो? जहाँ जी मे आये, वैसा करो।"

तब वह श्रेष्ठि सघस्थ-मुनि श्री नेमिसागर जी के पास गये और यही जिज्ञासा रखी, तो मुनि नेमिसागर जी ने अपने नाम से चलनेवाली किसी सस्था मे वह धनराशि दान देने की प्रेरणा दी। तदनुसार ही उक्त श्रेष्ठि ने दस हजार रुपयो की धनराशि मुनिश्री द्वारा निर्दिष्ट-सस्था मे दान कर दी। जब यह वृत्तान्त आचार्यप्रवर श्री शातिसागर जी को विदित हुआ, तो वैयक्तिक-नाम से सस्था चलाने एव उसके लिए धनराशि दान देने की प्रेरणा देने के कारण उन्होने मुनि श्री नेमिसागर जी को सघ से अलग कर दिया तथा बहुत अनुनय करने के बाद भी यह कहकर पुनः सघ मे सम्मिलित करने से मना कर दिया कि ***"यदि मै तुम्हे सघ मे वापस ले लूँगा, तो मुनियो मे अपने नाम से सस्था बनाने व दानराशि/चवा की प्रेरणा देने की खोटी-परम्परा चल पड़ेगी। मै इस पद्धति के सख्त खिलाफ हूँ।"***

इतना ही नही उन्होने यावज्जीवन उक्त मुनिश्री एव श्रेष्ठि से आशीर्वाद देने के अतिरिक्त किसी तरह की कोई बातचीत भी नही की, ताकि उनको प्रश्रय व प्रोत्साहन नही मिले। आज अपने आपको आचार्य शातिसागर जी की परपरा मे कहलानेवाले और अपने नामो से सस्थाये स्थापित करने वाले श्रमण कृपया इस तथ्य की ओर ध्यान दे। ❖❖

मंगलमूर्ति गणेश : तथ्यों के आलोक में

✍ डॉ. सुदीप जैन

जैन-परम्परा मे 'गणधर'-पद की विशेष-महिमा है। गणधर की उपस्थिति के बिना केवलज्ञान उत्पत्ति के बाद भी तीर्थंकर की दिव्यध्वनि नही खिरती है। स्वय तीर्थंकर-महावीर की दिव्यध्वनि इसी कारण से छियासठ दिनो तक नही खिरी थी। तीर्थंकर की दिव्यध्वनि को द्वादशागी जिनवाणी के रूप मे व्यवस्थित गणधर ही करते है, इसलिये भी गणधर की अतिविशिष्ट-स्थिति जैन-परम्परा मे मानी गयी है। 'गणधर' को ही 'गणेश' सज्ञा दी गयी है; इसप्रकार यह जैन-परम्परा के प्रतिष्ठित-व्यक्तित्व है। इस तथ्य को प्रस्तुत-आलेख मे स्पष्ट करने का सार्थक-प्रयास किया गया है। — **सम्पादक**

भारत मे आज गणेश देवाधिदेव के रूप मे प्रतिष्ठित है। किसी भी वैदिक या वैदिकेतर हिन्दू देवी-देवता का पूजन-अनुष्ठान आदि धार्मिक-कार्य हो, या फिर गृहप्रवेश, भूमिपूजन, विवाह आदि लौकिक-सस्कार हो; सर्वप्रथम विघ्नहर्ता मगलमूर्ति के रूप मे गणेशजी का पूजन अवश्य किया जाता है। घर, कार्यालय, औद्योगिक-सस्थान, व्यापारिक प्रतिष्ठान आदि सभी के प्रवेशस्थल पर शीर्षस्थान मे गणेश की स्थापना अवश्य होती है। इसीप्रकार किसी भी मागलिक-कार्य का निमन्त्रण-पत्र या सूचना हो, उसकी माध्यम-भाषा हिन्दी-सस्कृत-अग्रेजी या फिर अन्य कोई भी क्षेत्रीय-भाषा हो, किन्तु उस पर गणेशजी का अकन अवश्य होता है। भारतीयेतर-सभ्यताओ के प्रतीक ईसाई एव मुस्लिम सम्प्रदायो को छोडकर प्राय. शेष-सम्पूर्ण भारतीय-समाजो मे आज गणेश सर्वमान्य एव समादृत हो चुके है। ऐसे बहुशसित देवाधिदेव 'गणेश' को आज जितना अधिक पूजा जाता है, उनके मूलस्वरूप के बारे मे जनसाधारण उतना अपरिचित है। जो कुछ जानकारी उसे दी जा रही है, वह न केवल आधी-अधूरी ही है, अपितु दिग्भ्रमित करानेवाली भी है। अत: देवाधिदेव गणेश के बारे मे तथ्यमूलक वास्तविक सूचनाये प्रस्तुत करना इस आलेख का उद्देश्य है।

'गणेश'

इस पद मे दो शब्दो की सन्धि हुई है — 'गण' और 'ईश'। गणनार्थक 'गण्' धातु से निष्पन्न 'गण' शब्द 'दी' या 'समूह' का वाचक है। सस्कृतज्ञो ने इसका 'नमेरु' अर्थात् 'रुद्राक्ष' या 'सुरपुन्नाग' वृक्ष के पुष्पो की 'माला' या 'मुकुट'[1] अर्थ भी किया है। इन पुष्पो की प्रकृति मधुर, शीतल, सुगन्धित, कफ मे आनेवाले रक्त के दोष को दूर करनेवाली एव पित्तनाशक मानी गयी है।[2] अन्यत्र 'ण' शब्द का अर्थ 'शिवजी के सेवको का समूह'[3] भी किया है, और उनके अधिपति (ईश) को 'गणेश' सज्ञा प्रदान की है। इनकी उत्पत्ति वे महादेव· शिवजी की पत्नी 'पार्वती' के शरीर के मैल से उत्पन्न पुत्र के रूप मे कथासूत्रो के द्वारा प्रतिपादित करते है।[4] 'हारावली' के कर्त्ता 'गणेश' का परिचय देते हुये लिखते है —

"गणाना प्रमथसमूहाना यद्वा गणाना जीवजातान ईशः ईश्वरः गणेशः।"[5]

अर्थात् गणो के अर्थात् प्रमथसमूह (शिवजी के गणो) के अथवा गणो के अर्थात् समस्त जीवधारियो के

जो ईश्वर हैं, वे गणेश है।[6]

कोशकारों ने गणेशजी के पर्यायवाची इसप्रकार गिनाये हैं — (1) **विनायक**, (2) **विघ्नराज**, (3) **द्वैमातुर**, (4) गणाधिप, (5) एकदन्त, (6) हेरम्बर, (7) लम्बोदर, (8) गजानन, (9) विघ्नेश, (10) पर्शुपाणि, (11) गजास्य:, (12) आखुग:[7], एव (13) शूर्पकर्ण:[8] इत्यादि।

हिन्दूपुराणो मे इनके बाह्यरूप का वर्णन निम्नानुसार प्राप्त होता है —

"शुद्धचम्पकवर्णाभः कोटिचन्द्रसमप्रभः।
सुखवृश्यः सर्व्वजनैश्चक्षु-रश्मिविविर्द्धक.॥
अतीवसुन्दरतनुः कामवेव-विमोहनः।
सुख निरुपम विभ्रत् शारदेन्दु-विनिन्दकम्॥
सुन्दरे लोचने विभ्रत् चारुपव्म-विनिन्दके।
ओष्ठाधरपुट विभ्रत् पक्वबिम्ब-विनिन्दकम्॥
कपालञ्च कपोलञ्च तवीय सुमनोहरम्।
नासाय रुचिर विभ्रत् खगेन्द्रचञ्चु-विनिन्दकम्॥"[9]

अर्थ — गणेशजी का वर्ण चम्पकपुष्प के समान श्वेत एव करोडो चन्द्रमाओ की प्रभा के समान भास्वर था। उनका दर्शन सुखकारी था एव सभी लोगो की आँखो की किरणो (रोशनी) को बढानेवाला था। कामदेव को भी विमोहित कर देनेवाले अत्यन्त सुन्दर-शरीर के धारक गणेशजी का अतुलनीयरूप शरत्कालीन चन्द्रमा की शोभा को भी फीका करता था। उनके लोचनयुगल अतिसुन्दर थे एव सुन्दरकमलो को भी तिरस्कृत करनेवाले थे। इसीप्रकार उनके अधरोष्ठ भी पके हुये बिम्बाफल को महत्त्वहीन बना रहे थे। उनका शिरोभाग एव कपोलभाग (मुखमण्डल) भी अत्यन्त-मनोहारी था। वे सुन्दर-नासिका के धारक थे, जोकि गरुड की चोच से भी सुन्दर थी।

कहा जाता है, कि शनिदेव ने कोपवश इनका मस्तक काट डाला, तब शिवजी कही कुपित न हो जाये — इस भय से विष्णुजी ने गजशिशु का मस्तक काटकर उसकी जगह स्थापित कर दिया। और इसप्रकार गणेशजी का गजानन-रूप निर्मित हुआ।

वैदिक-आस्थावाले विज्ञजन एव श्रद्धालु-जनसामान्य सभी गणेशजी के इसीरूप को अपनी देवाधिदेव के रूप मे पूजते है। किन्तु गणेशजी के उद्भव की यह पौराणिक-कथा ही प्राचीनतम हिन्दूशास्त्रीय उल्लेख है, शेष समस्त प्राचीन वैदिक-साहित्य मे गणेशजी का कही भी कोई उल्लेख नही मिलता है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि गणेशजी वैदिक-देवता हैं ही नही, वे श्रमणो के आराध्यदेव है, और उनके प्रचलितरूप का श्रमण-सस्कृति से साम्य तथ्यो के आलोक मे विचारणीय है।

श्रमण-सस्कृति के अनुसार इस युग में आद्यप्रवर्तक प्रथम-तीर्थंकर भगवान्-ऋषभदेव हुये है, जिनका चिह्न वृषभ (नन्दी) था, इन्हे 'आदिनाथ' भी कहा जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय रत्नत्रयरूपी 'त्रिशूल' इनके उपदेशो का प्रतीक था, तथा अष्टापद-कैलाशपर्वत से मोक्ष को प्राप्त करने के कारण इन्हे 'कैलाशपति'

भी कहा जाता है।[10] इनकी ये सब विशेषताये हिन्दुओ के देव 'शिव' या शकरजी' से बहुत मिलती हैं। विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं, कि "जैनो के 'ऋषभ' एव हिन्दुओ के 'शिव' एक ही व्यक्ति थे, भिन्न नही।"[11] इन्ही ऋषभदेव के ज्येष्ठ-पुत्र चक्रवर्ती-भरत के पुत्रो मे श्रेष्ठ 'वृषभसेन' तपःपूर्वक तीर्थंकर-ऋषभदेव की धर्मसभा मे प्रधानश्रोता 'गणधर' के अधिपति या प्रमुख बने थे।[12] अतः उन्हे 'गणपति' या 'गणेश' की सज्ञा प्राप्त हुई।

अब तुलनात्मक-दृष्टि से विचार करे, तो पाते है कि हिन्दूग्रन्थो मे जो 'गणेश' को 'शिवपुत्र' कहा गया,[13] वह उन्ही के पुराण नही स्वीकारते है; क्योकि उनके अनुसार गणेशजी पार्वतीजी के शरीर के मैल से उत्पन्न हुये थे, शिवजी से उनका कोई सम्बन्ध नही था। जबकि जैनों के 'शिव' वृषभदेव-तीर्थंकर के औरसपुत्र-भरत के पुत्र होने से श्रमण-सस्कृति के गणेश (वृषभसेन) का 'शिव' (आदिनाथ वृषभदेव) से सीधा-सम्बन्ध सिद्ध होता है।

महाभारतकार ने गणेशजी को क्षत्रिय माना है —

"गणेशाद्याः क्षत्रियाः योगविघ्नविनाशिनः।"[14]

तथा 'ब्रह्माण्डपुराण' मे आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव को 'समस्त क्षत्रियो का पूर्वज' बताया गया है —

"ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।"[15]

इन्ही क्षत्रियो के पूर्वज ऋषभदेव की परम्परा मे शेष महावीरान्त तेईस तीर्थंकर हुये, तथा इन्ही की परम्परा मे सम्पूर्ण भारतीय अध्यात्म-शास्त्रीय एव योगशास्त्रीय-ज्ञान की उपलब्धि मानी गयी है। 'शाकर-भाष्य'[16] एव 'भगवद्गीता'[17] मे इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त-वर्णन से भी गणेशजी 'जैनो के शिव' तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बद्ध ही सिद्ध होते है। यहाँ यह ध्यातव्य है, कि वैदिक-परम्परा के ऋषियो एव मनीषियो ने ही ये समस्त तथ्य प्ररूपित किये है।

'महाभारत' मे भी गणेश को 'दिगम्बर' बताया गया है —

"गणकर्त्ता गणपतिर्दिग्वासा काम एव च।"[18]

ध्यातव्य है कि हिन्दुओ मे गणेश को रक्ताम्बर (लालवस्त्रधारी) माना गया है,[19] तथा जैनो के साधु निर्ग्रन्थ-दिगम्बर ही होते है। प्रथम गणधर वृषभसेन भी मूलत ऐसे ही नग्न-दिगम्बर-साधु थे। अत· गणेश के दिगम्बर (दिग्वासाः) रूप की स्वीकृति से महाभारतकार के ये वचन वस्तुतः दिगम्बर-वृषभसेन गणधर, जिन्हे 'गणेश' भी कहा गया, के प्रति कहे गये सुनिश्चित होते हैं।

हिन्दू-ग्रन्थो मे अन्यत्र भी गणेश को दो-भुजाओवाले, सुन्दर-मुखाकृतिवाले 'दिगम्बर' कहा गया है —

"श्यामवर्ण तथा शक्ति धारयन्त दिगम्बरम्।.....
दिगम्बरा सुवदना भुजद्वय-समन्विताम्॥.. ..."[20]

जबकि हिन्दुओ की प्रचलित-मान्यतानुसार गणेश के हाथी का मुख एव चार हाथ होते है।

गणेशजी का एक अन्य नाम 'विनायक' भी कहा जाता है। 'मेदिनीकोश' मे विनायक को 'जिनगुरु'

(गणधर या तीर्थंकर) कहा गया है —

"विनायकस्तु हेरम्बे तार्क्ष्ये विघ्ने जिने गुरौ।"[21]

'जिन' जितेन्द्रिय-तीर्थंकर को या मुनिवर को कहा जाता है। इस कथन के अनुसार भी 'गणेश' जिनदेव या जिनगुरु ही सिद्ध होते है, हिन्दू-देवता नही। जैनग्रन्थो मे भी केवली, जिन, सिद्ध और साधु को 'गणदेव' सज्ञा दी गयी है —

"प्रग्विग्विदिगतरि केवली-जिन-सिद्ध-साधु-गणदेवा।"[22]

तीन सौ ईसापूर्व मे रचित 'कातन्त्र-व्याकरण' मे वृषभसेन-गणधर से लेकर गौतमपर्यन्त-चौबीसो तीर्थंकरो के समस्त गणधरो को 'गणेश' कहा गया है —

"नमो वृषभसेनादि-गौतमान्त्य-गणेशिने।"[23]

धवलाकार आचार्य-वीरसेन स्वामी भी 'उसहसेणादि गणहर'[24] कहकर इसी तथ्य को सकेतित करते है। जैनदर्शन मे साधुगणो का अधिपति (यतिपति) ही 'गणपति गणेश' कहा जाता है। 'ऋगवेद' का यह मत्र भी यही द्योतित करता है —

"गणाणा त्वा गणपति हवामहे.. . "[25]

कवि अर्हद्दासकृत पुरुदेवचम्पूकाव्य मे भी गणधर-वृषभसेन को 'गणेश' कहा गया है —

"व्यपास्य चिन्ता गुरुशोकजाता, गणेशमानम्य विनम्रमौलि.।
निन्दन्नपारा निजभोगतृष्णा चक्री विभूत्या स्वपुर विवेश॥"[26]

अर्थ — तदनन्तर पित-प्रजापति वृषभदेव के शोक से उत्पन्न चिन्ता को दूरकर भरत-चक्रवर्ती ने विनम्रभाव से (प्रथमगणधर वृषभसेन) 'गणेश' को नमस्कार कर अपनी भोग-तृष्णा की गर्हा (निदा) करते हुये वैभव के साथ अपनी अयोध्या-नगरी मे प्रवेश किया।

'सप्तभगीतरगिणी' के टीकाकार आचार्य-ठाकुरप्रसाद गणेशजी को 'निर्दोष वीतराग एव विघ्नहर्त्ता' मानते हैं —

"गणेश विघ्नहर्त्तार वीतरागमकल्मषम्।
प्रणम्य परया भक्तया यत्नमेत समारभे॥"

— (*'सप्तभगी-तरंगिणी' की टीका का मगलाचरण*)

आधुनिक मनीषियो ने भी गणेशजी को वैदिकक्तेर देवता माना है। डॉ सम्पूर्णानन्द लिखते है कि — "गणेश आर्येतर देवता है।"[27] राष्ट्रकवि रामधारीसिह 'दिनकर' लिखते है, कि "आर्य-लोग गणेश का अस्तित्त्व नही जानते थे।"[28] स्पष्टत ये श्रमण-देवता थे, क्योकि प्राचीनकाल मे भारत मे दो ही वर्ग थे — (1) ब्राह्मण (आर्य/वैदिक), और (2) श्रमण (जैन)। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. पी आर देशमुख जैनधर्म की मौलिकता स्वीकार करते हुये लिखते है — "जैनधर्म ने वेदो से कुछ भी स्वीकार या ग्रहण नही किया है।"[29] डॉ मारुतिनन्दन तिवारी लिखते है, कि 'जैन-गणेश की लाक्षणिक-विशेषताये स्पष्टत: हिन्दू-गणेश के प्रभाव का सकेत देती

है।[30] अर्थात् दोनो मे साम्य बहुत है, तथा जब वैदिक-साहित्य व आर्य-सभ्यता 'गणेश' से नितान्त-अपरिचत है, तो इस स्थिति में गणेश 'जैनदेवता' के रूप मे ही प्राचीनरूप मे सिद्ध होते हैं।

जैन-स्तुति-साहित्य मे भी जिनेन्द्रदेव की 'गणेश' के रूप मे व्यापक-स्तुति प्राप्त होती है। यथा —

विघ्नप्रणाशनविधौ सुरमर्त्यनाथा, अग्रसर जिन ववन्ति भवन्तमिष्टम्।
अनाद्यनन्त युगवर्तिनमत्र कार्ये, विघ्नौघवारणकृतेऽहमपि स्मरामि॥
गणाना मुनीनामधीशत्वतस्ते, गणेशाख्यया ये भवन्त स्तुवन्ति।
सवा विघ्नसवोह-शातिर्जनाना, करे सलुठत्यायत श्रेयसानाम्॥[31]

अर्थ — विघ्नो के नाश की विधि मे देवगण एव मनुष्यो के स्वामी जिनेन्द्रदेव को ही श्रेष्ठ-इष्ट मानते है। अनादिअनत-युगवर्ती इस कार्य मे विघ्नसूह के निवारणार्थ मै भी उनका स्मरण करता हूँ। आप गणो के एव मुनियो के अधीशपने को धारण करते है, अत: जो आपकी 'गणेश' नाम से स्तुति करते है, उन सभी लागो के विघ्नसमूह की आप सदा शाति करे, तथा श्रेयसो की प्राप्ति कराये।

चूँकि गणेश के नामान्तर 'विनायक' शब्द का अर्थ ही 'बाधाओ को हटानेवाला'[32] बताया गया है, अत· समस्त विघ्न-शान्त्यर्थ जिस यन्त्र की जिनमन्दिर मे प्रतिष्ठा की जाती है, उसका नाम भी 'विनायक-यन्त्र' कहा गया है।

उपर्युक्त पचपरमेष्ठी-पूजन की जयमाला मे गणेश को 'पचपरमेष्ठी' (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) का वाचक-शब्द बताया गया है। यह तथ्य एक अन्य-प्रमाण से भी पुष्ट होता है। जैनदर्शन मे 'ओकार को पचपरमेष्ठी का वाचक' माना गया है —

'अरिहता-अससीरा-आयरिया-उवज्झया तहा मुणिणो।[33]
पढमक्खर-णिप्पण्णो ओकारो पच-परमेट्ठी।

तथा हिन्दू-सस्कृति मे भी 'गणेश' को ओकार का प्रतीक माना गया है।[34] वे कहते है, कि 'ओ'कार मे 'अ' कार शरीर है, 'ो' की मात्रा-चिह्न का सूड की द्योतक है, '`' का चिह्न एकदन्त[35] का चूक है, अनुस्वार-चिहन् ' ' मोदक है, तथा प्लुत-चिह्न '३' मूषक (चूहा) है।"[36] इसप्रकार ओकार गणेशाकार है, तथा ओकार पचपरमेष्ठीरूप होने से गणेश का पचपरमेष्ठी-रूपत्व न्यायप्राप्त है। गणेश को भी भौतिक एव आध्यात्मिक-सम्पन्नता का हेतु माना गया है, तथा ओकार का भी यही स्वरूप माना गया है —

"कामद मोक्षद देवमोकाराय नमो नम ।"

चूँकि वृषभसेनादि गौतमान्त गणधर, जिन्हे 'गणेश' भी कहा गया, मूलत· 'मुनि' थे, उपदेशक होने से 'उपाध्याय' भी कहे गये, गणप्रमुख होने से 'आचार्यत्व' भी प्रसक्त हो गया। तदुपरान्त वे 'अर्हन्त' एव 'सिद्ध' पद को भी क्रमश: प्राप्त हुये है। अत: 'गणधर' या 'गणेश' को पच-परमेष्ठीरूप' मानना भी जैन-परम्परा मे तर्क एव आगम-सम्मत है। इसमे शाब्दिक-विरोध भले ही प्रतीत हो, किन्तु आम्नायगत-विरोध कदापि नही है।

हिन्दू-सस्कृति मे गणेश की परिकल्पना श्रमण-सस्कृति से उधार ली गयी है। क्योकि ब्राह्मण-सस्कृति

मूलतः अहिसक एव शाकाहारी नही थी, जबकि श्रमण-सस्कृति की मूलभित्ति ही अहिसक-शाकाहारी भोजन एव सदाचरण है। अन्य कोई भी हिन्दू-देवता पूर्ण-अहिसकवृत्तिक नही है, जबकि गणेशजी का सर्वांगीणस्वरूप ही अहिसा व शाकाहार का सन्देश देता है। मोदक (लड्डू) शाकाहार है; 'गजमुख' माना गया, तो हाथी भी शुद्ध-शाकाहारी प्राणी है, सेवक या वाहन मूषक (चूहा) भी शाकाहारी जन्तु है, तथा गणेशजी की अभयमुद्रा प्राणिमात्र को अभयदान देती हुई अहिसक-सदेश का प्रसार करती है।

सक्षेपतः प्रस्तुत इस वर्णन से यह बात स्पष्ट है कि गणेश, जो हिन्दू-देवता माने जाते हैं, मूलतः श्रमण-सस्कृति के आराध्यदेव है। हिन्दू-विद्वानो ने इनके व्यक्तित्व एव महिमा से प्रभावित होकर इनका हिन्दू-सस्कृति के अनुरूप रूपान्तरण कर दिया है।

यद्यपि उपर्युक्त कथन कतिपय तथ्यपरक विचार-बिन्दु मात्र है, तथापि यदि गम्भीरतापूर्वक सूक्ष्म-अध्ययन एव गहन-शोध किया जाये, तो सिद्ध हो जायेगा, कि 'गणेश' जी श्रमण-जैनसस्कृति के पूज्य-पुरुष हैं, हिन्दू-देवता नही। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 'गणा नमेरुप्रसवातसा' — कालिदासकृत 'कुमारसम्भव', 1/55, 3/43 एव 'रघुवश', 4/74, तथा 'नमेरु' का अर्थ रुद्राक्ष या सुरपुन्नाग है — आप्टेकृत सस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ 511

2 द्र , शब्दकल्पद्रुम, तृतीय भाग, पृष्ठ 171

3 सस्कृत-शब्दार्थ — कौस्तुभ, पृष्ठ 388

4 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' मे, (द्र शब्दकल्पद्रुम, भाग 2, पृ 298-299)।

5 'हारावली', 8 एव 'महाभारत' 3/39/78

6 'अमरकोष', 1/1/40

7 हेमचन्द्र, 2/121

8 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' मे

9 शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय भाग, पृष्ठ 294

10 'हरिवशपुराण' 12/80

11 'विश्वधर्म की रूपरेखा', पृ 35-37

12 श्रीमान् वृषभसेनाख्य प्रजापारमितो वशी/स सबुध्य गुरार्पार्श्वे दीक्षित्वाऽभूद् गणाधिप ॥ — 'महापुराण', 24/172

13 महाभारत, 1/173

14 महाभारत, मोक्षपर्व, 283/19 (भाण्डारकर, पूना सस्करण)

15 ब्रह्माण्ड-पुराण, पूर्व 2/14 तथा — "क्षत्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्त , पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्मा ।" — (*'महाभारत', शांतिपर्व, 12/64/20*)

16 "एव क्षत्रिय-परम्परा-प्राप्तमिमम्" — (*'शाकरभाष्य'*)

17 'गीता' 4/2

18 'महाभारत' 13/17/41

19 "रक्तोत्पलकरा ध्येया रक्तमाल्याम्बरारुणा ।" — (*राघवभट्टकृत 'शारदातिलक' टीका*)

20 उत्तरकामिकागमे पञ्चचत्वारिंशत्तम पटल, 'कल्याण' मासिक, स हनुमानप्रसाद पोद्दार।
21 'मेदिनीकोश', क 213
22 आचार्य-पूज्यपाद देवनंदि, 'दशभक्त्यादिसग्रह', पृ 257
23 कातन्त्र-व्याकरण, 3
24 'धवला' पुस्तक 4 पृष्ठ 323
25 'ऋग्वेद', 2/23/1
26 "पुरुदेवचम्पू', 10/68
27 'हिन्दू देवी-देवता' पुस्तक मे।
28 'सस्कृति के चार अध्याय', पृष्ठ 75
29 'इण्डस् सिविलाइजेशन ऋग्वेद एण्ड हिदू कल्चर', पृष्ठ 36130
30 'जैनप्रतिमा-विज्ञान', पृष्ठ 44
31 सस्कृत पञ्चपरमेष्ठि-पूजन या विनायकयन्त्र-पूजन की जयमाला के पद्य 1-2
32 आप्टेकृत 'सस्कृत-हिन्दीकोश', पृष्ठ 939
33 'समणसुत्त', 12
34 ओंकाररूपी भगवानुक्तस्तु गणनायक ।
यथा कर्मसु सर्वेषु पूज्यतेऽसौ विनायक ।। — *(गणेशपुराण)*
35 हिन्दू-मान्यता के अनुसार गणेशजी के दो गजदन्तो मे एक को परशुराम ने काट दिया था, अत एक-दाँत शेष रहने से उनका नाम 'एकदन्त' पड गया।
36 रघनुन्दन शर्मा, 'वैदिक-सम्पत्ति' पृष्ठ 452

❖❖

कर्तृत्व का कष्ट

"करिष्यामीद कृतमिदमिद कृत्यमधुना।
करोमीति व्यग्र नयसि सकल कालमफलम्॥
सदा राग-द्वेष-प्रचयनपर स्वार्थविमुखे।
न जैनेऽविकृत्त्वे वचसि रमते निर्वृत्तिकरे॥"

भावार्थ *— "मै ऐसा करूँगा, मैने ऐसा किया है, अब ऐसा करता हूँ" — इसतरह आकुलता मे ही पडा हुआ तू अपना सर्वजीवनकाल निष्फल खोता फिरता है तथा सदा अपने आत्मा के कल्याण से विमुख होकर राग-द्वेष के आग के भीतर पडा-खडा रहता है। और मुक्ति के कारण विकाररहित वीतराग-जिनेन्द्र के वचनो मे रमण नही करता है।*

ऐसा कर्त्ताभाव वास्तव मे मनुष्य को आत्मसाधना के मार्ग पर अग्रसर नही होने देता है। अत: कर्त्ताभाव के अहकार से अपने परिणामो का बचाना चाहिये। ❖❖

जैन-पुराण

✍ विद्याभूषण प. के. भुजबली शास्त्री

*श्रद्धालुओं के लिये पुराण श्रद्धास्पद-ग्रथ प्रतीत होते हैं, किंतु आधुनिकतावादियो के लिये वे अतिरंजित-कल्पनाओ के अतिरिक्त कुछ नजर नही आते हैं। जैन-पुराणो मे निहित ज्ञान-विज्ञान की सामग्री का प्रभावी-परिचय देते हुये आधुनिक-समालोचको के आक्षेपो का सशक्त-शैली मे उत्तर देते हुये विद्वान्-लेखक ने इस आलेख मे जैन-पुराणो की महनीयता और उपादेयता को सक्षम-रीति से प्रस्तुत किया है। — **सम्पादक***

जिसप्रकार हिन्दू-पुराणो मे हिन्दू-देवदेवियो की आख्यायिका, माहात्म्य और पालनीय-धर्म आदि का विशद-उल्लेख मिलता है, उसीप्रकार जैनपुराणों में 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 नारायण (अर्द्धचक्रवर्ती), 9 प्रतिनारायण — इस प्रकार 63 शलाका-महापुरुषो की आख्यायिका, पालनीय-धर्म और व्यवस्थादि का विस्तृत उल्लेख उपलब्ध होता है। उपर्युक्त तीर्थंकरो के पुराणो मे बहुत-से पुराण स्वतन्त्ररूप मे और बहुत-से सग्रहरूप मे अन्यान्य मान्य-आचार्यों एव कवियो के द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओ मे आकर्षक-ढग से रचे गये है। तीर्थंकरो के नामानुयायी-पुराणो के मध्य शेष-चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदि शलाकापुरुषो का भी वर्णन आ जाता है। इसलिये कोई-कोई चौबीस पुराणो को ही प्रधान मानते है। हिन्दुओ के चिरपरिचित ऋषभ, राम, कृष्ण नामक अवतार तथा भरत, सगर चक्रवर्ती आदि का भी जैनपुराणो मे यथेष्ट परिचय मिलता है। जैनतीर्थंकरो मे महात्मा बुद्ध के समकालीन भगवान् महावीर और इनसे 250 वर्ष-पूर्व अवतरित भगवान् पार्श्वनाथ — ये दो ऐतिहासिक व्यक्तित्व माने गये है एव इनसे पहले के शेष 22 तीर्थकर पौराणिक-व्यक्ति माने जाते है।

भगवज्जिनसेनाचार्य पुरातन को ही पुराण मानते है।[1] जिसप्रकार हिन्दुओ मे ब्रह्मा अथवा नारायण से 'आदिपुराण' की उत्पत्ति मानी गयी है, उसीप्रकार जैन भी अपने तीर्थंकरो से इसकी उत्पत्ति मानते है। आचार्य रविषेण-विरचित 'पद्मपुराण' मे लिखा है — पहले भगवान् महावीर ने अपने गणधर इन्द्रभूति से यह पुराण कहा था। पीछे इन्द्रभूति से सुधर्म ने, सुधर्म से जम्बूस्वामी ने, जम्बूस्वामी से प्रभव ने, प्रभव से शिष्यक्रमानुसार कीर्ति ने और कीर्ति से अनुत्तरगामी ने यह पुराण प्राप्त किया। अनुत्तरगामी के निकट रविषेण ने जो ग्रन्थ पाया था, उसी की सहायता से उन्होने 'पद्मपुराण' की रचना की। इसीप्रकार अपरापर जैन-पौराणिको ने भी पुराणो की प्राचीनता-सस्थापन के लिये भगवान् महावीर को ही पुराणप्रकाश माना है। इससे सिद्ध होता है, कि हिन्दूसमाज के समान जैनसमाज मे भी अति-प्राचीनकाल से पुराणाख्यान प्रचलित था। इसके लिये अशक, अग्गल, आचरण, कर्णपार्य, कमलभव, कृषणदास, केशवसेन, गुणभद्र, गुणवर्म, चन्द्रकीर्ति, चन्द्रसागर, जन्न, जिनसेन (प्रथम), जिनसेन (द्वितीय), जिनदास, जिनेन्द्रभूषण, दामोदर, देवप्रभ, दोड्डय्य, दोड्डणाक, धर्मकीर्ति, नरसेन, नागदेव, नागचन्द्र, नेमिदत्त, नेमिचन्द्र, पप, पोन्न, पुष्पदन्त, पार्श्व पण्डित, मल्लिषेण, महाबल, मगरस, मधुर, यशःकीर्ति, रविषेण, रन्न, विश्वभूषण शान्तिकीर्ति, शुभचन्द्र, श्रीविजय, श्रीभूषण, श्रीधर, श्रुतकीर्ति, सकलकीर्ति, सुरेन्द्रभूषण, स्वयभू, हरिषेण, हस्तिमल्ल आदि सैकडो महान् आचार्यों एव कवियो के द्वारा प्राकृत-सस्कृत तथा कन्नड आदि भाषाओ मे रचे गये पुराणग्रन्थ ही उज्ज्वल-प्रमाण है।[2]

दिगम्बर-जैनसम्प्रदाय के उपलब्ध पुराणो मे 'पद्मपुराण' या 'पद्मचरित' सबसे प्राचीन-ग्रन्थ है। अब तक इसके पहले का कोई भी कथाग्रन्थ प्रकाशित नही हुआ है। भावनगर की जैनधर्मप्रसारक-सभा ने जो 'पउमचरिय' नाम का प्राकृत-ग्रन्थ प्रकाशित किया है, वह इससे अवश्य बहुत पहले का है। किन्तु अभी तक यह बात विवादग्रस्त ही है, कि उसके कर्त्ता दिगम्बर-सम्प्रदाय के थे, या श्वेताम्बर के। 'पद्मचरित' भगवान् महावीर के निर्वाण के 1203 वर्ष बाद (ई स. 678) रचा गया था।[3] पुन्नाटसघी आचार्य जिनसेन का 'हरिवशपुराण' शक-सवत् 705 (ई.स. 783) मे अर्थात् 'पद्मचरित' से लगभग 5 वर्ष पीछे समाप्त हुआ है।[4] इस हिसाब से छठी शताब्दी में दिगम्बरों के मध्य पुराण प्रचलित थे, इसमे सन्देह नही है। रविषेण का 'पद्मपुराण', भगवज्जिनसेन का 'आदिपुराण', पुन्नाट-जिनसेन का हरिवश या 'अरिष्टनेमिपुराण', गुणभद्र का 'उत्तरपुराण' और शुभचन्द्र का 'पाण्डवपुराण' प्रधानतः इन पाँच पुराणो का पाठन करने से ही दिगम्बर-जैनियो का पौराणिक-तत्त्व जाना जा सकता है।

भवालियो को अलग कर देने पर चौबीसो तीर्थंकरो की जीवनी एक-सी मालूम पडेगी। ऋषभ तीर्थंकर की जीवनी पढने के पश्चात् शेष 23 तीर्थंकरो के मातापिता, वश, जन्मस्थान, नाम, शरीर की ऊँचाई, शरीर का वर्णन, आयु, चिह्न, जन्मादिनक्षत्र, गणधरसख्या और निर्वाणस्थान आदि छोटी-मोटी बातो को सम्बद्ध कर देने से उन तीर्थंकरो की जीवनी उपलब्ध हो जाती है। जैसे — तीर्थंकर का जीव अनेक-भवो मे भ्रमण करता हुआ पुण्यकर्म के परिपाक से तीर्थंकर नामक एक विशिष्ट 'नामकर्म' को पाकर स्वर्ग मे जन्म लेता है। वह जीव जहाँ जिस महारानी के गर्भ मे जन्म लेनेवाला है, उस राज्य मे छह मास के पहले से ही तीनो काल छह मास तक कुबेर इन्द्र की आज्ञा से रत्नो की वर्षा करता है। छह मास के बाद तीर्थंकर की भावी-माता के गर्भशोधनार्थ इन्द्र श्री, ह्री, धृति, कीर्ति आदि अष्ट-देवियो को भेजता है। तीर्थंकर की माता गज, वृषभ आदि सोलह शुभ-स्वप्न देखती है। उनके गर्भ मे तीर्थंकर का अवतार होता है। इन्द्र समस्त देवनिकाय के साथ आकर तीर्थंकर के अवतार या गर्भकल्याणक को समरोह से सम्पन्न करता है। 9 महीने के अनन्तर तीर्थंकर मति, श्रुति, अवधि नामक त्रिविध-ज्ञान के साथ जन्म लेते है। इन्द्र इन्द्राणी से जिन-बालक को मँगाकर अन्य इन्द्र एव देवनिकाय के साथ बडे सम्भ्रम से मेरुशिखर पर जन्मकल्याणक को पूर्ण करता है। जिनबालक के यौवन को पार कर विरक्ति से गृहत्याग करते समय उन्हे पूर्ववत् इन्द्र उत्साह से परिनिष्क्रमणकल्याणक पूरा करता है। तीर्थंकर कुछ समय तक तपस्या कर 'मनःपर्यय' नामक चतुर्थ विशिष्ट-ज्ञान को प्राप्त करते है। उनके प्रथम आहार के समय 'पचाश्चर्य' होते है। तीव्र-तपस्या के द्वारा कर्मों को भस्म कर वह केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व को पा लेते हैं। इन्द्र ठाठ से केवलज्ञान-कल्याणक को मनाता है। कुबेर इन्द्र की आज्ञा से समवसरण-सभा की रचना करता है। तीर्थंकर धर्मोपदेशार्थ विहार करते हुये अन्त मे मुक्ति प्राप्त करते हैं। इन्द्र उनके निर्वाणकल्याणक को सानन्द सम्पन्न करता है।

इसप्रकार जैसे तीर्थंकरो के चरित्र एक प्रकार के है, वैसे ही चक्रवर्तियो के चरित्र एक मेल के है। प्रायः नारायण, वासुदेव और प्रतिवासुदेवो के चरित्र भी इसी तरह के हैं। पुराणों को हृदय कथा और वर्णन के भेद से हम दो भागो मे बाँट सकते हैं। कथा मे तीर्थंकरो की भवावली, उनके पचकल्याणक और तत्कालीन चक्रवर्ती, नारायण आदि की कथा गर्भित करना इष्ट है। इन तीनो मे भवावली और पचकल्याणक-पुराणो के खास अग है। हाँ, तीसरा वैकल्पिक है। वर्णन मे पुराण के अष्ट-अग एव अष्टादश-वर्णन — ये दो ही शामिल हैं। कवि केवल वर्णन में अपनी

स्वतन्त्रता दिखा सकता है, कथा मे नही। इसलिये ग्रन्थवृद्धि मे कवि को सिर्फ वर्णन ही सहायक है।[5]

जैनपुराणों की जन्मान्तर-कथायें पाठको के मन में कुछ अरुचि अवश्य पैदा करती है, परन्तु पुराणों का सार-भाग ये ही जन्मान्तरकथाये है; क्योंकि तीर्थंकरो के आदर्श-चरित्र को जानने के लिये उनके पुराण ही एकमात्र साधन है। इनमे पचकल्याणकों का वर्णन सभी तीर्थंकरो का सभी पुराणो मे एक-सा मिलेगा, किन्तु उनके पूर्वजन्म की कथाये मात्र प्रत्येक की भिन्न-भिन्न है। वास्तव मे, ये कथाये तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र नही है; बल्कि साधारण-जनता को जैनधर्म के रहस्य को समझानेवाले सुन्दर-दृष्टान्त है। इन पुराणो का सार-अश निम्नप्रकार हैं —

कर्म के सबध से जीव अनादिकाल से नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव — इन चतुर्गतियो मे भ्रमण करता रहा है। इन गतियो मे अपने संचित-कर्म के अनुसार सुख या दु:ख को भोगना ही इसका एकमात्र काम है। हाँ, उक्त इन मनुष्यादि गतियो मे सुख-दु:खो की मात्रा मे तरतम-भाव अवश्य है। अर्थात् जीव को अल्प-पाप से तिर्यग्गति, अधिक पाप से नरकगति, अल्प-पुण्य से मनुष्यगति तथा अधिक पुण्य से देवगति प्राप्त होती है। यही जीव जब सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है, तब अपने को उज्ज्वल तथा उन्नत बनाता हुआ, अपनी स्वाभाविक-गति की ओर कदम बढाता है। अन्त मे मनुष्यगति को पाकर वहाँ पर अनादि से अपने को सतानेवाले ज्ञानावरणादि — उन आठो कर्मों को समूल नष्ट कर अनश्वर कैवल्यसुख को पा लेता है। वह लौटकर दु:खमय इस ससार मे फिर कभी नही आता। जैनपुराणो का यही सार है। इन्ही बातो को भिन्न-भिन्न दृष्टान्तो के द्वारा सुन्दर-ढग से आकर्षक-शैली मे जैनपुराण सर्वसाधारण जनता को समझाते है। जैन-पौराणिको ने विशेषत: अपने जीवन मे प्रतिदिन अनुभव मे आनेवाली बातो को ही चित्रित करने का प्रयास किया है। इसलिये उनमे सत्य और सौन्दर्य दोनो है। सफेद-बाल या मेघ आदि को देखकर विरक्ति को प्राप्त होना साधारण जनता के लिये एक अनोखी बात मालूम हो सकती है, परन्तु जैनियो के लिये यह एक स्वाभाविक बात है। धार्मिक-भावना की प्रचुरता ही इसका प्रधान-हेतु है।[6]

कन्नड-कवि सार्वभौम 'पप' के मत से (1) लोकाकथन, (2) देशनिवेशोपदेश, (3) नगरसम्पत्परिवर्णन, (4) राज्यरमणीयकाख्यान, (5) तीर्थमहिमासमर्थन, (6) चतुर्गतिस्वरूपनिरूपण, (7) तपोदानविधावर्णन, (8) तत्फलप्राप्तिप्रकटन — ये आठ जैनपुराणो के अष्टाग है। समुद्र, पर्वत, नगरादि वर्णनरूप पुराणो के अष्टादश-वर्णनो का यहाँ पर उल्लेख करना व्यर्थ जान पडता है, क्योंकि ये वर्णन प्रसिद्ध ही है।

अब जैनपुराणो के सबध मे श्रीयुत प्रोफेसर हीरालालजी जैन, एम ए , एल एल बी का मत नीचे उद्धृत किया जाता है —

"जैनधर्म का सर्वमान्य इतिहास महावीरस्वामी के समय से व उससे कुछ पूर्व से प्रारभ होता है। इसके पूर्व के इतिहास के लिये एकमात्र सामग्री जैनधर्म के पुराण-ग्रन्थ है। इन पुराण-ग्रन्थो के रचनाकाल और उनमे वर्णित घटनाओ के काल मे हजारो, लाखो, करोडो नही बल्कि अरबो-खरबो वर्षों का अन्तर है। अतएव उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिक इस बात पर अवलंबित है कि वे कहाँ तक प्राकृतिक-नियमो के अनुकूल, मानवीय-विवेक के अविरुद्ध व अन्य प्रमाणो के अप्रतिकूल-घटनाओं का उल्लेख करते हैं। यदि ये घटनाये प्रकृति-विरुद्ध हो,

मानवीय बुद्धि के प्रतिकूल हो, व अन्य प्रमाणो से बाधित हो, तो वे धार्मिक-श्रद्धा के सिवाय अन्य किसी आधर पर विश्वसनीय नही मानी जा सकती; पर यदि वे उक्त नियमो और प्रमाणो से बाधित न होती हुईं पूर्वकाल का युक्ति-सगत दर्शन कराती हो, तो उनकी ऐतिहासिकता मे भारी सशय करने का कोई कारण नही हो सकता।

जिन इतिहास-विशारदो ने जैनपुराणो का अध्ययन किया है, उनका विश्वास उन पुराणो की निम्नलिखित तीन बातो पर प्रायः नही जमता — (1) पुराणो के अत्यन्त लम्बे-चौडे समय-विभागो पर, (2) पुराणो मे वर्णित महापुरुषो के भारी-भरकम शरीर-मापो पर व उनकी दीर्घातिदीर्घ आयु पर, तथा (3) काल के परिवर्तन से भोगभूमि व कर्मभूमि की रचनाओ के विपरिवर्तन पर।

जैनपुराणो मे अरबो-खरबो वर्षों के ही नही पल्य, और सागरो (आधुनिक सख्यातीत) वर्षों के माप दिये गये है। इनको पढकर पाठो की बुद्धि शकित हो जाती है, और वे झट से इसे असभव कहकर अपने मन के बोझ को हल्का कर डालते हैं; किन्तु विषय पर निष्पक्षतः, बुद्धिपूर्वक विचार करने से इन बातो मे कुछ असम्भवनीयता नही रह जाती। यह सभी जानते है कि समय का न आदि है, और न अन्त। वैज्ञानिक-शोध और खोज ने यह सिद्ध भी कर दिया है, कि इस सृष्टि के आरम्भ का कोई पता नही है, और न उसमे मनुष्य-जीवन के इतिहास-प्रारम्भ का ही कुछ-निर्देश किया जा सकता है। सन् 1858 ईस्वी के पूर्व पाश्चात्य-विद्वानो का मत था, कि इस पृथ्वी पर मनुष्य का इतिहास आदि से लेकर अब तक का पूरा-पूरा ज्ञात है, क्योंकि 'बाईबिल' के अनुसार सर्वप्रथम मनुष्य 'आदम' की उत्पत्ति ईसा से 4004 वर्ष पूर्व सिद्ध होती है। पर सन् 1858 ईस्वी के पश्चात् जो भूगर्भ-विद्यादि विषयो की खोज हुई, उससे मनुष्य की उक्त समय से बहुत अधिक पूर्व तक प्राचीनता सिद्ध होती हैं अब इतिहासकार 4004 ईस्वी-पूर्व से भी पूर्व की मानवीय-घटनाओ का उल्लेख करते है। मिस्रदेश की प्रसिद्ध गुम्मटो (Pyramids) का निर्माण-काल ईस्वी से पाँच हजार वर्ष पूर्व अनुमानित किया जाता है। खाल्दिया (Chaldea) देश मे ईसा से छह-सात हजार वर्ष-पूर्व की मानवीय-सभ्यता के प्रमाण मिले है। चीन-देश की, सभ्यता भी इतनी व इससे अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। अमेरिका देश मे पुरातत्त्व-शोध के सबध मे जो खुदाई का काम हुआ है, उसका भी यही फल निकला है। हाल ही मे भारतवर्ष के पजाब और सिन्ध-प्रदेशो के 'हडप्पा' और 'मोहन-जो-दडो' नामक स्थानो पर खुदाई से जो प्राचीन ध्वसावशेष मिले है, वे भी ईसा से कई हजार वर्ष-पूर्व के अनुमानित किये जाते है। ये सब प्रमाण भी हमे मनुष्य के प्रारम्भिक-इतिहास के कुछ भी समीप नही पहुँचाते। वे केवल यही सिद्ध करते है, कि उतने प्राचीन-काल मे भी मनुष्य ने अपार-उन्नति कर ली थी, ऐसी उन्नति जिसके लिये उन्हे हजारो-लाखो वर्षों का समय लगा होगा। अब चीन, मिस्र, खाल्दिया, इण्डिया, अमेरिका किसी ओर भी देखिये, इतिहासकार ईसा से आठ-आठ दस-दस हजार वर्ष-पूर्व की मानवीय-सभ्यता का उल्लेख विश्वास के साथ करते है। जो समय कुछ काल पहले मनुष्य की गर्भावस्था का समझा जाता था, वह अब उसके गर्भ का नही, प्रौढ-काल का सिद्ध होता है। जितनी खोज होती जाती है, उतनी ही अधिक मानवीय-सभ्यता की प्राचीनता सिद्ध होती जाती है। कहाँ है अब मानवीय-सभ्यता का प्रातःकाल? इससे तो प्राचीन रोमन हमारे समसामयिक-से प्रतीत होते हैं, यूनान का सुवर्ण-काल कल का ही समझ पडता है। मिश्र के गुम्मटकारो और हममे केवल थोडे से दिनो का ही अन्तर पडा प्रतीत होता है। मनुष्य की प्रथमोत्पत्ति का अध्याय आधुनिक-इतिहास ही से उड गया है। ऐसी अवस्था मे जैनपुराणकार मानवीय-इतिहास के विषय

में यदि सख्यातीत-वर्षों का उल्लेखे करे, तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है? इसमें कौन-सी असम्भाव्यता है? पुरातत्त्वज्ञो का अनुभव भी यही है, कि मानवीय-इतिहास सख्यातीत-वर्षों का पुराना है।

दूसरा सशय महापुरुषों के शरीर माप और उनकी दीर्घातिदीर्घ-आयु के विषय का है। जो कुछ आजकल देखा-सुना जाता है, उसके अनुसार सैकड़ो-हजारो धनुष ऊँचे शरीर व कोडाकोडी-वर्षों की आयु पर एकाकी विश्वास नही जमता। इस विषय में मैं पाठको का ध्यान उन भूगर्भ-शास्त्र की गवेषणाओ की ओर आकर्षित करता हूँ, जिनमे प्राचीनकाल के बडे-बडे शरीरधारी-जन्तुओ का अस्तित्व सिद्ध हुआ है। उक्त खोजो से पचास-पचास साठ-साठ फुट लम्बे प्राणियों के पाषाणावशेष (Fossils) पाये गये है। इतने लम्बे कुछ अस्थिपिजर भी मिले हैं।[7] जितने अधिक दीर्घकाय ये अस्थिपिजर व पाषाणावशेष होते हैं, वे उतने ही अधिक प्राचीन अनुमानित किये जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्वकाल मे प्राणी दीर्घकाय हुआ करते थे। धीरे-धीरे उनके शरीर का ह्रास होता गया। यह ह्रास-क्रम अभी भी प्रचलित है। इस नियम के अनुसार जितना अधिक प्राचीनकाल का मनुष्य होगा, उसे उतना ही अधिक दीर्घकाय मानना न केवल युक्तिसगत ही है, किन्तु आवश्यक है। प्राणीशास्त्र का यह नियम है, कि जिस जीव का भारी शारीरिक-परिमाण होगा, उतनी ही दीर्घ उसकी आयु होगी। प्रत्यक्ष मे भी हम देखते है कि सूक्ष्म-जीवो की आयु बहुत अल्पकाल की होती है। जन्म के थोडे ही समय पश्चात् उनका शरीर अपने उत्कृष्ट-परिमाण को पहुँच जाता है, और वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। ज्यो-ज्यो प्राणी का शरीर बढता है, उसकी आयु भी उसी के अनुसार बढती जाती है।

हाथी सब जीवो से बडा है, इससे उसकी आयु भी सब जीवो से बडी है। वनस्पतियो मे भी यही नियम है। जो वृक्ष जितना अधिक विशालकाय होता है, उतने ही अधिक समय तक वह फूलता-फलता है। वट-वृक्ष सब वनस्पतियो मे भारी होता है, अतएव उसका अस्तित्व भी अन्य सब वृक्षो की अपेक्षा अधिक काल तक रहता है। अत: यह प्रकृति के नियमानुकूल व मानवीय-ज्ञान और अनुभव के अविरुद्ध ही है, जो जैनपुराण यह प्रतिपादित करते है, कि प्राचीनकाल के अतिदीर्घकाय पुरुषो की आयु अतिदीर्घ हुआ करती थी। इसके विरुद्ध यदि जैनपुराण यह कहते कि प्राचीनकाल के मनुष्य दीर्घकाय होते हुये अल्पायु हुआ करते थे, या अल्प-काय होते हुये दीर्घायु हुआ करते थे, तो यह प्रकृति-विरुद्ध और अनुभव-प्रतिकूल बात होने के कारण अविश्वसनीय कही जा सकती थी।

तीसरा शकास्पद विषय भोगभूमि और कर्मभूमि के विपरिवर्तन का है। जैनपुराणो मे कथन है, कि पूर्वकाल मे इसी क्षेत्र के निवासी सुख से बिना श्रम के काल-यापन करते थे। उनकी सबप्रकार की आवश्यकताये कल्पवृक्षो से ही पूरी हो जाया करती थी। अच्छे और बुरे का कोई भेद नही था। पुण्य और पाप दोनो की भिन्न-प्रवृत्तियाँ नही थीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई भाव नही था, 'मेरा' और 'तेरा' ऐसा भेदभाव नही था। यह अवस्था भोगभूमि की थी। क्रमशः यह अवस्था बदली। कल्पवृक्षो का लोप हो गया। मनुष्यो को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये श्रम करना पडा। व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव जागृत हुआ। कृषि आदि उद्यम प्रारम्भ हुये। लेखन आदि कलाओ का प्रादुर्भाव हुआ, इत्यादि। इसप्रकार कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। शुद्ध ऐतिहासिक-दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है, कि इस भोगभूमि के परिवर्तन मे कोई अस्वाभाविकता नही है। बल्कि यह आधुनिक-सभ्यता का अच्छा प्रारम्भिक इतिहास है। जिन्होने सुवर्णकाल (Golden Age) के

प्राकृतिक-जीवन (Life according to Nature) का कुछ वर्णन पढा होगा, वे समझ सकते है कि उक्त कथन का क्या तात्पर्य हो सकता है।

आधुनिक-सभ्यता के प्रारम्भ-काल में मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओ को स्वच्छन्द वनजात-वृक्षो की उपज से ही पूर्ण कर लिया करते थे। वस्त्रो के स्थान मे वल्कल और भोजन के लिये फलादि से तृप्त रहनेवाले प्राणियो को धन-सम्पत्ति से क्या तात्पर्य? सबमे समानता का व्यवहार था। मेरे और तेरे का भेदभाव नही था। क्रमशः आधुनिक-सभ्यता के आदि-धुरधरो ने नाना-प्रकार के उद्यम और कलाओं का आविष्कार कर मनुष्यो को सिखाया। जैनपुराणो के अनुसार इस सभ्यता का प्रचार चौदह-कुलकरो द्वारा हुआ। सबसे पहले कुलकर प्रतिश्रुति ने सूर्य-चन्द्र का ज्ञान मनुष्यो को कराया। इसप्रकार वे ज्योतिष-शास्त्र के आदि आविष्कर्ता ठहरते है। उनके पीछे सम्मति, क्षेमधरादि हुये, जिन्होने ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान बढाया, अन्य कलाओ का आविष्कार किया व सामाजिक-नियम दण्ड-विधानादि नियम किये। जैन-पुराणो ने, इस इतिहास को यदि विचार किया जाये, तो सचमुच बहुत अच्छे-प्रकार से सुरक्षित रखा है।[8]

इस सम्बन्ध मे और एक इतिहासज्ञ विद्वान् का मन्तव्य लीजिये — "इतिहास के महत्त्व को भुलाकर कोई भी राष्ट्र या जाति जीवित नही रह सकती। जैनाचार्य इतिहास के महत्त्व से अनभिज्ञ रहे हैं। जैन-वाड्मय मे 'प्रथमानुयोग' का अस्तित्व इसी बात का द्योतक है। किंतु कहा जा सकता है कि कथाओ और जनश्रुतियो को वास्तविक-इतिहास कैसे माना जाये? यह शका तथ्यहीन नही है, किन्तु किसी राष्ट्र या जाति के इतिहास को प्रकट करनेवाली कथाओ और जनश्रुतियो को यदि एकदम ठुकरा दिया जाये, तो फिर उस राष्ट्र या जाति का इतिहास किस आधार से लिखा जाये? अतएव श्रेयोमार्ग यह है कि इतिहास-विषयक कथाओ और जनश्रुतियो को तब तक अस्वीकार नही करना चाहिये, जब तक कि वह अन्य स्वाधीन साक्षी-शिलालेख आदि से असत्य सिद्ध न हो जाये। बस जैन-कथाओ जनश्रुतियो या अन्य परम्परीय-मान्यताओ को जैन-जाति का इतिहास लिखने मे भुलाया नही जा सकता।"[9]

विज्ञ इतिहास-निर्माता को किसी भी राष्ट्र-सबधी श्रृखलाबद्ध प्रामाणिक अविकल इतिहास-निर्माण के लिये भिन्न-भिन्न काल मे भिन्न-भिन्न भाषाओ से भिन्न-भिन्न प्राप्ति के भिन्न-भिन्न लेखको के द्वारा रचे गये पुराण अथवा कथा-साहित्य का आश्रय लेना आवश्यक ही नही, बल्कि अनिवार्य है। उन पुराणो से तत्कालीन शील-स्वभाव, रहन-सहन, रीति-रस्म, उपज, नीति और आचार, आहार, सामाजिक-सगठन, धर्मरुचि, शासन-पद्धति, दण्ड, आर्थिक-स्थिति, व्यापार और उनके मार्ग, सिक्के, शिल्प और चित्रकला, सभ्यता, साहित्य-प्रगति, दिनचर्या, उच्च-नीच जातियो की अवस्था आदि बातो का अच्छा पता चला जाता है। इस अनिवार्य-नियमानुसार एक सच्चे जैन-इतिहासज्ञ के लिये भी जैनपुराणो का अध्ययन करना बहुत ही आवश्यक हो जाता है। तभी वह एक सर्वांगीण प्रामाणिक जैन-इतिहास तैयार कर सकता है। दृष्टात के लिये भगवज्जिनसेनकृत 'आदि या पूर्वपुराण' को ही लीजिये। जब कोई विचारशील विद्वान् सूक्ष्मदृष्टि से उस पुराण का स्वाध्याय करता है, तब तत्कालीन शील-स्वभाव, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, रीति-रस्म आदि सभी बाते उसके नेत्रो के सामने नाचने लगती है।

कुछ व्यक्तियो का विचार है कि प्रथमानुयोग अर्थात् कथासाहित्य मे वर्णित कथाओ की रूप-रेखा प्रायः

एक-सी है। परतु इस सबध मे उन लोगो को समझना चाहिये, कि हिसा, असत्य, चोरी आदि महापापो से होनेवाली महती हानियों को दिखाकर अहिंसा, सत्य अचौर्य आदि नियमों की ओर ऋजुकर दश-धर्म, द्वादश-अनुप्रेक्षा आदि के मूलक-आत्मोन्नति की शिक्षा देना ही उन कथाओ का एकमात्र उद्देश्य है, और उन कथाओ ने इस आदर्श उद्देश्य का भली-भाँति निर्वाह भी किया है। कथा-साहित्य पर किया जानेवाला एक आक्षेप और है, वह यह है कि समुद्र, पर्वतादि का वर्णन प्रचुर-मात्रा में श्रृगारादि रसो का कथन है आदि। इसका उत्तर यह दिया जाना अनुचित नही होगा, कि जिस समय जैसा राष्ट्र का वातावरण रहता है, उसी वातावरण के अनुसार तत्कालीन-साहित्य का निर्माण होता है, अन्यथा वह साहित्य लोकप्रिय नही हो सकता। जैसे आजकल राष्ट्रीय भावनोत्पादक क्रान्तिमय साहित्य को उच्च स्थान मिल रहा है, उसीप्रकार उस जमाने मे पूर्वोक्त साहित्य का ही बोलबाला था। इसीलिये वीतरागी, परिग्रहरहित मुनियो को भी विवश हो ऐसे ही साहित्य का निर्माण करना अनिवार्य हुआ। ❖❖

संदर्भ-सूची

1. "पुरातन पुराण स्यात्तन्महन्महदाश्रयात्।"
2. यहाँ पैराणिको के जो नाम दिये गये है, वे कालक्रम से नही; किन्तु अकारादिक्रम से।
3. द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्यवर्षयुक्ते।
   जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरित पद्ममुनेरिदं निबद्धम्।।
4. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तमु दिश पञ्चोत्तरेषूत्तरा,
   पातीन्द्रयुधनान्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
   पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिसजेऽपरा,
   सौराणामधिमण्डल ज्ययुते वीरे वराहेऽवति।।
5. देखे — जी पी राजरत्नम्, एम ए., का 'कन्नड जैन-पुरपणगलु' शीर्षक कन्ड-लेख।
6. देखे — 'जयकर्नाटक', वर्ष 19, अक 1 मे प्रकाशित प्रो के जी कुन्दणगार का 'जैन साहित्पद वैशिष्टय' शीर्षक कन्नड लेख।
7. देखे — ता 9-11-31 के प्रयास से निकलनेवाले 'भारत' मे अमेरिका का एक समाचार है, कि वहाँ पर एक आदमी के पैर का चिह्न मिला है, जिसकी एक अगुली से दूसरी अगुली की दूरी 20 फुट है। यह आदमी पाँच करोड वर्ष पुराना माना जाता है। जैनमत मे जो शरीर की बडी-बडी अवगाहनाये बतायी है, क्या यह उसकी सत्य का प्रत्यक्ष नमूना नही है? — ('जैनमित्र' वर्ष 33, अक 5, पृष्ठ 35)
   इस प्रकरण मे यह भी जानना आवश्यक है, कि सुप्राचीन-काल मे 7 से 8 मील का 1 योजन माना जाता था। — ('हिन्दी विश्वकोष', भाग 13, पृष्ठ 64 मे 'परिमाण' शब्द)
8. देखें — 'जैन इतिहास की पूर्वपीठीका'।
9. देखें — 'संक्षिप्त जैन इतिहास', द्वितीय भाग, द्वितीय खण्ड का प्राक्कथन।

महावीर की निर्ग्रन्थ-परम्परा एवं उसका वैशिष्ट्य

✍ डॉ. सुदीप जैन

भगवान् महावीर की निर्ग्रन्थ-परम्परा आज तक अविच्छिन्नरूप से चली आ रही है, तो उसमे समय-समय पर अनेको महापुरुषो ने सजीवनी की तरह पुनरुज्जीवन के लिये योगदान भी दिया है। जहाँ निर्ग्रन्थ-परम्परा महावीर से युगो-पूर्व आदिब्रह्मा तीर्थंकर-ऋषभदेव से प्रवर्तित हुई थी, जिसमे अनेको वातरशन क्षपणक-मुनियो ने निरन्तर-योगदान दिया था। फिर सम्राट्-चन्द्रगुप्तमौर्य ने आचार्य भद्रबाहु का शिष्यत्व अगीकार कर उत्तर से दक्षिणभारत तक इस जैन-परम्परा का भरपूर प्रचार-प्रसार किया। उनके बाद इसका प्रबल-प्रभाव सम्राट्-खारवेल हुआ, जिसका ऐतिहासिक हाथीगुम्फा-शिलालेख हमे इसके द्वारा की गयी जैनत्व की प्रभावना का विवरण-प्रस्तुत करता है। ईसापूर्वकाल मे जैन-परम्परा के प्रभावको का सक्षिप्त-विवरण इस आलेख मे प्रस्तुत है।

— सम्पादक

आदिब्रह्मा तीर्थंकर ऋषभदेव

सम्पूर्ण भारतीय-परम्परा मे तीर्थंकर ऋषभदेव का अग्रणी स्थान सर्वसम्मतरूप से स्वीकार किया गया है। उन्होने जहाँ कृतयुग के आरम्भ मे असि-मसि-कृषि-वाणिज्य-विद्या और शिल्प की शिक्षा देकर मानव की सास्कृतिक एव सामाजिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया था, वही नैतिक एव आध्यात्मिक विकास के लिए उन्होने निर्ग्रन्थ-श्रमणदीक्षा लेकर मोक्षमार्ग का प्रवर्तन भी किया था। इसीलिए समग्र भारतीय-परम्परा मे उन्हे लौकिक एव लोकोत्तर — दोनो मार्गों का 'आदिब्रह्मा' स्वीकार किया गया है।

आद्य शकराचार्य ने ऋषभदेव को ॐकार-स्वरूप प्रतिपादित किया है — **"यश्छन्दसामृषभो विश्वरूप छन्देभ्योऽध्यमृतान् सबभूव। समेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो शरीर मे विचर्षणाम्।"**

— (तैत्तिरीयोपनिषद्, शाकरभाष्य, शिक्षाध्याय 4/1)

अर्थ — यह ॐकार छन्दो (वेदो या वेदभाष्य छान्दस्) मे वृषभरूप सर्वश्रेष्ठ है। यह विश्वरूप भी है। (अर्थात् इस ॐकारस्वरूपी परमात्मा को वेदो मे ऋषभ और विश्वरूप कहा गया है।) वह वेदो (राम) के अमृत-अश से उत्पन्न हुआ है। वह इन्द्रस्वरूपी (सर्वशक्तिमान ॐकार) मुझे मेधा (बुद्धि) से बलवान् करे। हे देव। मै इस अमृततत्त्व (आत्मज्ञान) का धारक बनूँ। मेरा शरीर इसके लिए समर्थ (योग्य) बने।

ऋषभदेव के साथ लगा 'देव' पद प्राचीन-परम्परा मे ऋषभदेव का ही सूचक अन्त्यपद रहा है, जैसे आजकल गाँधी जी, पडित जी या नेहरु जी आदि पदो से राष्ट्रपिता एव प्रथम प्रधानमत्री जी आदि की स्पष्ट पहिचान जनमानस मे बनी हुई है। इसके लिए पूरा नाम लेने की अपेक्षा नही होती है। इसी रूप मे ऋषभदेव को ॐकारस्वरूपी 'कातन्त्र व्याकरण' के कर्त्ता आचार्य शर्ववर्म ने भी सादर स्मृत किया है —

"ॐकार बिदुसयुक्त नित्य ध्यायन्ति योगिनः।
कामद मोक्षद देवमोकाराय नमो नमः॥"

— (डॉ. जानकीप्रसाद द्विवेदी, डी लिट्, शोध-प्रबन्ध)

यहाँ कई लोग भ्रमवश 'देवम्' पद की जगह 'चैव' पद का प्रयोग करते है, जो कि भ्रामक है तथा मूलविरुद्ध है। अर्थ की सगति भी इससे नही बैठती है।

'श्रीमद्भागवत' के कर्त्ता ने ऋषभदेव के 'परमगुरु' के विशेषण से सादर अलकृत किया है — **"इति ह स्म सकलवेद-लोक-देव-ब्राह्मण-गवा परमगुरोर्भगवत-ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरित पुसा समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामंगलायतनम्.....।"** — *(भागवत, 5, 6/16)*

अर्थ — इसप्रकार सम्पूर्ण वेद, लोक, देव, ब्राह्मण और गायो के **'परमगुरु'** भगवान् ऋषभदेव का विशुद्ध चरित्र कहा गया, जो कि मनुष्यो के समस्त दुश्चारित्र को दूर करनेवाला तथा उत्कृष्ट महान् सुमगलो का स्थान (आयतन) है।

आदिब्रह्मा तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म इस युग के अंतिम-कुलकर राजा नाभिराय की सहधर्मिणी रानी मरुदेवी की पुण्यकुक्षि से हुआ था — यह तथ्य सर्वविदित एव निर्विवाद है। इसी बात को वैदिक परम्परा के ग्रथो मे भी उनकी भाषा-शैली मे स्वीकार किया गया है। देखे — **"भगवान् परमर्षिभिः प्रसादतो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरो धायने मरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुरवततार।"** — *(भागवत, 5/3/20)*

अर्थ — परम श्रेष्ठ ऋषियो पर प्रसन्न हुये भगवान् ने प्रकट होकर कहा कि "मै नाभिराय का प्रिय करने की इच्छा से उनके अन्त.पुर मे मरुदेवी के गर्भ से धर्म का दर्शन कराने के लिए वातरशन, ऊर्ध्वचारी श्रमण ऋषियो के निर्मल शरीर को धारण करूँगा।"

"नाभेरसौ वृषभ आप्तसुदेवसूनुर्यो वै चचार समदृक् योगचर्याम्।
यत्पारहस्यमृषय. पदमामनन्ति, स्वस्थ. प्रशान्तकराः परित्यक्तसगः॥"
— *(वही, 7/10)*

अर्थ — राजा नाभि की पत्नी सुदेवी (मरुदेवी) के गर्भ से आप्तरूप मे ऋषभदेव ने जन्म लिया। इस अवतार मे समस्त आसक्तियो से रहित होकर, इन्द्रियो एव मन को शात करके, अपने स्वरूप मे स्थित होकर समदर्शी के रूप मे उन्होने योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षियो ने 'परमहसावस्था' कहा है।

इसमे प्रयुक्त 'श्रमण' एव 'आप्त' पद स्पष्टतः जैन-परम्परा के हैं।

इनके नामकरण के कारण का विवेचन भी 'भागवत' मे स्पष्टरूप से किया गया है — **"तस्य ह वा इत्थ वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्या च पिता ऋषभ इति चकार।"** — *(वही, 5/4/2)*

अर्थ — उनके सुन्दर और सुडौल शरीर को, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यशः, पराक्रम और शौर्य आदि विशिष्ट गुणावलि के अनुरूप पिता ने उनका नाम 'ऋषभ' रखा।

इनके वश की श्रेष्ठता का यशोगान वहाँ आया है —

"अहो! न वशो यशसावदातः, प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः।
कृतावतारः पुरुषः स आद्यः, चचार धर्मं यदकर्महेतुम्॥"
— *(भागवत, 5/6/14)*

अर्थ — अहो! अत्यत प्रियव्रतवाले (नाभिराय) यह (इक्ष्वाकु) वश बडा ही उज्ज्वल एव सुयशपूर्ण है, जिसमे कृतयुग के आद्य पुराणपुरुष वृषभदेव ने जन्म लेकर योगचर्यारूप परमधर्म का आचरण किया।

उनकी आध्यात्मिक-जीवनशैली का विवरण 'श्रीमद्भागवत' मे प्रभावीरूप मे प्राप्त होता है — **"भगवानृषभसञ्ज्ञ आत्मतंत्रः स्वयं नित्यनिर्वृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत् कर्मण्यारभमाण. कालेनानुगत धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदा सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोक नियमयत् (न्ययमयत्)।"** — *(श्रीमद्भागवत, पचम स्कध, 4/14)*

अर्थ — ऋषभदेव नामक भगवान् आत्मामय थे एव अनर्थ की परम्पराओ से स्वय नित्य-निर्वृत्त थे। वे केवलानन्द (क्षायिक सुख) का अनुभव करनेवाले ईश्वर थे। वे 'अतद्विद्' लोगो अर्थात् ऋषभदेव के धर्म से अनजान लोगों के लिए विपरीवत् (परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक मे ही प्ररूपण) कथन करके (अर्थात् अनेकान्तवाद का प्ररूपण करके) समय (शास्त्र-परपरा या पूर्व तीर्थंकर-परपरा) से अनुगत धर्म का सम्यक्चारित्रपूर्वक उपशिक्षण करते थे। वे ऋषभदेव समताभावी, उपशातचित्त, प्राणीमात्र से मैत्रीभाव रखनेवाले (मेत्ती मे सव्वभूदेसु) एव दयावान् थे। उन्होने धर्म, अर्थ, यश एव प्रजाओ के आनन्दामृतस्वरूप मोक्ष के निरूपण द्वारा गृहस्थाश्रम मे स्थित लोगो को सन्मार्ग मे नियमित किया था।

भगवान् ऋषभदेव ने उत्तमक्षमादि दशलक्षणमयी धर्म का उपदेश दिया था — ऐसा उल्लेख 'ब्रह्माडपुराण' मे स्पष्टरूप से मिलता है — **"इह वि इक्ष्वाकु-कुलोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण धर्मः दशप्रकारो स्वयमेवाचीर्ण· केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तित·।"**

अर्थ — इस लोक मे इक्ष्वाकुवश मे उत्पन्न, नाभिराय के पुत्र एव मरुदेवी के नन्दन देवाधिदेव भगवान् ऋषभदेव ने दशलक्षणमयी धर्म का स्वय आचरण किया और केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर स्वय लोकहित के लिए उसका प्रवर्तन (उपदेश) भी किया था।

इस दशलक्षणमयी धर्म का कथन जैनसूत्र-ग्रथ मे निम्नानुसार मिलता है — **"उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-सयम-तपस्त्यागाकिचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्म.।"** — *(तत्त्वार्थसूत्र)*

अर्थ — धर्म का स्वरूप उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिचन्य एव उत्तम ब्रह्मचर्य — इन दशलक्षणमय है।

इसप्रकार हम पाते है कि धर्म का स्वरूप जैसा जैन-मान्यता मे है, वैसा ही अन्य मतावलम्बियो ने भी तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वारा प्ररूपित बताया है। यही नही, जैन मान्यता के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दो का विशेषणो के रूप मे प्रयोग करके उन्होने ऋषभदेव जैनो के आदि तीर्थंकर थे — यह सिद्ध किया है। इसीलिए जैन-परपरा मे इन्हे 'आदिनाथ' भी कहा जाता है।

अअ'जैन भारतवर्ष के प्राचीनतम एव मूल-निवासियो मे से रहे हैं' — यह तथ्य पूर्वाग्रहरहित निर्विवाद मनीषियो ने अनेको बार प्रबल-प्रमाणो से पुष्ट किया है। अतएव भारतीय-सस्कृति के वैशिष्ट्य-बिन्दुओ मे जैन-परम्परा के सस्कार अत्यन्त गहरे रहे हैं। वैचारिक-विभिन्नता होते हुये भी समष्टिगत-एकत्व 'अनेकान्त'

सिद्धान्त का अमिट-प्रभाव है, जिसने समभावपूर्ण सहअस्तित्व का सस्कार हमे प्रदान किया है। अपनी बात कहने के साथ-साथ दूसरे के विचारो एव भावनाओ के शब्दायित-स्वरूप को सौमनस्यपूर्वक श्रवण एव चितन के लिये स्वीकार करने की शैली हमे 'स्याद्वाद' ने सिखायी है। दूसरे का अहित किये बिना, उसके अधिकार का अतिक्रमण किये बिना अपना हित-साधन करने की सामजस्य-पद्धति' अपरिग्रह' भावना की देन है। इसीप्रकार अविरोध की अहिसकदृष्टि ने हमें शांतिपूर्ण सह-अस्तित्त्व का पाठ सिखाया है।

सामाजिक-युगनिर्माण के इस सूत्र-चतुष्टय (अनेकान्त, स्याद्वाद, अपरिग्रह एव अहिसा) ने हमे मनसा-वाचा-कर्मणा 'सामाजिक' बनाया है, तथा आध्यात्मिक-तत्त्वज्ञान, जिसे 'आत्मविद्या' भी कहते है, का गुरुत्व तो मात्र श्रमण-सस्कृति (जैन-परम्परा) की ही मौलिक-विशेषता रही है। वैदिक-सस्कृति के महर्षियो ने भी **"श्रमणा वातरसना आत्मविद्या-विशारदा."** आदि अनेको उक्तियो द्वारा इस तथ्य की अनेकशः पुष्टि की है। वैदिक-परम्परा ऋषि जहाँ 'मत्रद्रष्टा' हुये, वही श्रमण-परम्परा के सत 'आत्मद्रष्टा' थे। इसप्रकार, लौकिक एव लोकोत्तर — दोनो क्षेत्रो मे श्रमणो की प्रतिभा से सम्पूर्ण भारतीय-सस्कृति आप्यायित हुई है।

महात्मा बुद्ध को प्रथम-दीक्षा देनेवाले सत निर्ग्रन्थ-श्रमण 'पिहितास्रव' सिकन्दर के युग मे दिग्विजयी से आत्मजयी बनने का पथ-प्रशस्त करनेवाले 'सेट कौलानस्' (कल्याण मुनि), सम्राट् चन्द्रगुप्त-मौर्य को अनुराग से विराग की दिशा देनेवाले श्रुतकेवली 'आचार्य भद्रबाहु', उडीसा से चलकर केरल से लेकर अफगानिस्तान तक अखण्ड-भारतवर्ष को अपनी दैदीप्यमान तलवार की चमक से चकाचौध कर देनेवाले सम्राट् खारवेल को 'देहात्म-भेदविज्ञान' की विद्या का पारायण करानेवाला श्रमण-समुदाय तथा सम्राट् विक्रमादित्य कयी आध्यात्मिक-पिपासा को तृप्ति प्रदान करनेवाले महामुनि 'क्षपणक' — ये सभी निर्ग्रन्थ श्रमण-परम्परा के ऐसे प्रातिभरत्न थे, जिन्होने अपनी प्रतिभा के बल पर युग की धारा को दिशाबोध दिया था।

उक्त कतिपय-निदर्शन तो वे है, जिनके बारे मे ऐतिहासिक-प्रमाण उपलब्ध है, तथा जो अतिप्राचीन भी है। इनके बाद प्रवर्तमान रही निर्ग्रन्थ-श्रमण-परम्परा मे भी अनेको प्रज्ञा-मनीषी हुये है, जो न केवल श्रमण-परम्परा के अपितु सम्पूर्ण भारतीय इतिहास व सस्कृति के गौरव-पुरुष बने है।

उपर्युक्त विशिष्ट व्यक्तियो मे से महामुनि 'क्षपणक' यहाँ इसलिये विशेषत· उल्लेखनीय है; क्योकि निर्ग्रन्थ-श्रमण होते हुये भी, इन्हे सम्राट् विक्रमादित्य की 'ब्रह्मससद' (नवरत्नो) मे विशिष्ट-स्थान प्राप्त था। सम्राट् विक्रमादित्य की 'ब्रह्मससद' के सदस्य के नवरत्नो का उल्लेख निम्नानुसार मिलता है —

"धन्वन्तरि क्षपणकामरसिंह-शकु:, वेतालभट्ट-घटखर्पर-कालिदासा·।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायाम्, रत्नानि वैर्वररुचिर्नव विक्रमस्य॥"

— *(ज्योतिर्विदाभरण, 10)*

अर्थ — धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिह, शकु, वेतालभट्ट, घटखर्पर, कालिदास, वराहमिहिर एव वररुचि — ये नौ महापुरुष सम्राट् विक्रमादित्य की सभा (ब्रह्मससद) के नवरत्नो के रूप मे विख्यात थे।

इनमे शरीर-सम्बन्धी आरोग्य-विद्या के विशेषज्ञ 'धन्वन्तरि' थे, आध्यात्मिक-विद्या के विशारद 'क्षपणक' थे, कोशशास्त्र के ज्ञाता 'अमरसिह' थे, वास्तुशास्त्र के पारगामी 'शकु' थे, ...शास्त्र के निष्णात 'वेतालभट्ट' थे, ... के अधिकारी विद्वान् 'घटखर्पर' थे, काव्यशास्त्र के शिरोमणि महाकवि 'कालिदास' थे, ज्योतिषविद्या

के महाज्ञानी 'वराहमिहिर' थे, तथा व्याकरणशास्त्र के विशेषज्ञ 'वररुचि' थे।

जब कभी जिस विषय मे विशेष-परामर्श या मार्गदर्शन लेना होता था, तो सम्राट् विक्रमादित्य उसी विषय के विशेषज्ञ से सबहुमान-परामर्श लेते थे। इसमे जहाँ सम्राट्-विक्रमादित्य की गुणग्राहिता परिलक्षित है, वही इन विद्वानो की अपने-अपने विषय की पारगमिता भी सिद्ध होती है।

इनमे आगत 'क्षपणक' का स्पष्ट परिचय अधिकाश भारतीय-इतिहासविदों ने नही दिया है। इसके बारे में कोई भी स्पष्ट निर्णय लेने के पूर्व यह अनिवार्यत· अपेक्षित है, कि प्रथमतः इस 'क्षपणक' शब्द का मूल अभिप्रेतार्थ समझ लिया जाये। भारतीय-परम्परा मे 'क्षपणक' शब्द का निर्विवाद एव सर्वाधिक व्यापकरूप से स्वीकृत-अर्थ है — 'नग्न दिगम्बर मुनि'। इस तथ्य के पोषक-कतिपय-प्रमाण निम्नानुसार हैं —

1 'क्षपणक' दिगम्बर ही होते हैं — *(आर पिशेल)*
2 'नग्नाटो दिग्वासा **क्षपणकः** श्रमणश्च जीवको जैनः।' — *(हलायुधकोश, 2/90)*
3 'नग्नो बन्दि-**क्षपणयो.** पुंसि त्रिषु विवाससि।' — *(मेदिनीकोश, 13)*
4 'निर्ग्रन्थः **क्षपणकस्तथा**।' — *(कोषकल्पतरु., 53)*
5 **खवणय** - जैनमुनि — *(पाइयसद्दमहण्णव, पृ 274)*
6 'नग्ने **क्षपणके** देशे रजकः कि करिष्यति।' -- *(सस्कृत-हिदी कोश)*
7 'सेवरा **खेवरा** वानपरस्ती।' — *(जायसीकृत 'पद्मावत', सिहल-द्वीप वर्णन, 32)*
8 'नग्न**क्षपणका**दीना।' — *(गीता, शाकरभाष्य, 18/21)*
9. 'नग्र**क्षपणक**मागच्छन्त। — *(महाभारत, पौश्यपर्व, 3/126)*
10 'यत्र **क्षपणका** एव दृश्यन्ते मलधारिणः।' — *(रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्ड, 24/21)*
11 'येह्वी तरी **खवणे** याच्या गावी।' — *(सत ज्ञानेश्वर, 4/2)*

इन क्षपणको (दिगम्बर-जैन-निर्ग्रन्थ-श्रमणो) को लोग कैसे वदन करते थे, इसके बारे मे 'पञ्चतन्त्र' मे एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है —

"ततः प्रधान<u>क्षपणक</u>मासाद्य क्षितिनिहित-जानुचरण 'नमोऽस्तु' वदे॥"

— *(पचतत्र, 1/12, पृ 531)*

अर्थात् उनके समक्ष घुटनो के बल झुककर 'नमोऽस्तु' कहकर वदना की जाती थी।

सम्पूर्ण दिगम्बर-जैन-परम्परा मे जैनश्रमणो को 'क्षपणक' या 'खवणउ' पदो का प्रयोग मिलता है। महान् अध्यात्मवादी आचार्य योगीन्द्रदेव लिखते है —

"खवणउ वदउ" — *(परमात्मप्रकाश, 2/62)*

उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है, कि 'क्षपणक' शब्द का अर्थ 'निर्ग्रन्थ-दिगम्बर-जैन-श्रमण' होता है। अब यहाँ यह प्रश्न हो जाता है, कि 'सम्राट्-विक्रमादित्य की 'ब्रह्मसभा' मे कथित 'क्षपणक' कौन-से निर्ग्रन्थ-दिगम्बर-जैन-श्रमण थे?' इसका समाधान सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ एन.एन उपाध्ये ने निम्नानुसार दिया है —

"Legends and historical accounts show that **Siddha Sena** was the well-known Kshapanaka (The Jaina Sage), who adorned the court of Vikramaditya and was one of the Nine gems (Navaratna) — *(Siddhasena's Nyaayaavataara and other works, page 7)*

अर्थ — कथाये एव इतिहास के तथ्य यह बताते है, कि 'क्षपणक' (जैनमुनि) सिद्धसेन विक्रमादित्य के दरबार को सुशोभित करनेवाले नवरत्नो मे से एक थे।

यद्यपि इस समय तक जैनसघ मे 'दिगम्बर' एव 'श्वेताम्बर' का वर्गीकरण हो चुका था, तथा सिद्धसेन के निर्ग्रन्थ-दिगम्बर-जैन-श्रमण होने की सूचना देने के लिये ही इनके लिये 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'क्षपणक' शब्द से दिगम्बर-मुनियो को अभिहित करने की परम्परा प्राचीन है। महाकवि बाणभट्ट-विरचित 'हर्षचरितम्' महाकाव्य में 'दिवाकर मित्र' के आश्रम मे उपस्थित साधुओं की सूची मे जैन-साधुओ को 'श्वेतपट' एव 'क्षपणक' — इन दो वर्गीकरणो मे वर्गीकृत किया गया है।

उक्त तथ्यों के आलोक मे हम कह सकते है, कि सम्राट्-विक्रमादित्य की 'ब्रह्मससद' के नवरत्नो मे उल्लिखित 'क्षपणक' **आचार्य सिद्धसेन** नामक दिगम्बर जैनश्रमण थे।

चूँकि सम्राट्-विक्रमादित्य की 'ब्रह्मससद' के शेष रत्न अपने-अपने विषय के अद्वितीय विद्वान थे, तथा आज भी उनकी सानी (समतुल्य व्यक्ति) मिलना मुश्किल है। महाकवि कालिदास के बारे मे तो —

"पुरा कवीना गणनाप्रसगे, कनिष्ठिकाधिष्ठित-कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥"

— जैसी उक्तियाँ प्रचलित है। इससे यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है, कि महामुनि क्षपणक (आचार्य सिद्धसेन) भी कितने महान् ज्ञानी एव अद्वितीय प्रतिभाशाली महापुरुष रहे होगे।

आज हमारे श्रमणो एव मनीषियो को अपने इन परम्परा-पुरुषो का सादर-स्मरण करना अनिवार्य है, क्योकि इसके ज्ञान के बिना हमारी वर्तमान-परम्परा प्रतिभा के क्षेत्र मे पुरुषार्थ से प्रायः विमुख होती जा रही है। कदाचित् इस गौरवमयी-परम्परा के महापुरुषो के स्मरण से हमारी आस्था सुदृढ होगी, हम गौरवान्वित होगे, और वर्तमान-परम्परा मे अपनी प्रतिभा को रचनात्मक-कार्यों मे समर्पित करने की प्रेरणा मिल सकेगी।

दक्षिण भारत मे सम्राट् चन्द्रगुप्त से पूर्व भी जैनधार्म का प्रचार-प्रसार था

सुसगठित भारतवर्ष की नीव-स्थापना करनेवाले ऐतिहासिक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम सर्वोपरि है। उन्होने भारतवर्ष को विदेशी आक्रान्ताओ से सुरक्षित ही नही किया था, अपितु अपने बल एव पौरुष से उन्हे भारत को विजित करने की कल्पना करने तक से वंचित कर दिया था। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एव सास्कृतिक-उन्नति के शीर्ष पर भारत को प्रतिष्ठित करनेवाले इस महानतम सम्राट् को 'जैनसम्राट्' के रूप मे बहुत कम लोग जानते है। जिन किन्ही आधुनिक इतिहासविदो को इसका ज्ञान भी था, उन्होने जाति-व्यामोह के पूर्वाग्रह मे इस तथ्य को या तो उद्घाटित ही नही किया; और यदि किया भी, तो सम्राट् चन्द्रगुप्त को 'मुरा' नाम की दासी से उत्पन्न या 'नापितपुत्र' जैसी निकृष्ट-कल्पनाओ से कलुषित करने का प्रयत्न किया।

तथ्यो की उपेक्षा करने, पूर्वाग्रह के कारण सत्य को न स्वीकारने या उसका उल्लेख न करने, कल्पित बातो से ऐतिहासिक तथ्यो को विकृतरूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास भारतीय इतिहास के कुछ लेखको ने भरपूर किया है। आधुनिक-काल मे बढ़ी इस प्रवृत्ति की प्राचीनकाल मे छाया तक दिखाई नही देती है। इसीकारण भारतीय-इतिहास की आधुनिक-पुस्तकों में जैनपरम्परा के महापुरुषो के व्यक्तित्व, जीवन एव योगदान के बारे

में तथ्यपरक यथार्थ-विवरण अनुपलब्ध है।

प्रस्तुत-प्रकरण मे यहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का सक्षिप्त-परिचय प्रथमतः प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

विद्वानो की मान्यता है कि ईसापूर्व छठवीं शताब्दी मे मौर्य-लोग 'पिप्पलीवन' में स्वाधीनभाव से बसे हुए थे। बौद्धग्रथो मे 'मौर्य' वश को 'क्षत्रिय' कहा गया है — **"मोरिया नाम खत्तिया वशजात।"**[1]

इसी यशस्वी क्षत्रिय 'मौर्यवश' मे चन्द्रगुप्त नामक शुभलक्षणों वाले यशस्वी बालक का जन्म हुआ, जो कि महामति आर्य चाणक्य का पावन सान्निध्य एव प्रातिभ सस्पर्श पाकर अनुपम ऐतिहासिक सम्राट् बना। वैदिक-परम्परा के ग्रथो मे उसकी प्रशस्ति मे यशोगीतियाँ निम्नानुसार प्राप्त होती है —

**'नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति।
तेषामभावे जगती मौर्या भोक्षयन्ति वै कलौ॥
स एव चन्द्रगुप्त वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धन·॥'**[2]

अर्थ — अभिमानी नव नन्दो का कोई ब्राह्मण उद्धार करेगा (अर्थात् उनके मान को विगलित करेगा), उनके न रहने पर इस भारतभूमि का भोग मौर्यवशी-सम्राट् करेगे। उनमे सम्राट् चन्द्रगुप्त को वह ब्राह्मण (चाणक्य) अभिषिक्त करेगा। उसका (चन्द्रगुप्त का) पुत्र वारिसार (बिदुसार) होगा और उसका (बिदुसार का) पुत्र अशोकवर्धन (सम्राट् अशोक) होगा।

इसी बात की पुष्टि इस पद्य मे भी प्राप्त होती है —

**"अनुगगा प्रयाग च साकेत महाधास्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवशजाः॥"**[3]

अर्थ — गगा के किनारे से लेकर प्रयाग, साकेत, मगध आदि इन सभी जनपदो का गुप्त (सम्राट् चन्द्रगुप्तमौर्य) के वशज उपभोग करेगे।

ये सभी गुप्तवशी-सम्राट् जैन-सस्कारो से अनुप्राणित थे। सम्राट् अशोक को कई लोग मासाहारी कहने का साहस करते है, कितु वे यह नही जानते कि व्यक्तिगतरूप से तो अशोक प्याज तक नही खाता था। 'दिव्यावदान' नामक ग्रथ मे लिखा है — **"देवि! अह क्षत्रिय., कथ पलाण्डु परिभक्षयामि?"**

अर्थ — हे देवी। मै क्षत्रिय हूँ, मै प्याज का भक्षण कैसे कर सकता हूँ?

ध्यातव्य है कि जैन-परम्परा में लहसुन-प्याज आदि पदार्थों का जमीकद होने से त्याग विहित है।

जैन-परम्परा मे यह स्पष्ट-उल्लेख मिलता है कि चन्द्रगुप्त जैनधर्मानुयायी था, तथा न केवल वह जैनसम्राट् था, अपितु उसे निर्ग्रन्थ-जैन-मुनि की दीक्षा भी अगीकार की थी और मुकुटधारी-राजाओ मे वह अन्तिम-सम्राट् था, जिसने निर्ग्रन्थ-जैनदीक्षा अगीकार की थी —

**'मउडधरेसु चरिमो, जिणविक्ख धरवि चवगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दु पव्वज्जं णेव गेण्हंति॥'**[4]

अर्थ — मुकुटधारी राजाओं मे अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त ने जिनेन्द्र-दीक्षा (जैनदीक्षा) धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी-प्रव्रज्या को ग्रहण नही करेगे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के विषये मे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् **डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन** ने अपनी कृति 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाये' मे विस्तार से वर्णन किया है। उसके कुछ अश उन्ही के शब्दो मे यहाँ प्रस्तुत हैं —

"आधुनिक-दृष्टि से भारतवर्ष के शुद्ध व्यवस्थित राजनीतिक इतिहास का जो प्राचीन- युग है, उसके प्रकाशमान नक्षत्रों मे प्रायः सर्वाधिक तेजपूर्ण-नाम 'चन्द्रगुप्त' और 'चाणक्य' है। ईसापूर्व चौथी शताब्दी के अन्तिमपाद के प्रारम्भ के लगभग जिस महान् राज्यक्रान्ति ने शक्तिशाली 'नन्दवश' का उच्छेद करके उसके स्थान मे 'मौर्यवश' की स्थापना की थी, और उसके परिणामस्वरूप थोडे ही समय मे 'मगध-साम्राज्य' को प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य बनाकर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था, उसके प्रधान-नायक ये ही दोनो गुरु-शिष्य थे। एक यदि राजनीति विद्या-विचक्षण एव नीति-विशारद ब्राह्मण-पण्डित था तो दूसरा परम पराक्रमी एव तेजस्वी क्षत्रिय-वीर था। इस विरल मणि-काचन सयोग को सुगन्धित करनेवाला अन्य दुर्लभ-सुयोग यह था कि वह दोनो ही अपने-अपने कुल की परम्परा तथा व्यक्तिगत-आस्था की दृष्टि से जैनधर्म के प्रबुद्ध-अनुयायी थे।

गत सार्थक एक सौ वर्षों की शोध-खोज ने यह तथ्य भी प्रायः निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि भारतवर्ष के प्रायः सभी महान् ऐतिहासिक सम्राटो की भाँति सर्व-धर्म-सहिष्णु एव अति-उदाराशय होते हुए भी व्यक्तिगतरूप से चन्द्रगुप्त मौर्य 'जैनधर्म का अनुयायी' था। तराई- प्रदेश के साम्राज्य के ही भीतर 'पिप्पलीवन' के मोरियो का गणतन्त्र था। यह लोग श्रमणोपासक व्रात्य-क्षत्रिय थे। स्वय महावीर के एक गणधर 'मोरियपुत्र' इसी जाति के थे और इस जाति मे जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। इनका एक पूरा ग्राम मयूरपोषको का ही था।

घूमते-घूमते चाणक्य एक बार इसी ग्राम मे आ पहुँचा और उसके मौर्यवशी मयहर (मुखिया) के घर ठहरा। मुखिया की इकलौती लाडली पुत्री गर्भवती थी और उसीसमय उसे चन्द्रपान का विलक्षण 'दोहला' उत्पन्न हुआ, जिसके कारण घर के लोग चिन्तित थे। किसी की समझ मे नही आ रहा था कि दोहला कैसे शान्त किया जाए। चाणक्य ने आश्वासन दिया कि वह गर्भिणी को चन्द्रपान कराके उसका दोहला शात कर देगा, किन्तु शर्त यह है कि उत्पन्न होनेवाले शिशु पर, यदि वह पुत्र हुआ, तो चाणक्य का अधिकार होगा और वह जब चाहेगा, उसे अपने साथ ले जाएगा। चाणक्य ने एक थाली मे जल (अथवा क्षीर-दूध) भरकर और उसमे आकाशगामी पूर्णचन्द्र को प्रतिबिम्बित करके गर्भिणी को इस चतुराई से पिला दिया कि उसे विश्वास हो गया कि उसने चन्द्रपान कर लिया है। दोहला शात हो गया। कुछ मास पश्चात् मुखिया की पुत्री ने एक चन्द्रोपम सुदर्शन, सुलक्षण एव तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जो 'चन्द्रगुप्त'[5] नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आठ-दस वर्ष पश्चात् पुनः चाणक्य उसी मयूरग्राम मे अकस्मात् आ निकला। वह ग्राम के बाहर थकान मिटाने के लिए एक वृक्ष की छाया मे बैठ गया और उसने देखा कि सामने मैदान मे कुछ बालक खेल रहे हैं। एक सुन्दर, चपल, तेजस्वी बालक राजा बना हुआ था और अन्य सब पर शासन कर रहा था। समीप जाकर

ध्यान से देखा तो उसे उस बालक में सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार एक चक्रवर्ती-सम्राट् के सभी लक्षण दीख पडे। बालको ने जब उसे बताया कि वह ग्राम-मयहर मोरिय का दौहित्र है, नाम चन्द्रगुप्त है, तो चाणक्य को यह समझने मे देर न लगी कि 'यह वही बालक है, जिसकी माता का दोहला उसने युक्ति से शात किया था।' वह अत्यत प्रसन्न हुआ और बालक के अभिभावको से मिलकर, उन्हे उनके वचन का स्मरण कराके बालक को अपने साथ लेकर उस स्थान से चला गया।

कई वर्ष तक उसने चन्द्रगुप्त को विविध अस्त्र-शस्त्रो के सचालन, युद्ध-विद्या, राजनीति तथा अन्य उपयोगी ज्ञान-विज्ञान एव शास्त्रो की समुचित शिक्षा दी। धीरे-धीरे उसके लिए बहुत से युवक और साथी भी जुटा दिये। ई.पू. 326 मे भारतभूमि पर जब यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् ने आक्रमण किया, तो उसे स्वदेश-भक्त चाणक्य का हृदय बहुत दुःखी हुआ, किन्तु उसने शिष्य चन्द्रगुप्त को सलाह दी कि वह यूनानियो की सैनिक-पद्धति, सैन्य-सचालन और युद्ध-कौशल का उनके बीच कुछ दिनो रहकर प्रत्यक्ष-अनुभव प्राप्त करे। सिकन्दर के ससैन्य देश की सीमान्त के बाहर निकलते ही चन्द्रगुप्त ने पजाब के वाह्लीको को उभाडकर यूनानी-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, यूनानियो द्वारा अधिकृत प्रदेश के बहुभाग को स्वतन्त्र कर लिया, और ई पू 323 के लगभग चाणक्य के पथ-प्रदर्शन मे मगध-राज्य की सीमा पर अपना एक छोटा-सा स्वतन्त्र-राज्य स्थापित करने मे भी सफल हो गया।

ई पू 321 के लगभग चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने एक छोटे-से सैन्यदल के साथ छद्मवेष मे नन्दो की राजधानी 'पाटलिपुत्र' मे प्रवेश किया और दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। चाणक्य के कूट-कौशल के बावजूद नन्दो की असीम-सैन्यशक्ति के सम्मुख ये बुरी तरह पराजित हुए और जैसे-तैसे प्राण बचाकर भाग निकले। नन्द की सेना ने इनका दूर तक पीछा किया। दो बार ये पकडे जाने से बाल-बाल बचे। चाणक्य की तुरत-बुद्धि और चन्द्रगुप्त के साहस तथा गुरु के प्रति अटूट-विश्वास ने ही इनकी रक्षा की। एक दिन रात्रि के समय किसी गाँव मे एक वृद्धा के झोपडे के बाहर खडे हुए इन दोनो ने उस वृद्धा द्वारा अपने पुत्रो को डाँटने के प्रसग मे यह कहते सुना कि "चाणक्य अधीर एव मूर्ख है। उसने सीमावर्ती प्रान्तो को हस्तगत किये बिना ही एकदम साम्राज्य के केन्द्र पर धावा बोलकर भारी भूल की है।" चाणक्य को अपनी भूल मालूम हो गयी, और उन दोनो ने अब नवीन-उत्साह एव कौशल के साथ तैयारी आरम्भ कर दी। विन्ध्य-अटवी मे पूर्व-सचित अपने विपुल-धन की सहायता से उन्होने सुदृढ सैन्य-सग्रह करना शुरू कर दिया। पश्चिमोत्तर-प्रदेश के यवन, काम्बोज, पारसीक, खस आदि तथा अन्य सीमान्तों की पुलात, शबर आदि म्लेच्छ-जातियो की भी एक बलवान् सेना बनायी। वाह्लीक उनके अधीन थे ही, पजाब के मल्ल (मालव) गणतन्त्र को भी अपना सहायक बनाया और 'हिमवतकूट' अथवा 'गोकर्ण' (नेपाल) के किरातवश के ग्यारहवे राजा 'पचम' उपनाम 'पर्वत' या 'पर्वतेश्वर' को भी विजित-साम्राज्य का आधा भाग दे देने का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। अब चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने नन्द-साम्राज्य के सीमावर्ती-प्रदेशों पर अधिकार करना शुरू किया। एक के पश्चात् एक ग्राम, नगर, दुर्ग और गढ छल-बल-कौशल से जैसे भी बना, वे हस्तगत करते चले गये। विजित-प्रदेशो एव स्थानो को सुसगठित एव व्यवस्थित करते हुए तथा अपनी शक्ति मे उत्तरोत्तर-वृद्धि करते हुए अन्ततः वे राजधानी 'पाटलिपुत्र' तक जा पहुँचे।

नगर का घेरा डाल दिया गया और उस पर अनवरत भीषण-आक्रमण किये गये। इसमे चन्द्रगुप्त के पराक्रम, रणकौशल एव सैन्य-संचालन-पटुता, चाणक्य की कूटनीति एव सदैव सजग गृद्ध-दृष्टि तथा पर्वत की दुस्साहसपूर्ण बर्बर युद्धप्रियता — इन तीनों का सयोग था। नन्द भी वीरता के साथ डटकर लडे, किन्तु एक-एक करके सभी नन्दकुमार लडते-लडते वीरगति को प्राप्त हुए। अन्ततः वृद्ध-महाराज 'महापद्मनन्द' ने हताश होकर धर्मद्वार के निकट हथियार डाल दिये और आत्मसमर्पण कर दिया।

वृद्ध नन्द ने चाणक्य को धर्म की दुहाई देकर याचना की कि उसे सपरिवार सुरक्षित अन्यत्र चला जाने दिया जाए। चाणक्य की अभीष्ट-सिद्धि हो चुकी थी। उसकी भीषण-प्रतिज्ञा की लगभग पचीस-वर्ष के अथक-प्रयत्न के उपरान्त प्रायः पूर्ति हो चुकी थी और वह क्षमा का महत्त्व भी जानता था, अतएव उसने नन्दराज को सपरिवार नगर एव राज्य का परित्याग करके अन्यत्र चले जाने की अनुमति उदारतापूर्वक प्रदान कर दी और यह भी कह दिया कि "जिस रथ मे वह जाए, उसमे जितना धन वह अपने साथ ले जा सके, वह भी ले जाए।" किन्तु जैसे ही नन्द का रथ चलने का हुआ नन्द-सुता 'दुर्धरा' अपरनाम 'सुप्रभा' ने शत्रु-सैन्य के नेता विजयी-वीर चन्द्रगुप्त के सुदर्शनरूप को जो देखा, तो प्रथम- दृष्टि मे ही वह उस पर मोहित हो गयी और प्रेमाकुल-दृष्टि से पुनः-पुनः उसकी ओर देखने लगी। इधर चन्द्रगुप्त की वही दशा हुई और वह भी अपनी दृष्टि उस रूपसी राजनन्दिनी की ओर से न हटा सका। इन दोनो की दशा को लक्ष्य करके नन्दराज और चाणक्य दोनो ने ही उनके स्वयवरित-परिणय की सहर्ष-स्वीकृति दे दी। तत्काल सुन्दरी 'सुप्रभा' पिता के रथ से कूदकर चन्द्रगुप्त के रथ पर जा चढी। किन्तु इस रथ पर उसका पग पडते ही उसके पहिये के नौ आरे तडाक से टूट गये (णव अरगा भग्गा)। सबने सोचा कि यह अमगल-सूचक अपशकुन है, किन्तु समस्त विद्याओ मे पारगत चाणक्य ने उन्हे समझाया कि 'भय की कोई बात नही है, यह तो एक शुभ-शकुन है और इसका अर्थ है कि इस नव-दम्पती की सन्तति नौ पीढी तक राज्यभोग करेगी।'

अब वीर चन्द्रगुप्त मौर्य नन्ददुहिता राजरानी सुप्रभा को 'अग्रमहिषी' बनाकर मगध के राज्य-सिहासन पर आसीन हुआ और नन्दो के धन-जनपूर्ण विशाल एव शक्तिशाली साम्राज्य का अधिपति हुआ। इसप्रकार ई.पू. 317 मे पाटलिपुत्र मे 'नन्दवश' का पतन और उसके स्थान मे मौर्यवश की स्थापना हुई। चन्द्रगुप्त को 'सम्राट्' घोषित करने के पूर्व चाणक्य ने नन्द के स्वामिभक्त-मन्त्री राक्षस के षड्यन्त्रो को विफल किया और उसे चन्द्रगुप्त की सेवा मे कार्य करने के लिए राजी कर लिया। अन्य पुराने योग्य-मन्त्रियो, राजपुरुषो एव कर्मचारियो को भी उसने साम-दाम-दण्ड-भेद से नवीन-सम्राट् के पक्ष मे कर लिया। वह स्वय महाराज का प्रधानामात्य रहा। मन्त्रीश्वर चाणक्य के सहयोग से सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने साम्राज्य का विस्तार एव सुसगठन किया और उसके प्रशासन की सुचारु- व्यवस्था की। इस नरेश के शासनकाल मे राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि की उत्तरोत्तर-वृद्धि होती गयी। ई पू 312 मे उसने 'अवन्ति' को विजय करके 'उज्जयिनी' को फिर से साम्राज्य की उपराजधानी बनाया।

'उज्जयिनी' पर अधिकार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने दक्षिण-भारत की दिग्विजय के लिए प्रयास किया। 'मालवा' से 'सुराष्ट्र' होते हुए उसने 'महाराष्ट्र' में प्रवेश किया। 'सुराष्ट्र' में उसने 'गिरिनगर' (उर्ज्जयन्त-गिरि) मे भगवान् नेमिनाथ की वन्दना की और पर्वत की तलहटी मे 'सुदर्शन' नामक एक विशाल-सरोवर का उस

प्रान्त के अपने राज्यपाल वैश्य पुष्पगुप्त की देख-रेख मे निर्माण कराया। उक्त सुदर्शन-सरोवर के तट पर निर्ग्रन्थ- मुनियो के निवास के लिए गुफायें (लेण) भी बनवायीं, जिनमे से प्रधान-लेण 'चन्द्रगुफा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। महाराष्ट्र, कोंकण, कर्णाटक, आन्ध्र एव तमिलदेश-पर्यन्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपनी विजय-वैजयन्ती फहरायी। प्राचीन तमिल-साहित्य, दाक्षिणात्य-अनुश्रुतियों एव कतिपय शिलालेखों में मौर्यों का उक्त दक्षिणीय-प्रदेशों पर अधिकार होना पाया जाता है। दक्षिण-देश की इस विजय-यात्रा में एक अन्य प्रेरक-कारण भी था। चन्द्रगुप्त का निजी-कुल 'मोरिय' का आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली का भक्त होना भी था। पूर्वोक्त दुष्काल के समय इन आचार्य के ससघ दक्षिण-देश को विहार कर जाने पर भी वे लोग उन्ही का आम्नाय के अनुयायी रहे और मगध मे रह जानेवाले स्थूलिभद्र आदि साधुओ तथा उनकी परम्परा को उन्होने मान्य नही किया।

चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि इसी आम्नाय के थे। अतएव आम्नाय-गुरु भद्रबाहु ने कर्णाटक-देश के जिस 'कटवप्र' अपरनाम 'कुमारीपर्वत' पर समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया था, पुण्य-तीर्थ के रूप मे उसकी वन्दना करना तथा उक्त आचार्य की शिष्य-परम्परा के मुनियो से धर्म-लाभ लेना और उनकी साता-सुविधा आदि की व्यवस्था करना ऐसे कारण थे, जो सम्राट् की इस दक्षिण-यात्रा मे प्रेरक रहे प्रतीत होते है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की एक अन्य अति-महत्त्वपूर्ण घटना ई पू 305 मे मध्य-एशिया के महाशक्तिशाली यूनानी सम्राट् सेल्यूकस के द्वारा भारतवर्ष पर किया गया भारी-आक्रमण था। चन्द्रगुप्त जैसे नरेन्द्र और चाणक्य जैसे मन्त्रीराज असावधान कैसे रह सकते थे? उनका गुप्तचर-विभाग भी सुपुष्ट था। मौर्य-सेना ने तुरन्त आगे बढकर आक्रमणकारी की गति को रोका। स्वय सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सैन्य-सचालन किया। वह यूनानियो की युद्ध-प्रणाली से भलीभाँति परिचित था, उनके गुणो को भी जानता था और दोषो को भी। परिणामस्वरूप यूनानी सेना बुरीतरह पराजित हुई और स्वय सम्राट् सेल्युकस बन्दी हुआ। उसकी याचना पर मौर्य-सम्राट् ने सन्धि कर ली, जिसके अनुसार सम्पूर्ण पजाब और सिन्ध पर ही नही, वरन् काबुल, हिरात, कन्दहार, बिलोचिस्तान, कम्बोज (बदख्शाँ) और पामीर पर मौर्य-सम्राट् का अधिकार हो गया और भारत के भौगोलिक-सीमान्तो से भी यूनानी-सत्ता तिरोहित हो गयी।

इसप्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने पराक्रम एव राजनीतिक सूझ-बूझ से अपनी स्वभाव-सिद्ध प्राकृतिक-सीमाओ से बद्ध प्राय: सम्पूर्ण भारत महादेश पर अपना एकछत्र- आधिपत्य स्थापित कर लिया। इतनी पूर्णता के साथ समग्र भारतवर्ष पर आज पर्यन्त सम्भवतया अन्य किसी सम्राट् या एकराट् राज्यसत्ता का, मुगलो और अग्रेजों का भी अधिकार नही हुआ।

इसी युद्ध के परिणामस्वरूप यवनराज का मेगेस्थनीज नामक यूनानी राजदूत पाटलिपुत्र की राजसभा मे ई पू 303 मे आया, कुछ समय यहाँ रहा, और उसने मौर्य-साम्राज्य का विविध-विवरण लिखा, जो कि भारत के तत्कालीन इतिहास का बहुमूल्य-साधन बना। उसने भारतवर्ष के भूगोल, राजनीतिक विभागों, प्राचीन अनुश्रुतियो, धार्मिक विश्वासों एव रीतिरिवाजों, जनता के उच्च-चरित्र एव ईमानदारी, राजधानी की सुन्दरता, सुरक्षा एव सुदृढता, सम्राट् की दिनचर्या एव वैयक्तिक-चरित्र, उसकी न्यायप्रियता, राजनीतिकपटुता और प्रशासन- कुशलता, विशाल चतुरंगिणी सेना, जिसमे चार लाख वीर सैनिक, नौ हजार हाथी तथा सहस्त्रो अश्व, रथ आदि थे और जिसका

अनुशासन अत्युत्तम था, प्रजा के दार्शनिक (या पण्डित), शिल्पी, व्यवसायी एव व्यापारी, व्याध एव पशुपालक, सिपाही, राज्यकर्मचारी, गुप्तचर व निरीक्षक, मन्त्री एव अमात्य आदि सात वर्गों का, सेना के विभिन्न विभागो का, राजधानी एव अन्य महानगरियों के नागरिक-प्रशासन के लिए छह विभिन्न समितियो का, इत्यादि अनेक उपयोगी-बातों का वर्णन किया है। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि भारतवर्ष मे दास-प्रथा का अभाव है। उसने यह भी लिखा है कि भारतवासी लेखनकला का विशेष आश्रय नही लेते और अपने धर्मशास्त्रो, अनुश्रुतियो तथा अन्य दैनिक-कार्यों मे भी अधिकतर मौखिक-परम्परा एव स्मृति पर ही निर्भर रहते हैं। प्रजा की जन्म-मृत्यु-गणना का विवरण, विदेशियो के गमनागमन की जानकारी, नाप-तौल एव बाजार का नियन्त्रण, अतिथिशालाये, धर्मशालाये, राजपथे आदि का सरक्षण सभी की उत्तम-व्यवस्था थी। देश का देशी एव विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था, बडे-बड़े सेठ और सार्थवाह थे, नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे थे, राजा और प्रजा दोनो ही अत्यन्त धन-वैभव सम्पन्न थे, विद्वानो का देश मे आदर था। स्वय सम्राट् श्रमणों एव ब्राह्मणों को राज-प्रासाद मे आमन्त्रित करके अथवा उसके पास जाकर आवश्यक परामर्श लेते थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में सम्पूर्ण भारतवर्ष के रूप में चक्रवर्ती-क्षेत्र की जो परिभाषा है, वही समुद्रपर्यन्त, आसेतु-हिमाचल भूखण्ड इस मौर्य-सम्राट् के अधीन था, जो **विजित**, **अन्त** और **उपरान्त**-क्षेत्रो के भेद से **तीन वर्गों** मे विभक्त था। जो भाग सीधे केन्द्रीय-शासन के अन्तर्गत था, वह 'विजित' कहलाता था और अनेक चक्रो मे विभाजित था। त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, दीक्षावृक्ष आदि जैन-सास्कृतिक-प्रतीको से युक्त कुछ सिक्के भी इस मौर्य-सम्राट् के प्राप्त हुए हैं।"[6]

इन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैनदीक्षा अगीकार करने अपने गुरु अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण-भारत के कर्नाटक-प्रात मे 'श्रवणबेल्गोल' क्षेत्र मे तपस्या की और समाधिपूर्वक देहत्याग किया। वहाँ स्थित शिलालेख मे ऐसा उल्लेख मिलता है —

"... जिनशासनायानवरत-भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त- मुनिपतिचरणमुद्राकित विशालशी.....।।[7]

इस शिलालेख मे लिखा है कि चन्द्रगिरि-पर्वत पर मुनिपति भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरणचिह्न अंकित किये गये।

अन्य ग्रथो से भी इस तथ्य के पोषक प्रमाण प्राप्त होते है —

भद्रबाहुवच: श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वर:।
अस्यैव योगिन: पार्श्वे वधौ जैनेश्वर तप:।।
चन्द्रगुप्तमुनि: शीघ्र प्रथमो दशपूर्विणाम्।
सर्वसघाधिपो जातो विशाखाचार्यसज्ञक:।।
अनेन सह सघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यत:।
दक्षिणापथदेशस्थ-पुन्नाटविषय ययौ।।"[8]

अर्थ — श्री भद्रबाहु आचार्य के वचन सुनकर सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भद्रबाहु के पास जैनेन्द्री-दीक्षा लेकर तप किया। चन्द्रगुप्त शीघ्र दश-पूर्वपाठियो का अग्रेसर 'विशाखाचार्य' नाम पाकर मुनिसघ का नायक बन गया। विशाखाचार्य का समस्त सघ गुरु-आदेश से (भद्रबाहु आचार्य की आज्ञा से) दक्षिणापथ-देशवर्ती 'पुन्नाट

जनपद' को गया।

आधुनिक विचारक भी इस तथ्य को स्वीकारते हैं —

"भारत सीमान्त से विदेशी-सत्ता को सर्वथा पराजित करके भारतीयता की रक्षा करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैन-आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी से दीक्षा ग्रहण की थी। उनके पुत्र बिम्बिसार थे। सम्राट् अशोक उनके पौत्र थे। कुछ दिन जैन रहकर अशोक पीछे बौद्ध हो गये थे।"[9]

ऐतिहासिक प्रमाणो से विदित होता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की राज्याभिषेक-तिथि 26 फरवरी 387 ईसापूर्व थी, तथा ईसापूर्व 365 मे इन्होने जैनमुनि दीक्षा ली थी। इसप्रकार कुल 22 वर्षों तक राज्य करके ये दीक्षित हुए थे।

ऐसे यशस्वी सम्राट् के मुनिदीक्षा अगीकार करने एव प्राकृतिक कारणो से गुरु-सान्निध्य मे दक्षिणभारत जाने और वहाँ तपस्या करने के उपरान्त व्यापक धर्मप्रभावनापूर्वक समाधिविधि से देहत्याग करने की चर्चा अनेकत्र प्राप्त होती है। किन्तु इस प्रसग मे प्राय: कुछ लोग यह कह जाते है कि चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के प्रवास से पूर्व दक्षिणभारत में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार नही था। यह बात ऐतिहासिक साक्ष्यो एव व्यावहारिक-परम्परा से मेल नही खाती है। इस विषय मे कतिपय विचार-बिन्दु निम्नानुसार हैं —

अतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु अपने शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य (विशाखाचार्य) एव अन्य विशाल मुनिसघ के साथ ईसापूर्व 298 मे दक्षिण भारत पहुँचे थे। ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के दिग्विजयी सम्राट् खारवेल के हाथीगुम्फा-अभिलेख के अनुसार भी दक्षिणभारत एव कलिग मे जैनधर्म के प्रचार की सूचना मिलती है। महाराष्ट्र के बारे मे एक प्रमाण यह मिलता है कि भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती कलिग-राजा **करकडु**, जो कि पार्श्वनाथ के शिष्य थे, ने तेरपुर (धाराशिव) की गुफा का दर्शनकर वहाँ जैनमंदिरो का निर्माण कराया था। 'महावश' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ईसापूर्व पन्द्रहवी शताब्दी में जैनधर्म सिहल (लका) मे प्रचारित हो चुका था। इस तथ्य के आधार पर श्री रामस्वामी आयगार ने जिज्ञासा व्यक्त की है कि 'दक्षिणभारत को स्पर्श किये बिना क्या जैनधर्म का सीधे सिहल पहुँच सकना सभव था।?[10] स्वत: स्पष्ट है कि महाराष्ट्र, आध्र, कर्नाटक, केरल एव तमिलनाडु प्रदेशो मे प्रभावना करता हुआ ही जैनधर्म सिहल मे प्रचारित-प्रसारित हुआ होगा।

जैन-ग्रथो मे यह उल्लेख मिलता है कि आदितीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि दक्षिण-भारत के प्रथम राजा बने थे। तथा तभी से दक्षिणभारत में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था। स्वय बाहुबलि को भी 'गोदावरी नदी' के तट पर स्थित 'पोदनपुर' मे उग्र-तपस्या के बाद कैवल्य की प्राप्ति होना जैनग्रथो मे वर्णित है। इससे प्रागैतिहासिक-काल से ही जैनधर्म का दक्षिण-भारत मे प्रचार-प्रसार होना ज्ञापित होता है।

'हरिवशपुराण' के अनुसार पाडवों ने दक्षिणभारत मे वनवास के समय दक्षिण की 'मथुरा' नगरी (मदुरै) की स्थापना की थी। और इस समय तक द्वारिका नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी।[11] इसीकारण नारायण श्रीकृष्ण एव बलदेव ने दक्षिण की ओर प्रयाण किया। मार्ग मे कौशाम्बी के वन मे जरत्कुमार के निमित्त से नारायण श्रीकृष्ण दिवगत हुए। यह जानकर पाडव बलराम के पास पहुँचे और उन्होने नारायण श्रीकृष्ण की पार्थिव-देह को शृंगिपर्वत पर अग्नि-सस्कार किया। फिर बलराम ने उसी शृंगिपर्वत पर तपस्या की। फिर पाडवो को पता

चला कि 'पल्लवदेश' में भगवान् अरिष्टनेमि विहार कर रहे हैं, तो वे उनके दर्शनार्थ वहाँ गये।[12]

वैदिक-पुराणग्रथों मे भी उल्लेख मिलता है कि नर्मदा के निकटवर्ती क्षेत्र मे विष्णु जी ने दिगम्बर जैन-मुनि के रूप मे अहिसा और सौहार्द की भावना का प्रसार किया था।[13]

दक्षिणभारत के सम्राट् नेवुपावनेजार के ताम्रशासनलेख से ज्ञात होता है कि वह भी जैनधर्मानुयायी था और ईसापूर्व 1140 मे उसने द्वारिका के निकट 'रैवतक पर्वत' पर आकर तीर्थंकर अरिष्टनेमि की पूजा की और उनका एक मंदिर भी वहाँ बनवाया था।[14] ईसापूर्व चौथी शताब्दी मे तमिलनाडु के दिगम्बर जैन साधु द्वारा 'तोळकाप्पियम्' नामक तमिल व्याकरण-ग्रथ की रचना का उल्लेख मिलता है। 'मणिमेखलै' एव 'शिलिप्पदीकारम्' से भी हमे अनेको ऐसे उल्लेख मिलता हैं, जो ईसापूर्व काल में भी बहुत पहिले से दक्षिणभारत के सुदूर समुद्रतटवर्ती क्षेत्रो तक जैनधर्म का प्रचार-प्रसार एव प्रभाव सिद्ध करते हैं।

इससे प्रतीत होता है कि आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने अपने निमित्तज्ञान से दक्षिणभारत मे केवल सुकाल की जानकारी नहीं ली थी, अपितु उन्हे दक्षिण मे जैनधर्म एव तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार का भी पता था, तभी उन्होने सुविचारितरूप मे विन्ध्य-महागिरि लाघकर दक्षिणभारत मे मुनिसघ के प्रवास का निर्णय लेकर उसे चरितार्थ किया था। तथा इसप्रकार जैनत्व की मूलपरम्परा की रक्षा उन्होंने अपनी बहुज्ञता और दूरदर्शिता से की थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (विशाखाचार्य) का भी इस सम्पूर्ण कार्यविधि मे अनन्य योगदान रहा, इसमे भी कोई सन्देह नही है।

इससे यह तथ्य भी ज्ञापित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने न केवल एक सम्राट् के रूप मे, अपितु एक साधक के भी रूप मे जैनत्व का सरक्षण एव प्रचार-प्रसार उत्तर से दक्षिण भारत तक अबाधरूप से निरन्तर किया था।

निर्ग्रन्थ-प्रतिमा — परम्परा एव वैशिष्ट्य

सम्प्रति भगवान् महावीर-स्वामी का 2600वाँ जन्मकल्याणक-महोत्सव मनाया जा रहा है। जैन-परम्परा मे अराध्य-परमात्मा की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने की परम्परा अतिप्राचीन है। वस्तुतः प्रतिमाओ के निर्माण की मूल-परम्परा ही दिगम्बर-मुद्रा की है, तथा जैन-मूलसघ ही प्रतिमा की परम्परा का प्रर्वतक है — इत्यादि तथ्यो को सप्रमाण निष्पक्ष-ढग से प्रस्तुत करने की नैष्ठिक-चेष्ठा इस आलेख मे की गयी है।

ईंट, पत्थर एव लकडी से सभी भवन बनते है, किन्तु इन्ही मे से कुछ भवन एक कारण-विशेष से 'मदिर' सज्ञा प्राप्तकर पूज्य हो जाते हैं, इस कारण-विशेष का नाम 'प्रतिमा' है।[15] इसे 'चैत्य' भी कहा जाता है। सामान्यतः तो किसी भी व्यक्ति की लकडी, प्रस्तर अथवा धातु से निर्मित प्रतिकृति को 'प्रतिमा' कहा जाता है, किन्तु भारतवर्ष मे 'प्रतिमा' का अर्थ 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' जैसा कभी नही रहा है, कि हर किसी की अनुकृति को 'प्रतिमा' कह दिया जाये। किसी भी व्यक्ति की प्रतिकृति को अग्रेजी-भाषा के 'स्टेच्यू' शब्द एव हिन्दी के 'मूर्ति' शब्द से अभिहित किया जा सकता है, परन्तु भारतीय-परम्परा के अनुसार 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग अतिविशिष्ट-गुणो से युक्त 'परमात्मा'-पद को प्राप्त व्यक्ति-विशेष की प्रतिकृति के लिये ही किया जाता है। इस 'प्रतिमा' के स्वरूप, निर्माण-परम्परा एव वैशिष्ट्य को यहाँ रेखाकित करने का प्रयत्न किया गया है।

'प्रतिमा' शब्द का अर्थ

'प्रतिमीयते इति प्रतिमा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रति' उपसर्ग के साथ 'मा' धातु के साथ 'अङ्' प्रत्यय का विधान करके फिर स्त्रीत्वसूचक 'आप्' प्रत्यय लगाने पर (प्रति+मा+अङ्+टाप्) 'प्रतिमा' शब्द निष्पन्न होता है। 'मेदिनीकोश' के अनुसार इसका अर्थ 'अनुकृति' किया गया है। 'रघुवश महाकाव्य' मे 'प्रतिबिम्ब' शब्द से भी सकेतित किया गया है। 'अमरकोश' मे इसके प्रतिमान, प्रतिबिम्ब, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, अर्च्चा एव प्रतिनिधि — ये सात पर्यायवाची-नाम गिनाये गये है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने इसके प्रतिच्छन्दः, प्रतिमायः, प्रतिरूप — ये नामान्तर और गिनाये है।[16] 'दसणपाहुड' की टीका मे कहा गया है — "**प्रतिमा प्रतियातना प्रतिबिम्ब प्रतिकृतिः**"[17] अर्थात् प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिबिम्ब एव प्रतिकृति — ये सब एकार्थवाचक नाम है। 'भगवती-आराधना' मे कहा गया है कि —

"चैत्य प्रतिबिम्बमिति यावत्। कस्य? प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवार्हतसिद्धयोः प्रतिबिम्बग्रहणम्।"[18]

अर्थ — 'चैत्य अर्थात् 'प्रतिबिम्ब' या 'प्रतिमा'। 'चैत्य' शब्द से प्रस्तुत प्रसग मे अरिहतो और सिद्धो की प्रतिमाओ का ग्रहण समझना चाहिये।

'प्रतिमा' की परम्परा — 'मूर्ति' से 'मूर्तिमान्' की एव 'प्रतिमा' से 'परमात्मा' की पूजा करने की दृष्टि मूलत जैन-दृष्टि रही है। भारत की प्राचीन दो ही परम्पराये रही है — ब्राह्मण-परम्परा एव श्रमण-परम्परा। इनमे से ब्राह्मण या वैदिक-परम्परा मे मूल मे 'प्रतिमा' मे 'परमात्मा' की कल्पना ही नही थी, अत वे प्रतिमा को पूजते ही नही थे। 'यजुर्वेद (32/13) मे स्पष्टतः कहा गया है — **"न तस्य प्रतिमा अस्ति।"** अर्थात् उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नही है। 'श्वेताम्बर उपनिषद्' (4/19) में भी यही वाक्य प्राप्त होता है। 'उपनिषत्कार' अर्थ स्पष्ट करते हुये लिखते है — **"एको वेव सर्वभूतेषु गूढ."**[19] अर्थात् वह एक अद्वितीय परम-ब्रह्म-परमात्मा समस्त तत्त्वो मे व्याप्त है, अत उसे किसी प्रतिमा-विशेष तक सीमित करने का कोई औचित्य नही है। इसी बात की पुष्टि करते हुये 'आदि शकराचार्य' लिखते है — **"न प्रतीके नहि सा"**[20] अर्थात् किसी भी प्रतिमा आदि प्रतीक मे उस ब्रह्मतत्त्व की सत्ता सीमित नही है। फिर भी, वैदिक-ऋचाओ मे जिन देवताओ की स्तुतियाँ की गयी है, उनमे उन देवताओ के आकार-प्रकार, सौदर्य, वस्त्राभूषण एव आयुध आदि की स्पष्टत. चर्चा प्राप्त होती है। अत· प्रतीत होता है, कि प्रारभ मे वैदिक-लोग कल्पना-शक्ति के द्वारा अपने आराध्य का वैचारिक-बिम्ब बनाकर उसकी पूजा करते थे, तथा भौतिक-प्रतिमा बनाकर उसके माध्यम से परमात्मा की अर्चना करने की परम्परा उनमे बहुत बाद मे आयी है। 'आचार्य वराहमिहिर'[21] ने 'पाँचवी शताब्दी ई ' मे विभिन्न देवताओ की मूर्तियो एव उनकी पूजा का वर्णन किया है, जो कि उनपर श्रमण-परम्परा का प्रभाव ज्ञात होता है।

जबकि 'श्रमण-परम्परा (जैन-परम्परा) मे 'प्रतिमा'-निर्माण एव उसके माध्यम से परमात्मा की आराधना की परम्परा अति-प्राचीनकाल से चली आ रही है। कहा जाता है कि 'आदिब्रह्मा तीर्थकर ऋषभदेव' के ज्येष्ठपुत्र 'चक्रवर्ती भरत' (जिनके नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पडा) ने सर्वप्रथम 'अरिहत' की प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करने का सूत्रपात इस युग मे किया था। ईसापूर्व 2400-2000 की एक मूर्ति का अश हडप्पा की खुदाई मे प्राप्त हुआ है, जिसे प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता प्रो टी एन. रामचन्द्रन ने 'जैन-तीर्थकर की मूर्ति'

बतलाया है।[22] ऐतिहासिकक्रम से ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के सम्राट् खारवेल के शिलालेख में कलिग-जिन (अग्रजिन-वृषभदेव) की प्रतिमा का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे पुष्यमित्र-शुग ले गया था, और सम्राट् खारवेल ने उस पर विजय प्राप्त करके सादर उस जिन-प्रतिमा को पुनः प्राप्त करके उसकी वदना-पूजा की थी, एव वापस कलिग-देश ले गया था —

"नवराजनीत कलिगजिन-संविनेस अग-मगधतो कलिग आनेति हय-गय-सग-वाहण-सहस्सेहि मगधवासिण च पावे ववापयति।"

अर्थ — नदराजा के द्वारा कलिग से ले जायी गयी जिनमूर्ति (अग्रजिन-वृषभदेव) को (मैने इस युद्ध मे सादर पुनः प्राप्त किया, और उसे) सस्थापित करके मै अगदेश और मगधदेश की सम्पत्ति प्राप्त की। हजारों घोडे, हाथियों, सैनिकों एव (रथ) आदि वाहनों-सहित मगधवासियो ने मेरी चरण-वदना की है।

इस बारे मे एक उल्लेख दृष्टव्य है — "उक्त नंदिबर्धन ने मगध-साम्राज्य को, जो अजातशत्रु के समय से ही बनना प्रारभ हो गया था, और भी बढाया। उसने कलिग को भी जीत लिया था, वहाँ से लूटकर और निधियो के साथ जिन (जैन-तीर्थंकर) की मूर्ति भी ले आया था। ईसापूर्व पाँचती शती मे जैनमूर्तियाँ बनने का यह अकाट्य-प्रमाण है। इसी समय से कुछ समय बाद कृष्ण की मूर्ति अस्तित्व मे आने का अनुमान है।"

— *(भारतीय मूर्तिकला' रायकृष्णदास, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी)*

एक कुषाण-युगीन निर्ग्रन्थ-जैन-प्रतिमा मथुरा के 'ककाली टीला' से प्राप्त हुई थी, जो कि आज भी मथुरा के राजकीय-सग्रहालय मे विद्यमान है। इस मूर्ति के बारे मे एक लेख प्राप्त होता है, जो निम्नानुसार है —

"सिद्ध उसभप्रतिमा वर्मये धीतु (गुल्हा) ये जयदासस्य कुटुंबिनिये दान।"

अर्थ — सिद्ध गुलहोन, जो कि वर्मा की पुत्री और जयदास की पत्नी थी, ने एक भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा समर्पित की थी।

एक अन्य अतिप्राचीन मौर्यकालीन निर्ग्रन्थ-जैनमूर्ति आज भी पटना के राष्ट्रीय सग्रहालय मे विद्यमान है। इस बारे मे **डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल** लिखते है — "किन्तु एक दूसरा प्रमाण जो सन्देह-रहित है, सामने आ जाता है। वह पटना के लोहानीपुर-मोहल्ले से प्राप्त एक नग्न कायोत्सर्ग-मूर्ति है। उस पर मौर्यकालीन ओप या चमक है, और श्री काशीप्रसाद जायसवाल से लेकर आज तक के सभी विद्वानों ने उसे तीर्थंकर-प्रतिमा माना है। उस दिशा में वह मूर्ति आज तक उपलब्ध सभी बौद्ध तथा ब्राह्मण-सम्बन्धी मूर्तियो से प्राचीन ठहरती है। कलिगाधिपति खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख से भी ज्ञात होता है, कि कुमारी-पर्वत पर जिनप्रतिमा का पूजन होता था। इन सकेतो से भी इगित होता है, कि जैनधर्म की यह ऐतिहासिक-परम्परा और अनुश्रुति अत्यत प्राचीन थी।"

जैन-शास्त्रों में भी अतिप्राचीन-काल से प्रतिमा-पूजा का विधान प्राप्त होता है। ईसापूर्वकालीन 'प्रतिक्रमणसूत्र' मे श्रमण एव श्रावक — दोनों के लिये 'चैत्य' (प्रतिमा) की भक्ति करने का विधान प्राप्त होता है। ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने भी 'चैत्य' (प्रतिमा) की भक्ति करने का निर्देश दिया है।[23] आचार्य रविषेण (8वी शताब्दी ई) ने लिखा है, कि जो जिनेन्द्र परमात्मा के आकार के अनुरूप जिनबिम्ब (प्रतिमा)

बनवाकर उसकी पूजा-स्तुति करता है, उसके लिये इस लोक मे कुछ भी दुर्लभ नही है —

"जिनबिम्ब जिनाकारं जिनपूजा जिनस्तुतिम्।
यः करोति जनस्तस्य न किंचिद् दुर्लभ भवेत्।।"[24]

आचार्य जटासिहनन्दि (छठवी शता. ई.) ने भी जिनबिम्ब के निर्माण की महिमा बतालते हुये उसकी प्रेरणा दी है।[25] आचार्य अमितगति[26], आचार्य पद्मनन्दि[27], आचार्य वसुनन्दि[28] ने भी जिनबिम्ब (प्रतिमा) के निर्माण का श्रेष्ठ फल बताते हुये इन्हे बनवाना श्रावको का कर्तव्य बताया है। पंडित शिव आशाधरसूरि ने तो जिन-बिम्ब (प्रतिमा) आदि का निर्माण कराना 'पाक्षिक श्रावको' अर्थात् (जिन्हे जिनधर्म का पक्ष भी है, उनका) कर्त्तव्य बतलाया है।[29] पाडे राजमल्ल जी ने भी अरिहत एव सिद्ध की जिनप्रतिमाये आदि बनवाने का विधान करते हुये लिखा है, कि 'जिनबिम्ब-महोत्सव' करने मे कदापि शिथिलता नही करनी चाहिये।"[30]

श्रमण-परम्परा मे प्रतिमा-निर्माण की महिमा

जैसा कि ऊपर कई आचार्यों के कथनो मे स्पष्टतः कहा गया है, कि 'प्रतिमा बनवाने का बडा महत्त्व है' — इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुये आचार्य शिवार्य लिखते हैं कि — "अरिहत आदि की प्रतिमा के दर्शन से उनके गुणो का स्मरण हो जाता है। इस स्मरण से नवीन अशुभ-कर्मों का 'सवर' हो जाता है। इसप्रकार समस्त इष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि करने मे जिनबिम्ब कारण होते है, अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिये।[31] वे आगे पुनः लिखते है कि — "चैत्य (प्रतिमा की भक्ति आत्मस्वरूप की प्राप्ति मे सहायक होती है, अतः चैत्यभक्ति सदैव करनी चाहिये।"[32]

श्रमण-परम्परा मे 'प्रतिमा' का स्वरूप

श्रमण-परम्परा मे 'प्रतिमा' का स्वरूप निर्वस्त्र, निराभरण, प्रशान्तमुद्रा एव दिगम्बर-रूप ही माना गया है। जैन-प्रतिमा के स्वरूप के बारे मे वैदिक आचार्य वराहमिहिर लिखते है —

"आजानु-लम्बबाहुः श्रीवत्साङ्क-प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासस्तरुणो रूपवाँश्च कार्योऽर्हता देवः।।"[33]

अर्थ — तीर्थंकर अरिहत की प्रतिमा घुटनों तक लम्बे हाथो वाली, वक्षस्थल के मध्य 'श्रीवत्स' के चिह्न से युक्त, प्रशान्तमुद्रावाली एव युवावस्था-सम्पन्न 'दिगम्बर' ही बनवानी चहिये।

अन्यत्र भी जैन-परम्परा मे प्रतिमा का स्वरूप ऐसा ही बताया गया है —

"उत्तम दशतालेन देवाङ्गैः स मानयेत्।
चतुर्विंशतितीर्थाना दशतालेन कारयेत्।।
निराभरणसर्वांग निर्वस्त्राग मनोहरम्।
समवक्षः स्थले हेमवर्णः श्रीवत्स-लाञ्छनम्।।"[34]

अर्थ — उत्तम-देवताओ का शरीर 'दशताल-प्रमाण' माना गया है, अतः चौबीसो तीर्थंकरो की प्रतिमाये भी दशताल-प्रमाण बनवानी चाहिये। वे प्रतिमाये आभूषण-रहित '*निर्वस्त्र-दिगम्बर*', मनोहारी, समान वक्षस्थल

(स्त्री-आकार से रहित), स्वर्ण के वर्णवाली एव श्रीवत्स के चिह्नवाली होनी चाहिये।

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि (5वी शताब्दी ई) मे लिखते है —

> "विगतायुधाः विक्रियाविभूषाः <u>प्रकृतिस्थाः</u> कृतिना जिनेश्वराणाम्।
> प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्या प्रतिमाः कल्मष शान्तयेऽभिवन्दे॥"[35]

अर्थ — जिनेश्वरों की प्रतिमा आयुधों से रहित, विक्रिया (आभूषणों एव शृगारिक या आक्रोशमयी राग-द्वेषसूचक मुखमुद्राओ) से रहित, प्राकृतिकरूप (जन्मजात दिगम्बररूपवाली) एव कान्तिवान् होनी चाहिये।

वे पुनः लिखते हैं —

> "निराभरण-भासुर विगतराग-वेगोदयात्।
> <u>निरम्बर</u>-मनोहर प्रकृतिरूप-निर्दोषतः॥"[36]

अर्थ — जिनेन्द्र-प्रतिमा आभूषण-रहित, चमकदार, राग-द्वेष के भावासे से रहित, वस्त्ररहित होते हुये भी मनोहारी एव प्राकृतिकरूप से निर्दोष होनी चाहिये।

इतना ही नही, गणधर (गणेश) की प्रतिमाये भी दिगम्बर एव प्रशान्त-मुद्रावली ही होती है — यह तथ्य वैदिक-सस्कृति मे भी स्वीकार किया गया है —

> "श्यामवर्णं तथा शक्ति धारयन्त <u>दिगम्बरम्</u>।
> <u>दिगम्बरा</u> सुवदना <u>भुजद्वय-समन्विताम्</u>।
> विघ्नेश्वरीति ख्याता <u>सर्वावयव-सुन्दरीम्</u>॥"[37]

अर्थ — विघ्नेश्वर के नाम से प्रसिद्ध गणधर (गणेश) की प्रतिमा श्यामवर्णी, शक्ति-सम्पन्ना 'दिगम्बरमुद्रावाली', सुन्दर-मुखाकृति, दो हाथोवाली तथा समस्त अवयवो से सुन्दर होनी चाहिये।

'वसुनन्दि-प्रतिष्ठपाठ' मे भी जिन-प्रतिमा के निर्माण-सम्बन्धी नियमो का परिचय देते हुये निम्नानुसार लिखा है, कि —

(1) **लक्षण** — जिनेन्द्र की प्रतिमा सुलक्षणो से युक्त बनानी चाहिये। वह सीधी, लम्बायमान, सुदर सस्थान, तरुण अगवाली व 'दिगम्बर' होनी चाहिये। 'श्रीवत्स' लक्षण से भूषित वक्षस्थल और घुटने तक लम्बायमान बाहुवाली होनी चाहिये। उसके काँख आदि अग रोमहीन होने चाहिये, तथा वह मूँछ व झुर्रियो आदि से रहित होनी चाहिये।

(2) **माप** — प्रतिमा की अपनी अगुली के माप से वह 108 अगुल की होनी चाहिये, चित्र में या लेपमय-शिला आदि मे प्रत्येक अग का मान, प्रमाण व उन्मान नीचे व ऊपर सर्वओर यथाकथितरूप से लगा लेना चाहिये। ऊपर से नीचे तक सौल डालकर शिला पर सीधे निशान लगाने चाहिये। प्रतिमा की की तौल या माप निम्नप्रकार जाननी चाहिये। उसका मुख उसकी अपनी अगुली के माप से 12 अगुल या एक बालिश्त होना चाहिये, और उसी मान से अन्य भी नौ-प्रकार का माप जानना चाहिये।

(3) **मुद्राः** — लक्षणो से सयुक्त भी प्रतिमा यदि नेत्र-रहित हो, या मुँदी हुई आँखवाली हो, तो शोभा नही

देती; इसलिये उसकी आँख खुली रखनी चाहिये। अर्थात् न तो वे अत्यन्त मुँदी हुई होनी चाहिये, और न अत्यत फटी हुईं। ऊपर-नीचे अथवा दाँये-बाँय दृष्टि नही होनी चाहिये, बल्कि शान्त, नासाग्र, प्रसन्न व निर्विकार होनी चाहिये। और इसीप्रकार मध्य व अधोभाग भी वीतरागता-प्रदर्शक होने चाहिये।[38]

जिन-प्रतिमा के प्रमुख लक्षणो की सार्थकता बतलाते हुये धवलाकार आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं — (1) 'निरायुध' होने से क्रोध, मान, माया, लोभ, जरा, मरण, भय और हिंसा के अभाव का सूचक है, (2) 'स्पन्दरहित नेत्रदृष्टि' होने से तीनो वेदो के उदय के अभाव का ज्ञापक है; (3) 'निराभरण' होने से राग का अभाव सिद्ध होता है; (4) 'भृकुटीरहित' होने से क्रोध का अभाव पता चलता है; (5) 'गमन, नृत्य, हास्य, विदारण, अक्षसूत्र, जटामुकुट और नरमुण्डमाला धारण न करने' से मोह का अभाव जाना जाता है, (6) 'वस्त्ररहित' होने से लोभ का अभाव समझना चाहिये; (7) 'अग्नि, विष' अशनि और वज्रायुधादिको से बाधा न होने के कारण घातिया-कर्मों का अभाव माना गया है; (8) 'कुटिल अवलोकन के अभाव' से ज्ञानावरण व दर्शनावरण का पूर्ण-अभाव सूचित होता है; तथा (9) 'गमन, प्रभामण्डल, त्रिलोकव्यापी-सुरभि' से अमानुषता (विशिष्टरूपता) मानी गयी है। इसप्रकार यह शरीर राग-द्वेष एव मोह के अभाव का ज्ञापक है। इस वीतरागता से ही उनकी सत्यभाषा व प्रामाणिकता सिद्ध होती है।[39]

यहाँ यह प्रश्न सभावित है, कि "जिनप्रतिमा दिगम्बर ही बनाने का विधान समस्त-आचार्यों ने क्यो किया?" तो इसका समाधान यही है, कि "चूँकि समस्त जिनेन्द्र परमात्मा निर्विकार दिगम्बर ही हुये है, अत. उनकी प्रतिमा ही तदनुरूप बनाने का प्रावधान समस्त जैन एव जैनेतर-ग्रथो मे प्राप्त होता है। यह कोई पूर्वाग्रह-प्रेरित कथन नही है, अपितु प्रमाणपुष्ट निष्पक्ष यथार्थ-तथ्य की प्रस्तुतिमात्र है। जैनेतरो के ग्रथो मे प्राय· सर्वत्र ही जैन-तीर्थंकरो एव अरिहतो को दिगम्बर ही माना गया है। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति लिखते है —

"ऋषभवर्द्धमानादि <u>दिगम्बराणा</u> शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति।"[40]

अर्थात् ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान महावीर-पर्यन्त चौबीसो तीर्थंकर-दिगम्बरो के अनुशासता, सर्वज्ञ एव आप्तपुरुष थे। वे ही जैनो को दिगम्बर के साथ-साथ दिन मे ही अपनी जीवनचर्या करनेवाला बताते है —

आह्रीका· <u>दिगम्बरा·</u>"[41]

अर्थात् जैन-श्रमण दिगम्बर एव आह्रीक (दिन मे चर्या करनेवाले) होते है। 'वाल्मीकि रामायण' मे भी श्रमणो को दिगम्बर ही कहा गया है —

"श्रमणा. <u>दिगम्बरा</u> श्रमणाः वातवसना इति"[42]

अन्य वैदिक-ग्रन्थो मे भी जैनो को दिगम्बर कहा गया है। यथा —

"<u>यथाजातरूपधरो</u> निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः।"[43]

अर्थ — जैनश्रमण नवजात-बालक के समान निर्विकार-दिगम्बर रूपवाले, निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रही होते है। यहाँ तक कि श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि ने भी जैनो का मूलरूप मे निर्ग्रन्थ-दिगम्बर ही माना है —

"निर्ग्रन्थ — एतेन मूलसघादि-<u>दिगम्बराः</u>।"[44]

अर्थ — 'निर्ग्रन्थ' इस शब्द से मूलसघ आदि दिगम्बर ही ग्रहण किये जाते हैं।

परम-नास्तिक चार्वाको ने भी जैन-श्रमणो को नग्न ही कहा है —

"नग्न श्रमणक-दुर्बद्धे"[45]

चूँकि नग्न-दिगम्बररूप को परम मगलमय माना गया है, अत जैनश्रमण परमगलरूप नग्नता को ही अगीकार करते हैं।"[46] इसीलिये 'प्रतिमा' की पूज्यता को प्रमाणित करने के लिये इन्द्रनन्दि भट्टारक ने स्पष्टत· कहा है, कि "मूलसघ के अन्तर्गत आनेवाले नन्दिसघ, सेनसघ, देवसघ और सिहसघ — इन चार सघों के अन्तर्गत प्रतिष्ठित जिनबिम्ब ही नमस्कार करनेयोगय हैं, अन्य सघों के नही, क्योंकि वे न्याय, नियम से विरुद्ध है।" चूँकि उक्त चारों सघ मूल-दिगम्बर-जैन-परम्परा के हैं, अत. इनकी आम्नाय मे प्रतिमा का भी निर्दोष-स्वरूप सुरक्षित रहा है।

जैन-सम्राट् खारवेल के हाथीगुम्फा-अभिलेख के कतिपय अभिनव-तथ्य

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के बाद ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी मे जैनधर्म का महान्-प्रभावक सम्राट्-खारवेल हुआ। इसने पश्चिम मे अफगानिस्तान, पूर्व मे बगप्रदेश, दक्षिण मे तमिलनाडु एव केरल तक समस्त-भूभाग अपने पराक्रम से विजित करके अपने साम्राज्य को तो विस्तृत किया ही था, भारतवर्ष को एक अखण्ड-सूत्र मे पिरोया भी था, जिससे विदेशी-आक्रमणकारियो को भरती की ओर दृष्टिपात करने का भी साहस नही होता था। एक यवन-आक्रान्ता ने ऐसी चेष्टा की थी, तो वह खारवेल के उसकी ओर आने की सूचना-मात्र से अपने सैन्य-वाहन आदि छोडकर उल्टे-पैरो भारत से अपने देश भाग खडा हुआ था। इस सम्राट्-खारवेल ने अपने द्वादशवर्षीय-शासन का प्रामाणिक-विवरण अपने हाथीगुम्फा-शिलालेख मे दिया है। इसी अभिलेख मे उसके जिनधर्मानुयायी नेष्ठिक-श्रावक एव प्रजावत्सल कर्त्तव्यवरायण-सम्राट् होने का स्पष्ट-विवेचन है। किंतु प्रजावत्सल-सम्राट् होने के सूचक-तथ्यो पर तो विद्वानो ने बहुत-कुछ लिखा है, परन्तु उसे जिनधर्मानुयायी सिद्ध करनेवाले बिन्दुओ पर उन्होने मौनसाधन किया है। अत: ऐसे ही कुछ बिन्दुओ का सप्रमाण-विवेचन इस आलेख मे किया गया है।

पृष्ठभूमि

हमारे देश को सवैधानिक नामकरण प्रदान करने मे प्रमुख निर्णायक भूमिका निभानेवाला, ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के समकालीन इतिवृत्त का अत्यन्त प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करनेवाला, जैन-परम्परा के अनुसार पुरुषार्थ-चतुष्टय के प्रति व्यावहारिक पद्धति का अनुपम निदर्शन तथा सास्कृतिक, पुरातात्त्विक, भाषिक आदि दृष्टियो से अमूल्य राष्ट्रिय धरोहर है 'दिग्विजयी जैन-सम्राट् खारवेल का उडीसा प्रान्त में कुमारी पर्वत (उदयगिरि) पर स्थित हाथीगुम्फा अभिलेख।' ईसापूर्वयुगीन प्राप्त अभिलेखो मे यह सभवत: सर्वाधिक विशाल एव एकमात्र ऐसा अभिलेख है, जिस पर शताधिक विद्वानो ने लेखनकार्य किया है, फिर भी जो सबसे कम चर्चित है और जिसके बारे मे व्यापक सभावनाये अवशिष्ट है।

विचारणीय बिन्दु

इसके सभावित अनुसन्धेय-बिन्दु अनेक हैं। **क्योंकि ऐतिहासिक- क्रम** में सम्राट् खारवेल के पूर्ववर्ती एव परवर्ती व्यक्तित्वो का प्राय: कोई उल्लेख नही मिलता है, जैसा कि विविध अभिलेखो के प्रणेता सम्राट् अशोक आदि के बारे मे मिलता है। इसकारण इस शिलालेख मे निहित ऐतिहासिक बिन्दुओं; सम्राट् खारवेल की वशबेलि, परिवार, वैयक्तिक जीवन एव अन्य प्रभावक-व्यक्तियो का बोध नही हो पाता है। इसीप्रकार इसकी क्षरित-अवस्था होने के कारण इसकी **लिपि एव मूलपाठो का सम्पादन** भी अभी अंतिमरूप से प्रामाणिक एव परिपूर्ण नही कहा जा सकता है। प्राय: सभी अनुसन्धाता एव लेखकगण इस तथ्य पर एकमत हैं। **भाषा का निर्धारण** भी इसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है, क्योंकि प्राकृतभाषा के विविध क्षेत्रीय एव कालगत रूपो मे इसकी प्राकृतभाषा कौन-सी है? — इस पर अभी तक 'इदमित्थमेव' के रूप मे निर्धारण नही हुआ है। इनके अतिरिक्त एक प्रमुख-बिन्दु है जैन-परम्परा, उसकी पारिभाषिक-शब्दावलि एव जीवनशैली का विशद-परिचय प्राप्त किये बिना इसका अर्थ करना, क्योंकि सम्राट् खाारवेल 'जैन' था; केवल 'नाम' का ही नही, अपितु 'कर्म' से भी। अत: अनेको जैन-परम्परा के कार्यों का उसने निष्पादन किया एव इस शिलालेख मे उनका विशद विवरण भी दिया है; फिर भी जैन-परम्परा के दार्शनिक, आध्यात्मिक सिद्धान्तो से अनभिज्ञ या अनिष्णात मनीषियो द्वारा इसका अर्थ किये जाने से इन पाठो के मूल अर्थ या तो प्रकाश मे आ ही नही पाये है, तथा जो आये भी है — वे सत्य और तथ्य से प्राय· परे रह गये है। प्रस्तुत आलेख मे ऐसे ही कतिपय बिन्दुओ का साकेतिक-परिचय प्रस्तुत है।

जैन-दृष्टि से ज्ञात होने वाले प्रमुख-तथ्य

महान् इतिहासविद् **डॉ. के.पी जायसवाल जी** ने इस शिलालेख पर वर्षों तक मनन-चितन के बाद लिखा था कि — "इसकी शैली सक्षिप्तता मे 'सूत्र' की स्पर्धा करती है।" जैन-दृष्टि से 'सूत्र' का लक्षण है —

"अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद् गूढनिर्णयम्।
निर्दोष हेतुमत्तथ्य सूत्रमित्युच्यते बुधै·।।"[47]

अर्थात् जिसमे कम अक्षर हो, जो सन्देहोत्पादक न हो, जो सारगर्भित हो, जिसका निर्णय गूढ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक कथन करता हो एव तथ्यात्मक हो, उसे विद्वान् 'सूत्र' सज्ञा से अभिहित करते है।

अत: सूत्रात्मक शैली के कारण ही इसके सारगर्भित एव गूढनिर्णयवाले तथ्यो का स्पष्टीकरण पूर्णत· नही हो पाया है। उनमे प्रमुख बिन्दु निम्नानुसार है —

1. **कलिगजिन** — इनका अर्थ प्राय: विद्वानो ने अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर किया है, जबकि इस शब्द से यह अर्थ नही निकलता है। यह वस्तुत: प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का सूचक है, जिन्हे आदिनाथ, आदिब्रह्मा आदि नामो से भी पुकारा जाता है। चूँकि ऋषभदेव के 100 पुत्रो मे एक पुत्र का नाम कलिग[48] था, तथा उसे ओड्प्रान्त (वर्तमान उडीसा) का साम्राज्य दिया गया था। सभवत: उन्ही का क्षेत्र होने से यहाँ भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव की पूजा की जाती रही हो। वैसे भी ईसापूर्वयुगीन या अतिप्राचीन जितनी

भी मूर्तियाँ मिलती हैं, वे सभी प्राय: तीर्थंकर ऋषभदेव की ही हैं। सामान्यत: इसे 'जिनप्रतिमा' कहा जाता है तथा कलिंगदेश का गौरव होने से इसे 'कलिंगजिन' कहा गया है। इसे सम्राट् बृहस्पतिमित्र (वसहतिमित्त) कलिगदेश को पराजित कर 'मगध' ले गया था, जिसे सम्राट् खारवेल मगध-विजय के उपरान्त ससम्मान कलिग वापस लाये थे।

2. तुलादान — इसे इस शिलालेख मे 'पलवभार' शब्द से सकेतित किया गया है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि दिग्विजय करके कलिग के आराध्यदेव 'कलिगजिन' की प्रतिमा को लेकर वापस लौटे अपने प्राणप्रिय सम्राट् को कलिग की जनता ने सोने-चाँदी और रत्नो से तौलकर उनका सम्मान किया हो — यह अत्यन्त स्वाभाविक है। चूँकि 'पल' शब्द 'माँस' वाची भी माना गया है, अत: माँस का पिण्ड जो यह शरीर है, उसे भार/बाँट (तौलने का साधन) बनाकर रत्नाभूषण से तौला गया होगा। यह सम्मान की परम्परा आज भी भारत मे प्रवर्तित है।

3. कपरुख (कप्परुक्ख) — इसका सीधा-सा रूपान्तर 'कल्पवृक्ष' होता है। विद्वानों ने अनुमान लगाया कि सम्राट् खारवेल ने भी दिग्विजय के बाद सम्राट् युधिष्ठिर की भाँति 'राजसूय यज्ञ' किया होगा एव उसमे ब्राह्मणो को सोने के कल्पवृक्ष बनवाकर दक्षिणा मे दिये होगे। विचारणीय बात यह है कि इसमे ऐसा कोई पद नही आता है, जिसका अर्थ 'राजसूय यज्ञ' किया जा सके। वस्तुस्थिति यह है कि यह 'कल्पद्रुमविधान' का वर्णन है, जो जैन-परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान है। जैनशास्त्रो के अनुसार इसे चक्रवर्ती राजा दिग्विजय के बाद करते थे तथा इसकी पूर्णता पर 'किमिच्छिक दान' देते थे —

"एवेहि सह अ इवधय-<u>कप्परुक्ख</u>-महामह-सव्ववोभवृवादि-महिमा-विहाण पूया णाम।"[49]

अर्थात् इन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष या कल्पद्रुम, महामह एव सर्वतोभद्र इत्यादि महिमामय विधान 'पूजा' कहे जाते है।

इनमे 'कल्पद्रुम' पूजा का परिचय निम्नानुसार है —

"दत्त्वा किमिच्छिक दानं सम्राड्भिर्य: प्रवर्त्यते।
कल्पद्रुममह· सोऽय जगदाशा-प्रपूरण·॥"[50]

अर्थ — जो 'किमिच्छिक दान' देकर चक्रवर्तियो के द्वारा किया जाता है और जिसमे प्रजा की इच्छाये पूर्ण की जाती हैं, वह 'कल्पद्रुम पूजा' कहलाती है।

अन्यत्र भी ऐसा ही विवरण मिलता है —

"किमिच्छकेन दानेन जगदाशा: प्रपूर्य य:।
चक्रिभि: क्रियते सोऽर्हद्‌यज्ञ: कल्पद्रुमो मत:॥"[51]

अर्थ — जो चक्रवर्तियो के द्वारा 'किमिच्छक दान' देकर किया जाता है और जिसमे जगत् के समस्त प्रजाजनो के मनोरथो की पूर्ति की जाती है, उसे 'कल्पद्रुम यज्ञ' कहते हैं। यह अरिहत भगवान् की पूजा है।

चूँकि जैन-परम्परा मे तीर्थंकर ऋषभदेव को 'कल्पवृक्ष के समान' माना गया है —

"ददान: कल्पद्रु: श्रितजनततेरुत्तमफलम्।"[52]

अर्थात् (वे तीर्थंकर वृषभदेव) आश्रितजनो को 'कल्पवृक्ष' के समान उत्तमफल प्रदाता हैं।

अत: सभव है कि तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा (कलिग जिन) के प्रत्यावर्तन की शुभ-बेला मे सम्राट् खारवेल ने सोद्देशिक-रीति से 'कल्पद्रुम पूजा' का आयोजन किया हो। क्योंकि इसमे समस्त परिवारजनो, राज्यकर्मचारियो, ब्राह्मणो-श्रमणो के रूप मे समस्त आदरणीयो एव लाखो प्रजाजनो को यथायोग्य 'किमिच्छिक दान' देने का स्पष्ट उल्लेख है। **"हय-गज-रथ सह याति सव घरवासिन च सव राजभतकान च सव पहमतीथिकान च अगणिठिया सव बम्हणान च पान-भोजन ददाति अरहतान समणान च ददाति सत-सहसेहि।"**

4 **आर्हत श्रमण** — अतिप्राचीन काल मे '**श्रमण**' शब्द का अर्थ ही '**जैन**' होता था, क्योंकि इस देश मे दो ही वर्ग थे — '**ब्राह्मण एव श्रमण**'। तथा '**श्रमण**' का अर्थ '**जैन**' ही होता था। किंतु महात्मा बुद्ध के अभ्युदय के बाद बौद्ध भिक्षुओ को भी ब्राह्मणेतर होने के कारण '**श्रमण**' कहा जाने लगा था। सभवत· उन्ही को व्यतिरिक्त करने के लिए इस अभिलेख मे '**श्रमण**' पद के साथ '**अर्हत**' विशेषण लगाया गया है — '**अरहतान समणान**', ताकि जैनश्रमण ही गृहीत हो। यह प्रयोग इस दृष्टि से वस्तुत विचारणीय है।

5 **प्राण-प्रतिष्ठा** — जैन-परम्परा मे यह मान्यता है कि यदि कोई प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा किसी भी कारण से ऐसी दशा को प्राप्त होती है कि काफी लम्बे अरसे तक उसकी नित्य पूजन-प्रक्षाल आदि न हो, तो उसके पुन पूज्य बनाने के लिए पुन: प्राण-प्रतिष्ठा व मत्रशुद्धि करायी जाती है।[53] सभवत. इसीलिए सम्राट् खारवेल ने भी मदिर के वैडूर्यमणिजटित गर्भगृह मे उक्त 'कलिग जिन' की पुन· प्रतिष्ठा करायी थी, — यह तथ्य इस वाक्य से स्पष्टत: ध्वनित है — **"वेडूरिय-गभे थभे पतिठापयति।"**

6. **श्रुत-सरक्षण** — यह एक महान् ऐतिहासिक तथ्य है कि अतिम तीर्थंकर महावीर के द्वारा प्रवर्तित 'द्वादशागी श्रुतपरम्परा' केवलियो व श्रुतकेवलियो के द्वारा सरक्षित होने पर भी ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी मे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल मे **अतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी** तक सुरक्षित रही। फिर उस समय द्वादशवर्षीय भयकर दुर्भिक्ष उत्तरभारत मे पडा, तो आचार्य भद्रबाहु सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ बारह हजार श्रमणो-श्रावको का विशाल सघ लेकर दुर्भिक्षरहित दक्षिण भारत मे चले गये थे। तब उस मौर्यकाल मे पडे भीषण दुर्भिक्ष के प्रभाववश श्रुतपरम्परा विच्छिन्न हो गयी थी। इस तथ्य को सूचित करने के लिए सम्राट्-खारवेल ने लिखवाया — **"मूरियकाल-वोछिन्न"** अर्थात् मौर्ययुग मे विच्छिन्न हुये। मौर्यकाल मे क्या विच्छिनन हुआ था? — इसका समाधान वह इसके आगे लिखता है — **"चोयठि-अग-सतिक तुरिय उपादयति।"**

इस पंक्ति मे 'मुरियकालवोच्छिन्न' पद से 'मौर्यकाल बाद' अर्थात् 'श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के बाद', 'चोयठि' पर से चार+आठ=**बारह** अग यानि द्वादशागी जिनवाणी तथा 'तुरिय' पद से 'चार' यानि **'चार अनुयोग' — यह अर्थ विद्वानो ने निकाला है।**

अर्थात् बारह अगवाली द्वादशागी श्रुत एव तत्सम्बन्धी चारो अनुयोगो की (सगीति बुलाकर अवशिष्ट तत्त्वज्ञान की) रक्षा की।

इस तथ्य को भारतीय गणतत्र की ससद के **89वे अतः ससदीय सम्मेलन** मे प्रमाणित किया गया है तथा इस तथ्य को रेखांकित करनेवाला एक प्राचीन चित्र भी उसके 'सोवनियर' में प्रकाशित किया गया है।

वस्तुतः जब सम्राट् खारवेल मगध-विजय के उपरान्त 'कलिग जिन' को लेकर आया और धूमधाम से उनकी रत्नजटित खभो वाले गर्भगृह में प्रतिष्ठा करायी, तो उसकी **रानी सिधुला** ने उससे कहा कि "जिनप्रतिमा के लिए तो आपने इतना किया, किंतु 'जिनश्रुत' जो अब मौर्यकाल के बाद क्रमशः विच्छिन्न होता हुआ विस्मृतप्रायः हो गया है, उसके सरक्षण की भी कुछ चिता है?" तब उसी सिधुला रानी के आह्वान पर सम्राट् खारवेल ने दशों दिशाओं से सैकडो ज्ञानियो, यतियो, मुनियो, तपस्वियों एव ऋषियो के सघ को बुलवाया एव इसी 'कुमारी पर्वत' पर उनका विशाल सम्मेलन करवाया। इसका स्पष्ट विवरण इस शिलालेख की पन्द्रहवी पक्ति[54] मे आया है। उसमे स्पष्ट उल्लेख है कि इस कार्य में पैंतीस लाख मुद्राये खर्च हुईं तथा इसमे सिहपथ की रानी सिधुला का विशेष योगदान था।

उपर्युक्त "चोयठि-अग-संतिक तुरिय उपादयति" पंक्ति मे आगत पदो का भी विश्लेषणपूर्वक चिंतन अपेक्षित है —

(क) **चोयठि** — इसमे मूलतः चो (चउ) एव अठि (अट्ठ) — ऐसा विभाग है। ऐसे प्रयोग अन्यत्र भी मिलते है, यथा — "ननाद ढक्का **नव-पञ्चबारम्**"[55] अर्थात् उन्होने (शिवजी ने) अपने डमरू को 'नौ और पाँच' अर्थात् 'चौदह' बार बनाया। इसीप्रकार यहाँ 'चार' और 'आठ' मिलकर 'बारह' हुये। इसप्रकार यह 'चोयठि' पद 'द्वादश' के रूप मे अगरूप जिनश्रुत का विशेषण बनकर 'अग' पद के साथ मिलकर 'द्वादशागी श्रुत' इस तथ्य को सिद्ध कर देता है।

(ख) **सतिक तुरिय** — यहाँ 'संतिक' शब्द का अर्थ है 'सबधित'। 'सारभूत', तो द्वादशाग से सम्बन्ध रखनेवाली बात का उल्लेख अगले पद 'तुरिय' मे कर दिया गया है। 'तुरिय' का स्पष्ट अर्थ होता है 'चार' या 'चतुर्थ'। यहाँ यह 'द्वादशागी जिनवाणी' से सम्बन्ध जैनश्रुत के विषयगत वर्गचतुष्टय — प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एव द्रव्यानुयोग का वाचक है। इसके लिए एक जैनग्रथ मे आता है —

"प्रथम करण चरण द्रव्य नम "[56]

(ग) **उपादयति** — चूँकि उस समय तक श्रुत को प्रायः विच्छिन्न ही मान लिया गया था। इस विशाल 'सगीति' या 'सगोष्ठी' मे आगत श्रमणो एव ज्ञानियो में जिसको जितना मूल-तत्त्वज्ञान स्मृत था, उसको सुनाकर उसका विधिवत् सरक्षण कर अवशिष्ट 'श्रुतज्ञान' को मानो पुनर्जीवित कर दिया गया था, अतएव यह 'उपादयति' अर्थात् 'उत्पन्न किया' यह सार्थक क्रियाप्रयोग है।

7. **जीव-देह-भेदविज्ञान** — इस तथ्य को स्वनामधन्य डॉ. के पी जायसवाल ने अपनी शोध-आलेख मे स्पष्ट किया है। उन्होने स्पष्ट लिखा है कि — "जीव-देह के जैन विज्ञान का भी इसमे उल्लेख है।"[57] वस्तुतः यह कोई भौतिक विज्ञान नही है, अपितु देह मे रहते हुये भी देह से भिन्न आत्मतत्त्व या जीव को अनुभव करने की अद्भुत कला है। इसके बारे में जैनाचार्य **अमृतचन्द्रसूरि** लिखते है —

"भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥"[58]

सम्राट् खारवेल ने भी **"जीवदेहसिरिका परिखिता"** कहकर इस भेदविज्ञान की आध्यात्मिक-क्रिया का अपने जीवन में निष्पादन का उल्लेख किया है। वस्तुतः जिनवाणी के स्वाध्याय का यही सुफल है। स्वामी कार्तिकेय ने भी इस बारे में स्पष्ट लिखा है —

"जे जिणवयणे कुसला, भेद जाणंति जीव-देहाण।"
— *(कत्तिगेयाणुवेक्खा, गा. 194)*

इसके टीकाकार इसे स्पष्ट करते हुए लिखते है —

"द्वादशागरूप सिद्धान्ते कुशला वक्षा निपुणाः जिनाज्ञाप्रतिपालका वा जीवदेहयो-रात्मशरीरयोर्भेद जानन्ति, जीव शरीर भिन्न पृथग्रूपमिति जानन्ति विदन्ति।"

अर्थ — जो भव्यजीव द्वादशागी जिनवाणी मे निहित तत्त्वज्ञान मे कुशल-दक्ष-निपुण होकर जिनेन्द्र परमात्मा की आज्ञा के प्रतिपालक होते है (उनकी आज्ञा पालते है), वे जीव और देह का अर्थात् आत्मा और शरीर का भेद जान लेते है। जीव और शरीर को भिन्न-पृथक् रूप जानते व अनुभव करते है।

ये तथ्य इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर सकेत करते हैं कि सम्राट् खारवेल ने जिनवाणी के निरन्तर श्रवण-मनन-चितन से अपनी मानसिकता में घोर अन्तर पाया तथा उसने ससार, शरीर एव भोगो से विमुख होकर देह और आत्मा के भेदविज्ञान को समझकर शरीर से भिन्न निर्मल आत्मतत्त्व की ओर उपयोग को एकाग्र कर निर्मलात्मानुभूति प्राप्त कर ली।

8 सल्लेखना या समाधिमरण — देहात्म भेदविज्ञान करनेवाला साधक पुरुष शरीर का मोह नही रखता। अब अंतिम समय (आयुकर्म की पूर्णता) प्रतीत होता है, तब वह शरीर एव शरीर-सम्बन्धी क्रियाओ से ममत्व दूरकर सावधानीपूर्वक आत्मकेन्द्रित हो शरीर त्याग होने देता है। इसे ही 'सल्लेखना' या 'समाधिमरण' कहते है। सम्राट् खारवेल ने अपनी सकल्प-शक्ति के रूप मे इसका उल्लेख किया है —

"पूजानुरत-उवासग-खारवेलसिरिना जीवदेहसिरिका परिखिता।"

अर्थात् पूजा-पाठ एव उपवास आदि करते हुये खारवेलश्री ने जीव एव शरीर के भेदविज्ञान की परीक्षा कर ली। चूँकि सल्लेखना-धारण करनेवाला व्यक्ति धर्मध्यान एव उपवासादि तप मे निरत रहता है, अतः यह उसी का पोषक प्रतीत होता है।

इसप्रकार हम देखते है कि दिग्विजय, शासन, दान-पूजादि अनुष्ठान एव भेदविज्ञान- सल्लेखना आदि के रूप मे सम्राट् खारवेल ने धर्म-अर्थ-काम एव मोक्ष — इन चारो पुरुषार्थों को अपने जीवन मे चरितार्थ किया था।

उपर्युक्त कतिपय विचार-बिन्दु सकेतमात्र हैं कि इस शिलालेख को समग्रतः इस दृष्टि मे भी देखा जाये और उसके पाठो व अनुवाद का प्रामाणिक पुष्टि की जाये। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 महापरिणिव्वाणसुत्त, पृष्ठ 260
2 भागवत, 12/1/12-13.
3 वायुपुराण, 99/383.
4 आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 4/1481
5 दोहले के अनुरूप तो उस नवजात बालक का नामकरण 'चन्द्रभुक्त' अर्थात् 'चन्द्रमा का आहार करनेवाला' रखा गया था। जैनग्रन्थो में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं। किंतु कालान्तर मे वह 'चन्द्रगुप्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ।
6 द्रष्टव्य, प्रमुख ऐतिहासिक जैनपुरुष और महिलायें, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृष्ठ 47-56.
7 चन्द्रगिरि पर्वत-स्थित शिलालेख क्र 162
8 आचार्य हरिषेण (सातवीं शताब्दी), कथाकोश, 38-39.
9 हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण मासिक-पत्र 1950, गोरखपुर, पृ 864
10 Studies in South India Jainism, Part I, Page 33
11 हरिवशपुराण, पृष्ठ 487
12 वही, सर्ग 53-65, तथा 'दक्षिण का जैन इतिहास', भाग 3, पृष्ठ 78-80
13 द्रष्टव्य, विष्णुपुराण, अध्याय 18 तथा पद्मपुराण, अध्याय 1, एव मत्स्यपुराण, अध्याय 24
14 द्रष्टव्य, Times of India, 19th March 1935, पेज 9, तथा संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग 3, पृ 65-66
15 बोधपाहुड, गाथा 8 की टीका।
16 द्र, शब्दकल्पद्रुम, भाग 3, पृ 258
17 दसणपाहुड, गाथा 35 की टीका।
18 भवगती आराधना, गाथा 46 की विवृत्ति।
19 श्वेताश्वर, उपनिषद्, 6/11
20 ब्रह्मसूत्र, शाकरभाष्य, 4/9/4
21 वृहत्संहिता, 60/19
22 'अनेकान्त, वर्ष 14, किस्त 6 में प्रकाशित 'हडप्पा और जैनधर्म', शीर्षक-लेख।
23 पचत्थिकायसगहो, गाथा 166
24 पद्मचरित्र, पर्व 14, पद्य 213
25 द्र, वरागचरित, 23/21
26 सुभाषितरत्नसदोह, श्लोक 876
27 पद्मनंदि-पचविशति; श्लोक 22
28 वसुनंदि-श्रावकाचार, श्लोक 48
29 द्र, सागार-धर्मामृत।
30 द्र, लाटीसंहिता।
31 भगवती आराधना, वि 47/160
32 वही, 300/511
33. वृहत्संहिता, 58/45.

34 मानसार, 55/45-46, पृ. 365
35 चैत्यभक्ति, 12
36 वही, पृ. 32.
37 द्र., मुनिकीर्तिसागर-प्रणीत 'खण्डहरों का वैभव', पृ. 378
38. द्र, वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ, परि. 4, श्लोक 1-74
39 द्र, धवला, 9/4, 1 , 44/107.
40 न्यायबिन्दु, 3/31, पृ 265.
41 प्रमाणवार्तिक, पृ 265
42 रघवुरी शरण डबलिस द्वारा सम्पादित कलकत्ता सस्करण मे।
43 परममागल्य नाग्न्यमभ्युपगतस्य। — *(चारित्रसार, पृ 110)*
44 तैत्तिरीय-उपनिषद्, 10/83, जाबालोपनिषद्, पृ 130
45 प्रमशरति-प्रकरण, 8/42
46 चार्वाकदर्शन, 8, पृ 79 47 — *(आचार्य वीरसेनकृत 'जयधवल' टीका, भाग 1, पृष्ठ 154)*
48 द्रष्टव्य अभिधान राजेन्द्र कोश, पृष्ठ 1129
49 'छक्खडागम, बधसामित्तविचय', 3/42, पृष्ठ 92
50 आचार्य जिनसेन, 'महापुराण', 38/31
51 पंडित आशाधर सूरि, 'सागार धर्मामृत', 2/28
52 पुरुदेवचम्पू, 1/1
53 "जिनार्चाया परित्यक्ते सप्तमास जिनालये, सर्वलोकशरण्यस्य स्यात्प्रतिष्ठापन पुन·।।" — *('प्रायश्चितविधिग्रन्थ', अष्टम अध्याय, पद्य 18)*
54 "सुकति समण सुविहितान च सतदिसान आनिन यतिन तपसि इसिन सघायन अरहत निसीदिया समीपे पभारे बराकर समुथापिताहि, अनेक योजना हिताहि पनतिसाहि सतसहसेहि सिलाहि सिहपथ**रानिसिंधुडाय** निसियानि।"
55 'नन्दिकेश्वर कारिका', पृष्ठ 4
56 'प्रतिक्रमणसूत्र', 'शांतिभक्ति' मे।
57 'कलिग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण' नामक आलेख, जो काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अक 8/3, सन् 1928 मे प्रकाशित हुआ था।
58 'समयसार कलश', 131। तथा ऐसा ही विवरण 'आचार्य कार्तिकेय' ने भी दिया है —
"जो जाणिदूण देह जीवसरूवादु तच्चदो भिण्ण।" — *(कत्तिगेयाणुवेक्खा, गाथा 82)*
टीका — "य ज्ञात्वा देह जीवस्वरूपात् तत्त्वत. भिन्नम्। आत्मानमपि च सेवते कार्यकर तस्य अन्यत्वम्।"

❖❖

स्वस्थ रहने का रहस्य

"मै ऐसा कोई कार्य नही करता, जिससे मेरे मन एव शरीर पर अनावश्यक बोझ पडे।" ❖❖

— (स्व डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, मुम्बई)

जैन-परम्परा और 'ब्राह्मी' लिपि

✍ डॉ. रवीन्द्र कुमार वशिष्ठ

'ब्राह्मी लिपि' विश्व की समस्त लिपियो की जननी है — यह मात्र श्रद्धावश या भक्ति के अतिरेक मे किया गया कथन नही है, अपितु लिपिविज्ञान की दृष्टि से वर्णाकृतियों के विकास एव लेखनशैली की दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्ररूपण है — ऐसा निर्विवाद मनीषियो ने स्वीकार किया है। भारतीय-परम्परा के ग्रन्थो मे इस बारे मे जो उल्लेख मिलते हैं, उनका संक्षिप्त-निरूपण इस लेख मे विद्वान्-लेखक ने श्रमपूर्वक किया है। — सम्पादक

'ब्राह्मी लिपि' भारतवर्ष की ज्ञात प्राचीनतम-लिपियो मे से प्रमुख-लिपि है। आधुनिक काल मे प्रचलित अग्रेजी और उर्दू-भाषाओ के लिए प्रयुक्त लिपियो के अतिरिक्त अन्य **समस्त भारतीय-लिपियो का जन्म 'ब्राह्मी लिपि' से ही हुआ है।** तिब्बती, स्यामी, सिहली, थाई, जावा, सुमात्रा की लिपियाँ 'ब्राह्मी' से स्पष्टत. प्रभावित है। इस लिपि की गणना प्राचीन भारतीय धार्मिक-ग्रन्थों मे सर्वप्रथम की गई है। जैनग्रन्थो 'पण्णवणासुत्त' तथा 'समवायागसुत्त' मे **अट्ठारह** और बौद्ध-ग्रन्थ 'ललितविस्तर' मे **चौंसठ** लिपियो के नाम उद्धृत किए गए है। इस समस्त रचनाओ मे 'ब्राह्मी-लिपि' को सर्वप्रथम-स्थान दिया गया है। इसीप्रकार 'भगवतीसूत्र' को 'णमो बभीए लिविए' मगलाचरण से ब्राह्मी-लिपि को नमस्कार करके प्रारम्भ किया गया है। ये वर्णन प्राचीनकाल मे ब्राह्मी-लिपि के महत्त्वपूर्ण-स्थान पर प्रकाश डालते हैं। ब्राह्मी- लिपि को विभिन्न-विद्वानो ने 'सार्वदेशिक-लिपि' माना है। विद्वद्वरेण्य राहुल साकृत्यायन के सर्वमान्य-शब्दो मे "यदि कोई एक ब्राह्मी-लिपि को अच्छी तरह सीख जाए, तो वह अन्य लिपियो को थोडे ही परिश्रम से सीख सकता है।"[1]

ब्राह्मी-लिपि के नामकरण के विषय मे विभिन्न-मत प्रचलित है। ससार की समस्त कृतियो को ईश्वर को समर्पित करने की भावना प्राचीनकाल से भारतीयो के मानस पर छायी रही है। इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए ब्राह्मी-लिपि को ब्रह्म अथवा ब्रह्मा से उत्पन्न माना गया है। यह एक श्रद्धा-युक्त भावना को प्रदर्शित करता है। एक चीनी-विश्वकोश 'फा-वाङ्-शु-लिन' (660 ई) के अनुसार इस लिपि के रचनाकार तीन दैवी-शक्तिवाले आचार्य थे, जिनमे सबसे प्रसिद्ध 'ब्रह्मा' नामक आचार्य थे। इन्ही के नाम के आधार पर इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी' लिपि पडा। उपर्युक्त दोनो मतो मे कोई विशेष-भिन्नता नही है। 'नारदस्मृति' मे उपलब्ध वर्णन[2] मे ब्रह्मा के द्वारा उत्तम-चक्षुस्वरूप लेखन (लिपि) की रचना का उल्लेख किया गया है। विधाता के द्वारा भ्रान्ति से बचाने के लिए पत्रारूढ अक्षरो की रचना का 'आह्निकतत्त्व' और 'ज्योतिस्तत्त्व' मे प्राप्त बृहस्पति के वचनो को ओझा[3] ने अपनी रचना मे उद्धृत किया है। एक अन्य मत के अनुसार वेद — ज्ञान की रक्षा के लिए आर्यों ने ब्राह्मी-लिपि का आविष्कार किया। वेद ब्रह्मज्ञान माना गया है, तदनुसार इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी-लिपि' पडा। ब्यूलर आदि कुछ विद्वानो का विचार है कि ब्राह्मणो के द्वारा इस लिपि का प्रयोग किए जाने के कारण इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी-लिपि' हो गया। इसीप्रकार एक मान्यता यह भी है कि इस लिपि का प्रयोग 'ब्रह्म देश' में होने के कारण इसे 'ब्राह्मी-लिपि' सज्ञा प्राप्त हुई। 'हिन्दी विश्वकोष' के मत के

अनुसार **"ऋषभदेव ने ही सम्भवतः लिपि-विद्या के लिए कौशल का उद्भावन किया। ऋषभदेव ने ही सम्भवततः शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग किया था।"**[4]

ऋषभदेव जैन-मतावलम्बियो के आदि-तीर्थंकर हैं। इनका उल्लेख वेदो से लेकर 'भागवत' तक प्रत्येक प्रमुख-ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है। 'ऋग्वेद' में महान्-पराक्रमी-युद्ध मे अजेय ऋषभ को इन्द्र के द्वारा युद्ध का सामान और रथ भेंट किए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] 'भागवत' मे धर्मज्ञ तथा योगचर्या-युक्त ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध होता है।[6] भागवत मे उन्हे आदि-मनु स्वयम्भू के पुत्र प्रियव्रत के प्रपौत्र, अग्नीध्र के पौत्र तथा नाभि के पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है। 'ब्रह्माण्डपुराण' मे श्रेष्ठ-क्षत्रिय के रूप मे इनका स्मरण किया गया है।[7] उन्होने जन-कल्याण के लिए कृषि-विद्या का प्रवर्तन किया तथा कृषि-कार्य मे सहायक वृषभ को अपने चिह्न के रूप मे भी प्रचलित है। मानव-कल्याण के लिए ज्ञान देना उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनकी दो पुत्रियाँ तथा सौ पुत्र थे। ब्राह्मी और सुन्दरी उनकी दो पुत्रियाँ थी। अपने समस्त पुत्रो के साथ-साथ उन्होने दोनो पुत्रियो को भी सभीप्रकार की विद्याओ का ज्ञान प्रदान किया।[8] आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव ने दोनो हाथो से ज्ञान देते हुए दाये हाथ से लिपि-ज्ञान और बाये हाथ से अक-विद्या की शिक्षा दी। 'पुराणसग्रह' मे सकलित 'आदिनाथचरित' मे 'ब्राह्मी' को 'अक्षर-ज्ञान' तथा 'सुन्दरी' को 'अक-विद्या' प्रदान करने का वर्णन उपलब्ध होता है।[9] इस लिपि का ज्ञान आदिनाथ ने ससार मे अज्ञान को दूर करनेवाली और जगत् का कल्याण-करनेवाली ज्योति[10] के रूप मे करवाया। 'भगवतीसूत्र' मे उपलब्ध-वर्णन के आधार पर 'अभिधान-राजेन्द्र-कोष' मे भी इसीप्रकार का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है।[11] उनके द्वारा करवाये गये ज्ञान से ब्राह्मी लेखन-विज्ञान मे पारगत हो गयी। ब्राह्मी ने लिपि का रूप ग्रहण कर लिया। दोनो ने एक-दूसरे को आत्मसात् कर लिया। वे दोनो एक-दूसरे मे समवाय हो गयी। अतः लिपि का नाम ही 'ब्राह्मी लिपि' हो गया। 'अभिधान राजेन्द्रकोष' मे इस तथ्य का स्पष्ट-सकेत मिलता है।[12] ब्राह्मी ने अपनी विलक्षणता के कारण सम्माननीय-स्थान बना लिया। वे अपने तपोबल से आर्यिका बनी तथा आर्यिकाओ मे श्रेष्ठ बन गयी।[13] वे अपनी साधना से जन-जन से पूजा की अधिकारिणी बन गयी। ज्ञान मे वे सरस्वती का पर्याय बन गयी।[14]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी ब्राह्मी की गणना सरस्वती के नौ नामो मे की है।[15] 'प्रतिष्ठासारोद्धार' (6/33) मे 'श्रुत-स्कन्ध' की स्थापना करके उसकी स्तुति का प्रावधान ब्राह्मी के न्यास-विधान को करके ब्राह्मी के प्रति आस्था और सम्मान को प्रकट किया गया है।[16] 'श्रुतपञ्चमी' के दिन की जाने वाली पूजा वास्तव मे **ब्राह्मी की/ब्राह्मी-लिपि की** पूजा है। कालान्तर की एक रचना 'अनगारधर्मामृत' (4/151) मे प. आशाधर ने मैत्री, करुणा इत्यादि भावनाओ मे तत्पर रहने के लिए ब्राह्मी को प्राप्त अक्षरावली आदिनाथ ऋषभदेव के श्रीमुख से प्राप्त हुई, अतः "सिद्ध नमः" मगलाचरण से युक्त हुई।[17] 'महापुराण' मे भी इस सन्दर्भ का एक पद्य प्राप्त होता है।[18] यह लिपि अट्ठारह-प्रकारो से युक्त है। इन समस्त प्रकारो का ज्ञान ब्राह्मी को प्रदान किए जाने के कारण इनका नाम 'ब्राह्मी' हो गया।[19] यहाँ पर वर्णित अट्ठारह-प्रकार की लिपियाँ वही हैं, जिनका उल्लेख 'पण्णवणासुत्त' तथा 'समवायागसुत्त' में किया गया है। 'पण्णवणासुत्त' की प्राचीन हस्तलिखित- पुस्तकों के आधार पर गौरीशकर हीराचन्द ओझा[20] ने अट्ठारह-प्रकार की लिपियो के नाम प्रस्तुत किए है — बमी, जवणालि, दोसापुरिया, खरोट्ठी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, पहाराइया, उयअतरिक्खिया, अक्खरपिट्ठिया, तेवणइया, गिण्णिहइया, अकलिवि,

गणितलिवि, गधवलिवि, आदसलिवि, माहेसरी, दामिली और पोलिदी। ये **समस्त प्रकार की लिपियाँ आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव ने ब्राह्मी को सिखाई थीं।** आचार्य हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' तथा एक अन्य-रचना 'शत्रुञ्जयकाव्य' मे भी इसीप्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। ये समस्त लिपियाँ भारत मे सर्वप्रचलित, सीमित क्षेत्रो मे प्रचलित विदेशी-प्रान्तो मे प्रचलित, जातीय एव साम्प्रदायिक, साकेतिक, शैली-परक तथा काल्पनिक लिपियाँ है।[21] ये समस्त लिपियाँ ब्राह्मी और 'खरोष्ठी' लिपियो के व्यापक-प्रचलन के कारण इनकी शाखारूप मे सीमित हो गयी। ❖❖

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1 'भारतीयो का लिपिज्ञान' (निबन्ध) · गगा-पुरातत्त्वाक (1933) रू (स) राहुल साकृत्यायन।

2 "नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखित चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभा गति ।।" — *(नारदस्मृति)*

3 ओझा, गो ही · भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ 1

4 बसु, नगेन्द्रनाथ (स) : हिन्दी विश्वकोष, प्रथम भाग, पृष्ठ 64।

5 'त्व रथ प्रमसे योधमृष्वमानो युध्यन्त वृषभ दशद्युम्'। — *(ऋग्वेद, 4/6/26)*

6 क "धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ! धर्मोऽसि हि वृषरूपधृक्"। — *(भागवत, 1/17/22)*
ख "इति नानायोगचर्याचरणो कैवल्यपति· ऋषभ·"। — *(भागवत, 5/6/24)*

7 "ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।" — *(ब्रह्माण्डपुराण, 2/14/60)*

8 क "अक्षरालेख्यगन्धर्वगणितादिसकलार्णवम्।
सुमेधानैः कुमारीभ्यामवगाहयति स्म।।" — *(हरिवंशपुराण, 9/24)*
ख ". ब्राह्मीसुन्दरीभ्यां सिद्धमातृकोपदेशपुरस्सर गणित स्वयभुवाधानानि पदविद्याछन्दो विचित्यलकारशास्त्राणि च।" — *(अर्हद्दास : पुरुदेवचम्पू, 7/1)*

9 "अक्षराणि विभु ब्राह्म्या अकारादीन्यवोचत्।
वामहस्तेन सुन्द"र्यां गणितं चाप्यदर्शयत्।।" — *(आदिनाथचरित, 3/14)*

10. "अपसव्येन स ब्राह्म्या ज्योतिरूपा जगद्धिता।।" — *(शत्रुञ्जयकाव्य, 3/131)*

11 "लेण लिवीविहाण जिणेण बंभीए दाहिणकरेण।
गणियं सखाण सुरंदरीए वामेण उवइट्ठ।।"

12 "लेखो लिपिविधान तद्दक्षिणहस्तेन जिनेन ब्राह्म्या दर्शितम् इति। तस्माद् ब्राह्मी नाम्नी सा लिपि·।"

13 "भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनी पदमार्याणा सा भेजे पूजितामरैः।।" — *(आचार्य जिनसेन · महापुराण, 24/175)*

14 "वाग्देवी शारदा ब्राह्मी भारती गी· सरस्वती।
हसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु व·।।" — *(हर्षकीर्ति · शारदीयनाममाला, 1/2)*

15 "वाक् ब्राह्मी, भारती, गौः, गी., वाणी, भाषा, सरस्वती और श्रुतदेवी।" — *(अभिधानचिन्तामणि, 2/155)*

16 "ब्राह्मीन्यासविधानेन श्रुतस्कन्धमिह स्तुयात्।"

17 "ततो भगवतो वक्त्रानिस्सृतामक्षरावलीम्।

सिद्ध नम इति व्यक्तमगला सिद्धमातृकाम्।।" — (*भगवज्जिनसेनाचार्य : महापुराण, भाग 1, 16/105*)

18. "भावे णमसिद्ध पणमेप्पणु दाहिणवामकरेहि लिहेप्पिणु।
दोहि मि णिम्मलकचणवण्णह अक्खरगणियइ कण्णह।।" — (*पुष्पदन्त : महापुराण, 5/18*)

19 "लिपि. पुस्तकादौ अक्षरविन्यास. सा चाष्टादशप्रकारापि श्रीमन्नाभेयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनामिकाया दर्शिता, ततो ब्राह्मी नाम इत्यभिधीयते।" — (*अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग 5, पृ 1884*)

20 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ, 17

21 पाण्डेय, राजबली इण्डियन पेलियोग्राफी। ❖❖

साधु को स्वप्न मे भी अशुभभाव नहीं होते

भारतीय श्रमण-दर्शन मे नीद मे भी आंशिक-समाधि-सी मानी गयी है। यानी आंशिक-शुद्धोपयोग साधु के लिये साधना मे वरदान सिद्ध होगा। ❖❖

'क्षमा वीरस्य भूषणम्'

"खम्मामि सव्व जीवाण, सव्वे जीवा खमतु मे।"

क्षमा मे अपार-शक्ति है। वह क्षमाप्रदाता को तो ऊँचा उठाती ही है, क्षमा प्राप्त-करनेवाला भी उसकी कृपापूर्ण-उदारता से वंचित नही रहता। जैसे वस्त्र प्रतिदिन मलिन होते रहते है और उन्हे पुन· निर्मल करने का प्रयत्न किया जाता रहता है, वैसे ही सावधान रहते हुए भी मानव को ज्ञात-अज्ञात क्रोधकषाय बाधित करते रहते है। उन्हे क्षमा के निर्मल-नीर से प्रक्षालित करनेवाला अपने आत्मा मे शान्ति के शीतल-सरोवरो की रचना करता है। नीतिकार कहते है कि "जो दुर्वचन बोलता है, उसे रात्रि मे नीद नही आती है, किन्तु उसे सहन करनेवाला क्षमाधारी निराकुलता से नन्दनवन के मसृण-पल्लवो पर सोता है।"

क्षमा के प्रदेश मे क्रोध की अग्नि प्रज्वलित नही होती, वहाँ बारह मास बसन्त के फूल मुसकराते रहते है। धर्म की भूमि, जिसमे 'अहिसा' बीज बोया जाता है, पहले 'क्षमा' से उर्वर की जाती है। इसी हेतु से पर्वराज-दशलक्षण मे क्षमा को प्रथम-स्थान प्राप्त है। यह क्षमा पराजित का दैन्य नही, अपितु विजयी का भेरीनाद है। 'खम्मामि सव्वजीवाण सव्वे जीवा खमतु मे' यह सन्मति महावीर की दिव्यध्वनि है। जो महावीर होता है, वही विश्व को 'अभय' दे सकता है। पृथ्वी जब अपना क्षमाभाव छोडती है, तो भयानक भूचाल आते है और मानवजाति जब क्षमाहीन हो जाती है, तो विश्व मे प्रचलित 'मत्स्यन्याय' उसे विनाश के बर्बर-युग मे धकेल देता है।

अत· मानवता की विभूति, धर्मबीज की प्ररोहभूमि, निराकुलता की धात्री, रज्जुरहित स्नेहग्रन्थि और मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिचन्य एव ब्रह्मचर्य की ज्येष्ठा क्षमा के सम्यक्त्वानुपूर्वी उत्तमत्व से हम अक्षीण रहे, यही 'क्षमा' दिवस का प्रशस्त-मगलपाठ है। ❖❖

जैन-परम्परा का महनीय गौरव-ग्रन्थ कातन्त्र-व्याकरण

✍ प्रो. (डॉ) राजाराम जैन

जैन-परम्परा के आचार्यों एव मनीषियो ने न केवल तप:साधना एव धर्माराधना से जीवन को पवित्र बनाया, अपितु उन्होने बहुआयामी साहित्य-साधना के द्वारा भी समाज और राष्ट्र के हित मे अनुपम-योगदान किया है। विशेषत: व्याकरणिक-साहित्य के क्षेत्र मे श्रमण-परम्परा के वैयाकरणो की सूची बहुत-लम्बी है। सूत्रात्मक-शैली मे प्रतिपादन के विशेषज्ञ होने से ये व्याकरणशास्त्र के प्रणयन मे विशेषत: सफल एव सिद्धहस्त रहे है। ईसापूर्व 1500 मे एक जैनाचार्य द्वारा रचित व्याकरण-ग्रथ का परिचय विद्वान्-लेखक ने इस आलेख मे दिया है।

— **सम्पादक**

जैनाचार्यों ने कठोर तपस्या एव अखण्ड दीर्घ-साधना के बल पर आत्मगुणो का चरम-विकास तो किया ही, परहित मे भी वे पीछे नही रहे। परहित से यहाँ तात्पर्य है, लोकोपकारी-अमृतवाणी की वर्षा; अथवा प्रौढ-लेखनी के माध्यम से ऐसे सूत्रो का अकन, जिनसे सामाजिक-गौरव की अभिवृद्धि, सौहार्द एव समन्वय तथा राष्ट्रिय-एकता और अखण्डता की भावना बलवती हो। निरतिचार अणुव्रत एव महाव्रत उसकी पृष्ठभूमि रही है। साधक-महापुरुषो के इन्ही पावन-सन्देशो के सवाहक कल्याणमुनि, कोटिभट्ट श्रीपाल, भविष्यदत्त एव जिनेन्द्रदत्त प्रभृति ने देश-विदेश की सोद्देश्य यात्राये कर युगो-युगो से वहाँ जैन-सस्कृति के प्रचार-प्रसार के जैसे सर्वोदयी सत्कार्य किये, उनका चिन्तन कर हमारा मस्तक गौरवोन्नत हो उठता है। इस विषय मे डॉ कामताप्रसाद, डॉ कालिदास नाग, मोरिस विटरनित्स, डॉ. मोतीचन्द्र, डॉ. बी.एन. पाण्डे आदि प्राच्यविद्याविदो ने काफी प्रकाश डाला है। कम्बोडिया के उत्खनन मे अभी हाल मे एक विशाल प्राचीन पचमेरु-जैनमंदिर का मिलना उन्ही उदाहरणो मे से एक है। वहाँ के उत्खनन मे आज विविध जैन-पुरातात्त्विक-सामग्री मिल रही है। डॉ बी एन पाण्डे के अनुसार लगभग 2000 वर्ष पूर्व इजरायल मे 4000 दिगम्बर जैन साधु प्रतिष्ठित थे। प्राचीन विदेशी यात्रियो ने भी इसीप्रकार के सकेत दिये है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, मैक्सिको, यूनान, जर्मनी, कम्बोडिया, जापान एव चीन आदि मे उपलब्ध हमारी सास्कृतिक-विरासत हमारे विश्वव्यापी अतीतकालीन स्वर्णिम-वैभव की गौरवगाथा गाती प्रतीत हो रही है।

यहाँ मै कुछेक ग्रन्थो मे से एक ऐसे गौरव-ग्रन्थ की चर्चा करना चाहता हूँ, जो कहने के लिये तो व्याकरण जैसे नीरस-विषय से सम्बन्ध रखता है, किन्तु उसकी प्रभावक गुणगरिमा, सरलता, सर्वगम्यता, लोकप्रचलित समकालीन शब्द-सस्कृति का अन्तर्लीनीकरण तथा ज्ञानसवर्धक प्रेरक-शक्ति जैसी विशेषताओ के कारण वह सभी धर्मों, सम्प्रदायो, जातियो या अन्य विविध सकीर्णताओ से ऊपर है। तथा जिसने देश-विदेश के बुद्धिजीवियो एव चिन्तको की विचारश्रृखला को युगो-युगो से उद्‌बुद्ध किया है, बौद्धो ने न केवल उसका अध्ययन किया, बल्कि उस पर दर्जनो टीकाये एव व्याख्याये भी लिखी, वैदिक विद्वानो ने उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर उस पर दर्जनो ग्रन्थ लिखे। सामान्य-जनता को जिसने भाषा-विचार की प्रेरणा दी, छात्रो के बौद्धिक-विकास में जिसने चमत्कारी सहायता की और इनसे भी आगे बढकर, जिसने सामाजिक सौहार्द एव भारत की राष्ट्रिय एकता तथा अखण्डता का युग-सन्देश दिया। वस्तुत: यह था — **जैन आदर्शों, जैन सास्कृतिक-वैभव**

तथा उसके प्रातिभ-विकास का एक अनुपम आदर्श उदाहरण, जिसका शानदार प्रतीक बना 'कातन्त्र-व्याकरण'।

आचार्य भावसेन 'त्रैविद्य' (त्रैविद्य अर्थात् आगमविद्, शास्त्रविद् एव भाषाविद्) ने 'कातन्त्र-व्याकरण' के विषय मे लिखा है कि "उसका प्रवचन मूलतः आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव ने किया था, जिसका सक्षिप्त-सार परम्परा-प्राप्त ज्ञान के आधार पर आचार्य शर्ववर्म ने सूत्र-शैली मे तैयार किया था।"

कातन्त्र-व्याकरणकार शर्ववर्म का जीवनवृत्त अज्ञात है। रचनाकाल का भी पता नही चलता। 'कथासरित्सागर' के अनुसार वे राजा सातवाहन या शालिवाहन के समकालीन सिद्ध होते है। किन्तु व्याकरण-साहित्य के कुछ जैनेतर-इतिहासकारो ने विविध-साक्ष्यो के आधार पर उनके रचनाकाल पर बहुआयामी गम्भीर-विचार किया है। प भगवद्दत्त वेदालकार ने शर्ववर्म का रचनाकाल विक्रम-पूर्व 500 वर्ष स्वीकार किया है, जबकि प युधिष्ठिर मीमासक ने महर्षि पतजलि से लगभग 1500 वर्ष पूर्व का माना है और उसके प्रमाण मे उन्होने अपने महाभाष्य मे उल्लिखित 'कालापक' (अर्थात् कातन्त्र-व्याकरण) की चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शर्ववर्म महर्षि पतजलि के भी पूर्ववर्ती थे। पतजलि का समय ई पू लगभग चतुर्थ सदी माना गया है।

उन्होने (पतजलि ने) अपने समय मे 'कालापक' अर्थात् 'कातन्त्र-व्याकरण' का प्रभाव साक्षात् देखा था और प्रभावित होकर अपने 'महाभाष्य' (सूत्र 1671) मे स्पष्ट लिखा है कि 'ग्राम-ग्राम, नगर-नगर मे सभी सम्प्रदायो मे उसका अध्ययन कराया जाता है' —

"ग्रामे-ग्रामे कालपक काठक च प्रोच्यते।"

कातन्त्र के अन्य नाम

पतजलि द्वारा प्रयुक्त 'कालापक' के अतिरिक्त 'कातन्त्र' के अन्य नामो मे कलाप, कौमार तथा शार्ववार्मिक नाम भी प्रसिद्ध रहे है। जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है, तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रदत्त महिलाओ एव पुरुषो के लिए क्रमशः 64 एव 74 (चतुःषष्टिः कलाः स्त्रीणा ताश्चतु·सप्ततिर्नृणाम्) प्रकार की कलाओ के विज्ञान का सूचक या संग्रह होने के कारण उसका नाम 'कालापक' और इसी का सक्षिप्त नाम 'कलाप' है। भाषाविज्ञान अथवा भाषातन्त्र का कलात्मक या रोचक-शैली मे सक्षिप्त सुगम-आख्यान होने के कारण उसका नाम 'कातन्त्र' भी पडा। किन्तु यह नाम परवर्ती प्रतीत होता है। जैनेतर-विद्वानो की मान्यता के अनुसार 'काशकृत्स्नधातु-व्याख्यान' के एक सन्दर्भ के अनुसार यह ग्रन्थ 'कौमार-व्याकरण' के नाम से भी प्रसिद्ध था। किन्तु जैन-मान्यता के अनुसार चूँकि ऋषभदेव ने अपनी कुमारी पुत्री ब्राह्मी के लिए 64 कलाओ, जिनमे से एक कला भाषाविज्ञान के साथ-साथ लिपि-सम्बन्धी भी थी, उसका ज्ञानदान देने के कारण उसी पुत्री के नाम पर उक्त तन्त्र का सक्षिप्त नाम 'कौमार' तथा लिपि का नाम 'ब्राह्मी' रखा गया।

कुछ विद्वानो को इस विषय मे शका हो सकती है कि शर्ववर्म क्या दिगम्बर-जैनाचार्य थे? गवेषको ने उसकी भी खोज की है। उन्होने सर्वप्रथम एक साक्ष्य के रूप मे 'कातन्त्ररूपमाला' के लेखक भावसेन त्रैविद्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमे स्पष्ट कहा गया है कि — **"श्रीमच्छर्ववर्मजैनाचार्यविरचित कातन्त्रव्याकरण।"** अर्थात् कातन्त्र-व्याकरण के लेखक शर्ववर्म जैनाचार्य थे। उनके दिगम्बर-परम्परा के होने के समर्थ-प्रमाण जैनेतर-स्रोतो से भी मिल जाते हैं।

पतजलि ने अपने महाभाष्य मे स्पष्ट लिखा है — कि यह कातन्त्र अथवा कलाप-तन्त्र, (कलाप अर्थात्)

मयूरपिच्छी धारण करनेवाले के द्वारा लिखा गया है (कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापस्तेषामाम्नायः कालापकम्) और यह सर्वविदित है कि चूँकि मयूर-पिच्छी ससार भर की साधु-सस्थाओ में से केवल दिगम्बर-पथी जैनाचार्यों के लिए ही आगम-ग्रन्थो में अनिवार्य मानी गयी है और वे ही उसे अपनी संयम-चर्या के प्रतीक के रूप मे अनिवार्यरूप से अपने पास रखते हैं। इसका समर्थन एक अन्य जैनेतर-स्रोत भी करता है। 'विष्णुपुराण' (3/8) मे कहा गया है कि — "ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छिधरो द्विजः।" (यहाँ पर मुण्डो का अर्थ केशलुचुक तथा द्विजः का अर्थ "दो जन्मवाला अर्थात् दीक्षा-पूर्व एव दीक्षा के बाद वाला अर्थ" लिया गया है।) उसी 'बर्हि' अर्थात् 'मयूर-पख' पिच्छीधारी दिगम्बराचार्य के द्वारा लिखित होने के कारण ही वह ग्रन्थ 'कलाप' या 'कालापक' (अथवा कातन्त्र) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अतः उक्त साक्ष्यो से यह निश्चित हो जाता है कि उक्त ग्रन्थ के लेखक शर्ववर्म दिगम्बर-जैनाचार्य थे।

शर्ववर्म कहाँ के रहनेवाले थे, इसके विषय में अभी तक कोई जानकारी नही मिल सकती है। किन्तु 'वर्म' उपाधि से प्रतीत होता है कि वे दाक्षिणात्य, विशेषरूप से कर्नाटक अथवा तमिलनाडु के निवासी रहे होगे, क्योंकि वहाँ के निवासियो के नामो के साथ वर्म, वर्मा अथवा वर्मन् शब्द सयुक्त-रूप से मिलता है। यथा — विष्णुदेववर्मन्, कीर्त्तिदेववर्मन्, मदनदेववर्मन् आदि। आचार्य समन्तभद्र का भी पूर्व-नाम शान्तिवर्मा था। यह जाति अथवा गोत्र या विशेषण सम्भवतः उन्हे परम्परा से प्राप्त होता रहा।

इतिहास साक्षी है कि ये 'वर्मन्' या 'वर्म' नामधारी व्यक्ति इतने बुद्धिसम्पन्न एव शक्ति-सम्पन्न थे कि दक्षिण-पूर्व एशिया तक इनका प्रभाव-विस्तृत था। बोर्नियो के एक सस्कृतज्ञ-प्रशासक का नाम 'मूलवर्म' या 'मूलवर्मन्' था, जिसका सस्कृत-शिलालेख इतिहास-प्रसिद्ध है। इडोनेशिया मे दसवी सदी में 'कलाप' के नाम पर नगर या मन्दिर बनाने की परम्परा के उल्लेख मिलते हैं

कातन्त्र-व्याकरण की लोकप्रियता

जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है, कोई भी ग्रन्थ, पन्थ या सम्प्रदाय के नाम पर कालजयी, सार्वजनीन या विश्वजनीन नही हो सकता। वस्तुतः वह तो अपने लोकोपकारी, सार्वजनीन निष्पक्ष वैशिष्ट्य-गुणो के काराण ही भौगोलिक-सीमाओ की सकीर्णताओ की परिधि से हटकर केवल अपने ज्ञान-भाण्डार से ही सभी को आलोकित-प्रभावित कर जन-जन का कण्ठहार बन सकता है।

कातन्त्र-व्याकरण एक जैनाचार्य के द्वारा लिखित होने पर भी उसमे साम्प्रदायिक सकीर्णता का लेशमात्र भी न होने के कारण उसे सर्वत्र समादर मिला। ज्ञानपिपासु मेगास्थनीज, फाहियान, ह्यूनत्साग, इत्सिग और अलबेरुनी भारत आये। उन्होने यहाँ प्रमुख-ग्रन्थो के साथ-साथ लोकप्रचलित कातन्त्र का भी अध्ययन किया होगा और उनमे से जो भी ग्रन्थ उन्हे अच्छे लगे, उन्हे सहस्रो की सख्या मे वे बेहिचक अपने साथ अपने-अपने देशो मे लेते गये और बहुत सम्भव है कि कातन्त्र की पाण्डुलिपियाँ भी साथ मे लेते गये हो?

सन् 1984 में सर विलियम जोन्स आई.सी एस. होकर भारत आये, और भारत के चीफ-जस्टिस के रूप में कलकत्ता में प्रतिष्ठित हुए। किन्तु संस्कृत-प्राकृत के अतुलनीय साहित्य-वैभव को देखकर आश्चर्यचकित हो गये और नौकरी छोड़कर संस्कृत-प्राकृतभाषा के अध्ययन में जुट गये। 'कातन्त्र-व्याकरण' पढ़कर वे भी प्रमुदित हो उठे। उन्होंने देखा कि इसमें पाणिनि जैसी दुरूहता नही है। संस्कृत-प्राकृत सीखने के लिए उन्होने

उसे एक उत्तम सरल-साधन समझा। अत: उन्होंने उसका सर्वोपयोगी-सस्करण तैयार कराकर स्वय द्वारा सस्थापित 'रायल एशियाटिक सोसायटी (बगाल) कलकत्ता' से सन् 1819 मे 'कातन्त्र-व्याकरण' के नाम से उसका प्रकाशन किया और 'फोर्ट विलियम्स कॉलेज, कलकत्ता' के पाठ्यक्रम मे भी उसे निर्धारित कराया। उसके बाद तो अविभाजित-बगाल की समस्त शिक्षा-सस्थाओ मे उसका पठन-पाठन प्रारम्भ हो गया।

पाठको को यह यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि सन् 1819 से 1912 के मध्य केवल अविभाजित बंगाल से 'कातन्त्र-व्याकरण' तथा तत्सम्बन्धी विविध व्याख्यामूलक-सामग्री के साथ 27 से भी अधिक ग्रन्थों का सस्कृत, बगला एव हिन्दी मे प्रकाशन हो चुका था।

यह भी आश्चर्यजनक है, कि रायपुर (मध्यप्रदेश) के अकेले एक विद्वान् प. हलधर शास्त्री के व्यक्तिगत-सग्रह मे सन् 1920 के लगभग कातन्त्र-व्याकरण तथा उस लिखित विविध टीकाओ, वृत्तियो एव व्याख्याओ की लगभग 18 पाण्डुलिपियो सुरक्षित थी, जिनका वहाँ अध्ययन कराया जाता था। अत: पतजलिकालीन यह उक्ति कि — "ग्राम-ग्राम नगर-नगर मे 'कालापक' की शिक्षा, बिना किसी सम्प्रदाय-भेद के सभी को प्रदान की जाती थी, यथार्थ थी।

विशेष-अध्ययन से विदित होता है कि विश्व-साहित्य मे कातन्त्र-व्याकरण ही सभवत· ऐसा ग्रन्थ है, जिस पर पिछले लगभग 200 वर्षों मे देश-विदेश की विविध-भाषाओ मे अनुवाद तथा विविध टीकाओ, वृत्तियो, व्याख्याओ, पंजिकाओ आदि को लेकर कुल मिलाकर 161 से भी अधिक ग्रन्थ लिखे गये और सम्भवत: सहस्रो की सख्या मे उनकी पाण्डुलिपियाँ तैयार की गईं। उनकी प्रतिलिपियाँ केवल देवनागरी-लिपि मे ही नही, बल्कि बग, उडिया, शारदा मे भी उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त भी तिब्बत, नेपाल, भूटान, गन्धार (अफगानिस्तान), सिहल एव बर्मा के पाठ्यक्रमो मे वह प्राचीनकाल से ही अनिवार्यरूप मे स्वीकृत रहा है। अत: वहाँ की स्थानीय सुविधाओ को ध्यान मे रखते हुए समय-समय पर तिब्बती-भाषा मे इसकी लगभग 12 तथा भोट-भाषा मे 23 टीकाये लिखी गईं, जो वर्तमान मे भी वहाँ की लिपियो मे उपलब्ध है। मध्यकालीन मगोलियाई, बर्मीज, सिघली एव पश्तो मे भी उसकी टीकाये आदि सम्भावित है। पूर्वोक्त उपलब्ध-पाण्डुलिपियो तथा उनका सक्षिप्त विवरण स्थानाभाव के कारण यहाँ नही दिया जा रहा है।

अपने पाठको की जानकारी के लिए यह भी बताना चाहता हूँ कि भारतीय-प्राच्यविद्या के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. रघुवीर ने 1950 से 1960 के दशक मे तिब्बत, चीन, मगोलिया, साइबेरिया, इडोनेशिया, लाओस, कम्बोडिया, थाईलैंड, बर्मा आदि देशा की सारस्वत-यात्रा की थी तथा वहाँ उन्होने सहस्रो की सख्या मे प्राच्य भारतीय-पाण्डुलिपियाँ देखी थी। वे सभी भोजपत्रों, ताडपत्रो, स्वर्णपत्रो एव कर्गलपत्रो पर अकित थी। उनमें से उनके अनुसार लगभग 30 सहस्र पाण्डुलिपियाँ अकेले तिब्बत मे ही सुरक्षित थी। यह सर्वविदित ही है कि आचार्य जिनसेन के शिष्य तथा राष्ट्रकूटवशी-नरेश **अमोघवर्ष** की 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' की पाण्डुलिपि तिब्बत से ही तिब्बती-अनुवाद के साथ तिब्बती-लिपि मे प्राप्त हुई थी। अपनी यात्राओ के क्रम मे वे उक्त सभी देशो से लगभग 60 हजार पाण्डुलिपियाँ अपने साथ भारत ले आये थे तथा जो नही ला सकते थे, उनकी माइक्रोफिल्मिग कराकर ले आये थे। जापान की भारतीय-पाण्डुलिपियो की लिपि **'सिद्धम्'** के नाम से प्रसिद्ध है, जो देवनागरी के समकक्ष होती है। डॉ रघुवीर के अनुसार लगभग 6000 भारतीय-ग्रन्थो का अनुवाद मगोल-भाषा मे किया गया था।

बहुत सम्भव है कि उनमे भी 'कातन्त्र व्याकरण'-सम्बन्धी विविध-ग्रन्थ रहे हो? जैसाकि पूर्व में कह आया हूँ कि जो विदेशी-पर्यटक भारत आये, वे अपने साथ सहस्त्रों की संख्या में सस्कृत-प्राकृत की पाण्डुलिपियाँ लेते गये। उनमे से अनेक तो नष्ट हो गई होगी, बाकी जो भी बची, वे विश्व के कोने-कोने मे सुरक्षित हैं। हम जिन ग्रन्थों को लुप्त या नष्ट घोषित कर चुके है, बहुत सभव है कि वे विदेशों में अभी भी सुरक्षित हों। उक्त पाण्डुलिपियो मे कातन्त्र-व्याकरण के भी विविध अनुवाद, टीकाये एव वृत्तियाँ आदि सम्भावित हैं, जिनकी खोज करने की तत्काल आवश्यकता है।

बीसवी सदी के प्रारम्भ मे जब आधुनिक जैन पण्डित-परम्परा की प्रथम सीढी का उदय हुआ, तब उसमे कातन्त्र-व्याकरण को पढाए जाने की परम्परा थी। जैन-पाठशालाओं मे उसका अध्ययन अनिवार्यरूप से कराया जाता था। जैन एव जैनेतर-परीक्षालयो ने भी उसे अपने पाठ्यक्रमो मे निर्धारित किया था। किन्तु पता नही क्यो, सन् 1945-46 के बाद से उसके स्थान पर 'लघु सिद्धान्त' एव 'मध्य सिद्धान्त-कौमुदी' तथा भट्टोजी दीक्षित-कृत 'सिद्धान्त-कौमुदी' का अध्ययन कराया जाने लगा। और आज तो स्थिति यह आ गई है कि समाज या तो 'कातन्त्र-व्याकरण' का नाम ही नही जानती अथवा जानती भी है, तो उसे जैनाचार्य लिखित एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के गौरव-ग्रन्थ के रूप मे नही जानती। यह स्थिति दुखन्द ही नही, भयावह भी है। आवश्यकता इस बात की है कि जैन-पाठशालाओ मे तो उसका अध्ययन कराया ही जाय, साधु-सघो से भी सादर विनम्र निवेदन है कि वे अपने सघस्थ साधुओ, आर्यिकाओं, साध्वियो एव व्रतियो को भी उसका गहन एवं तुलनात्मक अध्ययन करावे, समाज को भी उसका महत्त्व बतलावे और विश्वविद्यालयो में कार्यरत जैन-प्रोफेसरों को भी यह प्रयत्न करना चाहिये कि वहाँ के पाठ्यक्रमो में कातन्त्र-व्याकरण को भी स्वीकार किया जाय, जिससे कि हमारा उक्त महनीय-ग्रन्थ हमारी ही शिथिलता से विस्मृति के गर्भ मे न चला जाये।

परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी इस दिशा मे अत्यधिक व्यग्र हैं। वे स्वय ही दीर्घकाल से कातन्त्र-व्याकरण का बहुआयामी अध्ययन एव चिन्तनपूर्ण-शोधकार्य करने मे अतिव्यस्त रहे है। जब उन्हे यह पता चला कि केन्द्रीय प्राच्य तिब्बती शिक्षा-सस्थान, सारनाथ, वाराणसी के वरिष्ठ-उपाचार्य डॉ. जानकीप्रसाद जी द्विवेदी तथा केन्द्रिय सस्कृत विद्यापीठ लखनऊ के डॉ. रामसागर मिश्र ने कातन्त्र-व्याकरण पर दीर्घकाल तक कठोर-साधना कर तद्विषयक गम्भीर शोध-कार्य किया है, तो वे अत्यधिक प्रमुदित हुए। जैन विद्याजगत् को यह जानकारी भी होगी ही कि पिछले मार्च 1999 को डॉ. जानकीप्रसाद द्विवेदी के लिये उनके कातन्त्र-व्याकरण-सम्बन्धी मौलिक शोध-कार्य का मूल्याकन कर कुन्दकुन्द भारती की प्रवर-समिति ने उन्हे सर्वसम्मति से पुरस्कृत करने की अनुशसा की थी। अतः कुन्दकुन्द भारती के तत्वावधान मे पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी के सान्निध्य मे दिल्ली-जनपद के विद्वानों एव विशिष्ट नागरिको के मध्य एक लाख रुपयो के 'आचार्य उमास्वामी पुरस्कार' से उन्हे सम्मानित भी किया गया था।

जैन-समाज से मेरा विनम्र निवेदन है कि वह अपने अतीतकालीन गौरव-ग्रन्थो का स्मरण करे, स्वाध्याय करे उनके महत्त्व को समझे तथा उसके शोधार्थियो को प्रोत्साहित करने के लिये उन्हे पुरस्कृत/सम्मानित भी करती रहे, जिससे कि अगली पीढी को भी उससे प्रेरणायें मिलती रहे और हमारे गौरव-ग्रन्थो की सुरक्षा भी होती रहे। ◆◆

जैनधर्म और अन्तिम तीर्थंकर महावीर

डॉ. रमेश चन्द जैन

जैनधर्म की परम्परा अनादि है — यह कथन रूढिपरक हो सकता है, किन्तु उसके 'वत्थुसहावो धम्मो' के उद्घोष को देखने के बाद यह कथन तथ्यपरक लगने लगता है विभिन्न कालखण्डो मे 'तीर्थंकर' सज्ञक महापुरुष इसके अभ्युत्थान के लिये आदेश देते है, अत: उन्हे 'धर्मतीर्थ का प्रवर्तक' कहा जाता है। वर्तमान 'हुण्डावसर्पिणी-काल' मे भी ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी-पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हुये है, जिन्होने जैनधर्म की प्रभावना की है। इस पृष्ठभूमि को आत्मसात् किये यह सक्षिप्त-आलेख यहाँ प्रस्तुत है।

— सम्पादक

जैन शब्द 'जिन' से बना है। जो रागादि कर्म-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करते है, वे 'जिन' कहलाते है।[1] — 'जिन' के द्वारा प्रणीत धर्म जैनधर्म[2] कहलाता है[3]। जैनधर्म मे चौबीस तीर्थंकर माने गये है[4]। इनमे से प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव थे। 'भागवत पुराण' मे ऋषभदेव को विष्णु का आठवाँ अवतार स्वीकार किया गया है।[5] 'भागवत' के अनुसार उनका जीवन महान् था तथा उन्होने बडा तप किया। श्रमणो को उपदेश देने के लिए उन्होने अवतार लिया था। अन्त मे ऋषभदेव कर्मों से निवृत्त होकर महामुनियो को भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमय परमहस धर्म की शिक्षा देने के लिए सब त्यागकर नग्न तथा बाल खुले हुए 'ब्रह्मावर्त' से चल दिए थे। राह मे कोई टोकता था, तो वे मौन रहते थे। लोग उन्हे सताते थे, पर वे उससे विचलित नही होते थे। वे 'मै' और 'मेरे' के अभिमान से दूर रहते थे। परम रूपवान् होते हुए भी वे अवधूत की तरह एकाकी विचरण करते थे।[6]

'अग्निपुराण' मे कहा गया है कि उस 'हिमवत प्रदेश' (भारतवर्ष) मे बुढापा और मरण का कोई भय नही था, धर्म और अधर्म भी नही था। प्राणियो मे मध्यभाव (समभाव) था। ऋषभ ने राज्य भरत को प्रदान कर सन्यास ले लिया। 'भरत' के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। भरत के पुत्र का नाम 'सुमति' था।[7]

प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रमाणो से ऋषभदेव की मान्यता का समर्थन होता है।[8] ऋषभदेव के पश्चात् अन्य तेईस तीर्थंकर और हुए, इनमे अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान या महावीर थे। 'यजुर्वेद' मे तीन तीर्थंकरो के नामो का उल्लेख है — ऋषभदेव, अजितनाथ एव अरिष्टनेमि।[9] तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे और उन्होने महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले इस देश को अपने जन्म से अलकृत किया था। इनके पिता काशी के राजा विश्वसेन तथा माता महारानी वामादेवी थी। काशी नगरी मे 874 विक्रम-पूर्व (817 ई.पूर्व) मे इनका जन्म हुआ था।[10] तीस वर्ष के पश्चात् इन्होने प्रव्रज्या अगीकार की तथा कैवल्य को प्राप्तकर सारे भारतवर्ष मे उपदेशो द्वारा धर्म प्रचारकर अन्त मे बिहार के 'सम्मेदशिखर' नामक स्थान से मुक्ति प्राप्त की।[11]

वर्द्धमान महावीर का जन्म 599 ई.पू. मे बिहार प्रान्त के 'कुण्डपुर' नामक ग्राम मे **महाराजा सिद्धार्थ** की पत्नी **प्रियकारिणी त्रिशलादेवी** की कुक्षि से हुआ था।[12] लगभग तीस वर्ष की उम्र मे उन्होने गृहत्याग किया और 12 वर्ष, 5 मास, 15 दिन तक घोर तपस्या करने के पश्चात् उन्हे केवलज्ञान की उपलब्धि हुई।[13]

इसके पश्चात् वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और जिन हुए। अन्य तीर्थंकरो की भाँति प्रव्रज्या-काल से ही उन्होंने नग्न रहना प्रारम्भ कर दिया, इसी कारण उनका धर्म 'अचेलक धर्म' कहलाया।[14] उन्होने अग, बग, मगध, काशी, कोशल आदि अनेक देशो मे भ्रमण कर सम्पूर्ण भारतवर्ष मे धर्म-पताका फहराई। उनका निर्वाण 527 ईसापूर्व मे 'पावा-नगरी'[15] मे हुआ।

जैनधर्म के सिद्धान्त — जैनधर्म मे पाँच प्रकार के व्रतो को धारण करने का उपदेश दिया गया है। 1 अहिसा, 2. सत्य, 3 अस्तेय (चोरी नही करना), 4 ब्रह्मचर्य और 5 अपरिग्रह (सासारिक पदार्थों मे आसक्ति न रखना)। जैन-मुनि इन व्रतों का सम्पूर्ण रूप से पालन करते हैं, अत: वे 'महाव्रती' कहलाते है और गृहस्थ इन व्रतो का आंशिक-पालन करते है, अत: वे 'अणुव्रती' कहलाते हैं।[16] जैन-आचार का मूल अहिसा है। ससार के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, दु:ख से दूर भागते हैं; सभी को अपना वय: प्रिय है तथा सभी जीवन से प्यार करते है, अत: किसी भी प्राणी का न तो वध करना चाहिए और न किसी को कष्ट पहुँचाना चाहिए। प्रत्येक वस्तु मे अनन्त गुण-धर्म है, अत: हम वस्तु का वर्णन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से ही कर पाते है, अत: हमे दूसरे के अभिप्रायो को समझकर दूसरे के दृष्टिकोण को भी पर्याप्त महत्त्व देना चाहिए, यह अनेकान्त-दृष्टि जैनधर्म की विशेषता है।

यद्यपि भगवान् महावीर ने मुनियो को पूर्णरूप से अपरिग्रही होने का उपदेश दिया था, किन्तु आचार्य भद्रबाहु के समय मगध मे जब द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पडा, मुनिचर्या का ठीक तरह से निर्वाह न होते देखकर बारह हजार मुनियो का समुदाय आचार्य-भद्रबाहु के नेतृत्व मे दक्षिण-भारत की ओर विहार कर गया। जो मुनि उत्तरभारत मे अवशिष्ट रहे, उनमे से कुछ ने वस्त्र को परिग्रह न मानकर वस्त्र-धारण करना प्रारम्भ कर दिया। जो साधु अपरिग्रह के अन्तर्गत नग्नत्व को आदर्श मानते रहे, वे 'दिगम्बर' और जो साधु शिथिल-आचार को स्वीकार कर श्वेतवस्त्र धारण करने लगे, वे 'श्वेताम्बर' कहलाए। दिगम्बर-मुनियो के अनुयायी गृहस्थ भी 'दिगम्बर' और श्वेताम्बर-साधुओ के अनुयायी गृहस्थ भी 'श्वेताम्बर' कहे जाने लगे। इसप्रकार भद्रबाहु के समय तक अविभाजित जैन-सघ 'दिगम्बर' और 'श्वेताम्बर' — इन दो भागो मे विभाजित हो गया।[17]

जैनधर्म मे ऊँच-नीच, राजा-रक सभी को समान-स्थान था। आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के तीर्थ को 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है;[18] जिसमे सबका उदय हो, उसे 'सर्वोदय' कहते हैं। तीर्थंकरो की धर्म सभा 'समवसरण' कही जाती थी, उसमे देव, दानव, मानव, पशु सभी उपदेश सुनने के लिए उपस्थित होते थे। ये सभी अपनी-अपनी भाषा मे उपदेश सुनते थे। जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र — इन तीनो को 'त्रिरत्न' की सज्ञा से विभूषित किया गया है। इन तीनो की एकता ही मोक्ष का मार्ग है।[19] प्रत्येक जीवात्मा अपने में इन तीनो गुणो का विकास कर परमात्मा बन सकता है।

जैन-गृहस्थो को कृषि, सेवा, वाणिज्य, शिल्प आदि द्वारा जीविकोपार्जन करने का उपदेश दिया गया है[20]; क्योंकि गृहस्थ पूर्ण-हिसा का परित्यागी न होकर सकल्पपूर्वक की गई हिसा का ही त्यागी होता है।[21] अत: हिंसाकार्य छोडकर जैन-गृहस्थ सब प्रकार के कार्यों से आजीविकोपार्जन करते हुए देखे जाते है।

जैनधर्म का प्रसार — 'हरिवंशपुराण' के अनुसार भगवान् महावीर ने काशी, कौशल, कुसन्ध्य, अस्वष्ट,

साल्व, त्रिगर्त, पचाल, भद्रकार, पटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन, बृकार्थ, कलिग, कुरुजागल, कैकेय, आत्रेय, कम्बोज, बाल्हीक, यवन, सिन्धु, गान्धार, सौवीर, सूर, भीरु, दशारुक, वाडवान, भरद्वाज, क्वाथतो और समुद्रवर्ती देश, उत्तर के तार्ण, कार्ण और पृच्छाल नामक देशो मे विहार किया था, **जैसाकि तीर्थंकर आदिनाथ ने किया था।**[23] उनकी धर्मदेशना को तत्कालीन प्रमुख राजाओ और जनसाधारण ने सुना। इसप्रकार जैनधर्म का सारे भारत मे व्यापक प्रसार हुआ। अनेक राजाओं, राजवशो, सेनापतियो, मन्त्रियों, श्रेष्ठियो एव व्यापारियो ने इसे प्रश्रय दिया। महावीर के समय से पश्चात्काल तक श्रेणिक, चेटक, प्रसेनजित्, उदयन, नन्दवशीय राजा, चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, कलिगचक्रवर्ती खारवेल, कलचुरि नरेश, गुजरात के चालुक्य नरेश, राष्ट्रकूट नरेश, दक्षिण के चालुक्य और होयसल राजवश, गगवश, आन्ध्रवशी राजा, नहपान, गुर्जर प्रतिहार, कदम्ब वश, विजयनगर के राजा, सेनापति चामुण्डराय, गगराज, हुल्ल, वस्तुपाल और तेजपाल, भामाशाह तथा राजस्थान के जैन-दीवानो के सरक्षण मे जैनधर्म खूब फला-फूला।[24] किसी समय दक्षिण मे तो जैनधर्म की 'राजधर्म' जैसी स्थिति रही।[25]

साहित्य के क्षेत्र पर हम ध्यान दे, तो ज्ञात होता है कि महावीर-निर्वाण के 980 वर्ष बाद वलभीनगर मे क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि के सान्निध्य मे श्वेताम्बर-परम्परा के प्रमाणभूत आगम-ग्रन्थो का सकलन किया गया। दिगम्बर-परम्परा के सिद्धान्त-ग्रन्थो मे 'षट्खण्डागम' के लेखक पुष्पदन्त तथा भूतबलि एव 'कषाय प्राभृत' के रचयिता आचार्य-गुणधर इससे बहुत पहले हुए। इस परम्परा मे आचार्य सिद्धसेन, आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पात्रकेशरी, विद्यानन्द, जिनसेन, गुणभद्र, वादीभसिह, सोमदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिराज और अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य हुए। श्वेताम्बर-परम्परा मे आचार्य हरिभद्र, मल्लिषेणसूरि, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि अनेक आचार्य हुए, जिन्होने प्रभूत मात्रा मे साहित्य-सृजन किया। जैनाचार्यों ने सस्कृत के साथ तत्कालीन समय मे प्रचलित प्राकृत, अपभ्रश, तमिल, कन्नड, गुजराती, मराठी, राजस्थानी आदि अनेक लोकभाषाओ को अपनाया।[25] कला[26] के क्षेत्र मे भी मन्दिरो, मूर्तियो, स्तूपो, चैत्यगृहो और गुहाचित्रो, तथा राजगृह, उडीसा, बुन्देलखण्ड और मथुरा मे प्राप्त मूर्तियो के अतिरिक्त दक्षिण के श्रवणबेलगोला, वेणूर, कारकल, धर्मस्थल आदि स्थानो पर विराजमान भगवान् बाहुबली की प्रतिमाये अपने ढग की अनूठी है। उडीसा की हाथी-गुफा के भित्तिचित्र जहाँ ईसवी-पूर्व द्वितीय शताब्दी के माने जाते है, वहाँ ग्वालियर के पास चट्टानो पर जैनमूर्तियो के नमूने 15वी सदी तक के उपलब्ध है। भारतीय चित्रकला का मध्य एव उत्तरमध्यकालीन इतिहास जैन-चित्रकला का इतिहास है। दसवी ग्यारहवी शती से पन्द्रहवी शती तक जैन हस्तलिखित-ग्रन्थो मे स्थान पाने वाले चित्र व पट्टावलियाँ ही चित्र सामग्री के रूप मे चित्र-इतिहास के कोश को भरते है। 'मोहनजोदडो' और 'हडप्पा' के बाद भारत की प्राचीन मूर्तियाँ जैन मूर्तियाँ ही है। शिलालेखो मे भी 'कलिग-जिन' की मूर्ति का उल्लेख सबसे प्राचीन है। 'मोहनजोदड़ो' और 'हडप्पा' की योगी की मूर्तियो मे भी विद्वानो ने 'कायोत्सर्ग-मुद्रा' को ढूँढ़ निकाला है, जो कि जैन-मूर्तियो की विशेष-मुद्रा है। इसप्रकार कला और स्थापत्य के क्षेत्र मे भी जैनो का अमूल्य योगदान है। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 मूलाचार, 561।

2 "जिनस्य सम्बन्धी जिनेन प्रोक्त वा जैनम्।" — *(प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति, 206)।*

3. एम हिरियन्ना, भारतीयदर्शन, पृ 156

4 श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एव धीरेन्द्रमोहनदत्त, 'भारतीयदर्शन', पृ 46.
5 आचार्य बलदेव उपाध्याय . 'भारतीय दर्शन', पृ 90.
6 बैरिस्टर चम्पतराय . 'आदिब्रह्मा ऋषभदेव' (अनुवाद की ओर से)।
7 अग्निपुराण, 10/10/11.
8 आदिब्रह्मा ऋषभदेव (अनुवाद की ओर से)।
9 डॉ राधाकृष्णन 'भारतीय दर्शन' (भाग-1), पृ. 233
10 आचार्य बलदेव उपाध्याय: भारतीय दर्शन, पृ 91
11 वही, पृ 91
12 विद्यानन्द मुनि 'तीर्थंकर वर्द्धमान', पृ 33 — *(आचार्य जिनसेन, हरिवशपुराण 9/211-5; निर्वाणभक्ति 4)*
13 जयधवला, भाग 1, पृ 81, निर्वाणभक्ति: 12
14 "आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स" अर्थात् ऋषभदेव के पहिले और बाद के महावीर भी धर्म अचेलक (निर्वस्त्र) था। (श्वेताम्बर) पचाशक मूल-17ए प्रकाशक — ऋषभदेव केसरी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, 1928, जैन आचार, पृ 153
15 निर्वाणभक्ति, 25
16 तत्त्वार्थसूत्र, 7/1-2
17 इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका खण्ड-25, ग्यारहवाँ सस्करण सन् 1911 — *(H H-Wilson-Essays and lectures on the religion of Jains)*
18 आचार्य समन्तभद्र, 'युक्त्यनुशासन', 61
19 विद्यानन्द मुनि . तीर्थंकर वर्द्धमान, पृ 60
20 तत्वार्थसूत्र, 1/1
21 स्वयम्भूस्तोत्र, 2
22 सागारधर्मामृत, 4/8-9
23 सागारधर्मामृत, 4/12-13; जिनसेन . हरिवशपुराण, 3/3/7
24 प कैलाशचन्द्र शास्त्री · जैनधर्म, पृ 47
25 जैनो का साहित्य के क्षेत्र मे योगदान हेतु देखिए — डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री कृत 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' एव पार्श्वनाथ शोध सस्थान वाराणसी से कई भागो में प्रकाशित 'जैन साहित्य का वृहद् साहित्य'।
26 कला के क्षेत्र मे जैनों के योगदान हेतु भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित ग्रन्थ 'जैन कला और स्थापत्य' भाग 1-3, देखें।

सज्जनो को वैभव से मद नहीं होता है

"सज्जहि विहवहि ण महाणुभाव।"

— (वड्ढमाणचरिउ, *8/7/9-985)*

***अर्थ** — महानुभाव व्यक्ति कभी भी अपने वैभव के कारण मदोन्मत्त नही होते है।*

आगम-मर्यादा एवं निर्ग्रन्थ श्रमण

✍ श्रीमती रंजना जैन

आगम-ग्रन्थो मे 'आगमचक्खू साहू' कहकर निर्ग्रन्थ-श्रमणो को आगम (शास्त्र) रूपी चक्षुओ से देखकर श्रामण्यपथ पर अग्रसर होने का निर्देश दिया गया है। किन्तु आज के कतिपय श्रमण तो अपने वचनो व निर्देशो को ही 'आगम' मानकर जैसा व्यवहार कर रहे है; उससे सम्पूर्ण समाज चिंतित है। क्योंकि जिस श्रामण्य की प्रतिष्ठा आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द ने अत्यन्त दृढता पूर्वक की थी, उसकी गरिमा को तो ये मलिन कर ही रहे है, साथ ही उसके मूलस्वरूप को भी मनमाने ढग से व्याख्यायित कर रहे है। ऐसी विषम परिस्थितियो मे आगम की मर्यादा का बोध कराते हुए साधुचर्या का स्वरूप एव महिमा विदुषी लेखिका ने सप्रमाण विनम्र शब्दो मे मर्यादितरूप से इस आलेख मे प्रस्तुत किया है। **– सम्पादक**

प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे निर्ग्रन्थ-श्रमणो का जैसा यशोगान किया गया है, उसे देखकर स्वत: जिज्ञासा होती है कि निर्ग्रन्थ-श्रमणो के स्वरूप मे ऐसी क्या विशेषता थी, जिसके कारण जैनेतरो ने भी सदा से उनका सबहुमान उल्लेख किया है? ऐसा नही है कि मात्र न्यायग्रथो मे पूर्वपक्ष के रूप मे उन्होने जैनो का उल्लेख किया हो, अपितु उन्होने अपने सिद्धान्तग्रन्थो एव तत्त्वज्ञान-प्ररूपक शास्त्रो मे भी निर्ग्रन्थ श्रमणो का विशेषरूप अनेकत्र सादर-उल्लेख किया है। उदाहरण-स्वरूप 'भागवत' के इस पद्य को देखे –

"सन्तुष्टाः करुणाः मैत्रा. शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।
आत्मारामा. समदृश. प्रायशः श्रमणा जनाः॥"
– *(भागवत, 12/3/19)*

अर्थ – श्रमणजन (निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुजन) सन्तोषी वृत्तिवाले, करुणापूरित हृदयवाले, प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभावयुक्त, शान्तपरिणामी, इन्द्रियजयी, आत्मा मे ही मग्न रहनेवाले एव समतादृष्टिमय (समभावी) होते है।

इसमे अनेको प्रशस्त विशेषणो से न केवल जैनश्रमणो का परिचय दिया गया है, अपितु उन्हे इतने उत्कृष्ट विशेषणपदो से बहुमानित भी किया गया है।

यहाँ तो मात्र आदरभाव व्यक्त करके महिमागान ही किया गया है, किंतु शिवभक्त-कवि **भर्तृहरि** ने तो दिगम्बर-श्रमण बनने की ही भावना स्पष्टरूप से व्यक्त कर दी है –

"एकाकी निस्पृह· शान्त· पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो! भविष्यामि कर्म-निर्मूलन-क्षमः॥"
– *(वैराग्यशतक, 89)*

अर्थ – हे शम्भु (शिव)! मै समस्त कर्मों को निर्मूल (नष्ट) करने में सक्षम एकाकी, निराकांक्षी,

शान्तचित्त, करतलभोजी दिगम्बर श्रमण कब बन पाऊँगा?

ध्यातव्य है कि ये सभी विशेषण निर्ग्रन्थ दिगम्बर-जैन-श्रमणों के हैं। अत. प्रतीत होता है कि इन्ही विशेषताओ के कारण ही इन जैनेतर-विद्वानो ने जैनश्रमणो एव श्रामण्य के प्रति इतना आदर/बहुमान व्यक्त किया है। जैनश्रमणों की इन्ही असाधारण विशेषताओ के कारण 'भागवत' के कर्त्ता ने उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी स्वीकार की है –

"मुनीना न्यस्तवडानां शान्ताना समचेतसाम्।
अकिचनानां साधूना यमाहु· परमा गतिम्॥"

– (भागवत, 10/89/17)

अर्थ – मन-वचन-काय इन तीनो दडो को अनुशासित (मर्यादित) रखनेवाले, शान्तस्वभावी, समताभावी, अपरिग्रही साधु, जिन्हे 'मुनि' भी कहा जाता है, की उत्कृष्ट गति होती है। अर्थात् इनकी भविष्य में नियमत. सद्गति ही होती है।

आज के परिप्रेक्ष्य मे हम विचार करे कि आज के श्रमणो मे वे गुण किस स्थिति मे है, जिनके कारण वे सर्वत्र बहुमानित होते थे?

क्या कारण था कि **भरतमुनि** जैसे महामनीषी को निर्देश देना पडा कि निर्ग्रन्थ मुनि के साथ 'भदन्त' (भगवान्) सबोधनपूर्वक अत्यन्त आदर के साथ सभाषण करना चाहिये –

"निर्ग्रन्था भवन्तेति प्रयोक्तृभिः।"

– (नाट्शास्त्रम्, 17/7)

इतिहास साक्षी है कि जैनश्रमण न केवल चारित्रिक-साधना, अपितु ज्ञानगौरव के कारण भी सदैव प्रेरणास्रोत रहे है। यदि ऐसा न होता, तो अनेको जैनेतर मनीषी जैन-परम्परा मे श्रमणदीक्षा लेकर श्रामण्य की गौरववृद्धि नही करते। **आचार्य विद्यानन्दि स्वामी** (8वी शता. ई.) जैसे महान् आचार्य ऐसे ही श्रमणो की श्रेणी मे आते है।

ज्ञान की ऐसी उत्कृष्ट गरिमा यो ही प्रकट नही हुई थी। अपितु श्रमण-परम्परा के साधक आगमग्रन्थो का विधिवत् सूक्ष्म अध्ययन करके ही इस गरिमा के योग्य बन सके थे। यह उनका अनिवार्य कर्त्तव्य था।

सुप्रसिद्ध निर्ग्रन्थाचार्य **शिवार्य** इस बारे मे लिखते है –

"कठगवे वि पाणे हि, साहुणा आगमो हि कावव्वो।"

– (भगवती आराधना, 153)

अर्थात् प्राण कण्ठ मे आ बसे हो – ऐसा भीषण सकट उपस्थित हो जाये, तो भी साधुओ (निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमणो) को आगमग्रन्थों का स्वाध्याय ही करना चाहिये।

जैनश्रमण अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी होते थे। इसी बात की पुष्टि इस पद्य से होती है –

**"परं पलितकायेन कर्तव्यः श्रुतसग्रहः।
न तत्र धनिनो यान्ति यत्र बहुश्रुताः॥"**

अर्थ – अत्यधिक वृद्ध हो जाने पर भी शास्त्रो का अभ्यास (श्रुतसग्रह) निरन्तर करते रहना चाहिये। इसका एक विशेष लाभ यह होता है कि जहाँ ऐसे बहुश्रुत (शास्त्रज्ञानी) श्रमण/मनीषी जाते है, वहाँ धनार्थी और धनवान् लोग नही जाते है।

इसका सुपरिणाम यह होता है कि उनकी ज्ञानसाधना निर्विघ्नरूप से चलती रहती है तथा सासारिक प्रपचो मे उनका मन चलायमान नही हो पाता है।

जैनाचार्य शर्ववर्म अपने व्याकरण-ग्रन्थ मे इस बारे मे निम्नानुसार निर्देश करते है –

"यावति विन्द जीवो।"

– *(कालापक-कातत्र व्याकरण, 4/6/9, पृ 799)*

भाष्य – "यावज्जीवमधीयते। यावन्त जीवति तावन्त अधीते इत्यर्थः।" अर्थात् जब तक जीवित रहता है, तब तक पढता है।

सभवतः यह निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन श्रमण को दृष्टि मे रखकर ही उन्होने लिखा है।

शास्त्राभ्यास में ही निरन्तर गहन रुचि एव तल्लीनता के कारण वे ज्ञानी-ध्यानी श्रमण अन्य प्रशस्त-सासारिक-क्रियाओ से भी प्रायः विरत रहते हैं। 'क्रियाकलाप' ग्रथ मे इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है –

**"ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददाति दीक्षादिकञ्च शिष्याणाम्।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः॥"**

– *(सामायिक दण्डक, 4, पृ 143)*

अर्थ – जो न तो लोगो के बीच जाकर (पंडितो की तरह) शास्त्रो का व्याख्यान करते है न शिष्यो को दीक्षा देने आदि के कामो मे लगे रहते है, मात्र कर्मों को नष्ट करने मे अपनी शक्ति का उपयोग करते हुये जो आत्मध्यान मे लीन है, उन्हे ही साधु जानना चाहिये।

ऐसा क्यो? – तो विचार करने पर समाधान मिलता है कि शास्त्राभ्यास एव आत्मध्यान अबाधित बना रहे – इसी भावना से वे ऐसा करते है। क्योकि शास्त्र-सिन्धु अगाध, अपार है, इस छोटे-से मनुष्य जीवन मे क्षुद्र-क्षयोपशमरूपी नौका से इसका पार पा सकना असभव है। अतः जितना बन सके ज्ञान-ध्यान मे लीन रहे। अनावश्यक उपदेश देने, दीक्षा देकर सघ बढाने के चक्कर मे कौन पडे?

फिर भी कदाचित् उपदेश देने मे रागवश प्रवृत्त हो भी जाये, तो फिर व्यापक शास्त्रज्ञान, स्मरणशक्ति की कमी किचित् मात्र भी प्रमादभाव होने से शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध वचन सभव है। तथा ऐसे लोगो (आगमविरुद्ध बोलने वालो) के लिए शास्त्र मे 'दीक्षाच्छेद' के प्रायश्चित्त का विधान किया गया है –

"उत्सूत्र वर्णयेत् काम जिनेन्द्रोक्तमिति ब्रुवन्।
यथाच्छवो भवत्येष तस्य मूल वितीर्यते॥"

— *(प्रायश्चित्त-समुच्चय, 236, पृ 136)*

अर्थ — जो साधु आगम-विरुद्ध बोलता है, उसे मूल-प्रायश्चित्त देना चाहिये। तथा जो सर्वज्ञप्रणीत वचनो को छोडकर अपनी इच्छानुसार लोगो के बीच बोलता है, वह 'स्वेच्छाचारी' है, अतः उस स्वेच्छाचारी को मूलच्छेद (दीक्षाच्छेद) का प्रायश्चित्त देना चाहिये।

इसीलिए कहा गया है कि तप:साधना के साथ-साथ शास्त्राभ्यास को साधुजनो मे कदापि शिथिलता भी नही करना चाहिये। अन्यथा **जैसे सीमा पर खड़े फौजी के हाथ से शस्त्र निकलते ही उसका मरण हो जाता है, वह आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा मे समर्थ नही हो पाता है, उसीप्रकार यवि श्रामण्य को अगीकार करनेवाले साधु के हाथ से शास्त्र छूट जाते है अर्थात् वह शास्त्राभ्यास मे प्रमावी हो जाता है, तो विषयो के आकर्षणजाल मे उलझकर उसका पतन अवश्यभावी है; वह न तो श्रमणचर्या की रक्षा कर सकता है और न ही समाज को सही विशा वेने मे समर्थ हो सकता है।**

शास्त्राभ्यास ही उनके मन को शात और उद्वेगरहित रखकर श्रामण्यपथ पर अग्रसर रखता है। — इस तथ्य को ध्यान मे रखकर वर्तमान श्रमणो को भी आगमग्रथो का गहन अभ्यास करना चाहिये। तथा यदि उपदेश आदि का प्रसग उपस्थित हो, तो मूलग्रथो को सामने रखकर उसी के अनुसार व्याख्यान देने चाहिये। इसके अतिरिक्त मेलो, जलूसो, आन्दोलनो, पूजा-पाठ आदि कार्यों व धनसग्रह जैसे श्रामण्यविरुद्ध कार्यो से बचकर रहना चाहिये। तथा समाज को भी चाहिये कि वह श्रमणो की शास्त्रोक्त साधनापद्धति को जानकर उनकी ज्ञानसाधना मे साधक बने और उनसे सासारिक बातो की चर्चा भी नही करे। परिग्रह-सग्रह की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने का तो पूर्ण बहिष्कार ही होना चाहिये। अन्यथा श्रमणधर्म और समाज — दोनो का भविष्य अधकारमय हो जायेगा। ❖❖

जिनोपदिष्ट शास्त्रों की माध्यम-भाषायें

"पाइय भासा-रइया, मरहट्ठय-वेसि-वण्णय-णिबद्धा।
सुद्धा सयलकहच्चिय, तावस-जिण-सत्थ-वाहिल्ला॥"

— *(उद्योतनसूरि, 'कुवलयमालाकहा', अनुच्छेद 7, पद्य 11, पृष्ठ 6)*

अर्थ — *प्राकृतभाषा अर्थात् शौरसेनी प्राकृत मे रचित, महाराष्ट्रीप्राकृत एव देशी वर्णों (देश्यपदो) मे निबद्ध समस्त कथाये 'शुद्ध' अर्थात् 'निर्दोष' ही है। जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट एव तपस्वी-आचार्यों के द्वारा प्रणीत-शास्त्रो की माध्यमभाषाये भी ये ही है।* ❖❖

महावीर की अचेलक-परम्परा

✍ श्रीमती मंजूषा सेठी

यद्यपि श्वेताम्बर-परम्परा के अनुयायी भी महावीर की अचेलक-दीक्षा ही मानते है, तथा बाद मे देवदूष्य की कल्पना कर उन्होने सचेलत्व की पुष्टि करनी चाही है। इस आलेख मे लेखिका ने विविध-प्रमाणो से महावीर की परम्परा का अचेलकत्व सिद्ध किया है। प्रमुख-बात यह है कि यह लेखन किसी साप्रदायिक-पूर्वाग्रह से प्रेरित होकर नही है, अपितु तथ्यो के आलोक मे जो यथार्थ प्रतीत हुआ, उसीका निरूपण इसमे है। — **सम्पादक**

"णग्गो हि मोक्खमग्गो" नाग्न्य ही मोक्षमार्ग है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा कथित, परतु पूर्व-परम्परा से चलने आए इस मार्ग पर अनेको साधु अग्रसर थे, अग्रसर है, अग्रसर रहेगे, केवल वस्त्रो का त्याग करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है क्या? आचार्य कहते हैं कि जैसे 'ताल' शब्द से सभी वनस्पतियाँ कही जाती है। 'ताल का फल नही खाना चाहिए' — ऐसा कहने पर 'सभी वनस्पतियो का फल नही खाऊँगा' ऐसा जाना जाता है। इसीतरह वस्त्र के त्याग से सभी तरह के परिग्रह का त्याग होता है। अन्तर्बाह्य से पूर्ण-दिगम्बर हुए बिना निर्ग्रन्थ की पूर्णता कदापि सभव नही है।

अचेलक-परम्परा

महावीर से पहले तथा महावीर के बाद चली आ रही परम्परा, जो आज तक खंडित नही हुई है, वह है अचेलता। जिसे जैनधर्म के आदिप्रवर्त्तक ऋषभदेव भगवान् से लेकर महावीर-पर्यंत सभी तीर्थंकरो ने इसी को मोक्षमार्ग का साधन मानकर अपनाया और मोक्ष की प्राप्ति की। महावीर के पश्चात् भी गौतम स्वामी आचार्य भद्रबाहु, आचार्य जम्बुस्वामी, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य उमास्वामी, आचार्य पूज्यपाद से लेकर आचार्य शांतिसागर, आचार्य देशभूषण, आचार्य विमलसागर, आचार्य विद्यानन्द, आचार्य विद्यासागर आदि अनेको साधुओ ने इस परम्परा का गौरव बढाया है। हमारे पूजनीय, आदरणीय मुनि इस अचेलकत्व का कठोर-पालन करते है। इनके आचरण से इनका तप मे अटूट-विश्वास प्रकट होता हैं। अध्यात्म का सहारा लेकर मोक्षमार्ग कि तरफ अग्रसर होनेवाले ये साधु चलते-फिरते धर्म है, इनके रोम-रोम मे धर्म है, इनकी प्रत्येक-क्रिया में धर्म है।

महावीर का शासन

"सयममार्ग मे प्रवृत्ति करनेवाले जिससे समर्थ बनते है, वह 'कल्प' कहलाता है।" भगवान् महावीर ने भेद-प्रभेद सहित दो प्रकार का 'कल्प' मुनियो के लिए बताया है — (1) जिनकल्प, (2) स्थविरकल्प।

1 **जिनकल्प** — बाह्याभ्यतर-परिग्रह से रहित, स्नेह-रहित, निस्पृही, 'जिन' के समान (तीर्थंकर के समान) विचरण करते है, ऐसे ही श्रमण 'जिनकल्प मे स्थित' कहलाते है। जिनकल्प इस समय विच्छिन्न हो चुका है।

2 **स्थविरकल्प** — यह दो प्रकार का कहा गया है। 'स्थितकल्प' और 'अस्थितकल्प'। प्रथम और

अन्तिम-तीर्थंकर का 'स्थित-कल्प' और शेष 22 तीर्थंकर का 'अस्थितकल्प' हैं। इस समय अन्तिम-तीर्थंकर महावीर का शासन है। इनके शासन को स्थितकल्प कहा जाता है। यह दस प्रकार है —

"आचेलक्कुद्देसिय-सेज्जाहर-रायपिंडकिरियम्मे।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो॥"
— *(भगवती आराधना, 423)*

अर्थ — "आचेलक्य, औद्देशिक का त्याग, शय्या गृह का त्याग, राजपिण्ड का त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, मास और पर्युषणा — ये दस 'कल्प' हैं।"

मुनियो की चारित्रशुद्धि के हेतुओ का कथन करते हुए आचार्य वट्टेकर-प्रणीत 'मूलाचार' में चार-प्रकार के लिग का विवेचन किया है; इसमे अचेलता को प्रथम-स्थान दिया है —

"अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णादव्वो॥"
— *(मूलाचार 910)*

अर्थ — नग्नत्व, लोच, शरीरसस्कारहीनता और पिच्छिका — यह चार प्रकार का लिगभेद जानना चाहिए।

ऐसे अनेक-उदाहरण आगमशास्त्र मे दिये गये है, जिससे अचेलता का महत्त्व प्रकट होता है।

आचेलक्य — जिसके चेल अर्थात् वस्त्र न हो वह 'अचेल' कहलाता है। अचेल का भाव 'आचेलक्य' या 'अचेलता' है। 'चेल' वस्त्र को कहते है और 'चेल' का ग्रहण परिग्रह का उपलक्षण है, अतः समस्त-परिग्रह के त्याग को 'आचेलक्य' कहते है।

जब आचेलक्य का बात आती है, तो एक सवाल खड़ा हो जाता है — "क्या श्वेताबरपंथी महावीर के अनुयायी नही है? जैनधर्म के मुख्यतः दो संप्रदाय है — दिगम्बर और श्वेताम्बर। दोनों ही पथो के साधु परिग्रह-त्याग महाव्रत के धारी होते है। केवल अचेलता के कारण ही दोनो मे मुख्य भेद पैदा हुआ है। दिगम्बर-साधु तो नग्न रहते है, नग्नता उनके मूलगुणो मे से एक है। किन्तु श्वेताम्बर-साधु वस्त्र-धारण करते है और वस्त्र को सयम का साधन मानते है।

यद्यपि 'आचाराग' मे कहा है कि भगवान् महावीर के प्रव्रजित होने से तेरह महीने पश्चात् नग्न हो गये। स्थानाग मे महावीर के मे मुख से कहलाया है — **"मए समणाण अचेलते धम्मे पण्णत्ते।"** अर्थात् मैने श्रमणो के लिए अचेलताधर्म कहा है। 'दशवैकालिक' मे भी नग्नता का उल्लेख है। उत्तराध्ययनसूत्र में नग्नता को छठा-परिषह कहा है। किन्तु उत्तरकालीन-टीकाकारो ने अचेलता का अभिप्राय अल्पमूल्य के मलिन, जीर्ण और प्रमाणयुक्त-वस्त्रो का धारण करे — ऐसा किया।

आचेलक्य के लाभ — दिगम्बर-आम्नाय के आगम मे तो आचेलक्य के अनेक लाभ गिनाये है; परतु श्वेताम्बर-आम्नाय के आगम 'स्थानांगसूत्र' में भी नग्नता के अनेक लाभ बताये हैं, जैसे अल्प-प्रतिलेखना,

लाघव, विश्वास का रूप, जिनरूपता का पालन आदि।

दोनो आम्नायो के आगम मे उल्लेखित-लाभो के साथ-साथ अचेलता से सक्षेप से दसप्रकार के धर्मों का कथन होता है वह किस प्रकार इसे देखते हैं —

(1) **उत्तम क्षमा** — अचेल के अदत्त का त्याग भी सम्पूर्ण होता है, क्योकि परिग्रह की इच्छा होने पर बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने मे प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नही होती। तथा राग आदि का त्याग होने पर भावो की विशुद्धि बनी रहती है। परिग्रह के निमित्त से क्रोध होता है। परिग्रह के अभाव मे 'उत्तम क्षमा' रहती है।

(2) **उत्तम मार्दव** — मै सुदर हूँ, सपन्न हूँ — इत्यादि मद अचेल के नही होते, अत: उसके 'मार्दव' भी होता है।

(3) **उत्तम आर्जव** — अचेल अपने भाव को बिना किसी छल-कपट को प्रकट करता है, अत: उसके 'आर्जव धर्म' भी होता है, क्योंकि माया के मूल परिग्रह का उसने त्याग किया है।

(4) **उत्तम सत्य** — जो परिग्रहरहित होता है, वह सत्यधर्म मे भी सम्यक्रूप से स्थित होता है; क्योंकि परिग्रह के निमित्त ही दूसरे से झूठ बोलना होता है। बाह्य-परिग्रह क्षेत्र आदि तथा अभ्यन्तर-परिग्रह रागादि के अभाव मे झूठ बोलने का कारण नही है। अत· बोलने पर अचेल-मुनि सत्य ही बोलता है। इससे 'सत्य धर्म' का पालन होता है।

(5) **उत्तम शौच** — लोभ-कषाय के अभाव मे होता है। लोभ सर्व-पापो को उत्पन्न करनेवाला है। आशा, इच्छारूपी पाश भयानक-दु·खो को देनेवाला है, अत: सतोष को धारण करनेवाले जीव सुख को प्राप्त करते है। इस जीव की शुचिता (पवित्रता) शील, जप, तप, ज्ञान, ध्यान के प्रभाव से होती है। हमेशा गगा, यमुना आदि नदियो मे एव समुद्र मे भी स्थान करने से शुचिता अर्थात् पवित्रता नही होता, क्योकि इस शरीर का स्वभाव ही अपवित्र है। यह उपर तो अत्यत-निर्मल दिखाता है, परतु इसके अदर मल भरा हुआ है। — ऐसे शरीर को किसप्रकार 'पवित्र' कहा जा सकता है। जिनका शरीर तो मलिन है, पर जो गुणो के भडार है — ऐसे महाव्रती-साधु ही इस 'शौच गुण' को प्राप्त करते है।

(6) **उत्तम सयम** — अचेलकता मे सयम की शुद्धि एक एक गुण है। अचेल का सम्पूर्ण-आचरण ही सयमित होता है, हर क्रिया मे सयम होता है। पसीना, धूलि और मैल से लिप्त वस्त्र मे उसी योनिवाले और उसके आश्रय से रहनेवाले त्रस-जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल-जीव उत्पन्न होते है, वस्त्र धारण करने से उनको बाधा पहुँचती है। यदि कहोगे कि ऐसे जीवो से सबद्ध-वस्त्र को अलग कर देगे, तो उनकी हिसा होगी, क्योकि उन्हे अलग कर देने से वे वहाँ मर जायेगे। जीवो से युक्त वस्त्र-धारण करनेवाले के उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाडने, काटने, बाँधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने और धूप मे डालने पर जीवो को बाधा होने से महान् असयम होता है। जो अचेल होता है, उसके इसप्रकार का असयम न होने से सयम की विशुद्धि होती है।

(7) **उत्तम तप** — हर प्रकार के भौगोलिक, प्राकृतिक वातावरण में साधु अपने आपको रखता है। सर्दी, गर्मी, वायु आदि के विषमतम परिस्थिति का सामना करना ही अपने आप मे बहुत बडा तप है। परिग्रह

से मुक्त होने से शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर आदि परिषहो को साधु सहता है। अतः वस्त्र-त्याग को स्वीकार करने से घोर-तप होता है।

(8) **उत्तम त्याग** — दशधर्मों मे एक 'त्याग' नामक धर्म है। समस्त परिग्रह से विरति को 'त्याग' कहते है, वही अचेलता भी है। अतः हमारे साधु त्याग नामक धर्म मे प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि माया के मूल 'परिग्रह' का उसने त्याग किया है। बाह्य-वस्त्र आदि परिग्रह का त्याग अभ्यतर-परिग्रह के त्याग का मूल है।

(9) **उत्तम आकिंचन** — परिग्रह के 24 भेद है। उनका त्याग (व्यवहार आकिचन) हमारे साधु करते है और तृष्णाभाव को नष्ट करते है (निश्चय-आकिचन)। परिग्रह-चिन्ता, दुःख के ही पर्याय है। छोटी सी फॉस भी पूरे शरीर को दुःखी कर देती है, उसीप्रकार लंगोटी का आवरण या लगोटी कि चाह दुःख को देनेवाली होती है। और हमारे साधु अचेल रहकर सकता और सुख को प्राप्त कर लेते है।

(ग) **उत्तम ब्रह्मचर्य** — अचेलकता का महत्त्वपूर्ण-गुण है, इंद्रियो को जीतना। साधु व्यवहार-ब्रह्मचर्य और निश्चय-ब्रह्मचर्य — दोनो मे ही तत्पर रहते है। राग आदि का त्याग होने पर भावो की विशुद्धिरूप ब्रह्मचर्य भी अत्यत-विशुद्ध होता है। सर्पों से भरे जगल मे विद्या-मत्र आदि से रहित पुरुष दृढ-प्रयत्न से खूब-सावधान रहता है। उसीप्रकार जो अचेल होता है, वह भी इन्द्रियों को वश करने का पूरा प्रयत्न करता है। ऐसा न करने पर शरीर मे विकार होता है, तो लज्जित होना पडता है।

अचेलकता के उर्वरित-गुणो के अलावा भी अनेक गुण अचेल के होते है, जिनके कारण उनका व्यक्तित्त्व प्रभावशाली होता है, तथा लोगो का उनके प्रति आदर, विश्वास कई-गुना बढता है।

अचेलता मे कषाय का अभाव है। चोरो के डर से वस्त्र को छिपाने से मायाचार होता है अथवा चोरो के डर से या धोखा देने के लिए कुमार्ग से जाना पडता है। या झाड-झखाड मे छिपना होता है। 'मेरे पास वस्त्र है' — ऐसा अहकार होता है। यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने, तो उसके साथ कलह होता है। वस्त्र-लाभ होने से लोभ होता है। इसप्रकार वस्त्र-धारण करनेवालो के ये दोष है। वस्त्र-त्यागकर अचेल होने पर इसप्रकार के दोष उत्पन्न नही होते, तथा ध्यान-स्वाध्याय मे किसी प्रकार का विघ्न नही होता।

अचेल के सबध मे बताते हुए आचार्य ने कहा है — "जैसे धान के छिलके को दूर करना उसके अभ्यतर-मल को दूर करने का उपाय है। बिना छिलके का धान नियम से शुद्ध होता है; किन्तु जिस पर छिलका लगा है, उसकी शुद्धि नियम से नही होती है।"

अचेलता मे राग-द्वेष का अभाव एक गुण है, जो वस्त्र धारण करता है, वह मन के प्रिय-वस्त्र से राग करता है और मन को अप्रिय-वस्त्र से द्वेष करता है।

अचेलता मे स्वाधीनता भी एक गुण है; क्योंकि देशान्तर आदि मे सहायक की प्रतीक्षा नही करनी पडती। समस्त-परिग्रह का त्यागी पिच्छी-मात्र लेकर पक्षी की तरह चल देता है।

अचेलता मे निर्भयता-गुण है। चोर आदि मेरा क्या हर लेंगे, क्यो वे मुझे मारगे या बाँधेगे? किन्तु सर्वस्त्र डरना है, और जो डरता है, वह क्या नही करता। सर्वत्र विश्वास ही अचेलता का गुण है। जिसके पास कोई

परिग्रह नहीं, वह किसी पर भी शंका नहीं करता। किन्तु जो सवस्त्र है, वह तो मार्ग मे चलनेवाले प्रत्येकजन पर अथवा अन्य किसी को देखकर उस पर विश्वास नही करता।

इसप्रकार वस्त्र मे दोष और अचेलता में अपरिमित-गुण होने से अचेलता ही वह महत्त्वपूर्ण-सीढी है, जो कि मोक्ष तक पहुँचा सकती है और जन्म-मरण के दुःख भरे चक्रव्यूह से बचा सकती है।

तीर्थंकरो के मार्ग का आचरण करना भी अचेलकता का गुण है। सहनन और बल से पूर्ण तथा मुक्ति के मार्ग का उपदेश देने मे तत्पर सभी तीर्थंकर अचेल थे तथा भविष्य मे भी अचेल ही होंगे।

"णग्गस्स य मुंडस्स य वीह-लोमणखस्स य।
मेहुणावो विरतस्स किं विभूसा करिस्सवि॥"

— *(दशवैकालिक सूत्र)*

"नग्न, मुण्डित और दीर्घ नख और रोम वाले, मैथुन से विरक्त-साधु को आभूषणो से क्या प्रयोजन है।"

ऐसे सभी त्रिकाल साधुओ को शत-शत वदन। ❖❖

यूनान एवं अन्य देशों में दिगम्बर-मुनि

यूनानी-इतिहास से पता चलता है कि ईसा से कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व ये दिगम्बर भारतीय-तत्त्ववेत्ता पश्चिमी-एशिया मे पहुच चुके थे।

पोप के पुस्तकालय के एक लातीनी आलेख से, जिसका हाल मे अनुवाद हुआ है, पता चलता है कि ईसा की जन्म की शताब्दी तक इन दिगम्बर भारतीय-दार्शनिको की बहुत बड़ी सख्या इथियोपिया (अफ्रीका) के वनो मे रहती थी और अनेक यूनानी-विद्वान् वही जाकर उनके दर्शन करते थे और उनसे शिक्षा लेते थे।

यूनान के दर्शन और अध्यात्म पर इन दिगम्बर-महात्माओ का इतना गहरा-प्रभाव पडा कि चौथी सदी ई पू मे प्रसिद्ध यूनानी विद्वान पिरो ने भारत आकर उनके ग्रथो और सिद्धातो का यानी भारतीय-अध्यात्म और भारतीय-दर्शन का विशेष-अध्ययन किया और फिर यूनान लौटकर 'एलिस' नगर मे एक नई यूनानी-दर्शन पद्धति की स्थापना की। इस नई पद्धति का मुख्य-सिद्धात था कि इंद्रियो द्वारा वास्तविक-ज्ञान की प्राप्ति असभव है, वास्तवि-ज्ञान की प्राप्ति केवल अत करण की शुद्धि द्वारा ही सभव है और उसके लिए मनुष्य को सरल से सरल-जीवन व्यतीत करके आत्मसयम और योग द्वारा अपने अतर मे धसना चाहिए। भारत से लौटने के बाद पिरो दिगम्बर रहता था। उसका जीवन इतना सरल और सयमी था कि यूनान के लोग उसे बडी भक्ति की दृष्टि से देखते थे। वह योगाभ्यास करता था और निर्विकल्प-समाधि मे विश्वास रखता था। — *(भारत और मानव सस्कृति, खण्ड-II, पृ.-128 ले बिशम्भरनाथ पाडे)*

(प्रकाशक — सूचना एव प्रसारण मत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली) ❖❖

खण्ड 4

❖❖

वर्धमान महावीर के उपदेशों की माध्यम-भाषा : प्राकृत

❖❖

विषय-अनुक्रमणिका : खण्ड 4

प्राकृत-भाषा और भगवान् महावीर

✍ डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, पूर्व-राष्ट्रपति

भारतीय-भाषाओ की अतिप्राचीन एव महत्त्वपूर्ण भाषा 'प्राकृत' के बारे मे बहुत कम लोग परिचित है। उसकी महनीयता का परिचय वर्तमान-सन्दर्भों मे इसलिये भी अधिक अपेक्षित है, क्योंकि भारतीय भाषिक-एकता के सूत्र इसमे विद्यमान है। भारत के प्रथम राष्ट्रपति महामहिम डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी की तप:पूत-लेखनी से प्राकृत-भाषा के विषय मे नि:सृत ये वचन समस्त भाषा-प्रेमियो एव प्राकृतविदो के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **— सम्पादक**

प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद् से मेरा सम्बन्ध सौभाग्य से उसी समय से है, जब उसकी स्थापना हुई थी। प्राकृत-भाषा मे लिखित-ग्रन्थो की खोज और टीका-सहित उनके प्रकाशन के सम्बन्ध मे मेरा सदा यह विचार रहा है, कि यह कार्य इतिहास, साहित्य और सस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त-आवश्यक है। गत तीस-चालीस वर्षों से ही इतिहासवेत्ताओ और जैन-आचार्यों का इस ओर विशेष ध्यान गया है, परन्तु यह कार्य नियमित-रूप से हाल ही मे आरम्भ किया जा सकता है। प्राकृत-अनुसन्धानशाला मे जो उच्चकोटि का कार्य और अनुसन्धान किया जायेगा, उससे प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद् के कार्य को हर-प्रकार की सहायता प्राप्त होगी।

भगवान् महावीर के समय देश मे सस्कृत के अतिरिक्त दो और भाषाये प्रचलित थी — 'पालि' और प्राकृत। महात्मा-बुद्ध और उनके अनुयायियो ने अधिकतर पालि को प्रश्रय दिया, और महावीर स्वामी तथा उनके मतावलम्बियो ने प्राकृत को अपनाया। इन दोनो मतो के आचार्यों और अनुयायियो ने कालान्तर मे जो कुछ लिखा, वह अधिकतर पालि और प्राकृत मे ही उपलब्ध है। सौभाग्य से पालि-भाषा के क्षेत्र बहुत कुछ काम हो चुका है, जिसके फलस्वरूप प्राचीनकालीन-भारत की राजनीतिक और सामाजिक-स्थिति के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी मे काफी वृद्धि हुई है। सौ वर्ष के करीब हुये भारतीय और विदेशी-विद्वानो के सहयोग से 'पालि-ग्रन्थ-परिषद्' की स्थापना हुई थी। इस परिषद् ने अनेक-ग्रन्थो का सम्पादन कर उन्हे प्रकाशित किया है, किन्तु दुर्भाग्यवश प्राकृत के सम्बन्ध मे यह बात नही कही जा सकती। किन्ही कारणो से हमारा ध्यान उस ओर अधिक नही गया, और विदेशी-विद्वानो ने भी प्राकृत-साहित्य के महत्त्व को बीसवी-सदी के आरम्भ मे ही समझा है। यह बताने की मै आवश्यकता नही समझता, कि किन कारणो से प्राकृत के क्षेत्र मे उतना कार्य नही किया जा सकता, जितना पालि-साहित्य के सम्बन्ध मे किया जा चुका है। यही कह देना पर्याप्त होगा कि इस अभाव को दूर करना, और **देशभर मे बिखरे हुये प्राकृत-ग्रन्थो को प्राप्तकर सम्पादन के बाद उन्हे प्रकाशित करना**, प्राकृत-अनुसन्धानशाला तथा ग्रन्थ-परिषद् का उद्देश्य होगा।

प्राकृत-साहित्य के महत्त्व और उसकी विशालता के सम्बन्ध मे दो शब्द कह देना आवश्यक जान पडता है। जहाँ पालि-साहित्य की परम्परा अधिक से अधिक सात-शताब्दियो तक चली, वहाँ **प्राकृत-साहित्य की परम्परा की अवधि करीब पन्द्रह शताब्दियो तक चलती रही।** भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह कहा जा सकता है, कि **'इडो-आर्यन परिवार' की भारतीय-भाषाओं का 'पालि' की अपेक्षा 'प्राकृत' से कहीं अधिक**

निकट का सम्बन्ध है। वास्तव में इस देश की आधुनिक-भाषायें पूर्व-मध्ययुग मे प्रचलित विभिन्न-प्राकृतो तथा अपभ्रश का ही उत्तराधिकारिणी है। हिन्दी, बगला, मराठी आदि किसी भी भाषा को लीजिये, उसका विकास किसी न किसी प्राकृत से ही हुआ है। विकासकाल मे कुछ ऐसे ग्रन्थो की रचना भी हुई, जिनका वर्गीकरण निहायत कठिन है, अर्थात् जिनके सम्बन्ध मे सहसा यह कह देना कि उनकी भाषा 'प्राकृत' है, अथवा किसी आधुनिक-भाषा का पुराना-रूप, आसान काम नही। इस दृष्टि से देखा जाये, तो **आधुनिक-भाषाओ की उत्पत्ति और पूर्ण-विकास समझने के लिये प्राकृत-साहित्य का सम्यक्-ज्ञान आवश्यक है।**

अपनी परम्परा के अनुसार जैन-आचार्य एक स्थान मे तीन-चार महीनो से अधिक नही ठहरते थे, और बराबर भ्रमण करते रहते थे। उन्होने जो उपदेश दिये, और जिन ग्रन्थो की रचना की, वे देशभर मे बिखरे पडे है। सौभाग्य से उनमे से अधिकाश हस्तलिखित-आलेखो के रूप मे भडारो मे आज भी सुरक्षित है। ये ग्रन्थ सौराष्ट्र-गुजरात, राजस्थान, कर्नाटक और उत्तर तथा पूर्व मे अनेक-स्थानो मे पाये गये है। इन सबको एकत्र करना और आवश्यक अनुसन्धान के बाद आधुनिक-ढग से उनके प्रकाशन की व्यवस्था करना एक आवश्यक-कार्य है।

जैन-आचार्यों और विद्वानों की एक और विशेषता उनकी रचनाओ की व्यापकता है। प्राय. सभी की भाषा प्राकृत है, परन्तु उनकी साहित्यिक-परिधि महावीर-स्वामी के उपदेश और धार्मिक-विषयो के विवेचन तक ही सीमित नही। जैन-श्रमणो ने लोकभाषा को 'साहित्य का वाहन' बनाया था। **उन युगो की देश की लोकभाषा 'प्राकृत' थी।** इस कारण प्राकृत-भाषा मे आज विपुल-साहित्य मिल रहा है, शिलालेख मिल रहे है, सिक्के मिल रहे है। सुनते है, कि इस भाषा मे छोटे-बडे, प्रत्येक विषय के मिलाकर एक हजार के करीब ग्रन्थ है। महावीर के उपदेश-सम्बन्धी धार्मिक-ग्रन्थ सूत्र, निर्युक्तियाँ, चूर्णियाँ, भाष्य, महाभाष्य, टीका आदि के 300 से 350 ग्रन्थ है। धार्मिक-साहित्य के अतिरिक्त लौकिक-साहित्य भी, जैसे काव्य, छन्द, नाटक, कोष, गणत, मुद्राशास्त्र, रत्नपरीक्षाशास्त्र, ऋतुविज्ञान, जातीय-विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष, शिल्प, कहानियाँ, चरित्र-कथानाक, प्रवास-कथा आदि मानव-जीवन के सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयो पर उत्तम-उत्तम ग्रन्थ जैन-श्रमणो ने प्राकृत-भाषा मे लिखे है, और **जो भी उन्होने लिखा, बड़ी बारीक-छानबीन के साथ विस्तार से लिखा है।**

इस व्यापकता के कारण जैन-साहित्य अथवा प्राकृत-साहित्य का महत्त्व और भी बढ जाता है। जैसे मैने अभी कहा, **ईसा से पूर्व सातवीं-शताब्दी से लेकर इधर आठवी-शताब्दी तक प्राकृत मे ग्रन्थो की रचना होती रही।** हमारे इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण-काल मे देश के विभिन्न-भागो मे जो राजनीतिक तथा सामाजिक-स्थिति रही है, उस पर इस साहित्य द्वारा काफी प्रकाश पडता है। प्राकृत-साहित्य का अधिकाश-भाग अभी भी इतिहास के साधारण-विद्यार्थी की पहुँच से बाहर है, और हमारी साहित्य-सम्बन्धी धारणाये प्राकृत-साहित्य मे दिये गये तथ्यो और विवरणो से अभी प्रभावित नही हो पाई है। इस बात से आशा होती है, कि भारत के साहित्य मे जो सबसे अधिक अन्धकारमय-काल है, अर्थात् जिस काल के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी बहुत कम है, अथवा अधिकतर अटकल पर आधारित है, उस काल के सम्बन्ध मे प्राकृत-साहित्य से प्रकाश पा, सभव है, हमारे इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाये, और टूटी हुई श्रृखलाये जुड जाये।

इन सभी दृष्टियो से प्राकृत-साहित्य की खोज तथा अवलोकन और प्राकृत-ग्रन्थो के प्रकाशन का

महत्त्व असाधारण है। भारतीय विद्वानो के अतिरिक्त डॉ. शूब्रिग आदि विदेशी विद्वानो का भी यही मत है। उनका कहना है, कि **प्राकृत-साहित्य का पूर्णज्ञान प्राप्त किये बिना, भारत के साहित्य का हमारा ज्ञान सदा अधूरा रहेगा। यदि स्वाधीन होने के बाद भी हम प्राकृत के लुप्त और विस्मृतप्राय--ग्रन्थो की पूरी खोज कर, उन्हे साधारण-ज्ञान की सरिता मे न मिला सके, तो आश्चर्य ही नहीं लज्जा की बात होगी।**

भगवान् महावीर के सन्देश और उनके लौकिक-जीवन के सम्बन्ध मे अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का भी हमारे लिये ही नहीं समस्त-ससार के लिये विशेष-महत्त्व है। 'अहिसा परमो धर्मः' का सन्देश उनकी अनुभूति और तपश्चर्या का परिणाम था। महावीर के जीवन से मालूम होता है, कि कठिन-तपस्या करने के बाद भी वे शुष्क-तापसी अथवा प्राणियो के हित-अहित से उदासीन नही हो गये थे। दूसरो के प्रति उनकी आत्मा स्नेहार्द्र और सहृदय रही। इसी सहानुभूतिपूर्ण-स्वभाव के कारण जीवो के सुख-दुःख के बारे मे उन्होने गहराई से सोचा है, और इस विषय मे सोचते हुये ही वे वनस्पति के जीवो तक पहुँचे है। उनकी सूक्ष्म-दृष्टि और बहुमूल्य-अनुभव, जिसके आधार पर वे अहिसा के आदर्श पर पहुँचे, साधारण-जिज्ञासा का ही विषय न रहकर वैज्ञानिक-अध्ययन तथा अनुसधान का विषय होना चाहिये।

भगवान् महावीर के जीवन से एक और तत्त्व हमे ग्रहण करना चाहिये, वह है उनकी समन्वय-दृष्टि। अपने विचारो को उदार रख दूसरो को सहानुभूतिपूर्वक उनकी दृष्टि से समझने की क्षमता और अपने मे मिलाने की शक्ति ही समन्वय-दृष्टि है। महावीर की समन्वयात्मक-दृष्टि भारतीय-धर्म तथा दर्शनशास्त्र के लिये बहुत बडी देन है। इस सिद्धान्त की गहराई और इसके उच्च-व्यवहारिक पहलू को हम महावीर के जीवन से ही समझ सकते है। ❖❖

प्राकृत-भाषायें

शूरसेन अर्थात् मथुरा के आसपास के प्रदेश मे प्रचलित प्राकृत का नाम पडा **शौरसेनी**। *और महाराष्ट्र मे प्रचलित-प्राकृत कहलाई* **महाराष्ट्री**। *इन भाषाओ मे परस्पर उच्चारण आदि सबधी केवल थोडे-से भेद थे, जैसाकि एक ही भाषा की भिन्न-देशीय व भिन्न-कालीन बोलियों मे पाये जाते है। मगध और शूरसेन के सीमा प्रदेश मे प्रचलित-भाषा का नाम 'अर्धमागधी' था, क्योंकि, जैसाकि सीमाप्रदेशो मे हुआ करता है, उक्त भाषा मे दोनो प्रदेशो की बोलियो की विशेषताओ का मिश्रण पाया जाता था।*

मागधी-भाषा के विशेष तीन-लक्षण थे — (1) 'र' के स्थान पर सर्वत्र 'ल' का उच्चारण। (2) श, ष और स के स्थान पर सर्वत्र 'श' का उच्चारण। (3) अकारान्त-सज्ञाओ के कर्ताकारक एकवचन का प्रत्यय 'ए' जैसे सस्कृत का 'नरः' मागधी मे होगा 'णले'। 'पुरुषः' का मागधीरूप होगा 'पुलिशे', इत्यादि। शौरसेनी- प्राकृत मे 'र' का उच्चारण 'र' ही होता है। श, ष और स के स्थान पर सर्वत्र 'स' आता है, तथा कर्ताकारक एकवचन मे 'ए' न होकर 'ओ' होता है। जैसे — 'णरो' 'पुरिसो' आदि। इन लक्षणो मे से आगमो की भाषा मे शौरसेनी का 'स' और मागधी का 'ए' भी पाया जाता है और शौरसेनी का 'ओ' भी; तथा 'र' का 'ल' क्वचित् दृष्टिगोचर होता है। ❖❖

प्राकृतभाषा का परिचयात्मक-अनुशीलन

✍ डॉ. सुदीप जैन

प्राकृतभाषा विश्व की अति-महत्त्वपूर्ण एव प्राचीनतम भाषाओ मे से एक है। इसका साहित्य भी अत्यन्त-समृद्ध और बहुआयामी रहा है। अपनी मौलिक-विशेषता के कारण इसने भारत की विभिन्न क्षेत्रीय-भाषाओ के विकास मे अति-महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। साथ ही, विश्व की विभिन्न भाषाओ की शब्द-सम्पदा की समृद्धि मे भी प्राकृतभाषा का योगदान रहा है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विद्वानो ने इसे एक 'अति-आदर्श भाषा' माना है। इसी का सक्षिप्त परिचयात्मक-अनुशीलन इस आलेख मे प्रस्तुत है।

– सम्पादक

धवलाकार ने प्राकृतभाषा को जीव के स्वाभाविक-गुणो से सम्पन्न-भाषा माना है — **"जीवस्स साभावियगुणेहि ते पागदभासाए।"** वस्तुत जैसे देखना, सुनना, चलना-फिरना आदि समस्त-क्रियाये प्रकृति-प्रदत्त है, मनुष्य ने कृत्रिमरूप से बनायी नही है,उसीप्रकार बोलने की क्रिया भी प्रकृतिप्रदत्त है, प्राकृत है, और सयोग से जैसी भाषा स्वाभाविकरूप से बोली जाती है, उसे भी 'प्राकृत' नाम दिया गया है। सन्त एकनाथ इसे 'दिव्यवाणी' मानते है, वे लिखते हैं — **"सस्कृतवाणी देवे केली, प्राकृत मात्र चोरा पासुनि झाली?"** अर्थात् सस्कृत यदि देववाणी है,तो प्राकृत कोई चोरो की भाषा है क्या? वह भी तो सस्कृत के समान ही दिव्यभाषा है। इसे विद्वानों ने न केवल बोलने के लिये, अपितु साहित्य-सृजन के लिये भी सर्वाधिक उपयुक्त-भाषा माना है। वे लिखते है —

"अल्पार्थः सुखोच्चार· शब्द साहित्यजीवितम्।
स च प्राकृतमेवेति मत सूत्रानुवर्तिनाम्॥"

— *(प्राकृत-शब्दानुशासन, 7)*

अर्थात् साहित्य को सजीविनी प्रदान करने के लिये ऐसे शब्दो की आवश्यकता होती है, जिनमे अर्थ की बहुलता हो, और सुखपूर्वक-उच्चारण हो, तथा इसके लिये सूत्रानुवर्तियो ने प्राकृत को ही सर्वाधिक उपयुक्त-भाषा माना है।

सत ज्ञानेश्वर कहते हैं, कि **"या लागे आम्हा प्राकृता देशिकारे बधे गीता। म्हणणे हे अनुचिता? कारण नोहे।"** अर्थात् इसीलिये मैने प्राकृत-देशभाषा मे गीता की रचना की है। कुछ अनुचित तो नही किया?

क्षेत्रगत-उच्चारणभेद का ज्ञान भी प्राकृतभाषा के विश्वरूपत्व से हो सकता है, अन्यथा एक शब्द का उच्चारण किसी क्षेत्र मे किसी तरह से होता है, तो अन्य क्षेत्र मे वह इतना बदल जाता है, कि कभी-कभी अर्थ की जगह अनर्थ का सूचक बन जाता है। जैसे कि सामान्य 'स' या 'श' को मरुप्रदेश मे 'ह' उच्चारित किया जाता है। अब किसी को आशीर्वाद देना हो, तो 'शतायु भव' अर्थात् 'सौ वर्ष जिओ', तो 'मरुप्रदेशवासी बोलेगा — "हतायु भव" — जिसका अर्थ होगा, कि 'तुम्हारी आयु नष्ट हो जाये, तुम मर जाओ', इस तरह आशीर्वाद

भी अभिशाप बन जायेगा। इस बारे में मूलपद्य इसप्रकार है —

"आशीर्वादोऽपि नो ग्राह्यो, मरुस्थलनिवासिनाम्।
'शतायु'रित्युक्तेऽपि, 'हतायु'रित्युच्यते॥"

जबकि उस क्षेत्र की प्राकृतभाषा के ज्ञान से इस मतिभ्रम का निवारण हो सकता है।

प्राकृतभाषा के क्षेत्रगत उच्चारण-वैविध्य एव तत्तत्क्षेत्रीय शब्द-सम्पदा की प्रमुखता के कारण कई भेद रहे हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक-प्राकृत के रूप मे एकमात्र शौरसेनी-प्राकृत को ही विद्वानो ने निर्विवाद माना है। 'मृच्छकटिक' नाटक के प्रारम्भ मे विदूषक जब सामान्यजनो को प्रतिबोध के लिये सस्कृत बोलते-बोलते कहता है, कि "अब मैं प्राकृतभाषी हो जाता हूँ", तो वह जो प्राकृत बोलता है, वह विशुद्ध शौरसेनी-प्राकृत होती है। शौरसेनी-प्राकृत मे शब्दभण्डार, भाषागौरव, उच्चारणसौकर्य एव चिरकाल से श्रेष्ठ-प्राकृत के रूप मे निर्विवादरूप से स्वीकृत होने से इसे ही 'साहित्यिक-प्राकृत' माना है। सस्कृत-नाटको मे जितना भी प्राकृतभाग है, वह (हीनतासूचक-अश को छोडकर) सब शौरसेनी-प्राकृतमय ही है। सभवतः इसीलिये जब सस्कृतभाषा के अतिरिक्त किसी लोकभाषा मे साहित्य के सृजन का विचार प्राचीनकाल मे श्रमणो (जैनो एव बौद्धो) ने किया, तो उन सभी ने शौरसेनी-प्राकृत को ही अपने साहित्य का माध्यम बनाया।

सम्पूर्ण-भारत के लोकजीवन के स्वरो को मुखरित करने के लिये राष्ट्रीय-भाषा के रूप सहस्राब्दियो से शौरसेनी-प्राकृत को चुना जाना इसके भारत-भारतीरूप को प्रमाणित करता है।

प्राय· सम्पूर्ण भारतीय-लोकभाषाओं पर शौरसेनी का व्यापक-प्रभाव रहा है। प्राकृत-वैयाकरणो ने अनेकत्र मुक्तकठ से इसकी स्वीकारोक्ति की है। इस बारे मे कतिपय-निदर्शन मूलरूप में निम्नानुसार प्रस्तुत है — मार्कण्डेयकृत 'प्राकृतसर्वस्व' मे —

(क) **"शौरसेनी महाराष्ट्र्या सस्कृतानुगमात् क्वचित्।"** यत्र लक्षणविशेष नास्ति, तन्महाराष्ट्रीवत्। यथा-मादा, पिदा, विदेदि, किणेदि इत्यादि। — *(सूत्र 9.1, पृ 216)*
(ख) **"प्राच्या सिद्ध . शौरसेन्याः"** — शौरसेनीतः प्राच्याया· सिद्धिर्वेदितव्या। — *(सूत्र 10, पृ 122)*
(ग) **"आवन्ती स्यान्महाराष्ट्री-शौरसेन्योस्तु सकरात्।"** — *(सूत्र 11.1, पृ 125)*
(घ) **"मागधी शौरसेनीतः।"** — *(सूत्र 12 1, पृ 127)*
(ङ) **"तस्या चाण्डाल्या मूलेभ्यः शौरसेनी-मागधी-शाकारीभ्यः।"** — *(सूत्र 15 2 का भाष्य, पृ. 143)*
(च) **टाक्की स्यात्सस्कृत शौरसेनी चान्योन्यमिश्रिते।"** — *(सूत्र 16 1, पृ 147)*
(छ) **'पैशाचिकीना भाषाणा प्रथम-केकयाभिधा। सस्कृते शौरसेन्या च सिद्धिस्यैवात्र विक्रिया॥"** — *(सूत्र 19 1, पृ. 166)*
(ज) **"इह शेष शौरसेनीवत्"** — शेष सर्वं सुपितडादिकार्यम्। — *(सूत्र 19.20, पृ 168)*
(झ) **"शौरसेनीाभिधा तवस्याः।"** — अस्याः कैकेय-पैशाचिकीतः सिद्धिः। — *(सूत्र 20 1, पृ, 169)*
(य) **"कैकेय शौरसेनं च पाञ्चालमिति त्रिधा। पैशाच्यो नागरा सरूपात्तेनाप्यनन्या न लक्षिताः॥61॥** — *(पृष्ठ 6)*

इतना ही नही, जिन 'शाकल्य-ऋषि' नामक प्राचीन-वैयाकरण का संस्कृत-वैयाकरण के रूप मे आचार्य पाणिनी ने अपनी 'अष्टाध्यायी' मे 'लोप: शाकल्यस्य' आदि अनेको सूत्रो मे उल्लेख किया है, उन्ही का प्राकृत के वैयाकरण के रूप मे 'प्राकृतसर्वस्वकार' मार्कण्डेय ने इस सूत्र मे उल्लेख किया है — **"होश्च शाकल्यमते स्यात्"**, और इस सूत्र के द्वारा 'होदि' रूप की सिद्धि की है, जो कि शौरसेनी-प्राकृत का रूप है। यह सूत्र विद्वज्जगत् को शाकल्य-ऋषि, जो कि पाणिनी के असन्दिग्ध पूर्ववर्ती-वैयाकरण है, के प्राकृत-वैयाकरण होने एव उनके द्वारा शौरसेनी-प्राकृत का व्याकरण लिखने जाने की सूचना देता है। उसकी अब क्या स्थिति है? उसकी कोई प्रति किसी ग्रथभडार मे उपेक्षित पडी है, अथवा काल-कवलित हो चुकी है? — यह अनुसन्धित्सुओ के लिये नया-कार्य उपस्थित है। इतनी प्राचीन एव व्यापक शौरसेनी-प्राकृतभाषा एव उसका बहुआयामी विपुल शास्त्र-भडार अपने परिचय के लिये विद्वज्जगत् का आह्वान कर रहा है।

प्राकृतभाषा और मानवाधिकार

मानवाधिकारो की चर्चा आजकल जोरो पर है। मानवाधिकारो मे 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' एक अन्यतम मौलिक-मानवाधिकार है, तथा इस अधिकार की प्रबल पक्षधर प्राकृतभाषा रही है; क्योकि इस भाषा को बोलने का अधिकार अज्ञो-विज्ञो, बच्चो-वृद्धो, पुरजनो-गिरिजनो एव नर-नारियो सभी को समानरूप से है। किसी भी वर्ग-विशेष के लिये यह भाषा सीखने-पढने-बोलने की मर्यादा कभी नही बनायी गयी है। यह सार्वजनीन-भाषा रही। — यह तथ्य इसके प्रवर्तको की वैचारिक-उदात्ता एव दृष्टिकोण की व्यापकता का सूचक है।

आज भले ही प्राकृतभाषा के अनेको क्षेत्रीयरूप मिलते है, किन्तु प्राचीनकाल मे इसका आदर्शरूप एक ही था, जो कि इस वृहत्तर-राष्ट्र की राजधानी मथुरा (शूरसेन प्रदेश) से अपना स्वरूप-निर्माण करके सम्पूर्ण भारतवर्ष की आदर्शभाषा बन सका, और वह रूप था — 'शौरसेनी-प्राकृत' का। भला यह क्यो न हो, जिस शूरसेन-प्रदेश मे महाप्रतापी अरिष्टनेमि (तीर्थंकर नेमिनाथ) एव नारायण श्रीकृष्ण-सदृश महापुरुष हुये, जिनके जीवन-चरित से सम्पूर्ण आर्यावर्त्त अनुप्राणित रहा है। उसी शूरसेन-प्रदेश मे प्रचलित शौरसेनी-प्राकृतभाषा इन महापुरुषो के प्रभावी व्यक्तित्व का सबल पाकर अपनी सुगठित भाषिक-सरचना के बल पर सम्पूर्ण-आर्यावर्त्त मे प्रसरित हुई, तो इसमे विस्मय की कोई को बात नही है। तथा इन महापुरुषो का अपने परिजनो एव प्रजाजनो से सवाद के लये इसी भाषा का प्रयोग करना अनिवार्य भी था, क्योकि यह उनकी मूलभाषा थी। अत: 'गीता' जैसे उपदेश के समय जितनी बार 'अथ नारायण उवाच' के द्वारा सस्कृत-भाषा मे नारायण श्रीकृष्ण बोले, अपने परिजनो, पुरजनो एव प्रजाजनो से इससे असख्यगुणित अधिक बार उन्होने शौरसेनी-प्राकृत मे बातचीत की होगी। गीता के उपदेशामृत तो लिपिबद्ध हो गये, किन्तु उससे असख्यगुणित नारायण श्रीकृष्ण के वचनामृत लिपिबद्ध न हो पाने के कारण आज हमे उपलब्ध नही है। 'गोविद' के इन अनुपलब्ध असख्य 'नारायण श्रीकृष्ण उवाचो' मे उनके बालसुलभ-वाक्याश, बालसखाओ से वार्तालाप, कैशोर्य की क्रीडाओ की चुहले, गोपियो के साथ हुये प्रेमालाप एव योग का उपदेश, राजनीति-प्रशासन-धर्मनीति-सदाचार एव अध्यात्म जैसे विषयो पर सम्पर्ण जीवन मे असख्य-बार जनसामान्य से लेकर परिजनो तक से हुये अनेको सवाद रहे होगे, जो कि उनकी अपनी मातृभाषा शौरसेनी-प्राकृत मे ही हुये होगे, क्योकि इसी भाषा के शब्दो को उन्होने तोतली-भाषा

मे बोला होगा, बंसी की मधुरिम-तानो में भी इसी के लोकगीतों को बजाया होगा, तथा योगीश्वर-रूप में भी यही आम-जनता की भाषा बोले होगे। इन असख्यगुणित अनुपलब्ध/अलिखित 'अथ नारायण उवाचो' को यदि हम आज नहीं सजो पाये हैं, सुरक्षित नही रख सके है; तो इसका मूलकारण हमारी प्राचीनतम राष्ट्रभाषा 'शौरसेनी-प्राकृत' के स्वरूप को एव उसके साहित्य को सरक्षित नही कर पाना रहा है।

नारायण श्रीकृष्ण के चचेरे भाई तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) भी अपनी राष्ट्रभाषा शौरसेनी-प्राकृत मे ही वाग्व्यवहार करते रहे होगे। कदाचित् इन महापुरुषो के वचनामृत मूलरूप मे लिखित और सुरक्षित मिल पाते, तो शौरसेनी-प्राकृत का प्राचीनतम-साहित्य एव भाषिक-गौरव का साक्षात्कार हम कर पाते।

तथापि यह स्वीकार करने मे कोई बाधा नही है, कि इन दोनों महापुरुषो के प्रभावक-व्यक्तित्व के महाप्रभाव से शूरसेन-जनपद मे जन्मी शौरसेनी-प्राकृतभाषा को सम्पूर्ण-आर्यावर्त्त मे प्रसारित होने का सुअवसर मिला था, और इन्ही के कारण यह वृहत्तर-भारतवर्ष के कोने-कोने मे फैली एव फूली-फली। ऐसे महापुरुषो का प्रभामंडित-व्यक्तित्वो का प्रश्रय पाकर इसका व्याकरणिक स्वरूप-गठन भी अपेक्षाकृत सुव्यवस्थित हुआ, और यह 'सवाद' लेकर 'साहित्य' तक की 'माध्यम-भाषा' बन सकी।

इसीलिये आज के उपलब्ध प्राचीनतम-साहित्यो मे जो भी जनभाषा के शब्द उपलब्ध है, वे अधिकाशतः शौरसेनी-प्राकृतभाषा के है। इसी भाषा के आधार पर अन्य क्षेत्रीय-भाषाओ ने भी अपने व्याकरणिक एव साहित्यिक-स्वरूप का निर्माण किया एव क्रमशः मागधी एव पैशाची आदि प्राकृतो का परिचय प्राप्त हुआ। चूँकि इनमें क्षेत्रीय-विशेषताओ का प्राचुर्य होते हुये भी इनके व्याकरणिक स्वरूप-गठन का आधार 'शौरसेनी-प्राकृत' थी, अतः इनके परिचय-प्रसगो मे वैयाकरणो ने **"प्रकृतिः शौरसेनी"** एव **"शेष शौरसेनीवत्"** जैसे 'आदि-अन्त्य-मगल' सूत्रो की रचना करके इन भाषाओ की शौरसेनी-मूलकता बतायी है।

यह भाषिक-परम्परा परवर्ती-युग मे भाषावैज्ञानिक-नियमो के अनुसार सरलीकरण एव उच्चरण-सौविध्य ('मुख-सुख) आदि की दृष्टि से कुछ नये रूप लेती गयी, और इसका 'महाराष्ट्री' रूप उभरकर सामने आया।

जैन-परम्परा मे तीर्थंकर महावीर के उपरान्त अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य-भद्रबाहु के काल मे उत्तर-भारत मे पडे द्वादशवर्षीय भयकर-दुर्भिक्ष के कारण सघ-भेद हुआ, तथा आचार्य भद्रबाहु एव उनके शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (दीक्षानाम 'विशाखाचार्य') के नेतृत्व मे विशाल-श्रमण-समूह ने दुर्भिक्ष-रहित दक्षिण-भारत मे प्रवास किया, तथा एक-नेतृत्व एव अनकूल-वातावरण के कारण अपनी भाषिक-अस्मिता (शौरसेनी प्राकृत) की एकरूपता एव मौलिकता को बचाये रखा। फलस्वरूप दक्षिण-भारत मे पुष्पिन एव पल्लवित दिगम्बर-जैन-श्रमण-साहित्य की भाषा यही मूल 'शौरसेनी-प्राकृत' रही, तथा जो श्रमण-समूह उस भीषण-दुष्काल के समय (ई पू. 365) उत्तर-भारत मे चले गये थे, वे क्रमशः वृद्धिगत होते दुष्काल के विनाशकारी प्रभाव से इतस्ततः बिखर गये एव उनके अनेक नेतृत्व हो गये। दुष्काल का प्रभाव समाप्त होने के बाद देश-काल-वातावरण को सुधरने मे सुदीर्घ समय लगा, और बिखरे हुये सघ के श्रमणो के भाषिक-स्वरूप मे क्षेत्रीय-प्रभावो की प्रचुरता हो गयी। जब इनकी सगीतिपूर्वक अवशिष्ट-तत्त्वज्ञान को एकत्रित कर लिखितरूप देने का अवसर आया, तो जो श्रमण जिस-जिस क्षेत्र से आये थे, उस क्षेत्र की भाषाओ मे बोले; अतः उसमे बहुरूपता गयी।

अस्तु, शौरसेनी-प्राकृत की प्राचीनता, व्याकरणिकता एव मूलान्वितता आज भी अक्षुण्ण है। अतएव समस्त वैयाकरणो को शौरसेनी-प्राकृत की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ी है।

सस्कृत के नाटककारों (भास, कालिदास आदि) को भी यह तथ्य सुविदित था, अत: उन्होने अपने नाटको मे प्राकृत-प्रयोग के नाम पर शौरसेनी-प्राकृत के प्रयोगो की बहुलता रखी; क्योंकि यह भाषा अतिप्राचीन, व्याकरण-सम्मत एव आदर्शरूप मे थी। प्राचीन-साहित्यकारो मे संस्कृत के नाटककारो का यह अनन्य-उपकार है, कि उन्होने लोकजीवन की इस प्रधान-भाषा 'शौरसेनी' के प्रयोगो की उदारतापूर्वक सुरक्षा की है। साथ ही प्राकृतों के विभिन्न-रूपो का प्रयोग करके अपने समय मे प्रचलित-प्राकृतो का भी परिचय दे दिया, जिसके फलस्वरूप हमे प्राकृत-भाषाओ के इतिहास को समझने मे महत्त्वपूर्ण-सहायता मिलती है। महाकवि भास एव कालिदास आदि तटस्थ-साहित्यकारो के नाटको मे 'महाराष्ट्री' एव 'अर्धमागधी' प्राकृतो के प्रयोगो का अभाव देखकर ही व्याकरणशास्त्रियो ने यह माना है, कि इनके समय मे ये प्राकृत-भाषाये अस्तित्व मे ही नही थी, अन्यथा ये महाकवि अन्य शौरसेनी आदि प्राकृतो की भाँति इनके प्रयोग भी अपने नाट्य-साहित्य मे अवश्य करते। सस्कृत-नाटककारो का यह उपकार अविस्मरणीय है।

तथापि इस भाषा के प्राचीनतम मूलरूप शौरसेनी-आगम-साहित्य मे ही लिखितरूप मे आज उपलब्ध है। कदाचित् नारायण श्रीकृष्ण एव तीर्थंकर अरिष्टनेमि के वाक्यामृत भी आज लिपिबद्ध उपलब्ध होते, तो शौरसेनी-प्राकृत का प्राचीनतम-रूप तो हमारे समक्ष होता ही; विश्वभर मे प्राचीनतम-भाषा का निदर्शन भी वही होता।

तथ्यो के आलोक मे भारतीय-सास्कृतिक एव आध्यात्मिक-चेतना की सवाहिका 'शौरसेनी प्राकृतभाषा' के स्वरूप को समझने एव स्वीकारने का यह सुअवसर है, तथा इसके लिये पक्षव्यामोह-रहित नैष्ठिक-प्रयासो की अपेक्षा है।

तीर्थंकरो के उपदेश और प्राकृतभाषा

तीर्थंकर के उपदेशो एव द्वादशागी जिनवाणी के बारे मे एक पंक्ति आजकल चर्चा का विषय बनी हुई है — **"दश अष्ट महाभाषा समेत, लघु-भाषा सात शतक सुचेत।"** अर्थात् 'भगवान् की दिव्यध्वनि एव द्वादशागी जिनवाणी अट्ठारह महाभाषाओ तथा सात सौ लघु-भाषाओ से युक्त थी' — इसका घोर-अनर्थ लोगो ने समझ रखा है। इस कथन की वास्तविकता को समझने के लिये हमे सूक्ष्मतापूर्वक-विचार करना होगा। जहाँ तक भगवान् की दिव्यध्वनि का प्रश्न है, तो आगम साक्षी है, कि वह तो मात्र 'ओंकारध्वनि' रूप ही होती है।, हाँ, इतना अवश्य है, कि उसे उपर्युक्त अट्ठारह-महाभाषाओ एव सातसौ-लघुभाषाओ मे समझा जा सकता है। जो श्रोता जिस भाषा का जानकार हो, उसके लिये भगवान् की वाणी उसी भाषा के रूप मे परिणत होकर श्रवणगोचर होती थी, न कि भगवान् इतनी सारी भाषाओ मे एक साथ बोलते थे। जैसे कि आजकल विज्ञानयुग मे ऐसी व्यवस्थाये आ गयी है, कि वक्ता किसी भी भाषा मे बोले, किन्तु निर्धारित-कक्षो मे विशिष्ट-उपकरण की सहायता से श्रोता अपनी-अपनी भाषा मे उसे सीधे (Live) सुन सकते है। यदि उस उपकरण की क्षमता डेढ-सौ भाषाओ मे एक साथ भाषान्तरित करने की है, तो यह आवश्यक नही है कि वक्ता को डेढ सौ भाषाओ मे एक साथ बोलना पडेगा। व्यवहारत: यह सभव भी नही है।

वस्तुस्थिति यह है, कि भगवान् की धर्मसभा मे श्रोता विभिन्न-वर्गों के थे; वे विभिन्न-क्षेत्रों से आये थे, और भिन्न-भिन्न भाषाओ को बोलते-समझते थे। अब जो श्रोता जिस भाषा का (अथवा एकाधिक-भाषा का) जानकार था, उसने उसी भाषा मे 'जिनोदित तत्त्वोपदेश' को समझा; तथा अपनी ही भाषा में उसी भाव को अग्रसारित किया, परवर्ती अपने शिष्यों-प्रशिष्यो एव सम्पर्क में आये जनसमुदाय को समझाया, और विभिन्न भाषाओ के माध्यम से वही 'तत्त्वोपदेश' क्रमशः 'श्रुत' से 'शास्त्र' के रूप में परिणत हुआ; जो उन्ही-उन्ही भाषाओ मे अलग-अलग मिलता है। चूँकि मूलतत्त्व वही था, मात्र भाषा-भेद था; अतः सभी भाषाओ मे निबद्ध मूल-तत्त्वज्ञान को जिनवाणी मानते हुये "जिनवाणी उपर्युक्त बहुभाषामयी है" — ऐसे वाक्यप्रयोग सार्थक हुये।

किन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध होता है, कि भगवान् की दिव्यध्वनि मे उपदिष्ट-तत्त्वज्ञान को गूंथनेवाले सारे शास्त्र 'इतनी सारी भाषाओ की खिचडी' थे? इसका तो सीधा-सच्चा तात्पर्य यही है, कि तीर्थंकर-महावीर की शिष्य-परम्परा मे इतनी सारी भाषाओ का अलग-अलग ज्ञान रखनेवाला विशाल शिष्य-समुदाय था, जिसने अपनी-अपनी भाषा मे जिनोदित-तत्त्वोपदेश' को समझकर उसे 'श्रुत' के रूप मे जीवित रखा, और फिर उन्ही की परम्परा के लोगो मे जिसने जिस-जिस भाषा मे समझा-सीखा था, विस्मृति की प्रबलता होने पर उसी-उसी भाषा मे उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया। इसप्रकार भगवान् का दिया गया तत्त्वोपदेश अट्ठारह-महाभाषाओ एव सातसौ-लघुभाषाओ किवा क्षेत्रीय-भाषाओं मे निबद्ध हुआ। अतः शौरसेनी आदि महाभाषाओं किंवा राष्ट्रिय-भाषाओ मे निबद्ध आगम-साहित्य तथा कन्नड, मराठी, गुजराती, बगला, मगही आदि क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध-साहित्य मे तत्त्वज्ञान तो तीर्थंकर महावीर-प्रदत्त है; किन्तु भाषा मूलतः उनकी नहीं है। वह उनके श्रोताओं की अपने भाषा है। हाँ। इतना अवश्य है, कि जिन-जिन भाषाओ मे आगम-साहित्य मिलता है, उनका मूल महावीर के साक्षात्-शिष्यो से जुडा हुआ है।

राष्ट्रीयभाषा : शौरसेनी-प्राकृत

यहाँ एक प्रश्न सभव है, कि आपने शौरसेनी को 'महाभाषा' या 'राष्ट्रिय-भाषा' कहा, — इसका अभिप्राय एव आधार क्या है? यह प्रश्न अत्यन्त-स्वाभाविक है, क्योंकि आज तक अन्य भाषाओं के राष्ट्रीय-स्तर की भाषा या महाभाषा न होते हुये भी सुनियोजित-रूप स इतने गीत गाये गये हैं, कि सुन-सुनकर कानो म भी वही प्रतिध्वनि गूँजने लगी है; जबकि यह 'झूठ को सौ बार बोलो, तो वह सत्य प्रतीत होने लगता है' — इस मनोवैज्ञानिक-सिद्धान्त का प्रयोगमात्र था। साथ ही, बिडम्बना यह भी रही कि शौरसेनी-प्राकृत, जो कि न केवल जनभाषा, महाभाषा, राष्ट्रीय-भाषा थी; अपितु महावीर के तत्त्वज्ञान के गृहीता सर्वाधिक वृहत् श्रमण-समुदाय की भाषा थी; के बारे मे पिछली 2-3 शताब्दियो मे शायद ही किसी विद्वान् ने भूले-भटके चर्चा भी की हो। अतः शौरसेनी की महिमा को उजागर किये जाने पर, ऐसे प्रश्न स्वाभाविक-रूप से उठते हैं। इसका निष्पक्ष एव सप्रमाण-समाधान निम्नानुसार है —

शौरसेनी-प्राकृत की जन्मभूमि भले ही शूरसेन (मथुरा-ब्रज) प्रदेश रहा हो, किन्तु यह देश के कोने-कोने मे लोक-साहित्य की सर्वाधिक जनसमादृत-भाषा रही है। इसीलिये ईसापूर्व तृतीय-शताब्दी मे 'नाटय्शास्त्र' के प्रणेता 'भरतमुनि' को यह सिद्धान्त बनाना पडा कि —

"शौरसेनीं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
अथवा छंदतः कार्या देशभाषा-प्रयोक्तृभिः॥17/46॥

अर्थ — नाटकों में जनसामान्य के भावो को स्वर-प्रदान करने के लिये शौरसेनी-प्राकृत का आश्रय लेकर ही भाषा का प्रयोग करना चाहिये। यदि क्षेत्रीय-भाषा में नाटक का लेखन हो रहा हो, तो उस देश (क्षेत्र) की भाषा को वहाँ के प्रचलित-छदों के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहिये।

इस कथन से स्पष्ट है कि यदि राष्ट्रिय-स्तर पर किसी महाभाषा मे नाट्य-साहित्य अथवा लोक-साहित्य का सृजन करना हो, तो उसमे एकमात्र शौरसेनी-प्राकृत का ही प्रधानतः प्रयोग किया जाना चहिये; अन्य किसी प्राकृत का नही। अर्थात् भरतमुनि लोकजीवन की महाभाषा किवा राष्ट्रिय-भाषा के रूप मे शौरसेनी-प्राकृत को असन्दिग्ध-रूप से स्वीकार करते थे, अतएव उन्होंने लोकसाहित्य एव नाट्य-साहित्य के प्रणेताओं को शौरसेनी-प्राकृत मे साहित्य-सृजन करने का आदेश हुआ, तथा कभी प्रसगवशात् आवश्यकता पडे, तो सीमित क्षेत्रीय-भाषाओ के प्रयोग की भी छूट दी है।

आचार्य भरतमुनि के इस सन्देश को आर्षवाक्य मानकर महाकवि भास, कालिदास जैसे विश्वविख्यात कालजयी-साहित्यकारो ने अपने 'नाट्य-साहित्य मे सत्तर से पचहत्तर प्रतिशत (70-75%) तक शौरसेनी-प्राकृत का प्रयोग किया, तथा पात्रानुसार क्वचित्-क्वचित् मागधी, पैशाची आदि भाषाओ के प्रयोग भी किये। कितु आश्चर्य की बात है, कि जिसके 'महाभाषा' होने के गीत दशको मे सस्वर गाये जा रहे है, उस अर्द्धमागधी-प्राकृत का एक ही प्रयोग इन नाटको मे किसी भी पात्र के द्वारा नही किया गया। चूँकि लोकजीवन मे पात्र जैसी भाषा बोलते थे, वैसा ही प्रयोग नाटककारों ने किया है। — इससे सुतरा सिद्ध है, कि 'अर्द्धमागधी-प्राकृत' न तो कभी लोकभाषा रही, न ही जनजीवन मे उसका प्रचलन रहा। किन्तु श्वेताम्बर-आगम-साहित्य मे अवश्य उसके बहुविधरूप उपलब्ध होते है।

जो यह प्रश्न किया जाता है, कि तीर्थंकर के उपदेश की भाषा 'अर्धमागधी' कही गयी है, उसका क्या कारण है? तो बन्धु! तीर्थंकर की दिव्यध्वनि श्रवण-सम्बन्धी व्यवस्था करनेवाले देवो का जातिनाम 'मागध' था, अतः उसके निमित्त से ही श्रोतागण समवसरण मे तीर्थंकर की दिव्यध्वनि सुन पाते थे, अतः उन मागध-देवो के नाम से तीर्थंकर की वाणी को 'अर्द्धमागधी' कहा गया; क्योंकि उनमें श्रोताओं क भाषाओं का वैशिष्ट्य भी सम्माहित था। वह आज की 'अर्द्धमागधी-प्राकृत' नही थी, क्योंकि यह तीर्थंकरो के काल मे पैदा भी नही हुई थी।

एक तथ्य यह भी महत्त्वपूर्ण एव ध्यातव्य है कि वैयाकरणो ने भी अर्द्धमागधी-प्राकृत का व्याकरण नही लिखा, यहाँ तक कि महान् वैयाकरण श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने 'शब्दानुशासन' मे अर्द्धमागधी के नियमो के निर्माण एव विवेचन मे अधिक रुचि नही दिखायी। जबकि शौरसेनी, मागधी एव पैशाची आदि ईसापूर्व की तथा 'महाराष्ट्री' जैसी ईसा-उपरान्त की भाषाओ का विशद व्याकरणिक-विवेचन किया है। जबकि उनके समय (लगभग दसवी शता ई) तक 'अर्द्धमागधी आगम-साहित्य' स्पष्ट-आकार ले चुका था।

इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि ईसापूर्व 200 मे हुये आचार्य गुणधर-रचित 'पेज्जदोस-पाहुड' (अपरनाम 'कसायपाहुड'), षट्खण्डागम-सिद्धान्त का सौराष्ट्र प्रान्त मे उपदेश करनेवाले

आचार्य धरसेन (ई.पू. 100) तथा उनसे सीखकर सर्वप्रथम आगम-साहित्य को 'छक्खंडागमसुत्त' (षट्खण्डागमसूत्र) के रूप में लिपिबद्ध करनेवाले महान् आचार्यद्वय भूतबलि एव पुष्पदन्त, जिन्होने आन्ध्रप्रदेश में जाकर ग्रंथ-रचना की, ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द के प्राभृत-ग्रन्थो, जिनकी रचना तमिल-प्रान्त मे हुई, ईसा की दूसरी शताब्दी में हुये 'कसायपाहुड' के चूर्णिकर्ता लेखक आचार्य यतिवृषभ की चूर्णियों एव 'तिलोयपण्णत्ति' आदि ग्रथो, छठवी-शताब्दी ई. के सर्वज्ञतुल्य महाज्ञानी आचार्य वीरसेन स्वामी, जिन्होने चित्तौड-राजस्थान प्रान्त मे 'धवला', 'जयधवला' जैसे महान् टीकाग्रन्थो का प्रयत्न किया; दसवी शताब्दी ई मे कर्नाटक-प्रान्त मे हुये आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि के 'गोम्मटसार' आदि ग्रथो — इन सबमे शौरसेनी-प्राकृत के ही प्रयोग क्यो मिले? जबकि ये सभी आचार्य विभिन्न-कालखण्डो मे तथा शूरसेन-प्रदेश से भिन्न भारतवर्ष के विभिन्न-क्षेत्रों मे हुये थे, फिर भी इन सबने शौरसेनी-प्राकृत को ही क्यो अपनाया?

इन सबका सीधा-सच्चा एक ही उत्तर है, कि शौरसेनी प्राकृत ईसापूर्वकाल से लेकर लगभग दसवी-गयाहवीं शताब्दी ई. तक आदर्श साहित्य-भाषा एव बहुश्रुत-बहुप्रचलित लोकभाषा रही। अतः आगम-साहित्य एव श्रुतसदृश-साहित्य का सृजन इसी भाषा मे देशभर मे हुआ। यही नही, लोकसाहित्य के प्रणेता ईसोत्तरकालवर्ती शूद्रक (छठवी शताब्दी ई) जैसे महाकवियो ने भी 'मृच्छकटिकम्' जैसे अमर-नाटको मे अधिकाश-प्राकृतो का प्रयोग किया। विद्वानो का विचार है, कि कवि शूद्रक ने लगभग बारह-तरह की प्राकृतो का विभिन्न-पात्रो के माध्यम से प्रयोग किया, किन्तु सर्वाधिक-परिमाण मे उन्होने शौरसेनी-प्राकृत का ही प्रयोग किया। साथ ही, यह भी विचारणीय है, कि उसमे भी अर्द्धमागधी-प्राकृत का एक ही प्रयोग नही है, जबकि इस समय तक अर्द्धमागधी का भाषिक-ढाँचा श्वेताम्बर आगम-साहित्य के माध्यम से गठित हो चुका था।

यह बात किसी विद्वेष, पक्षपात या पूर्वाग्रह की भावनाओ से प्रेरित होकर नही लिखी जा रही है; अपितु यह तथ्यो का उद्भावन है, जिस पर विद्वज्जगत् का ध्यानाकर्षण अपेक्षित है।

यदि लोकसाहित्य-प्रणेताओ ने शौरसेनी का सर्वाधिक-प्रयोग किया, वैयाकरणो ने अन्य-प्राकृतो के व्याकरणिक-ढाँचे के निर्माण के लिये शौरसेनी को आदर्श माना एवं **"प्रकृतिः शौरसेनी"** जैसे प्रयोग अनेकत्र दिये, तथा जैन-साहित्यकारो ने भी देश के हर कोने मे विभिन्न-कालखण्डो मे सहस्राब्दियो तक इसी भाषा मे साहित्य-सृजन किया; तो ये सब तथ्य सत्यापित एवं असन्दिग्धरूप से प्रमाणित करते हैं, कि **शौरसेनी-प्राकृत सहस्राब्दियो तक इस देश के कोने-कोने मे जनता-जनार्दन की भावनाओं को स्वर प्रदान करती रही एव सतो के सदेश जनसामान्य तक पहुँचाती रही है।**

यह बात अलग है, कि पिछली एक-डेढ शताब्दी से सुनियोजित तरीके से शौरसेनी की घनघोर-उपेक्षा की गयी, तथा 'आगम-भाषा' के रूप मे ऐसी प्राकृत का धुँआधार-प्रचार किया गया, जो कभी 'राष्ट्रभाषा' या 'महाभाषा' तो क्या 'जनभाषा' भी नही रही। अतः गौरवशाली होते हुये भी हमारे ही अज्ञान के कारण उपेक्षित रही 'शौरसेनी प्राकृत' के पुनरुत्थान की भावना से विद्वज्जगत से यह अपेक्षा है, कि वह अपनी भूल को सुधारे, और देश की प्रमुख महाभाषा-राष्ट्रभाषा तथा मूल आगमभाषा 'शौरसेनी-प्राकृत' के स्वरूप, महत्त्व एव व्यापकता को उजागर करे। अन्यथा 'नर-मादा' जैसे प्रयोग, जो देशभर की प्रायः सभी भाषाओ मे मिलते है — अपनी

पहिचान खो बैठेगे। इनमे 'नर' शब्द सस्कृतभाषा का है, तो 'मादा' शब्द शौरसेनी-प्राकृत का है। ऐसे और भी अनेको प्रयोग देशभर में प्रचलित हैं,जो कि सस्कृत एव शौरसेनी-प्राकृत की आर-पार मित्रता, सौहार्द एव पारस्परिक-पूरकता को द्योतित एव सत्यापित करते हैं। विचारो एव शोधार्थियो से निवेदन है, कि वह भारत की इस भाषिक-सहिष्णुता की आत्मा को पहिचाने एव अपनी शोध के द्वारा रेखांकित करे। शौरसेनी प्राकृतभाषा के स्वरूप-विस्तार को समझे बिना भारत की प्रधान साहित्यक-भाषा सस्कृत एव अन्य क्षेत्रीय-भाषाओं के मध्य क्रमिक-विकास एव पारस्परिक-सम्बन्ध का बोध नही होगा। इस तरह भाषायी-आधार पर क्षेत्र-विभाजन की क्षुद्र-राजनीति चलती रहेगी, और भारत की भाषिक-आत्मा के बोध के अभाव मे राष्ट्रिय-एकता एव अखडता का उदात्त-चितन नही हो सकेगा, जो कि वर्तमान-सन्दर्भो मे राष्ट्रिय आवश्यकता है।

सभी भाषानुरागियो से आत्मीयतापूर्ण विनम्र-अनुरोध है, कि वे राष्ट्रभाषा-हिन्दी की 'मातामही' (नानी) शौरसेनी-प्राकृतभाषा के पुनरुत्थान एव विकास की भावना से इस निष्पक्ष एव राष्ट्रिय-महत्त्व के कार्यरूप मे अग्रसर हो, तथा 'नर-मादा' जैसी विपुल शब्द-सम्पदा के मूलरूप को, इसके देश-कालावच्छिन्न व्यापक-प्रसार के महत्त्व को पहिचाने, स्वीकारे एव जनहित मे प्रचारित करे।

कुभासा प्राकृत

तीर्थंकर-परमात्मा की दिव्यध्वनि को 'कु-भासामय' कहा गया है। यहाँ 'कु' पद 'भाषा' का उपसर्ग नही है, अपितु स्वतत्र-पद है, जिसका 'भासा' (भाषा) के पद के साथ षष्ठी-तत्पुरुष-समास करके 'कुभासा' (कुभाषा) पद की निष्पत्ति मानी गयी है। यहाँ इस 'कु' शब्द का अर्थ है — 'सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल'। 'अमरकोशकार' ने पृथ्वी के अन्य पर्यायवाची-नामो मे **"गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी धराऽवनिः मेदिनी..."** कहकर 'कु' शब्द को पृथ्वी का पर्यायवाची-नाम घोषित किया है। इस अर्थ के अनुसार 'कुभाषा' पद का अर्थ है — 'समस्त पृथिवीमण्डल की भाषा', अर्थात् एक ऐसी भाषा, जिसमे समस्त पृथिवीमण्डल की भाषाये समाहित थी। इसी अर्थ मे 'दिव्यध्वनि' को 'कुभाषामय' कहा गया है। भवज्जिनसेनाचार्य लिखते हैं —

"एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषा.।
अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्व बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना॥"

— *(महापुराण, 23/70)*

अर्थ — यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक ही प्रकार की (ऊँकारध्वनिमयी) थी किन्तु उसमे सम्पूर्ण-मनुष्यलोक की भाषाये तथा अन्य बहुत-सी कुभाषाये (सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल की भाषाये) गर्भित थी। वह दिव्यध्वनि दिव्य-अर्थो को ध्वनित करनेवाली होने से अज्ञान को दूरकर तीर्थंकर भगवान् की महिमा से तत्त्वज्ञान का बोध करा रही थी।

'कुभाषा' पद का विश्लेषण करते हुये महाज्ञानी 'आचार्य वीरसेन स्वामी' लिखते है —

"सा दुविहा — भासा, कुभासा चेवि। तत्थ कुभासाओ कीर-पारसिय-सिंघलवव्वरियावीण विणिग्गयाओ सत्तसयभेव-भिण्णओ। भासाओ पुण अट्ठारस हवति ति-कुरु, ति-लाढ, ति-मरहट्ठ, ति-मालव, ति-गउड, ति-मागधभासा-भेवेण।" — *(धवला, पुस्तक 13, पृ 222)*

अर्थ — वह दिव्यध्वनि 'भाषा' और 'कुभाषा' के भेद से दो प्रकार की थी (अर्थात् उस दिव्यध्वनि मे भाषाये और कुभाषायें — दोनों थी)। उनमे काश्मीरी, पारसी, सिहली, बर्वरीकी आदि लोगो के मुखो से निकली हुई सात सौ भेदो मे विभक्त 'कुभाषाये' (लघुभाषाये) है, तथा तीन कुरु-भाषाये, तीन लाढ-भाषाये, तीन मरहठा-भाषाये, तीन मालव-भाषाये, तीन गौड-भाषाये, और तीन मागध-भाषाये — इसप्रकार अट्ठारह (महा) भाषाये होती है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि क्षेत्रीय-भाषाओं को 'कुभाषा' तथा व्यापक-भाषाओ को 'महाभाषा' सञ्ज्ञा दी गयी है। इन सभी की परिगणना 'प्राकृत' के विविधरूपो मे ही हो सकती है। अतः आज की समस्त क्षेत्रीय-जनभाषाये प्राकृतभाषा से ही निःसृत है — यह सिद्ध होता है। अतएव भारतवर्ष की भाषिक-एकता के मूलसूत्र भाषावैज्ञानिक एव व्यावहारिक-तौर पर प्राकृतभाषा मे ही उपलब्ध हे।

विद्वानो ने निर्विवादरूप से प्राकृत-भाषाओ मे शौरसेनी एव मागधी-प्राकृतो को प्राचीनतम-प्राकृत माना है। इनमे भी भाषिक एव व्याकरणिक-ढाँचा शौरसेनी-प्राकृत का ही था, किन्तु उच्चारणगत-प्रभाव के आधार पर आगत-अन्तर के कारण पूर्वी-उच्चारण-भेदवाली वही मूल-प्राकृत 'मागधी' कही गयी। कही-कही तो 'शौरसेनी' को भी 'मागधी' सञ्ज्ञा दी गयी है —

"दिगम्बरः शिवः जैनभेदः, अस्य भाषा प्राकृतान्तरभेदभिन्ना मागधी।"

— *(वाचस्पत्यम्, पृ 26)*

वस्तुतः यह निर्विवाद तथ्य है, कि दिगम्बर-जैन-ग्रन्थो की प्राकृत 'शौरसेनी-प्राकृत' थी, न कि 'मागधी'। किन्तु उच्चारण-भेद के अतिरिक्त 'मागधी' और शौरसेनी' मे कोई भेद-विशेष न होने से शौरसेनी को ही यहाँ 'मागधी' शब्द से अभिहित किया गया।

यह शौरसेनी-प्राकृत नारायण-श्रीकृष्ण एव तीर्थंकर-अरिष्टनेमि (तित्थगर अरिट्ठणेमि) के युग से प्रचलित रही। तीर्थंकर पार्श्वनाथ (पासणाह) एव तीर्थंकर वर्धमान (वड्ढमाण) के युगो मे पुष्पित एव पल्लवित होती हुई बाद मे सूत्रग्रन्थो एव लोक-साहित्य की भी 'माध्यम-भाषा' बनी।

वस्तुत. 'शौरसेनी-प्राकृत' नामकरण तीर्थंकर-अरिष्टनेमि के नामकरण पर आधारित प्रतीत होता है। उनका नाम 'शौरि' कहा गया है —

"कालनेमिनिहा वीरः <u>शौरिः</u> सूरजिनेश्वरः।"

— *(विष्णुसहस्रनाम, 65)*

इनके निवास-क्षेत्र 'शूरसेन' प्रदेश के आधार पर भी इसका नामकरण 'शौरसेनी' माना गया है —

"अत इयमेव सूरसेन-वास्तव्य-जनता किंचिदारोपित-विशेष-लक्षण-भाषा शौरसेनी भण्यते।"

— *(रुद्रटकृत 'काव्यादर्श' सस्कृत टीका, पृ. 223)*

इसीलिये प्राकृत-वैयाकरणो ने भी 'प्रकृतिः शौरसेनी' कहकर इसकी प्राचीनता को स्वीकार किया है। विद्वानो ने तो यह भी माना है, कि प्राकृत-वैयाकरण वररुचिकृत 'प्राकृत-प्रकाश' का अन्तिम-परिच्छेद, जिसमे

'महाराष्ट्री-प्राकृत' का परिचय है, बाद मे जोडा गया है। मूल मे वररुचि ने 'शौरसेनी-प्राकृत' का ही व्याकरण लिखा था, तथा उसीके आधार पर अपने समय मे प्रचलित अन्य प्राकृतो के विशेष-लक्षणो को सकेतित किया था। इसका मूल-आधार उन्होने यह माना है, कि वररुचि के काल मे 'महाराष्ट्री-प्राकृत' का जन्म ही नही हुआ था। इसीप्रकार चण्ड का प्राकृत-व्याकरण भी उन्होने शौरसेनीमूलक ही माना है।

प्राचीनकाल से सस्कृत एव प्राकृतभाषा का यौगपद्य रहा, ये दोनो सहोदरा रही। 'छान्दस्' भाषा से ही लोकतत्त्वों की प्रधानतावाली 'प्राकृतभाषा' तथा शिष्ट एव अति नियमबद्धरूपो की प्रधानतावाली 'ससकृत-भाषा' का विकास हुआ। अत: दोनो मे स्वरूपभेद होते हुये भी अनेको समानताये भी है, यथा — (1) सस्कृत मे 'उपसर्गपूर्वो क्त्वा ल्यप्' के नियमानुसार धातु के पहिले उपसर्ग आने पर सम्बन्धकृदन्तीय 'क्त्वा' प्रत्यय 'लयप्' के रूप मे बदल जाता है। जबकि पाकृत मे ऐसी अनिवार्यता कदापि नही मानी गयी। उसमे पढिदूण, पढिअ — दोनों रूप समानता से व्यवहृत हुये है, किंतु सस्कृत के इस नियम का पूर्णत: सस्कृत मे भी पालन ही हो सकता, तथा प्राकृत के प्रभाववश बिना उपसर्ग के भी 'ग्रह्य, दृश्य' आदि रूप भी 'ग्रहीत्वा-दृष्ट्वा' के स्थान पर मिलते हैं। तथा कही-कही उपसर्ग रहते हुये भी 'क्त्वा' को 'ल्यप्' नही हुआ है; यथा — 'प्रस्कदित्वा'। वास्तव मे प्राकृत मे मिलनेवाले 'दूण' एव ऊण' के प्रयोग सस्कृत के 'त्वा' से नही, अपितु 'छान्दस्' के 'त्वान' प्रत्यय से विकसित है; अतएव इनके अन्त मे अनुनासिक ध्वनि 'ण' (नो ण: सर्वत्र) मिलती है। (2) इसीप्रकार सस्कृत मे 'कृञ् करणे' धातु दो गणो मे गठित है, एक गण के अनुसार इसका रूप 'करोति' बनता है, तथा दूसरे गण के अनुसार इसका रूप 'कृणोति' बनता है। इसका मूल 'छान्दस्' मे निहित है, अत: तदनृसार प्राकृत मे भी 'करदि' एव कुणदि' — दो रूप इस धातु के मिलते है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सस्कृतभाषा एव प्राकृतभाषा का वश एक है, तथा दोनो मे आदिकाल से आर-पार मैत्री है। हाँ! इतना अवश्य है, कि सस्कृत के रूप परिनिष्ठित होने से उनमे परिवर्तन-परिवर्धन सभव नही था, अत: भाषिक-दृष्टि से उसका विकास रुक गया; जबकि शौरसेनी-प्राकृतभाषा से 'महाराष्ट्री' आदि प्राकृते भी विकसित हुईं, तथा उसी से शौरसेनी-अपभ्रश, ब्रजभाषा आदि के क्रम से 'हिन्दी भाषा' का भी विकास हुआ है। अत: शौरसेनी-प्राकृत जहाँ एक ओर हमे अतीत से जोडती है, वही वर्तमान को भी समझाती है, अत: राष्ट्रभाषा को समृद्ध बनाने के लये, भाषाविकास को समझने के लिये 'शौरसेनी-प्राकृत' को पढना-समझना एव इसका प्रचार-प्रसार प्रत्येक भारतीय नागरिक का कर्तव्य है। इसके माध्यम से हम एक रचनात्मक-भविष्य का निर्माण कर सकते हैं।

प्राचीनकाल मे इसका प्रयोग वृहत्तर-भारत के मध्यदेश मे होता था, जिसके अन्तर्गत उडीसा-बगाल-आसाम-बर्मा-काश्मीर-पश्चिम-पाकिस्तान-पजाब-हरियाणा-गुजरात-राजस्थान-महाराष्ट्र-उत्तर-कर्नाटक-आध्रप्रदेश एव इनके मध्यवर्ती भारत के प्रदेश समाहित थे। इस 'मध्यदेश' का परिचय निम्नानुसार है, जहाँ शौरसेनी-प्राकृत का व्यवहार किया जाता था —

मध्यवेश और शौरसेनी-प्राकृत

प्राचीन-विद्वानो ने विभिन्न-क्षेत्रो मे बोली जानेवाली बोलियो एव तत्तचक्षेत्रीय-प्राकृतों का परिचय देते

हुये 'शौरसेनी-प्राकृतभाषा' का व्यवहार-क्षेत्र 'मध्यदेश' बताया है। तदनुसार यद्यपि शौरसेनी का जन्मक्षेत्र शूरसेन-प्रदेश था[1], किन्तु यह सम्पूर्ण-मध्यदेश मे बोली जाती थी। प्राचीनकाल में (ईसापूर्व-काल मे) 'मध्यदेश' किसे कहा जाता था? — इसका अन्वेषण करने के लिये प्राचीन-साहित्य का आलोडन किया गया, तथा 'मध्यदेश' के परिचायक तीन प्रमुख-वर्णन प्राप्त हुये।

अत: इन प्रदेशो की आधुनिक-भाषाये भी निश्चय ही शौरसेनी की शब्द-सम्पदा एव भाषिक-प्रभाव को लिये हुये है। उदाहरण के तौर पर दक्षिण मे प्रचलित सिद्धप्पा-बुद्धप्पा आदि नाम विशुद्ध शौरसेनी के रूप है। अत: सम्पूर्ण भारतीय-भाषाओ के विकासक्रम एव उनकी एकात्मकता को जानने-समझने के लिये शौरसेनी-प्राकृत का बोध परम-आवश्यक है।

प्रथम-वर्णन 'मनुस्मृति' नामक विश्रुत-कृति मे मिला है। इसमे 'मध्यदेश' की सीमाओ को रेखाकित करते हुये कहा गया है कि —

"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत् प्राग् विनशावपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यवेशः प्रकीर्तित.॥"[2]

अर्थ — उत्तर मे हिमालय-पर्वत, दक्षिण मे विन्ध्याचल-पर्वतमाला, पश्चिम मे विनशन[3] (सरस्वती-नदी के लुप्त होने का स्थान) तथा पूर्व मे प्रयागराज के मध्यवर्ती-क्षेत्र को 'मध्यदेश' कहा जाता है।

द्वितीय-वर्णन 'विष्णुपुराण' मे आता है —

"तास्विमे कुरु-पाचाला मध्यवेशावयोजनाः।
पूर्ववेशाविकाश्चैव कामरूपनिवासिनः॥"[4]

अर्थ — पश्चिमोत्तर मे कुरु-पाचाल-प्रदेश[5] तथा पूर्वोत्तर मे कामरूप-देश (वर्तमान असम-प्रान्त) के मध्यवर्ती-देश को 'मध्यदेश' कहा जाता था।

तृतीय-वर्णन 'ब्रह्माण्ड-पुराण' मे प्राप्त होता है —

"शूरसेना-भद्रकारा-बोधाः सह पटच्चराः।
मत्स्याः कुशल्याः सौशल्या कुतलयाः काशि-कोसलाः॥
गोधा भद्राः कलिगाश्च मागधाश्चोत्कलैः सह।
मध्यवेश्या जनपवाः प्रायशः तत्र कीर्तिताः॥"[6]

अर्थ — शूरसेन, भद्रकार, बोधा, पटच्चेर, मत्स्य, कुशल्य, सौशल्य, कुंतल, काशी, कोसल, गोधा, भद्रा, कलिग, मगध एव उत्कल — इतने जनपद 'मध्यदेश' के नाम से कहे गये है।

उपर्युक्त तीनो सन्दर्भों मे तृतीय-सन्दर्भ सर्वाधिक-महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमे मात्र सीमाकन न होकर इस क्षेत्र में आनेवाले प्रत्येक जनपद का स्वतत्र-नामोल्लेख भी किया गया है। किन्तु इन जनपदों के नाम प्राचीन हैं, आजकल ये कहाँ हैं, और इनकी प्रामाणिक-पहचान क्या है? — यह जानने के लिये ऐतिहासिक-सास्कृतिक-साहित्यिक एव पुरातात्त्विक-साक्ष्यों के आलोक में चिन्तन करना अपेक्षित है। अत: इन जनपदो का

प्रामाणिक-परिचय क्रमशः निम्नानुसार है —

1. **शूरसेन** — यह उत्तरी-भारत का प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। 'बाल्मीकि रामायण'[7] के अनुसार लवणासुर के वध के उपरान्त मथुरा के शासक शत्रुघ्न ने अपने पुत्र **शूरसेन** के नाम पर इस जनपद का नामकरण 'शूरसेन-प्रदेश' किया। 'श्रीमद्भागवत' मे भी **यवुराज शूरसेन** का उल्लेख है, जो शूरसेन-जनपद के राजा थे, और इनकी राजधानी रमणीक मथुरा-नगरी थी — **"शूरसेन-यवुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्।"**[8] 'विष्णुपुराण' मे शूरसेन-प्रदेश के अन्तर्गत मथुरा-ब्रज-मण्डल से लेकर आभीर-प्रान्त, सौराष्ट्र तथा अर्बुद (आबू-पर्वत) को परिगणित किया है — **"तथापरान्ता· सौराष्ट्रा. शूराभीरास्तथार्बुवा.।"**[9]

2. **भद्रकार** — यह वर्तमान-मध्यप्रदेश के भिंड-जिले के अटेर-नगर के समीपवर्ती-क्षेत्र का प्राचीन-नाम है।[10]

3. **बोधा** — इसे वर्तमान-उडीसा-प्रान्त मे माना गया है।[11]

4. **पटच्चर** — यह 'अपर-मत्स्यप्रदेश' अर्थात् जयपुर-अलवर रियासतों के पार्श्ववर्ती-प्रदेश का प्राचीन-नाम था। इसे दक्षिणी-पजाब तथा उत्तरी-राजस्थान के बीच का इलाका माना गया है।[12]

5. **मत्स्य** — यह महाभारतकीन प्रसिद्ध-जनपद था, जिसकी स्थिति जयपुर-अलवर रियासतो के मध्यवर्ती-क्षेत्र मे मानी गयी है। उस समय यहाँ का शासक 'विराट' था, तथा राजधानी 'उपप्लव'-नगरी थी।[13] 'मनुस्मृति'[14] के अनुसार उडीसा-प्रान्त के 'सतियापारा' (जिला-मयूरभज) का प्राचीन-नाम 'मत्स्यदेश' था।

6. **कुशल्य** — सभवत: यह 'कुशस्थली' का ही नामान्तर है। यह द्वारिका-नगरी का प्राचीन-नाम था। पुराणो के अनुसार महाराजा-रैवतक ने समुद्र मे कुश बिछाकर यज्ञ किया था, अत: इस नगरी का नाम 'कुशावती' या 'कुशस्थली' हुआ। इसका एक अन्य नाम 'कुशावर्त'-प्रदेश भी है। 'महाभारत[15] के अनुार यह प्रदेश रैवतक-पर्वत से घिरा हुआ है। कहा जाता है, कि जरासध के आक्रमण से बचने के लिये श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर यहाँ आ गये थे, और यही उन्होने द्वारिका का निर्माण कराया।[16]

7. **सौशल्य** — इस प्रदेश का कोई विवरण या सकेत नही मिल पाया है। यह अनुसन्धेय है।

8. **कुंतल** — कनारा या करहाड-प्रदेश का प्राचीन-नाम 'कुतल' था। उत्तर मे नर्मदा से लेकर दक्षिण मे तुगभद्रा-नदी तक विस्तृत-क्षेत्र 'कुतल' कहा जाता था; पश्चिम मे इसकी सीमा अरब-सागर तक, तथा उत्तर-पूर्व एव दक्षिण-पूर्व मे यह गोदावरी-नदी तक विस्तृत था।[17] विसेट स्मिथ के अनुसार कुतल-देश 'वेदवती' और भीमा' नदियो के मध्य स्थित था।[18]

9. **काशी** — मनुवश के सप्तम-नरेश 'काश' के नाम पर इसका नाम 'काशी' पडा। 'विष्णुपुराण'[19] तथा 'वायुपुराण'[20] मे काशी-नरेशों की सूची दी गयी है, जो भरत के पूर्वज-राजाओं के नाम हैं। पुरुवशी-नरेशो के पश्चात् काशी में ब्रह्मदत्तवंशीय-राजाओ का शासन रहा। 'महाभारत' के अनुशासन-पर्व' के अनुसार राजा-दिवोदास ने काशी के समीप वाराणसी-नगरी बसाई थी। इससे काशी-नगरी की प्राचीनता पुष्ट

होती है। 'अगुत्तरनिकाय' के अनुसार बुद्धयुगीन सोलह-महाजनपदों मे काशी एक प्रमुख-जनपद था। 'गुहिलजातक' के अनुसार काशी सम्पूर्ण-भारतवर्ष की सर्वप्रमुख-नगरी थी। इसका विस्तार बारह-कोस था, जबकि प्रसिद्ध इन्द्रप्रस्थ एव मिथिला का घेरा मात्र सात-सात कोस का था। 'तुडलनालि-जातक' के अनुसार काशी के उपनगरो की परिधि लगभग 300 कोस थी, तथा इसके आसपास साठ-कोस का जगल था।[21]

10 **कोसल** — यह उत्तरी-भारत का प्रसिद्ध-जनपद था, जिसकी राजधानी 'अयोध्या' थी। ऋग्वेद[22] मे इसे सरयू-नदी के तट पर स्थित एक बस्ती के रूप मे उल्लिखित किया गया है। रामायणकाल मे कोसल-राज्य की दक्षिणी-सीमा पर 'वेदश्रुति' नामक नदी बहती थी। तब यह देश 'उत्तरी-कोसल' एव 'दक्षिणी-कोसल' — इन दो जनपदो मे विभक्त था। महाकवि-कालिदास ने अयोध्या को उत्तरी-कोसल की राजधानी बताया है — **"सामान्यधात्रीमिव मानस मे संभाव्यमुत्तरकोसलानाम्"**।[23] दशरथ-पत्नी रानी-कौशल्या दक्षिणी-कोसल-प्रात की राजकन्या थी, जो कि रायपुर-बिलासपुर-क्षेत्र मे था। 'अगुत्तरनिकाय' के अनुसार 'कोसल' की राजधानी 'श्रावस्ती' थी।

11. **गोधा** — 'शब्दभेद-प्रकाश' नामक कोशग्रथ मे 'गोदा' से तो 'गोदावरी-नदी' अभिप्राय लिया गया है किंतु 'गोधा' नाम का कोई जनपद या नगर का उल्लेख नही मिल सका है। अत: यह अनुसन्धेय है।

12. **भद्रा** — 'विष्णुपुराण' के अनुसार यह उत्तरकुरु-प्रान्त की एक नदी है, जो पर्वतो को पार करके उत्तरी-समुद्र मे गिरती है।[24] अन्य मान्यता के अनुसार आधुनिक-विद्वान् इसे रूस के साइबेरिया-प्रान्त मे बहनेवाली कोई नदी मानते है। श्री नदलालडे के अनुसार इसका आधुनिक नाम 'मारकद' नदी है। 'विष्णुपुराण' मे इसे मानसरोवर से निकलकर पश्चिमी-भाग मे बहनेवाली नदी भी माना है।[25]

13 **कलिग** — स्थूलत: यह दक्षिण-उडीसा-प्रान्त का प्राचीन-नाम है। महाभारत के **"एते कलिगाः कौन्तेय! यत्र वैतरणी नदी"** — इस उल्लेख से ज्ञापित होता है, कि उडीसा की वैतरणी-नदी से कलिग-देश प्रारभ होता था, तथा इसकी दक्षिणी-सीमा पर गोदावरी-नदी बहती थी, जो इसे आध्र-प्रदेश से पृथक् करती थी। बौद्ध-जातको मे कलिग-प्रात की राजधानी 'दतपुर' बतायी गयी है। किन्तु महाभारतकार ने इसकी राजधानी 'राजपुर'[26] को कहा है। इस प्रात का प्राचीनतम-उल्लेख ई.पू. द्वितीय-शताब्दी के सम्राट्-खारवेल के प्राकृत-शिलालेख मे प्राप्त होता है। 'बाल्मीकि-रामायण' के अनुसार कलिग-प्रात की स्थिति 'गोमती' एव 'सरयू'-नदी के मध्यपूर्वी-उत्तरप्रदेश मे रही होगी। वहाँ इसके पार शालवनो का भी उल्लेख मिलता है।[27]

14. **मगध** — महावीरयुग तथा इसके परवर्ती-काल मे यह उत्तरी-भारत का सर्वाधिक-शक्तिशाली जनपद था। इसकी स्थिति स्थूलरूप में दक्षिण-बिहार प्रान्त मे थी। इसका सर्वप्रथम-उल्लेख 'अथर्ववेद' (5 22 14) मे प्राप्त होता है। इसकी राजधानी 'पाटलिपुत्र' थी, जिसे कालिदास ने 'रघुवश-महाकाव्य' (6 24) मे 'पुष्पपुर' कहा है। इन्दुमती के स्वयवर के समय यहाँ का राजा 'परतप' था। जैन-साहित्य मे मगध-प्रान्त की राजधानी 'राजगृह' बतायी गयी है।[28]

उपर्युक्त-विवरण के अनुसार 'मध्यदेश' का क्षेत्र अति-विस्तृत था, तथा इसमें पश्चिमोत्तर-क्षेत्र में पजाब-सिध प्रान्त, पश्चिम में समुद्रतट (द्वारिका), उत्तर में दिल्ली-हरियाणा, उत्तर-पूर्व मे बर्मा-बगाल तक, दक्षिणपूर्व में उडीसा व आध्रतट तथा दक्षिण मे सुदूरवर्ती-विन्ध्यपर्वतमाला का क्षेत्र समाहित था। तथा शौरसेनी-प्राकृत का जन्म भले ही शूरसेन-प्रदेश मे नारायण श्रीकृष्ण एव तीर्थंकर-नेमिनाथ के युग में हुआ था, किंतु यह अपने वैशिष्ट्य के कारण बहुत विशाल भू-भाग मे व्यवहृत होती थी। साथ ही, ईसा-पूर्वकाल से ही सुदूर-दक्षिण के तमिल-प्रान्त तक मे इस भाषा में साहित्य-सृजन होने लगा था। इसप्रकार व्यवहार की दृष्टि से यह सुविस्तृत-भारतवर्ष की माध्यम-भाषा प्रागैतिहासिक-युग से रही है। अत: इसे सकुचित-मानस से देखने की बजाय व्यापक-दृष्टि से देखे, तो इस भाषा का गौरव समझा जा सकता है। उक्त-विवेचन से यह भी स्पष्ट है, कि इन-इन प्रान्तो मे जब शौरसेनी-प्राकृत बोली जाती रही, तो इनकी क्षेत्रीय-बोलियो मे भी शौरसेनी से प्रभावित एव विकसित विपुल-शब्दराशि अवश्य विद्यमान होगी, जो कि तुलनात्मक-अध्ययनपूर्वक अत्यन्त-सूक्ष्मप्रज्ञा एव सावधानी के साथ अनुसन्धेय है।

ओड्मागधी प्राकृत : एक परिचयात्मक अनुशीलन

ईसापूर्व द्वितीय-शताब्दी के दिग्विजयी-सम्राट् खारबेल ने 'हाथीगुम्फा' शिलालेख' मे अपनी उपाधि के रूप मे 'गधववेदबुधो' कहकर अपने आपको 'गधर्ववेद' या 'गाधर्ववेद' का विशेषज्ञ कहा है। एक महापराक्रमी सम्राट् के लिए परमवीर, विविध अस्त्र-शस्त्र-सचालन विशेषज्ञ, युद्धकला पारगत, प्रजावत्सल, राजनीति-विशारद एव दिग्विजयी जैसी उपाधियाँ तो सबको समझ मे आ सकती है; परन्तु 'गधर्ववेद का विशारद' कहकर अपना परिचय देना कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है। अत: विचार किया कि खारबेल जैसे दिग्विजयी-सम्राट् ने यो ही इस उपाधि का अपने लिये प्रयोग नही किया है; अपितु इसमे कोई रहस्य होना चाहिये। अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि ईसापूर्व-काल मे भारतवर्ष मे 'गधर्ववेद' नामक वेद भी प्रचलित एव 'जनादृत' रहा है; जिसके आधार पर ईसापूर्व द्वितीय-शताब्दी में आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' जैसे महनीय-ग्रथ की रचना की थी। अत: 'गधर्ववेद' का परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से भरतमुनिप्रणीत 'नाट्यशास्त्र' का अनुशीलन करना उचित प्रतीत हुआ।

भरतमुनि ने इसे 'नाट्यवेद' की सज्ञा दी है तथा इसमे भाषा, सस्कृति, अभिनय, नृत्य आदि अनेको कलाओ एव विद्याओ का समावेश माना है। 'नाट्यशास्त्र' मे भरतमुनि ने भारतवर्ष का चार सास्कृतिक-क्षेत्रो मे विभाजन किया है। वे है —

"चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्य प्रतिष्ठिम्।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाचाली चौड्मागधी॥

— *(13/32)*

अर्थात् आवन्ती, दाक्षिणात्या, ओड्मागधी और पाञ्चाली — इन चार वृत्तियो अर्थात् सास्कृतिक-क्षेत्रो मे वर्गीकृत भारतवर्ष में 'नाट्य' की प्रतिष्ठा है। पुन: वे मध्यभारत को अलग से स्वीकृत करते हुये पाँच सास्कृतिक-क्षेत्रों की घोषणा करते है —

"आवती दाक्षिणात्या च तथा चैवौड्मागधी।
पांचाली मध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तय:॥

— *(6/26)*

इसके अनुस्वार 'आवन्ती' पश्चिम भारतीय सस्कृति की, 'दाक्षिणात्या' दक्षिण भारतीय (द्राविड) सस्कृति की, 'पाञ्चाली' उत्तर भारतीय सस्कृति को, 'पाञ्चाली' उत्तर भारतीय सस्कृति को, 'ओड्मागधी' पूर्व भारतीय सस्कृति की तथा 'मध्यमा' मध्य भारतीय सस्कृति की प्रतिनिधि-प्रवृत्तियाँ है।

यहाँ भरतमुनि ने 'प्रवृत्ति' शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है — **"अत्राह—प्रवृत्ति कस्मात्? उच्यते — प्रथिव्या नानादेश-वेश-भाषाचार-वार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।"**

अर्थ — यहाँ कोई पूछता है कि "प्रवृत्ति — इस शब्द का क्या तात्पर्य है? उसका उत्तर देते हुये कहते है कि पृथिवी पर विभिन्न देशो, उनकी वेशभूषा, **उनकी भाषा**, उनकी आचरण-पद्धति एव वार्ता आदि के सम्मिलित रूप की जो ख्यापित/विज्ञापित/अभिव्यक्त करती है; उसे 'प्रवृत्ति' कहते हे।

इनमे आगत 'ओड्मागधी'-प्रवृत्ति जहाँ देश-वेष आदि का समग्र-प्रतिनिधि-पद है, वही यह एक भाषा का भी नाम है। इसे भरतमुनि ने 'ओड्मागधी प्राकृत' या 'ओड्मागधी विभाषा' के नाम से अभिहित किया है।

इसका क्षेत्र-विस्तार बतलाते हुये वे लिखते है कि यह प्रवृत्ति एव भाषा निम्नलिखित देशो मे व्यवहृत होती थी —

"अगाः बगाः कलिगाश्च वत्साश्चैवौड्मागधाः।
पौण्ड्रा नैपालिकाश्चैव अन्तर्गिरी-बहिर्वुराः॥
तथा प्लवंग-माहेन्द्र-मलया-मलवर्तकाः।
ब्रह्मोत्तरप्रभृतयो भार्गवा मार्गवास्तथा॥
प्राग्ज्यौतिषाः पुलिन्दाश्च वैवेहास्ताम्रलिप्तकाः।
प्राशुप्रवृत्तयश्चैव युज्यन्ती चौड्मागधी॥"

— *(13/39-41)*

इसका व्याख्यान करते हुये प्रसिद्ध गवेषी-विद्वान् **डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित** लिखते हैं —

"अग, बग (बगाल), कलिग (दक्षिणी उडीसा), वत्स, ओड्मागध, पौण्ड्र, नेपाल, पर्वतो के मध्यवर्ती एव बहिवर्ती प्रदेश, मलयदेश, ब्रह्मोत्तर देश, प्राग्ज्योतिषपुर (असम-गौहाटी), पुलिद, विदेह और ताम्रलिप्त प्रदेशो के वासी पात्र 'ओड्मागधीप्रवृत्ति' का प्रयोग करते है। इस प्रवृत्ति का प्रयोग पूर्वदिशा के अन्य प्रदेशवासियो द्वारा भी होता है।" — *('भरत और भारतीय नाट्यकला', पृष्ठ 443)*

स्वय **भरतमुनि** भी इस अतिम-वाक्य की पुष्टि मे लिखते है —

"अन्येऽपि वेशाः प्राच्या ये पुराणे सप्रकीर्तिताः।
तेषु प्रयुज्यते ह्येषा प्रवृत्तिस्त्वौड्मागधी॥"

— *(वही, 13/42)*

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'ओड्मागधी' प्रवृत्ति एव उसकी अगभूत 'ओड्मागधी प्राकृतभाषा' का क्षेत्र-विस्तार अत्यन्त व्यापक था।

इस 'ओड्मागधी प्राकृतभाषा' का ईसापूर्व के वृहत्तर-भारतवर्ष के पूर्वी-क्षेत्र मे पूर्णत: वर्चस्व था। यह ने केवल इन क्षेत्रों मे बोली जाती थी, अपितु साहित्य-लेखन आदि भी इसी मे होता था। इसीलिए सम्राट् खारबेल का कलिग-अभिलेख (हाथीगुम्फा शिलालेख) भी इसी 'ओड्मागधी प्राकृतभाषा' में निबद्ध हैं 'ओड्मागधी प्राकृतभाषा' का स्वरूप एव वैशिष्ट्य ने जानने के कारण ही आज के विद्वान् इस अभिलेख के पाठ-निर्धारण भी ठीक ढग से नही कर पाये है।

कई आधुनिक विद्वान् तो इसे 'अर्धमागधी प्राकृतभाषा' मे निबद्ध भी कहकर आत्मतुष्टि का अनुभव कर लेते है। वे यह तथ्य नही जानते है कि आज की कथित 'अर्धमागधी प्राकृत' तो कभी लोकजीवन मे प्रचलित ही नही रही है; इसीलिए लोक-साहित्य एव नाट्य-साहित्य मे उसका कही भी प्रयोग तक नही मिलता है। तब खारबेल जैसे महामतिमान् सम्राट् उस भाषा मे शिलालेख क्यो खुदवाता, जो कि लोकजीवन मे प्रचलित ही नही थी। तथा ईसापूर्वकाल मे तो इस भाषा का अस्तित्व ही नही था। यह तो पाँचवी शताब्दी मे 'वलभी वाचना' के समय कृत्रिमरूप से निर्मित की गयी भाषा है। अत: इसमे सम्राट् खारबेल के शिलालेख के निबद्ध होने का प्रश्न ही नही उठता है।

भाषिक एव व्याकरणिक-दृष्टि से भी यह तथ्य पुष्ट होता है। इस अभिलेख मे सर्वत्र पद के प्रारभ मे 'ण' वर्ण का प्रयोग हुआ है, तथा पद के अत मे 'न' वर्ण आया है। जबकि 'अर्धमागधी' मे पद के प्रारभ मे 'न' वर्ण आता है, तथा अत मे 'ण' वर्ण आता है। वस्तुत: यह प्राचीन शौरसेनी, जो कि दिगम्बर जैनागमो की मूलभाषा है, से प्रभावित मागधी का विशिष्ट रूप है। इसमे 'दन्त्य सकार' की प्रवृत्ति, 'क' वर्ण को 'ग' वर्ण आदेश, 'थ' के स्थान पर 'ध' का प्रयोग एव अकारान्त पु. प्रथमा एकवचनान्त रूपो मे ओकारान्त की प्रवृत्ति विशुद्ध शौरसेनी का ही अमिट एव मौलिक प्रभाव है। चूकि सम्राट् खारबेल जैन-सम्राट् था तथा दिगम्बर जैन निर्ग्रन्थ-श्रमणो के लिए तपश्चरणार्थ अपने खण्डगिरि-उदयगिरि पर्वतो पर गुफागृहो का निर्माण कराया था। वह उन्हे भक्तिपूर्वक आहारदान आदि भी देता था तथा प्रशासनिक-स्तर पर उनका सर्वविध-सरक्षण आदि भी करता था; अत: दिगम्बर-जैन-श्रमणो की भाषा का प्रभाव उसके क्षेत्र मे होना स्वाभाविक ही था।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि आज के अधिकाश विद्वान् 'ओड्मागधी प्राकृत' का नाम भी नही जानते है। अब समय आया है कि हम पूर्वीभारत की इस प्राचीन जनभाषा 'ओड्मागधी प्राकृत' को जाने, पहिचाने, स्वीकार करे। तथा विद्वानो से अपेक्षा है कि वे अपने निष्पक्ष एव तलस्पर्शी-वैदुष्य का प्रयोग इस विस्मृत-प्राय: 'प्राकृतभाषा' के स्वरूप एव परम्परा का निर्धारण करने मे नियोजित करे, ताकि इसका प्रामाणिक एव विशदरूप स्पष्ट हो सके। ❖❖

संदर्भ-सूची

1 "अत इयमेव शूरसेनवास्तव्यजनता किंचिदारोपित-विशेषलक्षणभाषा शौरसेनी भण्यते।"— *('काव्यादर्श' संस्कृत टीका, पृष्ठ 223)*

2 मनुस्मृति, 2/11

3 महाभारत, वनपर्व, 81-111 के अनुसार जहाँ सरस्वती-नदी विलुप्त या अन्तर्हित हो गयी, वह 'विनशन'-क्षेत्र

है। वही (130:4) में इसे 'निषाद-राष्ट्र का द्वार' भी कहा गया है। विद्वानो ने आधुनिक-प्रात के 'बड़ौदा'-जिले के अन्तर्गत 'सिद्धराज' नामक स्थान के निकटवर्ती 'बिंदुसार'-तीर्थ को 'विनशन' माना है। — *(द्र, ऐतिहासिक स्थानावली, पृ 859)*

4. विष्णुपुराण, 2.3.15
5. कुरुप्रदेश 'दिल्ली-मेरठ' क्षेत्र था, तथा पाचाल-प्रदेश वर्तमान उत्तर-प्रदेश के बरेली-बदायूँ और फरुखाबाद जिलो से परिवृत-प्रदेश का प्राचीन-नाम था। इन्हे ही समवेतरूप मे 'कुरु-पाचाल' कहा गया है।
6. ब्रह्माण्डपुराण, 2 16 41-42, पृष्ठ 34
7. बाल्मीकि-रामायण, उत्तरकाड 70-6
8. श्रीमद्भागवत, 10.1 27-28
9. विष्णुपुराण, 2.3 16.
10. द्र , ऐतिहासिक-स्थानावली, पृष्ठ 655.
11. द्र , वही, पृष्ठ 949
12. द्र, वही, पृष्ठ 520
13. द्र , वही, पृष्ठ 697
14. मनुस्मृति, 2 19
15. महाभारत, सभापर्व, 14-50
16. द्र , ऐतिहासिक-स्थानावली, पृष्ठ 212
17. द्र , वही, पृ 196
18. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ 156
19. विष्णुपुराण, 4 8 2-10
20. वायुपुराण, 2 21 74
21. द्र., ऐतिहासिक-स्थानावली, पृष्ठ 185-186
22. ऋग्वेद, 4 30 18
23. रघुवश-महाकाव्य, 13 62
24. विष्णुपुराण, 2 2 37
25. महाभारत, वनपर्व, 114 4
26. महाभारत, शांतिपर्व, 4 3
27. बाल्मीकि-रामायण, अयोध्याकाड, 71/16
28. द्र , ऐतिहासिक-स्थानावली, पृष्ठ 691-693
29. द्र , वही, पृष्ठ 89

❖❖

हमारी प्राकृतभाषा*

प्रस्तुत-निबन्ध आज से लगभग 5-6 दशक-पूर्व मुम्बई से नियमितरूप से प्रकाशित मासिक शोध-पत्रिका 'जैन-हितैषी' (सम्पादक-प नाथूराम प्रेमी) मे प्रकाशित किया गया था। उसमे लेखक का नाम अंकित नही है। इस कारण प्रतीत है कि सभवत: इसे उसके सम्पादक (स्व प प्रेमी जी) ने लिखा होगा। यह ऐसा समय था, जब प्राकृत पठन-पाठन से दूर थी। प्राकृत के ग्रन्थ प्राय: प्राच्य शास्त्र-भण्डारो के वेष्ठनो मे बन्द थे। मुद्रणालयों मे उनका मुद्रण अविनय की कल्पना से बहुत अधिक प्रशस्त-कार्य नही माना जाता था। अत: साधनाभावो के बीच भी लेखक ने प्राकृतभाषा की उपेक्षा एव दु स्थिति के विषय मे जो अनुभव किया, उसे उसने व्यक्त करने का सराहनीय-प्रयत्न कर उस समय उसमे कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किये थे। अपने सहृदय-पाठको की जानकारी हेतु उस दुर्लभ-निबन्ध को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। **— सम्पादक**

वर्तमान मे हम देखते है, कि प्राकृतभाषा की बडी ही शोचनीय-अवस्था है। सस्कृत-भाषा के जाननवाले तो इस समय चार-छह हजार मिल भी सकते है, परन्तु प्राकृतभाषा के जाननेवाले शायद सारे भारतवर्ष मे सौ-पचास भी नही निकलेगे। जो भाषा किसी समय भारत की मुख्य-भाषाओ मे एक थी, और जगत् के समस्त-जीवो के उद्धार के लिये त्रिलोकीनाथ-तीर्थंकरदेव की वाणी द्वारा बिखरी थी, तथा जिसमे जैन-साहित्य का एक सबसे बडा-भाग गूँथा हुआ रखा है, उसकी इस मृतप्राय:-अवस्था से पाठको! जानते हो, किसे अधिक शोक होना चाहिये? प्राकृतभाषा वेदान्तियो की नही, नैयायिको की नही है, बौद्धो की नही है, और पौराणिकों की भी नही है। फिर उन्हें क्यों इसका दु:ख होने लगा? यह पूजनीय-भाषा जैनियों की है। महावीर-भगवान् ने इसको अपनाकर पवित्र किया था, और उनके पीछे के आचार्यों ने अपनी विद्वत्ता से नाना-ग्रथ रचकर इसको पुष्ट किया था। इसलिये इसकी कुछ चिन्ता हो सकती है, तो जैनियो को हो सकती है। परन्तु जैनियो की ओर देखिये, तो उन्हे इसका कुछ ध्यान ही नही है। मानो वे यह जानते है, कि पूजन-पाठ मे दस-पाँच शुद्ध-अशुद्ध गाथाये पढने के सिवाय उनका कुछ इस भाषा से और भी नाता है। सस्कृत-भाषा के लिये तो वे थोडा-बहुत कुछ करते भी है। दो-चार पाठशालाये भी खोल रखी है, परन्तु इसकी ओर तो भूल करके भी नही देखते। इसका कारण हमारी समझ मे यही हो सकता है, कि जैनसमाज सस्कृत-भाषा को ही अपनी 'धार्मिक-भाषा' समझती है। परन्तु यथार्थ मे यह भ्रम है। सस्कृत-भाषा हमारी धार्मिक-भाषा उस समय से बनी है, जबकि प्राकृतभाषा परिवर्तन करते-करते ऐसा रूप-धारण करने लगी थी, जो उसके असली-रूप से ऐसा भिन्न था, कि पहिचाना भी नही जा सकता था। यह भिन्न-रूप जब सर्वसाधारण की बोलचाल मे आने लगा, और पुराना-रूप समझने मे कठिनाई होने लगी, तब विद्वानो ने पुराने-रूप मे गूँथे हुये ग्रन्थरत्नो को उपयोगी बनाये रखने के लिये उन पर सस्कृत-टीकाये बनाईं, अथवा उनका अनुवाद सस्कृत मे कर डाला। और फिर, जो विद्वान् हुये, वे बहुत करके सस्कृत मे ही ग्रथ-रचना करने लगे। जब प्राकृतभाषा साधारण-बोलचाल की भाषा नही रही, तब उसका स्थान नई बनी हुई भाषाओ ने ले लिया। यह स्मरण रखना चाहिये कि सस्कृत-भाषा एक

स्थिर-भाषा है, वह अपने व्याकरण के नियमों से ऐसी जकड़ी हुई है, कि जरा भी इधर-उधर नहीं हो सकती है। यही कारण है कि आज की संस्कृत और दो हजार वर्ष की पुरानी-संस्कृत में कुछ भी भेद नहीं है। परन्तु प्राकृतभाषा ऐसी नही है। उसके नियमों मे परिवर्तन होने की बहुत बड़ी गुंजाइश थी। **दिगम्बरों के ग्रन्थ उस शौरसेनी-प्राकृत में हैं, जिससे कि मागधी आदि प्राकृतों का जन्म हुआ है।**

वर्तमान में हमारे जो ग्रन्थ दिखलाई देते है, वे प्रायः सस्कृत मे ही हैं। परन्तु इससे यह नही समझना चाहिये, कि हमारा सारा-साहित्य इसी मे है। नही, प्राकृतभाषा का जैनसाहित्य यदि खोज किया जायेगा, तो हमको विश्वास है कि सस्कृत से भी बड़ा निकलेगा। इस समय संस्कृत का आधिक्य दिखलाई देने का कारण यह जान पडता है, कि प्राकृतभाषा के जाननेवालो का प्रचार न्यूनाधिक्य 700-800 वर्ष से कम हो गया है। इसलिये इन 700-800 वर्षों मे शायद ही दस-बीस ग्रन्थ प्राकृत मे रचे गये होगे। परन्तु सस्कृत मे हजारो ही ग्रन्थ रचे गये, और विद्वानो ने उन्ही का प्रचार करने का प्रयत्न किया है तथा वे ही अब तक पठन-पाठन मे आते रहे हैं। फिर यदि प्राकृत के ग्रन्थो का भडार हमारी दृष्टि से परे हो गया, और सस्कृत की ही अधिकता दिखाई देने लगी, तो क्या आश्चर्य है?

यद्यपि प्राकृतभाषा का ग्रन्थ-भण्डार जितना बडा था, अब उतना नही मिल सकता है, क्योंकि इन कई शताब्दियो से उसकी ओर किसी ने दृष्टिपात भी नही किया है, इसलिये उसका बहुत बडा-भाग नष्ट हो गया होगा। तो भी, यदि प्रयत्न किया जाये, तो अब भी बचा-बचाया बहुत मिल सकता है। यद्यपि जिनसेन-स्वामी के 'आदिपुराण, हरिवशपुरण' तथा रविषेण के 'पद्मपुराण' का ही लगभग हजार-वर्ष से पठन-पाठन हो रहा है, तो भी ईडर आदि के भण्डारो मे अब भी श्रीपुष्पदन्त-कवि के प्राकृत 'आदिपुराण', 'हरिवशपुरण' आदि सुरक्षित है। इसी तरह अन्यान्य-ग्रन्थ भी प्राचीन-भण्डारो मे पता लगाने से मिल जायेगे।

आचार्य उमास्वामी आदि आचार्यों के दो-चार ग्रन्थो का छोड़कर जैनियो के जितने सस्कृत-ग्रन्थ मिलते है, वे प्रायः विक्रम की पाँचवी-छठी शताब्दी के पश्चात् के मिलते हैं। इसके पहले के सस्कृत-ग्रन्थ नही मिलते है। इसका हमारी समझ मे एक यह भी कारण है, कि उस समय के ग्रन्थ प्रायः प्राकृतभाषा के ही थे, और इस भाषा का पाठन पीछे कम हो गया था। इसलिये उस समय के ग्रन्थ या तो उपसर्गों के आने से नष्ट हो गये, या कही मौजूद होगे, तो प्रकट नही हैं।

प्राकृतभाषा सस्कृत की अपेक्षा बहुत ही सरल है। थोडा-परिश्रम करने से यह बहुत ही जल्दी आ सकती है। ढूँढियो के साधु सस्कृत को बिना पढे ही प्राकृतभाषा मे निपुण हो जाते है, क्योंकि उनके यहाँ प्राकृत-सूत्रो के पठन-पाठन की पद्धति अधिक है। हमारे यहाँ भी जो विद्वान् गोम्मटसारादि सिद्धान्त-ग्रन्थ पढते है, वे प्राकृतभाषा बहुत-कुछ समझने लगते हैं। हेमचन्द्र आदि विद्वानो के बनाये हुये प्राकृतभाषा के अनेक व्याकरण भी है, जिन्हे पढ़ने से प्राकृत का ज्ञान हो सकता है। यदि प्राकृतभाषा के पढने मे कोई कठिनाई हो, तो यही है, कि इसके पढानेवाले बहुत कम मिलते है, और लोगो की अभिरुचि भी इस ओर कम है।

प्राकृतभाषा के विषय मे इतना परिचय देकर अब हम जैनसमाज से प्रार्थना करते है, कि वह इस मृतप्रायःभाषा का उद्धार करने का प्रयत्न करें। अपनी पाठशालाओ मे इसके पठन-पाठन को एक आवश्यक-विषय

समझकर जारी कराये, और जिन विद्यार्थियो की रुचि हो, उन्हे सस्कृत के समान इस एक ही भाषा मे निष्णात होने के लिये भी सहायता दे। जैनी तथा अन्यधर्मी भाषा-पंडितों से नई पद्धति का एक सरल ओर विस्तृत-व्याकरण तथा थोडी-सी क्रमिक-पुस्तके तैयार कराये, जिन्हे पढकर विद्यार्थी सहज ही इस भाषा मे दक्षता प्राप्त कर ले। सबसे बडा भारी उद्योग इस विषय मे यह होना चाहिये, कि सरकारी यूनीवर्सिटियो मे जिसप्रकार से हिन्दुओं की 'सस्कृत', मुसलमानो की 'अरबी', और पारसियो की 'जिन्द' आदि भाषाये सेकिन्ड-लेग्वेज होकर भर्ती है; उसीप्रकार से प्राकृतभाषा भी भर्ती हो जाये। यूनीवर्सिटियो मे भर्ती हो जाने से प्राकृत की आशातीत-उन्नति हो सकती है, और हमारे प्राचीन-साहित्य की ओर ससार की दृष्टि बहुत कुछ आकर्षित हो सकती है। इस उद्योग मे हम अपने श्वेताम्बरी-भाइयो के साथ मिलकर लग सकते है, क्योंकि इस भाषा के सम्बन्ध मे हमारा और उनका स्वार्थ एक ही है। हमने सुना है कि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के कुछ सज्जन इस प्रयत्न मे बहुत दिन से लगे हुये है।

अन्त मे हम अपने अन्य सहयोगियो से इस विषय मे आन्दोलन करने की प्रार्थना करके इस लेख को समाप्त करते है। ❖❖

---

* यह आलेख 'जैनहितैषी' से साभार उद्धृत है। वहाँ मूल मे लेखक का नाम न होने के कारण यहाँ भी लेखक/लेखिका का नाम नही दिया जा रहा है। इस हेतु खेद है।

विद्याध्ययन की विधि

"ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमतरवर्शने, ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसख्यानसग्रहः।
यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छवः, उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती॥

— (आचार्य जिनसेन)

अर्थ *— तदनन्तर पाँचवे वर्ष मे कोमलमति-बालक को सर्वप्रथम अक्षरो का दर्शन कराने के लिए 'लिपिसख्यान' नाम की क्रिया की विधि की जाती है।*

इस क्रिया मे भी अपने वैभव के अनुसार सरस्वती-पूजा आदि की सामग्री जुटानी चाहिये और अध्ययन करने मे कुशल-चारित्रवान् गृहस्थाचार्य को ही उस बालक के उपाध्याय (अध्यापक) के पद पर नियुक्त करना चाहिये। ❖❖

प्राकृत-भाषा का महत्त्व

✍ (स्व.) पं. बेचरदास दोशी

यद्यपि प्राकृतभाषा अपने महत्त्व को सिद्ध करने के लिये किसी व्यक्ति के वचनों की अपेक्षा नहीं रखती है, उसका महत्त्व तो स्वतः सिद्ध है; किंतु उस महत्त्व को जनसामान्य समझे और स्वीकार करे — इस निमित्त सुयोग्य-विद्वानो के महनीय-लेखों की अनिवार्य-आवश्यकता है। एक विश्वविख्यात प्राकृतवेत्ता भाषाशास्त्री-विद्वान् की लेखनी से लिखा गया यह आलेख अपने लक्ष्य की पूर्ति में अवश्य समर्थ सिद्ध होगा।

— सम्पादक

मानवता के समर्थक महावीर तथा बुद्ध के प्रवचनो के आधार पर प्राकृत-साहित्य का प्रवाह शुरू हुआ, और इतना बढा कि प्राकृत-साहित्य का भडार आकण्ठ भर गया। आत्मा-परमात्मा, कर्म दुःख-सुख, सस्कार, जगत् की व्यवस्था तथा निर्वाण-सबधी मानव-धर्म से लेकर आन्वीक्षिकी, राजनीतिक, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, अलकार, छद, काव्य, कथा, चरित्र, पुराण, रसायन, शिल्प, वास्तु, व्याकरण, ज्योतिष, सामुद्रिक — इत्यादि अनेक आध्यात्मिक और लौकिक — ऐसा कोई विषय अछूता नही रहा, जिसका विचार-विमर्श प्राकृत-साहित्य मे न हुआ हो। भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध के दिये हुये लोकभाषामय-प्रवचनो के आधार पर उनके अनुगामी अनेक स्थविरो ने, आचार्यों ने पण्डितो ने, अद्यावधि-पर्यन्त प्राकृत-भाषा मे साहित्य की रचना करना चालू रखा है, और प्राकृत-भाषा की अनुपम-सेवा की है। अतः आज से लगभग 2500 वर्ष पहले के इन दोनो महापुरुषो पर लोकभाषा की प्रतिष्ठा के सुयश का प्रथम-कलश चढा है, और हम लोगो पर भी उन महापुरुषो का कितना बडा ऋण किवा उपकार रहा है, यह कौन विद्वान् नही जानता? ऐसी स्थिति मे हमारा परम-कर्तव्य हो जाता है, कि हम प्रयत्न करके उस ऋण को चुकाने मे समयानुसार-प्रवृत्ति करने लग जायें।

किसी-किसी भाषा का विशेष-नाम जाति या देश के नाम से प्रचलित होता है, जैसे 'गुजराती'-भाषा का नाम 'गुज्जर'-जाति के नाम से तथा, 'हिन्दी' यह नाम 'हिन्द'-देश के नाम से प्रचलित है। परन्तु सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश — ये तीनो नाम किसी भी जाति व देश के नाम से सम्बन्ध नही रखते। वास्तव मे ये नाम पंडित लोगो ने अपनी भाषा की विशेष-प्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रचलित किये हैं। महाभाष्यकार पतजलि-मुनि भी लौकिक-शब्दों का अनुशासन कर रहे है, पर उन्होंने कहीं भी ऐसा नही बताया, कि सस्कृत-शब्दो का अनुशासन करता हूँ, और प्राचीन से प्राचीन कोशकार ने भी कही भी ऐसा उल्लेख नही किया, कि सस्कृत-शब्दो का कोष बना रहा हूँ। भाषा का नाम तो 'भाषा' अथवा 'लोकभाषा' अथवा 'राष्ट्रभाषा' है। पर जब से आम-जनता से पडित लोगो ने अपना चौका अलग-अलग जमाना शुरु कर दिया, तब से उन्होने सामान्य-जनता की भाषा का 'प्राकृत' अथवा 'अपभ्रश' नाम रखा, और अपनी भाषा को 'सस्कृत' नाम दिया। भाषा की सुव्यवस्था के हेतु व्याकरण-शास्त्र की रचना हुई, और व्याकरण के नियमो से अनियंत्रित-भाषा को प्राकृत, अप्रभश या असाधु नाम दिये गये।

प्रकृतिः स्वभावः तत आगतम् तत्र भव वा प्राकृतम्" अर्थात् जिस मनुष्य को जो भाषा-स्वभाव सिद्ध

है, जन्मजात-प्राप्त है, वह भाषा उसके लिये प्राकृत है; चाहे वह कोई भी भाषा हो। यह 'प्राकृत' शब्द का यौगिक अर्थ-गुणनिष्पन्न अर्थ है। प्रस्तुत-लेख में इस अर्थ की विवक्षा नही की गई है, परन्तु भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध ने जिस भाषा को अपने धर्म-प्रवचनों के लिये माध्यम बनाया, उस भाषा की विवक्षा प्रस्तुत में 'प्राकृत' शब्द से अपेक्षित है, और यही अर्थ प्राकृत-शब्द का यौगिकरूढ-अर्थ है। यही प्राकृत-भाषा आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले मगध-बिहार आदि प्रदेशों मे लोकभाषा के रूप में प्रचलित थी। उसके प्रवाह में जब विशेष-परिवर्तन होने लगा, और वह बोलचाल की न रहकर मात्र साहित्य की भाषा बनी, जिनके अनेक व्याकरण बने, तो उसका 'प्राकृत' नाम रूढ हुआ। देश-भेद से शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा चूलिका-पैशाची ऐसे अनेक भेद दिखाये गये। इन प्रांतिक-भाषाओ मे परस्पर उतना अधिक अन्तर नही, जितना उच्चारण-विषयक अन्तर है। यह साधारण प्राकृत-भाषा से उनकी व्यावृत्ति करने के लिये पर्याप्त है।

'प्राकृत' शब्द स्वाभाविकता का सूचक है, और 'सस्कृत' शब्द सस्कार का सूचक है। "जिसका सस्कार किया है, वह सस्कृत" — ऐसा व्युत्पत्यर्थ होने से उल्टा 'सस्कृत' शब्द मे उत्पत्ति का भाव रहा हुआ है। इसके बदले प्राकृत को तद्भव कहना 'प्राकृत' शब्द के गौण-अर्थ की दृष्टि से किसी-प्रकार अनुकूल नही है, और युक्तियुक्त भी नही। अतः प्राकृत के दो भेद ही उचित है — एक तो सस्कृत-सम और दूसरा देश्य। प्राकृत मे जो शब्द-समूह व्यवहृत होता है, उसमे कई हजार ऐसे शब्द हैं, जिनका साम्य सस्कृत-शब्दो के साथ अक्षरक्षः है, जैसे — ससार, धीर, तीर, अनल, समोह, धूमिल, हरण, समीर, माया, रसा, दारण, सार, सीर, दाह, दाव इत्यादि अनेकानेक शब्द इसप्रकार के है। कई हजार शब्द ऐसे हैं, जिनका साम्य सस्कृत-शब्दो के साथ अशतः है — हत्थी, मह, नाह, घड, पड, पास, मढ चास, वास, (व्यास) इत्थी, विलया, घूआ, बहिणी, माउसिआ आदि शब्द भी अशतःसाम्यवाले शब्दो की कोटि मे समा सकते है। अतः प्राकृत-शब्दो के सस्कृतसम और देश्य — ये दो भेद ही पर्याप्त है। देशी अर्थात् प्राचीन-शब्द, जिनमे प्रकृति और प्रत्यय-पृथक्करण व्याकरण की अपेक्षा से नही हा सकता या नही दिख पडता।

जो लोग सस्कृत-भाषा से, सस्कृत-शब्द-समूह से परिचित थे, वे ही लोग प्रायः पूर्वकाल मे प्राकृत-भाषा को पढते थे। उनके अध्ययन की विशेष-सुगमता के लिये यह बताया गया है, कि सस्कृत-शब्द 'घट', 'पट' इत्यादि मे 'ट' का 'ड' बोलने से प्राकृत-भाषा के हो जाते है, वैसे ही 'श' का 'स', 'विषम' का 'विसम', 'नाथ' का 'णाह', 'मेघ' का 'मेह' इत्यादि रूप से बोलने से वे सारे शब्द प्राकृत-भाषा के हो सकते है। तात्पर्य यह है कि जिनका सस्कृत का परिचय है, उनको प्राकृत के अभ्यास की सुगमता के लिये बताया गया है, कि सस्कृत को प्रकृति मानो, और अमुक-प्रकार का परिवर्तन करो, तो प्राकृतभाषा का अभ्यास सुगमता से हो जायेगा। इसी दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र आदि ने 'प्रकृतिः सस्कृतम्' और तद्भव-शब्द की कल्पना की है। **वास्तव मे प्राकृतभाषा सस्कृत से पैदा नही हुई है**, और न पैदा हो सकती है। अतः सस्कृत जाननेवाले लोगो को प्राकृत-भाषा का अध्ययन सुगम हो, इसी को ध्यान मे रखकर उनका उक्त वचन 'प्रकृतिः सस्कृतम्' को सगत करना चाहिये, और तद्भव-भेद को अध्ययन की कोटि से निकालकर विद्यार्थियो को उक्त-रीति से प्राकृत समझानी चाहिये। ❖❖

प्राकृतभाषा का वैशिष्ट्य

✍ महामहोपाध्याय पं. बलदेव उपाध्याय

पंडित बलदेव उपाध्याय जी भारतीय-सस्कृति, इतिहास, दर्शन एवं साहित्य के उद्भट वयोवृद्ध प्रमाणपुरुष होने के साथ-साथ सिद्धहस्त-लेखक भी है। उनकी लेखने से प्रसूत अपरिमित-साहित्य से उनका अगाध- वैदुष्य झलकता है। सबसे बड़ी विशेषता उनके लेखन की यह है, कि उसमे तथ्यो की निष्पक्ष एव प्रामाणिक, पूर्वाग्रहरहित-प्रस्तुति हुई है। महाकवि-शूद्रक प्रणीत 'मृच्छकटिकम्' नामक नाटक मे प्रयुक्त प्राकृतो की सुन्दर-समीक्षा सप्रमाण उनके इस आलेख मे प्रतिबिम्बित है। — सम्पादक

'मृच्छकटिक' प्राकृतभाषा की दृष्टि से एक नितान्त-उपादेशरूपक है। यहाँ जितनी भाषाये तथा विभाषाये प्राकृत की उपलब्ध होती है, उतनी अन्य किसी नाटक मे नही। जान पडता है, कि भरत के भाषाविधान (नाट्यशास्त्र, अध्याय 18) को लक्ष्य मे रखकर शूद्रक ने इन भाषाओ का प्रयोग भिन्न-भिन्न पात्रो के भाषणो के लिये किया है। टीकाकार पृथ्वीधर के कथनानुसार इस प्रकरण मे शौरसेनी, मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शकारी, चाण्डाली तथा ढाक्की — इन सात-प्राकृतो का प्रयोग किया है, जिनमे से प्रथम चार को वह 'भाषा' मानता है, तथा अन्तिम तीन — शकारी चाण्डली तथा ढाक्की को 'विभाषा'।

वररुचि जैसे मान्य प्राकृत-व्याकरण के कर्ता ने 'विभाषा' के 'भाषा' से पार्थक्य तथा वैशिष्ट्य का समुचित-प्रतिपादन नही किया है। 'विभाषा' या तो वह प्राकृतभाषा है, जो कवि के द्वारा किसी पात्र-विशेष की बोलचाल के लिये ही कल्पित की गई है, अथवा जिसमे नियमो का बाहुलकात् प्रयोग होता है।

पृथ्वीधर के अनुसार सूत्रधार, नटी रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, श्रेणी तथा शोधनक (11 पात्र) 'शौरसेनी' बोलते हैं। सवाहक, तीनो चेट, भिक्षु तथा रोहसेन (छह पात्र) 'मागधी' का प्रयोग करते है। वीरक तथा चन्दन 'अवन्ती' बोलते है, तो विदूषक 'प्राच्या' बोलता है। शकार की भाषा 'शाकारी' है, दोनो चाण्डालो को 'चाण्डाली', माथुर और द्यूतकर की भाषा 'ढाक्की' है। इन भाषाओ मे 'शौरसेनी' तथा 'मागधी' तो सुप्रख्यात तथा बहुशः व्याख्यात-भाषाये हैं। 'अवन्ती' तथा 'प्राच्या' का पृथ्वीधर द्वारा विहित-लक्षण नितान्त-अशुद्ध है, क्योंकि यह लक्षण इन पात्रो की भाषाओ में नही मिलता। मार्कण्डेय कवीन्द्र (16वी शती) ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' मे इनके शुद्ध-लक्षण देने की कृपा की है। उनके मतानुसार 'प्राच्या' की प्रकृति शौरसेनी है, अर्थात् शौरसेनी के आधार पर कतिपय-परिवर्तनो से 'प्राच्या' निष्पन्न होती है। इन नियमो मे — 'मूर्ख' का 'मुरुक्ख', 'भवति' का 'भोदि', 'वक्र' का 'बक्कु' या 'बकुभ', नीच-पात्र के सम्बोधन मे आकार का दीर्घत्व आदि कतिपय मान्य-नियम है। 'आवन्ती',महाराष्ट्री तथा शौरसेनी के मिश्रण से निष्पन्न-भाषा है, जिसमे सदृश=सरिच्छ, क्त्वा=तूण, दृश=पेच्छ अथवा दरिस, भविष्यसूचक-प्रत्यय 'ज्ज' या 'ज्जा' (भोज्ज, भोज्जा=भविष्यति) आदि मुख्य है।

लेखक की तो यह दृढ-धारणा है, कि इन भाषाओं के प्राचीन-लक्षणो का निर्देश किसी कारण से नष्ट

हो गया था, और इसीलिये इस नाटक में उपलब्ध तत्तत्-भाषाओं के समीक्षण पर ही मार्कण्डेय ने अपना नियम बनाया है। इसीलिये वे नियम पूरे-तौर से न मिलते हैं, न सुसगत होते है।

मागधी मे शकार तथा ककार की बहुलता लाने से 'शाकारी' बनती है, जो शकार के ऊटपटांग अनर्गल-भाषा के लिये शूद्रक के द्वारा 'कल्पित'-भाषा है। 'चाण्डाली' की भी यही दशा है। 'ढाक्की' वस्तुतः ढक्क-देश की भाषा थी, जो पजाब का पूर्वी-भाग (ढाका) माना जाता था। इस भाषा मे उकार की इतनी बहुलता है, कि यह अपभ्रश की ओर सचमुच ढलती है। मार्कण्डेय कवीन्द्र ने किसी 'हरिश्चन्द्र' नामक प्राकृत-वैयाकरण की सम्मति दी है, जो 'ढक्की' को सचमुच 'अपभ्रश' ही मानते है।[1] भरत के द्वारा निर्दिष्ट उकारबहुला-भाषा हिमवत्, सिन्धु-सौवीर देशो मे बोली जाती थी।[2] लेखक की सम्मति मे ढक्क-देश सिन्धु-सौवीर से मिला-जुला पंजाब का पूर्वी-भाग प्रतीत होता है, और इसीलिये दोनो की भाषाओ मे साम्य होना उचित ही है। ❖❖

संदर्भ-सूची

1 टाक्की स्यात् सस्कृत शौरसेनी चान्योन्यमिश्रिते।
हरिश्चन्द्रस्त्विमां भाषामपभ्रंश इतीच्छति।।
(अपभ्रशो हि विद्वद्भिर्नाटकादौ प्रयुज्यते) — *(प्राकृतसर्वस्व, 16/188)*

2 हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिता·।
उकारबहुला तेषु नित्य भाषा प्रयोजयेत्।। — *(नाट्यशास्त्र)*

❖❖

व्याकरण की महिमा

'नागो भाति मदेन क जलरुहैः पूर्णेन्दुना शर्वरी।
वाणी व्याकरणेन हसमिथुनैर्नद्यः सभा पडितैः।।
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरम्।
सत्पुत्रेण कुल नृपेण वसुधा लोकत्रय धार्मिकै·।।'

__अर्थ__ — गजराज अपने मद से, नीर कमलसमूह से, रात्रि पूर्ण-चन्द्रमा से, __वाणी व्याकरण__ से, नदियाँ हस-मिथुन से, सभा पडितो से, स्त्रियाँ शील से, अश्व वेग से, घर नित्य होते रहनेवाले उत्सवो से, कुल सुपुत्र से, पृथ्वी राजा से और तीन लोक धार्मिको से शोभायमान होते है।

__साराश__ — लोग यह मिथ्या-प्रचार करते है कि ताम्बूल (पान) मुख की शोभा-वृद्धि करता है। मुख का वास्तविक-आभूषण तो एकमात्र वाणी-अलकरण 'व्याकरण' है।

'ऋग्वेद' मे भाषा के परिष्कार को 'अभ्युदय का हेतु' बतलाया है। ❖❖

शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषा का मूल्यांकन

✍ प. हीरालाल सिद्धान्ताचार्य

यह गवेषणापूर्ण आलेख श्वेताम्बर-जैन-तेरापन्थी-परम्परा के तत्कालीन आचार्यश्री तुलसी जी एव युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के दिशानिर्देशन मे निर्मित पुस्तक 'सस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा' मे पृ. 279 से पृ. 286 तक मुद्रित है। इसे विद्वद्वर्य प. हीरालाल जी सिद्धान्ताचार्य से निवेदनपूर्वक लिखाया गया था। तथा इसे इस पुस्तक मे अविकलरूप से स्थान मिलना निर्देशको, सम्पादको एव प्रकाशको के द्वारा इसकी प्रामाणिकता की पुष्टि करता है। इसका प्रथम प्रकाशन सन् 1977 ई मे हुआ था। आज दिगम्बर-जैन-आगमग्रथो की भाषा को 'शौरसेनी' कहने पर आपत्तिजनक-शब्दावलि का प्रयोग करनेवाले तथाकथित विद्वानो को यह तथ्यपूर्ण-आलेख मननीय है। **— सम्पादक**

आचार्य हेमचन्द्र ने 'महाराष्ट्री प्राकृत' से विभिन्नता बतलाते हुए 'शौरसेनी प्राकृत' की विशेषताओ का कुछ वर्णन अपने 'प्राकृत-व्याकरण' मे किया है। परन्तु यह नाम कैसे पडा, इसका कुछ उल्लेख उन्होने नही किया है। षड्भाषाचन्द्रिकाकार ने उसका स्वरूप इसप्रकार बतलाया है — **'शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते'** अर्थात् शूरसेन देश मे उत्पन्न हुई भाषा 'शौरसेनी' कही जाती है। यह 'शूरसेन देश' कौन सा है? — यह विचारणीय है। 'पन्नवणासूत्र' के —

"सात्तियमइया चेवी वीतभयं सिंधुसोवीरा।
महुरा य सूरसेणा पावा भगीय मासपुरिवट्टा॥"

इसकी टीका करते हुए **आचार्य मलयगिरि** 'सूरसेन देश' की राजधानी 'पावा' बतलाते है। यथा — "चेदिषु शुक्तिकावती, वीतभय सिन्धुषु, सौवीरेषु मथुरा, सूरसेनेषु पावा, भंगिषु मासपुरिवट्टा।"

इस उल्लेख के अनुसार 'सूरसेन' की राजधानी 'पावा' बतलाकर वे बिहार-प्रान्त के अन्तर्गत 'सूरसेन देश' का होना मानते है। किन्तु **नेमिचन्द्र सूरि** ने अपने 'प्रवचन-सारोद्धार' ग्रन्थ में 'पन्नवणासूत्र' के उक्त पाठ को अविकलरूप से उद्धृत किया है और उसकी टीका मे **श्री सिद्धसेन सूरि** ने मलयगिरि की उक्त व्याख्या को 'अति-व्यवहृत' कहकर उक्त-पाठ की व्याख्या इसप्रकार की है — "शुक्तिमती नगरी चेदयो देशः, वीतभय नगर सिन्धु-सौवीरा जनपदः, मथुरानगरी सूरसेनाख्यो देशः, पापानगरी भंकयो देशः, मासपुरीनगरी वर्तोदेशः।"

इसमे स्पष्टरूप से 'मथुरा' नगरी को 'सूरसेन देश' की राजधानी बताया गया है। इससे यह सिद्ध है कि मथुरा के समीपवर्ती देश को 'शूरसेन' या 'सूरसेन' देश कहा जाता था।

भगवान् अरिष्टनेमि के पूर्वजो में शूरसेन राजा हुए हैं, वे 'शौर्यपुर नगर' के स्वामी थे। यथा —

अथार्य निजशौर्येण निर्जिताशेषविद्विषः।
ख्यात-शौर्यपुराधीश-सूरसेन-महीपतेः॥93॥

सुतस्य शूरवीरस्य धारिण्याश्च तनूद्भवौ।
विख्यातोऽन्धकवृष्टिश्च पतिर्वृष्टिर्नराविवाक्॥94॥

धर्मा वान्धकवृष्टेश्च सुभद्रायाश्च तुग्वराः।
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्ततः स्तिमितसागरः॥95॥

हिमवान् विजयो विद्वानचलो धारणाह्वयः।
पूरणः पूरितार्थीच्छो नवमोऽप्यभिनन्वनः॥96॥

वसुदेवोऽन्तिमश्चैव वशाभूवन् शशिप्रभाः।
कुन्ती माद्री च सोमेवा सुते प्रावुर्बभूवतुः॥97॥

अर्थात् राजा सूरसेन के शूरवीर-पुत्र के दो पुत्र हुए — 1. अन्धकवृष्टि, और 2 पतिवृष्टि। अन्धकवृष्टि के 1. समुद्रविजय, 2 अक्षोभ्य, 3 स्तिमितसागर, 4 हिमवान्, 5. विजय, 6 अचल, 7 धारण, 8. पूरण, 9. अभिनन्दन और 10 वसुदेव — ये दश पुत्र हुए।

आज भी शौर्यपुर नगर 'सौरीपुर वटेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है, जो मथुरा के समीप ही है। इस उल्लेख से यह बात सिद्ध है कि मथुरा के आस-पास का प्रदेश 'शूरसेन' नाम से प्रसिद्ध था और उस देश की भाषा 'शौरसेनी' कहलाती थी। **उक्त उल्लेख से इस भाषा की प्राचीनता अरिष्टनेमि से भी पूर्ववर्तीकाल तक पहुँचती है।**

'शौरसेनी भाषा' की कुछ विशेषताये आचार्य हेमचन्द्र ने इसप्रकार बतलाई हैं —

1 (तो दो 4,260) 'त' के स्थान पर 'द', यथा — ततः>तदो, पूरित.>पूरिदो, मारुति>मारुदि आदि।
2 (अधःक्वचित् 4,269) महान्त >महंदो, निश्चिन्तः>णिच्चिदो, अन्तःपुरम्>अदेउर आदि।
3 (वादेस्तावति 4,262) तावत्>ताव, दाव।
4 (मो वा 4,264) भो। राजन्>भो राय, विजयवर्मन्>विजयवम्म आदि।
5 (भवद् भगवदो 4,265) भवान्>भव, भगवान्>भगव, भयव आदि।
6 (पृ र्यो य्यः 4,266) आर्यपुत्र>अय्यउत्त, पक्षे अज्जपुत्त आदि।
7 पृ(थो धः 4,267) कथयति>कधेदि, नाथ.>णाधो, णाहो, कथ>कध-कह, राजपथः> राजपधो — राजपहो आदि।
8 (इह ह्योर्यस्य 4,268) इह>इध, भवथ>होध-होह, परियायध्व>परित्तायध-परित्तायह आदि।
9 (भुवो भः 4,26) भवति>भोदि। होदि। भुवदि-हुवदि-भवदि-हवदि आदि।
10 (क्त्व इय दूणौ 4,271) भूत्वा>भविय-भोदूण-हविय, होदूण, पठित्वा>पढिय-पढिदूण, रन्त्वा-रमिय-रदूण आदि।
11 (कृ — गमो डडुअः 4,272) कृत्वा>कडुअ-गडुअ, पक्षे करिय-करिदूण, गत्वा>गच्छिय-गच्छिदूण आदि।
12 (दि रि चे चोः 4,273) नयति>णेदि, ददाति>देदि, भवति>भोदि, होदि।
13 (अतो देश्च 4,274) आस्ते>अच्छदि-अच्छदे, गच्छति>गच्छदि-गच्छदे, करोति>किज्जदि-किज्जदे आदि।

14. (भविष्यति स्सि: 4,275) भविष्यति > भविस्सिदि, करिष्यति > करिस्सिदि आदि।
15. (तस्मात्ता: 4,278) तस्मात् > ता।

सस्कृत-नाटको मे प्राकृत गद्याश प्राय: 'शौरसेनी-भाषा' मे लिखे गये हैं। अश्वघोष, भास और कालिदास के नाटकों मे तथा इनके परवर्ती-नाटको में प्राय: 'शौरसेनी' के उदाहरण दिखाई देते हैं।

ऊपर जो हेमचन्द्र के 'प्राकृत-व्याकरण' के सूत्र और नियम दिये गये हैं, प्राय: वे ही नियम, उनसे मिलते-जुलते सूत्र और प्रयोग वररुचि, लक्ष्मीधर और त्रिविक्रम आदि के प्राकृत-व्याकरणो में भी पाये जाते है।

दण्डी, रुद्रट और वाग्भट आदि ने भी अपने ग्रन्थो में इस भा ग का उल्लेख किया है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे भी शौरसेनी भाषा का उल्लेख इसप्रकार उपलब्ध है —

'नायिकाना सखीना च सूरसेनाविरोधिनी' अर्थात् नायिका स्त्री ओर उनकी सखियो के लिए 'शौरसेनी' की प्रयोग अविरोधी है।

इसप्रकार 'शौरसेनी' या 'सौरसेनी' भाषा की प्राचीनता और उद्‌गम-स्थान ज्ञात हो जाने पर स्वभावत: ये प्रश्न उपस्थित होते हैं —

(1) क्या वे सब दिगम्बर-आचार्य 'शूरसेन-देश' के ही निवासी थे, जिन्होने कि अपने ग्रन्थो की रचना 'शौरसेनी' मे की है?

(2) यदि नही थे, तो फिर कुन्दकुन्दाचार्य और नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती जैसे दक्षिण-प्रान्त मे जन्मे अनेक दिगम्बर-आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थो की रचना 'शौरसेनी प्राकृत' मे ही क्यो की?

(3) अथवा इसमे रचना करने और कोई अन्य कारण-विशेष रहा है, जिससे प्रेरित होकर प्राय: सभी दिगम्बर-आचार्यों ने इसे अपनाया है?

उक्त प्रश्नो का समाधान करने के पूर्व यह ज्ञातव्य है कि भारतवर्ष मे उत्तर से दक्षिण तक जाने-आने का जो मध्यमार्ग था और जिसमे हिन्दुओ के परम-उपास्य श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, वह मथुरा नगरी इस 'उत्तरापथ' और 'दक्षिणापथ' के मध्य मे पड़ती है। आज भी सुदूर दक्षिण के तीर्थयात्री जब उत्तर-प्रान्तो के तीर्थों की यात्रार्थ निकलते है, तो वे उत्तर के बदरीनारायण, गगोत्री, और कैलाश की यात्रार्थ जाते-आते हुए मध्यवर्ती मथुरा मे अवश्य उतरते है। इस आवागमन से आज भी दक्षिणयात्री जैसे इस शूरसेन-देश की राजधानी मथुरा की वर्तमान भाषा 'हिन्दी' से परिचित हो जाते है, उसीप्रकार श्रीकृष्ण के समय इस देश मे बोली जानेवाली 'शौरसेनी-प्राकृत' से परिचित हो जाते थे।

अब हम ऊपर दिये गये प्रथम प्रश्न का समाधान करेगे — दिगम्बर जैन ग्रन्थो, अनुश्रुतियो एव दक्षिण मे प्राप्त अनेक शिलालेखो से यह सिद्ध है कि **आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली** के समय उत्तरभारत मे 12 वर्ष का भयकर-दुष्काल पडा था। अपने निमित्तज्ञान से जब आचार्य भद्रबाहु ने यह जाना कि निकट-भविष्य मे ही भयकर-दुष्काल पडनेवाला है, तो अपने सघस्थ 24 हजार साधुओं को सम्बोधित करते हुए इस देश को छोडकर सुदूर दक्षिणदेश में चलने को कहा। उसमे से 12 हजार साधु तो उनके साथ दक्षिणदेश को चले गये।

किन्तु शेष 12 हजार इधर के श्रावकों के आग्रह और दुर्भिक्षकाल में भी भिक्षा-सुलभता के आश्वासन पर **स्थूलभद्र** के नेतृत्व मे यही उत्तर भारत मे रह गये।

उक्त परिप्रेक्ष्य मे यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि जो साधु भद्रबाहु-श्रुतकेवली के साथ दक्षिण-प्रान्त मे गये, वे प्राय: अधीतश्रुत एव गीतार्थ थे, क्योंकि उस समय अंगो और पूर्वों का पठन-पाठन प्रचलित था।

(1) दक्षिण-प्रान्त की तात्कालिक-भाषायें आज के समान ही उत्तर-भारत की बोलचाल की भाषा से सर्वथा-भिन्न थी, फिर भी उधर के निवासी इधर के सूरसेन देश की बोली से आवागमन के कारण परिचित थे, इसकारण उक्त सघ के बहुश्रुतज्ञ-साधुओ ने अपनी ही बोली 'सौरसेनी' मे उपदेश देना प्रारम्भ किया और समयानुसार ग्रन्थ-रचना करना प्रारम्भ किया। अत: प्रारभ मे जिन आचार्यों ने 'शौरसेनी-भाषा' मे ग्रन्थो की रचना की, उनमे अधिकतर उत्तर-भारत के थे। इन हजारो साधुओ के दक्षिण-प्रान्त मे विचरण से, उपदेश देने से एव सत्संग से दक्षिण देशवासी भली-भाँति परिचित हो गये थे, अत: दक्षिण-देश मे जन्मे हुए पीछे के दिगम्बर-आचार्यों ने भी उसी सर्वाधिक समझी जानेवाली 'शौरसेनी-भाषा' मे ही अपने ग्रन्थो की रचना की।

(2) इसप्रकार उक्त कथन से दूसरे प्रश्न का समाधान भी स्वय ही हो जाता है। यत: पश्चाद्वर्ती-ग्रन्थकारो की मूल-परम्परा आचार्य भद्रबाहु तक पहुँचती है, अत: उनके सघस्थ-साधुओ की जो बोलचाल की भाषा थी, और जिसे कि आज 'शौरसेनी' नाम से कहा जाता है, उसी मे उन पीछे के दक्षिणी-आचार्यों ने उत्तर और दक्षिण के प्रान्तो मे समझी जानेवाली 'शौरसेनी-भाषा' मे ही अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना उचित समझा।

(3) तीसरे प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे प्राकृत की शाखा मागधी, अर्धमागधी, या महाराष्ट्री आदि प्राचीन बोलचाल की प्राकृतिक (स्वाभाविक) बोलियो का सस्कार करके सस्कृतभाषा के रूप मे तात्कालिक-महर्षियो ने एक अन्तर्राष्ट्रीय-भाषा का निर्माण किया, और जो समानरूप से बिना किसी परिवर्तन के सारे भारतवर्ष मे समझी जाने लगी थी; उस सस्कृत-भाषा के अति समीप या अत्यधिक-साम्य होने के कारण परवर्ती दिगम्बर-जैनाचार्यों ने शौरसेनी मे अपने ग्रन्थो की रचना करना अधिक उपयोगी और श्रेयस्कर समझा।

यह बात इस नीचे दी जानेवाली तालिका से सहज मे ज्ञात हो सकेगी —

प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत
अइसय	अदिसय	अतिशय	अइहि	अदिहि	अतिथि
अउअ	अयुद	अयुत	अइर	अचिर	अचिर
अहिगरण	अधिगरण	अधिकरण	आअंपिअ	आकंपिय	आकम्पित
आएस	आदेस	आदेश	इइ	इदि	इति
आउत्त	आजुत्त	आयुक्त	ईसा	इरिसा	ईर्ष्या
	आगुत्त	आगुप्त	उदअ	उदग	उदक

प्राकृत	शौरसेनी	सस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत
उड	पुड	पुट	एअ	एग	एक
ओइण्ण	ओदिण्ण	अवतीर्ण	कइ	कदि	कति
कडुअ	कडुग	कटुक	कवलिअ	कवलिद	कवलित
कोअड	कोदड	कोदण्ड	खेअ	खेद	खेद
गइ	गदि	गति	गोआउरी	गोदावरी	गोदावरी
घओअ	घओद	घृतोद	चउक्क	चदुक्क	चतुष्क
चलिअ	चलिद	चलित	अइरेअ	अदिरेग	अतिरेक
अईअ	अदीद	अतीत	अकुरिअ	अकुरिद	अकुरित
अज्ज	आरिय	आर्य	आअअ	आगद	आगत
आअब	आतब	आताम्र	आआस	आगास / आयास	आकाश
ईइस	ईदिस	ईदृक्, ईदृश			
उउ	उदु	ऋतु	इण्हि / इयण्हि	इयाणि	इदानीम्
आयस्सय	आयस्सय	आवश्यक			
उप्पायपुव्व	उप्पादपुव्व	उत्पादपूर्व	एअत	एगत	एकान्त
ओअण	ओदण	ओदन	कउह	ककुध	ककुद
करआ	करगा	करका (ओला)	कयब	कदब	कदम्ब
खाइर	खादिर	खादिर	खोह	खोभ	क्षोभ
गणअ	गणग	गणक	गोअ	गोव	गोप
घायअ	घायग	घातक	छाउमत्थिअ	छादुमत्थिय	छाद्मस्थिक
जइ	जदि	यदि	णई	णदी	नदी
तइय	तदिय	तृतीय	दलिअ	दलिद	दलित
धअ	धव	धव (पति)	पइइ	पगइ	प्रकृति
फलअ	फलग	फलक	बउर	बदर	बदर
सजअ	सजद	सयते	चओर	चगोर	चकोर
चाअ	चाग	त्याग	छेअण	छेदण	छेदन
जीअ	जीव	जीव	णट्टअ	णट्टग	नर्तक
तइअ	तदिय	तृतीय	दिआअर	दिवागर	दिवाकर
धुअ	धुव	ध्रुव	पअअ	पगद	प्रकृत / प्रगत
फुल्लअ	फुल्लग	फुल्लक			
भिउर	भिदुर	भिदुर	हअ	हद	हत (विनश्वर)

ऊपर से दिये गये शब्द-रूपो के भेद से प्राकृत (महाराष्ट्री) और शौरसेनी का अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है। अब हम आचार्य कुन्दकुन्द-रचित ग्रन्थो से कुछ प्रयोग उद्धृत करते हैं, जिससे कि पाठक 'शौरसेनी' की विशेषता से स्वय परिचित हो जायेगे।

'समयसार' से —

प्रयोग	गाथांक	प्रयोग	गाथांक	प्रयोग	गाथाक
पदेसट्ठिय	2	विसवादिणी	3	सुदपरिचिदाणुभूदा	4
जाणगो	7	जाणिदूण	17	अणुचरिदव्वो	18
भूदत्थ	22	मोहिदमदी	23	इदर	25
आदा	26	जदि	26	वंदिदो	28
वदिदो	28	थुणदि	29	कदा (कृता)	30
थुदा (स्तुता)	30	णादूण	34	एदे	55
विज्जदे	51	कोधादिसु	69	कुणदि	72
णादूण	74	परिणमदि	78	कुव्वदि (करोति)	85
अविरदि	88	आदा (आत्मा)	{ 97,	अप्पा, अत्ता	{ 94, 97
चेदा	118		{ 102		{ 102
सव्वदो	160	{ बधदि	150,	{ जहण्णादो	
भुजदि	195	{ मुचदि	281	{ णाणगुणादो	
बज्झदि	196	विजाणादि	160	{ छिज्जदु	
अधम्मस्स	211	आदम्मि	203	{ भिज्जदु	
पजहिदूण	223	विणस्सदे	216	आधाकम्म	287
वेददि	216	जिज्जदि	209	णादव्व	159

'प्रवचनसार' से —

प्रयोग	गाथाक	प्रयोग	गाथाक	प्रयोग	गाथाक
वदिद	1,1	सपज्जदि	1,6	{ चरित्तादो	1,6
अदिंदिओ	1,19	{ जाणदि	1,55	{ पहाणादो	
किध (कथ)	1,72	{ जाणादि		{ तध, तधा	1,67
समधिदव्व	1,86	{ जहदि	1,81	{ तधा	1,68
		{ लहदि			

'पचास्तिकाय' से —

प्रयोग	*गाथाक*	*प्रयोग*	*गाथाक*	*प्रयोग*	*गाथांक*
इदसदवदियाण	1	विज्जदि	145	चेदिय	166

षट्खण्डागमसूत्र — (छक्खडागमसुत्त) **से —**

प्रयोग	*गाथाक*	*प्रयोग*	*गाथाक*	*प्रयोग*	*गाथाक*
णाणाणि	1,1	इमाणि	1,1	अणियोगद्दाराणि	1,5
सजदासजदा	1,13	पमत्तसजदा	1,14	अप्पमत्तसजदा	1,15
ओदेसेण	1,24	णिरयगदी आदि	1,24	असजदसम्मादिट्ठी	1,27
छदुमत्था	1,27	साधारणसरीरा	1,41	सोधम्मीसाण	1,96
पुरिसवेदा	1,101	चदुसु	1,105	भदिअण्णाणी	1,116

इसप्रकार के प्रयोगो से सारा-ग्रन्थ भरा हुआ है।

'कसायपाहुडसुत्त' की सारी गाथाये 'शुद्ध-शौरसेनी' मे ही रची हुई है। यहाँ पर हम केवल एक गाथा ही उदाहरणार्थ देते है —

गाहासवे असीवे अतथे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुलगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि॥2॥

रेखांकित तीनो पद स्पष्टत: 'शौरसेनी भाषा' के परिचायक है।

उक्त ग्रन्थो के पश्चात् जितने भी मूलाचार, णियमसार, रयणसार, अष्टपाहुड, भगवती आराधना, दसणसार, तिलोयपण्णत्ती, भावसग्रह, लब्धिसार, गोम्मटसार जीवकाड, कर्मकाड आदि प्राकृत के दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ है, **वे सभी 'शौरसेनी' मे ही रचे गये है।**

मैने 'वसुनन्दि श्रावकाचार' के परिशिष्ट न. 5 में प्राकृत धातुरूप और परिशिष्ट न 6 मे प्राकृत शब्दरूप-सग्रह दिया है, उससे भी दिगम्बर-जैन-ग्रन्थो की शौरसेनी-भाषा को अपनाने की बात भली-भाँति सिद्ध होती है।

इसप्रकार शौरसेनी-प्राकृत का मूल-उद्गम भले ही उत्तरी-मथुरा का समीपवर्ती-प्रदेश रहा हो, परन्तु दक्षिणी-यात्रियो के उत्तर-भारत मे आने से, तथा उत्तर-प्रान्तीय भद्रबाहु के मुनिसघ के दक्षिण मे जाने से यह भाषा वहाँ पर (दक्षिणी मदुरा तक) अच्छी तरह समझी और बोली जाने लगी थी। यही कारण है कि शेषगिरि राव जैसे अजैन दक्षिणी-विद्वान् ने अपने लेख 'दि एज आफ कुन्दकुन्द' मे लिखा है कि मेरे पास तमिल-साहित्य मे और लोक-बोली मे इस बात के अनेक-प्रमाण है कि जिसप्रकार की प्राकृत मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ निबद्ध किये है, यह केवल समझी ही नही जाती थी, बल्कि आन्ध्र और कलिग-प्रदेशो मे जन-सामान्य के द्वारा बोली जाती थी। — *(जैन गजट, 18 अप्रैल सन् 1922, पृ 91)*

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर यह कथन पूर्णरूपेण-सत्य प्रतीत होता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने सज्ञा-शब्दो जो सातो ही विभक्तियो मे अनेक रूप दिये है, उनमे से 'शौरसेनी-भाषा' मे कुछ सीमित ही रूप अपनाये है, जो कि सस्कृत के साथ बहुत-अधिक साम्य रखते है। यथा —

प्राकृत	*शौरसेनी*	*सस्कृत*	*प्राकृत*	*शौरसेनी*	*संस्कृत*
ठाणाइ	ठाणाणि	स्थानानि	एए	एदे	एते
वच्छाओ	वच्छादो	वृक्षात्	अच्छीइ	अच्छीणि	अक्षीणि

इसीप्रकार 'महाराष्ट्री-प्राकृत' की अपेक्षा शौरसेनी के धातुरूप भी सस्कृत के बहुत अधिक समीप है। यथा —

प्राकृत	*शौरसेनी*	*सस्कृत*	*प्राकृत*	*शौरसेनी*	*सस्कृत*
भवइ	भवदि	भवति	गच्छई	गच्छदि	गच्छति
भवउ	भवदु	भवतु	गच्छउ	गच्छदु	गच्छतु

इसप्रकार जन-साधारण को सुगम होने से बहुजन-हिताय दिगम्बर-जैनाचार्यों ने अपनी रचनाये शौरसेनी प्राकृत मे की है।

दिव्यध्वनि

'दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैप्रयोज्या:'

— (भक्तामरस्तोत्र, 35)

'दिव्यमहाध्वनि निरस्य मुखाब्जान्मेथ।'

— (महापुराण, 23/69)

'सयोगकेवलिदिव्यध्वने· कथं सत्यानुभयवाग्योगत्वमितिचेत्तन्न तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृश्रोत्रप्रवेश- प्राप्तिसमयपर्यंतमनुभयभाषात्वसिद्धे:।' *— (गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका, 1/227)*

अर्थ *— इहाँ प्रश्न उपजै है कि केवलीके दिव्यध्वनि है, ताकैं सत्यवचनपना वा अनुभय-वचनपना कैसे सिद्धि हो है? ताका समाधान — केवलिकै दिव्यध्वनि हो है, सो होते ही तौ अनक्षर हो है; सो सुननेवालनि के कर्णप्रदशेकौ यावत् प्राप्त न होई, तावत् कालपर्यंत अनुभय-भाषात्मक अनक्षर ही है।*

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि की भाषा

✍ पं. नाथूलाल जैन शास्त्री

जैन-परम्परा मे तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि ओंकारमयी मानी गयी है। भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि भी इसकी अपवाद नही है महावीर के उपदेशो के आधार पर रचे गये आगमग्रथ चूँकि प्राकृतभाषा मे निबद्ध प्राप्त होते है, अत: भगवान् की भाषा 'प्राकृत' कही गयी है। इसकी वास्तविकता क्या है? — इसका विशद-विवेचन अनुभवी-वयोवृद्ध मनीषी की सारस्वत-लेखनी से इस आलेख मे हुआ है। — सम्पादक

दिव्यध्वनि और प्राणिमात्र मे मैत्री आदि 14 अतिशय तीर्थंकर केवली के 'देवकृत' बताये है। आचार्य कुन्दकुन्ददेवकृत 'दसणपाहुड' गाथा 35 की सस्कृत टीका मे केवलज्ञान के चतुर्दश-अतिशयो मे उक्त दिव्यध्वनि को 'सर्वार्द्धमागधीभाषा' कहा है। उसके अर्थ मे मगधदेव के सन्निधान होने पर तीर्थंकर की वाणी अर्द्धमगधदेश-भाषात्मक एव अर्द्ध-सर्वभाषात्मक परिणत होती है।

मैत्री के विषय में वही स्पष्टीकरण किया गया है कि समवसरण में सर्व-जनसमूह मागध एव प्रीतकरदेव-कृत अतिशय के कारण मागधी-भाषा मे परस्पर बोलते है और मित्ररूप मे व्यवहार करते हैं। 'तिलोयपण्णत्ती' आदि के अनुसार तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि तालु, दत, ओष्ठ के हलन-चलन बिना होती है।

हम पूजा मे पढते है — **'ओंकार-ध्वनि सार द्वादशागवाणी विमल'**। मूल मे केवली के समस्त-शरीर से 'ओम्' ध्वनि-अनक्षरात्मक शब्द-तरगरूप सप्रेषण द्वारा बिना इच्छा के मेघगर्जना के समान श्रोताओ के कर्ण मे प्रवेश करते समय उनकी योग्यतानुसार उनकी भाषारूप अक्षरात्मक होकर परिवर्तित होती है। इसमे मागधदेवो का सन्निधान रहता है, जैसा कि उक्त 'दसणपाहुड' टीका मे बताया गया है। साथ ही केवली का अतिशय तो है ही। भाषा के प्रसार मे देव सहयोग प्रदान करते रहते है।

दिव्यध्वनि तीर्थकर-नामकर्मोदय के कारण कण्ठ-तालु आदि को प्रकपित किये बिना शब्द-वर्गणाओ के कपन के साथ ध्वनि होती है, जो पौद्गलिक है। काययोग (वचन) से आकृष्ट-पुद्गलस्कध स्वय शब्द का आकार लेते है, यानि भाषारूप मे परिणमन करते है। तीर्थंकर की ध्वनि मे ऐसी स्वाभाविक-शक्ति होती है, जिसमे वह **अठारह महाभाषा** एव **सात सौ लघुभाषा** रूप मे परिणत होती है। साथ ही समस्त मनुष्यो, देवो एव पशु-पक्षियो की सकेतात्मक-भाषा मे परिवर्तित हो जाती है। — *(आदिपुराण, 23/70)*

ऊपर जो तीर्थंकर-वाणी को 'अर्द्धमागधी' कहा है, यद्यपि उसमे 'मागध'शब्द का सबध देवो से बता दिया गया है। साथ ही मगधदेश के अर्द्धप्रदेश की भाषा का भी उल्लेख किया गया है, जिसमे अठारह देशी भाषाओ का मिश्रण है।

'अट्ठारस देसीभासा णियम वा अद्धमागहम्' अर्थात् अठारह देशी-भाषाओ का मिश्रण 'अर्द्धमागधी' है। आचार्य जिनसेन आदि ने इसे 'सर्वभाषात्मक' कहा है। हमारा यहाँ लिखने का अभिप्राय यह है कि 'अर्हत् वचन' पत्रिका के — जो कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर से प्रकाशित होती है — जुलाई '98 अक में एम डी वसन्तराज

का 'दिगम्बर जैन-आगम के बारे मे एक चिन्तन' एक पठनीय-लेख प्रकाशित हुआ, जो (कन्नड़ भाषा से) हिन्दी-अनुवाद है। लेखक बहुश्रुत एव अध्ययनशील है। इसमे पृष्ठ 41 पर लिखा है कि "दिगम्बर-परम्परा के आगम को 'शौरसेनी जैनागम' और श्वेताम्बर-परम्परा के आगम को 'अर्द्धमागधी' जैनागम नाम हाल ही में कुछ विद्वानो ने दिया है। पर दिगम्बर जैन-आम्नाय के विषय मे अनर्थकारी प्रभाव करनेवाला है। वास्तव मे आगम की भाषा को 'आर्षप्राकृत' अर्थात् 'मुनियो की प्राकृतभाषा' कहकर पुकारा जाता था। महावीर स्वामी के उपदेश की भाषा अर्द्धमागधी (प्राकृत) भाषा थी। दिगम्बर और श्वेताम्बर — दोनों पथवालो ने यह नाम दिया है।"

इस उल्लेख से भ्रम होता है कि मानो लेखक मान रहे हैं कि भगवान् का 'अर्द्धमागधी' मे उपदेश हुआ और उसी 'अर्द्धमागधी' मे श्वेताम्बर-ग्रथो का निर्माण हुआ; अत: उनका महत्त्व-विशेष है और दिगम्बर-ग्रथ उससे भिन्न शौरसेनी-भाषा मे रचे गये; अत: उनका वैसा महत्त्व नही रहा। यही इस लेख से अनर्थकारी-प्रभाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रामणिकता-अप्रामाणिकता मे भी अनर्थ माना जा सकता है। यह लेखक द्वारा चिता प्रकट करने की भाषा है, आक्षेप की नही।

तीर्थंकर-दिव्यध्वनि की भाषा के सबध मे हमने इस लेख के प्रारभ मे स्पष्टीकरण दे दिया है कि 'दिव्यध्वनि सर्वभाषात्मक' है। 'अर्द्धमागधी' नामकरण भी मागध-देव के कारण है और मगधदेश का भी सबध होकर उसके साथ अन्य-भाषाओ का मिश्रण है —

"सर्वार्धमागधी सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सर्वेषा सर्वतो वाच सार्वज्ञी प्रणिवदमहे॥"

— *(वाग्भट-काव्यानुशासन, पृष्ठ 2)*

अर्द्धमागधी सर्वभाषाओ के रूप मे परिणत होनेवाली होने से सबकी भाषा थी, जो सर्वज्ञ के उपदेश की भाषा थी। **जिनसेन आचार्य** ने भी इसे 'सर्वभाषात्मक' कहा है।

'अर्द्धमागधी' अठारह-देशीभाषारूप थी, केवल महावीर तीर्थंकर की नही, सभी तीर्थंकरो की वाणी थी —

"दश-अष्ट महाभाषा समेत, लघुभाषा सात-शतक सुचेत।
सो स्याद्वादमय सप्तभग, गणधर गूँथे बारह सु अंग॥"

इसप्रकार भगवान् महावीर के उपदेश को लेकर जो 'अर्द्धमागधी' से विद्वान्-लेखक ने दिगम्बरो के लिए अनर्थकारी-प्रभाव बताया है, वह सिद्ध नही होता। 'धवला' (1/284) मे लिखा है कि केवली के वचन इसी भाषारूप ही है, — ऐसा निर्देश नही किया जा सकता। क्रम-विशिष्ट वर्णात्मक अनेक-पक्तियो के समुच्चयरूप और सर्वश्रोताओ मे प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवली की ध्वनि सम्पूर्ण-भाषारूप होती है — ऐसा मान लेने मे कोई विरोध नही आता है। 'भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का इतिहास' ग्रथ (डॉ हीरालाल जी) पृष्ठ 51 मे महावीर स्वामी से पूर्व का इतिहास बताते हुए लेखक ने लिखा है कि 'द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्दात्मकता की दृष्टि से महावीर से पूर्वकालीन कोई जैन-साहित्य उपलब्ध नही है; किन्तु भावश्रुत की अपेक्षा जैन-श्रुतागो के भीतर कुछ ऐसी रचनाये मानी गई है, जो **महावीर से पूर्व श्रमण-परम्परा मे प्रचलित थी, इसलिए उन्हे 'पूर्व' कहा गया है;** किन्तु यह पूर्व-साहित्य सुरक्षित नही रह सका।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार ग्यारह-अग का ज्ञान नष्ट हो गया। पूर्व मे बहुत-कम अवशिष्ट रहा, जो **आचार्य धरसेन** और **आचार्य गुणधर** द्वारा प्रचार-प्रसार मे आया। **वह भी विक्रम-प्रथम शताब्दी के कुछ** समय पूर्व से।

वीर-निर्वाण के पश्चात् दशम शती में श्वेताम्बरों द्वारा जो पाटलिपुत्रीय, माथुरी और वलभी-वाचनाओ द्वारा अंगो का सकलन किया गया, उनकी भाषा को '**अर्द्धमागधी**' नाम दिया गया और इनसे सदियो पूर्व छक्खडागम, कसायपाहुड से प्रारभ कर 'समयसार', 'धवला' आदि की जो दिगम्बर-आचार्यों द्वारा रचना हुई, उनकी भाषा को 'शौरसेनी' नाम दिया गया।

आचार्य पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' (1, 20) मे लिखा है कि आरातीय आचार्यों ने काल-दोष से संक्षिप्त-आयु, मति और बलशाली-शिष्यो के अनुग्रहार्थ 'दशवैकालिक' आदि ग्रथो की रचना की। ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही है। यहाँ शब्द-रचना को छोडकर अर्थ की दृष्टि बताई गई है। ग्रथ-रचना का नियम यह है कि लेखक जब जिस देश मे रहता है, वहाँ की प्रचलित-भाषा का वह उपयोग करता है, उसके उच्चारण भी उसी प्रकार के होते है। श्वेताम्बर-अगग्रथो के सबध मे **डॉ. हीरालाल जी** ने अपने उक्त ग्रथ के पृष्ठ 71 पर लिखा है कि "**श्वेताम्बर आगम-ग्रथो मे प्राक्तन 'अर्द्धमागधी' का स्वरूप नही मिलता।** भाषा-शास्त्रियो के मतानुसार वर्णों के परिवर्तन की प्रक्रिया, भाषा-सरलीकरण, युगानुसार-प्रवृत्तियो के प्रभाव से तथा कालानुसार मौखिक-परम्परा के कारण भिन्नता आती रहती है। इस भिन्नता से भाषा की भिन्नता होने पर उस भाषा के ग्रथो की शब्द- भिन्नता का अनुमान किया जा सकता है। इसी कारण प्राकृत के भी मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि भेद हो गये। और पीछे प्राकृत-व्युपत्ति मे आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार जिसकी प्रकृति सस्कृत से है, उससे आगत प्राकृत है। यहाँ आचार्य का अभिप्राय यह है कि इसके व्याकरण-हेतु सस्कृतरूपो को आदर्श मानकर प्राकृत-शब्दो का अनुशासन किया गया है। सस्कृत की अनुकूलता-हेतु प्रकृति को लेकर प्राकृत के आदेशो की सिद्धि की गई है।"

'कम्परेटिव ग्रामर', भूमिका, पृ 17 आदि पर **हार्नले** ने लिखा है कि श्वेताम्बर-आगमो की '**अर्द्धमागधी**' का रूपगठन 'मागधी' और 'शौरसेनी' से हुआ है। प्राकृतभाषा के दो वर्ग है। **एक** वर्ग मे 'शौरसेनीप्राकृत' भाषा है और दूसरे मे 'मागधी प्राकृत' भाषा है। इनके मध्य मे एक रेखा उत्तर मे खीचने पर खालसी से वैराट, इलाहाबाद और दक्षिण मे रामगढ से जौगढ तक है। इसप्रकार शनै· शनैः ही दोनो प्राकृते 'मागधी' और 'शौरसेनी' मिलकर तीसरी 'अर्द्धमागधी' बन गई। यही बात ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'सेवन ग्रामर्स ऑफ दी डाइलेक्टर्स' मे लिखी है। **प्राचीन भारत मे 'शौरसेनी' और 'मागधी' दो ही भाषाये थीं। वर्तमान मे श्वेताम्बर आगम-साहित्य मे जो ग्रथ 'अर्द्धमागधी' के उपलब्ध है, वह 'अर्द्धमागधी' तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि की भाषा नहीं है। इसका रूप तो चौथी-पाँचवी शताब्दी मे गठित हुआ है।** दिव्यध्वनि का भाषात्मकरूप आर्य-अनार्य आदि वर्ग की विभिन्न भाषाओ द्वारा ग्रथित होता है। आचार्यों ने अठारह-महाभाषाओ एव सात सौ लघुभाषाओ का मिश्रण इसमे माना है। भाषा का यह रूप सभी स्तर के प्राणियो को बोध्य है।

— *(तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, डॉ नेमिचन्द शास्त्री, आरा, प्रथम भाग, पृ 240।)*

उक्त प्रमाणो से इस लेख से पाठको को होने वाली अपनी चिंता दूर कर देना चाहिये। **नाम की समानता से वर्तमान 'अर्द्धमागधी' तीर्थंकरों के उपदेश की भाषा नहीं हो सकती।**

प्रबुद्ध पाठक जानते ही है कि परमपूज्य **आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज** के शुभाशीर्वाद से शौरसेनी प्राकृत की प्राचीनता, प्राकृत मे उसकी प्रमुखता, व्याकरण की रचना एव नई दिल्ली श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ मे मानित विश्वविद्यालय मे उसकी पाठ्य-पुस्तको मे स्वीकृति और स्वतत्ररूप से वहाँ कार्य प्रारभ यह सब दिगम्बर-जैनाचार्यों की रचनाओ के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। नौ वर्ष से इस शोध-सस्थान, प्राकृत भवन दिल्ली से 'प्राकृतविद्या' नामक शोध पत्रिका भी प्रकाशित हो रही है।

विशेष यह है कि मागधी, अपभ्रश आदि प्राकृत भाषाओ की 'प्रकृति' शौरसेनी ही है। यह सब आचार्य हेमचन्द्र-कृत 'प्राकृत व्याकरण' से ज्ञात होता है। 'भरत नाट्यशास्त्र' 17/34, पृ. 273 मे शौरसेनी को सभी श्रेष्ठ पुरुषो के द्वारा काव्य आदि साहित्यिक-रचना मे प्रयोग किया जाना चाहिये, — यह प्रेरणा दी गई है।

तीर्थंकर-दिव्यधवनि-भाषा से श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी सर्वथा भिन्न है

डॉ हीरालाल जी, सिद्धाताचार्य प फूलचन्द्र जी और पंडित कैलाशचन्द्र जी सिद्धाताचार्य; जो षट्खडागम टीका धवला, जयधवला एव महाधवला के हिन्दी टीकाकार और प्राकृत शौरसेनी, अर्धमागधी आदि भाषाओ के विशेषज्ञ थे, उक्त 'धवला' की प्रस्तावना, पृष्ठ 78 पर 'ग्रन्थ की भाषा' शीर्षक मे लिखते है —

प्राकृतभाषा मुख्यत· 5 प्रकार की है — 1 मागधी, 2 अर्द्धमागधी, 3 शौरसेनी, 4 महाराष्ट्री, और 5. अपभ्रश। इस विस्तृत-प्रकरण मे आगे बतलाया है कि **शौरसेनी दिगम्बर-जैनो की मुख्य प्राचीन-साहित्यिक भाषा है। इसका स्वतत्र-साहित्य दिगम्बर-जैन-ग्रथो मे ही पाया जाता है।** 'प्रवचनसार' आदि कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रथ इसी शौरसेनी-प्राकृत मे है। सिद्धाताचार्य प फूलचन्द्र जी ने 'ऐतिहासिक आनुपूर्वी-कर्मसाहित्य' रचना मे तो यहाँ तक लिखा है कि भाषा की दृष्टि से विचार करने पर तो श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनो ही प्ररूपणा मे जो भेद दृष्टिगोचर होता है, वह स्पष्ट ही है। जबकि **दिगम्बर-परपरा मे पूरा आगम-साहित्य शौरसेनी-प्राकृत मे लिखा गया है,** वहाँ श्वेताम्बर-आगम मे शौरसेनी-प्राकृत से अनुप्राणित नही किया गया है, उसे श्वेताम्बर विद्वान् 'अर्द्धमागधी' कहते अवश्य है, पर उसमे वह पूरी तरह से दिखाई नही देता।"

डॉ. हीरालाल जी के अनुसार श्वेताम्बर-आगमो मे 'महाराष्ट्री' और 'शौरसेनी' की मिलावट भी है। कुछ विद्वान् लिखते है कि — **"देवरचित है चार दश, अर्द्धमागधी भास।"** तो इसमे अतिशय के स्थान मे **"देवरचित है चार दश, शूरसेन की भास"** क्यो नही लिखा?

इसका उत्तर यह है कि तीर्थंकर की दिव्यध्वनि सर्वभाषारूप परिणमती है —

**"सर्वार्धमागधी सर्वभाषाषु परिणामिनीम्।
सर्वेषा सर्वतो वाच सार्वज्ञी प्रणिवध्यते।।"**

वह 'अर्धमागधी' सर्वभाषाओ के रूप मे सबकी भाषा थी, जो सर्वज्ञ के उपदेश की भाषा थी। **आचार्य जिनसेन** ने इसे 'सर्वभाषात्मक' कहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के 'दसणपाहुड' ग्रथ के अनुसार तीर्थंकर केवली की बिना किसी चेष्टा के मेघगर्जना के समान अनक्षरात्मक 'ओ' ध्वनि निकलती है, वह श्रोताओ के कर्ण में प्रवेश करते समय उनकी योग्यतानुसार उनकी भाषारूप होकर परिवर्तित होती है। इसमे मागधदेवों का सन्निधान रहता है, साथ ही तीर्थंकर का अतिशय तो है ही। भाषा के प्रसार मे मागधदेव सहयोग देते है। तीर्थंकर की ध्वनि मे ऐसी स्वाभाविक-शक्ति होती है, जिससे वह अट्ठारह-महाभाषा एव सात सौ लघुभाषाओ मे परिणत होती है।

तीर्थंकर-वाणी के 'अर्धमागधी' होने का कारण मागधदेवो व मगधदेश की भाषा का सबध मानना चाहिए, जिसमे अट्ठारह-भाषाओ का सम्मिश्रण है। "अट्ठारसदेसीभासाणियय वा अद्धमागह" अर्थात् अर्धमागधी मे अट्ठारह-भाषाओ का सम्मिश्रण है।

इस विषय मे 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' ग्रन्थ के प्रथम-भाग मे विस्तार से लिखा गया है। **डॉ. हीरालाल जी** ने लिखा है कि **"इस (दिव्यध्वनिवाली) अर्धमागधी प्राकृतभाषा का सबंध श्वेताम्बर-आगमो से नही है। उनमे इस भाषा का स्वरूप नहीं मिलता।"**

केवल नाम से सबध जोडना हो, तो भगवान् महावीर, आचार्य महावीर और विद्यार्थी महावीर इन सबको एक मान लेना चाहिए। 'कम्परेटिव्ह ग्रामर' की भूमिका मे **हार्नले** ने लिखा है कि — "अर्धमागधी का रूपगठन 'मागधी' और 'शौरसेनी' से हुआ है। समस्त प्राकृतभाषाये 'शौरसेनी' और 'मागधी' इन दो वर्गों मे विभाजित है।"

ग्रियर्सन भी इससे सहमत होकर 'सेन ग्रामर्स ऑफ दी डाइलेक्ट्स एण्ड सब-डाइलेक्ट्स' (खण्ड 1, पृष्ठ 5) मे लिखते है कि — "दोनो 'शौरसेनी' और 'मागधी' भाषाये मिलकर धीरे-धीरे एक तीसरी उत्पन्न हुई, जिसे 'अर्धमागधी' कहते है। प्राचीन-भारत मे वस्तुत: दो प्रकार की भाषाये मान्य थी — शौरसेनी और मागधी। 'शौरसेनी' पश्चिम की और 'मागधी' पूर्व की। श्वेताम्बरो-आगमो की भाषा 'अर्धमागधी' कही जाती है, वह विक्रम की चौथी-पाँचवी शताब्दी मे गठित हुई है।" जो विद्वान् 'शौरसेनी' को प्राकृत का भेद नही मानते, उन्हे उक्त-कथन पर ध्यान देना चाहिए।

बारह वर्ष का दुष्काल मगध आदि की ओर पडा, तो जो साधुगण यहाँ रहे थे, उनकी बुद्धि एव स्मृति मे आहार न मिलने से अतिमन्दता आ गई। परिणामस्वरूप उनका आगमज्ञान विस्मृत हो जाने से **पाटलीपुत्र** व माथुरी की वाचना के पश्चात् **वलभी** मे पुस्तकारूढ हुआ, जिसके सबध मे 'जैनसाहित्य मे विकार' पुस्तक मे श्वेताम्बर विद्वान् **बेचरदास** जी ने काफी लिखा है। 'णमोकार मत्र' के शब्दो के सबध मे व्याकरण को लेकर लेखक ने जो आक्षेप किया है, उसका समाधान स्वय उन्होने अपने लेख के अत मे कर दिया है कि इस मत्र का किसी खास भाषा के व्याकरण से सबध नही।

किसी भी विषय पर सद्भावपूर्वक समर्थन या विरोध मे लिखना अनुचित नही है। मतभेद बुरी बात नही है, किन्तु दुर्भाव या मनभेद नही होना चाहिए। विरोध मे प्रबुद्ध-लेखको को आक्षेप की भाषा का प्रयोग भी नही करना चाहिए। ❖❖

प्राकृत-भाषा का सांस्कृतिक-अध्ययन

✍ स्व. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री

भारतीय-सस्कृति, लोकजीवन के तत्त्वो एव आचलिक-सस्कारो से प्राकृतभाषा इतनी सघानता से सम्पृक्त नही है, कि उसकी भावनाओ, सामग्रियो, क्रियाओ को जितने प्रभावी-स्वर प्राकृतभाषा और साहित्य में मिलते है। अन्य परिष्कृत-भाषाओ मे वे कही भी नही सुनाई पडते है। इस तथ्य की पुष्टि के लिये जिज्ञासु-पाठको को रोचक एव ज्ञानवर्धक-सामग्री इस आलेख से प्राप्त होगी। — सम्पादक

प्राकृत-वाङ्मय का भारतीय-सस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से विशेष-महत्त्व है। इसमे मानव के लौकिक और पारलौकिक-जीवन की समृद्धि की व्यवस्थित-प्रक्रिया निरूपित है। मन, आचार एव रुचियो के परिष्कार की विधि प्रतिपादित की गयी है। मानव की उन मूलभूत-चेष्टाओ पर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक-जीवन को सुखी एव समृद्ध बनाया जा सकता है। यहाँ प्राकृत-वाङ्मय के आधार पर नैतिक और आध्यात्मिक-जीवन की समृद्धि का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास है।

भोजन-पान

सर्वप्रथम भोजन-पान, वस्त्राभूषण एव आवास-सम्बन्धी समृद्धि तथा तत्सम्बन्धी जीवन-यापन प्रक्रिया की ओर ध्यान आकर्षित है। प्राकृत-वाङ्मय मे भोजन-पान की विभिन्न विधियो का निरूपण आया है। सहस्रो वर्ष-पूर्व भारतीय-चावल, जौ, मसूर, गेहूँ, मूँग, उडद, तिल, चना, अरहर, (सठिण), काला चना (पलिमथक), गोल चना (हरिमथ), अलसी, मटर (कलाय), कगनी (प्रियगु), कुलथी (कलत्थ) आदि अनाजो का प्रयोग करते थे। मसालो मे अदरक (शिगवेर), सोठ (सुठ) लौग, हल्दी (हलद्दी), जीरा-लवण (बेसन) मिर्च, पीपल और सरसो (सिरसवत्थक) का व्यवहार किया जाता था। लौग, जीरा, लवण, इलायची आदि के सयोग से नाना-प्रकार के स्वादिष्ट-व्यजन तैयार किये जाते थे। गन्ने का प्रयोग मोर्य (छीलकर खाना), चोय (बिना छीले), डगल (छीलकर छोटे-छोटे टुकडो को कपूर, लवग, इलायची ओर जावित्री द्वारा सुवासित) के रूप मे होता था। गुड से विभिन्न-प्रकार के खाद्यान्न बनते थे। मत्स्यडिक, पुष्पोत्तर (फूलखाड) एव पदमोत्तर (कमल द्वारा निर्मित खाड) शर्करा का भी व्यवहार किया जाता था। 'भगवती-आराधना' मे साणसादिम (मेवायुक्त हलुए) और सादिम (सादे हलुए) को कहा गया है। इन दोनो प्रकार के हलुओ के बनाने की विधियाँ भी वर्णित है। धनी-मानी जिस पुष्टिकारक-भाजन का उपयोग करते थे, उसे 'कल्लाणग' कहा गया है। सोहकेसर, मोरण्डक, गुणपाणिक (तिल की बनी मिठाई), मडक (मीठी रोटी), घयसुण्ण (घी मे तली पूरी), पुरपूरी, इट्टगा (सेवई), गुलावणिया (गोलापापडी), मोदक, ओगा हिमग (पक्वान्न), फणिय (राब) पपडिया (पापड) आदि खाद्य-पदार्थो का विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। एक विशेष-प्रकार की मिठाई बनायी जाती थी, जिसे 'आहडिया' कहा गया है। आहडिया को उपहार के रूप मे अन्य-व्यक्तियो को भेट किया जाता था। विवाह के पश्चात् वर के घर मे वधू के प्रवेश करने पर जो विशिष्ट-भोजन तैयार किया जाता था, उसे 'आहेणडा' और

वधू के पीहर से जो पक्वान आते थे, उन्हें 'पहेणग' कहा है। यात्रा के समय विशिष्ट-व्यक्तियो को भोजन कराया जाता था, उसे 'हिंगोल' एव स्वजातियों को जो भोजन कराया जाता था, उसे 'समेल' बताया है। रसोईघर के प्रबध को 'आवास', और तैयार किये गये भोजन के परीक्षण को 'निर्वाप' कहा गया है। राजा एव श्रीमन्तो के घर भोजन बनाने के लिये महाणसिय (रसोईदार) नियुक्त किये जाते थे, इनकी गणना नौ नाहओ मे की गयी है। पानक नाना-प्रकार के सुवासित-पदार्थों और शर्कराओ के सयोग से बनाये जाते थे। उत्सवो एव गोष्ठियो में पानक का विशेष-रूप से व्यवहार किया जाता था। इसप्रकार प्राकृत-वाङ्मय में भोजन-पान-सम्बन्धी विविध-प्रक्रियाओ, विधियों एव रुचियो का चित्रण पाया जाता है। सास्कृतिक-जीवन के अध्ययन के लिये भोजन-पान का विवेचन परम-आवश्यक है।

वस्त्राभूषण

भोजन के पकाने पश्चात् जीवन का आवश्यक-अग वस्त्राभूषण है। जन-साधारण भी सुन्दर-वस्त्र, गन्ध-माल्य एव अलकार धारण करते थे। सभा में सम्मान प्राप्त करने के लिये शफकल-वस्त्र उपादेय माने गये है। 'आचारागसूत्र' मे जंगिय, भंगिय, पोत्तग (पत्तो से बने वस्त्र), खोमिय (कपास के बने वस्त्र) और तुकड (वृक्षो की छाल से बने वस्त्र) का उल्लेख आया है। बहुमूल्य-वस्त्रो के आईणग (चर्म-निर्मित), सहिण (सूक्ष्म-वस्त्र), सहण-कल्लाण (सूक्ष्म और सुन्दर), आम (रोम-निर्मित), दुगल्ल (तन्तु-निर्मित), पट्ट, असुय, देसराग, कम्बल और पावारगे (प्रावरण) को गिनाया है। सामान्यत: अडय, बोडय (कपास से निर्मित), कीडय (कीडो से निर्मित), बालय (बालो से निष्पन्न) एव वागय (छाल से निष्पन्न) वस्त्रो का कथन आया है। प्राय: 'उत्तरीय' और 'अन्तरीय' दो-प्रकार के वस्त्र धारण किये जाते थे। सिले-वस्त्रों के व्यवहार का भी उल्लेख आया है। पुष्पदन्त के 'महापुराण' मे विभिन्न-प्रकार के वस्त्रो का निर्देश मिलता है। 'डगाहणतिग' लगोट जैसा वस्त्र होता था, जिसका उपयोग साधु करते थे। दूष्य-वस्त्र का उपयोग श्रीमन्तो और राज-महाराजाओ द्वारा होता था। नारियाँ कचुक, उक्कच्छिय, वेगाच्छिय एव खधकरणी का व्यवहार करती थी। खभकरणी पून्धगज की शाटिका जैसो ही थी।

वास्तु-कला

निवास-स्थान का वर्णन 'वत्थुविज्जा' के अन्तर्गत आया है। सम्पन्न-व्यक्तियो के ऊँचे प्रासाद (अवतसक) होते थे। प्रासादो मे स्कन्ध, स्तम्भ, मच, माल और तल का उल्लेख किया गया है। पत्थर, ईंट, लकडी से प्रसाद बनाये जाते थे। मणि, रत्न एव सुवर्ण का प्रयोग भी प्रासादो के लिये किया जाता था। मध्यमवित्तीय-जनता भवनो और गरीब-व्यक्ति कुटिया, जो घास की बनाई जाती थी, का उपयोग करते थे। महाराजाओ के स्नानगृह रत्नजटित होते थे। उवटणसाला, पोसहसाला, कूडागारसाला आदि के भी उल्लेख मिलते है। चैत्य, स्तूप एव वसति के निर्देश सर्वत्र प्राप्त होते है। वसति का निर्माण दो धरणो से होता था, और उन पर एक खम्भा तिरछा रखते थे। अनन्तर दोनो धरणो के ऊपर दो-दो मूलवेलि रखी जाती थी। मूलवेलि के ऊपर बाँस रखे जाते थे, और पृष्ठवश को चटाई से ढक दिया जाता था। पश्चात् मिट्टी से लीपकर और दरवाजा लगाकर वसति तैयार हो जाती थी। इसी वसति के आधार पर वर्तमान मे दक्षिण-भारत के वसदि नामक देवगृहो का विकास हुआ है, जिनके चार अग होते है — गर्भगृह, नवरग, सुखनासी और मडप (गर्भगृह से लगा नवरग) होता है, जिसमे

कम-से-कम 12 स्तम्भो का आँगन रहता है। इसके बाहरी-भाग मे सुखनासी होती है, और तत्पश्चात् मडप रहता है। इसप्रकार प्राकृत-वाङ्मय मे स्थापत्य-कला का बहुत ही सुन्दर-वर्णन उपलब्ध होता है।

चित्रकला

वास्तुकला के साथ-साथ चित्र एव सगीतकला के भी अनेक महत्त्वपूर्ण-उल्लेख उपलब्ध होते है। चित्रकार सर्वप्रथम विविध-रगों द्वारा पटभूमि तैयार करता था। तत्पश्चात् कूची द्वारा हाव-भाव एव विलासपूर्ण-चित्रों का अकन करता था। कुछ ऐसे भी चित्रकार होते थे, जो द्विपद, चतुष्पद और अपद (वृक्षादि) के एक अग को देखकर ही सम्पूर्ण-चित्र अंकित कर देते थे। वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, भवन, वल्ली, लतावितान, पूर्णकलश, स्वस्तिक आदि पदार्थों का लेखन 'निर्दोष-चित्रधर्म' कहलाता था, और स्त्री-पुरुषो की विभिन्न शृगारिक-चेष्टाओ की अभिव्यजना 'सदोष-चित्रकर्म' कही जाती थी। 34 कलाओ मे निष्णात एक ऐसी वेश्या का उल्लेख आया है, जिसने अपनी चित्रसभा मे मनुष्यो के जाति-कर्म शिल्प और कुपित-प्रसाधन का आलेखन कराया था। पटफलक पर बनाये हुये चित्र प्रेम को उत्तेजित करते थे। 'आवश्यकचूर्णि' और 'वृहत्कल्पभाष्य' मे बताया है, किसी परिव्राजिका ने चेटक की कन्या राजकुमारी-सुज्येष्ठा (चेलना) का एक चित्र सम्राट्-श्रेणिक को भेट किया। इस चित्रफलक को देखकर राजा-श्रेणिक मुग्ध हो गया, और अपनी सुध-बुध भूल गया। 'उत्तराध्ययन' की टीका मे एक आख्यान आया है, जिसमे 'क्षिति-प्रतिष्ठित नगर' के राजा-जितशत्रु की सभा का वर्णन है। उसमे कहा गया है, कि राजा की सभा मे चित्रागद नाम का एक वृद्ध-चित्रकार रहता था। उस चित्रकार की कन्या कनकमजरी ने कोट्टिमतल-फर्श के ऊपर एक मयूरपिच्छ की रचना की थी। राजा उसे वास्तविक मयूरपख समझकर उठाने लगा, जिससे उसके नख आहत हो गये। इसप्रकार प्राकृत-वाङ्मय मे चित्रकला का अत्यन्त सुन्दर-निर्देश उपलब्ध होता है।

संगीत एवं नाट्य

सगीत और नृत्यकला का विवेचन प्राय: प्रत्येक प्राकृत-ग्रन्थ मे मिलता है। धवला-टीकाकार वीरसेन स्वामी ने सात-स्वरो, ग्यारह-अलकारो एव तत-वितत वाद्यो का बहुत सुन्दर-चित्रण किया है। 'षड्ज' का उच्चारण अग्रजिह्वा से होता था, और इसकी नादध्वनि मयूर-सदृश कही गयी है। 'ऋषभ' का उच्चारण हृदय से, तथा उसकी नादध्वनि हसतुल्य, 'मध्य' का उच्चारण मध्यजिह्वा से और नादध्वनि गोतुल्य, 'पचम' का उच्चारण नासिक से और नादध्वनि कोकिलतुल्य, धैवत का उच्चारण दन्तोष्ठ से और नादध्वनि क्रौचतुल्य, एव 'निषाद' का उच्चारण मूर्धा से और उसकी नादध्वनि गजतुल्य बतलायी गयी है। वीणा, विपची, वल्लकी, महती, कच्छपी, सुघोषा, नन्दिघोषा, भ्रामरी आदि अनेक-भेद वीणाओ के बताये गये है। गेय, नाट्य और अभिनय का सागोपाग-वर्णन आया है। उत्थितप्त, पादान्त, मदक और सोचनावसान — इन चारो प्रकार के गेयो का सुन्दर-वर्णन आया है

पुष्पदन्त के 'महापुराण' और 'रायपसेणियसुत्त' मे बत्तीस नाट्य-विधियो का वर्णन आया है। स्वस्तिक-नाट्य मे आंगिक-अभिनय अपेक्षित है। अभिनेता स्वस्ति आदि आठ-मगलो के आकार मे खडे हो जाते है, और हस्त आदि अगो की मुद्राओ द्वारा भावभंगिमाओ का प्रदर्शन करते है। अभिनय के मध्य मे मगलशब्द के उच्चारण द्वारा

दर्शको के मन मे स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, मत्स्ययुगल एव दर्पण आदि मगलो के प्रति रतिभाव उत्पन्न करते है। आवर्त, प्रत्यावर्त, सागर-तरग, श्रेणी, प्रश्रेणी इत्यादि विभिन्न-रूपो मे नाट्य-विधियो का वर्णन किया गया है। मूक-रूप मे किसी विशेष-भावावलि के प्रदर्शन द्वारा आख्यान या तथ्य की स्थापना की गयी है। इसप्रकार सगीत, चित्र एव नृत्य और अभिनय द्वारा विविध-प्रकार से मनोरजन तथा रुचियो के परिष्कारो का वर्णन किया गया है।

समाज-दर्शन

सामाजिक रीति-रिवाज, पारिवारिक-जीवन, विभिन्न-प्रकार के उत्सव, आर्थिक-परिस्थितियो, व्यापार, वाणिज्य, कृषि, पशु-पालन, अर्थाजन के साधन, नर-नारियों के कर्त्तव्य-अकर्तव्य आदि का भी प्राकृत-वाड्मय मे वर्णन हुआ है। प्रेम, सौन्दर्य एव जीवन-भोगो का चित्रण 'गाथासप्तशती' मे अत्यन्त कुशलता के साथ अंकित किया गया है। एक प्रोषितपतिका-नायिका का पति परदेश से लौटकर आ गया है। सखी उससे श्रृगार करने के लिये कहती है, तब नायिका उत्तर देती है, कि "मेरी पडोसिन का प्रिय अभी लौटकर नही आया। अत· मै श्रृगार नही करूँगी, क्योकि मेरे श्रृगार करने से उसे पीडा होगी।" इस आशय की गाथा मे नायिका के हृदय की सम्पूर्ण-सवेदना सहज-रूप मे प्रकट हो उठी है। 'वज्जालग्ग' मे कवि ने नारी के आन्तरिक-सौन्दर्य का वर्णन करते हुये लिखा है —

'भुञ्जइ भुञ्जियसेस सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सयल।
पढम चेव विबुज्झइ घरस्स लच्छी ण सा घरणी॥'

अर्थात् जो परिवार के समस्त-सदस्यो के भोजन कर लेने के उपरान्त भोजन करती है, परिजनो के सोने के पश्चात् सोती है, और प्रातःकाल सर्वप्रथम जाग उठती है, वह सामान्य-गृहिणी नही, बल्कि की 'घर की लक्ष्मी' है।

अतिथि-सत्कार का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये बताया गया है, कि एक दम्पत्ति के घर पर एक अतिथि आया है। दरिद्रता के कारण खाद्य-सामग्री का अभाव है। गृहपति अतिथि को भोजन कराने के लिये आकुल है। पर साधनाभाव के कारण वह किकर्तव्यविमूढ हो रहा है। गृहस्वामिनी के पास विवाह के अवसर पर सौभाग्यसूचक दिया गया एकमात्र मगल-ककण अवशिष्ट है। वह अपने पति से परामर्श किये बिना ही उस सौभाग्य-ककण को बेचकर अतिथि का पूर्ण-स्वागत करती है। एक गाथा मे कवि ने अन्योक्ति द्वारा विपत्ति और दुर्भाग्य के समय को शान्ति और धैर्यपूर्वक-यापन करने का निर्देश किया है, क्यौंकि विपत्ति मे ही सम्पत्ति और दुर्भाग्य मे सौभाग्य निवास रहता है —

छप्पय गमेसु काले आसव कुसुमाई ताव मा मुयसु।
ज ण जियंतो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसंतस्स॥

अतएव स्पष्ट है, कि प्राकृत-वाड्मय मे जीवन को सुखी एव समृद्ध बनानेवाले जीवनमूल्य अकित है।

अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव व्रताचरण द्वारा आत्मा का सस्कार कर आत्मोन्नति करना जीवन का

चरम-लक्ष्य माना गया है। कषाय एव वासनाये जीवन को विकृत करती है। अतएव जो व्यक्ति सयमाचरण द्वारा इन्द्रियो का निग्रह एव समस्त-प्राणियो पर समताभाव-रूप प्रवृत्ति को ग्रहण कर लेता है, वह आत्मोत्थान मे अग्रसर होता है। प्राकृत-वाङ्मय मे सदाचार का बहुत ही विस्तृत-वर्णन आया है। गृहस्थ मूलगुण और उत्तरगुणो द्वारा तथा साधु महाव्रत, समिति, गुप्ति, परीषहजय, तप, ध्यान आदि रूप-चारित्र द्वारा आत्मा का सस्कार करता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' मे सास्कृतिक-जीवन के लिये मनुष्यता, ज्ञानाभ्यास, श्रद्धा और सयम को आवश्यक माना है —

चत्तारि परमगाणि वुल्लहाणीह जतुणो।
मारणुसत्त सुई सद्धा सजमम्मि य वीरिय॥

स्वामी कुन्दकुन्द आचार्य ने 'धर्म' की परिभाषा बतलाते हुये मोह और क्षोभ से रहित आत्म-परिणति को धर्म कहा है। जो आत्मा के साम्यभाव को प्राप्त कर लेता है, वही सुसस्कृत या आत्मज्ञ है। यथा —

'चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥'

प्राकृत के आचार्यों ने मनोमालिन्य को दूर करने के लिये स्याद्वाद-सिद्धान्त का प्रवचन किया है। इस सिद्धान्त द्वारा विचारो मे उदारता तथा समन्वय की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यह अहिसा का आध्यात्मिक-पाठ है। कार्यों और विचारो मे समन्वय की स्थापना इसी सिद्धान्त द्वारा सम्भव हो सकती है। सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि प्राकृत-वाङ्मय का सस्कृति और सभ्यता के तत्त्वो की दृष्टि से सस्कृत-वाङ्मय की अपेक्षा कही अधिक महत्त्व है। ❖❖

पालि नहीं 'मागधी' बुद्धवचनो की भाषा

'बुद्धघोसा कुरुवकट्ठकथ सीहलभास परिवत्तेत्वा मूलभासाय।
मागधिकाय निरुत्तिया समतपासादिका नाम विनयट्ठकथा अव्यासि॥'

— (सद्धम्मसगहो, पृ 34)

"अभिधम्मपिटके महापच्चरियट्ठकथा सीहलभास परिवत्तेत्वा मूलभासाय मागधिकाय निरुत्तिया अट्ठसालिनी नाम धम्मसगणिअट्ठकथ च ठपेसि।" *— (वही, पृ 35)*

बुद्धवचनों का महेन्द्र ने श्रीलका जाकर 'मागधी' से 'सिहली' मे रूपान्तरण किया था। तथा बाद मे बुद्धघोष ने श्रीलका जाकर उनका 'सिहली' से पुनः 'मागधी' मे रूपान्तरण किया। ❖❖

भारतीय-भाषाओं के विकास में प्राकृत-अपभ्रंश का योगदान

✍ डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

प्राय: यह चर्चा की जाती है कि भारत की प्रमुख-प्रान्तीय एव आचलिक-भाषाये सस्कृत से विकसित हुई है। किन्तु भाषा-वैज्ञानिको का स्पष्ट अभिमत है, कि सस्कृत-भाषा का स्वरूपगठन ऐसा हुआ हे, कि वह किसी अन्य-भाषा को जन्म देने मे समर्थ ही नही है। जबकि प्राकृत-अपभ्रश-भाषाओ का वैशिष्ट्य इस विधा के लिये पूर्णत:-उपयुक्त है। अतएव भारतीय-भाषाओ के विकास मे प्राकृत-अपभ्रश का मुख्य-योगदान है। इस तथ्य को व्यापक-रीति से विद्वान्-लेखक ने इस आलेख मे स्पष्ट किया है। — **सम्पादक**

प्राकृत-शब्द और वैदिक-भाषा

विभिन्न भाषिक-रूपो के अध्ययनो से यह सुनिश्चित हो गया है, कि शत-सहस्राब्दियो के सुदूर-युगो मे भी बोलियो का सामान्य-प्रवाह प्रचलित रहा है। वेदो के सग्रहीत जिन पाठ-भेदो का अध्ययन ब्लूमफील्ड और एजर्टन ने किया था, उनमे बोलियो के नमूने आज भी सुरक्षित है। सस्कृत के सुप्रसिद्ध-वैयाकरण पाणिनी के व्याकरण मे विवेचन एक पूरा पृषोदरादि-गण बोलियो के शब्द-रूपो से भरित है। इतना ही नही, महर्षि पाणिनी के सूत्र मे एक-तिहाई शब्दो के बोली-रूप होने का कात्यायन ने वार्तिको मे सकेत किया है, जिसका विशदीकरण पतजलि ने अपने 'महाभाष्य' मे यह कहकर किया है, कि "एक शब्द के बहुत अपभ्रश-रूप हैं, जैसे एक 'गौ' शब्द के लिये गावी, गोणी, गोता और गोतातलिका — ये चार रूप मिलते है।" किन्तु गव, गाव, गावी, गुण, गोण, गोणी, गौ आदि शब्द वैदिक-काल से लेकर आज तक की प्रचलित विभिन्न-बोलियों में मिलते है। प्राकृत के शब्दकोशो मे गव, गाव, गावि, गावी आदि अनेक प्रकार के शब्द-रूप दृष्टिगत होते हैं। मूल मे 'गव' शब्द का प्रयोग पशु-सामान्य के लिये किया जाता था। यथार्थ मे भाषा प्रत्येक-युग मे जनपदीय-शब्दावली से समृद्ध होती रहती है। बोलियो के माध्यम से ही एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में स्थानान्तरित होते रहते है। इसलिये पतजलि ने भी स्पष्ट-रूप से स्वीकार किया है, कि विभिन्न-जनपदो मे साधारण-लोगो की बोलचाल मे कई तरह के अपभ्रश-रूप थे। डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस वास्तविकता का वर्णन करते हुये लिखा है — "पतजलि जिस भाषा मे लिखते थे, उसे ही बोलते भी थे। पर उनको गाये घेरनेवाला ग्वाला अपनी बोली बोलता था, यद्यपि पतजलि की भाषा भी समझता था।" कात्यायन ने लोक की भाषा को व्याकरण-सम्मत भाषा कहा है, किन्तु इसके साथ ही एक वार्तिक में 'आणवयति' आदि प्राकृत-धातुओ के अस्तित्व का उल्लेख है — **"भूवादि पाठः प्रातिपदिकाणवयत्याविनिवृत्त्यर्थः"** — *(1/3/1 वा, 12)* 'प्रयोग सर्वलोकस्य' वार्तिक की ध्वनि यह है, कि पाणिनीय-भाषा के शब्दों का शुद्ध-प्रयोग लोक के विभिन्न-स्तरों मे व्याप्त था।[1] यह भी एक महत्त्वपूर्ण-तथ्य है, कि भाषा की स्थिति विभिन्न-युगों मे परिवर्तित होती रही है। भावो के सवहन-रूप मे जनता का झुकाव जिस ओर रहा या भाषा का प्रवाह जिस रूप मे ढलता गया, वही

आगे चलकर स्थिर होने पर कभी-कभी मानक-रूप भी ग्रहण करता रहा।

किसी भी देश की सस्कृति का सच्चा-परिचय प्राप्त करने के लिये कला-शिल्पादि महत्त्वपूर्ण-साधन है, उनसे भी अधिक-महत्त्वपूर्ण शब्द होते है। क्योकि वास्तुकला आदि पर समय का इतना प्रभाव पडता है, कि उनका रूप फीका पड जाता है, वे धुधले पड जाते है; लेकिन भाषा मे प्रचलित-शब्दो का जीवन बहुत लम्बा होता है, और उनमे बहुविध-परिवर्तन होने पर भी वे अपने मूल-रूप की पहचान सदा बनाये रहते है। उदाहरण के लिये सस्कृत मे भले ही 'गोणी' शब्द का प्रयोग किसी युग मे या युग-युगो मे गाय के लिये न ही हो, किन्तु गाय, बैल या घोडे-खच्चर पर लादे जानेवाले थैले को 'गोणी' कहना अवश्य प्रचलित रहा है। पालि-साहित्य मे 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजालसुत्त मे 'गोणक' शब्द मिलता है, जो लम्बे बालोवाले बकरो के बालो से बना हुआ मोटा ऊनी वस्त्र होता था। अनुमान यह किया जाता है कि प्राक्-पाणिनीयकाल मे कभी यह शब्द पश्चिमी-व्यापारियो के साथ इस देश मे आ गया हो।[2] वास्तव मे 'गोणी' व्यापारियो के काम की वस्तु है। आज से लगभग तीन दशक-पूर्व तक बुन्देलखण्ड मे 'बन्जी-भौरी' का मतलब था, घूम-घूमकर या फेरी लगाकर। घोडे पर पटसन या दुहरे टाट का ऐसा बडा थैला लादा जाता था, जिसमे किराने की सभी वस्तुओ को दोनो तरफ भरकर लटका दिया जाता था। इसप्रकार माल ढोने के लिये सन या पटसन अथवा टाट या अन्य किसी के बने हुये मोटे थैले के लिये, जो दोनो तरफ खोल जैसा होता था, उसके लिये 'गोणी' के शब्द का प्रयोग प्रचलित रहा है। 'वृहत् हिन्दी-कोश' मे गोणी को मूल मे सस्कृत शब्द लिखा है। 'गोणी' का अर्थ है — गोनी, दो सूप की माप, चीथडा, और गोनी का अर्थ है[3] — टाट का थैला, बोरा, पाट, सन। 'मालवी' मे जूट की बनी बोरी के लिये आज भी 'गुणी' शब्द प्रचलित है। कही-कही यह गुनी, गोनी भी बोलते हुये सुना जाता है। आर एल टर्नर ने इसे द्रावडी-वर्ग का माना है।[4] भारत के विभिन्न प्रदेशो मे आज भी गावी, गोणी आदि शब्द विविध-अर्थों मे प्रचलित हैं। फारसी मे गाय-बैल के लिये 'गाव' शब्द मिलता है।[5]

विकासक्रम

प्राकृत-अपभ्रश से हमारा अभिप्राय किसी जाति-विशेष या काल-विशेष की भाषा से नही है, किन्तु इस विशाल-देश के प्राणो मे स्पन्दित होनेवाली उन बोलियो के समूह से है, जो ईस्वी-पूर्व लगभग छठी या पाँचवी शताब्दी से लेकर ईसा की चौदहवी शताब्दी तक लगभग दो सहस्र-वर्षों तक भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित रही है। प्राकृतो की मूल-विशेषता यही रही है, कि वे इस राष्ट्र के प्रत्येक-भाग से तथा विकास की दशाओ से जुडी रही है। यही कारण है कि इनमे कोई एक विषय नही, किन्तु भारतीय-वाड्मय के सभी विषयो की शाखाओ मे सभीप्रकार का साहित्य लिखा गया। यदि प्राकृत तथा अपभ्रश-साहित्य धार्मिक होता, तो केवल-धर्म से सम्बन्धित रचनाये ही इसमे पाई जाती, किन्तु आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र, ज्योतिष, राजनीतिक, योगशास्त्र, दर्शन, प्रमाणशास्त्र, व्याकरण, शब्दकोश, गणित, भौगोलिक-नामशास्त्र, पुराण, चरित, कथाकाव्य, अलकर, छन्द आदि विभिन्न-विषयो मे रचे गये अनेक-ग्रथ इसमे उपलब्ध होते हैं। अत: प्राकृत तथा अपभ्रश-साहित्य राष्ट्रीय-साहित्य हैं, जन-साहित्य है।

आज जिसे हम 'प्राकृत' तथा 'अपभ्रश' कहते है, किसी युग मे इन को भाषा के नाम से अभिहित किया

जाता था। साहित्यिक-भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित होते ही इनमे जब देशी-शब्दो की भरती होने लगी, तब इनको 'देशी' कहा जाने लगा। किन्तु एकसमय ऐसा भी आया, जिस युग में साहित्यिक-प्रतिस्पर्धा मे सस्कृत-साहित्य के समानान्तर उसी कोटि मे रचना होने लगी, तब इनका उल्लेख 'अपभ्रष्ट' कहकर किया जाने लगा। किन्तु अपभ्रश मे रचना करनेवाले अपनी भाषा को 'देशी' ही कहते रहे। 'देशी' और कुछ नही है, केवल भाषा का वह सामान्य-प्रवाह है, जिसमे बरसाती नदी-नालो की भाँति विविध-जातियो तथा उनके समाज की सक्रमणशील-अवस्था मे विभिन्न सम्मिश्र-प्रभावो के साथ जो रच-रूपकर एकरूप बहता रहता है, उसी प्रवहणशील-प्रवाह को 'देशी' कहा गया है।

प्राकृत-अपभ्रश बोलियो मे अन्तर-प्रवाह देशी-बोलियो का लक्षित होता है, क्योंकि प्राकृत और अपभ्रश — दोनो भाषाओ मे देशी-शब्दो की प्रचुरता है। प्राकृत तथा अपभ्रश के जो साहित्यिक-भाषा-रूप उपलब्ध है, उनके क्षेत्रीय-भेदो का विवरण भी मिलता है। अपभ्रश के कम-से-कम चार और अधिक-से-अधिक चौदह भेदो का वर्णन किया गया है। मार्कण्डेय ने 'प्राकृतसर्वस्व' मे प्राकृत-भाषा के चार भेदो का वर्णन किया है — भाषा, विभाषा, अपभ्रश और पैशाची। 'भाषा' के पाँच भेद हैं — महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी। 'विभाषा' के भी पाँच भेद है — शाकारी, चाण्डाली, शबरी, आभीरी और ढक्की। अपभ्रश के तीन भेद है — नागर, ब्राचड और उपनागर। 'पैशाची' के कैकयी, पाचाली आदि अनेक भेद है।[6] प्राकृत के वैयाकरणो ने इन भेदो की चर्चा के साथ ही उनकी विशेषताओ का भी उल्लेख किया है। उनके नियमो का वर्णन व विवेचन होने से हम यह नही कह सकते, कि इन भेदो का कोई अस्तित्व ही नही था, या केवल साहित्यिक-भाषा को ही 'महाराष्ट्री-प्राकृत' कहते थे। वास्तव मे इसप्रकार के कहने की बात तब आरम्भ हुई, जब महाराष्ट्री-प्राकृत साहित्य के लिये सर्वमान्य तथा रूढ हो चुकी थी। प्राकृत की विभाषाये ही मध्यकाल मे क्षेत्रीय-भेदो के आधार पर अपभ्रश-बोलियो के रूप मे प्रचलित रही। क्षेत्रीय-भाषाओ के रूप मे आज हम जिन बोलियो को भाषा के रूप मे विकसित देख रहे है, उनका जन्म पाँचवी शताब्दी के लगभग अपने-अपने क्षेत्रो की अपभ्रश-बोलयो से हुआ था। वैदिक-साहित्य के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है, कि बोलियो का महत्त्व सदा बना रहा है। स्वय पतजलि वैदिक-शब्दो की सिद्धि लोक से मानते हैं।[7] भाषा-वैज्ञानिको का यह अभिमत है, कि 'महाराष्ट्री-अपभ्रश' से मराठी और कोकणी; 'मागधी-अपभ्रश' की पूर्वी-शाखा से बगला, उडिया तथा असमिया; 'मागधी-अपभ्रश' की पश्चिमी-शाखा से बिहारी, मैथिली, मगही और भोजपुरी; 'अर्द्धमागधी-अपभ्रश' से पूर्वी-हिन्दी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढी; 'शौरसेनी-अपभ्रश' से बुन्देली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बागरू, हिन्दी, 'नागर-अपभ्रश' से राजस्थानी, मालवी, मेवाडी, जयपुरी, मारवाडी तथा गुजराती; 'पालि' से सिहली और मालदीवन; 'टाक्की' या 'ढाक्की' से लहडी या पश्चिमीय पजाबी; शौरसेनी-प्रभावित टाक्की से पूर्वी-पजाबी; 'ब्राचड-अपभ्रश' से सिन्धी भाषा; 'पैशाची-अपभ्रश' से कश्मीरी-भाषा का विकास हुआ है। यद्यपि इन सभी क्षेत्रीय-भाषाओ के रूप आज हमारे सामने नही है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिको की भाषा-विषयक अवधारणाओ तथा मध्यकालीन एव आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ के विकास-क्रम को ध्यान मे रखकर इन सम्भावनाओ को झुठलाया भी नही जा सकता। वास्तविकता भी यही है, कि भाषाओ के विकास की जडे आज भी लोक-बोलियो मे गहराई तक जमी हुई लक्षित होती हैं। कभी-कभी हम यह अनुमान भी नही कर सकते हैं, कि जिन शब्दो को हम वैदिक-साहित्य

मे ढूँढना चाहते है वे बोलियो में सहज ही उपलब्ध हो जाते है। उदाहरण के लिये कुछ शब्द हैं — चरु, रोट, सूप, मेह, मुसल, दाति, अजगर, देव इत्यादि।

शब्द-यात्रा

मालवी-बोली मे वैदिक-काल से लेकर आज तक 'चरु' शब्द अपने मूल-रूप मे प्रचलित है। ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी आदि बोलियो की भाँति 'चरवा' शब्द भी मालवा मे प्रचलित है। इनमे किंचित् अर्थ-भेद विशेष-रूप से लक्षित होता है। मालवा मे सबसे बडे मिट्टी के घडे को 'चरवा' कहते है। उससे छोटे मध्यम-आकार के घडे को 'चरवी' कहा जाता है। वास्तव मे यह गगरी जैसा होता है। लोटे जैसे मिट्टी के बर्तन को 'चरु' कहते है। चरुवा का चरुवउ या चरउ जैसा प्रयोग कर लेना मालवी-कविता के लिये साधारण बात है। मालवी मे ही नही, सभी बोलियो मे अर्थ-द्योतन की विशिष्ट-क्षमता समाहित है। जैन आगम-ग्रन्थो मे चरु, थासग (परात) आदि का प्रयोग मिलता है। 'औपपातिकसूत्र' मे थाल-विशेष के अर्थ मे 'चरु' शब्द दृष्टिगोचर होता है। 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' मे स्थाली-विशेष, पात्र-विशेष 'चरु' कहा गया है।[8] अपभ्रश मे महाकवि पुष्पदन्त ने 'चरुकपात्र' के अर्थ मे कई 'चरुय' शब्द का प्रयोग किया है।[9] इसके अतिरिक्त 'घडे' के अर्थ मे कई अपभ्रश-कवियो ने अपने काव्य मे प्रयोग किया है। 'ऋग्वेद' मे छोटे-बर्तन के लिये 'चलुक' शब्द उपलब्ध होता है।[10] सिन्धी और मराठी मे 'चरु' तावे की नाद को कहते है, जो रगने के काम मे आती थी। लहदा मे यह 'चरवी' है, जो पीतल के बर्तन के लिये प्रयुक्त होती है। असमी मे मिट्टी की बटलोई के लिये 'चरु' शब्द प्रचलित है, किन्तु बिहारी, हिन्दी मे बहुत बडे मिट्टी के घडे को या कुठिया, कुठार को 'चरुआ' कहा गया है। गुजराती मे ताबे के बर्तन को 'चरु' कहते है।[11] इसप्रकार यह 'चरु' शब्द भारतीय आर्य-भाषाओ मे वैदिक-काल से लेकर आज तक सतत प्रचलित रहा है।

विभिन्न प्रभाव

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ मे ध्वन्यात्मक-रूपो मे, शब्द-रचना रूपो मे तथा वाक्यात्मक-गठन मे, जो भी परिवर्तन लक्षित होते है,उनके इस स्थिति मे आने के लिये प्राकृत-अपभ्रश का प्रभाव स्पष्ट-रूप से लक्षित किया जा सकता है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ पर सीधा-प्रभाव अपभ्रश का लक्षित होता है, क्योकि प्राकृत-अपभ्रश की प्रमुख स्वर-व्यजन-ध्वनियाँ आधुनिक-भारतीय आर्यभाषाओ की केन्द्रवर्ती-भाषाओ मे सुरक्षित है। उदाहरण के लिये, अपभ्रश के 'ए' एव 'औ' के ह्रस्व उच्चारण आज भी भारतीय-आर्यभाषाओ मे सुरक्षित है। परिणामत: ए, ऐ, ओ, औ का उच्चारण मूल-स्वरो के रूप मे होने लगा है। यह भी स्पष्ट है, कि अन्त्य-स्वर के ह्रस्वीकरण एव लोप की प्रवृत्ति अधिकतर आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओ मे पाई जाती है। ध्वन्यात्मक-अभिरजना के स्तर पर विकास की दिशा मे लगभग सभी भारतीय-आर्यभाषाओ का विकासक्रम एक जैसी धारा मे हुआ है। यही कारण है, कि मध्य-भारतीय आर्य-भाषाकाल मे जिन शब्दो मे समीकरण के कारण एक व्यजन का द्वित्त्वरूप हो गया था, अपभ्रश के उत्तरवर्तीकाल मे उनमे से एक व्यजन शेष रह गया, और पूर्ववर्ती-स्वर मे क्षतिपूरक-दीर्घीकरण हो गया। सिन्धी, पजाबी, हिन्दी आदि के अतिरिक्त सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ मे यह प्रवृत्ति सुरक्षित है।[12] इसीप्रकार हिन्दी, उर्दू, सिन्धी, पजाबी, उडिया आदि मे

लगभग एक ही काल मे मूर्धन्य-उत्क्षिप्त' 'ड' और 'ढ' विकसित हो गये। प्राकृत-अपभ्रश मे 'ऋ' का उच्चारण नहीं होता। इसके स्थान पर अ, इ, उ और रि का प्रयोग मिलता है। आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओ मे इसका उच्चारण 'र, रि तथा रु' रूप मे होने लगा। आज भी 'रि' मे 'र' के बाद का 'इ' का उच्चारण किसी भी आधुनिक-भारतीय आर्यभाषा मे नही होता। प्राकृत और अपभ्रश मे केवल एक ही 'स' का प्रयोग मिलता है। वर्ग के अन्तिम वर्ण को अनुस्वार के रूप मे ही लिखने की प्रवृत्ति प्राकृतकाल से आरम्भ हो गयी थी। इसलिये सस्कृत मे भी वैकल्पिक-व्यवस्था बनी रही। किन्तु आधुनिक-भारतीय आर्यभाषाओ मे दिनोदिन वर्ग के पचम-वर्ण के प्रयोग का लोप होता जा रहा है। उनके स्थान पर केवल अनुस्वार से काम चलाया जाता है। प्रेसवालो के लिये यह बहुत सुकर है। आधुनिक- भारतीय आर्य-भाषाओ मे कृदन्त-रूपो की जो बहुलता दिखलाई पडती है, उसका कारण अपभ्रश-भाषिकरूपो की विशेषता कही जाती है। उदाहरण के लिये, हिन्दी मे करता, गुजराती मे करत, बगला मे करित, मराठी मे करित, उडिया मे करन्त, पजाब मे करिदा आदि का विकास अपभ्रश के कृदन्त-रूपो से हुआ। इसप्रकार अधिकाश आधुनिक-भारतीय आर्यभाषाओ मे वर्तमानकालिक-कृदन्त-रूप मे पुरुष तथा लिगवाचक-प्रत्यय जोडकर काल-रचना होती है। यही कारण है, कि आधुनिक-भारतीय आर्य-भाषाओ मे लिग-भेद का कारण अपभ्रश के कृदन्तीय-रूपों का क्रिया-रूप मे प्रयोग है। जैसे हिन्दी मे पढता, पढती, पढा, पढी आदि क्रियाओ मे लिग-भेद देखा जाता है, वैसे ही मराठी मे भी इस तरह के प्रयोग है — मी जाती (मै जाता हूँ), मी जाते (मै जाता हूँ), तू जातेस (तू जाता है), तू जातेस (तू जाती है) — इन क्रियाओ मे लिग-भेद स्पष्टरूप से देखा जाता है।

आपसी सम्बन्ध

विद्वानो का यह अनुमान है, कि आज हिन्दी तथा अन्य-भाषाओ मे जिस तरह वर्तमानकालीन तथा भूतकालीन-कृदन्तरूपो के साथ सहायक-क्रियाओ को जोडकर विविध-कालो की रचना की है, वैसी मध्यकालीन भाषागत-प्रवृत्ति मे प्रवर्तमान नही थी। अतः आधुनिक-भारतीय आर्यभाषाओ मे सयुक्त-काल एव सयुक्त-क्रिया की रचना द्रविड-भाषाओ का प्रभाव है। किन्तु ऐसा मानना उचित नही है, क्योकि उत्तरकालिक-अपभ्रश के काव्यो मे और विशेषकर 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण', रोडाकृत 'राउलवैल' एव 'कुतुबशतक' आदि मे प्रचुरता से सयुक्त-काल एव सयुक्त-क्रिया की रचना दृष्टिगत होती है। इसीप्रकार हिन्दी मे दो छोटे-छोटे वाक्यो को सयुक्त करने के लिये सयोजक के रूप मे या सम्भावना व शर्त को प्रकट करने के लिये 'तो' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे कि —

यदि वह कल आता **तो** मै चला जाता। नशा उतरता **तो** वह रोने लगती। इससे **तो** रात्रि भी प्रकाशमान हो उठी। यह सौन्दर्य **तो** मानो सूर्य की किरण से ही निकाला गया है।

उक्त सभी वाक्यो मे 'तो' का प्रयोग हिन्दी मे कहाँ से आया? अपभ्रश मे अवश्य ऐसे प्रयोग विशेष-रूप से विकसित होने लगे थे। काव्य मे प्रयुक्त एक प्रयोग देखिये —

तो तुणु वि काइ

अर्थात् तो फिर भी क्यो? अधिकतर ऐसे प्रयोग वाक्य के प्रारम्भ मे ही लक्षित होते है। स्पष्टरूप से ये

हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि मे अपभ्रश से ही लिये गये है।

आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओ मे परसर्गों का विकास स्पष्टरूप से प्राकृत तथा अपभ्रश के प्रत्ययो से हुआ है। अपभ्रश मे सम्बन्ध-कारक मे 'बप्प' शब्द के बप्पहो और बप्पकेर — ये दो रूप बनते है। 'केर' की भाँति 'तण' प्रत्यय भी अपभ्रश मे व्यापक रहा है। छत्तीसगढी मे आज भी इन प्रत्ययो से निर्मित, उनकरा उनकर, इन्हिकर, जिनितकर आदि प्रयोग प्रचलित है। अवधी मे 'कर', भोजपुरी मे 'क' असमिया मे 'र' छत्तीसगढी मे 'के' कर, तथा राजस्थानी मे 'रा' को अपभ्रश के 'केर' का अश माना जा सकता है। महाकवि जायसी के 'पद्मावत', कबीर की राखियो मे और महाकवि तुलसीदास के 'राम चरितमानस' मे 'केर, केरा' प्रत्यय के प्रयोग मिलते है। इसीप्रकार चतुर्थी-विभक्ति मे 'के लिये' का वाचक प्राकृत के 'लग्गा' प्रत्यय से ही हिन्दी, अवधी, ब्रज आदि मे 'लागि, लगे' आदि प्रत्यय-रूप शब्दो का प्रचलन हुआ। एक भोजपुरी गीत है —

अपना पिय लागि पेन्ह लो चुन्वरिया,
हम तोहरे ला सब कुछ करतिन।

अपभ्रश मे 'डार' प्रतयय के सयुक्त होने पर अम्हार, तुम्हार जैसे रूप बनते है। बगला का आमार, गुजराती का म्हेर, राजस्थानी का म्हारा आदि रूप अपभ्रश से ही विकसित हुये है। इसीप्रकार हिन्दी के भाववाचक 'पन' प्रत्यय का विकास अपभ्रश के 'प्पणु' प्रत्यय से हुआ। राजस्थानी और डिगल-भाषा मे यह 'पण' मिलता है। अवधी, ब्रज और हिन्दी के अनिश्चयवाचक, निश्चयवाचक और रीति या गुणवाचक-सर्वनामो का विकास भी अपभ्रश से हुआ। इसी तरह क्रियार्थक-क्रिया 'कर' का विकास अपभ्रश के 'इ' के रूप मे 'रामचरितमानस' मे दिखलाई पडता है, जैसे — 'कहिहउ देखि प्रीति अति तोरी।' यहाँ पर 'देखि' का अर्थ देखकर है। इसीप्रकार प्राकृत-अपभ्रश के 'इल्ल, उल्ल' प्रत्ययो से हिन्दी मे 'वाला' (ताँगावाला, गाडीवाला) प्रत्यय प्रचलित हुआ। अपभ्रश के स्वार्थिक प्रत्यय 'अ, ड, उल्ल' से हिन्दी के 'आ' (साजना बालमा, मोहना आदि), 'ड', (बुखड), 'रा' (हियरा, जियारा, पपीहरा), 'ला' (गदेला, घुडला, चूडला), 'टा' (चिनट्टा, चौट्टा, चिरोटा, बहूटी) इत्यादि का विकास हुआ।

आधुनिक-भारतीय आर्यभाषाओ के विविध क्रिया-रूपो पर विशेषकर आज्ञार्थक, प्ररणार्थक, वर्तमानकालिक सम्भावनार्थक, आदि पर अपभ्रश का प्रभाव स्पष्टरूप से देखा जा सकता है। इसीप्रकार हिन्दी की सहायक-क्रिया 'है' का विकास भी अपभ्रश के 'हइ' से हुआ है। 'कुतबशतक' मे इसप्रकार के प्रचुर वाक्य-प्रयोग है। उदारहरण के लिये — 'साहिजादा हँसता हइ। पग देखि ऊलसता हइ। साहिजादा दीनी हइ।' 'कुतबशतक' मे अधिकतर शब्दरूप, कृदन्त-रूप तथा क्रिया-पद-रूप अपभ्रश के ही है। मारवाडी मे आज भी 'हुवइ, हुअइ, हुइ' आदि प्रयोग प्रचलित है। ब्रज मे 'हुवे', कन्नौजी मे 'हेगो', बुन्देली मे 'हओ, हउ', मारवाडी मे 'आहि', मगही में 'हइ' और छत्तीसगढी मे 'हवे' मिलता है। 'रामचरितमानस' मे 'अह' का प्रयोग मिलता है। आबू-सिरोही क्षेत्र की भाषा मे, पश्चिमी-अवधी और बघेली मे इसका शुद्ध-रूप 'है' प्रचलित है। इसीप्रकार अपभ्रश के 'थिय' से हिन्दी का 'था' विकसित हुआ। वस्तुत: हिन्दी के और उसकी बोलियो के क्रिया-रूपो के विकास मे उत्तरकालिक-अपभ्रश, अवहट्ठ तथा पुरानी हिन्दी के क्रिया-पदो का विशेष-रूप से योगदान है।

इसप्रकार जैसे भाषा-विकास की विभिन्न-अवस्थाओं को जानने के लिये सस्कृत-भाषा और उसका साहित्य अत्यन्त-महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओ की विकासात्मक-परम्परा तथा प्रारम्भिक-साहित्य मे प्रयुक्त होनेवाली साहित्यिक-भाषा का स्वरूप जानने के लिये प्राकृत तथा अपभ्रश-भाषा एव साहित्य का अध्ययन आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। यहाँ केवल कुछ प्रमुख-भाषाओ के साथ प्राकृत-अपभ्रश के योगदान का अवलोकन किया गया है। दक्षिण-भारतीय-भाषाओं के साथ भी प्राकृत-अपभ्रश की तुलना उपयोगी रहेगी।

प्राकृत मे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातों की रूप-रचना

प्राकृत स्वरप्रधान-भाषा है। प्राकृत मे अधिकतर-परिवर्तन स्वरो मे देखे जाते है। प्राकृतभाषा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी, प्राचीन शौरसेनी, नाटको मे प्रयुक्त शौरसेनी तथा अपवादरूप मे प्रयुक्त अन्य प्राकृतो मे भी दीर्घ-स्वर के स्थान पर ह्रस्व-स्वर का प्रयोग लक्षित होता है। वेदो की सस्कृत से प्राकृत की ध्वनि-सम्पत्ति की विशेषता यह है कि प्राकृतो मे ह्रस्व ऍ, ऑ वर्ण उपलब्ध होते है। इसका मूल कारण यही है कि प्राकृत बोलीरूप थी। रिचर्ड पिशल ने ठीक ही लिखा है कि प्राकृत-भाषाओ का जितना घनिष्ठ-सम्बन्ध वैदिक-बोली के साथ है, उतना ही मध्यकालीन तथा नवीन भारतीय-जनता की बोलियो के साथ है। ईसापूर्व द्वितीय-शताब्दी से लेकर तृतीय-ईसवी तक जो प्रस्तर-लेख गुफाओ, स्तूपो, स्तम्भो आदि मे मिलते है, उनसे सिद्ध होता है कि उस समय जनता की एक भाषा ऐसी थी, जो भारत के सुदूर-प्रान्तो मे भी समानरूप से समझी जाती थी।[14] — प्राकृतो मे ह्रस्व ऍ, ऑ होने का नियम यह है कि सयुक्त-अक्षरो से पूर्व 'ए' आने पर 'ऍ' और 'ओ' आने पर 'ऑ' हो जाता है। महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी मे कभी-कभी 'इ' और 'उ' हो जाता है। उदाहरण के लिए — पॅच्छइ, पॅच्छदि, पॅक्खदि, पॅस्कदि, पिच्छइ आदि। इनमे से महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी मे पॅच्छइ, शौरसेनी आगमो मे पॅच्छदि, शौरसेनी मे पॅक्खदि, मागधी मे पेस्कदि और प्राचीन महाराष्ट्री मे 'पिच्छइ' का प्रयोग उपलब्ध होता है।[15] प्राकृत मे बिना व्यजन के प्रयोग के स्वर के पश्चात् स्वर प्रयुक्त होता है, किन्तु सस्कृत मे ऐसा प्रयोग नही होता। जैसे कि — ऋतु के लिए 'उउ', आउ, आऊ, पाइअ, एअअ, एआ, इअ, इइ, आइत्तु, ओअल्लो, अइ, अउण, अउणा इत्यादि। 'अवेस्ता' की भाँति प्राकृतो मे स्वरभक्ति विशेषरूप से उपलब्ध होती है, जैसेकि आरिय (आर्य), हरिस (हर्ष), किलेस (क्लेश) इत्यादि।

णाम — सुबन्त का ग्रहण 'नाम' मे किया जाता है। जितने प्रकार के सज्ञा शब्द है, वे 'नाम' से अभिहित किए जाते है[16]; जैसे अस्सो (अश्वः), देवो, वसहो, मिओ, बहू, गुहा, णई, विण्हू, जिणो, सयणो, सिप्पो, रण्णो आदि। 'नाम' पाँच प्रकार के कहे गए है[17] — नामिक, नैपातिक, आख्यातिक, औपसर्गिक और मिश्र। इनमे से 'नाम' या सज्ञार्थक-शब्दो का वर्णन चार-प्रकार से किया गया है[18] — आगम, लोप, प्रकृतिभाव और विकार।

शब्द का व्यवहार या प्रयोग तभी होता है; जब द्रव्य-विशेष, वस्तु, मनुष्य आदि का कोई नाम हो। अत वस्तु तथा व्यक्ति आदि का नामकरण या अभिधान 'नाम' शब्द से किया जाता है। 'निरुक्त' मे कहा गया है कि लोक मे व्यवहार करने के लिए वस्तुओ की सज्ञा शब्द द्वारा की जाती है।[19] मनुष्यो के समान ही देवताओ

का भी नाम-अभिधान किया जाता है।[20] इसके बिना किसी भी शास्त्र की रचना सम्भव नही है। अत: शास्त्र के लक्षणो मे 'सज्ञा' का भी उल्लेख किया जाता है।[21] प्राकृत के व्याकरणो मे भी सर्वप्रथम सज्ञाओ का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए प्रकृति और विभक्ति से प्राप्त समुदायरूपी अर्थ की 'पद' सज्ञा होती है।[22]

इसमे कोई सन्देह नही है कि प्राकृतभाषा के सभी वर्ण स्वत:सिद्ध हैं। 'सिद्ध' शब्द का अर्थ नित्य तथा प्रसिद्ध है।[23] प्रसिद्धि यह है कि प्रकृति और प्रत्यय के बिना किसी भी भाषा की रचना नही होती। आचार्य रविषेण का कथन है कि सस्कृत की भाँति (वैदिक और लौकिक) प्राकृतो तथा शौरसेनी प्राकृत — इन तीनो भाषाओ मे समान रूप से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातो का विधान किया गया है।[24]

'नाम' पदो के तीन भेद है — स्त्रीलिग, पुल्लिग और नपुसकलिग। आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त और ओकारान्त-शब्द पुल्लिग होते है। किन्तु स्त्रीलिग-शब्दो मे ओकारान्त-शब्द नही होते। नपुसकलिग-शब्दो मे अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त-शब्दो की ही गणना की जाती है।[25] सज्ञा-शब्दो मे विशेषरूप से ध्यान देने योग्य यह है कि इसमे व्यजनान्त-शब्दो की रूपावली प्राय: पूर्णरूप से लुप्त हो गई है। अत: रूपावली के अवशेष त्, न्, श और स मे समाप्त होने वाले शब्दो मे पाये जाते है।[26] जैसेकि 'विपत्' से 'विवआ' (विपदा), 'तेजस्' से 'वेओ', 'शरद्' से 'सरओ', 'दिश:' से 'दिसो' इत्यादि। इसीप्रकार शब्दा के अन्त मे स्थित हलन्त-व्यजन का सर्वत्र लोप होता है, जैसेकि जाव (यावत्), ताव (तावत्), जसो (यशस्), णह (नभस्), सिर (शिरस्), तम (तमस्), भगवओ (भगवत्), वय (वयस्)। प्राकृतो का एक सामान्य-नियम यह है कि भिन्न-वर्गवाले सयुक्त-व्यजनो का प्रयोग प्राकृत मे नही होता। अत: प्राय: पूर्ववर्ती-व्यजन का लोप कर परवर्ती-व्यजन को द्वित्व कर देते है।[27] उदाहरण के लिए, 'उत्कण्ठा' शब्द मे विजातीय 'त्' और 'क्' का सयोग है। इसलिए पूर्ववर्ती 'त्' का लोप कर 'क्' को द्वित्व कर देते हैं, जिससे 'उक्कठा' शब्द सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार 'पक्व' से 'पिक्क', 'वल्गा' से 'वग्गा', 'उत्पलम्' से 'उप्पल', 'गुप्त:' और 'सुप्त·' से 'गुत्तो, सुत्तो' आदिरूप निष्पन्न होते है। प्राकृतो का एक सामान्य-नियम यह भी है कि व्यजनवर्णों के पर मे रहने पर ङ्, ण् और न् के स्थान मे अनुस्वार हो जाता है। यथा — पत्ती (पक्ति), परमुहो (पराङ्मुख:), कचुओ (कञ्चुक.), कठो (कण्ठ.), आणदो (आनन्दम्) आदि। प्राकृतो के सज्ञा-शब्दो मे द्विवचन का अभाव है। विभक्तियो मे भी चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान होते है।

प्राचीन वैयाकरणो ने नाम, आख्यात और अव्यय — ये तीन प्रकार के शब्द माने है। सर्वनाम, सख्यावाचक और विशेषण भी 'नाम' के अन्तर्गत परिगणित किए जाते है। 'नाम' को 'प्रातिपदिक' कहा गया है। प्रातिपदिको के साथ 'सुप्' प्रत्यय सयुक्त करने पर सज्ञा पद बनते है। सज्ञा शब्द पुल्लिग, स्त्रीलिग और नपुसकलिग के होते हैं। सस्कृत की भाँति प्राकृत मे भी लिगभेद कृत्रिम है, जैसेकि स्त्री का अर्थ-बोध कराने के लिए दारो, भज्जा, कलत्त आदि शब्द विभिन्न-लिगो मे प्रचलित रहे है। प्राकृत मे मुख्यरूप से तीन-प्रकार के शब्द पाये जाते है — अकारान्त (आकारान्त), इकारान्त (ईकारान्त) और उकारान्त (ऊकारान्त)। जिसप्रकार प्राकृत मे एक ही शब्द मे दो या दो से अधिक स्वरो का एक साथ प्रयोग होता है, वैसा व्यञ्जनो मे नही होता। प्राय· दो से अधिक सयुक्त-व्यञ्जन एक साथ उपलब्ध नही होते। उदाहरण के लिए, सस्कृत का क्लान्त, भार्या, दीर्घ शब्द

प्राकृत में किलित, भारिया, दीहर हो जाते हैं।

अक्खाय — आख्यात या क्रियापद प्राकृत मे तिङ्-रचना से सम्पन्न होता है। शब्द के मूलरूप को 'धातु' कहते है। धातुओ में विविध-प्रत्ययो के सयुक्त होने से क्रिया के रूप बनते है। प्राकृत मे 'तिप्' आदि प्रत्ययो को 'तिङ्' कहते हैं। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के शब्दों मे "प्राकृत मे क्रियारूपो के विकास पर सादृश्य का प्रभाव सज्ञा आदि रूपों की अपेक्षा और भी अधिक व्यापकरूप मे मिलता है। द्विवचन का लोप, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के रूपो का प्राय: एकीकरण, आत्मनेपद के रूपो का ह्रास, विविध कालरूपो मे अनुरूपता, क्रिया के विभिन्न रूपो मे ध्वनिपरिवर्तन के कारण समानता आदि मुख्य-विशेषतायें है।"[28]

सस्कृत की धातुये दश-गणो मे विभक्त है। दश-गण इसप्रकार है — भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि और चुरादि गण। इन दश-गणो के स्थान पर प्राकृत के क्रियापद निम्नलिखित दो-गणो मे विभक्त हो गए। (1) 'अ गण' की धातुओ मे अधिकतर-भाग समाहित हो जाता है। कर्मवाच्य-रूप भी इसमे सम्मिलित है। (2) 'ए गण' की धातुओं मे ण्यन्त, नामधातु तथा कुछ अन्य-धातुये भी समाविष्ट है।[29]

सस्कृत की अपेक्षा प्राकृत के धातुरूपो मे बहुत कमी हो गई है। क्योंकि द्विवचन पूर्णत: और आत्मनेपद का प्राय: लोप हो गया है। विरल-रूपो को छोडकर लङ्, लिट् और लुङ् लकार के रूपो का सर्वथा-लोप हो गया है। भूतकाल प्रकट करने के लिए कभी स्वतन्त्र तथा कभी सहायक-क्रिया के साथ प्रयुक्त होते है। अत प्राचीनतम सस्कृत-व्याकरणो मे वर्णित दश-लकारो मे से केवल लट्, लोट्, लङ् और लृट् के रूप, कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य एव तुमुन्नत, क्त्वान्त, ल्यबन्त और कृदन्तो के रूप अवशिष्ट रह गए है।[30]

प्राकृत मे धातुरूप बनाने के मुख्य-नियम इसप्रकार है —

(1) स्वरान्त-धातुओ के भूतकाल (लङ्) मे सभी पुरुषो और वचनो मे विहित-प्रत्ययो के स्थान मे ही, सी तथा हीअ आदेश होते है। जैसेकि — काही, कासी, काहीअ।

(2) व्यञ्जनान्त-धातुओ के भूतकाल मे विहित सभी-प्रत्ययो के समान मे 'इअ' आदेश होता है। यथा — गहणीअ। किन्तु इस आदेश के पूर्व 'अ' विकरण सयुक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए, गहण् + अ + इअ =गहणीअ।

(3) भविष्यत्काल मे पूर्व 'अ' के स्थान पर इ और ए होता है।

(4) क्रियातिपत्ति मे ज्ज, ज्जा प्रत्यय सयुक्त करने के पूर्व सभी-पुरुषो तथा वचनो मे 'अ' को 'ए' हो जाता है।

(5) क्रियातिपत्ति मे 'ज्ज, ज्जा, न्त और माण' प्रत्यय सयुक्त किए जाते है।

(6) विधि और आज्ञार्थ मे धातु से परे 'इज्जसु, इज्जहि और इज्जे' प्रत्यय जोड दिए जाते है।

(7) वर्तमानकाल तथा आज्ञार्थ-धातुओ मे अन्त्य 'अ' होने पर उसे विकल्प से 'ए' हो जाता है, जैसेकि हसइ>हसेइ (हसति)।

(8) अदन्त-धातुओ से 'मि' के पर मे रहने पर पूर्व के 'अ' का 'आत्व' विकल्प से होता है। जैसेकि —

हसामि, हसमि।

(9) अकारान्त-धातुओ से मो मु और म के परवर्ती होने पर पूर्व के 'अ' के स्थान मे इ या आ होते है। कही-कही पर 'ए' हो जाता है। यथा — हसिमो, हसामो, हसेमो, हासिमु, हसेमु इत्यादि।

(10) धातु से परे भविष्यकाल के 'मि' प्रत्यय के स्थान पर 'स्स' विकल्प से होता है।

(11) 'अस' धातु के तीनो पुरुषो के एकवचन मे 'आसि' और बहुवचन मे 'अहेसि' आदेश होता है।

(12) वर्तमान के समान भविष्यत्काल के प्रत्यय होने पर भी 'मि, मो, मु, म' प्रत्ययो से पूर्व विकल्प से 'हिस्सा' और 'हित्था' आदेश होते है।

उवसग्ग — जिन शब्दो मे कोई विचार या परिवर्तन नही होता, वे 'अव्यय' कहे जाते है। ऐसे शब्द सभी विभक्तियो, वचनो और लिगो मे समान रहते है। उनमे कभी व्यय (ह्रास-वृद्धि, घटा-बढी) नही होता।[31] 'अव्यय' पाँच प्रकार के कहे गये है — उपसर्ग, क्रियाविशेषण, समुच्चयादिबोधक, मनोभावाभिव्यजक तथा अतिरिक्त अव्यय। जिनका क्रिया के पूर्व प्रयोग किया जाता है, उनको 'उपसर्ग' कहते है। 'उपसर्ग' के प्रयोग से क्रिया मे विशेषता आती है। 'उपसर्ग' की स्थिति तीन प्रकार की कही गई है — (1) धातु के मुख्यार्थ को बाधित कर नये अर्थ का बोध कराना, (2) धात्वर्थ का अनुवर्तन करना एव (3) विशेषण बनकर धात्वर्थ को स्पष्ट करना।[32] उदाहरण के लिए, सस्कृत मे 'हृ' धातु मूलतः 'ले जाने' अर्थ मे है। उसमे 'अव' जुड जाने पर प्राकृत मे 'अवहरइ' का अर्थ है — चुराता है, आहरइ - लाता है, पहरइ - मारता है, विहरइ - विहार करता है, उवहरइ - उपहार देता है इत्यादि।

सस्कृत मे उपसर्गों की सख्या बाईस है, किन्तु प्राकृत मे **बीस** ही उपसर्ग प्राप्त होते है। सस्कृत के 'निस्' का अन्तर्भाव 'निर्' मे और 'दुस्' का अन्तर्भाव 'दुर्' मे हो जाता है। प्राकृत के उपसर्ग इसप्रकार है —

(1) प — प्रकर्ष सूचक, परूवेइ (प्ररूपयति), पभासेइ (प्रभाषते)।

(2) परा — विपरीतार्थबोधक, पराघाओ (पराघात.), पराजिणइ (पराजयते)।

(3) ओ, अव — हटाने या दूर करने के अर्थ मे, ओआरो (अवतार)। अपसरइ (अपसरति), अवहरइ (अपहरति)।

(4) ओ, णि, णी — निषेधार्थक, दूरार्थक ओमल्ल, णिम्मल्ल (निर्माल्यम्) णि, णिग्गओ (निर्गत), णीसही (निस्सहि)।

(5) दु, दू — कठिन, बुरा अर्थ मे, दुण्णओ (दुर्नय.), दूहवो (दुर्भग.)।

(6) अहि, अभि — प्रति, ओर, अहिगमण (अभिगमनम्), अभिहणइ (अभिहन्ति), अहिप्पा, ओ (अभिप्राय)।

(7) वि — पृथक्, अभाव अर्थ मे, विकुव्वइ (विकुर्वति), विणओ (विनय·) वेणइआ (वैनयिका·)।

(8) अहि, अधि — ऊपर, अहिरोहइ (अधिरोहति), उज्झाओ (अध्याय), अहीइ (अधीते)।

(9) स — भलीभाँति, सखित्त (सक्षिप्तम्), सणिवेस (सन्निवेश)।

(10) अणु, अनु — पीछे या साथ, अणुजाणइ (अनुजानाति), अणुमई (अनुमतिः)।

(11) सु — अच्छा, सुअर (सुकरम्), सूहवो (सुभग)।

(12) उ — ऊँचा, श्रेष्ठी — उगच्छइ (उद्गचछति), उग्गओ (उद्गतः)।
(13) अइ — अति; अईओ (अतीतः), अइसओ (अतिशयः), अच्चत (अत्यन्तम्)।
(14) उव — पास, निकट; उववास (उपवास), उवासणा (उपासना), उवज्झायो (उपाध्यायः)।
(15) णि — नीचे; णियमइ (नियमति), णिविसइ (निविशते), णिवेसो (निवेश)।
(16) पडि — प्रति, विपरीतार्थक, पडिमा (प्रतिमा), पडिआरो (प्रतिकारः), पतिट्ठा (प्रतिष्ठा)।
(17) परि — चारो ओर, परिवुडो (परिवृत्तः), पलिहो (परिघः), परिगमो।
(18) इ, वि अवि — भी; किमवि (किमपि), कोइ, कोवि (कोऽपि)।
(19) ऊ, ओ —
(20) आ — तक, पर्यन्त; आसमुद्द (आसमुद्रम्), आवासो (आवासः)।

णिवाअ — 'निपात' शब्द का अर्थ है — जिसका अन्य रूप न बने। व्याकरण के अनुसार यह वह शब्द है, जिसकी रचना के नियम का पता न हो अथवा जो व्याकरण के नियमो से सिद्ध न हो।[33] जिन शब्दो के रूप की सिद्धि सम्भव न हो या जिनके रूप न चलते हो, उनको 'निपात' कहते हैं।[34] उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्नलिखित है — हदि, हद (विषाद अर्थ मे), किर, इर, हिर (सम्भावना-हेतु), मा, माइ (मत), मामि, हला, हले (आमन्त्रण अर्थ मे), च, य, ड, दु (एव, तथा, और), णवि, अण, णाइ, ण, णो (नही), एव, य्येव, ज्येव (ही), वेव्व (भय, विवाद अर्थ मे), णइ, चिअ, च्चिअ, च्च (अवधारण अर्थ मे), विअ, विव, व्व, व (तरह अर्थ मे), हद्धि (हा धिक्!), अव्वो (दुःख, सम्भाषण, विषाद, खेद, विस्मय, विषाद, आनन्द, भय तथा पश्चात्ताप-बोधक), ऊ (निन्दा, आक्षेप, विस्मय तथा सूचना अर्थ मे) इत्यादि।

श्री पुरुषोत्तमकृत 'प्राकृतशब्दानुशासन' के अनुसार निपात निम्नलिखित हैं[35] —

(1) च्चिअ, च्चेअ — अवधारणा अर्थ मे। (2) हु, खु — निश्चयार्थ में। (3) दे, जे, रे, जि, वि, व — पादपूर्ति के अर्थ मे। (4) ण — निषेधार्थ मे। (5) णवर — केवल अर्थ में। (6) णवरि — निरन्तर। (7) पिव, मिव, विव, व, व्व, अ — इव, समान अर्थ मे। (8) व, वा — विकल्प अर्थ मे। (9) पुण, पुणो, उण च — पुनः अर्थ मे। (10) ह, हो — आमन्त्रण अर्थ मे।

शौरसेनी-प्राकृत मे 'ण' ननु, निश्चय अर्थ में निपात है। वैयाकरण वररुचि के अनुसार निपात इसप्रकार हैं[36]—

(1) कीस — क्या अर्थ मे। (2) हु — देने, पूछने, निश्चय करने के लिये। (3) ओ — सूचना, पश्चात्ताप, विकल्पबोधक। (4) इर, किर, किल — निश्चयार्थक। (5) इ, जे, र — पाद-पूर्ति अर्थ मे। (6) उ — तिरस्कार, आश्चर्य और अभिप्राय-विशेष में। (7) किणो — प्रश्नार्थक। (8) अव्वो — दुःखसूचनार्थ तथा सम्भाषण-अर्थ मे। (9) अलाहि — निवारणवाचक। (10) अइ, वले — सम्भाषण-बोधार्थक। (11) वेच्च — आमन्त्रण मे। (12) धू — निन्दा-अर्थ मे। (13) रे, अरे, हरे — सम्भाषण, रतिकलह तथा धृष्टता के अर्थ मे। (14) विअ, वेअ — ही, वही अर्थबोधक। वैयाकरण चण्ड ने भी कतिपय निपातो का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है।[37] (1) जि — एवार्थक, ही। (2) छुडु — यदि। (3) थूथू, छिछि — कुत्सा। (4) दडवड — शीघ्र अर्थ मे।

प्राकृत मे 'लकार' की स्थिति

जैनदर्शन मे द्रव्य को 'सत्तावान्' कहा गया है। द्रव्य का अस्तित्व उसकी सत्ता से है। इसलिये द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा गया है। इसीप्रकार भाषा मे भी भाव 'सत्' या 'सत्ता' की प्रधानता है। भाषा का मूलप्राण ध्वनि-रूप है। नाम, धातु से ही भाषा का विचार किया जाता है। जब द्रव्य का विचार किया जाता है, तो सामान्यत उसे 'नाम' कहा जाता है, किन्तु जब भाव या व्यापार का सूचन किया जाता है, तो उसे 'आख्यात' कहा जाता है। महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' मे 'आख्यात' को 'भाव-प्रधान' कहा है।[38] यहाँ पर 'भाव' का अर्थ है — व्यापार की सूचना। पतजलि ने 'महाभाष्य' मे क्रियापद को 'आख्यात' कहा है।[39] क्रियाओ का मूलरूप धातु है। भाषाविज्ञान के अनुसार धातु एक ध्वनिरूप है। धातुओ को तीन भागो मे विभक्त किया गया है — (1) सामान्य या मूलधातु, (2) सौत्रधातु, (3) प्रत्ययान्त धातु।

भाषा का भाव-व्यापार कालसापेक्ष है। प्राचीन भारतीय-आर्यभाषाओ मे काल तथा क्रियापद की अवस्था बतलाने वाले क्रियारूपो को 'लकार' कहा जाता था। कदाचित् सर्वप्रथम यह नाम महर्षि पाणिनि ने ही दिया था।[40] उनके पूर्व 'लकार' नाम प्रचलित नही था।

काल का सम्बन्ध क्रिया से है। क्रिया तथा तद्भूत-कार्य किसी न किसी समय मे घटित होता है। इसलिये क्रिया के स्वरूप को देखकर काल का ज्ञान तुरन्त हो जाता है। धातु या मूल-शब्दो के साथ प्रत्यय जुडकर निश्चित-पद्धति से क्रियापदो की रचना करते है। इन क्रियापदो की रचना तो वैदिककाल से भी पूर्व मे प्रचलित रही है, किन्तु भाषा के अनुशीलन के समय ही पाणिनि ने यह नियम बनाया कि —

"लट् वर्तमाने लेट् वेवे भूते लुड् लड् लिटस्तथा।
विध्याशिषोऽस्तु लिड्लोटौ-लुट् लृट् लृड् च भविष्यति॥"

अर्थात् वर्तमानकाल मे धातु से 'लट्' प्रत्यय होता है और वह धातु से परे यानी पश्चात् जुडता है। वेद मे धातु से 'लिड्' के अर्थ मे 'लेट्' प्रत्यय होता है, जो परे होता है।[41] धातु से भूत (सामान्य) काल मे 'लुड्'[42], अनद्यतन-भूतकाल मे 'लड्'[43] तथा अनद्यतन परोक्ष भूतकाल मे 'लिट्' प्रत्यय होता है, जो परे होता है।[44] धातु से आशीर्वाद अर्थ मे 'लिड्' और 'लोट्' प्रत्यय होते है और वे भी परे होते है।[45] भविष्यत्-काल मे धातु (2,000 धातुओ से) से 'लुट्'[46] एव 'शेषेच' 'लृट्' प्रत्यय[47] तथा क्रिया के उल्लघन होने पर भविष्यत्काल मे 'लृड्' प्रत्यय परे होता है।[48] इसप्रकार सस्कृत मे किसी धातु से क्रियापद बनाते समय उसके काल को प्रकट करने के लिए उस धातु के रूप दश-लकारो मे चलते है।

यथार्थ मे काल-भेद को सूक्ष्मता से बतलाने के लिए भूतकाल के जो 'लुड्' (सामान्य-भूत), 'लड्' (अनद्यतन-भूत) तथा 'लिट्' (परोक्ष-भूत) भेद किए गए है, वे उतने वास्तविक नही है। क्योकि वैदिककाल मे ही 'लुड् लकार' तथा 'लिट् लकार' प्राय. समानता के वाचक थे। इसलिये कार्य पूर्ण हो गया है या अपूर्ण है — इसप्रकार के भेद ग्रीकभाषा के अस्तित्व मे भी रहे है। किन्तु उनका सम्बन्ध काल से परवर्ती-समय मे स्थापित किया गया। अतएव **डॉ आई जे एस. तारापोरवाला** का कथन है कि 'काल' (Tenses) मे समय उतना लागू नही पडता है, जितना कि कार्य की पूर्णता तथा अपूर्णता का फल क्रिया पर पडता है। समय या

काल की **अवधारणा** परवर्ती-युग में प्रचलन में आई; क्योंकि 'कालावबोधक-काल' को सूचित करने के लिए सहायक-क्रियाओं का प्रयोग किया गया।[49]

वर्तमानकाल में किए गए तुलनात्मक-अध्ययन से यह निश्चित हो गया है कि **वैदिक तथा प्राकृतभाषा कई बातों में समानता लिए हुए है।** उदाहरण के लिए वैदिक और प्राकृतभाषा मे 'आत्मनेपद' और 'परस्मैपद' का भेद नही है। जिसप्रकार वैदिक-भाषा मे धातुओ मे किसीप्रकार का 'गण-भेद' नही है, उसीप्रकार प्राकृतभाषा मे भी धातुओ मे 'गण-भेद' नही मिलता है। कतिपय वैदिक क्रिया-रूपो के वर्तमानकाल अन्यपुरुष एकवचन मे 'ए' प्रत्यय का प्रयोग उपलब्ध होता है। **डॉ. पी.एल. वैद्य** के अनुसार यह ध्यान देने योग्य है कि सस्कृत की व्यजनान्त-धातुये प्राकृत मे स्वरान्त हो जाती है अर्थात् उनके अन्त मे 'अ' जुड जाता है। सस्कृत की भाँति 'परस्मैपद' तथा 'आत्मनेपद' जैसे भेद तथा दश 'गण' प्राकृत में नही है। जिन धातुओ के अन्त मे 'अ' पाया जाता है, उनके स्थान पर वर्तमालकाल, आज्ञार्थक तथा इच्छार्थक मे विकल्परूप मे 'ए' प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है। प्राकृत मे तीन काल (वर्तमान, भूत, भविष्यत्) तथा तीन लकार है। वर्तमानकाल के क्रियापदो से ही भूतकाल तथा अन्य लकारो का काम चला लिया जाता है। साहित्य मे सामान्य-भूतकाल के क्रिया-रूपो का प्रयोग विरल लक्षित होता है। सामान्य-भूतकाल के क्रिया-व्यापार को प्रकट करने के लिए सहायक-क्रिया के साथ भूतकालिक-कृदन्त के प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है।[50] वैदिक और प्राकृतभाषा मे वर्तमानकाल तथा भूतकाल की क्रियाओ के प्रयोगो मे विविधता किवा अनिश्चितता लक्षित होती है। यही कारण है कि प्राकृत मे परोक्ष-भूतकाल के स्थान पर वर्तमानकाल का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जैसे कि 'पॅच्छए' (प्रेच्छाञ्चक्रे)।

यह ध्यान देने योग्य है कि **सस्कृत के क्रियारूप** सश्लेषणात्मक होते है। धातु से सयुक्त होकर 'कृत्' प्रत्ययो से बनने वाले शब्द सस्कृत मे **'आख्यात' नही कहलाते हैं।** सस्कृत मे क्रिया काल, प्रकार, भाव, कारक, पुरुष तथा सख्या का भी बोधक है। **सस्कृतभाषा में धातु से क्रिया शब्द का निर्माण करने के लिए** धातु मे दो प्रकार के प्रत्यय जोडे जाते है — 'तिप्' और 'तङ्'। **सस्कृतभाषा में तीन कालों को छह भागो मे विभक्त किया गया है** — वर्तमान (लट्), भूत (परोक्ष मे लिट्, **अनद्यतन मे लङ् और सामान्य में** लुङ्), भविष्यत्काल मे (लुट्, सामान्य मे लृट्)।

'प्रकार' अर्थ मे चार लकार होते है — विध्यादि अर्थ मे (लोट् तथा लिङ्) क्रियातिपत्तिपरक, हेतुहेतुमद् भविष्यत् तथा भूत अर्थ मे 'लृङ्' एव आशीर्वाद अर्थ मे 'लिङ्' का प्रयोग होता है। इसप्रकार सस्कृत की क्रियाओ मे वेदो के रचना-काल (लगभग 3,000-2,500 ई पू) मे दश-लकार प्रचलित थे। इन लकारो एव कालो के अनुसार ही क्रिया के 180 रूप प्रचलित थे। प्रत्येक लकार तथा काल मे तीन-वचनो एव तीन-पुरुषो के 9-9 क्रिया-रूप बनते थे, जो 'आत्मनेपद' और 'परस्मैपद' के कारण **एक सौ अस्सी क्रिया-रूपो** मे सयोजित होते थे। क्रिया-रूपो के इतने भेद का मुख्य-कारण दो तरह के पद होना था। सर्वप्रथम पालिभाषा मे 'आत्मनेपद' के क्रिया-रूप समाप्त होने लगे थे। आत्मनेपद का प्रयोग पालिभाषा के 'कर्मवाच्य' मे तथा काव्य-रचना मे ही सीमित हो गया। अधिकतर 'परस्मैपद' की क्रिया के रूप ही प्राय: प्रयुक्त होने लगे थे। इसके अतिरिक्त पालि मे दश-लकारो के स्थान पर केवल सात-लकारो का प्रयोग ही अवशिष्ट रह गया था। दश-लकारो मे से 'लिङ्, लुट् और लङ्' लकार का प्रयोग समाप्त हो गया था। पालि-भाषा मे 'लङ्' लकार

मे 'लिङ्' और 'लुट्' के सभी रूप विलीन हो गए। इसप्रकार अनुपयोगी-रूपो का विनाश हो गया तथा प्रचलन मे उपयोगी-रूप ही अवशिष्ट रह गये। पालि मे आते-आते एक ओर तो अनुपयोगी होने के कारण 'आत्मनेपद' का लोप होने लगा, दूसरे 'द्विवचन' के क्रिया-रूपो का पूर्णरूप से नाश हो गया और तीन-लकारो की सख्या घट जाने से इनमे प्रयुक्त क्रिया-रूपो का भी अभाव हो गया। यही नही, महाराष्ट्री-प्राकृत मे आकर क्रिया के दश- लकारों मे से केवल चार-लकार — लट्, लङ्, लृट् और लोट् ही शेष रह गये। पालि तथा महाराष्ट्री-प्राकृत मे क्रियाओ की गण के अनुसार गण-विभाजन की पद्धति लुप्त हो गई और सभी क्रियाओ के रूप सामान्यत: 'भ्वादिगण' के समान बनाये जाने लगे। अपभ्रश-काल मे इनमे विशेषरूप से सरलीकरण की प्रवृत्ति लक्षित होती है। वस्तुत भाषा-विकास की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया लगभग तीन-सहस्र वर्षो से भी अधिक समय की विकास-कथा सहेजे हुए है, जिसे दो-चार पृष्ठो मे प्रकट नही किया जा सकता है।

भारतीय-भाषाओ के व्याकरण की यह विशेषता रही है है कि उसमे 'धातु' और 'प्रत्यय' से मिलकर पद की रचना होती है। जब धातु के साथ 'तिङ्' प्रत्यय जोड दिया जाता है, तो सस्कृत मे उसकी 'आख्यात' सज्ञा हो जाती है। भारतीय-आर्यभाषाओ मे प्रत्यय केवल पद-रचना का ही कार्य नही करते, वरन् काल के वाचक भी होते है। तिङन्त कालो के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओ मे 'कृदन्त'-रूपो का भी प्रचलन था। ये कृदन्त तीनो-कालो के सूचक रहे है। सस्कृतभाषा मे भूतकाल के लिये 'क्त, क्तवतु' प्रत्यय, वर्तमानकाल के लिये 'शतृ, शानच्', प्रत्यय तथा भविष्यत्काल के लिये 'श्यते' और 'श्यमान' आदि प्रत्यय प्रयुक्त होते है।

भारतीय-आर्यभाषाओ के ऐतिहासिक-विकास का तुलनात्मक-अध्ययन करने पर कई महत्त्वपूर्ण-तथ्य प्रकाश मे आत है। उदाहरण के लिए वैदिककाल के प्रारम्भ मे ही 'द्विवचन' का लोप मिलता है। 'ऋग्वेद' मे द्विवचन का विरल-प्रयोग उपलब्ध होता है। 'अवेस्ता' मे भी यह विरल है तथा प्राचीन-फारसी मे वह लुप्त ही है। यही नही, 'ऋग्वेद' मे यह प्रवृत्ति वृद्धिमान लक्षित होती है कि व्यजनान्त-धातु स्वरान्त-रूप ग्रहण कर रही थी; जैसेकि — 'नक्त्'।

'तिङ्' प्रत्यय कुल अट्ठारह कहे गए है। उनमे से नौ प्रत्यय 'परस्मैपद' के हैं और नौ प्रत्यय 'आत्मनेपदी' हैं। पालि मे सभी गणो की धातुये विद्यमान है, किन्तु धातुओ के गणो मे परिवर्तन लक्षित होता है। प्राकृत मे परस्मैपद-आत्मनेपद जैसे भेद नही हैं। पालि मे आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद ही मिलता है। प्राकृत मे 'तिप्' आदि प्रत्ययो को 'तिङ्' कहते हैं। अकारान्त-धातुओ को छोडकर शेष-धातुओ मे प्राकृतभाषा मे आत्मनेपद- परस्मैपद का भेद नही मिलता है। अदन्त या अकारान्त-धातुये 'उभयपदी' होती है। अकारान्त आत्मनेपदी-धातुओ के प्रथम और मध्यमपुरुष-एकवचन के स्थान मे क्रमश: 'ए' और 'से' आदेश विकल्प से होते है, जैसेकि — तुवरए, तुवरसे।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के शब्दो मे "प्राकृत मे क्रियारूपो के विकास पर सादृश्य का प्रभाव, सज्ञा आदि रूपो की अपेक्षा और भी अधिक-व्यापकरूप मे मिलता है। द्विवचन का लोप, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के रूपो का प्राय: एकीकरण, आत्मनेपद के रूपो का ह्रास, विविध-काल के रूपो मे अनुरूपता, क्रिया के विभिन्न-रूपो मे ध्वनि-परिवर्तन के कारण समानता, आदि प्राकृत की क्रियाविकास की कुछ मुख्य विशेषताये है। सस्कृत के

भ्वादि- रूपो की व्यापकता प्राकृत के क्रियापदों के विकास में मिलती है। कालरचना की दृष्टि से वर्तमान, भूत, आज्ञा, विधि, भविष्य और क्रियातिपत्ति के प्रयोग प्राकृत में दिखलाई पड़ते हैं। सहायक-क्रिया के साथ कृदन्त-रूपों का व्यवहार बहुलता से उपलब्ध होता है।"[51] वास्तव मे प्राकृत मे पाँच ही लकार पाये जाते हैं। ये है —

(1) वर्तमानकाल (हसइ, हसए, हसंति, हसते, हसिरे)
(2) भूतकाल (हसीअ)
(3) भविष्यत्काल (हसिहिइ, हसिहिए, हसिहिति, हसिहिते, हसिहिरे)
(4) विधि और आज्ञार्थक रूप (हसउ, हसतु) (हसेउ, हसेतु)
(5) क्रियातिपत्ति (हसेज्ज, हसेज्जा, हसतो, हसमाणो)

अतीत मे 'भूतकाल' का इतिहास यह रहा है कि भूतकाल अपने सभी आदर्श-रूपो मे जैसा प्राचीन-फारसी मे था, वह लुप्त हो गया। अवशिष्ट-रूपो के निदर्शन-रूप मे आज 'अह' और 'विद' शेष है, जिनको वास्तव मे भूतकालिक-प्रत्यय नही कहा जा सकता है। यथार्थ में उनका विलीनीकरण आज्ञार्थक तथा इच्छार्थक मे हो चुका है। प्राचीन-फारसी मे बहुत पहले अनद्यतन-भूतकाल (लुङ् लकार) सामान्य-भूतकाल के साथ सयुक्त हो गया था, जिससे मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओ मे भूतकाल-सामान्य की रचना हुई और आसन्नभूत विनष्ट हो गया। आज तो वह अपभ्रश मे भी शेष नही है, जहाँ कि भूतकालिक तथा अन्य-कृदन्तो की रचना विशेषरूप से प्रारम्भ हो गई थी।[52] इसीप्रकार दश-लकारो मे से 'लेट्' लकार बहुत पहले ही लुप्त हो गया था। मध्यकालीन भारतीय-आर्यभाषाओ मे अवशिष्ट 'लुङ्' लकार तथा 'लिट्' (परोक्षभूत) अपभ्रश-काल प्रारम्भ होने के पूर्व ही विरल हो गया और 'लुट्' एव 'आशीर्लिङ्' का लोप हो गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत-व्याकरण मे 'तिङ्' रूपो से सम्बन्धित केवल सात-सूत्र दिए है। उनमे से पाँच सूत्रो मे वर्तमानकाल का, एक सूत्र मे भविष्य का तथा एक सूत्र मे आज्ञार्थक-प्रत्ययो का निर्देश किया गया है। भूतकालिक-प्रयोगो मे अपभ्रश मे कृदन्तरूपो का ही उपयोग किया जाता रहा है। **डॉ. भायाणी** अपभ्रश मे वर्तमान तथा भविष्यत्काल के अतिरिक्त आज्ञार्थक-वर्तमान एवं आज्ञार्थक-भविष्य — इसप्रकार चार लकार मानते है। अपभ्रशभाषा मे विध्यर्थक-प्रयोगो का अभाव है।

सामान्यत: सस्कृत मे भूतकालिक तीनो लकारों के लिए 'लङ्' प्रचलित रहा है। धीरे- धीरे छठी-सातवी शताब्दी मे पूर्णभूत-कृदन्त के निष्ठा प्रत्ययो 'क्त' तथा 'क्तवतु' ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। यह सम्पूर्ण-प्रक्रिया प्राकृतो से ही अपभ्रश मे एव अपभ्रश से आधुनिक भारतीय-आर्यभाषाओ मे विकसित हुई है। अतएव हिन्दी की भूतकालिक-क्रिया का पूर्णभूत-कृदन्त पर सर्वथा निर्भर रहना विकास की दृष्टि से स्वाभाविक ही है। 'णायकुमारचरिउ' एकमात्र अपभ्रश के काव्य मे **डॉ. हीरालाल जैन** एक मात्र शुद्ध भूतकालिक-आख्यात का एक ही प्रयोग 'आसि' (आसीत्) उपलब्ध कर सके थे। उनके ही शब्दो में —

"Past tense is almost exclusively expressed by participles The only example of verb that I can pick out in आसि" — *(Naya Kumar 6, 8, 11)*

वैयाकरण श्री **त्रिविक्रम** ने द्वितीय-अध्याय के चतुर्थ-पाद मे इकतालीस-सूत्रो मे सस्कृत के 'लट्, लोट्, लुङ्, लिट्, लृट् और लिङ्' के लिए अनेक वैकल्पिक-आदेश किए है। सस्कृत के दश-लकारो मे से 'लेट्'

लकार केवल वेदो मे ही प्रयुक्त उपलब्ध होता है। प्राकृत् मे भूतकाल के लिए लुङ्, लङ् और लिट् इन तीनो के लिए सर्वत्र एक ही क्रिया का प्रयोग होता है। अतः सस्कृत के तीन भूतकालो के प्रत्ययो के लिए प्राकृत मे उनके स्थान पर 'सी, हीअ, ही' — ये तीन आदेश होते हैं; जो सामान्यरूप से भूतकाल का बोध कराते है। ये तीनो प्रत्यय स्वरान्त-धातुओ के साथ जुडते है, जैसे — कासी, काहीअ, काही (अकार्षीत्, अकरोत्, चकार वा)। सस्कृत के 'लुङ्, लङ् और लिट्' — इन तीनो लकारो के लिए प्राकृत मे व्यजनान्त-धातु के आगे आने वाले भूतकालिक-प्रत्ययो के स्थान पर 'ईअ' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'भुवीअ' (अभूत, अभवत्, बभूव वा)। इसीप्रकार — आसीअ (आसिष्ट, आस्त, आसाचक्रे वा), गहीअ (अग्रहीत्, अग्रहणात्, जग्राह वा) इत्यादि। उनके अनुसार सस्कृत के 'लुङ्, लङ् और लिट्' — इन तीन भूतकाल के प्रत्यय के स्थान पर 'सी, हीअ' और 'ही' ऐसे तीन आदेश होते है। (प्राकृत शब्दानुशासन, 2, 4, 22)। उदाहरण के लिए 'कासी, काहीअ, काही, आसीअ, भुवीअ, गहीअ, अहेसि, आसि' इत्यादि।

इसप्रकार प्राकृतभाषा मे सस्कृत के दश-लकारो मे से पाँच-लकारो का ही प्रयोग देखा जाता है —

उभयपदी हस् धातु के रूप

1. वर्तमान काल

	एकवचन	बहुवचन
प्र पु.	— हसदि, हसेदि, हसद	हसति, हसते, हसिरे, हसेते, हसेइरे
म पु	— हससि, हससे, हसेसि	हसित्था हसह, हसेइत्था, हसेह
उ.पु	— हसामि, हसमि, हसेमि	हसिमो, हसामो, हसमो, हसिमु, हसामु, हसमु, हसिम, हसाम, हसम

2 भूतकाल

	एकवचन	बहुवचन
प्र.पु.	— हसीअ	हसीअ
म पु	— हसीअ	हसीअ
उ पु	— हसीअ	हसीअ

3. भविष्यत् काल

	एकवचन	बहुवचन
प्र.पु	— हसिहिदि, हसिहिदे	हसिहिंति, हसिहिते, हसिहिरे
म पु	— हसिहिसि, हसिहिसे	हसिहित्था, हसिहिह
उ पु	— हसिस्स, हसिस्सामि,	हसिस्सामो, हसिहामो, हसिहिमो, हसिहामि, हसिहिमि, हसिस्सामु, हसिहामु, हसिहिमु, हसिस्साम, हसिहाम, हसिहिम हसिहिस्सा, हसिहित्था

4. विधि और आज्ञार्थक

प्र.पु. — हसदु, हसेदु	हसतु, हसेतु
म.पु. — हसहि, हससु, हसेज्जसु	हसह, हसेह हसेज्जहि, हसज्जे, हस, हसेहि, हसेसु
उ.पु. — हसिमु, हसामु, हसमु	हसिमो, हसामो, हसमो, हसेमो, हसाम, हसेम

5. क्रियातिपति

प्र पु — हसेंज्ज, हसेंज्जा, हसतो	हसेंज्ज, हसेंज्जा, हसमाणो, हसतो, हसमाणो
म पु — हसेंज्ज, हसेंज्जा, हसतो	हसेंज्ज, हसेंज्जा, हसमाणो, हसतो, हसमाणो
उ.पु. — हसेंज्ज, हसेंज्जा, हसतो	हसेंज्ज, हसेंज्जा, हसमाणो, हसतो, हसमाणो

इसप्रकार स्पष्ट है कि प्राकृतभाषा मे धातुओ के विभिन्न शब्द-प्रयोगो तथा रूप-रचना मे जो सरलता लक्षित होती है; उसका प्रमुख-कारण लकारो मे कमी, द्विवचन का अभाव एव रूप-रचना मे साम्यता एव आकृति-सादृश्य है। 'यङ्लुङन्त' के रूपो मे प्राकृत मे बहुत कमी आ गई है। केवल वर्तमान और भविष्यत्काल के प्रत्ययो के सयोग मे 'ज्ज' प्रत्यय और जोडकर क्रियापद बन जाते है। विधि और आज्ञार्थ मे धातु से परे 'इज्जसु, इज्जहि, इज्जे' प्रत्यय जोडे जाते हैं; यथा — हसिज्जसु, हसिज्जहि, हसिज्जे। 'क्रियातिपत्ति' के रूप 'ज्ज, ज्जा, न्त, माण' प्रत्यय जोड कर बनाये जाते है। इन प्रत्ययो को जोडने के पूर्व सभी पुरुष और सभी वचनो मे अकार को एत्व हो जाता है। जैसेकि — हसेंज्ज, हसेंज्जा, हसत्तो, हसमाणो; होंज्ज, होंज्जा, होतो, होमाणो इत्यादि। इसप्रकार प्राकृतभाषा मे सामान्यत: पाँच-लकार होते है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की भाषा

विगत पाँच-दशको मे भारतीय-विद्या के क्षेत्र मे किये गये शोध-कार्यों से दो महत्त्वपूर्ण-तथ्य प्रकाशित होकर सामने आये हैं — **प्रथम** आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म 'आन्ध्रप्रदेश' मे हुआ था और उनके नाम पर उस ग्राम या बस्ती को 'कोण्डकुदि' कहते है। **द्वितीय** यह कि आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म उस समय हुआ था, जब आन्ध्र-प्रदेश मे सातवाहन-नृपति का शासन-काल था। भारतीय-इतिहासविदो के अनुसार यह सुनिश्चित है कि आचार्य कुन्दकुन्द 'गुप्तकाल' के पूर्व हुए।[53] यह भी निश्चित होता है कि आन्ध्र मे 'गुण्टुपल्ली' के शिलालेखो के अनुसार ईसापूर्व द्वितीय-शताब्दी मे वहाँ पर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार हो चुका था, जिसे प्रसृत करने मे कोण्डकुन्दाचार्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, वे उसके मुखिया थे।[54] 'सातवाहन-वश' की स्थापना ई.पू. 210 मे हुई थी। आन्ध्रप्रदेश पर अधिकार हो जाने के पश्चात् वह 'आन्ध्रवश' के नाम से प्रसिद्ध हो गया;[55] अत: पुराणो मे उसका उल्लेख 'आन्ध्रवश' के नाम से किया गया है। 'वेल्लारिपुर' मे उपलब्ध शिलालेख मे आन्ध्रप्रदेश को 'सातवाहनिहार' कहा गया है। **सातवाहनो के सम्पूर्ण-शिलालेख प्राकृतभाषा मे लिखित प्राप्त होते हैं**। एक भी शिलालेख तेलुगु-भाषा में लिखा गया आज तक प्राप्त नही हुआ।[56]

यह एक आश्चर्यजनक-तथ्य है कि भारतवर्ष के प्राचीनतम-शिलालेख प्राकृतभाषा मे उपलब्ध होते हैं।

यहाँ तक कि '**भारतवर्ष' शब्द** का प्राचीनतम-उल्लेख कलिग-देश खारवेल के शिलालेख मे '**भरधवस**' रूप में किया गया है। **सबसे अधिक आश्चर्यकारी यह है** कि सम्राट् खारवेल तथा सातवाहनवशी-राजाओ के शिलालेख प्राकृत मे उपलब्ध होते है। मूल सातवाहन-वश मे 19 राजा हुए होगे, जिनमे शिवस्वाति (78 ई.), शिवश्री (165 ई) और शिवस्कन्द (172 ई.) भी है, जो तीन सौ वर्षों के भीतर हुए।[57] नहपान या नरवाहन की तिथि 124 ई है। इन्ही के काल मे आचार्य भूतबलि-पुष्पदन्त हुए। अतः आचार्य कुन्दकुन्द उनके पूर्व हुए थे। नन्दिसघ की पट्टावली के अनुसार विक्रमसंवत् 49 मे कोण्डकुन्द को आचार्यपद से अलकृत किया गया था। **ग्यारह वर्ष की अवस्था मे** उन्होने श्रमण-दीक्षा (सामायिकचारित्र) धारण की थी और **चवालीसवें वर्ष में** 'आचार्य'-पदवी से उन्हे अलकृत किया गया था। तदनुसार ई पू 108 मे वे आचार्य हुए थे। शिलालेखो के अनुसार उनका जन्म **माघ शुक्ल पचमी, विक्रम सवत् 05** मे हुआ था। इसप्रकार उनकी जन्मतिथि कालगणना के अनुसार ईस्वी पूर्व 52 निर्धारित है।

गुप्तकाल के पूर्व तक के लगभग दो दर्जन से अधिक ऐसे प्राकृत के शिलालेख कर्नाटक-प्रदेश मे उपलब्ध हैं, जिनसे मौर्य, चुटु, सातवाहन, पल्लव और कदम्बवशीय-राजाओं के सम्बन्ध मे जानकारी मिलती है। कर्नाटक के प्राचीनतम-शासक सातवाहन थे, जिन्होने प्रशासनिक-भाषा के रूप मे प्राकृत का प्रयोग किया था और जनता के लिए भी प्राकृत की ही स्वीकृति प्रदान की थी।[58] अत: यह स्पष्ट है कि **सातवाहनो के राज्यकाल मे ही प्राकृतभाषा का विकास हुआ।** राजा सातवाहन ने अपने अन्त.पुर मे प्राकृत को व्यवहार की भाषा के रूप मे प्रचलित किया था।[59] सातवाहन-राजाओ ने ई पू. 230 से ई पू 220 तक अर्थात् चार सौ वर्षों से अधिक राज्य किया। इस कालावधि मे इस वश के तीस राजाओ ने राज्य किया। पहले इनकी राजधानी महाराष्ट्र मे 'पैठण' (प्रतिष्ठानपुर) थी, फिर क्रमशः हैदराबाद, कृष्णा और गोदावरी तट तक इनका राज्य विस्तृत हो गया।[60]

दक्षिण-भारत के विभिन्न-प्रदेशों की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक-स्थिति के अध्ययन से भी इस तथ्य की सपुष्टि होती है कि अपने युग मे आचार्य कुन्दकुन्द का दक्षिण-भारत मे विशेष-प्रभाव था। श्री रामास्वामी आयगर महोदय के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का युग ई.पू. प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा है और वे 'द्रविडसघ' के मुखिया रहे है।[61] यह भी एक ऐतिहासिक-तथ्य है कि प्राचीनतम-अभिलेख अधिकतर प्राकृत मे और कुछ सस्कृत मे उपलब्ध होते है, न कि क्षेत्रीय-भाषाओ मे। दिगम्बर-जैनो ने आगम या श्रुत को सरक्षित करने के लिये शौरसेनी-प्राकृत मे रचना की थी।[62]

इसमे कोई सन्देह नही है कि मत-भेद के कारण दिगम्बर-श्वेताम्बरो के विचारो मे ही नही, कही-कही आचरण मे और भाषा मे भी परिवर्तन स्पष्ट-लक्षित होने लगा। 'णिग्गठ' (निर्ग्रन्थ) शब्द का अर्थ जो महात्मा गौतमबुद्ध के समय मे 'दिगम्बर अपरिग्रही-साधु' का वाचक था, वह कालान्तर मे 'श्रमण-परिव्राजक' का अर्थ देने लगा और पक्ष-व्यामोह होने पर अल्प-वस्त्रादि का प्रयोग करने पर भी उसे 'परिग्रह' से रहित समझा जाने लगा। अत: दण्ड-वस्त्रधारी साधु-सन्त भी 'णिग्गठ' (निर्ग्रन्थ) कहे जाने लगे। इसप्रकार परवर्तीकाल मे शब्द अर्थ-विशेष मे रूढ़ हो गये। अत: ऊपर से समान प्रतीत होने पर भी प्राकृतभाषा मे ही दार्शनिक और पारिभाषिक-शब्दावली मे कई तरह की भिन्नता, सूक्ष्मता तथा गम्भीरता लक्षित होती है।

डॉ जॉर्ज ग्रियर्सन ने प्राकृत के उपलब्ध-साहित्य के आधार पर प्राकृतों का विभाजन दो रूपों मे किया है — पश्चिमी-प्राकृत और पूर्वीय-प्राकृत। यद्यपि यह बहुत स्थूल-विभाजन है, फिर भी भौगोलिक-दृष्टि से यह उचित है। वैदिक-काल से ही पूर्वी और पश्चिमी-बोलियो में भेद बराबर बना रहा है। डॉ ग्रियर्सन का विचार स्पष्ट है कि पश्चिमी-प्राकृत मे मुख्य 'शौरसेनी' है, जो शूरसेन या गागेय-दोआब तथा निकटवर्ती-प्रदेश के मध्यवर्ती-क्षेत्र की भाषा है।

यह एक आश्चर्यजनक तथा विश्वसनीय-तथ्य है कि दिगम्बर जैन आगम-ग्रन्थो या श्रुत-जिनवाणी अथवा उनकी आनुपूर्वी मे रचे गये अधिकतर-ग्रन्थो की भाषा 'शौरसेनी' है। दक्षिण-भारत मे ई पू तृतीय शताब्दी लगभग से लेकर ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी के सम्राट् अशोक के तथा अन्य शिलालेखो के उपलब्ध होने से यह निश्चित होता है कि उस युग मे प्राकृत का ही प्रमुखतः प्रचलन था। 'कसायपाहुडसुत्त' की भाषा से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने आचार्य गुणधर के भावो का ही नही, भाषा का भी सयोजन तथा अनुगमन किया है।[63] प कैलाशचन्द्र शास्त्री के शब्दो मे "कुन्दकुन्द के उपलब्ध-ग्रन्थो मे 'पचत्थिकायसगहो', 'पवयणसारो', 'समयसारो', 'णियमसारो' और 'अट्ठपाहुड' अतिप्रसिद्ध हैं। इन सबकी भाषा शौरसेनी-प्राकृत है।"[64] शौरसेनी-प्राकृत के सामान्य-नियमों के कुन्दकुन्द-साहित्य मे उपलब्ध-निदर्शन इसप्रकार है —

(1) अनादि मे विद्यमान असयुक्त 'त' को 'द' होता है। जैसे — 'धातु' के स्थान पर 'धादु' (पचास्तिकाय 78), सघाद, णियद (पचा 79), परिणद (पचा. 84), पसजदि (पचा 94), चेदण (पचा 97), जीविद (पचा 30), चेदग (पचा 68), अविदिद (प्रवचन. 57), तदा, तदिय, आपदण (बोध 5, 6), चेदय (बोध 7), सब्भूद (प्रवचन 18) समक्खाद (प्रवचन 36),समस्सिद (समाश्रित, प्रवचन. 65), समदा (समता, नियम 124), समभिहद (प्रवचन 30) इत्यादि।

(2) सामान्यत: किसी भी शब्द के प्रारम्भ मे स्थित 'त' वर्ण को 'द' नही होता। उदाहरण के लिए — तण (तृण), तुम्ह, तुरिय, तेल, तोच, तणू (तनु), तच्च (तत्त्व), तत्तो आदि।

(3) विकल्प से कही-कही आदि के 'त' को 'द' हो जाता है। जैसेकि — दाव (तावत्)।

(4) क्रिया-रूपो मे शौरसेनी मे सस्कृत के 'ति', 'ते' प्रत्यय के स्थान पर 'दि', 'दे' का प्रयोग होता है। यथा — हसदि (हसति), भण्णदे (समय. 66), कुणदि (बोध 56), कुव्वदि (स0 301), खणदि (लिग 15) पडिवज्जदि (पचा 137), धुद (त्यक्त) (निर्वाणभक्ति 2), घिप्पदि (समय. 296), करेदि (समय. 230), गच्छदि (नियम. 182), लिप्पदि (बोध 46), परिणभदि (समय. 76), उप्पज्जदे (समय 217), उप्पज्जदि (समय 76 79), सेवदि (लिग 7) णस्सदि (पचा. 17), विज्जदि (प्रवचन 17), णादि (पचा 162), णादेदि (समय. 189), णासदि (सुत्त. 34), णासेदि (समय. 158, 159); णिग्गहिदा (पचा. 141), णिग्गदो (समय. 47), णिज्जदु (समय. 209), णिच्छिदा (समय. 31), णिट्ठिदो (प्रवचन. 53), परिभमदि (वारसाणु. 24) जुजदि, हिडदि, हवेदि, हवदि, होदि, इत्यादि।

सम्बन्ध-कृदन्त के लिये 'दूण' प्रत्यय का प्रयोग शौरसेनी-प्राकृत में विशेषरूप से पाया जाता है। उदाहरण

के लिये — णादूण (समय 34, 72) पस्सिदूण (समय 189), होदूण (मोक्ख. 49, सील. 10), पढिदूण (मोक्ख 106) आदि। यद्यपि प्राकृत के सभी व्याकरणो मे यह सामान्य-नियम मिलता है कि दो स्वरो के मध्यवर्ती 'क, ग, च, ज, त, द, प' का प्राय॰ लोप हो जाता है और सामान्यरूप से उसके स्थान पर अर्द्धस्वर (य्, व्) का आगम अर्थात् 'यश्रुति-वश्रुति' या 'इ' हो जाता है। किन्तु विशेषरूप से शौरसेनी मे मध्यम तथा अन्त्यवर्ती 'त' का 'द' हो जाता है। जैसेकि — 'माता-पिता' के लिए 'मादा-पिदर' (बारसाणु 21), 'धातु' के लिए 'धादु' (बारसाणु. 41), 'मति' के लिए 'मदि' (नियम 22, लिग 3, 4), 'रति' के लिए 'रदि' (पवयण 64), 'रत्न' के लिए 'रदण' (प्रवचन 30), 'भूत' के लिए 'भूद' (पचा. 60), 'सत्' के लिए 'सद' (पचा. 55), 'समता' के लिए 'समदा' (नियम 124), 'हित' के लिए 'हिद' (पचा 122), 'मुहित' के लिए 'मुहिद' (प्रवचन 43), 'प्रभृति' के लिए 'पहुदि' (णियम 114), (प्रवचन 14, 15), 'वियुक्त' के लिए 'विजुद' (पचा 32), 'विदित' के लिए 'विदिद' (पवयण. 78), 'ध्याता' के लिए 'धुद', 'अतीत' के लिए 'अतीद' इत्यादि।

इसीप्रकार क्रियापदो मे भी पद के अन्तिम वर्ण 'त' के स्थान पर 'द' हो जाता है। यथा — 'भाषित' के लिए 'भासिद' (पचा 60), 'घात' के लिए 'घाद', 'जीवित' के लिए 'जीविद' (पवयण. 55), 'देशित' के लिए 'देसिद' (समय 12), 'धुत' के लिए 'धुद' (त्यक्त), (निर्वाण भ 2), 'धौत' के लिए 'धोद' (पवयण 1), 'प्रणत' के लिए 'पणद' (पवयण. 3), 'भरित' के लिए 'भरिद' (सील 28), 'निर्गत' के लिए 'णिग्गद' (समय 47), 'स्थित' के लिए 'ठिद' (समय 187), 'निष्ठित' के लिए 'णिट्ठिद' (पवयण. 53), 'परिस्थित' के लिए 'परिट्ठिद' (भाव 95, 163), 'आगत' के लिए 'आगद' (पवयण 84), 'अनार्हत' के लिए 'अणारिहद' (समय 347, 348), 'अकृत' के लिए 'अकद' (पचा. 66), 'पूर्वगत' के लिए 'पुव्वगद' (पचा 160), 'सयुत' के लिए 'सजुद' (पचा 68, पवयण 14), 'पठित' के लिए 'पढिद' (पचा 57), 'प्रणिपत्' के लिए 'पणिवद' (पवयण 63) प्रभृति ऐसे रूप है।

यह एक विचित्र और आश्चर्यजनक-तथ्य है कि आज तक आचार्य कुन्दकुन्द के मूल-पाठो की सुरक्षा नही की गई। लगभग इक्कीस सौ वर्षों मे भाषा मे अनेक-प्रकार के परिवर्तन हुए। युग-युगो मे आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के लिपिकार बदलते रहे। उनमे भी दक्षिण-भारत के लिपिकारो से उत्तर-भारत के लिपिकारो मे सदा अन्तर बना रहा। दक्षिण-भारत की प्रतिलिपियो मे प्राचीन-लिपि की पूर्ण-जानकारी न होने से जहाँ वर्तनी या वर्ण-सम्बन्धी भेद लक्षित हुए, वही उत्तर-भारत की प्रतिलिपियो मे उच्चारण-विषयक भेद निरन्तर होने से वर्तनी तथा भाषा मे भी परिवर्तन और विशेषकर प्राकृतभाषागत-परिवर्तन स्पष्ट-परिलक्षित होते है। सस्कृत का व्याकरण जटिल तथा नियमो में आबद्ध होने से तथा क्षेत्रगत-विभेद नहीं होने से उसमे किंचित्-परिवर्तन हुए, जो कालान्तर मे शास्त्रीय-पण्डितो द्वारा शुद्ध किए जाते रहे। इसप्रकार के प्रयत्न प्राकृतभाषा मे विरल हुए, और जो किए गए, वे उन सस्कृत-विद्वानों ने किए जो प्राकृतभाषा को सस्कृत-छाया तथा सस्कृत-व्याकरण की कसौटी पर कसकर समझनेवाले थे। जब तक किसी भाषा की प्रकृति तथा रूप-रचना आदि का भलीभाँति ज्ञान न हो, तब तक वह पूर्णरूप से समझ मे नही आती।

आचार्य कुन्दकुन्द के अकेले 'पचास्तिकायसग्रह' मे शौरसेनी के ही शब्दरूप सभी प्रतियों तथा

प्रकाशित-सस्करणो मे समानरूप से लक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए — आगास (गाथा स. 22ए 98ए 100), चेदा, हवदि (27ए 38), उवओगविसेसिदो (27), लहदि (28), जादो, पप्पोदि (29), जीविदो (30), परिणदा, असखादा (31), चिट्ठदि (34), चेदयदि, चेदग (38), मदि, सुद (41), णियद (46), जदि, गुणदो (50), विवरीद (51), बहुगा (52), पसजदि (54), इदि (60), सदो असदो (61), मिस्सिद (62), करेदि पढिद (63), कम्मकद (64), लोगो (70), हिडदि (75), गदि (79), कारणभूद (93), लोगमेत्ता (94), देदि, णिहद (111) इत्यादि।

पाठान्तरो मे भी शौरसेनी-प्राकृत के मध्यम तथा अन्त्य वर्ण 'त' को नियमित रूप से 'द' ही उपलब्ध होता है। जैसेकि — **'पचास्तिकाय'** की गाथा 33 मे दो पाठ मिलते है — पहासयदि, पभासयदि। दोनो मे 'द' सुरक्षित है। इसीप्रकार कुदोचि, कदाचि मे मध्यम 'द' बराबर है। तथा सस्कृत के तवर्ग वर्णों मे 'त' को 'द' समानरूप से शौरसेनी-प्राकृत मे देखा जाता है। यथा — इदर>इतर (37), अणण्णभूद>अनन्यभूत (40), समुवगदो (76), भणिदो (77), सव्वदो (79), कारणभूद (93), ठिदि (93, 94), ठाण (96), इदि (102), णियद (107), एदे (109) आदि।

क्रियापदो मे वर्तमानकालिक अन्य-पुरुष के सस्कृतभाषा के 'ति' प्रत्यय के स्थान पर शौरसेनी-प्राकृत मे सर्वत्र 'दि' पाया जाता है। उदाहरण के लिये — गदा (गता· 71), वजदि (व्रजति 76), देदि (ददाति 99), मुयदि (मुचति 110), गाहदि (गाहते 110), हद (हतः 111), करेदि (करोति, 63, 95), गच्छदि (गच्छति 95), पढिद (93), हिडदि (75), सभवदि (13, 14), कुणदि (21), लहदि (28), जादि, पप्पोदि (29), जीवदि (30), पहासयदि (33), चिट्ठदि (34), जुज्जदि (37), उप्पादेदि (36), चेदयदि (38), कुव्वदि (53), भणिद (60), समादियदि (समाददाति 106)।

शौरसेनी-प्राकृत मे मध्यवर्ती 'क' के लिए सर्वत्र 'ग' होता है। जैसेकि 'आकाश' के लिए 'आगास' (104)। इसीप्रकार 'अवकाश' के लिए ओगास (7), 'अवगास' (गा 99), 'एकत्व' के लिए 'एगत्त', 'प्रकाशक' के लिए 'पगासग' (गा. 57), 'लोक' के लिए 'लोग' (70, 98, 101) जायदि (गा 86), परिणद (91), 'साकार' के लिए 'सागार' इत्यादि।

'शेष शौरसेनीवत्' नियम के अनुसार प्राकृत के सभी नियम जो शौरसेनी-प्राकृत मे निर्दिष्ट है, उनका प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे देखा जाता है। अतः इसमे कोई सन्देह नही है कि प्राचीन दिगम्बर आगम-ग्रन्थो की रचना शौरसेनी मे हुई। लगभग ई पू. तृतीय शताब्दी के पश्चात् प्रथम आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली के अनन्तर आचार्य गुणधर के 'कसायपाहुडसुत्त' से लिखित-द्रव्यश्रुत की रचना आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त-भूतबली को प्राप्त हुई और वही अविकलरूप से शौरसेनी-भाषा के माध्यम से प्रवर्तमान है। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 अग्रवाल, वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, प्रथम संस्करण, पृ 345 से उद्धृत।,

2 अग्रवाल, वासुदेवशरण : पाणिनिकालीनी भारतवर्ष, प्रथम संस्करण, पृ. 149

3. वृहत् हिन्दी-कोश : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, द्वितीय संस्करण, पृ. 391, 392

4 टर्नर, आर. एल : ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी आफ द इण्डो-आर्यन लैंगवेजेज, लन्दन, 1933. पृ 229.

5 द्रष्टव्य, बृहत् हिन्दी-कोश, पृ. 372

6 प्राकृतसर्वस्व श्लोक 2-5, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद, 1968

7 वेदान्नो वैदिक : शब्दा: सिद्धा· लोकाच्चा लौकिका·, अनर्थक व्याकरणम् इति। तथा द्रष्टव्य, भविसयत्तकहा अपभ्रश के कथाकाव्य, पृ. 17-18

8 पाइउ-सद्द-महण्णवो प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, 1963, पृ 320.

9. महाकवि पुष्पदन्त . महापुराण, 29, 24

10 टर्नर, आर. एल · ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑफ द इण्डो आर्यन- लैग्वेजेज, लन्दन-आक्सफोर्ड, 1966, पृ 254

11 द्रष्टव्य, वही, पृ 254

12 सस्कृत-प्राकृत जैन-व्याकरण और कोश की परम्परा, 1977, पृ 295

13 वही, पृ 295

14 रिचर्ड पिशेल . प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (अनूदित, डॉ हेमचन्द्र जोशी), पटना 1958, पृ 10

15 वही, पृ 157

16 को णाम भणिज्ज बुहो णाउ सव्वे पराइये भावे।
मज्झमिण तिय वयण जाणतो अप्पय सुद्धं।। — *(समयसार, गाथा 300)*

17 पचणामे पचविहे पण्णत्ते, त जहा — नामिक नैपातिक आख्यातिक, मिश्र। — *(अणुओगदारसुत्त, सूत्र स. 125)*

18 वही, सूत्र 124.

19 यास्क . निरुक्त, 1, 2

20 वही, 1, 2

21 अधिकारो विधि: सज्ञा निषेधो नियमस्तथा।
परिभाषा च शास्त्रस्य लक्षण षड्विधं विदु:।। — *(कातन्त्रव्याकरण टीका)*

22 पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्। — *(कातन्त्रव्याकरण, 1, 1, 20)*

23 सिद्धो वर्णसमाम्नाय·। — *(कातन्त्रव्याकरण 1, 1, 1)*
"सिद्ध: खलु वर्णाना समाम्नायो वेदितव्य:। न पुनरन्यथोपदेष्टव्य इत्यर्थ:। सिद्ध- शब्दोऽत्र नित्यार्थो निष्पन्नार्थ प्रसिद्धार्थो वा। यथा — सिद्धमाकाशम्, सिद्धमन्नम्, काम्पिल्य. सिद्ध इति। वर्णा अकारादय·, तेषा समाम्नाय पाठक्रम:।" — *(दुर्गाचार्यकृत कातन्त्र दुर्गवृत्ति)*

24 नामाख्यातोपसर्गेषु, निपातेषु च सस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च, भाषा यत्र त्रयी स्मृता।। — *(पद्मपुराण, 24, 11)*

25 त पुण णाम तिविह इत्थी पुरिसं णपुसग चेव।
एएसि तिण्ह पि अतम्मिअ परूवण वोॅच्छ।।
तत्थ पुरिसस्स अंता आ-इ-उ-ओ हवंति चत्तारि।
ते चेव इत्थिआओ हवंति ओकार परिहीणा।।
अंतिम-इंतिअ-उंतिअ अंताउ णपुसगस्स बोॅद्धव्वा।
एतेसि तिण्ह पि अ वोॅच्छामि णिदंसणे एत्तो।। — *(अणुओगदारसुत्त, सूत्र 123)*

26 रिचर्ड पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ. 503 से उद्धृत।
27 हेमशब्दानुशासन, 8, 2, 77; 8, 2, 89।
28 डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री : अभिनव प्राकृत-व्याकरण, पृ 263 से उद्धृत।
29 द्र. ए.सी वुल्नर: एन इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत, 'क्रिया रूप-रचना', अध्याय 9.
30 वही।
31 सदृश त्रिषु लिगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।। — *(सिद्धान्तकौमुदी, अव्ययप्रकरण)*
32 धात्वर्थं बाधते कश्चित्काश्चित्तमनुवर्तते।
विशिनष्टि तमेवाऽर्थमुपसर्गगतिस्त्रिधा।।
उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराऽऽहार-सहार-विहार-परिहारवत्।। — *(स्नातक सस्कृत व्याकरण, पृ 121)*
33 चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा सस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, इलाहाबाद, 1928ए पृ 427
34. पातञ्जल महाभाष्य, 1 4 56 तथा 'सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी', पूना, 1979ए पृ 800
35 पुरुषोत्तम प्राकृतशब्दानुशासन, पृ 161
36 प्राकृतप्रकाश, परिच्छेद 8
37 प्राकृतलक्षण, द्वितीय परिच्छेद।
38 "भावप्रधानमाख्यातम्।" निरुक्त 1, 1
39 "क्रियापदानामाख्यातम्।" महाभाष्य 5, 3, 36
40 "लस्य", अष्टाध्यायी 3, 4, 77
41 "लिडर्थे लेट्", अष्टाध्यायी, 3 4, 7
42 "लुङ्", वही 3, 2, 110
43 "अनद्यतने लङ्", वही, 3, 2, 111
44 "पराक्ष लिट्", वही, 3, 2, 115
45 "आशिषि लिङ्लोटौ", वही 3, 3, 173.
46 "अनद्यतने लुट्", वही 3, 13, 15
47 "लृट् शेषे च", वही 3, 13, 13
48 "लिङ् निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ, वही, 3, 3, 139
49 जहाँगीर सोराबजी तारापोरवाला : एलीमेन्ट्स ऑफ द सायन्स ऑफ लैंग्वेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1962, तृतीय परिवर्द्धित सस्करण, पृ 357
50 डॉ पी एल वैद्य : ग्रैमर ऑफ हेमचन्द्र, पूना, 1928, परिशिष्ट-टिप्पण, पृ 22.
51 डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री · अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृ 267 से उद्धृत।
52 डॉ सुकुमार सेन : कम्पेरेटिव ग्रैमर ऑफ मिडिल इण्डो-आर्यन, इन्ट्रोडक्शन, पृ 3
53 भगवत शरण उपाध्याय : गुप्तकाल का सास्कृतिक इतिहास, लखनऊ, 1969, पृ 379।
54 डॉ बी एस एल हनुमन्थराव · रिलीजन इन आन्ध्रा, त्रिपुरसुन्दरी 1973, पृ 10
55 हरिदत्त वेदालकार : भारत का सास्कृतिक इतिहास, दिल्ली 1992, पृ. 99

56 सत्यकेतु विद्यालकार प्राचीन भारत, मसूरी, 1981, पृ 307
57 पुरुषोत्तमलाल भार्गव प्राचीन भारत का इतिहास दिल्ली 1992, पृ 251
58 द्रष्टव्य है — हम्पा नागराजय्या का लेख 'इन्फ्लुएन्स ऑफ प्राकृत ऑन कन्नड लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर'। एन एन भट्टाचर्य (स) जैनिज्म एण्ड प्राकृत इन एन्शियेन्ट एण्ड मेडिकल इण्डिया, पृ 114
59 वाचस्पति गैरोला , भारतीय सस्कृति और कला, द्वि.स , लखनऊ, पृ 334
60 बालशौरि रेड्डी तेलुगु साहित्य का इतिहास हिन्दी समिति लखनऊ, द्वि स , पृ 23
61 रामास्वामी आयगर स्टडीज ऑफ साउथ इण्डिया इन जैनिज्म, 1922 ए मद्रास, पृ 8-9
62 द क्लासिकल एज भारतीय विद्याभवन, पृ 325, 418
63 स डॉ देवेन्द्रकुमार शास्त्री 'बारसाणुवेंक्खा' की प्रस्तावना, पृ 43।
64 प कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य दक्षिण भारत मे जैनधर्म, पृ 141

❖❖

सरस्वती-महिमा

"भुवणत्थुयत्थुणदि जवि, जगे सरस्सदी! सतत तुह तहवि।
ण गुणत लहवि तहि, को तरदि जगे जणो अण्णो॥"

— (आचार्य पद्मनन्दि, 57/738)

अर्थ *— हे सरस्वती। यदि लोक मे सम्पूर्ण-विश्व मिलकर भी आपकी निरतर स्तुति करे, तो भी आपके गुणो का पार नही पा सकता है; तब फिर आपके गुणो का पार पाने मे कोई एक व्यक्ति कैसे समर्थ हो सकता है।*

❖❖

'कोश-साहित्य' और शब्द-समूह का रक्षण

'कोषश्चैव महीपाना कोशश्च विदुषामपि।
उपयोगो महान्नेष. क्लेशस्तेन विना भवेत्॥'

अर्थ *— जिसप्रकार राजाओ का राष्ट्रो का कार्य 'कोष' (खजाना) के बिना नही चल सकता है, कोष के अभाव मे शासन-सूत्र के सचालन मे कलेश होता है, उसीप्रकार विद्वानो को शब्दकोश के बिना अर्थग्रहण मे क्लेश होता है। शब्दो मे सकेत-ग्रहण की योग्यता* ***कोश****-साहित्य के द्वारा ही आती है।*

— (प्राकृतभाषा और साहित्य, पृ 535)

❖❖

शौरसेनी प्राकृत में प्राचीन भाषा-तत्त्व

✍ प्रो. प्रेमसुमन जैन

शौरसेनी-प्राकृत प्राचीन प्राकृत-भाषाओ मे अन्यतम है। इसका प्रस्तर-क्षेत्र भौगोलिक एव सामाजिक — दोनो दृष्टियो से सर्वाधिक था। इसीलिये वर्तमान में उपलब्ध शौरसेनी-प्राकृत के साहित्य के आधार पर हम भारतीय-भाषा के प्राचीनतम-रूपो के दर्शन कर सकते है। भगवान् महावीर के उपदेशो को निर्ग्रन्थ-परम्परा के 'आगम' का रूप दनेवाली इस भाषा के इन प्राचीन-रूपो का विवेचन इस आलेख मे विद्वान्-लेखक ने किया है। — **सम्पादक**

जैन-परम्परा के प्राचीन-ग्रन्थ प्राकृतभाषा मे निबद्ध है। श्रमण-परम्परा के पोषक वैदिक-युगीन 'व्रात्य' आदि प्राचीनजन प्राकृतभाषा का व्यवहार करते थे। उनकी प्राकृतभाषा वेदभाषा 'छान्दस्' से कुछ भिन्न थी। वह शूरसेनो की भाषा 'शौरसेनी प्राकृत' की परम्परा मे विकसित हुई थी। श्रमण-परम्परा के महापुरुष भगवान् महावीर ने भी अपने उपदेशो की भाषा जनबोली 'प्राकृत' को बनाया। महावीर के उपदेश दो रूपो मे सरक्षित और सकलित हुए। गणधर और आचार्यो की परम्परा द्वारा अपनी स्मृति से महावीर के उपदेशो को द्वादशाग-श्रुत के रूप मे सुरक्षित रखा गया था, वह क्रमश: विलुप्त होता गया। अत: शेष श्रुताश को दक्षिण-भारत के दिगम्बर-जैनाचार्यो ने स्वतन्त्र-ग्रन्थो की रचना कर और उसे ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी मे लिपिबद्ध कर सुरक्षित किया। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार ई पू प्रथम-शताब्दी मे गुणधराचार्य ने 'कसायपाहुड' नामक ग्रन्थ की रचना 180 शौरसेनी-प्राकृत गाथाओ मे की। दिगम्बर-परम्परा मे लिपिबद्ध श्रुत-ग्रन्थो की श्रेणी मे गुणधराचार्य को 'प्रथम-श्रुतकार' स्वीकार किया गया है।[1] इन्ही के परवर्ती आचार्य धरसेन की प्रेरणा से आचार्य पुष्पदन्त एव मुनिश्री भूतबलि (ईसा के 73 से 87 वर्ष के लगभग) ने 'छक्खडागमसुत्त' (षट्खण्डागमसूत्र) नामक ग्रन्थ की शौरसेनी-प्राकृत मे रचना की और **ज्येष्ठ शुक्ला पचमी** (श्रुतपचमी) को उसकी लिखित ताड़पत्रीय-प्रति की सघ ने पूजा की।[2] ग्रन्थ-लेखन का यह क्रम निरन्तर चलता रहा। जैन आगमो की यह सुरक्षा तत्कालीन प्रमुख-प्राचीन-प्राकृत 'शौरसनी' मे की गयी। यही शौरसेनी-प्राकृत तबतक दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक सम्पर्क-प्राकृतभाषा के रूप मे प्रसिद्ध थी। अत: दिगम्बर-परम्परा के इन ग्रन्थो के कही इस प्राकृत के नामोल्लेख की आवश्यकता नहीं हुई। और इस भाषा की परम्परा आगे 12-13वी शताब्दी तक ग्रन्थ-लेखन मे चलती रही।

महावीर के उपदेशों को सुरक्षित रखने का दूसरा प्रयत्न श्वेताम्बर-आचार्यों की परम्परा मे भी हुआ। **ईसा की पाँचवी शताब्दी** के लगभग **बलभीनगर** मे सम्पूर्ण आगम-ग्रन्थो को प्रथम बार लिपिबद्ध भी कर लिया गया। ये आगम जिस प्राकृतभाषा मे सकलित किये गये, उसे 'अर्द्धमागधी' की प्राकृत कहा गया है। शौरसेनी और मागधी प्राकृत के मूल से निर्मित यह 'अर्धमागधी' प्राकृत-साहित्य के लिए नयी भाषा होने के कारण इसके नाम का उल्लेख भी कुछ परवर्ती आगम-ग्रन्थो मे किया गया। यह अर्धमागधी-प्राकृत श्वेताम्बर-परम्परा

के धार्मिक-ग्रन्थो की भाषा बनी रही। इस **'अर्धमागधी प्राकृत' मे फिर अन्य कोई लोक-साहित्य नहीं लिखा गया; क्योकि यह प्राकृतभाषा जन-सामान्य में प्रचलित नहीं थी।** इसलिए श्वेताम्बर-परम्परा के परवर्ती धार्मिक कथा-ग्रन्थो और व्याख्या-साहित्य के लिए 'महाराष्ट्री प्राकृत' का प्रयोग किया गया, जो 'शौरसेनी-प्राकृत' का ही विकसितरूप है। दिगम्बर-परम्परा ने धार्मिक-कथा और काव्य-ग्रन्थो के लिए शौरसेनी-प्राकृत से विकसित अपभ्रश-भाषा का प्रयोग किया। इसप्रकार भगवान् महावीर के बाद लगभग दो हजार वर्षों तक जैनग्रन्थो के साथ शौरसेनी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री प्राकृतो एव अपभ्रश-भाषा का सम्बन्ध बना रहा है। अत: प्राकृत जैन-परम्परा की मूलभाषा है। ध्यातव्य है कि जैनाचार्यों ने भारत की प्राय: सभी भाषाओ मे अपना साहित्य लिखा है।

सामान्य प्राकृत · शौरसेनी प्राकृत

प्राकृत-व्याकरण के प्राचीन-सिद्धान्तो के उपलब्ध-उल्लेखो एव प्राकृत-व्याकरण के प्रमुख-ग्रन्थो के विवरण से स्पष्ट है कि **सभी ने शौरसेनी-प्राकृत को एक व्याकरण-सम्मत एव साहित्य की समर्थ-भाषा स्वीकार किया है।** स्थानीय-प्रभाव एव प्रयोग की विशिष्टता के कारण सामान्य-प्राकृत कतिपय विशिष्ट-प्रयोगो के कारण भिन्न-नामो से जानी जाती रही है, उनमे शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री एव पैशाची प्राकृतो के नाम प्राय. सभी ने गिनाये है। इनमे आधारभूत 'सामान्य-प्राकृत' किसे स्वीकार किया जाये — इस विषय मे प्राचीन एव अर्वाचीन-विद्वान् प्रयत्न करते रहे है।

सस्कृत मे प्राकृत का व्याकरण लिखनेवाले वैयाकरणो का प्रमुख-लक्ष्य काव्यभाषा-प्राकृत के स्वरूप को प्रकट करना रहा है। काव्यो, नाटको, कथाओ मे प्रयुक्त प्राकृतो ने उन्हे सामान्य-प्राकृत वही प्रतीत हुई, जिसके अपने कोई विशेष-लक्षण नही थे। अत· अधिकाश वैयाकरणो ने 'महाराष्ट्री' को सामान्य-प्राकृत के रूप मे प्रस्तुत किया। किन्तु जो वैयाकरण यह जानते थे कि सामान्य-प्राकृत के प्राय: सभी लक्षणो को समेटे हुए जो अन्य विशिष्ट से भी युक्त है, ऐसी शौरसेनी-प्राकृत प्रमुख है; उन्होने शौरसेनी-प्राकृत को 'आधारभूत-प्राकृत' कहा।[3]

प्राकृत-वैयाकरणो ने दिगम्बर-परम्परा के सिद्धान्त-ग्रन्थो की भाषा 'शौरसेनी-प्राकृत' के उदाहरण अपने ग्रन्थो मे नही दिये और न ही श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थो के सन्दर्भ देकर 'अर्धमागधी-प्राकृत' के लक्षणो का विवेचन किया। इस साहित्य से वे परिचित न रहे हो, ऐसा हो नही सकता। इस स्थिति के पीछे यही कारण प्रतीत होता है कि वैयाकरण उनके लिए प्राकृत-व्याकरण लिख रहे थे, जो सस्कृतज्ञ थे और जो सस्कृत के माध्यम से प्राकृत का ज्ञान प्राप्त कर काव्य, नाटक मे प्रवृत्त हो सके या उनका आनन्द ले सके। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वैयाकरण यह भी समझते थे कि जो शौरसेनी एव महाराष्ट्री के नियमो को पूर्णतया जानता है, वह काव्य, नाटक के साथ सिद्धान्त एव आगम-ग्रन्थो की भाषा को भी समझ सकता है, क्योकि **शौरसेनी-प्राकृत ही अन्य प्राकृत-भाषाओ की मूलाधार है।**

'शौरसेनी' को 'मूल-प्राकृत' मानने की परम्परा श्रमण-सस्कृति मे विद्यमान है। शूरसेन-प्रदेश और शूरसेनो की भाषा होने से यह शौरसेनी बाद मे विकसित अन्य-प्राकृतो से इतिहास की दृष्टि से प्राचीन है। वैदिक-युग मे मध्यदेश की समर्थ-जनबोली होने से शौरसेनी-प्राकृत का विस्तारक्षेत्र विकसित था, जबकि अन्य प्राकृते

अपने स्थान तक ही सीमित रही। मध्यदेश के पडौसी भूभाग 'मगध' मे विकसित होनेवाली 'मागधी प्राकृत' को पालि, अर्धमागधी आदि प्राकृतो का आधार माना जाता है; जबकि स्वय 'मागधी' की आधारभाषा 'शौरसेनी प्राकृत' थी। भरत ने शौरसेनी के नियम और गाथाओ को अपने 'नाट्यशास्त्र' मे सम्मिलित किया। प्राचीन प्राकृत- वैयाकरण **वररुचि** ने स्पष्ट किया कि 'मागधी' की प्रकृति 'शौरसेनी' को जानना चाहिये —

"अस्या मागध्या: प्रकृति: शौरसेनीति वेवितव्यम्।"
— *(2.11)*

त्रिविक्रम ने भी इसी का समर्थन किया (3 2 27)। 'पैशाची-प्राकृत' की प्रकृति भी 'शौरसेनी-प्राकृत' है।[4] सातवी शताब्दी के **महाकवि रविषेण** ने भी सामान्य-भाषा प्राकृत को शौरसेनी मानते हुए उसे व्याकरण आदि से सुसस्कारित और लोकभाषा माना है —

"नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च सस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृता॥"
— *(पद्मपुराण, 24.11)*

प्राकृत का उत्पत्ति स्थान कौन-सा है और 'मूल प्राकृत' कौन-सी है? — इस पर विस्तृत-विमर्श करते हुए **प्रो मनमोहन घोष** ने यह निष्कर्ष दिया है कि "भारत का 'मध्यदेश' ही प्राकृत का उद्भव-स्थल है। **वैयाकरणो द्वारा प्रयुक्त 'प्राकृत' शब्द का अर्थ 'शौरसेनी प्राकृत' है।** दिगम्बर-परम्परा मे लिखित जैन आगम-ग्रन्थो की भाषा शौरसेनी-प्राकृत भी इसी मत को पुष्ट करती है। इस मूल-प्राकृत शौरसेनी से ही अन्य प्राकृतो — मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि का विकास हुआ है।"

"The Indian midland was the original home of Prakrit This would bring Sauraseni and Prakrit very near to each other, and they may in fact be the same language, considered to be different by grammarians owing to the reasons suggested above That the unnamed Prakrit of the Digambara Jain Canon has a marked Sauraseni character may well support this view"[5]

डॉ घोष ने अपने इस विस्तृत-लेख मे विभिन्न-प्रमाणों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि प्रमुख-वैयाकरणो एव काव्यशास्त्रियो ने सामान्य-प्राकृत के रूप मे शौरसेनी को स्वीकार किया है और कई ने तो 'महाराष्ट्री' एव 'अर्धमागधी' का नाम ही नही लिया। वे चार प्राकृतो का ही उल्लेख करते है — **शौरसेनी, मागधी, पैशाची एव अपभ्रश**। अत: स्पष्ट है कि 'महाराष्ट्री-प्राकृत' 'शौरसेनी-प्राकृत' का परवर्ती विकसितरूप है।[6] **प्रो. घोष** ने आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे प्राप्त 'शौरसेनी प्राकृत' की गाथाओ का आलोचनात्मक-अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।[7] उन्होने 'प्राचीन शौरसेनी' को 'महाराष्ट्री प्राकृत' की जननी कहा है।[8] **डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या** भी 'शौरसेनी-प्राकृत' और 'शौरसेनी-अपभ्रश' के बीच की एक अवस्था को 'महाराष्ट्री-प्राकृत' कहते हैं।[9]

प्रो. पी.एल. वैद्य ने भी अपने एक लेख मे यह स्पष्ट किया है कि **"सस्कृत-नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत मुख्यरूप से शौरसेनी-प्राकृत थी। शौरसेनी ही मागधी और अर्धमागधी का मूल-आधार थी।"**[10] **प्रो. ए.एम. घाटगे** ने नाटको मे प्रयुक्त शौरसेनी की प्रमुख-विशेषताओ का विश्लेषण किया है और "शौरसेनी

को सामान्य-प्राकृत के रूप मे वहाँ स्वीकार किया गया है।"[11] इसी शौरसेनी का अध्ययन जर्मन विद्वान् **आर. शिमवित ने भी किया है,**[12] जिसका अग्रेजी-अनुवाद **प्रो. एस.आर. बनर्जी** ने प्रकाशित किया है।

इसप्रकार साहित्य मे शौरसेनी-प्राकृत की प्रमुखता, वैदिक-युग मे प्राकृत के प्रमुख-क्षेत्र मध्यदेश की प्राचीनता, शौरसेनी प्राकृत का देश के विभिन्न-भागो मे प्रयोग और विभिन्न-प्राकृतों के प्रमुख-लक्षणो की शौरसेनी मे समावेश आदि प्रमुख-कारण है; जो शौरसेनी-प्राकृत को भारतवर्ष की मूल-जनभाषा प्राकृत के पद पर प्रतिष्ठित करते है। दिगम्बर जैन-ग्रन्थो की भाषा शौरसेनी प्राकृत एव नाटको मे प्रयुक्त नाटकीय-शौरसेनी-प्राकृत उसी मूल-शौरसेनी-प्राकृत के परवर्तीरूप है, जिनमे समानता अधिक, भिन्नता कम है। प्राकृत-वैयाकरणो ने अपने ग्रन्थो मे शौरसेनी की जो प्रमुख विशेषताये गिनायी है, वे उसकी विशेषता बताने के लिए है। अन्यथा प्राकृत के प्राय: सभी नियम शौरसेनी के नियम ही है; क्योकि केवल विशिष्ट 15-20 नियमो से कोई भी प्राकृत व्यवहार मे नही लायी जा सकती है। प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् **डोल्ची नित्ति** का भी सुझाव है कि वररुचि द्वारा जो 14 सूत्र पैशाची-प्राकृत के लिए दिये है, उसके अतिरिक्त प्रारम्भ मे दिये गये सामान्य-प्राकृत के 424 सूत्र भी पैशाची पर लागू हैं। यही बात अन्य प्राकृत-भाषाओं पर समझनी चाहिए।[13] अत: शौरसेनी-प्राकृत के व्यापक-स्वरूप को समझने के लिए सभी प्राकृतो के साथ उसके सम्बन्ध को समझना होगा। इसके लिए विभिन्न-प्राकृतो की जानकारी उपयोगी होगी।

प्राचीन भारतीय-भाषाओ मे शौरसेनी-प्राकृतभाषा का विशेष-महत्त्व है, क्योंकि वह साहित्यिक-भाषा की 'आधारभाषा' है। 'शौरसेनी प्राकृत' सिद्धान्त-दर्शन और काव्य दोनो की भाषा रही है। राजकीय-आदेशो और जनपदो मे भी वह प्रयोग की जाती रही है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक का भूभाग शौरसेनी का विकास-क्षेत्र रहा है। सूरसेन-भूभाग के अस्तित्व के समय से 'लोकभाषा' के रूप मे, नाटको के निर्माण-काल के प्रारम्भ से 'काव्यभाषा' के रूप मे और श्रमण-परम्परा के शुभारम्भ से 'सिद्धान्तभाषा' के रूप मे 'शौरसेनी प्राकृत' की प्राचीनता का सम्बन्ध जुडता है। वैदिक-भाषा मे भी प्राकृत के तत्त्व उपलब्ध है। एशिया के विभिन्न भूभागो की साहसिक-यात्रा करनेवाले जाने-अनजाने व्यापारियो की भाषा के प्रयोग भी प्राकृत की प्राचीनता पर प्रकाश डालते है।

प्रो. ए.एम. घाटगे के अनुसार अन्तर स्वरात्मक-घोषीकरण की प्रक्रिया शौरसेनी-प्राकृत को अन्य प्राकृत-बोलियो से भिन्न एव मौलिक-भाषा का रूप प्रदान करती है।[14] शौरसेनी मे प्रयुक्त 'मादा' 'पिदा' आदि शब्द प्राचीन-आर्यभाषा के मातृ, पितृ शब्द के समान प्राचीन है, जिनका सम्बन्ध जर्मन, इटेलियन आदि प्राचीन-भाषाओ से भी जुडता है।

भरत और शौरसेनी

भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' मे विभिन्न-प्राकृतो के नाम के साथ शौरसेनी का उल्लेख कर 'प्राकृत' भाषा के कुछ नियम और उदाहरण भी दिये है, और प्रारम्भ मे 10 गाथाये प्राकृत मे ही लिखी मिलती है।

भरत के द्वारा उल्लिखित 'प्राकृत' भाषा एव अन्य नाटककारो द्वारा प्रयुक्त 'प्राकृत' भाषा का आशय शौरसेनी-प्राकृत है, — यह मत **प्रो. मनमोहन घोष** आदि विद्वान् सिद्ध कर चुके हैं। भरत के द्वारा उल्लिखित

ये प्राकृत के नियम भी दिगम्बर जैन-परम्परा के सिद्धान्त-ग्रन्थो की भाषा मे प्राय· उपलब्ध हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है —

	भरत नाट्यशास्त्र	*दिगम्बर जैन सिद्धान्त-ग्रन्थ*
1.	ख, घ, थ, ध और भ का — 'ह' मे परिवर्तन	मुख>मुह, मेघ>मेह, कथा>कहा, मुह (णियम 8), मेह, प्रभूत>पहूअ बधकहा, पहुदि (णियम 14), पहु (पचा. 27)
2	'ट्' का 'ड्' —	कुटी>कुडी, कटक>कडअ, कोडी (षट् 1 5 18), कडअ (समय 130)
3	'प' का 'व' —	आपान>आवाण-आवण्ण (सम 139), तव (समय 152)
4	'च' का लोप —	अचिर>अइर-अइर (भाव पा. 79), (पवयण.)
5	'ध्' को 'ह्' —	यथा>जधा, तथा>तधा (पवयण 68)
6	सयुक्त व्यजनो के परिवर्तन — दृष्ट>दट्ठ, उष्ण>उण्ह, ब्रह्मा>बम्हा, शक>सक्क	पथ्य>पच्छ, मह्य>मज्झ, पच्छ (भाव 73), मज्झ (पवयण 73), दट्ठ (भाव 15), उण्ह (पवयण. 68) बम्हा (षट. 5 5.12), सक्क (बारस 5)

ऐसे अनेक-उदाहरण मिल सकते है। इनके अतिरिक्त भरत के इन नियमो मे 13वे श्लोक मे उसने सम्भवत. शौरसेनी के उस प्रसिद्ध-नियम का उल्लेख किया है, जिसमे अनादि 'तकार' को 'दकार' होता है।[15] यथा — लता > लदा, चतुर्गति > चउग्गदि, गच्छति > गच्छदि इत्यादि।

भरत और शौरसेनी-प्राकृत पर पृथक्रूप से विस्तार से विवेचन करने की आवश्यकता है।

वैयाकरण और शौरसेनी

प्रथम-वैयाकरण **चण्ड** ने अपने लघुकाय 'प्राकृत-लक्षण' मे शौरसेनी से सम्बन्धित एक ही सूत्र दिया है, परन्तु जो भी नियम निर्धारित किये है, वे सभी प्राकृत के सामान्य-नियम होते हुए भी शौरसेनी-प्राकृत के नियमो के अधिक वैशिष्ट्य की जानकारी देते है। **वररुचि** ने अपने व्याकरण मे प्रारम्भ मे जो प्राकृत के नियम दिये है, उनमे से अधिकाश-नियम शौरसेनी-प्राकृत के है। उसके लिए 'सामान्य-प्राकृत' का अर्थ 'शौरसेनी' रहा है। इसीलिए उसने, पैशाची और मागधी प्राकृत की प्रकृति भी शौरसेनी को माना है। यह बात उसने सामान्य-प्राकृत के नौ अध्याय समाप्त करके 10वे एव 11वे अध्याय मे कही है। अत· **डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री** ने यह मन्तव्य ठीक ही व्यक्त किया है कि "प्राचीन समय में शौरसेनी इतनी ख्यात थी कि उसे 'सामान्य-प्राकृत' समझा जाता था।"[16] उन्होने सिद्धान्त-ग्रन्थो की शौरसेनी-प्राकृत के नियमो को सम्मिलित करते हुए कुछ विस्तार से शौरसेनी के नियम दिये है।[17] **डॉ. ए.एम. घाटगे** ने अपने एक निबन्ध मे नाटको मे प्रयुक्त शौरसेनी-नियमो की चर्चा की है।[18] 'छक्खडागमसुत्त' एव 'कसायपाहुडसुत्त' आदि ग्रन्थो के सम्पादको ने भी परम्परागत-रूप से ही शौरसेनी के नियमो की सक्षेप मे चर्चा की है। **प. हीरालाल शास्त्री** ने 'वसुनन्दि श्रावकाचार' के परिशिष्ट मे शौरसेनी को स्पष्ट करने का अच्छा प्रयत्न किया है। **प. बालचन्द्र शास्त्री** ने 'षट्खण्डागम : एक परिशीलन' में ग्रन्थ की भाषात्मक-सामग्री प्रस्तुत की है, जो उपयोगी है।

क्षेत्र एव नामकरण

प्राकृत भाषाओ के उद्भव एव विकास की एक लम्बी कहानी है। भाषा के इतिहास के साथ प्राकृतो, जनभाषाओ का सम्बन्ध जुडा हुआ है। किन्तु प्राकृतो के नामकरण का अब तक ज्ञात प्राचीन-स्रोत एक ही है — **भरत** का **नाट्यशास्त्र**। उसमे एक साथ सात प्राकृतो का नाम लिया गया है — मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीका एव दाक्षिणात्या।[19] भरत का समय विद्वानो ने ईसा-पूर्व 3-2री शताब्दी स्वीकार किया है। इस समय तक के श्रमण-परम्परा के ग्रन्थो मे प्राकृत के ये नाम प्राप्त नही होते है। श्वेताम्बर-परम्परा के जिन आगम-ग्रन्थो को प्राचीन माना जाता है, उन आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययनसूत्र आदि ग्रन्थो की भाषा का कोई नाम उल्लेख नही है। परवर्ती अन्य-आगमों में जिस 'अर्धमागधी भाषा' (अद्धमागहाए भासाए) का उल्लेख है, उसे विद्वानो ने नाटको की अर्धमागधी-प्राकृत से भिन्न माना है।[20] **प बेचरदास दोशी** तो उसे 'प्राकृत' की मानते है।[21] 'स्थानागसूत्र' और 'अनुयोगद्वारसूत्र' मे भी सस्कृत और प्राकृत इन दो भाषाओं का ही उल्लेख है —

"सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओ आहिया।
सरमडलम्मि गिज्जते पसत्था इसिभासिता॥"

साहित्य के ग्रन्थो मे भी शौरसेनी को 'प्राकृत' शब्द से जाना जाता रहा है। **शूद्रक** के 'मृच्छकटिक' मे सूत्रधार घोषणा करता है कि — "यह मै कार्य के वश से और प्रयोग की पालना के लिए 'प्राकृत' बोलने वाला बन जाता हूँ।"[22] इसके बाद सूत्रधार जो प्राकृत-सभाषण करता है, वह सभी अश 'शौरसेनी प्राकृत' का कहा गया है। आठवी शताब्दी मे रचित **उद्योतनसूरिकृत** 'कुवलयमाला' मे भी **'पाययभासा'** और **'मरहट्टय देसीभासा'** को को अलग-अलग माना गया है। 'अपभ्रश' और 'पैशाची' का वहाँ अलग उल्लेख है। अत: लेखक ने 'शौरसेनी' का उल्लेख न कर उसे प्राकृतभाषा के रूप मे व्यक्त किया है। इसके बाद का **कवि राजशेखर** तो **शौरसेनी मे ही** पूरा ग्रन्थ 'कर्पूरमजरी' लिखा है। और वह तब प्रमुख/सामान्य प्राकृत के रूप मे समझी जाने के कारण ग्रन्थ की भाषा शौरसेनी के नाम का उल्लेख भी नही करता। वह अपने दूसरे ग्रन्थ 'काव्यमीमासा' मे भी चार भाषाओ — सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और पैशाची का उल्लेख करता है।[23] यहाँ भी वह प्राकृत को 'शौरसेनी' मानता है। इन सब उल्लेखो से 'शौरसेनी-प्राकृत' की प्रमुखता प्रतीत होती है।

भौगोलिक एव ऐतिहासिक-दृष्टि से देखा जाये, तो सूरसेन-देश मे विकसित-भाषा शौरसेनी मूलाधार-प्राकृत को तय कर सकेगी। वैयाकरण **लक्ष्मीधर** ने अपने ग्रन्थ 'षड्भाषाचन्द्रिका' (पृ.2) मे स्पष्ट किया है कि 'शूरसेन' देश मे उत्पन्न भाषा 'शौरसेनी' कही जाती है तथा 'मगधदेश' मे उत्पन्न भाषा को 'मागधी' कहते है —

"सूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयिते।
मगधोत्पन्नभाषा ता मागधीं सप्रचक्षते॥"

इतिहास से स्पष्ट है कि शूरसेन-जनपद का अस्तित्व इस देश मे मगध-भूभाग की स्थापना से प्राचीन है। सूरसेन, मध्यदेश की सस्कृति ही प्राच्या, मगध की ओर बढी है; अत: शौरसेनी-प्राकृत की मगध की भाषा 'मागधी' के विकास का आधार बनी है। शूरसेनो की भाषा शौरसेनी के रूप मे प्रचलित तो हुई ही है, साथ ही शूरो (क्षत्रियो) की भाषा होने के कारण भी इसका नाम 'शौरसेनी' सार्थक हो सकता है। मध्यदेश एव शूरसेन

कर्म से एव जन्म से क्षत्रियधर्म को निवाहनेवालो का भूभाग रहा है। उन शूरसेनो की भाषा शौरसेनी-प्राकृत का जनबोलियों मे प्रमुखता प्राप्त करना स्वाभाविक है। प्राकृतो को जो **देशभाषा** या **देशीभाषा**[24] कहा गया है; वह देशभर मे प्रचलित होने के कारण, देश=जन-समुदाय की भाषा होने के कारण तो सार्थक है ही, मध्यदेश की भाषा प्राकृत है — इस सूचना हेतु भी मध्यदेश मे से **'देश'** पद को भाषा के साथ जोडा गया है। आचार्य भरत ने प्राकृत के कुछ नियम बताकर कह दिया कि बाकी-लक्षण देशीभाषा (शौरसेनी) मे प्रसिद्ध है। विद्वान् वहाँ के प्रयोगो से ज्ञात करे —

"एवमेतन्मया प्रोक्त किंचित् प्राकृतलक्षणम्।
शेष देशीप्रसिद्ध च ज्ञेय विप्राः प्रयोगतः॥"
— *(नाट्यशास्त्र, 25)*

शौरसेनी-प्राकृत के विशिष्ट-प्रयोग

शौरसेनी-प्राकृत का ज्ञान विभिन्न-प्राकृतो के अभ्यास के बिना अधूरा है। शौरसेनी-भाषा की पृष्ठभूमि मे 'पवयणसार' ग्रन्थ की भाषा विकसित हुई है तथा उस पर सस्कृत का भी पर्याप्त-प्रभाव दृष्टिगत होता है। जब एक ग्रन्थ की भाषा का यह रूप है, तो समस्त दिगम्बर जैन-परम्परा के प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थो की भाषा मे तो निश्चित ही सस्कृत एव नाटकीय-शौरसेनी के रूप सम्मिलित मिलेगे ही; क्योंकि इन सब की आधारभूत भाषा शौरसेनी-प्राकृत रही है। वही से अनेक सामान्य-प्रयोग परवर्ती-भाषाओ मे भी व्याप्त हुए है। सिद्धान्त-ग्रन्थो की शौरसेनी-प्राकृत की सामान्य-विशेषताये एव नियम विद्वानो ने स्पष्ट किये है। कतिपय विशिष्ट-शौरसेनी-प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य है। यथा —

1 दीर्घ एव ह्रस्व-विधान मे विकल्प —
केवलिगुणा — केवलीणाण (पचा-30)

2 संधि-रूपो में विकल्प —
कोधादीया (समय. 87) — धम्म आदि (समय. 36)

3 ऋकार का विभिन्न रूपो मे परिवर्तन —

अ	=	अगहिद (अगृहीत)	(षट् 1 पृ. 106)	'ढ'
इ	=	इड्ढि (ऋद्धिः)	(षट् 1 1.56)	'ढ'
उ	=	पहुडि (प्रभृति)	(षट् 1.1.61)	'ढ'
ओ	=	मोस (मृषा)	(षट् 1 149)	'ढ'

4 सरल व्यजन-परिवर्तन —

(1) **क के स्थान पर वैकल्पिक प्रयोग —**

ग	=	वेदग (वेदक)	(षट् प्र.ख.)	'ढ'
		एगंतेण (एकान्तेन)	(प्र.सा. 66)	'ढ'

क	=	अणुकूल (अनुकूल)	(का. 456)	'ढ'
य	=	णिरयगदी (नरकगति)	(षट् 1 1.24)	'ढ'
अ	=	अलिअ (अलीकम्)	(का 406)	'ढ'

'षटखण्डागमसूत्र' मे प्राप्त पागार, सगड, केटय, मसय आदि शब्द इसीप्रकार के है।

(2) **मध्यवर्ती-व्यंजनो के लोप मे विकल्प —**

क = पदीवयरा प्रदीपकरा	(प्र सा. 33)	'ढ'
च = वयणेहि (वचनै·)	(प्र मा 34)	'ढ'
त = गइ (गति)	(षट् 1 1 4)	'ढ'
द = बहुभेया (बहुभेदा)	(द्र स 35)	'ढ'

प्राचीन शौरसेनी-ग्रन्थो मे प्राप्त पओअ, अवजोओ, सायर, पउरा, मणुअ आदि प्रयोग भी इसी श्रेणी के है।

(3) **'त' के स्थान पर 'व' एव अन्य परिवर्तन —**

'षट्खण्डागम' आदि प्राचीन शौरसेनी-ग्रन्थो मे शब्दो मे मध्यवर्ती 'तकार' का प्राय. 'दकार' पाया जाता है। यह शौरसेनी की प्रमुख-पहिचान मानी गयी है।[25] यथा — इदि>इति, पव्वदो>पर्वतः, घादी>घाति, सुदो>सुत , कुदो>कुतः, अरदि>अरति। नामरूपो के अतिरिक्त यह प्रवृत्ति क्रियापदो और कृदन्तो मे भी उपलब्ध है। यथा — भोदि>भवति, गच्छति>गच्छति जाणदि>जानाति, मुदो>मृत·, पदिदो>पतितः, करिदो>कृत·।

कई स्थानो पर 'त' का लोप एव 'ड' भी मिलता है। यथा — गइ>गति, वद>व्रत, हेउ>हेतु, पडिवत्ती>प्रतिपत्ति, पडिसेविद>प्रतिसेवित आदि।

(4) **घोषीकरण की प्रवृत्ति —**

शौरसेनी-प्राकृत मे ख, घ, थ, ध, फ, भ को 'ह' हो जाता है। यथा — मुह>मुख, मेह>मेघ, कहा>कथा, मेहा>मेधा, लाह>लाभ, हुल्ल>फुल्ल। अन्य स्थानो पर 'थ' के स्थान पर 'ध' भी पाया जाता है। यथा — अधवा>अथवा, कध>कथम, पुध>पृथक्।

(5) सम्बन्ध-कृदन्त या पूर्वकालिक-प्रत्यय 'त्वा' के स्थान पर सर्वाधिक 'दूण' का प्रयोग। यथा — करिदूण>कृत्वा, जाणिदूण>ज्ञात्वा, धरेदूण>धृत्वा।

(6) कर्त्ताकारक (प्रथमा) के एकवचन मे 'ओ' प्रत्यय के अतिरिक्त 'ए' प्रत्यय का भी प्रयोग — इदिए/इदियो, काए/काओ, जोगे/जोगो आदि।

(7) सज्ञा-शब्दो मे 'पचमी' मे 'आदो, आदु, दो' प्रत्ययो के प्रयोग, यथा — अप्पादो (पचा 149), जीवादो (सम 28), उदयादु (प्रव. ज्ञे. 61), वत्थुदो (सम 264), भेददो (निय. 12), दव्वदो (प्रव) शौरसेनी की इस विशेषता का उल्लेख प्राय: सभी वैयाकरणो ने किया है।[26]

(8) सज्ञा-शब्दों के सप्तमी-एकवचन मे 'म्हि, म्मि, ए' प्रत्ययो का प्रयोग। यथा — जीवम्हि (सम. 105), अण्णदवियम्हि (प्र.ज्ञे 62), बहुलम्मि (सम. 242), ढाणम्मि (सम. 237), हेदुभूदे (सम. 105),

गईए, पयडीए (सम. 313)। 'पवयणसार' की गाथा के एक पद में ये तीनो प्रयोग एक साथ विद्यमान हैं। यथा — **पयदम्हि**, **समारद्धे**, छेदो, समणस्सा, **कायचेट्ठम्मि** (पा. 11)

(9) शौरसेनी के सिद्धान्त-ग्रन्थो मे सर्वत्र 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग उपलब्ध है;

यथा — णमो, णाणी, णिद्देसो, णओ, णाम, आलावण आदि।

(10) प्राचीनभाषा होने के कारण शौरसेनी मे देशी-शब्दो की प्रचुरता एव वैकल्पिक-रूपो के प्रयोग भी उपलब्ध है।

विद्वानो ने सिद्धान्त-ग्रन्थो की शौरसेनी और नाटकीय-शौरसेनी प्राकृत के विभिन्न भाषा-सम्बन्धी नियम तय किये है।[27] किन्तु जब इन ग्रन्थो के आलोचनात्मक सम्पादित-सस्करण प्रकाशित होगे और प्रामाणिक शौरसेनी-शब्दकोश तैयार होगा, तब शौरसेनी का भाषात्मक स्वरूप अधिक निखर सकेगा। इस गुरुतर-कार्य मे विद्वानो के समूह के जुटने की आवश्यकता है।

शौरसेनी-प्राकृत के ग्रन्थों की प्रवृत्तियाँ और अर्धमागधी-प्राकृत

डॉ के.आर. चन्द्रा अपनी पुस्तक मे अर्धमागधी की प्राचीनता के जो उदाहरण या नियम स्वीकार किये है, उनमे से अधिकाश-प्रवृत्तियो को हम सिद्धान्त-ग्रन्थों की शौरसेनी-प्राकृत मे भी देख सकते हैं। यथा —

प्रवृत्ति	*अर्धमागधी प्रयोग*	*शौरसेनी प्रयोग*
'क' को 'ग'	सरपादग	सावगो, जाणग (षट्.)
'त' को 'द'	भविदव्व	भवदु, गोदम, परिणदो (षट्.)
'थ' को 'ध'	तधा, जधा	तधा, जधा, कध (षट्.)
आत्मा के रूप	अत्ता, अप्पा	अत्ता, अप्पा (सम. 83 एव 29)
पचमी ए.ब.	बहुसो, सव्वसो	बहुसो (षट 4.3.12)
सप्तमी ए.ब	इमम्हि	जम्हि, तम्हि, एदम्हि (षट्.)
विधिलिग	चरे, लभे, चिट्ठे, सिया	वंदे, हवे (नियम. 11, 17)
स्यात्	सिया	सिया (षट्. 1 827)
सम्बन्ध-कृदन्त	पप्प, किच्चा णच्चा,	पप्पा (प्र. 65, 83)
'त' को 'ड'	कडे (कृत)	पहुडि (प्रभृति), पयडि (प्रकृति)
नपु. ब ब	कम्माणि	कम्माणि, णाणाणि (षट्. 1.119)

इसप्रकार के प्राचीन-प्रयोगो को शौरसेनी-प्राकृत के सिद्धान्त-ग्रन्थों से एकत्रकर यदि श्रमपूर्वक-अध्ययन किया जाये, तो 'शौरसेनी' और 'अर्धमागधी' — दोनो भाषाओ के स्वरूप को सही-आकार मिल सकता है। तभी प्राचीन-ग्रन्थों का सम्पादन-कार्य भी सार्थक होगा। इसके लिए पालिभाषा का ज्ञान भी आवश्यक है। क्योंकि पालि मे भी मध्यदेशी-भाषा 'शौरसेनी-प्राकृत' की प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं।[28] ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 'जैन आगम-ग्रन्थो का लिपिकरण' — डॉ सुदर्शनलाल जैन, शोधादर्श 26, पृ 163
2 षट्खण्डागम — लेखन कथा, डॉ राजाराम जैन, आरा 1992
3 'प्रकृतिः शौरसेनी', वररुचि, प्राकृतप्रकाश।
4 'अस्या पैशाच्या· प्रकृतिः शौरसेनी' — वररुचि, प्राकृतप्रकाश, 10 2.
5 घोष · 'महाराष्ट्री — ए लेटर फेज ऑफ शौरसेनी' नामक लेख, कलकत्ता युनि जर्नल, 1933।
6 Pkt was nothing other than Saurasenı, for these authors know only S , Mg , P , and A
7 Prakrıt Verses ın the Bharata-Natyasastra — by Man Mohan Ghosh
8 Introductıon of Karpuramanjarı, p 75, Calcutta, 1948
9 भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ 103, दिल्ली, 1963
10 *On The Use of Prakrıt Dıalects ın Sanskrıt Dramas* — by P L Vaıdya
11 Saurasenı ıs taken to be the normal Prakrıt of the Sanskrıt dramas — 'Saurasenı prakrıt Journal of Bombay Unıversıty, 1935, Vol 3, No 6
12 R Schmıdt, Elementarbuch der Saurasenı, Hannover, 1924, p 10
Eng Tran (Jaın Journal, October, 1997)
13 प्राकृत के व्याकरणकार (ले ग्रामेरिआँ प्राकृत), पृ 1-3
14 हिस्टोरिकल लिंग्नियुस्टिकस् एण्ड इण्डो-आर्यन लेंग्युएजेज, पृ 36
15 अस्पष्टश्च दकारो भवत्यनादौ तकार, इतराद्य । — *(भरत 17-18)*
16 (क) प्राकृत भाषा एव साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ 76,
(ख) प्रवचनसार, अग्रेजी भूमिका, पृ 116 एव हिन्दी अनुवाद (प्रो लक्ष्मीचन्द्र जैन),
प्रवचनसार — एक अध्ययन, दिल्ली, 1990 पृ 106 121
17 अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृ 383-394
18 'शौरसेनी प्राकृत' जर्नल ऑफ द युनिवर्सिटी ऑफ बम्बई, जिल्द 3, भाग 6, 1935।
19 मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यार्धमागधी (ओड्मागधी),
वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिता — *(17-48)*
20 सेठ, हरगोविन्ददास, पाइअसद्दमहण्णव, भूमिका, पृ 38
21 प्राकृत व्याकरण (गुजराती), प्रस्तावना एव प्राकृत शब्दकोश की भूमिका, पृ 35
22 मृच्छकटिक, अक 1, 8वे श्लोक का कथन।
23 काव्यमीमांसा, पटना 1945, पृ 14.
24 महाभारत, शल्यपर्व 46-103; नाट्यशास्त्र 12, 24, 46; कामसूत्र 1 4 50।
25 (क) उपाध्ये ए.एन, प्रवचनसार की भूमिका, पृ 116
(ख) शास्त्री, बालचन्द्र; षट्खण्डागम — एक परिशीलन, पृ 21-23
(ग) अभिनव प्राकृत व्याकरण, वाराणसी, पृ 393
26 जैन उदयचन्द्र; 'कुन्दकुन्द साहित्य मे भाषिक प्रयोग' प्राकृतविद्या, अप्रैल-89, पृ 2-9
27. शास्त्री, देवेन्द्र कुमार; बारसअणुवेक्खा — जयपुर, 1991, पृ 41-43.
28 प्राचीन अर्धमागधी की खोज में, अहमदाबाद 1991 पृ 35-52
29. तिवारी, लक्ष्मी नारायण; कच्चायन व्याकरण, वाराणसी, 1962, भूमिका पृ. 38.

◆◆

प्राकृत काव्य-शैली का दूरगामी प्रभाव

✍ डॉ. कलानाथ शास्त्री

प्राकृतभाषा के साहित्य की आज के युग मे चर्चा प्राय: गिने-चुने व्यक्तियो तक सीमित रह गयी है। तथा कुछ विद्वानो के पूर्वाग्रही प्रचार से भी भारतीय भाषाओ एव साहित्य की प्राकृत-उपजीव्यता का बोध नष्टप्राय· हो गया है। ऐसी स्थिति मे एक वरिष्ठ सस्कृत-विद्वान् के द्वारा इतर-साहित्य मे प्राकृत-साहित्य के प्रभाव को दर्शानेवाला यह आलेख अवश्य ही पठनीय, मननीय है। — **सम्पादक**

भारतीय-वाङ्मय ने वेद की 'छान्द्स' भाषा, क्लासिक-सस्कृत की अभिजात-भाषा, प्राकृत, पालि और अपभ्रश की लोकभाषाओ तथा आधुनिक भारतीय-भाषाओ के साहित्य तक अभिव्यक्ति-शैलियो, उक्त-भंगिमाओ और विदग्ध-वचनो (जिन्हे 'अन्दाजे-बयाँ' कहा जा सकता है) का इतना वैविध्य देखा है कि उसका विश्लेषण तथा तुलनात्मक-अध्ययन सरल-कार्य नही है। कुछ अभिव्यक्ति विधाये ऐसी है, जो वेद मे बहुतायत से पाई जाती है, वैदिक-शैली की पहचान है; किन्तु क्लासिकी-सस्कृत मे परिगृहीत नही हुई जैसे — **किस्विद्वन क उ स वृक्ष आस** या **कथा जाते कवय को विवेद** की प्रश्नोत्तर-शैली या **पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति** मे विस्मय-योजना, जबकि हमारी लोकभाषाओ और आधुनिक-साहित्य मे खूब फबती रही है, लगता है वे वेद से प्राकृतो मे होती हुई आधुनिक-लोकभाषाओ तक आई है। क्लासिकी-सस्कृत के सागरूपक और श्लेष जैसे अलकार (सभग और अभग) उसके अपने है, जो अन्य-भाषाओ मे उतर ही नही सकते — **पृथुकार्तस्वरपात्र भूषितनि:शेष-परिजन देव** मे भू+उषित, पृथु+कार्तस्वर और भूषित तथा पृथुक+आर्तस्वर आदि व्युत्पादित-पदगत सभग-श्लेष केवल सस्कृत का ही वर्ग-चरित्र है; अन्य भाषाओ मे यह क्षमता नही है। इसके विपरीत प्राकृत और अपभ्रश आदि की कुछ ललित-अभिव्यक्तियाँ, जो हृदय की सहज भाव-प्रवणता से उपजी तथा माटी की सौधी गध लिए हुए हैं, अपनी अलग-पहचान रखती हैं, जो अभिजात-सस्कृत मे रच-बसकर नही फैल पाईं, या तो अनुवाद या उद्धरणमात्र तक सीमित रह गईं या कुछ कवियो और काव्यो मे ही रच-बस पाईं ऐसा लगता है (हो सकता है, उनका सूत्रपात पालि की गाथाओ से ही हो गया हो)।

यही कारण है कि उनके अभिव्यक्ति-सौन्दर्य या अन्दाजे-बयाँ से चमत्कृत होकर आनन्दवर्धन से लेकर विश्वनाथ तक सभी काव्यशास्त्रियो ने प्राकृत-गाथाओ को रस, भाव, ध्वनि या अलकार के उदाहरण के रूप मे खूब उद्धृत किया है। बहुत ही उक्तियाँ ऐसी हैं, जिन्हें देखकर लगता है कि उनकी परम्परा अभिजात-सस्कृत मे नही मिल सकी; अत: प्राकृत से ही उन्हें उद्धृत करना अधिक उचित जान पडा। इनका विश्लेषण या वर्गीकरण करे, तो कभी-कभी ये दो वर्ग स्पष्ट लगने लगते हैं कि कुछ अभिव्यक्तियाँ ऐसी है, जो मूलत: प्राकृत-गाथाओ की देन हैं; किन्तु संस्कृत-काव्यो में परिगृहीत होकर आम हो गईं। कुछ ऐसी हैं, जो प्राकृत और अपभ्रंश की सीमा तक ही रही, उनकी भाव-प्रवणता या तरलता, जिसे अंगेजी मे 'लिरिसिज्म' भी कहा जा सकता है, संस्कृत जैसी अभिजात-भाषा में उसी भणितिभगी के साथ नहीं उतारी गईं। उसमे आभिजात्य

अथवा गम्भीरता आ गई। जिसप्रकार आज गम्भीर, अभिजात-वर्गों मे भी कभी-कभी भाव-प्रवणता या हल्की-फुल्की चुटीली गुदगुदानेवाली अभिव्यक्ति के लिहाज से लोकभाषा की या उर्दू की काव्योक्ति उद्धृतकर वक्ता अपने भाषण को सरल, चटपटा या प्रभावी बनाने का प्रयत्न करता है, उसीप्रकार उस समय प्राकृत की काव्योक्तियो को उद्धृत करने की परम्परा रही होगी — यह स्पष्ट प्रतीत होता है। जैसे आज हिन्दी, अवधी, उर्दू लोकप्रचलित और सुबोध्य है; उसीप्रकार प्राकृत, विशेषत: साहित्यिक-प्राकृत सभी समाजो मे सहजबोध्य रही होंगी। उनकी काव्योक्तियो की भणितिभगी का अपना अलग-स्वाद रहा होगा। वैसी उक्तियाँ सस्कृत मे भी है अवश्य, किन्तु उनकी परम्परा सस्कृत जैसी अभिजात-भाषा मे उतर नही पाई; जबकि उर्दू जैसी भाषाओ मे आज भी वैसा अन्दाजे-बयाँ देखा जा सकता है। इनमे से अधिकाश गाथाये 'गाथासप्तशती' मे, गाथाकोश मे या 'वज्जालग्ग' मे सगृहीत हो गईं, कुछ सकलित नही हो पाईं, वे विभिन्न शास्त्रीय-ग्रन्थो मे उद्धृत ही पाई जाती है। 'गाथासप्तशती' पर इतना गहन-अध्ययन हो चुका है कि इसकी गाथाओ का प्रभाव गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' पर, जयवल्लभ के 'वज्जालग्ग' पर, सस्कृत के काव्यो पर, बिहारी की 'सतसई' पर तथा भारतीय-भाषाओ के अन्य-काव्यो पर किसप्रकार परिलक्षित होता है? — इसका व्यापक-विवेचन भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने सस्कृत 'गाथासप्तशती' की भूमिका मे, डॉ परमानन्द शास्त्री ने गाथासप्तशती की भूमिका मे, डॉ हरिराम आचार्य ने हाल पर अपने शोध-ग्रन्थ मे तथा 'गाथासप्तशती' के हिन्दी-काव्यानुवाद की भूमिका मे, प विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा प्रो पद्मसिह शर्मा ने 'बिहारी-सतसई' के विवेचन के प्रसग मे तथा आचार्य जोगलेकर जैसे हिन्दीतरभाषी-विवेचको ने अपने-अपने ग्रन्थो मे सोदाहरण कर दिया है, जिसे दोहराने की बजाय उन पक्षो पर प्रकाश डालना अधिक उचित होगा, जिन पर अधिक विवेचन नही हो पाया है। इसीलिए हमने कुछ ऐसी भणितिभंगियो या अभिव्यक्ति-शैलियो का नमूने के रूप मे सकेत देना ही पर्याप्त समझा है, जिन्हे प्रतिनिधि के रूप मे लिया जा सकता है। जिसप्रकार लोककथाओ के अध्ययन के लिए उनके मोटीफ (Motifs) या कथातन्तु विश्लेषित कर उन्हे विभिन्न-भाषाओ मे तलाशा जा सकता है, उसीप्रकार ललित-साहित्य की भणितिभगी की एक विधा (पैटर्न) को विभिन्न-साहित्यो मे आसानी से पहचाना जा सकता है।

एक उदाहरण से बात समझ मे आ जायेगी। वियोग मे या प्रेम की अप्रत्याशित-समाप्ति पर पुरानी बातो को याद कर, 'वे दिन कहाँ गये, वे मधुरोक्तियाँ, वे वादे, वे कसमे क्या हुईं' — इत्यादि अभिव्यक्ति-शैली जो आज हिन्दी, उर्दू आदि मे खूब सुनने को मिलती है, सस्कृत के अभिजात-साहित्य मे उतनी नही मिलती। यह भाव-तरल अन्दाजे-बयाँ प्राकृत मे सुप्रचलित है, जिसका एक उदाहरण है यह गाथा —

ताणं गुणग्गहणाण ताणुक्कठाणं तस्स पेम्मस्स।
ताण भणिआअं सुवर एरिसिअ जाअमवसाण॥
— *(काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास 102)*

इसमे जो रस है, वह शैली का है। इसने मम्मट जैसे काव्यशास्त्रीय का दिल जीत लिया; किन्तु किस रस या अलकार का उदाहरण इसे बताये, यह चिन्तन उन्हे झकझोर रहा होगा। उन्होंने इसे एकवचन, बहुवचन आदि का साथ-साथ प्रयोग करके रस पैदा किया जा सकता है, इसके उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया है। और वे

करते भी क्या? यह 'गाथासप्तशती' मे सकलित नहीं है, किन्तु एक वाक् प्रस्तुति का प्रतिनिधित्व करती है। यह परम्परा अभिजात-सस्कृत में गहरी नही पैठ पाई है, प्राकृत की अपनी है; यद्यपि इसका आधार लेकर एकाध सस्कृत-कवि ने ठीक यही शैली ऐसे श्लोको में अपनाई, जैसे —

तानि स्पर्शसुखानि ते च तरलस्निग्धा दृशोर्विभ्रमा-
स्तद् वक्त्राम्बुजसौरभं स च सुखस्यन्दी गिरा वक्रिमा।
सा बिम्बाधरमाधुरीति विषयासगेपि मन्मानसम्,
तस्या लग्नसमाधि हन्त विरहव्याधि· कथ वर्तते॥

इसमे यद्यपि वह तरलता नही है, जो प्राकृत में है। वह तरलता भट्ट मथुरानाथ शास्त्री के इस सस्कृत-घनाक्षरी-छन्द मे देखी जा सकती है, जो इस गाथा की परम्परा का एक सदस्य लगता है —

ते केचिद्विलासाः समुढूढघन-स्नेहरसाः ते वै परिहासा ये प्रमोदमवहन्नहो।
तत्तत्समयेषु सुहृद्गोष्ठीसुखसभृतानि तानि रमितानि यानि चिन्तामहरन्नहो॥
मजुनाथ-निध्यानेन किमपि नवीनानीव कौतुकमिदानीमपि चित्तेऽजनयन्नहो।
कानिचित्सुखानि यानि पूर्वमनुभूतान्यपि साम्प्रतमतीतवृत्तभूतान्यभवन्नहो॥
— *(जयपुरवैभव, पृ 212)*

यह शैली व्रजभाषा, हिन्दी, उर्दू आदि के काव्यो मे कैसी रसप्रवणता पैदा करती है, आप सबने देखी ही होगी। केवल उक्तिभगी द्वारा तरलता पैदा करनेवाली ऐसी शैली का एक और उदाहरण है, सज्जन की शालीन-प्रकृति का यह चित्रण —

सुअणो ण कुप्पइ च्चिअ अह कुप्पइ विप्पिय ण चितेइ।
अह चितेइ ण जपइ अह जपइ लज्जिरो होइ॥
(गाहासत्तसई, 3/50)

यह शैली तो उक्ति-विच्छत्ति-मात्र से चमत्कार पैदा करती है, किन्तु लोकजीवन के पर्यवेक्षण से बिम्ब लेकर कुटिलजनो का खाका खीचनेवाली कुछ उक्तियाँ प्राकृत से ही सस्कृत के सुभाषितो मे गई होगी, — ऐसा लगता है। दर्पण की सफाई राख से की जाती थी। इस बिम्ब को लेकर 'वज्जालग्ग' की एक गाथा दुष्टजनो का चित्रण इन शब्दो मे करती है —

सुअणो सुद्धसुभाओ मइलिज्जंतो वि दुज्जणजणेण।
छारेण दप्पणो विअ अहिययर णिम्मलो होइ॥ 33॥

ठीक यही बात कालजयी गद्यकार सुबन्धु ने सस्कृत मे कह दी है —

हरत इव भूतिमलिनो यथा-यथा लघयति खलः सुजनम्।
दर्पणमिव त कुरुते तथा-तथा निर्मलच्छायम्॥

अब इनमे कौन उपजीव्य रहा है, कौन उपजीवी, — इसका निर्णय भला कौन कर सकता है? सम्भावनाये

दोनो ही तरह की है। सुबन्धु की आर्या पहले मौलिकरूप से उद्भूत हुई हो तथा प्राकृत में उसका उपजीवन किया गया हो, यह भी सम्भव है; क्योंकि 'वज्जालग्ग' के सग्रहकार जयवल्लभ सूरि का समय 5वीं सदी ई से लेकर 12वी सदी तक कभी भी हो सकता है — ऐसा विद्वानो का निष्कर्ष है। यह भी हो सकता है कि गाथाओ की प्राकृत मे सुप्रचलित-परम्परा के क्रम मे सुबन्धु ने इसे पढा हो और ग्रहण किया हो, क्योकि 'काँच की सफाई' की बात तथा आर्या-छन्द, ये सभी प्राकृत और लोकजीवन मे रचे बसे होने के कारण उसके अपने लगते हैं। यह अवश्य स्पष्ट लगता है कि प्रथम दो अभिव्यक्ति-भंगिमाये प्राकृत तक ही सीमित रहीं, सज्जन-दुर्जन वाली सस्कृत मे भी रच बस गई। इसीप्रकार का बिम्ब है, मृदग के पुडे पर आटा लगाकर उसे लचीला बनाने का। इसे लेकर गाथा कहती है कि स्वार्थी-मित्र को जब तक आपसे फायदा है, आपके सुर मे बोलेगा, फायदा न हो, तो बेसुरा बोलने लगेगा —

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअण मुखे जाव।
मुरओव्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसइ॥

(गाहासत्तसई, 3/53)

इसी आशय का यह सुभाषित सदियो से पण्डितो के कठ मे बसा हुआ है —

को न याति वश लोके मुखे पिडेन पूरितः।
मृदगो मुखलेपेन मधुर कुरुते ध्वनिम्॥

यह तो बात हुई लोकजीवन के दैनन्दिन-अनुभवो पर आधारित प्रेक्षणो की। वाग्विच्छित्ति की ओर वापस लौटते हुए गाथा की एक शैली की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। गाथाकार इस बात को कि विद्वान् और गुणी लोग अधिकतर निर्धन होते है, जबकि अनपढ करोडपति देखे गये है — दारिद्र्य को सम्बोधित करके ऐसे अभिव्यक्त करता है —

जे जे गुणिणो जे जे च चाइणो जे वियड्ढविण्णाणा।
दारिद्द रे विअक्खण! ताण तुम साणुराओ सि॥

(गाहासत्तसई, 7/71)

इस बात को अभिजात-सस्कृत में इसी का आधार लेकर इसप्रकार कहा गया है —

वारिद्र्य भोस्त्व परमं विवेकि गुणाधिके पुसि सवानुरक्तम्।
विद्याविहीने गुणवर्जिते च मुहूर्तमात्र न रति करोषि॥

यह भाव 'वज्जालग्ग' मे भी सकलित है। इसे पढ़कर हमे कवीन्द्र रवीन्द्र की वह उक्ति सदा याद आ जाती है, जिसमे वे दीमक से कहते हैं — "तुम-सा प्रबुद्ध पाठक कोई नही होगा, पुस्तक के उसी हिस्से को चट कर जाती हो, जिसमें सबसे अधिक पते की बात छपी होती है।"

इसप्रकार भणितिभगी के कुछ प्रारूप (पैटर्न) ऐसे हैं, जो प्राकृत को अपनी पहचान है, अभिजात भाषाओ मे भी उसका प्रभाव देखा जा सकता है। यह आदान-प्रदान काव्योक्तियो के इतिहास मे दिलचस्प अध्ययन का विषय बन सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ कवि-कल्पनायें भी ऐसी हैं, जो मूलतः प्राकृत-गाथाओ मे उद्‌भूत हुई और जिनकी गूँज आज तक विभिन्न भारतीय-भाषाओ मे सुनी जा सकती है। नायिका अपना ऊपर खीचकर उतारे जानेवाला कचुक उतार रही है, उसके हटते जाने से मुखचन्द्र के भाग आहिस्ता-आहिस्ता दिखलाई देते जाते हैं। गाथाकार कहता है कि द्वितीया से लेकर पूर्णिमा तक की चन्द्रकलाओ का एक ही समय नजारा देखना हो, तो दृश्य देख लो —

जइ कोत्तिओसि सुवर सअलतिहि-चद-वसणसुहाण।
ता मसिण मोइज्जत-कचुअ पेक्खसु मुह से॥

यह कल्पना और अभिव्यक्ति दोनों हृदयावर्जक है। इस उक्ति की गूँज आपको हर भाषा के साहित्य मे मिल जाएगी। पिछले दिनो येसुदास का गाया एक गाना, जो एक दोहे से शुरू होता है, हमने सुना था, जिसमे यही बात कही गई है —

सब तिथियन का चन्द्रमा वेखा चाहो आज।
धीरे-धीरे घूघटा सरकाओ सरताज॥

अभिव्यक्ति की तरल-शैली का एक अन्य नमूना प्राकृत-गाथाओ से लेकर आज की नवीनतम उर्दू-शायरी तक मे लोकप्रिय हुआ है। प्रिय को पाती लिखने का प्रयत्न करते हो भाव-विह्वल हो जाने की विवशता सम्बोधन से आगे कुछ लिखने ही नही देती —

वेविरसिण्ण-करगुलि-परिग्गह-खलिअ लेहणीमग्गे।
सोत्थि व्विअ ण समप्पइ पियअहि लेहम्मि कि लिहिमो॥

— *(गाहासत्तसई, 3/44)*

यह शैली 'पतिया मै कैसे लिखूँ, लिखी ही न जाई' जैसी सैकड़ो गीतियो, मुक्तकों और शेरो मे देखी जा सकती है। मूलतः यह लोकभावना की अभिव्यक्ति है, क्लासिकी-साहित्य की अभिजात-शैली मे कम ही मिलेगी। वैसे ऐसा बहुतायत से हुआ है कि लोकभाषाओ की ऐसी अभिव्यक्तियो को अभिजात-साहित्य ने अनूदित या उद्धृत कर अपने साहित्य में चमत्कार पैदा करने का प्रयास किया हो। इसके उदाहरणस्वरूप प चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने अपभ्रश की कुछ अभिव्यक्तियो को अभिजात-साहित्य के मूल-प्रेरक के रूप में उद्धृत और विश्लेषित किया है, जिनमें सूरदास और कृष्ण का वह मिथक भी शामिल है कि सूरदास का हाथ पकडकर कृष्ण ने उन्हे रास्ता पार करवाया; पर जब वे अचानक हाथ छुडाकर चले गये, तो सूरदास ने कहा —

हाथ छुड़ाए जात हो निबल जान कै मोहि।
हिरदै से जब जाहुगे सबल बदौगे तोहि॥

इस अभिव्यक्ति का उत्स 'बिल्वमगल' का इसी भाव का यह श्लोक बताया गया है —

हस्तमाच्छिद्य यातोसि बलात् कृष्ण! किमद्‌भुतम्?
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुष गणयामि ते।

किन्तु गुलेरी जी ने मुज से सम्बद्ध इस अपभ्रश के दोहे को सबके मूल मे माना है :—

बाँह बिछोडहि जाहि तुहुँ हउँ तेवई को दोसु।
हिअअट्ठिय जहि णीसरहि जाणउ मुज सरोसु॥
— *(हेमचन्द्र; द्र, पुरानी हिन्दी, पृ. 51)*

अपभ्रश मे ऐसी अत्युक्तियाँ बहुत मिलती है कि कौये उडाते हुये विरहिणी के हाथ की दुर्बलता के कारण जो ककण फिलसते जा रहे थे, उसने ज्यो ही प्रिय को आते देखा, तो शेष बचे ककण उसके अचानक मोटे हो जाने से टूटकर बिखर गये। आशय यह है कि प्रसन्नता का भाव आते ही नायिका ऐसी फूली कि तत्काल हाथ की चूडियाँ चटक गईं। हेमचन्द्र द्वारा उदाहृत पद्यो मे इसीप्रकार की जबर्दस्त-अतिशयोक्ति का यह दोहा प चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने उद्धृत किया है —

वायसु उड्डतए पिय दिट्ठिय सहसत्ति।
अद्धा वलया महि गया अद्धा फुट्ट तडत्ति॥
— *(हेमचन्द्र)*

ऐसी अत्युक्तियाँ उर्दू मे भले ही हो, सस्कृत मे या प्राकृत मे उनकी कोई सुदीर्घ-परम्परा नही रही है। वैसे सस्कृत मे सब तरह की अतिशयोक्तियाँ रही है। परवर्ती-लक्षणकारो ने भी कुछ ऐसे पद्यो के एक दो उदाहरण दिये है। वे ऐसे दोहो के प्रभाव से गूढ भी हो सकते है, जैसे —

यामि न यामीति धवे वदति पुरस्तत्क्षणेन तन्वग्या ।
गलितानि पुरो वलयान्यपराणि तथैव दलितानि॥

उर्दू मे विरहियो को विरहताप से जलते बताया जाता है। सारा का सारा जगल उससे जल जाता है। विरहिणी की ऐसी ही दशाये बिहारी ने भी चित्रित की है। ऐसी अभिव्यक्तियाँ अपभ्रश मे आम है। एक बार तो विरह से जलते पथिक को अन्य पथिको ने जाडे मे तापने की अगीठी के रूप मे इस्तेमाल कर लिया था —

विरहानल-जाल करालिअउ पहिउ पथि ज विट्ठउ।
त मेलहि सव्वहि पथिअहि सो जि कियउ अग्गिट्ठउ॥
— *(हेमचन्द्र)*

यह गनीमत रही कि प्राकृत-गाथाओ मे जो निश्छल और यथार्थ भावचित्रण की प्रतिमान है, उनमे ऐसी अविश्वसनीय अत्युक्तियाँ नही हैं। लगता है ये अपभ्रश-काल मे शुरू हुईं और उर्दू जैसी भाषाओ की शायरी ने उन्हे शैली मे चमत्कारातिशय के सधान की ललक के कारण बहुत अपनाया। अभिव्यक्ति-भगिमाओ के इतिहास पर ऐसे अध्ययन अधिक नही हुए है। हो सकता है, इन्हे सही मायनो मे शोध न माना जाता हो, किन्तु लगता है इन अध्ययनो की अपनी विशिष्ट सार्थकता है। ❖❖

प्राकृत का लोकप्रिय छंद — गाहा (गाथा)

✍ डॉ. हरिराम आचार्य

प्राकृतभाषा के विविध-रूपो का जितना भी पद्यबन्ध-वाड्मय हे, उसमे सर्वाधिक-परिमाण मे 'गाथा' छन्द ही प्रयुक्त हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द आदि का वाड्मय तो इसी छन्द मे निबद्ध है। इस छन्द का इतिवृत्त, परम्परा एव वैशिष्ट्य का व्यापक-अनुशीलन के साथ परिचय प्रस्तुत-आलेख में विद्वान्-लेखक ने प्रभूत-श्रम एव वैदुष्य के साथ दिया है। गाथा पढनेवाले श्रद्धालुओ के साथ-साथ छन्द:शास्त्र, साहित्यशास्त्र एव प्राकृत-साहित्य के जिज्ञासुओ को भी यह अतिरोचक प्रतीत होगा। — **सम्पादक**

"पाइय-कव्वस्स णमो, पाइयकव्व च णिम्मिअं जेण।
ताह चिय पणमामो, पढिऊण य जे वि याणंति॥"
— *(वज्जालग्ग, 3/13)*

अर्थ — प्राकृतकाव्य को नमन, उसके रचनाकार को नमन, और उन्हे भी नमन जो प्राकृतकाव्य को पढना जानते है।

अत्यन्त प्राचीनकाल से भारतभूमि का वाड्मय द्विधा-विभक्त रहा है — सस्कृत और प्राकृत के रूप मे।[1] सस्कृतभाषा सस्कारपूता है, प्राकृतभाषा 'सुखग्राह्यनिबन्धना' है। एक परुषबन्धमयी पुरुषभाषा है, दूसरी सुकुमार-बन्धमयी महिलारूपिणी वाणी है।[2] सस्कृत देवभारती है, प्राकृत जनभाषा है, जिसमे निबद्ध काव्य देशी-शब्दावली, मधुर-अक्षर, ललित-छद और स्फुट-अर्थ के कारण सहज-पठनीय बन जाता है।[3] 'गउडवहो' के रचयिता वाक्पतिराज भी अभिनव-अर्थ, सहज रचना-बध तथा मृदु शब्द-सम्पदा के कारण प्राकृत-काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं।[4] प्राकृत-काव्य के प्रति अतिशय-अनुरागवश प्राकृत-मुक्तामणियो के सकलयिता जयवल्लभसूरि तो यहाँ तक कह गये कि ललित मधुराक्षरपूर्ण, युवतिजन-वल्लभ, शृगाररसपूर्ण प्राकृतकाव्य के रहते कौन भला सस्कृत-काव्य पढेगा?[5]

'गाहासत्तसई' के अमर-प्रणेता महाकवि हाल ने प्रथम शती ई. मे ही यह घोषणा कर दी थी कि 'अमिअ पाइयकव्व' (प्राकृत-काव्य अमृत है।)[6] किन्तु उस पर 12वी शताब्दी के सस्कृत कवि, 'आर्यासप्तशती' के सुकृती रचनाकार गोवर्धनाचार्य ने यह कहकर तो जैसे मोहर लगा दी कि —

"वाणी प्राकृत-समुचितरसा, बलेनैव सस्कृत नीता।
निम्नानुरूप-नीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम्॥"[7]

उपर्युक्त सभी कथन प्रमाणित करते हैं कि प्राकृतकाव्य में जनभाषा की नैसर्गिकता नव-नव अर्थों की सम्पदा, सूक्तियो की कथन-भंगिमा और सरसता के गुणो के कारण सचमुच 'अमृतमय' है; किन्तु प्राकृतभाषा की मुक्तक-मुक्तामणियो की शाश्वत-आभा की चर्चा तब तक अधूरी है, जबतक उस सूत्ररूप छद का वर्णन न किया जाये, जिसमे इन्हे पिरोया गया है। वह छद है — 'गाहा' या गाथा। प्राकृत-मुक्तक और गाहा वस्तुत: 'कहियत भिन्न न भिन्न, गिरा-अरथ जल-वीचि सम।' गाहा और प्राकृत-मुक्तक का साथ चोली-दामन का साथ है, दोनो

परस्पर सम्पृक्त हैं, अभिन्न हैं। इसलिये यह लेख गाहा-चर्चा के लिए, गाथा की गाथा के लिए समर्पित है, जो वैदिक-संहिताओ के मत्रयुग से समस्त जैनागम-साहित्य, प्राकृत मुक्तक-काव्य और उसके अनुकरण पर लिखित सस्कृत-हिन्दी की सतसई-परम्परा मे नाम और रूप बदलकर भी या स्थिताव्याप्यविरतम् रही है।

'गाथा' शब्द मूलतः वैदिक है। यह उतना ही पुरातन है, जितने पुरातन वेद-मत्र है। 'गै' धातु मे 'थन्' प्रत्यय जोडने पर 'गाथ' शब्द बनता है, उसीका (टापूयुक्त) स्त्रीलिगरूप है 'गाथा'। गाथा का अर्थ है गीति। गाथा और गातु दोनो समानार्थक हैं, किन्तु ये मत्रगान से भिन्न लोकगीति के रूप मे गाये जाते थे। ऋचा का त्रिगुणकाल-परिमित स्वर-सयोगयुक्त गान 'साम' कहलाता था — 'त्र्यर्च साम।' जैमिनीयसूत्र मे गीतियो को 'साम' कहा गया है — 'गीतिषु सामाख्या।' सामवेद से सगीत का जन्म हुआ है, भरतमुनि ने नाट्यवेद की रचना के समय साम-मत्रो से ही गीत-तत्त्व ग्रहण किया था — "सामभ्यो गीतमेव"। शब्द और स्वर का, साहित्य और सगीत का, मत्रपद और गीत (गान) का सगम होने के कारण 'सामवेद' सर्वोत्तम वेद माना गया। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के विभूतियोग मे नारायण श्रीकृष्ण का कथन है कि — 'वेदाना सामवेदोऽस्मि (10/22)। किन्तु यह एक सुविज्ञात तथ्य है कि सामगान केवल ऋग्वैदिक-छदो का किया जाता था, जिनकी सख्या सात थी। चौबीस अक्षरात्मक 'गायत्री-छद' मे चार अक्षर जोडने पर 'उष्णिक्' इसीप्रकार चार-चार अक्षर बढाते जाने से क्रमश अनुष्टुप्, बृहती, पक्ति, त्रिष्टुप् और जगती-छद बनते थे। इनमे से गायत्री और उष्णिक् 'त्रिपाद', अनुष्टुप्, बृहती, त्रिष्टुप् और जगती 'चतुष्पाद' तथा पक्ति 'पचपादात्मक' वार्णिक-छद थे। गाथा-छद वैदिक-युग मे प्रचलित मात्रिक-छद था। वे मत्रो मे भी यह गीति-अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है, किन्तु मत्र-भाग न होने से यह पक्ति-बाह्य ही रहा। देवस्तुतिपरक-मत्रो से पृथक् मनुष्यो की दान-स्तुतियों एव अन्य-विषयो मे 'रैभी, नाराशसी' तथा गाथाओ का प्रयोग किया जाता था। यद्यपि 'रैभी' और 'नाराशसी' की तुलना मे अपनी गीतिमयता के कारण गाथा को मत्र-द्रष्टाओ ने अधिक सम्मान दिया है। 'ऋग्वेद' के एक मत्र (9/99/4) मे लिखा है कि पावन (पवमान) सोम की वन्दना का सामगान स्तोतागण प्राचीन-गाथाओ के योग से करते थे, उस समय देवताओ के नामोच्चरण के समय उनकी अगुलियाँ सोम-छवि प्रदान करती थी —

"त गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत।
उतो कृपना धीतयो देवानां नाम बिभ्रती:॥"

अश्विनी-कुमारो के साथ परिणय की बेला मे नववधू सूर्या के मगल-परिधान गाथा से परिष्कृत होने उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो नववधू के शृगार के समय विवाहमगल की लोकगीतियाँ गाई जा रही हो। 'ऋग्वेद' का मत्र है —

"रैभ्या सीदनुदेयी नाराशसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥" — (10/85/6)

अर्थात् रैभी (ऋचा) सूर्या की विदा के समय साथ जाने वाली सहेली (यजमान वधू विनोदाय दीयमाना वयस्या=अनुदेयी) और नाराशसी दासी (न्योचनी) बनी। सूर्या का मगल (भद्र) वस्त्र (वासस्) गाथा से अलकृत किया गया।

'ऐतरेय-आरण्यक' के छदो को ऋचा, कुम्भ्या और गाथा — इन वर्गों मे बाँटा गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (7/18) का कथन है कि "ऋचा देवी होती है और गाथा मानुषी।" 'मैत्रायणी-संहिता' (3/76) में कहा गया है कि विवाह-लग्न के प्रसग में 'गाथा' गाई जाती थी, इससे प्रकट होता है कि गाथा-भाव-गीतो का मूलस्वरूप रहा होगा। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (17/18) मे शुनःशेप की कथा को 'शतगाथम्' कहा गया है और 'शतपथ ब्राह्मण' (11/5/7) मे 'गाथा' छद को 'मात्रिक' बताया गया है। वैदिक-साहित्य मे ही नही, अपितु 'जेन्द-अवेस्ता' मे भी मत्र-भाग के छदों को 'गाथा' कहा गया है।

'काठक-सहिता' (14/5) और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (1/32/6.7) मे उल्लेख है कि गाथा-गायको से गाथा-गान के बदले दान या मूल्य नही लेना चाहिये। इन उल्लेखो से सिद्ध है कि वैदिक-युग में गाथा मत्रभाग के साथ ही लोकप्रचलित-गीति थी, उसका स्वरूप 'मात्रिक' भी था, किन्तु छन्दरूप में उसका लक्षण न मिलने से लगता है, कि वैदिक-गाथा प्रायः 'अनुष्टुप्' जैसे वार्णिक-वृत्तो पर ही आधारित रही होगी।

महर्षि बाल्मीकि के मुख से जब 'अनुष्टुप्' जैसे 'वैदिक-छद' का आदिकाव्य मे अवतरण हुआ और लौकिक-सस्कृत मे उसे नूतन-छन्द का अवतार माना गया, तबसे रामायण, महाभारत और उसके बाद पालिभाषा के बुद्धवचनो और जातको मे गाथा-छद लुप्त हो गया। अतः अनुमान किया जाता है कि मात्रिक-गाथाये मूलत· भारोपीय-छद या मूल वैदिक-छद न होकर वैदिक-आर्यों से पूर्व भारत मे रहनेवाली जातियो, सभवत. द्रविड-जातियो के लोक-साहित्य की देन है। द्रविड-सपर्क कारण आर्यों मे प्रचलित मात्रिक-गेयपदो को 'गाथा' नाम से पुकारा जाने लगा होगा। बाद मे भी नाट्य-परम्परा मे ध्रुवागीतियो या प्राकृत-गीतियो मे इसी छद और प्राकृतभाषा का प्रचलन रहा है। ध्रुवागीतियो की भाषा के लिए भरतमुनि ने यही नियम-विधान किया है —

'भाषा तु शौरसेनी स्यात्।" — (*नाट्यशास्त्र, 32/440*)

भरतमुनि द्वारा प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' के बत्तीसवे अध्याय मे 'ध्रुवागीतियो' के विधान एव प्रकारो का वर्णन किया गया है। भरतमुनि का कथन है कि नाट्य-प्रयोग मे पाँच-प्रकार की ध्रुवागीतियो का गान किया जाता है — प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी, अन्तरा तथा नैष्क्रामिकी।

प्रवेशाक्षेप-निष्क्राम-प्रासादिकमथानारम्। — (*32/364*)

इन ध्रुवाओं मे गान-हेतु नारदादि ऋषि-मुनियों द्वारा अनेकविध विधान किया गया था, जिनमे गाथा-गीति भी सम्मिलित थी। यथा —

"या ऋचः पाणिका गाथा सप्तरूपागमेव च।
सप्तरूप-प्रमाण हि ध्रुवान्येभि सज्ञिता॥" — (*32/2*)

अर्थात् ऋचाये, पाणिका, गाथा और सप्तगीत — इन सभी को 'ध्रुवा' कहा जाता है। गेयपदो मे 'लघु' और 'गुरु' अक्षरो का जो प्रयोग किया जाता है, उन्हें भरत ने 'गाथाश' नाम दिया है।

"गुरुर्गाथाशको यस्याः सर्वपादेषु दृश्यते।
स्त्रीरिति ख्यातनामासौ प्रथमा कीर्तिता ध्रुवा॥" — (*32/49*)

इन ध्रुवागीतियों के नानावृत्तों से उत्पन्न-प्रकारो को 'नाट्यशास्त्र' मे 'जाति' कहा गया है —

एतास्तु जातयः प्रोक्ता नानावृत्त-समुद्भवाः। — (32/360)

इन 'जाति' नामक गाथा-प्रकारो (या गीतिभेदो) का प्रयोग वहाँ किया जाना चाहिये, जहाँ वाक्यो मे सवाद बोलना अभीष्ट या उचित न हो; क्योंकि गीतो से युक्त वाक्यार्थों से रसपाक मे सहज-परिपक्वता आ जाती है —

"यानि वाक्यैश्तु न ब्रूयात्तानि गीतैरुवाहरेत्।
गीतैरेव हि वाक्यार्थैः रसपाको बलाश्रया॥32/406॥"

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भरतमुनि ने पाँचो प्रकार की ध्रुवागीतियो के लिये केवल शौरसेनी-प्राकृतभाषा का नियम नही बनाया, उन्होने उसके लिए जो मात्रिक-छदों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे भी प्राकृत मे निबद्ध है, और लोकगीत-परम्परा से ग्रहण किये गये है किन्तु ब्रह्मा द्वारा निर्मित पचम एव सर्ववेदसार रूप सार्ववर्णिक 'नाट्यवेद' का नाम चरितार्थ करने के लिए तथा वैदिक-युगीन गाथा-परम्परा से जोडने के लिए ध्रुवा-गाथाओ को सातो वैदिक-छदो के आधार पर नया जाति-स्वरूप प्रदान किया है। जैसे —

(क) गायत्री-जाति —

"मेह रवाउल सद्धगह कवव।
पसमिव दिवाकर रुवदि विय णहवल॥"

(ख) उष्णिक्-जाति —

"पुल्लिअ तरुखडे सुरभि पवणहवे।
विहरदि पवमवणे हसो सहअरिपरिवुवो॥"

(ग) अनुष्टुप्-जाति —

"ताराबधु एस णहे विक्किरमाणो मेहपड।
किरणसहस्स भूसिदओ उवयदि सोम्मो रजणि करो॥"

(घ) बृहती-जाति —

"एसो सुमेरुवणअम्मि देवअ-सिद्ध अपरिगीवे।
अवि सुरभि गध वनचारी पविचरवि विहगम जुवावो॥"

(ङ) पक्ति जाति —

"पाववसीस कंपअमाणो सुरहि गअ-गड वासिदओ।
उपवण-तरुगण-लासणओ विचरदि वरतणु वणपवणो॥"

(च) त्रिष्टुप्-जाति —

"कुमुववणस्स विभूषणओ, विधुणिअ तिमिरपड गगणे।
उवअगिरिसिहर महिरुहतो, रअणिकरो उदयदि विमलकरो॥"

(छ) जगती-जाति —

"दिअगण-मुणिगण सथुवओ, तविव-कणअबर सणिभवेहो।
वुवमि ह णहवलमहिरुहमाणो, विअरवि सपवि दिवसकरो॥"

ये सभी जातियाँ (लोकगीतियाँ) **वैदिक-छंदो से सबद्ध** मात्रिक-जातियाँ कही **गई हैं। इनके अतिरिक्त** 'गण' एव मात्राओ के आधार पर 'ध्रुवा' छदो के इतने प्रकार वर्णित हैं, जिन्हे इस लघु-लेख के कलेवर मे उद्धृत करना सभव नही है। सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि नाट्य में प्राकृत-गाथाओ को ध्रुवागीतियो के अनिवार्य करके भरतमुनि ने गाथाओ की जाति की महत्ता को स्वीकार किया है और उनके सरस, भावप्रधान काव्यगुण को सम्मान दिया है। 'नाट्यशास्त्र' की रचना के समय तक प्राकृतगाथा अनेकरूपों मे गान की विधा थी। वह एक मात्रिक-छद के साँचे मे सीमित नही हुई थी।

पिगलाचार्य ने जब अपना सुप्रसिद्ध छन्दःशास्त्र लिखा, तब 'गाथा' के विषय में इतना ही सूत्र लिखा — 'अत्रानुक्त गाथा।' (8/1) इस सूत्र की व्याख्या मे 'हलायुध' ने स्पष्ट किया — **"अत्र शास्त्रे नामोद्देशेन यन्नोक्त छन्दः, प्रयोगे च दृश्यते, तद्‌गाथेति मन्तव्यम्।** गेयपद या गीति होने के कारण सस्कृत के पिगलशास्त्र में 'गाथा', 'अनुक्त' ही रही; किन्तु जनकठो मे यह निरतर गूजती रही और प्राकृतवाणी का शृगार बनकर गाई जाती रही।

रत्नशेखर सूरि ने छन्दकोश मे गाथा का छन्दरूप मे लक्षण लिखा —

सामण्णेणं बारस अट्ठारस बार पणरसमत्ताओ।
कमसो पय-चउक्के गाहाए हुंति णियमेण॥

सस्कृत के मात्रिक-छद 'आर्या' का भी यही लक्षण है —

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥

गाथा और आर्या की इस समानता को देखकर कोलब्रुक (A R ×400) का कथन **है** प्राकृत-गाथा सस्कृत- आर्या का लोकरूप है; किन्तु यह कथन प्रामाणिक नही, मात्र आनुमानिक है। वस्तुतः गाथा अपने मूलरूप मे 'विषम-द्विपदी-खण्ड' था, जिसकी प्रथम-अर्द्धाली मे 30 और दूसरी-अर्द्धाली मे 27 मात्राये होती थी। यह गेय था और भावगीतो का आधार था। **इस छद का मात्रिक-विधान और द्विपदीत्व इसके लोकगीतात्मक-उत्स का सकेत करते है।** पिगलाचार्य ने इसे 'अनुक्त' कहकर छोड दिया और 'वृत्त-रत्नाकर' (1/18) मे 'शेष गाथा' लिखकर गाथा को 'विषमाक्षर' एव विषम-चरणवाला 'विषमवृत्त' बताया गया। जब लोकछद 'गाथा' को सस्कृत- पंडितो ने 'आर्या' नाम दिया, जो द्विपदी-खड 'गाथा' को 12-18-12-15 मात्राओ मे विभाजित करके इसे 'चतुष्पदी' बनाकर अपना लिया। इसप्रकार प्राकृत की गाथा सस्कृत मे 'आर्या' पद पर प्रतिष्ठित हुई; किन्तु सामवेद के सहस्त्रवृत्यो की तरह गाथा के अन्य अनेक भेदोपभेद सस्कृत मे अवतरित नही हो सके, जबकि प्राकृत मे वे काव्योद्यान मे प्रस्फुटित होते रहे, जिनका विवरण नंदियड्ढ (नन्दिताढ्य) द्वारा लिखित प्राचीन-ग्रथ 'गाथा-लक्षण' मे विस्तार से मिलता है। सदाशिव आत्माराम जोगळेकर ने 'हालसातवाहनाची गाथा सप्तशती' की भूमिका (पृ. 46) मे मराठी 'वृत्तदर्पण' से उद्धृत लक्षण-सहित विषमवृत्त 'आर्या' (गाथा) के चार अन्य गीतिभेदो का उल्लेख किया है —

गीति — 12 = 18; 12 = 18
उपगीति — 12 = 15; 12 = 15

उद्गीति	—	12 = 15, 12 = 18
आर्यागीति	—	12 = 20; 12 = 20

किन्तु इनके उदाहरण सस्कृत में नही मिलते, जबकि वस्तुतः ये गाथा छद के प्रकार हैं, इसलिये प्राकृत मे इनके उदाहरण प्रचुर-परिमाण मे उपलब्ध है।

'प्राकृत-पैंगलम्' (भाग-2) मे विषम-द्विपदी गाहा, जिसके प्रथमार्द्ध मे 30 और द्वितीयार्ध मे 27 मात्रायें कुल 57 मात्राये होती है, जिसका चतुष्पदी-रूप सस्कृत मे 'आर्या' कहलाया, के मुख्यतः 27 भेद गिनाये है, जो गुरु-लघु वर्णों की घट-बढ के आधार पर बनते है। जिस गाथा मे 27 गुरु तथा तीन लघु-वर्ण (कुल 30 वर्ण एव 57 मात्राये) हो, वह गाथाओ मे आद्या-'लक्ष्मी' गाथा (लच्छीगाहा) कहलाती है। तीस अक्षरो से युक्त इस 'लक्ष्मी' को सभी पूजते हैं। इसी मे क्रमशः एक-एक गुरु का ह्रास करने से ऋद्धि, बुद्धि, लज्जा आदि 27 भेद निष्पन्न होते है। अतिम-भेद 'हसवधू' मे एक गुरु और 55 लघु वर्ण होते है। 'गाहा' मे एक 'जगण' होना श्रेष्ठ बताया गया है। एक 'जगण' से युक्त गाथा 'कुलवती', दो 'जगण' से 'स्वयगृहीता', तीन से 'रडा' और अधिक होने से 'वेश्या' कहलाती है। इसीप्रकार 13 लघु वर्ण होने से गाहा 'ब्राह्मणी', 21 लघु होने पर 'क्षत्रिया', 27 लघु होने पर 'वैश्यवधू' और शेष 'शूद्रा' होती है। जिन गाहा मे प्रथम, तृतीया और पचम या सप्तम-स्थान मे 'जगण' हो, तो वह 'गुर्विणी' कहलाती है। प्राकृत-काव्य मे अवगाहन करने पर इनके उदाहरण प्राप्त किये जा सकते है।

नाट्यशास्त्र मे 'जाति' नाम से परिभाषित, 'ध्रुवागीति' के अभिधान से नाट्य-प्रबन्धो मे प्रयुक्त प्राकृतभाषा के गीति-छदो मे निबद्ध करके गाई जानेवाली, वाक्य, वर्ण, अलकार, यति, पाणि और लय के अन्योन्य-सबद्ध शास्त्रबद्ध-शैली मे निबद्ध गाथा-गीति मध्ययुग मे दो धाराओ मे बँट गई (1) सगीतधारा और (2) काव्यधारा। सगीतधारा मे गीतिरूप मे प्रचलित गाथा का नाम 'ध्रुवगीति' से बदलकर 'ध्रुवपद' हो गया। 'ध्रुवपद' के लिये नाट्यशास्त्र के अनुकरण पर लोकभाषा मे ही गाये जाने का नियम प्रचलित रहा, अतः 'ध्रुव्रपद' के बोल शौरसेनी के विकसित लोकभाषारूप 'ब्रजभाषा' मे रचे गये। सगीत-क्षेत्र मे प्रविष्ट होकर गाथा-गीति का ध्रुवपद-रूप अपने शास्त्रीय-निबधन मे चार-अगो मे विभक्त किया गया — स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग। इन चार अगो मे जो शब्द-रचना गाई जाती थी, वह या तो शृगार या भक्तिरस की पद-रचना होती थी, या कवित्त-सवैया आदि छदो की चतुष्पदी होती थी। गुरु-शिष्य-परम्परा या कुल-परम्परा के अनुसार गान-शैली मे कुछ भिन्नता के आधार पर ध्रुवपद-गीति की चार 'बानियाँ' चल पडी, जिन्हे 'घराना' भी कहा जाता है। ये चार बानियाँ है — गोबरहरी बानी, खडार बानी, अगुरबानी और नोहारबानी। ये बानियाँ सगीत की शास्त्रीय-गान-शैलियाँ होकर भी काव्य-बाह्य नही थी, ध्रुपद-गायक रसस्वान के सवैये (सेफ-महेस आदि) सूरदास आदि अष्टछाप-कवियो के भक्ति-पदो (सूर आयो सीस पर या रत्नजटित कनकथाल) को 'ध्रुपद' के चतुरगी-साँचे मे ढालकर आज भी गाते है। चूँकि गाथा वैदिक-मत्रो से सम्बद्ध थी, अतः ध्रुपद के गवैये अपना गान 'ओम्' के उच्चारण से शुरू करते हैं। इनमे कई मुस्लिम-घरानो के गायम होने के कारण 'ओम्' को 'नोम्-वोम्' मे परिवर्तित कर देते है।

इस प्रसग मे यह भी नितान्त उल्लेखनीय है भक्तिकालीन-पदरचना की परम्परा का मूल-उपजीव्यरूप था — भगवत्पाद आद्यशकराचार्य द्वारा प्रवर्तित 'अष्टपदी' गीति-शैली, जिसमें प्रथम-पंक्ति स्थायीरूप में ध्रुवपंक्ति कहलाती है और आगे के पद अन्तरा के रूप मे गाये जाते थे। यह नूतन शैली वस्तुत. तत्कालीन प्रचलित लोकगीतियो से ही ग्रहण की गई थी, जो 'गाथक' या 'गाथिक' कहलाते थे। गाथक (गै+थकन्) शुद्ध भावगीति-गायक थे और गाथिक (गै+ठन्) गीति मे कथातत्त्व का सयोग करके गाते थे, उन्हे 'कथा-गायक' भी कह सकते हैं। गुरुवर्य शकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक थे। इस दर्शन मे ब्रह्म की माया-सृष्टि को मकड़ी (लूता) की उपमा से समझाया जाता है। सभवत: इसीलिये भगवत्पाद ने मकडी की तरह गीति मे भी आठ पद रचकर उसे 'अष्टपदी' बना दिया। सस्कृत गीति-परम्परा मे यह 'अष्टपदी' लोकप्रिय होती गई, जिसका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन उत्कल-कवि जयदेव की सरस-रचना 'गीत-गोविन्दम्' है, जिसका अनुवर्तन सस्कृत-गीतिकाव्य मे काफी हुआ। पुरी के जगन्नाथ-मदिर से यह अष्टपदी देश भर मे भक्तिपदो की अलग-पहचान बन गई। भक्तिक्षेत्र मे गाथा ने जब गीति-छदो का रूप ग्रहण किया और प्राकृतभाषा मे गाथामुक्तको की कोटिश: उन्मुक्त-रचनाओ के सग्रह हालरचित 'गाहासत्तसई' का अनुकरण सस्कृत की आर्याओं ने किया, तो वही परपरा ब्रज-अवधी और मैथिली के काव्यो मे 'दोहा', 'सोरठा', बरवै आदि छदो का रूप लेकर आगे बढी, जिससे 'सत्तसई'-साहित्य समृद्ध होता गया। महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' के प्रास्ताविक-भाग मे 'गाहाकोश' का काव्यात्मक-उल्लेख करते हुए लिखा है —

"अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः॥"

'गाथाकोश' के प्राकृत-सुभाषितो को रत्नो की उपमा देते हुए बाणभट्ट ने विशुद्ध 'जाति'-छद कहा है। 'गाहा'-छद की यही विशेषता है कि वह लोक-छद 'जाति' था, किन्तु उसमे 'अग्राम्यता' थी, ग्राम्यत्व-दोष नही था। प्राकृत-गाथाओ के रचयिता लोककवि रहे होगे, ग्रामवासी भी हो सकते है, किन्तु उनकी गाथाओ मे गँवारपन नही है, इसीलिये वह कोश सदा 'अविनाशी' बना रहा है।

'गाहा' मे निबद्ध प्राकृतकाव्य को तो 'अमिअ' कहा ही गया है, किन्तु प्राकृत-मुक्तकों मे 'गाहा' की प्रशस्ति भी अनेक प्रकार से गायी गई है। 'गाहा' वरकामिनी के समान उन्मुक्त-हृदया (सच्छंदिया) रूपवती, अलकारभूषिता और सरस-भाषिणी होती है। वह तभी रस प्रदान करती है, जब उसका सुरीति से अवगाहन या गायन किया जाये —

"सच्छविया सरूवा सालकारा सरस-उल्लावा।
वरकामिणव्व गाहा गाहिज्जती रस देइ॥"

— *(वज्जा 3)*

यहाँ 'गाहिज्जती' शब्द मे श्लेष है — गाह्यमाना एव गीयमाना। कालिदास की वाणी की एक प्रशस्ति मे भी ऐसा ही कहा गया है — **प्रियाक-पालीव विमर्दहृद्या।"**

अन्यत्र कहा गया है कि गाहा का रस, महिलाओ के विभ्रम और कवियो के उल्लाप किसका हृदय नही हर लेते — "कस्स ण हरंति हियय।" — *(वज्जालग्ग, 3/5)*। जो लोक-गाथाओ के गीतो के प्रौढ-महिलाओ

और तन्त्रीनादो के रस को नही जानते, उनके लिये उनका अज्ञान ही सबसे बडा दड है। — *(वज्जा, 3/9)*

बिहारी ने इस भाव को अपेन दोहे मे और अधिक स्पष्ट एव काव्यमय-ढग से कहा है —

"तंत्रीनाद, कवित्तरस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अग॥"

'अनबूड़े अरसिक' न तो जीवन मे महिलाओ के हृदयगत-भाव को और न काव्य मे गाथाओ के मर्मगत-रस को पा सकते हैं। वे तो निपट अभागे और पुण्यभ्रष्ट लोग हैं। — *(वज्जालग्ग, 3/5)*। इसलिये अलकारो से सजी, सामुद्रिक-लक्षणो से युक्त और परस्पर अनुराग से रसिक-हृदयारूप सुदरी-प्रेमिकाओ की तरह रमणीय सालकार, सुलक्षणा और विविध राग-रागिनियो से गाई जाने वाली गाथायें जब हृदय मे नही उतरती, तब पाठक या श्रोता-प्रेमियो का मन खिन्न हो जाता है। — *(वज्जालग्ग, 3/2)*। एक गाथा कवि ने स्वय गाहा (गाथा) को ही चेतावनी देते हुए कहा है कि अरसिक गँवार लोगो से तुम दूर-दूर ही रहना, जो तुम्हें भली-भाँति गा नही सकते। नही तो वे तुम्हे अपने दाँतो से चबा-चबाकर तुम्हे पीडा पहुँचाते हुए उसी तरह तोडकर लघु बना देगे (तुम्हारी गुरुता नष्ट कर देगे), जैसे गँवई लोग ईख के डडे को कठोर दाँतो से काट-काट कर छोटा कर देते है। गाथा-गायन एक विशिष्ट-कला है। जो पाठक या नायक इस छद की मात्राओ के साथ उनकी यति-गति एव स्वर-लय की पद्धति को नही जानता, वह इसे प्रस्तुत करेगा तो गाहा श्रुति-रमणीय नही होगी — "छद अयाणमाणेहि जा किया ण न होइ रमणिज्जा।" — *(वज्जालग्ग 3/10)*। जयवल्लभसूरि ने वज्जालग्ग मे एक गाथा सकलित की है जिसमे वर्णन किया गया है कि गँवार लोग द्वारा ऊल-जलूल ढग से बोले जाने से गाहा बेचारी उसी तरह 'लुच-पलुच' होकर रुदन करने लगती है, जिस तरह अनाडी ग्वाले (मन्द- दोग्धा) के हाथो से बेढगे तरीके से थन कुचले-मसले जाने पर बेचारी दुधारू गैया कष्ट से रँभाती है —

"गाहा रुवई वराई सिक्खिज्जती गवारलोएहि।
कीरइ लच-पलुचा जह गाई मददोहेहि॥" — *(3/7)*

प्राकृत मुक्तक-काव्य मे लोकानुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई है, जन-जन के सुख-दुख· मुखरित हुये है, सरस ढग से कामतत्त्व का चिन्तन हुआ है, राग-परिवाहिनी गीति की गाथा-गगरियाँ छलकाई गई है, इसलिए महाकवि हाल ने 'गाहासत्तसई' मे लिखा कि इस अमृतमय प्राकृतकाव्य को पढने का एक सलीका है। जो लोग इसे नही जानते, उन्हे कामतत्त्व का चिन्तन करते हुए शर्म क्यो नही आती। गाथाये महाविदग्ध-जनो की गोष्ठी मे ही विश्वास होकर पढी जानी चाहिये; क्योंकि वे ही गाथागायक या गाहा-पाठक की प्राकृत-कविता के परमार्थ को समझ सकते है। गाहा छद मे निबद्धश्रृगाररसपूर्ण-मुक्तकों को पढे बिना न तो अर्धाक्षर भणितो का, न सविलास मुग्ध-हसितो का और न ही अर्धाक्षि-प्रेक्षितो का आनद प्राप्त किया जा सकता है, यह बात निश्चित है। गाँवो मे जन्मी, पली और बढी नैसर्गिक-रूपवती और सहज रागमयी अल्हड ग्रामबाला सी 'गाहा' ने आर्या- नागरिकाओ के प्रेमी सस्कृत-पडितो का भी शताब्दियो से मन मोह रखा है — तभी तो ध्वनि-काव्य के श्रेष्ठ-उदाहरण के रूप मे वे 'गाहा' को ही निहारते रहे है और 'गाहा' भी अपने अल्हडपन मे कहती रही है —

गाहारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण आणामि।
णाअरिआण पइणो हरेमि जा होमि सा होमि॥

अर्थ — मै गाँवो में जन्मी, रहती हूँ गाँवो मे, हाल नगर का क्या है, यह मैं नही जानती। मैं जो हूँ, सो हूँ, पर नागरियो के पतियो का मन हर लेती हूँ, बस मैं तो यही मानती। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1. द्विधा विभक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुन नुनाव।
   सस्कारपूतेन वर वरेण्य वधू सुखग्राह्यनिबन्धमेव॥ — *(कुमारसभवम्)*
2 कर्पूरमजरी, राजशेखर (1/8)।
3 वज्जालग्ग, जयवल्लभसूरि (3/18)।
4 गउडवहो, वाक्पतिराज (1/92)।
5 वज्जालग्ग, 3/4
6 गाहासत्तसई, 1
7 आर्यासप्तशती, 52

❖❖

गाथा-छंद एवं उसकी पठन-विधि

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रथ गाथा-छद में रचे है, जिसे सस्कृत मे आर्या-छन्द भी कहते है। इसमे प्रथम-चरण मे बारह, द्वितीय-चरण मे अट्ठारह, तृतीय-चरण मे पुन: बारह तथा चतुर्थ-चरण मे पन्द्रह मात्राये होती है। इसी परिमाण मे यह छद लिखा जाता है और उसे 'आर्या भार्याप्रिया' के अनुसार स्त्रियो के लिये प्रिय छद माना गया है। जैसे स्त्रियाँ कोमल-स्वभाव की होती है, उसीप्रकार यह छद भी कोमलकान्त-पदावली से युक्त एव आसानी से गाने-योग्य होता है। इस छद को गाने के बारे मे शास्त्रो मे दिशानिर्देश दिये गये है, उनके अनुसार इस छद की पहली बारह-मात्राये हस-पक्षी की चाल मे पढी जानी चाहिये, दूसरे-चरण की अट्ठारह-मात्राये जैसे सिह दहाडता हो, ऐसे जोश मे पढी जानी चाहिये, इसके बाद की बारह-मात्राओ को हाथी जैसी गम्भीर-चाल मे पढना चाहिये तथा अत की पन्द्रह-मात्राओ को सर्प के समान चाल मे पढना चाहिये। इन सब प्रतीको का बहुत मार्मिक-अर्थ भी छन्द शास्त्रियो ने प्रतिपादित किया है, वे लिखते है कि हस-पक्षी नीर-क्षीर-विवेक का प्रतीक होता है, अत· भेदविज्ञानपरक-दृष्टि से प्रथम-चरण की बारह-मात्राये पढ़नी चाहिये। भेदविज्ञान-दृष्टि मिलने के बाद व्यक्ति मे पुरुषार्थ की प्रधानता आ जाती है, अत: सिह के समान शूरवीर होकर दूसरे चरण की अट्ठारह-मात्राये पढना चाहिये। इसके बाद व्यक्ति मे गम्भीरता आ जाना स्वाभाविक है, अत· दूसरो के आक्षेपो से अप्रभावित हाथी के समान मदमस्त-चाल मे तीसरे-चरण की बारह-मात्राये पढी जानी चाहिये और सर्प की चाल इस बात का प्रतीक है कि वह सारी-दुनिया मे टेढा-मेढा भले ही चलता है, किन्तु अपने बिल मे वह सीधा होकर ही प्रवेश करता है। इसीप्रकार इस छद का चतुर्थ-चरण कुटिलवृत्ति छोडकर सरलवृत्ति के द्वारा आत्मध्यान की भावना से पढा जाना चाहिये। ❖❖

प्राकृतभाषा के प्रकाश-स्तम्भ

✍ **डॉ. अभयप्रकाश जैन**

प्राकृतभाषा और साहित्य के क्षेत्र मे मूलत: भारतीय विद्वान्-जगत् कुछ शताब्दियो में अपेक्षाकृत अधिक आसीन रहे। भला हो उन विदेशी-विद्वानो का, जिन्होने हमे इस दिशा मे जगाया और चेताया, साथ ही क्रियाशील बनने की प्रेरणा एव दिशाबोध प्रदान किया। उससे गत शताब्दी मे भारतीय-विद्वानो ने भी कुछ उपयोगी-कार्य इस दिशा मे किये। प्राकृतभाषा-साहित्य के क्षेत्र कार्य करनेवाले दो विदेशी एव एक भारतीय-विद्वान् का सक्षिप्त-परिचय यहाँ प्रस्तुत है। **— सम्पादक**

(1) पाश्चात्य-विद्वान् हर्मन जैकोबी

पाश्चात्य-विद्वानो ने जैन-साहित्य के शोध, अध्ययन और प्रकाशन मे अमूल्य-योगदान दिया है। उनके अथक-परिश्रम से जैन-साहित्य का विदेशो मे मूल्याकन हुआ है। जैन- साहित्य के अध्ययन और शोध के क्षेत्र मे जर्मनी-देश के विद्वानो का योगदान-अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पिछली दो शताब्दियो मे उन्होने भारतीय-विद्या के अन्य-प्रभेदो के साथ-साथ जैन-साहित्य पर भी अनुपम-प्रकाश डाला है। इन विद्वानो के नाम है —

(1) वाल्थर शूब्रिग, (2) एल एल्सडोर्फ, (3) हेल्मूथफोन ग्लासेनप्, (4) स्तेन कोनोव, (5) यार्ल शापैत्ये, (6) सिल्वै लेवी, (7) मोरित्स विन्तर्नित्स्, (8) हर्मन जैकोबी, (9) मीरोनफ, (10) योहन्नेर्सहर्तेल्।

इन विद्वानो मे **हर्मन जैकोबी** का नाम जैन-साहित्य की सेवा के लिए चिरस्मरणीय रहेगा। जैन-समाज ने कलकत्ता मे इनको 'जैनधर्म-दिवाकर' के विरुद से सम्मानित और अलकृत किया था।

हर्मन जैकोबी का जन्म जर्मनी के 'कोलोन' शहर मे 11 फरवरी 1850 ई. मे हुआ। 'हाईस्कूल' परीक्षा के बाद वे 'बर्लिन' गए। वहाँ उन्होने गणित का अध्ययन किया, परन्तु शीघ्र ही उनकी रुचि सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश मे बढी और उन्होने तुलनात्मक-भाषाशास्त्र का मनोयोग से अध्ययन किया। तत्पश्चात् वे 'बोन' नगर आये। 'बोन नगर' सस्कृत एव प्राकृत-विद्याओ के अध्ययन के लिए बहुश्रुत और प्रसिद्ध था। जर्मनी मे सबसे पहला सस्कृत/प्राकृतविद्या विभाग 'बोन विश्वविद्यालय' मे सन् 1818 मे खुला। जैकोबी ने सस्कृत मे सन् 1872 मे पी-एच डी प्राप्त की। उनका विषय था — "भारतीय ज्योतिष मे 'होरा' शब्द की उत्पत्ति।" इस शोध-ग्रथ मे अनेकानेक जैन-ग्रथो के सदर्भ थे। उन्होने यह ग्रथ 'लैटिन भाषा' मे लिखा। उनकी रुचि, गणित, ज्योतिष, सस्कृत, प्राकृत मे थी, अत: इस शोध-ग्रथ मे उक्त विषयो तथा जैनोलॉजी का सुदर समन्वय है। इसके बाद वे लदन मे मैक्समूलर के सहायक रहे। वे सन् 1873.74 मे पहली बार भारत आये। यहाँ आकर उन्हे **ब्यूलर** के साथ राजस्थान व गुजरात के जैन-मंदिरो मे प्राचीन-ग्रथागारो को देखने और निरीक्षण करने का सुनहरा मौका मिला। यही से उनकी जैनविद्या के प्रति अटूट-अभिरुचि और श्रद्धा बढी। जर्मनी लौटने पर सन् 1876 मे वे **मम्युन्सटर विश्वविद्यालय** मे प्रोफेसर हो गए। 1885 में उन्होने **कील विश्वविद्यालय** मे 'जैनविद्या विभाग' की स्थापना की। फिर वे 1889 मे कोलोन वापिस चले गए। सन् 1913-14 मे जैकोबी पुन: भारत आए, उन्हे

कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'भारतीय जैन-काव्यशास्त्र' पर भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया और 'डॉक्टरेट' की मानद-उपाधि से सम्मानित किया गया। सन् 1922 में उन्होने अपनी सेवाओं से अवकाश-ग्रहण किया और आजीवन जैनविद्या के अध्ययन मे सलग्न रहे। उनका निधन 19 अक्टूबर 1937 को बोन मे हुआ।

उन्होंने जैनसूत्रों के आग्लानुवाद किये, जो मैक्समूलर द्वारा सपादित 'Sacred books of the East' ग्रथमाला मे प्रकाशित हुए हैं।

जैनविद्या पर उनके निम्न-प्रकाशन मुख्य है —

1. भद्रबाहुकृत 'कल्पसूत्र' (सपादन, भूमिका, टिप्पणी तथा प्राकृत-सस्कृत शब्दकोष सहित) लिपिजिग 1879 ई
2. 'कालकाचार्य कथानक', (स) लदन, अनुवाद 1880 ई
3. 'आयरग-सूत्र' (स) लंदन, 1882 ई
4. हेमचन्द्र-रचित 'स्थविरावलि-चरितम्' (स) कलकत्ता 1883, द्वितीय सस्करण 1932
5. 'आचाराग सूत्र', 'कल्पसूत्र' का अग्रेजी मे अनुवाद, मपादन लदन, 1884 ई , 22वा पुष्प 'Sacred books of the East'
6. उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्रकृताग सूत्र, अग्रेजी अनुवाद, 45वा पुष्प, लदन 1895 ई
7. शूरसेनी, महाराष्ट्री प्राकृत की चुनी कथाये, टिप्पणी, व्याकरण-सहित, लिपजिग, 1886 ई
8. सिद्धर्षिकृत 'उपमिति-भवप्रपञ्चकथा' (स), कलकत्ता 1901-14 ई •
9. हरिभद्रकृत 'समराइच्चकहा' 1908-1926 ई
10. विमलसूरिकृत 'पउमचरिउ' 1914 ई
11. धनपाल विरचित 'भवसयत्तकहा', म्यूनिख 1918 ई.
12. धनपालकृत 'सनत्कुमार-मैनासुदरी', म्यूनिख 1921 ई.
13. 'समराइच्चकहा'।
14. 'सुपासनाहचरिउ'।
15. सिरयासनाहचरिउ, म्यूनिख 1921 ई

(2) डॉ जगदीशचंद जैन : एक जीवत-मूर्ति

"जीवन एक अनबूझ पहेली है। जितनी-जितनी घुसपैठ करते है, उतना ही गहरे मे जाना होता है और अत मे अन्वेषक को किनारे बैठकर ही सतोष करना पडता है।" (विश्व-साहित्य की झाकियाँ, भूमिका) — ये कथन डॉ जैन की जीवन-सध्या के समय के शब्द है, जो अपनी अंतिम-सास तक प्राकृतभाषा के उन्नयन के लिए अपनी मेधा के बल पर विश्वपटल पर छाए रहे।

डॉ जैन का जन्म 20 जनवरी 1909 को उत्तर-प्रदेश के मुजफ्फरनगर के 'बसेडा' गाँव मे हुआ था। प्रारंभिक-शिक्षा उन्होने गाँव की पाठशाला मे पाई। जब वे 2 वर्ष के थे, तभी पिता का साया सिर से उठ गया। पिताजी की मृत्यु के बाद अपने बडे भाई की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से वे आगे बढते रहे। घर की आर्थिक

स्थिति दयनीय थी। ऐसी हालत मे बनारस मे सस्कृत-पाठशाला मे पढ़ने लगे। लेकिन बदलते-परिवेश के साथ उन्हे यह आभास हुआ कि सस्कृत की पढ़ाई पर्याप्त नही है, इसीलिए आयुर्वेद का अध्ययन भी करने लगे। बाल-मन फिर बदला और अग्रेजी का अध्ययन करने लगे। 'नान बाबू' नामक एक शिक्षक उन्हे अग्रेजी पढ़ाते थे। सन् 1926 मे उन्होने मैट्रिक-परीक्षा पजाब-बोर्ड से उत्तीर्ण की। डॉ. जैन के भाई उन्हे 'ओवरसियर' बनाना चाहते थे। उन्होने प्रयास भी किया, लेकिन बेमन की पढाई मे सफलता नही मिल पाई। इटर (साईंस) पास किया, — इसी बीच सन् 1929 मे विवाह-सूत्र मे बध गए।

सन् 1930 मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी ए की उपाधि प्राप्त की। अध्ययन के प्रति उनकी जिज्ञासा हमेशा बलवती रही। यही कारण था कि सन् 1932 मे डॉ जैन ने 'दर्शनशास्त्र' जैसे गभीर-विषय को लेकर एम ए की उपाधि प्राप्त की।

डॉ जैन अपनी मेधा के बलबूते पर दिन-प्रतिदिन प्रगति के नूतन-सोपानो पर आगे बढते रहे। सन् 1933 मे उन्हे कवीन्द्र रवीन्द्र के सान्निध्य मे रहकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ एक वर्ष तक कार्य करने का सुअवसर मिला। उन्हे शोधछात्र के रूप मे 'शाति-निकेतन' से पच्चीस रुपए प्रतिमाह मिलते थे। एक वर्ष पश्चात् आजीविका की टोह मे अनेक जगह भटकना पडा। इस बीच वे बम्बई आ गए और उन्होने सस्कृत-अध्ययन का कार्य प्रारभ कर दिया।

सन् 1938 मे आपकी नियुक्ति रामनारायन रुइया कॉलेज, माटुगा (बम्बई) मे हुई वहाँ वे 'अर्धमागधी' एव 'सस्कृत' पढाते थे। इसके पश्चात् इनके महाविद्यालय मे 'हिन्दी विभाग' की स्थापना हुई और वे हिन्दी के प्राध्यापक के रूप मे सन् 1968 तक रहे, जबकि उन्होने हिन्दी मे एम ए तक नही किया था। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि डॉ जैन दर्शनशास्त्र मे एम ए थे। सन् 1945 मे सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ जी एस धुर्ये के कुशल-मार्गदर्शन मे 'लाइफ इन एन्शिन्यट इडिया एज डिपिक्टिड् इन जैन कैनन्स' जैसे अति-गभीर विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके 'पी-एच डी ' उपाधि प्राप्त की। डॉ. जैन ऐसे पहले शोधकर्त्ता है, जिन्होने इतना मौलिक-गवेषणात्मक अध्ययन किया था।

प्राकृत, अपभ्रश, सस्कृत, शौरसेनी, डच, अग्रेजी, हिन्दी, बगला, रूसी, चीनी, जर्मन आदि भाषाओ पर उन्हे महारत हासिल थी। 'वसुदेवहिडी - एन आर्थेटिक जैन वर्जन ऑफ द वृहत्कथा' के सम्बन्ध मे एक बात और उल्लेखनीय है कि गुणाढ्य नामक कवि ने 'वड्ढकहा' पैशाची-प्राकृतभाषा मे लिखी थी, जो अनुपलब्ध है। डॉ जैन ने जर्मनी, ब्राजील, अर्जेन्टाईना, चैकोस्लोवाकिया, रूस, अमेरिका देशो मे भारतीय एव जैन-सस्कृति से लोगो को अवगत कराया। वे इन देशो मे अनेको बार आमंत्रित किए गए। कील विश्वविद्यालय, जर्मनी मे चार वर्ष तक प्राकृतभाषा का अध्यापनकार्य किया।

डॉ जैन की समीक्षा-दृष्टि बहुत ही सतुलित थी। पाश्चात्य तथा पौर्वात्य साहित्य-चितन पर गहरी पकड उनकी खासियत थी। 'पाश्चात्य समीक्षा दर्शन' मे जिन सिद्धान्तो का निरूपण किया है, वह अभूतपूर्व है। डॉ जैन की सक्रियता-मौलिकता उनके लेखन की पहिचान है। उनका 'द गाधी फागौटिन महात्मा' नामक उनका विवादास्पद-ग्रथ भी उल्लेखनीय है। प्राकृत-साहित्य का इतिहास, प्राकृत पुष्करणी, जैन आगम-साहित्य मे

भारतीय समाज, भगवान महावीर, दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, प्राचीन भारत की श्रेष्ठ कहानियाँ, प्राकृत नरेटिव लिटरेचर आदि अस्सी-ग्रथो की उन्होंने रचना की।

अपने अंतिम-समय मे वे 'स्टडीज इन अर्ली जैनिज्म' पर एक वृहद् सीरीज तैयार कर रहे थे, जो अभी तक अप्रकाशित है। 'हिस्ट्री एण्ड डवलपमेट ऑफ प्राकृत लिटरेचर' प्रकाशन मे है। खेद है जैन-समाज एव जैन-नेतृत्व ने उनका समुचित-मूल्याकन नही किया। उनको अनेकबार विशिष्टरूप से सम्मानित किया गया। उनका निधन दिनाक 28 7 1994 को बम्बई मे हो गया। उनके सम्मान मे 'मुम्बई नगर निगम' ने उनके नाम से सडक का नाम रखा है, तथा केन्द्र-सरकार के 'डाक तार विभाग' ने उनके नाम का डाक-टिकट 1998 मे जारी किया, जो अपने आप मे एक मिसाल है। इस 'डाक-टिकट' मे पचबालयति की खडगासन प्रतिमा उत्कीर्णित स्वर्ण-मुद्रा तथा हडप्पा की एक सील है, जोकि उनके फोटो के साथ दिखाई गई है। यदि डॉ जैन की कृतियों का सही-सही मूल्याकन किया जाय, तो नई पीढी को जैन-साहित्य तथा सस्कृति समझने मे एक नई दिशा मिल सकेगी।

(3) डॉ. लुडविग अल्सडोर्फ

प्रोफेसर (डॉ) अल्सडोर्फ विश्वविद्यालय फेडरल रिपब्लिक जर्मनी मे पाली, प्राकृत, अपभ्रश के अध्ययन का कार्य करते थे। उन्होने इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे 1930-32 मे जर्मन, फ्रेच तथा भाषाविद् के रूप मे कार्य किया। उन्होने आचार्यरत्न **श्रीदेशभूषण जी मुनिराज** से प्रेरणा लेकर जैनदर्शन पर व्यापक अध्ययन किया था। फलतः उन्हे 'हरिवशपुराण' पर शोधकार्य करने की प्रेरणा डॉ हर्मन जैकोबी से मिली।

डॉ अल्सडोर्फ का जन्म 1904 मे 'राहमानलैण्ड' (जर्मनी) में हुआ था। उन्होंने भारतीय-विद्या (Indology), समीक्षात्मक-भाषाविज्ञान, सस्कृत तथा अरबी, फारसी का अध्ययन हैडिलबर्ग तथा हैम्बर्ग विश्वविद्यालय मे किया। सस्कृत का अध्ययन उन्होने 'नरिच जिम्मर' तथा 'वाल्दीर शियूब्रिग' के सम्पर्क मे पूरा किया। डॉ अल्सडोर्फ ने 1928 मे हैम्बर्ग विश्वविद्यालय से 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक जैन अपभ्रश-ग्रथ पर पी-एच डी की शोध-उपाधि प्राप्त की। इससे आगे का शोध उन्होने डॉ हैनरिच ल्यूडर नामक जर्मन-इडोलाजिस्ट के सान्निध्य मे जारी रखा। फिर वे हर्मन जैकोबी के सम्पर्क मे आए और 'हरिवशपुराण' पर शोधकार्य किया, जिसका शोध-ग्रथ 1963 मे प्रकाशित हुआ। 1932-33 मे वे दक्षिण के दिगबर-मुनियो के सम्पर्क मे आये, उनके ज्ञान ने उन्हे चमत्कृत कर दिया।

शिवपुरी (म प्र) मे उनकी आचार्य विजयेन्द्र सूरि तथा विद्याविजय मुनि, जयन्तविजय मुनि से जैनधर्म-विषयक चर्चाये हुईं। वे बर्लिन विश्वविद्यालय मे इडोलॉजी/जैनोलॉजी के 'रीडर' रहे। बाद मे मुन्सिस्टर विश्वविद्यालय मे 'प्रोफेसर' के पद पर कार्य किया। अक्तूबर 1950 मे प्रोफेसर अल्सडोर्फ को 'हैड ऑफ दि डिपार्टमेट इडोलाजी/ जैनोलॉजी' बनाया गया। वे इस पद पर अपने गुरु प्रो शुब्रिग के स्थान पर हैम्बर्ग विश्वविद्यालय मे नियुक्त किए गए। वे 1972 ई तक हैम्बर्ग विश्वविद्यालय पर आसीन रहे।

जैनविद्या/भारतीय-विद्या पर उनके उल्लेखनीय योगदान के लिए हम उनका अभिनन्दन करते है। उनके जैनविद्या एव भारतीय-विद्या-विषयक लेखन का संक्षिप्त-विवरण निम्नानुसार है —

(1) 'उत्तराध्ययन' पर 6 शोध आलेख।
(2) 'अपभ्रश अध्ययन' Apabramsha Studies (ग्रथ) (1937) भाषा-जर्मन।
(3) दि इडियन सव कोरिनेट भारत-पाकिस्तान-सीलोन (ग्रथ) (1955)।
(4) कन्ट्रीब्यूशन टू दि हिस्ट्री ऑफ वेजीटेरियनिज्म एण्ड वर्शिप इन इण्डिया (ग्रथ) (1951) तथा (1959)।
(5) दो वोल्यूम मे प्रो हैनरिच ल्यूडर के अप्रकाशित शोधपत्रो के प्रकाशन हुआ है, इसके सपादक इन वोल्यूमो का नाम 'वरुण' रखा है।
(6) आप पालि/प्राकृत क्रिटिकल डिक्शनरी के मुख्य-सपादक रहे।

वे 'साइस एकेडेमी एण्ड लिटरेचर मैनेन्स' के सदस्य तथा 'रायल डैनिश ऐकेडेमी साईंस/लिटरेचर' के कार्यकारी सदस्य रहे। वे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत 12 बार आए। सस्कृत-सगोष्ठियो तथा अन्तर्राष्ट्रीय काफ्रेस ऑफ ओरियण्टलिस्ट मे आए। जैन-आगमो पर उनके शोधपूर्ण-व्याख्यान उल्लेखनीय रहे हैं।

❖❖

'ब्रजभाषा' और 'शौरसेनी'

*"भक्तिकालीन हिंदी-काव्य की प्रमुख-भाषा 'ब्रजभाषा' है। इसके अनेक-कारण है। **परम्परा से यहाँ की बोली शौरसेनी 'मध्यदेश' की काव्य-भाषा रही है। ब्रजभाषा आधुनिक-आर्यभाषाकाल मे उसी शौरसेनी का रूप थी।** इसमे सूरदास जैसे महान् लोकप्रिय-कवि ने रचना की और वह कृष्ण-भक्ति के केन्द्र 'ब्रज' की बोली थी, जिससे यह कृष्ण-भक्ति की भाषा बन गई।"*

— (ले विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी-साहित्य का सक्षिप्त इतिहास, पृ. 18)

सारस्वत लिपि 'ब्राह्मी'

"वर्णाश्चत्वार एते हि येषा ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभावज्ञानता गता:॥"

— (महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म, 12/18/15, पूना सस्करण, 1954, पृ 1025)

अर्थ *— चारो वर्णों मे सारस्वत-लिपि 'ब्राह्मी' के प्रयोग का विधान स्वय ब्रह्मा के द्वारा किया गया था, जो कि कलिकाल के प्रभाव से तथा भौतिकता के आकर्षण के कारण अब क्रमशः अज्ञानता को प्राप्त हो रही है, अर्थात् अब इसका प्रचलन घट रहा है।* ❖❖

भाषा-परिवार और शौरसेनी प्राकृत

✍ **डॉ. (श्रीमती) माया जैन**

'एगा मणुस्स जाइ' अर्थात् मनुष्यो की जाति एक ही है — यह सूत्रवाक्य बताता है कि पहिले मनुष्यो के भाषिक-तत्त्व भी समान रहे होगे। फिर धीरे-धीरे विभिन्न-क्षेत्रो मे उनके फैलते जाने के कारण क्षेत्रीय-प्रभाव एव कालक्रमगत भाषा-विकास के कारण उनके भाषिक-रूपो मे भी विविधता आती गयी। फिर भाषाओ के भी 'परिवार' बन गये, और उनका परिचय परिवारो के आधार पर दिया जाने लगा। भारतवर्ष की अन्यतम-भाषा शौरसेनी-प्राकृत का भी इसी दृष्टि से परिचय विदुषी-लेखिका ने इस आलेख मे दिया है। — **सम्पादक**

भाषा के विषय मे विचार करने पर यह तो निश्चित हुआ है कि व्यक्ति ने सकेतो और भावो के आदान-प्रदान के कारण जैसे-जैसे वाणी का प्रयोग किया, वैसे-वैसे ही बोलने की इच्छा के कारण शब्द-वाक्य को बल मिला और विभिन्न-सपर्क एव स्थान-परिवर्तन के कारण भाषा के विविधरूप भी दृष्टिगोचर हुए। भौगोलिक-परिस्थितियो के आधार पर एक से अनेक भाषाये बनती गईं। उनके प्रकार शाखा-प्रशाखा, परिवार-उपपरिवार एव भाषा-विभाषा आदि के स्वरूप निर्धारित किये गये।

विकास एव विस्तार

भाषा की शक्ति, विकास और विस्तार को तभी प्राप्त होती है, जब वह आदान-प्रदान का रूप ले लेती है। आदिम मानव-समाज के सकेत कुछ ऐसे ही रहे होगे, जिनके अनुसार भाव-प्रक्रिया एव अभिव्यक्ति का पता चल जाता है। यदि एक नन्हें-शिशु को आधार लेकर चले, तो उसके रुदन मे कई प्रकार के सकेत हैं। शिशु रोता है, स्तनपान करता है और चुप हो जाता है और जब वही शिशु स्तनपान छोडकर खेलता है, तब उसके रुदन का सकेत अलग होता है। यदि वही रुदन करता रहे, तो यह स्पष्ट है कि वह किसी व्याधि से पीडित है। हर प्रकार के रुदन का एक ही अभिप्राय नही। इसीप्रकार भाषा का अभिप्राय एक नही, उसमे समयानुसार स्थान-परिवर्तन के कारण नये-वातावरण एव विभिन्न-सपर्क के प्रभाव से परिवर्तन हुआ है। उसी परिवर्तन एव भाषा-सृष्टि के आरभ से निरन्तर जो कुछ भी प्रवाह हुआ, उसके आदि एव अत का पता नही। फिर भी भारतीय एव पाश्चात्य-दोनो ही परपराओ ने भाषा-परिवार को बारह-परिवारो मे विभक्त किया है। भारोपीय परिवार, सेमिटिक परिवार, हैमेटिक परिवार आदि बारह-परिवार भाषावैज्ञानिको ने दिये है। उन बारह भाषा-परिवारो मे से प्राकृतभाषा का सबध 'भारोपीय परिवार' से है। इस भाषा-परिवार के भी आरमेनियन, बाल्टैस्लैलोनिक, अलवेनियम, ग्रीक, भारत-ईरानी या आर्य-परिवार, इटैलिक, कैल्टिक एव जर्मन-परिवार आदि उपपरिवार के रूप मे विख्यात है। **प्राकृत का सबध भारत-ईरानी 'आर्य परिवार' से है।** इस परिवार के भी ईरानी शाखा, दरद शाखा और भारतीय आर्यशाखा परिवार है। इन परिवारो से शौरसेनी, अर्द्धमागधी आदि प्राकृतो का विशेष-सबध है। भाषावैज्ञानिको ने इसका भी क्षेत्रीय-दृष्टिकोण ध्यान मे रखते हुए भारतीय

आर्यभाषा के परिवार को 'आर्यशाखा परिवार' से सबध बतलाकर सृजनशीलता की अपेक्षा तीन युगो मे विभक्त किया है —

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाकाल	—	(1600 ई.पू. — 600 ई.पू.)
मध्यकालीन आर्यभाषाकाल	—	(600 ई.पू. — 1000 ई.)
आधुनिक आर्यभाषाकाल	—	(ई. 1000 — वर्तमान समय)

1 **प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल** — वेदो के रूप मे भाषा का प्रवाह जिस गति से प्रवाहित हुआ, वह आज भी विद्यमान है। इनकी ऋचाओं मे पावन-अमृत है। इनके अर्थ मे गाम्भीर्य है और भावो मे प्रकृति का सर्वस्व निहित है। उनकी प्रकृति, आकृति सदैव एक-सी नही रही, बदलती रही; परिवर्तन हुए, परन्तु भाषा, भाव और प्रक्रिया के नियम उन्हे सुरक्षा प्रदान करते रहे है। भारतीय आर्यभाषा के साहित्य-क्षितिज पर वेदो का नाम जिस रूप मे लिया जाता है, वह 'भारतीय आर्य-शाखा परिवार' का गौरव बढाता है। आर्य-साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन 'ऋग्वेद' है, यह सभी मानते है। जहाँ 'ऋग्वेद' विश्वसाहित्य का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है, वही आर्य-शाखा के परिवार मे आर्ष-वचन के मौलिक-स्वरूप का भी महत्त्वपूर्ण-स्थान है। आर्ष-वचन ऋषि-मुनियो के वचन हैं, वे आर्य-शाखा के विकास का यशोगान करते है।

'ऋग्वेद' मे आर्यभाषा का जो रूप पाया जाता है, वैसा शेष यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद मे नही पाया जाता। 'ऋग्वेद' की भाषा का साम्य अन्य वेदो से पृथक् है। जिस भाषा मे वेद रचे गये, वे वैदिक-भाषा के साहित्यिक-स्वरूप को व्यक्त करते है। बौद्धिक-चिन्तन के आधार पर इस भारतीय-साहित्य को 'छान्दस्' भी कहा गया है; क्योकि इसमे आर्यों की सस्कृति, यज्ञ-विधान, यजन-पूजन, भावाभिव्यजना, उपासना, आराधना आदि के जो सकेत दिये गये है, वे भारतीय-आर्यशाखा को पुष्ट करते है। आर्यशाखा की आर्यभाषा मे 'छान्दस्' उस समय की साहित्यिक-निधि थी जो जनभाषा का परिष्कृतरूप है।

जनभाषा या जनता की बोलचाल की भाषा प्राकृत की प्रकृति का मूल-उद्घोष है। यह जनसाधारण से जुडी हुई जनता की बोली है। जिसमे मूलतत्त्व को महत्त्व दिया गया। इसके साम्य और वैषम्य के कारण इसका स्वरूप निर्धारित किया गया। उच्चारण-भेद के कारण 'ऋग्वेद' आदि की 'छान्दस्' और 'प्राकृत' मे अतर है। परन्तु इसकी लिपि, आकार-प्रकार, तद्भव-शब्द या तत्सम-शब्दावली के आधार पर 'छान्दस्' और 'प्राकृत' .दोनो को 'सहोदरा' भी कहा गया। आर्यों की सस्कृति वेदो मात्र में ही नही है, अपितु शौरसेनी एव अर्धमागधी के सूत्रो मे भी है। बुद्ध के वचन 'त्रिपिटक' के रूप मे सूत्रबद्ध है। उनमे भी आर्य-सस्कृति का सार विद्यमान है। अतः भाषा की विकसनशील-शक्ति के कारण 'छान्दस्' एव 'प्राकृत' ये दो रूप प्रसिद्ध हुए। 'प्राकृत' को सर्वप्रथम 'आर्ष' कहा गया। आचार्यों ने आर्ष को महत्त्व दिया, उसे परिष्कृत एव परिमार्जित भी किया।

भारतीय-जनजीवन से जुडी हुई जनता की जनभाषा मे जो कुछ कहा गया, उसे 'आर्ष' कहा गया और फिर आर्ष-वचन को क्षेत्रीय दृष्टि से नापा-तोला गया। जिसके परिणामस्वरूप विविध प्रकार के भाषागत-भेद प्रकट हुए; जो जनता के बोलचाल की भाषा थी, उसमे परिवर्तन के तत्त्व देखे गये। इसी के परिणामस्वरूप छान्दस्-भाषा, प्राकृतभाषा आदि नाम दिया गया। छान्दस्-भाषा का एक ही स्वरूप नही है; परन्तु जो कुछ भी

वेदों में कहा गया उसे वैदिक-युग के रूप मे स्वीकार करके 'छान्दस् भाषा' कहा गया। यह प्राचीन भारतीय-आर्यभाषा का प्रमुख-भेद है। वैदिक-युग की भाषा मे वैभाषिक-प्रवृत्तियो का सकेत प्राप्त होता है, जो उस समय के लोकभाषा के तत्त्व थे।

भाषा के विकास मे आर्ष-प्राकृत का भी महत्त्वपूर्ण-स्थान रहा है। महावीर और बुद्ध के वचन आर्ष-वचन हैं। इन दोनो के वचनों के सार 'आगम' और 'पिटक' रूप में उपलब्ध हैं। उसको भारतीय भाषा-परिवार के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है। भाषा की दृष्टि से आर्षवचन का जो विभाजन भाषावैज्ञानिको ने किया, उसमे क्षेत्रीयता एव कुछ स्थान-परिवर्तन अवश्य निर्धारित किये हैं। भारतीय-जनजीवन मे निषाद, द्रविड, किरात और आर्य — इन चार जातियो का स्थान भी रहा। यदि आर्य की दृष्टि से विचार करते हैं, तो भारतीय-आर्यभाषा परिवार के विशालरूप मे प्राकृत-भाषाओ का विशालतम-क्षेत्र भी विद्यमान है।

शौरसेनी प्राकृत ही मूल-प्राकृत है

भाषा का स्वरूप इस बात का साक्षी है कि वचन-व्यवहार या भावो का आदान-प्रदान जैसे-जैसे खुलता गया, वैसे-वैसे भाषा का स्वरूप स्पष्ट होता गया। भाषा के प्रयोग स्थान-विशेष के कारण या विभिन्न-सपर्क के प्रभाव से क्षेत्रीयता को प्राप्त कर लेते है। नवीन-स्थान की जलवायु एव प्राकृतिक-परिस्थितियाँ विचारधारा मे जो परिवर्तन लाते है, वे ही परिवर्तन भाषा के परिवर्तन बन जाते है। जनभाषा का साहित्यिक-प्रवाह जब बढता है, तब वही आकार-प्रकार के परिवर्तन के साथ-साथ अपने नियम भी छोड देती है। आकार-प्रकार, नियम, भाषा, भाव और प्रक्रिया सभी कुछ देखकर ही भाषावैज्ञानिक-नामकरण करता है। यही नामकरण 'शौरसेनी' को शूरसेन-प्रदेश मे विकसित होने के कारण ही नही, अपितु इसके विशालतम-साहित्य और प्राचीनतम-प्रयोगो के कारण 'शौरसेनी' नाम दिया गया। वेदाग की भाषा का ऐसा विभाजन इसलिए नही हुआ, क्योकि इसमे परिवर्तन तो है, पर सूत्र की एकरूपता, भावो की विशेषता एव वेदो की प्राचीनता के कारण इन्हे 'छान्दस्' तो कहा गया, पर 'ऋग्वेद' की भाषा पृथक् है, तथा 'यजुर्वेद' की भाषा भी पृथक् है। ऐसा कथन करने के बाद भी क्षेत्रीयता ने अपना स्थान नही बना पाया होगा। इसलिए कुछेक परिवर्तनो के कारण यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद का भाषा-दृष्टि से भेद हुआ; पर क्षेत्र की दृष्टि से भेद नही होने के कारण इन सभी वेदो की भाषा को 'छान्दस्' कहा गया।

शौरसेनी-साहित्य के प्राचीनतम-रूप के विषय मे कहने की आवश्यकता नहीं; क्योकि जो कुछ भी आगमो मे सुरक्षित है, वह जब क्षेत्रीय-दृष्टि से प्रमाणित किया गया, तो यही कहा गया कि शौरसेनी आगम-साहित्य शूरसेन, मथुरा आदि के आसपास के क्षेत्रो की क्षेत्रीयता को लिए हुए है। इसका प्रचार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण-भारत मे सर्वत्र था। नाटको मे भी शौरसेनी-भाषा का प्रयोग अधिक से अधिक हुआ है। महाकवि कालिदास के ही एकमात्र नाटक 'शाकुन्तलम्' को आधार बनाकर यदि मूल्याकन किया जाये, तो राजा, मत्री एव पुराहित को छोडकर अन्य जितने भी पुरुष पात्र, स्त्री-पात्र एव बालक शौरसेनी का ही प्रयोग करते है। कालिदास के नाटक के गद्याशो की समीक्षा की जाये, तो यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होने शौरसेनी के 80% से 85% प्रयोग किये है। प्राय: यह देखा गया है कि नाटककार 'नाट्यशास्त्र' के नियम से जुडकर ही भाषाओ

को महत्त्व देता है। पात्रो के अनुसार भाषा-प्रयोग अभिनय की एक कला है। जिस कला को हर युग मे स्थापित किया गया। दो हजार वर्ष के बाद भी नाटककार यदि सस्कृति मे नाटक प्रस्तुत करता है, तो उसे पात्रो के अनुसार भाषा का प्रयोग करना पडेगा। आज हिन्दी-भाषा है, उसमे भी आचलिकता का समावेश किया जाता है, तभी वह अपने स्वरूप को स्थान दे पाती है।

शौरसेनी-प्राकृत की दृष्टि एक भाषिक-दृष्टि है। जिनवाणी भारतीय-भाषा की गरिमा है। इसी भाषा के दिगम्बर-आम्नाय मे प्रचलित-प्राकृत के सभी ग्रन्थ इस बात का प्रमाण देते है कि भाषा की विविधता तो हो सकती है, पर साहित्य-प्रयोग की एकरूपता 'छक्खडागमसुत्त' से लेकर आज तक उसी रूप मे विद्यमान है। पहली शताब्दी का कवि जिस शौरसेनी मे रचना करता है, वही शौरसेनी कुन्दकुन्द, यतिवृषभ आदि की है। नवमी शताब्दी के कवियो की भी है। 14वी शताब्दी एव इस बीसवी शताब्दी मे भी दिगम्बर-आम्नाय का माननेवाला सर्वज्ञ-वाणी को यदि काव्यात्मक-रूप देना चाहेगा, तो वह शौरसेनी को नही भूल सकता है। जिनवाणी की भाषा कोई भी हो सकती है, पर समयानुसार किसे महत्त्व दिया गया, यह विशेष-महत्त्व रखता है। 'छक्खडागमसुत्त' आदि एव 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि जिनवचन है।

विद्वानो ने इस प्राकृत की विशेषताओ के बारे मे विस्तार से चर्चा की है।

शौरसेनी प्राकृत

इसका प्रयोग सस्कृत-नाटको के प्राकृतभाषा के गद्याशो मे हुआ है। अश्वघोष, भास, कालिदास के नाटको और बहुत से नाटको में इस भाषा के उदाहरण प्राप्त होते है। इस भाषा की उत्पत्ति **शूरसेन** या **मथुरा प्रदेश** मे हुई है। **वररुचि ने शौरसेनी को सस्कृत से उत्पन्न माना है।** इस भाषा के लक्षण एव उदाहरण वररुचि, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर, लक्ष्मीधर, मार्कण्डेय आदि वैयाकरणो ने दिये है।

शौरसेनी की विशेषतायें

1 शौरसेनी मे **अनादि मे वर्तमान असयुक्त 'त्' का 'द्'** होता है। यथा – एतस्मात्>**एदाओ**।

2. शौरसेनी मे वर्णान्तर के अध:वर्तमान **'त्'** का **'द्'** होता है। यथा – महान्त:झमहदो, निश्चिन्त >णिच्चिंदो।

3 **शौरसेनी** मे 'तावत्' के आदि **'त्'** का **दकार** होता है। यथा – तावत्>**दाव**, ताव।

4 **शौरसेनी** मे आमन्त्रण वाले 'सु' के पर मे रहने पर पूर्ववाले नकारान्त शब्द के 'म' के स्थान पर विकल्प से **'य्'** होता है। यथा – भो राय।>भो राजन्। भो विअयवम्म। झभो विजयवर्मन्।।

5 **शौरसेनी** मे **'र्य'** के स्थान पर विकल्प से **'य्य'** आदेश होता है। यथा – सुय्यो>सूर्य, अज्जो>आर्य·, पज्जाकुलो>पर्याकुल·।

6 **शौरसेनी** मे **'थ्'** के स्थान पर विकल्प से **'ध्'** होता है। यथा – नाथ:>णाधो, कथम्>कध, राजपथ:>राजपधो।

7. **शौरसेनी** मे 'भू' धातु के **हकार** का 'भ्' आदेश होता है। यथा – भवतिझभोदि, होदि।

8 **शौरसेनी** मे 'इह' आदि के हकार के स्थान मे **'ध'** विकल्प से होता है – इह>

इध, **भवथ>होध**, **होह**।

9. **शौरसेनी** मे **'क्त्वा'** प्रत्यय के स्थान पर **'इय'** और **'दूण'**, **'य'** आदेश विकल्प से होते हैं। यथा – भविय, भोदूण, हविय, होदूण, पढिय, पढिदूण, रमिय, रमिदूण।
10. **शौरसेनी** मे 'पूर्व' शब्द का 'पुरव' आदेश होता है। यथा – अपूर्वं नाटकम्>अपुरव णाडग।
11. **शौरसेनी** में 'त्यादि' के आदेश 'दि' और 'ए' के स्थान पर 'दे' आदेश होता है। यथा – **णेदि**, **वेदि**, **भोदि**, **होदि रमदे**।
12. अकार से परे 'इ' और 'ए' हो, तो उनके स्थान पर 'दे' और 'ये', दोनो आदेश होते है। यथा – **अच्छदे**, **अच्छदि**, **गच्छदे**, **गच्छदि**, **रमदे**, **रमदि**, **किज्जदे**, **किज्जदि**।
13. **शौरसेनी** मे **'तस्मात्'** के स्थान में **'ता'** आदेश होता है। यथा – ता जाव पविसामि, ता अल एदिणा भाणेण।
14. **शौरसेनी** मे 'एव' के अर्थ मे ' "येव' निपात प्रयुक्त होता है। यथा – मम य्येव बम्भणस्स, सोय्येव एसो।
15. चेटी के आह्वान अर्थ मे **शौरसेनी** मे **'हजे'** निपात का प्रयोग होता है। यथा – हजे चडुरिके।
16. **शौरसेनी** मे 'ननु' के अर्थ मे **'ण'** निपात प्रयुक्त होता है। यथा – ण अफलोदया, ण अय्यमिस्सेहि।
17. **शौरसेनी** मे हर्ष के लिये **'अम्महे'** का प्रयोग होता है।
18. विदूषक हर्ष के लिये **'ही-ही'** का प्रयोग करता है। यथा – "ही-ही भो।"
19. कही 'त्' का 'ड्' होता है। यथा – पुत्रः>पुत्तो, **पुडो**।
20. **शौरसेनी** मे 'ऋकार' का 'इकार' होता है। यथा – गृध्रः>गिद्धो।
21. **शौरसेनी** मे ण्य, ज्ञ, न्य के स्थान मे **ण्ण** होता है। यथा – पण्यः, विज्ञः, कन्या के स्थान पर पण्णो, विण्णो, कण्णा।
22. **शौरसेनी** मे 'कृञ्' धातु को 'कर' आदेश होता है। यथा – करोमि>करेमि।
23. **शौरसेनी** मे 'तिङ्' के परे 'स्था' का 'चिट्ठ' आदेश होता है। यथा – चिट्ठदि>तिष्ठति।
24. **शौरसेनी** मे 'तिङ्' के परे 'स्मृ, दृश्, अस्' धातुओ के 'सुमर, पेंक्ख, अच्छ' आदेश होते है। यथा – सुमरदि, पेक्खदि, अच्छदि।
25. **शौरसेनी** मे **'स्त्री'** के स्थान मे **'इत्थी'** आदेश होता है। यथा – **स्त्री**>इत्थी।
26. 'जस्' सहित 'अस्मद्' के स्थान पर 'वअ, अम्हे' होते हैं। यथा – वअ, अम्हे।
27. **शौरसेनी** मे 'कृ' और 'गम्' धातुओ से परे आने वाले **'क्त्वा'** के स्थान मे **'अडुअ'** आदेश विकल्प से होता है। यथा – कृत्वा>कडुअ, गत्वा>गडुअ।
28. **शौरसेनी** मे 'इत्' और 'एत्' के परे होने पर अन्त्य मकार के आगे **णकार** का आगम विकल्प से होता है। यथा – जुत्तणिम, सरिसणिम, **किण्णेद** (किमेद), एवणेव (एवमेद)।

29 **शौरसेनी** मे नपुसकलिग मे वर्तमान शब्दो से परे आने वाले 'जस्' और 'शस्' के स्थान मे **'णि'** आदेश और पूर्व स्वर का दीर्घ होता है। यथा – वनानि>वणाणि, धनानि>धणाणि।

30 **शौरसेनी** मे 'तिङ्' प्रत्ययो के पर मे होने पर **भू धातु** के स्थान पर 'भो' आदेश होता है। यथा – भवामि>भोमि।

31. विस्मय और निर्वेद अर्थों मे शौरसेनी के 'हीमाणहे' निपात का प्रयोग होता है। यथा – **हीमाणहे** जीवतवच्छा मे जणणी। ❖❖

वक्ता के गुण

'नानोपाख्यानकुशलो नानाभाषाविशारदः,
नानाशास्त्रकलाभिज्ञ.स भवेत् कथकाग्रणी।
नागुली-भजन कुर्यान्न भ्रुवौ नर्तयेद् ब्रुवन्,
नाधिक्षिपेन्न च हसेन्नात्युच्चैर्न शनैर्वदेत्॥'

– (महापुराण, प्रथम 130-131)

अर्थ *— जो नानाप्रकार के उदाहरण द्वारा वस्तुस्वरूप कहने मे कुशल है, प्राकृत सस्कृत, अपभ्रश, अपभ्रश, प्रादेशिक, हिन्दी आदि भाषाओ मे विशारद है, एव अनेक शास्त्र तथा कलाओ मे अभिज्ञ है, वह प्रवक्ताओ मे अग्रणी होता है। वक्ता को अगुलियाँ नही बजानी चाहिए, बोलते समय भौहो को नही नचाना चाहिए, किसी पर आक्षेप नही करना चाहिए, हँसना नही चाहिए तथा अति-ऊँचा (जोर से) अथवा अति-नीचा (धीरे) नही बोलना चाहिए।* ❖❖

श्रुतपंचमी और ब्राह्मी-लिपि

"शुभे शिलादावुत्कीर्य श्रुतस्कन्धमविन्यसेत्।
ब्राह्मीन्यास-विधानेन श्रुतस्कन्धमिह स्तुयात्॥
सुलेखकेन सलिख्य परमागम-पुस्तकम्।
ब्राह्मीं वा श्रुतपचम्या सुलग्ने वा प्रतिष्ठयेत्॥

– (प शिवाशाधर, प्रतिष्ठापाठ, 6/33-34)

अर्थ *— शुभमुहूर्त मे शिलादि मे उत्कीर्ण करके श्रुतस्कन्ध की भी स्थापना करे, फिर ब्राह्मी-लिपि के न्यास-विधान से श्रुतस्कन्ध की स्तुति करे। सुलेखपूर्वक परमागम-पुस्तक अथवा ब्राह्मी-लिपि मे लिखकर श्रुतपचमी (ज्येष्ठशुक्ल पचमी) के दिन (शुभमुहूर्त) मे उसकी* ***स्थापना*** *करे।* ❖❖

ईसापूर्व के महत्त्वपूर्ण-शिलालेखों की भाषा पर तत्कालीन शौरसेनी-प्राकृत का प्रभाव

✍ श्रीमती मंजूषा सेठी

प्राचीन-प्राकृत के प्रयोगो को यथावत-रूप मे देखने के लिए हमारे पास प्राचीन-शिलालेख ही एकमात्र शरण है; क्योंकि अन्य ग्रथ कितने भी प्राचीन रचित रहे हो, किंतु उनकी अभी मिलनेवाली पाण्डुलिपियाँ इतनी प्राचीन नही है। अत: इन प्रतिलिपि-रूप पाण्डुलिपियो के आधार से प्राकृतभाषा के प्राचीनरूप को अंतिमप्रमाण के रूप मे नही कहा जा सकता है। यद्यपि शिलालेखो मे भी सरकारी अधिकारियो/पंडितो एव खोदनेवाले शिल्पियो की असावधानियों से कई दोष मिलते हैं, फिर भी तकनीकीरूप से वे ही प्राचीनतम-मूलप्रमाण माने जायेंगे। इनमे उपलब्ध प्राकृतभाषा के स्वरूप की समीक्षा विदुषी-लेखिका ने श्रमपूर्वक इस आलेख मे की है, जो विचारणीय है। — **सम्पादक**

साहित्य 'समाज का दर्पण' होता है। समाज जिसप्रकार का होगा, उसी भाँति साहित्य मे प्रतिबिम्बित होता है। समाज के प्रत्येक पहलू के निश्चित-ज्ञान का प्रधान-साधन तत्कालीन साहित्य ही है। सस्कृति के उचित प्रचार तथा प्रसार का सर्वश्रेष्ठ-साधन साहित्य ही है। यदि हमे किसी भाषा तथा उसके साहित्य का अवलोकन करना है, तो हमे उस भाषा का इतिहास तथा विकासक्रम भी जानना जरूरी हो जाता है। वह साहित्य किसप्रकार के सामाजिक तथा अन्य परिप्रेक्ष्य मे रचा गया? — इस पर भी प्रकाश डालना होगा। प्रस्तुत-आलेख मे 'ईसापूर्व के महत्त्वपूर्ण-शिलालेखो की भाषा मे तत्कालीन शौरसेनी-प्राकृत का प्रभाव' विषय पर विचार किया गया है।

प्राकृतभाषा के प्राचीनतम लिखित-प्रमाण शिलालेखो मे ही प्राप्त होते हैं। अत: किसी भी प्राकृतभाषा के प्राचीन रूप तुलनात्मक-अध्ययन करना हो, तो ईसापूर्वयुगीन-शिलालेख मे उपलब्ध प्राकृत-रूप एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण-उपादान सिद्ध होते हैं। दिगम्बर जैन आगम-ग्रथो मे, विशेषत: आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य से भारतवर्ष की प्राचीन एव व्यापक-भाषा शौरसेनी-प्राकृत के महत्त्वपूर्ण-निदर्शन प्राप्त होते है। इसमे इतना ही अन्तर है कि कुन्दकुन्द का लिखित-साहित्य परवर्ती-लिपिकारो के विभिन्न-कालखण्डो मे की गयी प्रतिलिपियो के रूप मे मिलता है। तथा कुन्दकुन्द के द्वारा लिखित मूलप्रति कोई प्राप्त नही होती है; जबकि शिलालेखीय साहित्य मूलरूप मे मिलता भी है। इसलिए तुलनात्मक-अध्ययन की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण-साधन है। इसी बात का ध्यान रखते हुए इस आलेख मे उक्त दोनों साहित्यो का इतिहास, भाषिक-प्रयोगो के साम्य एव वैशिष्ट्य को रेखाकित करते हुए भाषिक-विकास एव तुलनात्मक-अध्ययन की दृष्टि से समीक्षा की गई है। साथ ही प्राकृतभाषा के उपलब्ध-नियमो की दृष्टि से इनका तुलनात्मक-अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

शौरसेनी-प्राकृत का विकास

प्राकृतभाषा का इतिहास — अनुमानो के आधार पर 'ऋग्वेद' के लेखन का काल ईसापूर्व 3000 वर्ष

माना गया है तथा सिन्धुघाटी-सभ्यता भी लगभग उतनी ही पुरानी अनुमानित की गयी है। इसके उत्खनन मे मानव-जीवन की दैनिक-उपयोग से सम्बन्धित विविध-सामग्रियों में मुहरें प्रमुख हैं, जिन पर अंकित-शब्दावली को इतिहासकारो, पुरावेत्ताओ एव भाषाशास्त्रियो ने प्राकृतभाषा माना है। प्राकृतभाषा का उद्‌गम एव 'ऋग्वेद' की 'छान्दस्' भाषा का तुलनात्मक-अध्ययन कर विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आदिम-जनबोली रूप प्राकृत से विकसित वह भाषा ही 'छान्दस्' है; जिसमे की 'ऋग्वेद' की रचना की गयी है। विद्वानो के अनुसार प्राकृत-जनबोली से विकसित उक्त 'छान्दस्' से भी परवर्ती-युगो मे साहित्यिक-भाषाओ का विकास हुआ, लौकिक-सस्कृत एव साहित्यिक-प्राकृत। आगे चलकर नियमबद्ध हो जाने का कारण लौकिक-सस्कृत का प्रवाह अवरुद्ध हो गया, जबकि प्राकृत का प्रभाव बिना किसी अवरोध के आगे चलता रहा। जिससे आज की आधुनिक भारतीय-भाषाओ का विकास हुआ।

शौरसेनी-प्राकृतभाषा का विकास — ईसापूर्व में 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता आचार्य भरतमुनि के पहले शौरसेनी-प्राकृत को किस नाम से जाना जाता होगा? — इसके प्रमाण नही मिलते हैं। परतु उस समय एक ऐसी प्राकृतभाषा थी, जो सर्वमान्य थी। केवल क्षेत्रीय-प्रभाव आने के कारण उनके शाब्दिक-रूपो मे परिवर्तन हुए, इसकारण अलग-अलग प्राकृत भाषाये, विभाषायें बनी। भरत मुनि ने भी सर्वाधिक महत्त्व शौरसेनी-प्राकृत को ही दिया। जितने प्रमाण शौरसेनी-प्राकृत के जनबोली तथा सर्वसामान्य-लोगो की लोकप्रिय-भाषा के मिलते है, उतने अन्य किसी के नही। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसापूर्व की प्राकृत का ही नाम 'शौरसेनी प्राकृत' था।

ईसापूर्व की शौरसेनी प्राकृत का स्वरूप — ईसापूर्व से लेकर पाँचवी शताब्दी तक शौरसेनी-प्राकृत को ही 'सामान्य-प्राकृत' कहा जाता था। तथा ईसा की पाँचवी शताब्दी से इसी की दुहिता 'महाराष्ट्री-प्राकृत' को ही 'सामान्य-प्राकृत' कहा गया। मध्यदेश की भाषा शौरसेनी-प्राकृत थी। क्षेत्रीयता से सम्बन्धित भले ही इसका नामकरण हुआ हो, परन्तु तत्कालीन-भारत के व्यापक-भूभाग की सुपरिचित व्यावहारिक-भाषा होने से अपने सदेशो व उपदेशो की व्यापक-उपयोगिता की दृष्टि से इसी 'शौरसेनी-प्राकृतभाषा' मे विपुल-साहित्य का सृजन हुआ। साथ यही एकमात्र प्राकृत थी, जो कि सस्कृतभाषा के सर्वाधिक निकट थी। इसीलिए भी इसमे निबद्ध-साहित्य की विशिष्ट-विद्वानो के लिए भी उपादेयता थी। 'शौरसेनी-प्राकृतभाषा' लोकजीवन मे सर्वाधिक प्रचलित-भाषा थी, इसका प्रमाण हमे उन प्राचीन सस्कृत-नाटको से मिलता है, जिसमे अधिसख्य-पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते है। ऐसी जीवन्त-भाषा को अपने साहित्य का माध्यम बनाना किसी भी विवेकी-व्यक्ति का स्वाभाविक-निर्णय कहा जा सकता है।

शौरसेनी-प्राकृत सस्कृतभाषा के निकटवर्ती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शौरसेनी ही सबसे-प्राचीन प्राकृतभाषा है। 'भाषा' सज्ञा की दृष्टि से सस्कृत एव प्राकृत दोनो — भाषाओ ने वैदिक 'छान्दस्' भाषा से सहोदरा-कन्याओ के समान जन्म लिया है। अत: विद्वानो ने सस्कृत एव प्राकृत को 'सहोदरा-बहिने' कहा है। भाषिक-दृष्टि से तो सस्कृत एव प्राकृत समवर्ती-भाषाये हैं। वैदिक 'छान्दस्' भाषा से ही दोनो का उद्‌भव होने के कारण 'सस्कृत' एव 'प्राकृत' का एक-दूसरे पर प्रभाव पडना निश्चित है। इससे यह नकारा नही जा सकता कि ईसापूर्व की प्राकृत सस्कृतभाषा से घनिष्ठता लिए होगी और वही भाषा 'शौरसेनी प्राकृत' है —' यह सिद्ध हो जाता है।

ईसापूर्व का शौरसेनी-साहित्य — ईसापूर्व का शौरसेनी-साहित्य मूलरूप मे आज उपलब्ध नही है, परन्तु उनकी प्रतिलिपियाँ, टीका-साहित्य तथा उस साहित्य पर आधारित अन्य-ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। सबसे पहले आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतबलि ने शौरसेनी-प्राकृत मे ही 'छक्खडागम' के सूत्रो की रचना की। दिगम्बर-जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने शौरसेनी-प्राकृत में विपुल-साहित्य का सृजन किया। परन्तु इनके साहित्य को परवर्ती अनेक-ग्रन्थकारो द्वारा अलग-अलग समय पर लिखे जाने के कारण क्षेत्रगत, कालगत तथा अनेक ग्रथकारो द्वारा मूल-ग्रथो पर टीका-साहित्य, उन पर आधारित-साहित्य की रचना करने से वैयक्तिक-पुट तो आ ही जाता है; इसकारण पाठभेद मिलते है। अतः यह स्वीकारा जा सकता है कि इन ग्रथकारो के ग्रथो की भाषा शौरसेनी-प्राकृत ही थी।

शिलालेखो मे प्रयुक्त प्राकृतभाषा — विश्व मे सबसे प्राचीन विस्तृत एव प्रामाणिक शिलालेखीय साहित्य केवल सम्राट् अशोक द्वारा लिखवाये गये अभिलेख ही हैं। इससे प्राचीन भी अभिलेख मिलते हैं; परन्तु साहित्य की दृष्टि से उनमे बहुत कमियाँ हैं। इसकारण अशोक के अभिलेख ही 'प्राचीन दस्तावेज' की मान्यता-प्राप्त हैं। खारवेल का 'हाथीगुम्फा-अभिलेख' भी इसीतरह का ईसापूर्व का महत्त्वपूर्ण, वर्षक्रम से सुव्यवस्थित-विवरणवाला अभिलेख है। इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये सभी अभिलेख प्राकृतभाषा मे ही लिखे हुए मिलते है।

अभिलेखो की भाषा एव लिपि — विद्वानो ने साहित्यिक-प्राकृत से अशोक आदि के शिलालेखो की प्राकृत मे भेद पाकर 'शिलालेखी-प्राकृत' नाम से एक नयी प्राकृत का गठन कर दिया, जो भाषावैज्ञानिक-दृष्टि से बिल्कुल अनुचित-प्रयोग है। क्योंकि प्राकृतभाषा या अन्य किसी भी भाषा के देश, काल इत्यादि के आधार पर भेद या वर्गीकरण सभव है, लेखन-सामग्री के आधार पर कदापि नही।

अशोक के अभिलेख बहुसख्यक एव भारत के प्राचीनतम-अभिलेख होने के कारण तत्कालीन-भारत की लिप्यात्मक, भाषात्मक एव साहित्यिक-स्थिति पर प्रकाश डालते है। अशोक ने अपने पश्चिमोत्तर-प्रदेशो के अभिलेखो मे यूनानी, ऐरेमाइक एव खरोष्ठी आदि लिपियो का प्रयोग किया है, उसके 'शाहबाजगढी' तथा 'मानसेहरा' अभिलेख खरोष्ठी-लिपि के प्राचीनतम विस्तृत-लेख है। शेष समस्त-भारत मे उसने 'ब्राह्मी-लिपि' का प्रयोग किया। इस लिपि का रूप प्रायः सर्वत्र समान है।

खारवेल के हाथीगुम्फा-शिलालेख की भाषा सामान्यतः सस्कृतनिष्ठ प्राचीन-शौरसेनी है, जिसमे कतिपय वर्ण-परिवर्तनो मे क्षेत्रीय 'ओड्रमागधी प्राकृत' का प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि इस शिलालेख मे प्राचीन शौरसेनी की समस्त-प्रवृत्तियाँ परिलक्षित नही होती, तो भी उसका आदिमरूप मानने मे किसी भी प्रकार की आपत्ति नही है।

विचारणीय-बिन्दु

1 अशोक के अभिलेख तथा खारबेल के अभिलेख की लिपि अधिकाशतः 'ब्राह्मी-लिपि' है। इसमे समस्या यह है कि प्राकृतभाषा में मूलतः 64 वर्ण है तथा प्रयोगतः 44 वर्ण ही हैं। अब यह विचारणीय हो जाता है कि अशोक के अभिलेखो मे जो 'ब्राह्मी-लिपि' प्रयुक्त मिलती है, क्या उनमे भी इतने ही वर्ण थे, अथवा इससे कम या अधिक थे? साथ ही स्वर, व्यजन, सयुक्त-व्यजन, मात्रा-लेखन, अकलेखन एव

विराम-चिह्न — इन बिन्दुओं की भी उस ब्राह्मीलिपि में क्या व्यवस्था थी? अभिलेखो मे ब्राह्मीलिपि का प्राचीनरूप है। इसकारण सयुक्त व्यजन व मात्राओ का अन्तिमरूप से निर्णय नही कर सकते, तथा जो शब्द प्राकृत के नियमो के अन्तर्गत नही आते, उन्हे 'सस्कृतनिष्ठ' भी नही बता सकते।

2 'ब्राह्मीलिपि' को एव उसके स्वर, व्यजन आदि 6 बिन्दुओ की दृष्टि से सूक्ष्मता से अध्ययन किये बिना भाषिक-स्वरूप का भी निर्धारण निर्दोष-विधि से सभव नही है। एक लिपि से दूसरी लिपि मे लिप्यन्तरण करते समय यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि उपरोक्त 6 बिन्दुओ की जैसी व्यवस्था मूलपाठ की लिपि मे है, क्या वह लिप्यतरण की जानेवाली लिपि मे भी उपलब्ध है?

3 शिलालेखो की प्राकृत के रूपो मे अतर प्रधानतः भाषागत-कारणो से न होकर लिपिगत-कारणो से है —

(अ) चूँकि उस समय सयुक्त-व्यजनो के लिखने का पूर्ण विकास नही हुआ था, अतः इनमे सयुक्ताक्षरो के प्रयोग कम हैं; तथापि जहाँ सयुक्ताक्षर का प्रयोग इष्ट था, वहाँ पूर्ववर्ती-स्वर को ह्रस्व रखा है तथा जहाँ उसका लोप इष्ट था, वहाँ पूर्ववर्ती-स्वर को प्राकृत के नियमानुसार दीर्घ कर दिया है। हलन्त-अनुनासिको को सर्वत्र स्वरान्त बना दिया है।

(ब) प्राकृत मे 'नो णः सर्वत्रः' के नियमानुसार णत्व का विधान है। फिर भी चूँकि उस समय 'न' एव 'ण' — दोनो वर्णों के लिए प्राय· एक जैसी ही आकृति का प्रयोग होता था, अत· पाठ-सम्पादको ने उसे 'न' ही पढा, जबकि प्राकृत के अनुसार उसे 'ण' पढा जाना चाहिए।

(स) इसी क्रम मे 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग पूर्वीय-प्रभाव की देन है। किंतु वह प्रभाव नगण्य मात्र है और शौरसेनी की विशेषताओ को कही भी बाधित नही करता है। 'र' का 'ल' तो अभिलेखो मे प्रयोग मिलता है, परन्तु 'स' का 'श' मागधी-प्राकृत मे होते हुए भी इसका उल्लेख कही नही है। इसीकारण शौरसेनी का महत्त्व यहाँ प्रतिपादित होता है। परन्तु यहाँ 'ण' का प्रयोग भी बहुलता से मिलता है, इसकारण से हम कह सकते है कि शिलालेखो की भाषा शौरसेनी-प्राकृत है तथा क्षेत्रीय-प्रभाव के कारण इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

(द) शिलालेखो के पाठ दरबारी-विद्वानो ने तैयार किये थे, वे विद्वान् सस्कृत-भाषा के अच्छे जानकार थे, अपेक्षाकृत प्राकृत के। यही कारण रहा होगा कि पाठ तैयार करते समय सस्कृतनिष्ठ-शब्दो का पाठो मे आना स्वाभाविक हो जाता है।

(य) साहित्य-सृजन का नियम है कि लेखक जब जिस देश मे रहता है, वहाँ की प्रचलिततम भाषा का उपयोग करता है। उसके उच्चारण भी उसी प्रकार के होते है। यही नियम शिलालेखो पर भी लगता है। शिलालेखो की मूलभाषा तो शौरसेनी है, परन्तु अशोक के शिलालेख दूर-दूर तक अनेक-क्षेत्रो मे पाये जाते है, इसकारण ही इनमे क्षेत्रीयता की दृष्टि से भेद आया है।

(र) अशोक के शिलालेखों मे एक ही शब्द के अलग-अलग रूप प्राप्त होते है, जैसे — 'मृग.' सस्कृत शब्द का गिरनार शिलालेख मे 'मगो', शाहबाजगढी मे 'म्रुगो' तथा पूर्व मे स्थित शिलालेख मे 'मिगे' रूप प्राप्त होता है। इसीप्रकार के कई अन्य-उदाहरण भी मिलते है।

(ल) ऐसे अनेक शब्दो के रूप प्राप्त होते हैं। अध्ययन करने से इस बात का पता चलता है कि क्षेत्रगत ये भेद मात्र ध्वनियो के है, इनके व्याकरण का कोई मौलिक-अन्तर नही है।

निष्कर्ष — ईसापूर्व-युगीन शिलालेखो मे शौरसेनी-प्राकृत की प्रचुर-मात्रा में प्रवृत्तियाँ विद्यमान है, भले ही उन पर क्षेत्रीय-प्रभाव पडा हो। चूँकि इनकी लिपि 'प्राचीन ब्राह्मीलिपि' है, अत: वर्णाकृति के साम्य के कारण कई विद्वानो ने इनके सस्कृतनिष्ठ-पाठ बना दिये हैं, तो कही-कही पर पाश्चात्य-विद्वानो द्वारा निर्मित पाठो मे उनकी लिपि के प्रभाव के कारण भी पाठदोष आ गये है। जैसे — 'न' एव 'ण' इन दोनो वर्णों के लिए अग्रेजी में 'N' का ही प्रयोग किया जाता है। उसका 'देवनागरी लिपि' मे रूपान्तरण करते समय प्राय: सभी विद्वानो ने 'न' का ही प्रयोग किया और 'ण' की प्रवृत्ति प्राय: लुप्त हो गयी। जबकि यह मूल-शिलालेखो मे विद्यमान है।

अब ऐसे पाठदोषवाले पाठो को आधार बनाकर कई आधुनिक विद्वान्, जो न तो प्राचीन ब्राह्मीलिपि के और न ही प्राचीन प्राकृत के विद्वान् हैं, कहते हैं कि "इन शिलालेखो में 'ण' ध्वनि है ही नही।" मेरे कहने का यह अभिप्राय नही है कि अशोक के अभिलेखो मे 'न' का प्रयोग कदापि नही है, कितु कई जगहो पर 'ण' को 'न' भी बनाया गया है — यह मेरा कथ्य है।

इसीप्रकार ईसापूर्व के प्राचीन-ग्रथो मे भी परवर्ती प्रतिलिपिकारो एव कई सम्पादनकला के आधुनिक अविशेषज्ञ-सम्पादको की असावधानियो, भाषाज्ञान न होने के कारण से भी मूलपाठो मे महाराष्ट्रीकरण आ जाने से इन ग्रथो के भाषिक-स्वरूप पर आक्षेप करने लगे है।

ईसापूर्वयुगीन शौरसेनी-साहित्य प्रमुखत: आचार्य कुन्दकुन्द-रचित प्राप्त होता है। सवाल यह है कि सुदूर दक्षिण के आचार्य मध्यदेश की 'शौरसेनी प्राकृत' मे साहित्य-सृजन कैसे कर सकते है? क्योकि उस समय दक्षिण मे आर्यभाषा का प्रभाव था। इस बारे मे 'कौशितिकी ब्राह्मण' मे आया यह उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है — "उत्तर मे बहुत विद्वत्तापूर्ण-वाणी बोली जाती है और शुद्ध-वाणी सीखने-हेतु लोग उत्तराखण्ड को जाते थे, जो वहाँ से सीखकर आता है, उसे सुनने के लिए लोग उत्सुक रहते है।"

आधुनिक समालोचक विद्वान् डॉ. जगदीश चद्र जैन लिखते है कि "मथुरा जैन-आचार्यों की प्रवृत्तियो का प्रमुख-केन्द्र रहा है, अतएव उनकी रचनाओ मे शौरसेनी आना अति-स्वाभाविक है।" इसप्रकार शेष-भारत के लोगो का उत्तर की भाषा शौरसेनी के प्रति अगाध-आकर्षण तथा जैन-सघ का दक्षिण भारत मे दीर्घप्रवास — यह दो मुख्य-कारण प्रतीत होते है, जिनके फलस्वरूप शौरसेनी-प्राकृत उपर्युक्त मध्यदेश के विशालतम-क्षेत्र मे प्रसरित हो गयी। इसी भाषा से परवर्ती-अपभ्रश एव विविध क्षेत्रीय-भाषाओ एव बोलियो का उद्भव और विकास हुआ है।

इसकारण शौरसेनी-प्राकृतभाषा और साहित्य के अध्ययन के बिना हम भारतीय-भाषाओ, सस्कृति, इतिहास एव साहित्य आदि के बारे मे प्रामाणिक जानकारी नही ले सकते है। ❖❖

सम्राट् अशोक के शिलालेखों में उपलब्ध जैन-परम्परा के पोषक-तत्त्व

✍ डॉ. शशिप्रभा जैन

यद्यपि सम्राट् अशोक को एक बौद्धधर्मानुयायी-सम्राट् के रूप मे माना जाता है, किन्तु वश-परम्परा मे वह जैनधर्मानुयायी था। उसके पितामह सम्राट् चन्द्रगुप्त-मौर्य एव पिता सम्राट्-बिन्दुसार — दोनो ही जैनधर्मानुयायी थे। अशोक की माँ भी जिनधर्म-भक्त थी। अत: इनके सरकार अशोक पर होने स्वाभाविक थे। कलिग-युद्ध के भीषण-नरसहार के कारण सभवत: जैनाचार्यों ने उससे मुँह मोड लिया होगा, अत: वह बौद्ध बन गया था। फिर भी उसके आचार-विचार मे जैनत्व के सस्कार अत्यन्त-गहन थे। उसी का प्रभाव उसके अभिलेखो पर भी मिलता है। विदुषी-लेखिका ने अपने इस आलेख मे इस तथ्य को भली-भाँति रेखांकित किया है। **— सम्पादक**

प्राचीन-अभिलेखो का महत्त्व मात्र ऐतिहासिक-दृष्टि से ही नही, वरन् राजनैतिक, भौगोलिक सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक एव नैतिक-दृष्टियो से भी होता है, क्योकि उसमे तत्कालीन सस्कृति, समाज, धर्म, प्रशासन एव नैतिक-महत्त्व के प्रसग आदि प्राय: वर्णित मिलते है। कई बार इनमे प्रयुक्त कोई शब्द-विशेष भी इतिहास, सस्कृति, दर्शन एव धर्म की महत्त्वपूर्ण-गुत्थियो को सुलझाने मे बेहद-उपयोगी होता है। साथ ही अभिलेख लिखनेवाले व्यक्ति-विशेष के इतिवृत्त एव मानसिकता का तो वे स्पष्टरूप से प्रकाशन करते ही है।

इन सन्दर्भो मे यदि सम्राट्-अशोक के शिलालेखो एव स्तम्भ-लेखो का अध्ययन एव विश्लेषण करे, तो इनमे हमे अशोक के समय के इतिहास एव प्रशासन का तो ज्ञान होता ही है, पर मुख्यत· ये '**धम्मलिपि**' या '**धम्मानुशासन**' होने के कारण उसके 'धम्म'-सम्बन्धी विचारो एव सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते है। अशोक ने इन्हे 'धम्म-लिपि' इसीलिए कहा है, क्योंकि इन सबमे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से धम्म-सम्बन्धी विवरण प्राप्त होता है। प्राय. सभी अभिलेखो मे उसने 'धम्म' शब्द की पुनरावृत्ति, यथा — धम्मदान, धम्मघोष, धम्मभेरी, धम्ममगल, धम्मसंविभाग, धम्मरति आदि रूपो मे की है।

परन्तु अशोक के अभिलेखो मे वर्णित 'धम्म'-शब्द तथा धम्म-सबधी अशोक के विचारो को समझने से पूर्व हमे अशोक की पारिवारिक-पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक होगा; क्योकि यह एक सर्वविदित तथ्य है कि व्यक्ति के विचारो एव आदर्शों पर उसके पारिवारिक-सस्कारो का बहुत-प्रभाव होता है। यह एक ऐतिहासिक-तथ्य है कि अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के अन्तिम-दिनो मे राज्य त्यागकर जैन-मुनि बन गये थे, तथा दक्षिण-मैसूर मे 'श्रवणबेलगोल' मे वह अपने गुरु भद्रबाहु के साथ रहकर तपस्या करते थे। अशोक के पिता बिन्दुसार भी जैनधर्म के प्रबल समर्थ एव प्रभावक-महापुरुष थे। चीनी-यात्री युवाङ्च्वाङ् तथा 'दिव्यावदान' आदि ग्रन्थो के अनुसार अशोक का अनुज जीवन के अन्तिम-दिनो मे 'अर्हत्' बन गया था। स्वय अशोक के सम्बन्ध मे भी यह मत है कि वह 'जैन' था।[1] विल्सन तथा थामस महोदय ने भी यह सिद्ध

करने का प्रयास किया है कि **अशोक प्रारम्भिक-जीवन मे जैन-धर्मावलम्बी था, परन्तु बाद मे उसने बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया था।**[2] श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार के अनुसार **"भारत के सीमान्त से विदेशी-सत्ता को सर्वथा-पराजित करके भारतीयता की रक्षा करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैनाचार्य श्री भद्रबाहु से दीक्षा-ग्रहण की थी। उनके पुत्र बिम्बसार थे। सम्राट् अशोक उनके पौत्र थे, जो कुछ दिन जैन रहकर पीछे बौद्ध हो गये थे।"**[3] जिन महात्मा बुद्ध के धर्म की प्रभावना की चेष्टा अशोक ने की वे महात्मा बुद्ध भी मूलत: सर्वप्रथम जैनधर्म मे दीक्षित हुए थे। पालि-त्रिपटकों के अनुसार वे नग्न-दिगम्बर जैन-साधु बने थे और कई वर्षों तक उन्होने साधुचर्या को निभाया भी। किन्तु बाद मे इस कठिन-चर्या को नही निभा पाने के कारण उन्होने सासारिक-गृहस्थावस्था एव कठोर-साधुचर्या के बीच के मध्यम-मार्ग को अपनाया, तथा उसी के अनुरूप धार्मिक-सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया।

अत: अशोक व्यक्तिगत-जीवन मे भले ही बौद्ध-धर्मावलम्बी हो गया था; परन्तु धार्मिक-दृष्टि से उसके सस्कार जैनत्व के ही थे।[4] जैन और बौद्ध-धर्म के मध्य राजा अशोक इतना कम भेद देखता था कि उसने सर्वसाधरण मे अपना बौद्ध होना अपने राज्य के बारहवे वर्ष मे (247 ई पू) कहा था। इसीलिए करीब-करीब उसके कई शिलालेख के **'जैन-सम्राट्'** के रूप मे है। उसने सर्वसामान्य के लिए जिस धर्म को उपदेशित किया वह एक समन्वयवादी सार्वजनिक-धर्म होते हुए भी उसकी धर्म-प्रभावना मूलत· जैनधर्म से अनुप्राणित प्रतीत होती है। अत: इस आलेख मे अशोक के अभिलेखो मे उपलब्ध जैन-परम्परा के पोषक-तत्त्वो का परिचय देने का प्रयास किया गया है।

धम्म

अशोक के लेखो मे जिस 'धर्म' का उल्लेख है, वह कोई जैन या बौद्धरूप धर्मविशेष न होकर आचरण-सहिता मात्र है, जिसके दो रूप है (1) व्यावहारिक, (2) शास्त्रीय। व्यावहारिकरूप मे वह जीवन के विभिन्न-सम्बन्धो के प्रति सदाचार के विस्तृत-नियमो का विधान करता है। इस आचार-सहिता या व्यावहारिक-धर्म के बारे मे वह स्वय स्तम्भ-लेखो मे लिखता है — **"धमे साधु, किय चु धमेति? अपासिनवे, बहुकयाने, दया, दाने, सचे, सोचये।"** — *(स्तम्भलेख, 2)*

"एस हि धमापदाने धमपटीपति च यसा इय दया, दाने, सचे, सोचये, मदवे, साधवे च लोकस हेव वढिसति ति।" — *(स्तम्भलेख, 7)*

जैनधर्म के प्रतिष्ठित प्रमुख-आचार्य कुन्दकुन्द न भी 'बारस-अणुपेक्खा' मे धर्म को उत्तमक्षमा आदि दसप्रकारमय माना है —

> **"उत्तम-खम-मद्दवज्जव-सच्च-सउच्च च सजम चेव।**
> **तव-तागाकिंचिण्हं बम्हा इदि दसविह होदि॥"**
> — *(गाथा 10)*

वस्तुत: दश भेदोवाला धर्म नही है; अपितु उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिचन, ब्रह्मचर्य — इन दशलक्षणो से युक्त जो अखण्ड है, वही धर्म है।

'तत्त्वार्थसूत्र' मे आचार्य उमास्वामी ने भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है कि —

"उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-सयम-तपस्त्यागाकिचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।" इसमे उत्तमक्षमा आदि के अन्त मे 'ब्रह्मचर्याणि' बहुवचनान्त प्रयोग किया है, तथा 'धर्मः' एकवचनान्त-प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि धर्म के लक्षण उत्तमक्षमा आदि दस है, किन्तु धर्म दस-प्रकार का नही है, वह तो एक ही है। यह धर्म चर्चा का विषय न होकर 'चर्या' अर्थात् आचरण का विषय है, क्योंकि राजवार्तिककार के अनुसार **"धारण-सामर्थ्याद् धर्म इत्येषा सज्ञा अन्वर्थेति"** — *(राजवार्तिक, 9/6/24)*

इसके अनुसार धारण-करने की सामर्थ्य या विशेषता के कारण ही इनकी 'धर्म' सज्ञा सार्थक होती है।

अहिसा

अशोक ने अपने अभिलेखो मे जहाँ 'धम्म' की चर्चा की है, वही उसने अहिसा-सम्बन्धी कुछ वाक्यो का प्रयोग किया है —

(क) **अनारम्भो पाणान** *(शिलालेखीय 3, 4, 9, स्तम्भलेख 7)* अर्थात् प्राणियो की हिसा न करना।

(ख) **अविहिसा भूताना** *(शिलालेखीय 4, स्तम्भलेख 7)* सभी जीवधारियो के प्रति अहिसा।

(ग) **पाणाना सयमो** *(शिलालेखीय 9)* प्राणियो की हिसा मे सयम।

(घ) **सर्वाभूतान अक्षतिसयम समचरिअ रभसिये।** *(शिलालेखीय 13)* सभी जीवधारियो की रक्षा, सयम एव समताचार प्रारभ किया।

इसमे व केवल मनुष्यो के प्रति अहिसा अथवा हिसा के प्रति सयम की बात न कहकर सम्पूर्ण-जीवधारियो के अक्षतिसयम की बात करता है तथा स्तम्भ-लेख क्र 5 मे ऐसे प्राणियो की एक लम्बी-सूची दी गई है, जिनकी रक्षा का विधान है।

अशोक का अहिसा के प्रति यह दृष्टिकोण जैनधर्म के अहिसा के विस्तृत-दृष्टिकोण का परिचायक है जहाँ केवल प्राणियो की अहिसा का ही नही, वरन् त्रस एव स्थावर दोनो के प्रति अहिसा धारण करने को कहा गया है। त्रस एव स्थावर-जीवो के सम्बन्ध मे जैनो की विस्तृत-परिकल्पना 'द्रव्यसग्रह' मे इसप्रकार वर्णित है —

"पुढवि-जल-तेऊ-वाऊ-वणप्फदी विविह थावरेइवी।
विग-तिग-चदु-पचक्खा, तसजीवा होति सखावी।
— *(द्रव्यसग्रह 11)*

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये नाना-प्रकार के स्थावर-जीव है, और ये एक-इन्द्रिय के धारक है। दो-तीन-चार और पाँच इन्द्रियो के धारक शख आदि 'त्रस-जीव' कहलाते है।

इन त्रस एव स्थावर — दोनो प्रकार के जीवो के प्राणातिपात से विरमण को 'अहिसा-व्रत' तथा इनकी रक्षा को ही 'अहिसा-धर्म' कहा गया है —

(1) **"पढम महव्वव पाणाविवावादो विरमण"** — *(यतिप्रतिक्रमणसूत्र)*

(2) **"जीवाण रक्खणो धम्मो।"** — *(कार्तिकेयानुप्रेक्षा)*

(3) **"प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपण हिंसा।"** — *(तत्त्वार्थसूत्र 13/7, आचार्य उमास्वामी)*

(4) **"धर्ममहिसारूपं सशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहानस्त्रसहिसा तेऽपि मुञ्चन्तु॥
स्तौकैकेन्द्रियघाताद् गृहिण सम्पन्नयोग्यविषाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्॥"** — *(अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 75-77)*

(5) **त्रसहिसा को त्यागि वृथा थावर न सहारै।
पर-वधकार कठोर निन्द्य नहि वचन उचारै॥** — *(छहढाला 4,10,59)*

उपरोक्त श्लोको मे 'त्रस' एव 'स्थावर' — दोनोप्रकार के जीवो के घात को त्यागने के लिए कहा है।

अशोक प्राणियो की हिसा नही करने से ही सन्तुष्ट नही होता, वह अमुक-पशुओ को निर्लक्षित करने तथा जीव-सहित भूसे को जलाने का निषेध करता है।

डॉ भडारकर के अनुसार अशोक ने अन्यत्र भी जैन-कल्पना ग्रहण की है। उसके लेखो मे **जीव, प्राण, भूत** और **जात** शब्द 'पडिक्कमणसुत्त' के **पाण-भूव-जीव-सत्ताण** के ही पर्याय है।" — *(आचाराग सूत्र)*

तिथियो का विचार

अहिसा-सम्बन्धी विचारो को और प्रभावक बनाने के लिए उसने तीन तिथियो **चावुदस, पनदस, पटिपावदये,** "(चतुर्दशी, पूर्णिमा, प्रतिपदा) को उपवास का दिन बताकर मछलियो को मारने व बेचने से मना किया है। इसीप्रकार प्रत्येक-पक्ष की पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, तीन चातुर्मासो के शुक्ल-पक्ष मे गौ को नही दागने का आदेश दिया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन-परम्परा मे भी तीनो चातुर्मासो के शुक्लपक्ष, पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी एव पूर्णिमा का विशेष महत्त्व है। वर्ष की तीनो अष्टाह्निका शुक्लपक्ष की अष्टमी से प्रारम्भ होकर पूर्णिमा को समाप्त होती है, तथा वर्ष का सर्वप्रमुख दक्षलक्षण-पर्व भाद्रमास की पचमी-तिथि से प्रारम्भ होकर चतुर्दशी तक चलता है। जैनो मे इससे पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी एव शुक्लपक्ष आदि का महत्त्व परिलक्षित होता है। जैन-परम्परा मे ही पचमी, अष्टमी तथा चतुर्दशी को व्रत रखने का विधान है।

**धरि उर समता भाव सदा सामायिक करिये।
पर्व-चतुष्टय-माँहि पाप-तजि प्रोषध धरिये॥**
— *(छहढाला, 4,14,63)*

मन मे समताभाव धारण करके नित्य 'सामायिक' करनी चाहिए; यह' सामायिक-व्रत' है। चारो पर्वों मे दो 'अष्टमी' और दो 'चतुर्दशी' को व्यापार आदि पाप-कार्यों को छोडकर 'प्रोषधोपवास' करना चाहिए। यह 'प्रोषधोपवास' व्रत है। अत: इन तिथियो को 'व्रत का दिन' कहकर मछलियो के मारने व बेचने का निषेध कर तथा गौ को दागने की मनाही करना; अशोक की विचारधाराओ पर जैनत्व के सस्कारो का स्पष्ट-द्योतक है।

आस्त्रव

अशोक के दसवे शिलालेख मे उल्लेख है —

"देवानपिय पिवसि राजा त सव पारत्रिकाय किति सकले अपपरिस्त्रवे अस। एस तु परिसवे य अपुञ।"

अर्थात् "देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा जो कुछ उद्योग करता है, वे सब परलोक के लिए है, जिससे प्रजा को कम से कम 'परिसव' मिले। पर जो अपुण्य है, वही 'परिसव' है।"

ध्यान देने की बात यह है कि जैनधर्म मे 18 प्रकार के पापो और 42 प्रकार के आस्त्रवो का विधान है।[6] 'परिसवे', 'अपरिसवे', 'आसिवने' आदि शब्द बौद्ध न होकर जैन-साहित्य से लिए गए लगते हैं।[7] निम्न-परिभाषाये द्रष्टव्य है।

(1) **काय-वाड्मन कर्मयोग·। स आस्त्रवः।** — *(तत्त्वार्थसूत्र 6/1-2)*

(2) **आसवादि जेण कम्म, परिणामेणप्पणो स विण्णेयो।**
भावासवो जिणुत्तो, कम्मासवण परो होदि॥ — *(द्रव्यसग्रह 29)*
आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आते है, वह जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ भावास्त्रव है।

(3) **ज्यो सर-जल-आवत मोरी त्यो आस्त्रव कर्मन को।**
दर्वित जीव-प्रवेश गहै, जब पुद्गल भरमन को॥
भावित आस्त्रव-भाव शुभाशुभ, निशदिन चेतन को।
पाप-पुण्य के दोनो करता, कारण-बधन को॥ — *(बारहभावना, कवि मगतराय)*

(4) **जो जोगनि की चपलाई, ताते ह्वै आस्त्रव भाई।**
आस्त्रव दु खकार घनेरे, बुधिवत तिन्हे निरवेरे॥ — *(छहढाला 5-7-73, कविवर दौलतराम)*

उपरोक्त उद्धरणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अशोक ने आस्त्रवो के सम्बन्ध मे जैनो की मान्यतानुसार माना है।

क्रोध, मान, ईर्ष्या आदि

अशोक ने धर्मपालन के लिए कुछ तत्त्वो को त्यागने के लिए कहा। (1) **चडिए** (उग्रता), (2) **निठूलिए** (निण्ठुरता), (3) **क्रोधे** (क्रोध), (4) **माने** (मान), (5) **इसिलसे** (ईर्ष्या) — इनमे से तीन क्रोध, मान और ईर्ष्या या द्वेष का वर्णन अशोक ने **आसिनवगामिनी** के रूप मे किया है। — *(स्तम्भलेख 3)*

जैनधर्म मे भी क्रोध, मान, माया, लोभ — इन चारो कषायो को त्यागने को कहा गया है। प्रत्येक श्रावक के द्वारा नित्यप्रति की जानेवाली 'मेरी भावना' मे आचार्य जुगलकिशोर जी कहते हैं —

अहकार का भाव न रक्खू नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
देख दूसरो की बढ़ती को कभी न ईर्ष्याभाव धरूँ॥

इसीप्रकार सामायिक-पाठ मे जैन-श्रावक प्रभु से प्रार्थना करता है —

सन्मुक्ति के सन्मार्ग से प्रतिकूल-पथ मैंने किया।
पंचेन्द्रियों चारों-कषायों में स्वमन मैंने किया॥
इस हेतु शुद्ध-चारित्र का जो लोप मुझसे हो गया।
दुष्कर्म वह मिथ्यात्व को हो प्राप्त प्रभु! करिये दया॥

जैनाचार्यों के अनुसार मिथ्यादृष्टि-जीवो मे क्रोध, मान, माया, लोभ — यह चारो कषाय विशेषरूप मे होती हैं। प्रत्येक कषाय के अनन्तानुबधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान एव सज्वलन — इन चार भेदो के कारण, चारो कषायों के 16 भेद किये गये हैं। '**कसायपाहुड**' नामक ग्रन्थ मे इनका विस्तार से उल्लेख है, जिस पर आचार्य वीरसेन ने **जयधवला** टीका लिखी है। आत्मानुशासनकार ने कहा है कि — "जिस सरोवर मे मगरमच्छ होगे, उस सरोवर में मछलियाँ शांति से निर्द्वन्द्व होकर विचरण नही कर सकती हैं। इसीप्रकार जब तक हमारी आत्मा मे कषायरूपी मगरमच्छ रहेंगे, तब तक आत्मा के क्षमादि-धर्म विचरण नही कर सकते" —

हृदय सरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे वसति खलु कषायग्राहचक्र समन्तात्।
श्रयति गुणगणोऽय तन्न तावद्विशंकं, सयम-शम विशेषैस्तान् विजेतु यतस्व॥

आत्म-परीक्षण

अशोक धर्म की वृद्धि के लिए आत्म-निरीक्षण को अत्यन्त-आवश्यक बताता है; क्योंकि इससे धर्म की ओर जागरूकता बढती है। — *(स्तम्भलेख 7)* अशोक के अनुसार '**आत्मपराक्रम**' का एक तरीका '*आत्म-निरीक्षण*' है, जिसका अर्थ है अपने बुरे और अच्छे कार्यों का परीक्षण *(स्तम्भलेख 2)*। प्रथम-स्तम्भलेख मे धार्मिक-जीवन के लिए गहन-आत्मपरीक्षा और उत्साह पर जोर देता है।

जैन-परम्परा मे भी आत्म-परीक्षण का अत्यन्त महत्त्व है। 'आलोचना' एव 'प्रतिक्रमण' करना प्रत्येक श्रावक एव साधु के लिए आवश्यक है। यतियों की षड्आवश्यक-क्रियाओ मे से 'प्रतिक्रमण' एक है —

समदा थओ य वंदण पडिक्कमण तहेव णादव्व।
पच्चक्खाण-विसग्गो करणीयावासया छप्पि॥

प्रतिक्रमण की विधि शास्त्रज्ञो ने इसप्रकार निरूपित की है —

दव्वे खेत्ते काले भावे य कदावराह-सोहणय।
णिदण-गरहण-जुत्तो, मण-वच-कायेण पडिकमण॥

अर्थ — आहार, शरीर आदि द्रव्य मे, वसतिका-मार्ग आदि क्षेत्र मे, पूर्वाह्न, मध्याह्न, दिवस, रात्रि आदिकाल मे, सकल्प-विकल्प रूप आदि भावो मे किये गये अपराधो की निन्दा व गर्हा से युक्त होकर शुद्ध, मन, वचन, काम से आलोचन करना 'प्रतिक्रमण' है।

इसीप्रकार श्रावक भी आलोचना-पाठ के माध्यम से अपने द्वारा किये गये दोषो की निवृति करना चाहता है।

सुनिये जिन! अरज हमारी, हम दोष किए अति भारी।
तिनकी अब निवृति-काजा, तुम सरन लही जिनराजा॥

— *(आलोचना पाठ)*

इसप्रकार **आलोचना एव प्रतिक्रमण** के द्वारा जैन-परम्परा मे **आत्मनिरीक्षण** का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है, ताकि आत्मनिरीक्षण के द्वारा आत्म-पराक्रम को बढा सके। अशोक द्वारा आत्म-परीक्षण एव आत्म-पराक्रम की चर्चा करना उसके जैनत्व के सस्कारो का ही परिणाम है।

वचोगुप्ति

अशोक ने एक ऐसे देश मे जहाँ अनेक-धर्म प्रचलित हो, सहिष्णुता को परमकर्त्तव्य माना। सहिष्णुता का मूल उसके अनुसार वचोगुप्ति है। **"तस्य तु इव मूल वचोगुत्ति।"** "अपने ही धर्म की प्रशंसा और दूसरे धर्मों की निदा करने से बचना। इस आधार पर सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता के भाव की वृद्धि होगी।"

यहाँ ध्यान देने का बिन्दु यह है कि वचोगुप्ति जैनधर्म का पारिभाषिक-शब्द है।

अलियादि-णियत्ती वा मोण वा होदि वचिगुत्ती।"
— *(नियमसार, 6)*

झूठ आदि से निवृति या मौन वचनगुत्ति है। त्रिगुप्तियो मे मनगुप्ति, वचनगुप्ति एव कायगुप्ति का विशद-विवेचन हमे जैनग्रन्थो मे मिलता है।

सम्यग्वण्डो वपुष. सम्यग्वण्डतस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्वण्डो गुप्तीना त्रितयमवगम्यम्।।
— *(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 7/6-202)*

शरीर को भलीप्रकार शास्त्रोक्त-विधि से वश करना तथा वचन का भलीप्रकार अवरोधन करना और मन का सम्यक्रूप से निरोध करना — इसप्रकार तीन गुप्तियो को जानना चाहिये।

त्रिगुप्तियो को 'कर्मों की निर्जरा का साधन' माना गया है। 'छहढाला' मे स्पष्ट कहा गया है —

कोटि जनम तप तपे, ज्ञान बिन कर्म झरै जे।
ज्ञानी के क्षणमाहि, त्रिगुप्तितै सहज टरै ते।।
— *(छहढाला)*

अत. वचोगुप्ति जैसे पारिभाषिक-शब्द का प्रयोग अशोक के जैनत्व के सस्कारो की पुष्टि करता है।

भावशुद्धि

इसीप्रकार अपने दोषों को दूर करने के लिए भावशुद्धि पर अशोक ने जो बल दिया है, वह भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

अशोक सातवे शिलालेख मे कहता है — **"सवे तै सयम च भावसुधि च इछति।......विपुले तु पि वाने यस नास्ति सयमे, भावसुधिता व कतञता व वढभतिता च निचा बाढ।"**

"वे सभी सयम और भावशुद्धि चाहते है। जो बहुत दान नही कर सकता, उसके भी सयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, दृढभक्ति नित्य आवश्यक है।" जैनो मे भी त्रिगुप्ति मे वर्णित मनोगुप्ति — भावो की शुद्धि से ही

सम्बन्धित है, तथा जैनो की यह दृढ़-धारणा है कि —

"मनः एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयोः।"

अपव्ययता और अपभाण्डता

तृतीय-शिलालेख में अशोक कहता है — "अपव्ययता अपभाण्डता साधु" अल्पव्यय तथा अल्पबचत अच्छी है। यह सिद्धान्त जैनो के अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त से प्रेरित है, क्योंकि 'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा गया है —

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः। — *(तत्त्वार्थसूत्र, 15/7)*

अल्पारम्भ-परिग्रहत्व मानुषस्य। — *(तत्त्वार्थसूत्र, 17/7)*

"बहुत-आरम्भ और परिग्रह से नरक की आयु का आस्रव होता है तथा अल्पारभ-परिग्रह से मनुष्य-आयु का आस्रव होता है।" इन सिद्धान्तो की उत्कृष्टता यह है कि यदि नही भी है और उसकी इच्छा ही है, तब भी परिग्रह है — **"मूर्च्छा परिग्रहः।"** — *(तत्त्वार्थसूत्र, 17/7)*

इसीलिये जैनो मे 'भोगोपभोग-परिमाणव्रत' लिये जाने की परम्परा है।

उपरोक्त तत्त्वो के अतिरिक्त दया, दान, विनय, चिन्तन, तप, सहिष्णुता, समानता, मैत्री, सेवा, सुश्रूषा, कल्याण, इहलोक-परलोक, सच्ची-विजय, सच्चा-यश आदि अनेको ऐसे तत्त्व है, जिनके बारे मे अशोक की मान्यताये जैनत्व के सिद्धान्तो से मिलती है। इन सभी पर विस्तार से विवेचन करना एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध का विषय है। इस सक्षिप्त-आलेख मे सभी पर चर्चा करा सम्भव नही है।

सक्षेप मे अशोक के समान की प्राणीमात्र से मैत्री एव भ्रातृत्व का सचार, नैतिक-भावो का जागरण, परस्पर प्रेम एव सौहार्द की कामना प्रत्येक जैन-श्रावक नित्य करता है —

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।
— *(सामायिक-पाठ, आचार्य अमितगति)*

मैत्री-भाव जगत् मे मेरा सब जीवो से नित्य रहे।
दीन-दुःखी जीवो पर मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे।।
दुर्जन-क्रूर-कुमार्गरतो पर क्षोभ नही मुझको आवे।
साम्यभाव रक्खूँ मै उन पर, ऐसी परिणति हो जावे।।
— *(मेरी-भावना, प. जुगलकिशोर)*

भारतीय-सांस्कृतिक व भाषिक-एकता

✍ श्रीमती स्नेहलता ठोलिया

क्षेत्रीय-सकीर्णताओ सिमटकर अपने काल की परिस्थितियो को ही मन मे सजोकर व्यक्ति सीमित हो जाता है। वह अपने को अमुक-क्षेत्र, अमुक-सस्कृति का विशिष्ट-भाषाभाषी समझने लगता है। भारतीय-सस्कृति एव भाषाओ की भाषा एक ही है — इस तथ्य का बोध प्राकृतभाषा के सूक्ष्म-अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है। इस तथ्य को उजागर करने का नैष्ठिक-प्रयास विदुषी-लेखिका ने इस संक्षिप्त-आलेख मे किया है।

— सम्पादक

सिन्धुघाटी की सभ्यता से पूर्व के भारत की कहानी अत्यन्त-धुधली और अन्धकारपूर्ण है, परन्तु अब मोहनजोदडो, हडप्पा की खुदाइयो मे जिस सभ्यता के अवशेष मिले है, उनसे प्रमाणित होता है कि ऋग्वेदकाल से सदियो पूर्व 'सिन्ध के काठे' मे मानव-केन्द्रो की सभ्यता व सस्कृति उच्चकोटि की थी।[1] 'मोहनजोदडो' के खडहरो से प्राप्त योगीश्वर ऋषभ की कायोत्सर्ग-मुद्रा तथा वैदिक-वाड्मय मे वातरशना-मुनियो, केशी और व्रात्य-क्षत्रियो के उल्लेख आये है, जिनसे यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ पर विश्वास करनेवाले धर्म के प्रगतिशील-व्याख्याता तीर्थंकर प्रागैतिहासिक-काल मे भी विद्यमान थे।[2] निवृत्ति व अवसाद भी भारत की सनातन-परम्परा मे विद्यमान थे।[3] असख्य-मुहरो पर उभरी आकृतियो के प्रमाण से विदित होता है कि सैन्धवो मे 'वृषभ' समादृत था।[4] अब सभी इतिहासकार मानने लगे है कि इस सैन्धव-सभ्यता के निर्माता प्राग्वैदिक-द्रविड थे।

"द्रविडो के बाद आर्यजाति ने आते ही अपने पराक्रम, कूटनीति और बुद्धिबल के कारण इनको स्वायत्त कर लिया।[5] आर्यों ने इनको अनार्य, अदेवयु (वैदिक देवताओ के प्रति उदासीन), देवपीयु (उनके विरोधी), अयज्वन (यज्ञ न करनेवाले), अकर्मन् (क्रियानुष्ठानो से रहित), शिश्नदेवा (लिगपूजक), अन्यव्रत, मृधृवाक् (अबूझ-बोली बोलनेवाली) आदि सज्ञाये दी।[6] पाणिनी जैसे पुरोहितो ने 'श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष' का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप मे किया।[7] चूँकि आर्य भारत पहुँचने के पूर्व अधिकतर घुमक्कड और मनमौजी-जीव रहे थे, अत: प्रकृति के सौन्दर्य पर चकित हो प्रवृत्ति व आशावाद के स्वर से सारे समाज को पूर्ण कर दिया।[8] किन्तु वैदिक-आशावाद और उत्साह की प्रबलता चिरस्थायी नही रह सकी और जो लोग उत्साह की ऋचाये रचते थे, वे स्वय ही 'अवसाद का गीत' गाने लगे।[9]

आगे जब आर्यों का यज्ञवाद 'भोगवाद' का पर्याय बनने लगा और आमिषप्रियता से प्रेरित कुछ लोग जीवहिसा को धर्म मानने लगे, तो इस देश की सस्कृति यज्ञ और जीवघात — दोनो से विद्रोह कर उठी। तीर्थंकर महावीर व बुद्ध इस सस्कृति के उद्घोषक रहे। यदि आर्यों का यज्ञवाद खुल्लमखुल्ला-जीवहिसा को औचित्य प्रदान नही करता तथा यदि कुछ लोग धर्म को अपनी भोगलोलुपता का साधन नही बनाते; तो वैदिकधर्म के प्रति उठनेवाले विद्रोह के स्वर कटुता तक नही पहुँचते और ना ही उसे जैन व बौद्धमत की निवृत्तिपरक- विचारधारा से उतनी शक्ति प्राप्त हुई होती।[10]

हमारे समाज की बहुत-सी रीतियाँ तथा धर्म के बहुत से अनुष्ठान ऐसे हैं, जिनका उल्लेख वेदों में नही मिलता। उनके बारे में विद्वानों का मत है कि उनका विकास आर्य व आर्येतर दोनो संस्कृतियों के मूल से हुआ है।"[11] चूँकि भाषा का सम्बन्ध मानव से है, अतः उसका सीधा सम्बन्ध उसकी संस्कृति से भी है। संस्कृति के विकास से भाषा मे भी विकास होता है। विकास की इस अविदित-गति से भाषा का एक इतिहास हो जाता है, जिससे उस भाषा में लिखे साहित्य के द्वारा हम अपने समाज की परिवर्तनशील-प्रवृत्ति का ही नही, अपितु सस्कृति का भी परिचय पाते हैं।

"सिन्धु-सभ्यता के नागरिक एक लेखन-शैली का प्रयोग करते थे और कला मे दक्ष थे।[12] किन्तु उस प्राचीन-भारत की मूलभाषा या बोली का क्या रूप था — यह स्पष्ट नही है। **उस युग मे भी कोई जनभाषा अवश्य थी और यह जनसाधारण मे बोली जानेवाली साहित्यिक-पाश से मुक्त 'प्राकृत' ही थी।**[13] "बाद मे आर्यों ने यज्ञपरायण-सस्कृति के प्रसार, प्राकृतिक-शक्तियो के पूजन, देवत्व-विषयक भावनाओ के अभिव्यजक एव बौद्धिक-चिन्तन से सम्बद्ध विपुल-साहित्य का निर्माण किया, जो वेद की भाषा के रूप मे 'छान्दस्' कहलायी।[14] पाणिनी जैसे पुरोहितों को भय था कि उनकी पवित्र-भाषा मे कही दूसरी देशज-भाषाओ के असस्कृत-शब्द न घुस आये, इसलिये उनके द्वारा 'छान्दस्' का भी परिष्कार किया गया, जिससे नई भाषा 'सस्कृत' का आविर्भाव हुआ।[15] इसके भी पद, वाक्य, ध्वनि एव अर्थ — इन चारो अगो को विशेष अनुशासनो मे आबद्ध कर दिया।[16] तथा सस्कृत के सामान्य-मानदण्ड से जो शब्दच्युत थे, उनके लिए 'अपभ्रश' या 'अपभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया।[17] पाणिनी का जन्म गान्धार मे 'शालातुर' गाँव मे तथा शिक्षा 'तक्षशिला' मे सम्पन्न हुई थी। दोनो ही स्थान उदीच्य-प्रदेश मे होने के कारण परिनिष्ठित-भाषा 'उदीच्य-विभाषा' के नाम से जानी जाती थी। यह वही भाषा है, जिसे आधार मानकर महर्षि पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की और सस्कृतभाषा की आधारशिला को दृढ़ बनाया।[18] ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद्-साहित्य भी इसी विभाषा मे लिखा गया है। 'छान्दस्' मे जो जनतत्त्व समाविष्ट थे, वे अनुशासित किये जाने पर भी सर्वथा परिमार्जित नही हो पाये और उनका विकास होता रहा; फलतः **'छान्दस्' का मौलिक विकसित-रूप 'प्राकृत' कहलाया।**[19] यही प्राकृत 'प्राच्य' उपभाषा के नाम से जानी जाती थी। इसमे 'द्राविड' एव 'मुण्डा' भाषा के तत्त्वो का पूर्ण मिश्रण था। इस भाषा को बोलनेवाले ऐसे लोग थे, जिनका विश्वास यज्ञीय-सस्कृति मे नही था, ये 'व्रात्य' कहलाते थे। बुद्ध और महावीर इन्ही व्रात्यो मे से थे। इन दोनों ने परिनिष्ठित उदीच्य-भाषा के आधिपत्य को हटाकर उसके विप्रत्व और शिष्टत्व के वर्तुल से निकलकर जनभाषा या मातृभाषा-प्राकृत में ही अपने उपदेश दिये।[20] जो बालक, महिला आदि को सहज सुबोधगम्य है और सकल-भाषाओ का मूल है, यह प्राकृतभाषा है।[21] यह भी ज्ञातव्य है कि 'पुष्पदन्त' और 'भूतबलि' नामक दोनो आचार्यों ने द्रविड-देश में जाकर 'षट्खण्डागम' के सूत्रो की रचना इसी प्राकृतभाषा **प्राचीन शौरसेनी** मे की। इसके पश्चात् तो कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने इस भाषा को सार्वभौमिकता प्रदान की। इसप्रकार दिगम्बर जैन आगम-ग्रन्थो की यह मूलभाषा बन गयी।[22]

सस्कृत का रूप स्थिर हो जाने पर उसकी कठिनता के कारण जन-समाज की भाषा अपने ही क्षेत्र मे उन्नति करती गयी। उसके बाद उसका सर्वप्रथम रूप हमे अशोक के शिलालेखो तथा बौद्ध और जैनधर्म-ग्रन्थो में मिलता है। प्राचीन-प्राकृत को 'पालि' नाम भी दिया गया है। 'पालि' मे भी साहित्यिक-गाभीर्य आने के

कारण उसी के साहचर्य से निकली हुई साधारण-भाषा हमारे सामने मध्यकालीन-प्राकृत के विशिष्ट-रूप मे आती है।[23] भरत के समय तीसरी शताब्दी ई.पू. मे यही लोकभाषा स्पष्ट पृथक्-स्वीकृत भाषा हो गयी।[24] सस्कृत-पण्डितो के अनुसार प्राकृतभाषा 'असस्कृत-भाषा' के रूप मे कही गयी। इस साहित्यिक-प्राकृत के भी मुख्यरूप से पाँच भेद है —

1	शौरसेनी	— यह मूलतः मथुरा या शूरसेन-प्रदेश की बोली थी।
2	पैशाची	— यह भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश की बोली थी।
3	मागधी	— यह देश के पूर्वीभाग अर्थात् मगध-प्रदेश की भाषा है।
4.	अर्धमागधी	— यह मागधी और शौरसेनी के बीच के भाग की भाषा थी, श्वेताम्बर जैन-आगमो की अर्धमागधी मे इसका स्वरूप अधिक कृत्रिम कर दिये जाने से यह लोकभाषा नही बन सकी।
5	महाराष्ट्री प्राकृत	— यह शौरसेनी का परवर्ती-विकसित रूप है।[25]

"जब साहित्य का निर्माण इन प्राकृतो मे होने लगा और वैयाकरणो ने इन्हे व्याकरण के कठिन-नियमो मे बाधना प्रारम्भ कर दिया, तो जनसाधारण की भाषा मे इस साहित्यिक-प्राकृत से फिर अन्तर होना प्रारम्भ हो गया। जिन बोलियो के आधार पर प्राकृतभाषाओ का निर्माण हुआ था, वे अपने स्वाभाविक-रूप मे विकसित हो रही थी तथा प्राकृत की साहित्यिकता से निकलने का प्रयत्न कर रही थी। तभी प्राकृत के वैयाकरणो ने उसे हीनदृष्टि से देखते हए 'अपभ्रश' नाम दे दिया। वैयाकरणो ने तो अपने व्याकरण के सिद्धान्त से इसे भ्रष्ट हुई साबित किया, पर वस्तुतः यह 'अपभ्रश' प्राकृत की विकसित-अवस्था का ही नाम है। मार्कण्डेय के विचार से मुख्य 3 अपभ्रश-भाषाये है — नागर, ब्राचड, उपनागर। प्राकृत मे शौरसेनी-प्राकृत की तरह अपभ्रश मे 'नागर-अपभ्रश' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। 'नागर-अपभ्रश' मुख्यत. गुजरात मे बोली जाती थी, 'ब्राचड' सिन्ध मे तथा 'उपनागर' सिध के बीच के प्रदेश मे पश्चिम-राजस्थान और दक्षिण-पजाब मे बोली जाती थी।[26] छठी शताब्दी ई. मे अपभ्रश का स्वर्णकाल प्रारम्भ हुआ, जिसमे उच्च-साहित्य की रचना प्रारम्भ हुई। परिनिष्ठित अपभ्रश-भाषा दसवी शताब्दी तक प्रचलित रही, उसके बाद दसवी शताब्दी से इस भाषा ने अनेक शाखाओ मे विभाजित होकर नवीन नाम धारण किये तथा अनेक-स्थानो से बोले जाने वाले अपभ्रश अनेक प्रकार की भाषाओ मे परिवर्तित हो गये। प्रान्तभेद के अनुसार 'नागर' या 'शौरसेनी अपभ्रश' से हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी और पजाबी का विकास हुआ। 'मागधी अपभ्रश' से बगला, बिहारी, आसामी और उडिया का तथा 'महाराष्ट्री अपभ्रश' से 'मराठी' का विकास हुआ। 'ब्राचड़' से 'सिन्धी भाषा' का जन्म हुआ।

प्रान्तभेद से तो 'नागर' या 'शौरसेनी अपभ्रश' अनेक भाषाओ मे रूपातरित हुई, किन्तु हिन्दी के विकास मे काव्य अथवा रीति के भेद से वह 2 भागो मे विभाजित हुई — (1) डिगल (2) पिगल। 'डिगल' राजस्थान की साहित्यिक-भाषा तथा 'पिगल' ब्रज-प्रदेश की साहित्यिक-भाषा है।[27] आगे जाकर हिन्दी-साहित्य का विस्तार अनेक बोलियो मे पाया जाता है। इन बोलियो के आधार पर जिसप्रकार के साहित्य की रचना हुई, वे है — (1) सिद्धयुग का साहित्य, (2) जैन-साहित्य, (3) राजस्थानी-भाषा का साहित्य, (4) ब्रजभाषा का साहित्य, (5) अवधी का साहित्य, (6) बुदेलखण्डी-साहित्य, (7) मैथिली-साहित्य, (8) खडी-बोली का साहित्य।[28]

"जब अपभ्रश मे आधुनिक-भाषाओ के चिह्न दृष्टिगत हुये, तो श्वेताम्बर का साहित्य अधिकतर 'गुजराती' मे लिखा गया और दिगम्बर-सम्प्रदाय का साहित्य हिन्दी आदि में।" अतः जहाँ तक हिन्दी-भाषा का सम्बन्ध है, यह अपभ्रश की साक्षात्-उत्तराधिकारिणी है।[29]

इसप्रकार प्राकृतस्रोत वैदिककाल से लेकर अप्रतिहतरूप से प्रवाहित होता आ रहा है। सस्कृत को नियम और अनुशासनो के घेरे मे इतना आबद्ध कर दिया गया कि जिससे उस भाषा मे आवर्त्त व विवर्त की लहरे उत्पन्न न हो सकी। यही कारण है कि प्राकृत और सस्कृत दोनो के एक छान्दस्-स्रोत से प्रवाहित होने पर भी एक 'समृद्ध-यौवना' बनी रही और दूसरी 'कुमारी-युवती'। अपभ्रश भी 'बाझ' नही है। उसने भी हिन्दी, बगला, गुजराती एव मराठी, पजाबी, राजस्थानी आदि भाषा-सन्तानो को जन्म दिया है।[30]

इसमे सन्देह नही कि प्राकृत व अपभ्रश-साहित्य का विपुल-भण्डार है। यह श्रेय भी जैन-समाज को है, जिसने सस्कृत के साथ प्राकृत, अपभ्रश और प्रान्तीय-भाषाओ के सृजन को न केवल प्रेरणा देकर महत्त्व प्रदान किया, प्रत्युत उसे सुरक्षित भी रखा, किन्तु किन्ही कारणो से वे वृहत्तर भारतीय-भाषा और साहित्य के सन्दर्भ मे उसका वस्तुनिष्ठ साम्प्रदायिक-साहित्य नही, बल्कि देश की मुख्यधारा से जुडा हुआ साहित्य है।[31]

परवर्ती अन्य भारतीय-आर्यभाषाओ के साथ अपभ्रश का घनिष्ठ-सम्बन्ध होते हुये भी यह सच है कि इस भाषा एव साहित्य की उपेक्षा हुई है। और इस उपेक्षा के कारण ही हिन्दी-भाषा (खडी बोली) की उत्पत्ति और उसके साहित्य की विधाओ के स्रोत का प्रश्न दिग्भ्रम में पडा हुआ है। प्रत्येक प्रश्न का हल नया प्रश्न बन जाता है।[32]

हिन्दी-मुख्यधारा के प्रथम-सृष्टा अपभ्रश के कवियो को विस्मरण करना हमारे लिए बहुत हानिकारक है। विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी व तुलसी — ये उज्जीवक व प्रथम-प्रेरक रहे हैं।[33] हमारे मध्यकालीन कवियो ने अपना नाता सिर्फ सस्कृत के कवियो से जोडे रखा, जिससे हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक-विकास की यह महत्त्वपूर्ण कडी काव्य-परम्परा से टूटकर अलग जा पडी। बीच की पाँच सदियो के अपभ्रश-काव्यो का थोडा-सा भी अनुशीलन हमे लाभ ही पहुँचायेगा।[34] अतः वृहत्तर भारतीय-सस्कृति और उसके गतिशील-मूल्यो को समग्रतर-अध्ययन तभी सभव है; जब सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रश तथा सभी लोकभाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन हो।

भारत मे बसनेवाली कोई भी जाति यह दावा नही कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारो पर उसी का एकाधिकार है। भारज आज जो कुछ है, उसकी रचना मे भारतीय-जनता के प्रत्येक-भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी-बात को नही समझ पाते है, तो फिर हम भारत को भी समझने मे असमर्थ रहेगे। और यदि हम भारत को नही समझ सके, तो हमारे भाव-विचार और काम सब के सब अधूरे रह जायेगे और हम देश की ऐसी कोई सेवा नही कर सकेगे, जो ठोस और प्रभावपूर्ण हो।[35]

आर्यों को भारतभूमि का आदि-निवासी और एकाधिकारी मानना या उन्हे ही केवल हिन्दूधर्म तथा हिन्दू-सस्कृति का एकमात्र निर्माता स्वीकार करना कदाचित् उपयुक्त न होगा। सस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र मे जितना भी उत्तराधिकार आज भारत को उपलब्ध है, उसके निर्माण और अभ्युत्थान मे आर्येतर-जातियो का उतना ही हाथ रहा है, जितना कि आर्य-जाति का।[36] ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 सन्दर्भ सं 1, 4, 6, 12 डॉ रमाशंकर त्रिपाठी, 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृ.सं. क्रमशः 14, 31, 24, 31

2 सन्दर्भ स 2 डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', भाग 1, पृ 3

3. सन्दर्भ स 3, 7, 8, 9, 10, 11, 35 रामधारी सिंह दिनकर, 'सस्कृति के चार अध्याय', पृ स क्रमश 72, 58, 70, 72, 71, 86 प्रस्तावना 16

4 सन्दर्भ स 5, 36 वाचस्पति गैरोला, 'सस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ क्रमशः 26, 27.

5 सन्दर्भ स 13, 15, 26, 27, 28 डॉ रामकुमार वर्मा, 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ क्रमश 44, 45, 46-47, 48-49, 42-43

6 सन्दर्भ स 14, 16, 18, 19, 20, 21, 22, 30 नेमिचन्द्र शास्त्री, 'प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ क्रमश. 2, 10, 5, 10, 5, 14, 44, 10

7 सन्दर्भ स 17 पुरुषोत्तम प्रसाद आसोपा, 'आदिकाल की भूमिका', पृ 13

8 सन्दर्भ स 24 वीरेन्द्र श्रीवास्तव, 'अपभ्रश भाषा का अध्ययन', पृ 5

9 सन्दर्भ स 25, 29 डॉ शम्भूनाथ पाण्डेय, 'अपभ्रश और अवहट्ट' · एक अर्न्तयात्रा, पृ क्रमश· 21 22, 4

10 सन्दर्भ स 31, 32 डॉ देवेन्द्र कुमार जैन, 'रिट्ठणेमिचरिउ' प्राक्कथन, पृ स क्रमश 10, 11, 12

11 सन्दर्भ स 33, 34 राहुल साकृत्यायन, 'हिन्दी काव्यधारा', अवतरणिका, पृ 12, प्रारम्भ मे मुख्य पृष्ठ। ❖❖

वाक्-निग्रह को व्रत माना है

"भास विणयविहूण, धम्मविरोही विवज्जवे वयण।
पुच्छिवमपुच्छिव वा ण वि ते भासति सप्पुरिसा।।"

— (आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार 8/88)

अर्थ *— वे सत्पुरुष विनयहीन-भाषा नही बोलते है। जो धर्म से सम्मत और अविरोधिनी होती है, वही भाषा वे (मुनि) बोलते है।* ❖❖

विद्याध्ययन का क्रम

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मये नवीमुखेनेव समुद्रमाविशत्।।

— (रघुवश, 3/28)

अर्थ *— महाराज अयोध्यापति दिलीप ने अपने आत्मज कुमार रघु का यथाविधि-चूडाकर्म (गर्भकेश-मुण्डन) सस्कार किया। वह कुमार शिर पर नये निकले मसृण-मदुल श्याम-केशो से (जिन्हे कौवे के पखो जैसा कृष्ण होने से काकपक्ष कहते है) शोभायमान अपने समान तुल्यरूप-वयः मंत्रिपुत्रो के साथ गुरुकुल मे जाने लगा। वहाँ उसने स्वरव्यञ्जनात्मिका-लिपि का ज्ञान प्राप्त किया, जिससे उसे शब्द-वाक्यादिरूप आरम्भिक-वाड्मय मे प्रवेश करना उसीप्रकार सरल हो गया, जैसे नदी मे बहकर आनेवाले किसी मकरादि जलचर-पशु को समुद्र-प्रवेश सुलभ हो जाता है।* ❖❖

प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों की सम्पादकीय-अवहेलना

✍ प्रभात कुमार दास

प्राचीन संस्कृत के नाटककारो ने नाट्य-साहित्य तत्तत्युगीन विभिन्न-प्राकृतो के क्षेत्र-कालानुरूप एव पात्रानुरूप प्रयोग करके प्राकृत के लोकजीवन के रूपो को अमृतत्व प्रदान करने का सार्थक एव सबल-प्रयास किया था; जो कि न केवल नाट्यशास्त्रीय-दृष्टि से, अपितु भाषाशास्त्रीय-दृष्टि से भी अत्यन्त सफल रहा था। किंतु आधुनिक-सम्पादको ने सस्कृत-पाठ्यक्रमो मे इनकी 'सस्कृत-छाया' बनाकर नाट्यशास्त्र एव भाषाशास्त्र — दोनो दृष्टियो से स्वरूप-विकृत करने का जो कार्य किया है; उसकी सप्रमाण-झलक इस आलेख से प्राप्त होती है।

— सम्पादक

वैदिक वाङ्मय मे चार वेदो की सृष्टि नैतिक एव आध्यात्मिक-दृष्टि से की गई। इससे व्यक्ति की नैतिक एव आध्यात्मिक-आवश्यकताओ की काफी हद तक पूर्ति हुई, किन्तु लोकरजक एव सास्कृतिक-अभिरुचि की पूर्ति के लिए कोई साधन उपलब्ध नही था। किवदन्ती है कि तब मनुष्यो और देवताओ ने जाकर ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि "हमारे लिए मनोविनोद का कुछ साधन बताइए", तब ब्रह्मा जी ने 'ऋग्वेद' से कथातत्त्व, 'यजुर्वेद' से अभिनय, 'सामवेद' से सगीत तथा 'अथर्ववेद' से रसतत्त्वो को लेकर 'पचमवेद' नाम से 'नाट्यवेद' की सृष्टि की; जिससे देवताओ और मनुष्यो के मनोविनोद एव सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। यह 'नाट्यवेद' की परम्परा लोकजीवन मे बहुप्रचलित रही तथा ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के सम्राट् खारवेल के शिलालेख मे इसे ही 'गधर्ववेद' के नाम से भी उल्लिखित किया गया है। इस उल्लेख से प्रमाणित होता है कि यह नाट्यवेद पहिले 'गधर्ववेद' के नाम से जाना जाता था। लोकजीवन मे जनसामान्य से लेकर सम्राट् तक इसकी शिक्षा प्राप्त करते थे। यद्यपि यह नाट्यवेद आज उपलब्ध नही है, किन्तु इसी नाट्यवेद या गधर्ववेद के आधार पर आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की थी, जो कि आज उपलब्ध है। वर्तमान-परम्परा मे रचित जितने भी प्राचीन-नाट्यविद्या के ग्रन्थ है, वे सभी इसी नाट्यशास्त्र मे वर्णित-परम्परा एव निर्देशो पर आधारित हैं।

नाट्य-साहित्य का लोकजीवन मे बहुत व्यापक प्रभाव रहा। क्योंकि यही एकमात्र ऐसा साहित्य था, जो दृश्य एव श्रव्य — दोनो विधाओ से लोकरजन करता था। इसके साथ ही इसमे लोकजीवन के पात्रो के अनुरूप विविध-भाषाये, अनेक प्रकार की वेशभूषाये, विभिन्न-प्रकार के चरित्र आदि जीवन्तरूप मे लोगो का मनोरजन करते थे। साथ ही इनके द्वारा विभिन्न-क्षेत्रो की संस्कृतियों, इतिहास एव परम्पराओ आदि का भी बोध होने से शैक्षिक-जगत् मे भी इनकी व्यापक-उपादेयता थी, जो आज तक अनवरतरूप से बनी हुई है। उपने उपर्युक्त गुणों के कारण ही नाट्य-साहित्य की सम्पूर्ण-विधाओं मे सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक-विधा माना गया और 'काव्येषु

नाटक रम्य' जैसी उक्तियाँ नीतिवाक्य के रूप मे प्रचलित हुईं। ये सभी नाट्यसाहित्य के अद्वितीय-महत्त्व को स्पष्टरूप से रेखांकित करती है।

भरतमुनि 'नाटक' की कथावस्तु के विषय में अपना मत स्पष्ट करते हुए कहते है कि "देवता, मनुष्य, राजा एव महात्माओ के पूर्ववृत्त की अनुकृति 'नाटक' है।" समय के अन्तर से नाटक का दूसरा नाम 'रूप' या 'रूपक' हुआ; क्योंकि यह आँखो से देखा जाता था, इसलिए 'रूप' था, और अतीत के व्यक्तियों का आज के नाटक करनेवाले पात्रो में आरोप होता था, इसलिए इसको 'रूपक' सज्ञा दी गई —

"अवस्थानुकृति नाट्य रूप दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्॥"

— *(दशरूपकम्)*

भारतीय-परम्परा 'नाटक' की उत्पत्ति अलौकिक-सिद्धान्त के आधार पर मानती है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' मे बताया कि ब्रह्मा जी ने 'ऋग्वेद' से पाठ्य (सवाद), 'सामवेद' से सगीत, 'यजुर्वेद' से अभिनय, 'अथर्ववेद' से रस के तत्त्वो को लेकर नाट्यवेद की रचना की; परन्तु एक विचारधारा नाटक की उत्पत्ति लोकप्रचलित-नृत्य और सगीत के उपकरण से मानती है। लोक मे प्रचलित विविध-मनोविनोदो, नृत्यो, अभिनयो से इसके स्वरूप को थोडा परिष्कृत करके 'रूपक' की शास्त्रीय-सज्ञा दी गई और बाद मे उनमे से कुछ को अधिक पल्लवित और सस्कारित करके 'उपरूपक' बना दिया गया।

'रूपक' के कालान्तर मे कई भेद हो गये। स्वय आचार्य भरतमुनि ने दश प्रकार के रूपको की चर्चा की है। परवर्ती-काल में उपरूपको का भी विकास हुआ। इन रूपको एव उपरूपको के द्वारा नाट्य-साहित्य की परम्परा चिरकाल से पुष्पित और पल्लवित होती रही है।

इस परम्परा का महत्त्व जहाँ सास्कृतिक एव साहित्यिक-दृष्टि से विशेष रहा, वही भाषिक-दृष्टि से भी यह अत्यन्त उपयोगी रही है। एक किम्वदन्ती है कि "कोस-कोस पर बदले पानी, तीन कोस पर बदले वाणी।" अर्थात् जल के गुण, स्वाद आदि एक कोस की दूरी पर बदल जाते है तथा वाणी का स्वरूप तीन कोस की दूरी पर बदल जाता है। तथा कालक्रम से भी वचनात्मक-स्वरूप मे व्यापक-परिवर्तन आते ही है। क्षेत्र एव काल के क्रम से परिवर्तित एव परिवर्धित होती इसी वाणी के स्वरूप को भाषिक-वर्गीकरणो मे परिलक्षित किया जाता है। यद्यपि आचलिक एव क्षेत्रीय अल्पायुवाले भाषिक-स्वरूप भी अनेको हुए है, तो कुछ अतिव्यापक एव अपेक्षाकृत-चिरजीवी-भाषाये भी रही है। इन सभी मे मानवमात्र के विचारों एव अनुभूतियो के साथ-साथ कल्पनाओ के सतरंगी-ससार को भी स्वर प्रदान किये है।

अतिप्राचीनकाल से भारत की दो प्रधान साहित्यिक-भाषाओ — 'सस्कृत' और 'प्राकृत' मे व्यापक साहित्य-सृजन प्रत्येक कालखण्ड मे होता रहा है। दोनो भाषाओ मे अलग-अलग विविध-विषयो के अपार-ग्रंथ लिखे गये, किन्तु एकमात्र नाट्य-साहित्य ही ऐसा हैं, जिसमें दोनो भाषाओं का युगपत्-प्रयोग उपलब्ध होता है। तथा नाट्य-साहित्य होने से इसमें उपलब्ध भाषिक-प्रयोग लोकजीवन के पात्रों एवं परम्पराओ से अत्यन्त निकटता रखते हैं, इसीलिये वे नाटक इन भाषाओ के जीवन्त-प्रयोगों के अनुपम-साक्ष्य हैं। किन्तु बीसवी

शताब्दी मे आधुनिक-सम्पादकों ने इन नाटकों का सम्पादन करते समय एक ऐसा भीषण-अपराध किया है, जो कि समस्त भाषा-शास्त्रीय एव सम्पादकीय मानदण्डों के नितान्त-विरुद्ध है; वह है इन नाटको मे प्रयुक्त प्राकृतभाषायी-अश का सस्कृत-छायाकरण। इस नितान्त अवैज्ञानिक-प्रयोग के कारण जो विकृतियाँ नाट्य-साहित्य मे आयी हैं, जो सस्कृत-छाया के अवैज्ञानिक-प्रयोग विद्वानो ने किये है, उनमें जो दोष आते है, उनका सक्षिप्त, वर्गीकृत-विवेचन निम्नानुसार है —

1. अर्थभेद

प्राकृतभाषा के मूलपाठो की जब मात्र तुकान्तता के आधार पर सस्कृत-छाया बनायी जाती है, तो कभी-कभी ऐसी स्थिति बन जाती है कि मूल प्राकृत-पाठ का अर्थ कुछ है और सस्कृत-छाया के पाठ का अर्थ उससे बिल्कुल अलग हो जाता है। ऐसी स्थिति मे जो मात्र सस्कृत-छाया के आधार पर इन नाटको को पढते-पढाते और अनुवाद आदि कार्य करते हैं, उन्हे अर्थबोध के स्थान पर अर्थान्तर-ज्ञान की स्थिति होने पर वे प्रायः मूल-लेखक के अभिप्राय से भिन्न ही अर्थ समझ लेते हैं। यह अत्यन्त चितनीय-स्थिति है, क्योंकि इससे परम्परा के स्वरूप की हानि की आशका होती है। ऐसे अनेको रूप सस्कृत-छाया के पाठो मे मिलते हैं।

उदाहरण-स्वरूप महाकवि राजशेखर की **'कर्पूरमजरी'** की **'प्रथम जवनिका'** के पद्य-क्रमाक 7 विचारणीय है। इसमे **'अत्थविसेसा'** इस प्राकृत-पद का प्रयोग हुआ है, जबकि सस्कृत-छाया मे **'अर्थनिवेशा'** पाठ दिया गया है, जो कि मूलपाठ की दृष्टि से समानार्थ का बोध नही कराता। इसीप्रकार महाकवि कालिदास-प्रणीत **'विक्रमोर्वशीयम्'** नाटक मे आगत **'अणुमिआ'** पद का सस्कृत-छाया में **'अज्ञात'** पाठ दिया गया है, जो कि पूर्णतः अर्थभेद रखता है। यह नितान्त शब्दभेद एवं अर्थभेद की दृष्टि से विचारणीय है। जिसके लिए सस्कृत-छायाकार ही उत्तरदायी है; क्योंकि उन्होने पाठको व छात्रो को ऐसे पदो का प्रयोगकर पूर्णतः दिग्भ्रमित कर दिया है।

2. व्याकरणिक दोष

प्राकृत के मूलपाठों में जो रूप (शब्दरूप या धातुरूप आदि) की दृष्टि से पाठ होते हैं। कभी-कभी ढाँचागत-भेद होने के कारण सस्कृत मे उनका स्वरूप बदलता ही है। यथा — प्राकृत में द्विवचन का अभाव होने से 'दो' के लिए ही बहुवचन का प्रयोग होता है। जबकि सस्कृत मे उसके लिए द्विवचन का प्रयोग किया जाना ही उचित है।

इसीप्रकार प्राकृत मे 'चतुर्थी' के स्थान पर 'षष्ठी' विभक्ति का प्रयोग होने से भी उसकी सस्कृत-छाया मे 'चतुर्थी' का ही रूप दिया जाना सस्कृत के अनुरूप है। अनुरूप-स्थितियाँ धातुरूपो के प्रयोगो मे भी पायी जाती है।

ये प्रक्रियाये यद्यपि सस्कृत के व्याकरणिक-ढाँचे के अनुरूप हैं, किन्तु इससे प्राकृतभाषा मे 'द्विवचन' एव 'चतुर्थी' के रूपों के अस्तित्व का भ्रम होता है। क्योंकि पाठकगण व छात्र तो सस्कृतछाया के आधार पर ही प्राकृत का निर्णय करेंगे। मूल-प्राकृत को पढने-पढ़ाने की तो परम्परा ही संस्कृत-छायाकरण की प्रवृत्ति ने नष्ट कर दी है।

साथ ही कही-कही प्राकृत-मूलपाठों की सस्कृत-छाया बनाने मे व्याकरणिक-दृष्टि से भी दोष आ जाते हैं। यथा — **महूसवो > महोत्सवे** पाठ में 'प्रथमा' के स्थान पर सस्कृत-छाया में 'सप्तमी' विभक्ति का प्रयोग

हो गया है। इसीप्रकार '**कर्पूरमजरी**' सट्टक में '**मए**' की **संस्कृत-छाया** '**माम्**' **के रूप** मे दी गयी है। जो कि '**तृतीया**' **विभक्ति के स्थान पर** '**द्वितीया**' **विभक्ति** का प्रयोग है। इसीप्रकार '**कर्पूरमजरी**' मे '**लकागिरिमेहलाहिं**' इस तृतीया-बहुवचनान्त प्रयोग की जगह '**लकागिरिमेखलाया**' यह सप्तमी-एकवचनान्त का प्रयोग सस्कृत छायाकार ने दिया है।

3. शब्दभेद

प्राकृत के मूल-शब्द सस्कृत-छायाकारो ने मनमर्जी से बदलकर उनके स्थान पर उससे मिलते-जुलते अर्थवाले भिन्न-शब्दो का प्रयोग कर उसका सस्कृत-छाया नामकरण भी दूषित कर दिया है। उदाहरणस्वरूप 'कर्पूरमजरी' आठवे पद्य मे —

"परुसा सक्कयबधा पाउअबधो वि होइ सुउमारो" की सस्कृत-छाया मे **"परुषा सस्कृतगुम्फा प्राकृतगुम्फोऽपि भवति सुकुमारः"** — ऐसा प्रयोगकर '**बंध**' शब्द के स्थान पर '**गुम्फ**' शब्द का प्रयोग किया गया है, जबकि सस्कृत मे भी '**बध**' पद का प्रयोग सुसगत है।

इसीप्रकार 'कर्पूरमजरी' मे '**आवज्ज**' इस प्राकृत पाठ के लिए '**आवेग**' यह सस्कृत-छाया दी गयी है। इसमे तुकान्तता भले ही प्रतीत होती है, किन्तु यह स्पष्टरूप से शब्दभेद भी हैं; जो कि अर्थभेद का प्रदर्शन भी करता है।

4. पदलोप

प्राकृतभाषा के अश मे जितने पदो या शब्दो का प्रयोग होता है, उनकी सस्कृत-छाया मे कभी-कभी असावधानीवश किसी पद या शब्द का प्रयोग छूट जाने से मात्र सस्कृत-छाया को पढनेवालो के लिए वह मूलपाठ गायब ही हो जाता है। तथा कभी-कभी मात्र अभिप्राय को लेकर सस्कृत-छाया बनानेवाले सम्पादक उसी अभिप्राय के अन्य कोई संक्षिप्त-पद प्रयुक्त कर देते है, तो कभी-कभी जानबूझकर भी कोई पद छोड दिया गया है।

उपर्युक्त-स्थितियो मे से कोई भी स्थिति हो, किन्तु मूलग्रन्थ-कर्त्ता के पाठ का लोप करने के अपराध से वे नही बच सके है। यह अक्षम्य-स्थिति है। इसके कतिपय दृष्टान्त द्रष्टव्य हैं — '**इअ जस्स पएहिं परम्पराइ**' की '**इत्येतस्य परम्परया**' सस्कृत-छाया दी गयी है। यहाँ '**पएहि**' पद का लोप हो गया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे भी एक जगह '**तओवण**' की संस्कृतछाया मे मात्र '**वन**' का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'तपो' पद का लोप हुआ है।

'**कप्पूरमंजरी**' मे ही एक जगह प्रयुक्त '**सहसा**' पद का सस्कृत-छायाकार ने पूर्णतः लोप कर उसके स्थान पर यादृच्छिक-रूप से '**भुवने**' पद का प्रयोग अपनी ओर से कर दिया है।

5. **छन्दानुरूप आदर्श-प्रयोगो का अभाव** — एक भाषा से दूसरी भाषा मे मात्र छायाकरण करने पर यह विरूप-स्थिति बनना अत्यन्त-स्वाभाविक है; क्योंकि दोनो के वर्ण-प्रयोगो की, शब्द एव धातुरूपो आदि की स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी सस्कृत-छाया के छन्द को देखकर कोई भी पाठक या छात्र यह कैसे अनुमान लगा सकता है कि मूलकर्त्ता ने कैसा छन्द प्रयोग किया था? अथवा सस्कृत-छाया के छन्द मे जो मात्रागत या वर्णगत-दोष प्राप्त हो रहे हैं, वे मूल-छन्द में नहीं थे? यथा —

(प्राकृत मे) "चित्ते वहुट्टवि ण खुट्टवि सा गुणेसुं,
सेंज्जाइ लुट्टवि विसप्पवि विहमुहेसु।
वोलम्मि वट्टवि पवट्टवि कव्वबधे,
झाणे ण तुट्टवि चिरं तरुणी तरट्टी॥"

(संस्कृत मे) "चित्ते प्रस्फुटति न क्षीयते सा गुणेषु,
शय्याया लुठति विसर्पति विङ्मुखेषु।
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबंधे,
ध्याने न त्रुट्यति चिर तरुणी चलाक्षी॥"

यह 'वसन्ततिलका' छन्द है, जिसके सस्कृत-छायाकरण मे छन्दगत नियम का उल्लघन हुआ है। ऐसी सूक्ष्मता से देखा जाये, तो प्राय: प्रसिद्ध-छन्दो का सस्कृत-छायाकरण करने से यही स्थिति बनी हुई है।

7 **रूपकशास्त्र के विरुद्ध-स्थिति** — रूपकशास्त्रीय-नियमो मे जिन पात्रो को प्राकृत-बोलने का विधान किया गया हो, उन्हे सस्कृत-प्रयोग करते हुए दिखाना उसीप्रकार की स्थिति का निर्माण करता है, जैसे रामचन्द्र जी के जीवन को मचित करने मे राम का अभिनय करनेवाला पात्र यदि 'अग्रेजी' या 'उर्दू' मे बोलने लगे, तो स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। यह नितान्त अस्वाभाविक एव मर्यादा-विरुद्ध स्थिति है।

आज भी पात्रानुकूल-भाषा का चयन आधुनिक नाटक-लेखक, निर्देशक से लेकर चलचित्रो आदि की पटकथा एव शब्दाकन मे भी सावधानीपूर्वक किया जाता है।

इसतरह सस्कृत के प्रयोग से न केवल स्वरूप एव परम्परा की हानि होती है, अपितु स्वाभाविकता भी नष्ट होती है। यह आचार्य भरतमुनि आदि रूपकशास्त्रीय-विशेषज्ञों के द्वारा निर्धारित-सिद्धान्तो, मानदण्डो एव निर्देशों का खुला-उल्लघन है, जो कि किसी भी स्थिति मे स्वीकार्य नही कहा जा सकता है।

इसकी जगह सस्कृत मे अन्वयार्थ, अनुवाद, भावार्थ, टिप्पणी आदि कुछ भी दी जा सकती है; क्योंकि इससे मूललेखक के मूलपाठ की स्वरूप-हानि नही होती है। किन्तु सस्कृत-छाया से मूलपाठ की ही हानि होने से इसे कभी भी क्षम्य नही माना जा सकता है। इसका घोर-विरोध एव पूर्णतया प्रतिबध होना ही चाहिए, ताकि हमारे नाटककारों के ग्रन्थो का मूलस्वरूप सुरक्षित रह सके तथा उनकी स्वाभाविकता, सजीवता एव चित्ताकर्षण-क्षमता बनी रहे। ❖❖

*पूज्य आचार्यश्री शान्तिसागर जी को अमावस्या-तिथि के दिन सल्लेखना-ग्रहण करते देखकर पद्मश्री **ब्र. सुमतिबाई शहा** ने पूछा कि "आचार्यश्री! आप अमावस्या के दिन सल्लेखना ले रहे है, क्या यह उचित है?" तो पूज्य आचार्यश्री बोले कि "शासननायक तीर्थंकर महावीर स्वामी का निर्वाण-कल्याणक भी तो अमावस्या (कार्तिक कृष्ण अमावस्या) को ही हुआ था। तब यह तिथि अशुभ कैसे हुई? वस्तुत: जन्म-मरण आदि के लिए तिथियाँ नहीं खोजनी चाहिये। अपितु अपने परिणाम कैसे मोहरहितपने को प्राप्त होकर आत्मस्थ हों — यह विचार एवं सावधानी करनी चाहिये।"* ❖❖

प्राकृत तथा अपभ्रंश काव्य और संगीत*

भारतीय-जीवन मे सास्कृतिक-समृद्धि सदैव श्रेष्ठतर रही है। कला और सगीत-आदि के क्षेत्रो मे भारतीय-लेखको ने भरपूर मार्गदर्शर-साहित्य लिखा है, और उसके परिणामस्वरूप इन विधाओ को सरक्षण एव सपोषण भी प्राप्त हुआ। यही नही, उन्हे कालजयी बनाने मे भी इन साहित्यकारो का बडा भारी-योगदान रहा है। भारतीय-सस्कृति की इन अनमोल धरोहरो की रक्षा प्राकृत और अपभ्रश-भाषाओ के साहित्य मे कैसे हुई है — यह इस संक्षिप्त, किंतु महत्त्वपूर्ण-आलेख मे प्रतिबिम्बित है। — **सम्पादक**

प्राकृत के वसुदेव-हिण्डी, पउमचरिय, समराइच्चकहा, कुवलयमाला आदि ग्रन्थो मे सगीत के अनेक सिद्धान्त आए है। 'वसुदेव-हिण्डी' मे वसुदेव, यशोभद्रा और गन्धर्वसेना आदि के आख्यानो मे गीत, नाट्य और नृत्य का कथन आया है। आख्यानों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए नृत्य, अभिनय आदि की पूर्ण-व्यवस्था थी। 'वसुदेव-हिण्डी' के आख्यानो से यह स्पष्ट है कि कला और शिक्षा के अन्तर्गत गीत, वाद्य और नृत्य, उदक-वाद्य (जलतरग जैसा), वीणा, डमरू आदि की शिक्षा कन्याओ के लिए आवश्यक थी। वीणा, वशी, दुन्दुभि, पटह आदि वाद्यो का विशेष-प्रचार था।

'पउमचरिय' मे **कैकयी** की शिक्षा के अन्तर्गत नाट्य और सगीत को विशेष स्थान दिया गया है। सगीत के बिना अशेष-कलाओ की शिक्षा सारहीन मानी जाती थी। लिखा है —

"णट्टं सलक्खणगुण, गंधव्व सरविहत्ति-सजुत्त।
जाणइ आहरणविही, चउव्विह चेव सविसेस॥"

इसके अतिरिक्त अनेक-स्थानो पर गीत, वाद्य, नृत्य का वर्णन आया है। बताया है कि जो जिनमदिर मे गीत-वाद्य एव नृत्य से महोत्सव करता है, वह देव होकर उत्तम-विमान मे वास करता हुआ 'परम-उत्सव' प्राप्त करता है। यथा —

"गधव्व-तूर-णट्ट जो कुणइ महुस्सवं जिणाययणे।
सो वरविमाणवासो पावइ परमुस्सवं वेवो॥"

'समराइच्चकहा' मे बहत्तर-कलाओ के सन्दर्भ मे नृत्य, गीत, वादित्र, और समता — ये चार सगीत के भेद आए है। उत्सवो और त्यौहारों के अवसर पर राजे, महाराजे, सेठ, सामन्तो के अतिरिक्त साधारण-जनता भी गीत और नृत्य का आनन्द लेती थी। लोग अपनी-अपनी टोलियाँ बनाकर गाते-नाचते और आनन्द मनाते थे। इस ग्रन्थ मे वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनय — इन चारों भेदो का पूर्णतया निरूपण आया है। **गुणसेन** अपने साथियों की टोली द्वारा गायन-वादन करता हुआ **अग्निशर्मा** को चिढ़ाता है। 'समराइच्चकहा' की कथा का आरम्भ ही सगीत से होता है और अन्तिम-भव की कथा मे समरादित्य को ससार की ओर उन्मुख बनाने के लिए उसके मित्र गोष्ठियों की योजना करते हैं। इन गोष्ठियो में वीणा-वादन, अभिनय एव गीत-सगोष्ठी विशेषरूप से निर्दिष्ट हैं। वाद्यो में पटह, मृदंग, वंग, कांस्यक, तन्त्री, वीणा, दुन्दुभि, तूर्य आदि प्रधान है। विवाह, जन्मोत्सव,

राज्याभिषेक आदि के प्रसंगो का सगीत से आरम्भ होना लिखा है। 'कुवलयमाला' मे भी कलाओ के अन्तर्गत सगीत का उल्लेख है। इस ग्रन्थ मे संगीत को मगलसूचक और आत्मोत्थानकारक बतलाया है।

अपभ्रश के कवियो मे पुष्पदन्त, वीर, पद्मकीर्ति, धनपाल आदि ने संगीत के तथ्यो का वर्णन किया है। इन अपभ्रश-ग्रथो मे वाद्य-वृन्द और गायक-वृन्दो का पूर्णतया कथन आया है। वीणा-वादन परम-मागलिक माना गया है। 'गन्धर्वशास्त्र' के अन्तर्गत स्वर, ताल और पद इन तीनो का निर्देश है। स्वर के अन्तर्गत, स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, स्थान, साधारण, अठारह जातियाँ, चार वर्ण, अलकार तथा गीतिका का समावेश माना गया है। ताल मे आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेशक आदि एव पद मे स्वर, व्यजन, वर्ण, संधि समाहित है। **पद्मकीर्ति** ने विभिन्न-वाद्यो और ध्वनियों का अपने 'पासणाहचरिउ' मे उल्लेख किया है —

"महाणंविण णविघोस सुघोस झुझूव झिझीवं रणत ठणट।
वर सुंवर सुवरगं वरगं पसत्थ महत्थ विसाल कराल॥
हयाटट्टरी मद्दल ताल कसाल उप्फाल कोलाहलो ताबिलं।
काहलि भेरि भंभोरि भंभारवं भासुरा वीणा-वसा मुवुंगा-रओ॥
सूसरो सख-सद्दो हुडुक्का कराफालिया झल्लरी रुज सद्दालओ।
बहु-विह-तुर-विसेसहि मंगल-घोसहि पडिबोहिय गब्भेसरि।
उट्टिय थिय सीहासणि पवर-सुवासिणि वम्मदेवि परमेसरि॥"

इस काव्य-ग्रन्थ मे विभिन्न वाद्यो के साथ गीतो और अभिनय का कथन है। **पार्श्वनाथ** के जन्माभिषेक के अवसर पर जो देवो ने सगीत प्रस्तुत किया है, वह आज की सगीत-गोष्ठियो से अधिक महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न-वादक गायको की सगति करते है और उनके स्वर के अनुसार वाद्यो का स्वर उत्पन्न करते है —

"तहि कालि विविह हय पवरतूर,
भविया-यणज्जण-मण-आस-पूर।
केहिंमि आऊरिय धवल संख, पडु पडह घट हय तह असख॥
केहिमि अप्फालिय महुर-सद्द, ववुबुरउ भेरि काहल मउद्द।
केहिंमि उव्वेलिउ मरह-सत्थु, णव रसहि अट्ठ-भावहि महत्थु॥
केहिंमि आलविउ वीण-वाउ, आढत्तु गेउ सूसरू सराउ।
केहिमि उग्घोसिउ चउपयारू, मंगलु पवित्तु तइलोय-सारु॥
केहिमि किय सत्थियवर चउक्क,
बहुकुसुम-वामगयण-यल-मुक्क।
केहिंमि सुरेहि आलविविगेउ, णच्चिउ असेसु जम्माहिसेउ॥"

'वीर' कवि ने वीरता की वृद्धि करनेवाली वाद्य और गीत-ध्वनि का सुन्दर चित्रण किया है। युद्ध के वाद्यो को सुनकर कायर-व्यक्ति भी शूरवीर हो जाते थे और उनके हृदय में भी वीरता की लहर उत्पन्न हो जाती थी। इस ग्रन्थ में पटह, तरड, मरदल, वेणु, वीणा, कसाल, तूर्य, मृदग, दुन्दुभि, घटा, झालर, काहल,

किरिरि, ढक्का, डमरू, हुडुक्का, तक्खा, खुन्द, ततखुण्ड आदि वाद्यो के नाम आए है। इन ध्वनियो का निर्देश भी 'जम्बूसामि चरिउ' की पचम-सँधि में किया गया है —

"तरुणीमहाथट्टसघट्टतुट्टंत आहरणमणिमडिया चउप्पहा। छड्डियपडिपट्ट-पट्टोल-पडीपहावतनेत्तेहि सछइयमडववियाणेसु लबतमुक्ताहलावाम-झुल्लतमाणिक्क झुबुक्कसक्काउहायार-पसरतकस्णावलीजालचित्तलिधरपगण[5]। पहय पडुपडह पडिरडियवडिडबर, करडतडतण-तडिवडण-फुरियबर। घुमुघुमुक्क-घुमुघुमियमद्दलवर, सालकसालसलसलिय-सुललियसर। डक्कडमडक्क-डमडमियडमरुब्भड, घट-जयघंट- टकाररहसियभड। ढक्क त्र त्र हुडुक्कावलीनाइय, रु जगुजत-सविण्ण-समधाइय। थगगवुग-थगगवुख-थगगवुग सज्जिय, करिरिकिरि-तट्ठकिरिकिरिरिकिर वज्जिय। तरिवरिवतरिव-तक्खि-तरिवतत्तासुदर, तविविखुवि-खुवखुवखुवभामासुर। थिरिरि-कटतट्टकट-थिरिरिकटनाडिय, किरिरितटखंवतटकिरिरि-तडताडिय। पहय-समहत्थ- सुपसत्थवित्थारिय, मगल णविघोस मणोहारिय। तूरसद्देण चलिय महाकलयल, रायराएण सह चाउरग बलं[6]।"

इसीप्रकार करकण्डु चरिउ, भविसयत्तकहा, सुगधदहमीकहा, मयणपराजय आदि ग्रन्थो मे भी सगीत के प्रमुख-सिद्धान्त आए है। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1. 'पउमचरिय', प्राकृत टेक्सट सोसाइटी, सिरीज, वाराणसी, डॉ एच. जैकोबी द्वारा सम्पादित, सन् ई , पृ 213, पद्य सख्या 5
2. 'पउमचरिय' प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी सिरीज वाराणसी, डॉ एच जैकोबी द्वारा सम्पादित, सन् 1962 ई , पृ 260, पद्य-सख्या 84
3. 'पासणाहचरिउ', प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी सिरीज, वाराणसी, सन् 1965 ई , प्रो प्रफुल्लकुमार मोदी द्वारा सम्पादित, पृ 62, सँधि 8/7
4. वही, पृ 67, सँधि 8/12
5. 'जबूसामिचरिउ', 4/9
6. 'जबूसामिचरिउ', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ 97, पद्य 5-6. ❖❖

---

* यह आलेख 'सगीतशती' से साभार उद्धृत है। 'संगीतशती' में लेखक का नाम न होने के कारण यहाँ भी लेखक/लेखिका का नाम नही दिया जा रहा है। इस हेतु खेद है।

'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा' के तत्कालीन-महामत्री श्रेष्ठिवर्य श्री ***परसादीलाल जी पाटनी*** *ने आचार्य शान्तिसागर जी मुनिराज से पूछा कि "अब हम आगे कैसे चले, ताकि महासभा की उन्नति निरन्तर बनी रहे?" तो आचार्यश्री बोले कि "जैसे अब से पहिले चलकर प्रगति की है, वैसे ही आगे चलते रहो।"* ❖❖

प्राकृत-साहित्य में गीतिकाव्य

✍ विद्यावाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

प्राकृतभाषा का साहित्य बहुरगी है। उसमे आगम एव तिपिटक-साहितय जैसे श्रद्धा-समन्वित पवित्र-रूप है, तो रूपक-साहित्य की रगमचीय-छटा बरबस ही मन मोह लेती है। काव्य-साहित्य जहाँ काव्यशास्त्रीय-सुषमा के साथ मत्रमुग्ध करता है, तो शिलालेखी-साहित्य इतिहास और सस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सूचना-सामग्री प्रदान करता है। विविध ज्ञान-विज्ञानपरक प्राकृत के इतर-साहित्य मे भारतीय-मनीषा की गहराई प्रतिबिम्बित है, तो मुक्तक-साहित्य मे गीतिवचनो के साथ लोकजीवन की मधुर-भावानुभूतियाँ उकेरी गयी है। इसी मुक्तक-साहित्य का वैशिष्ट्य सक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत है। — **सम्पादक**

प्राकृत-साहित्य मे गीतिकाव्य की पर्याप्त समृद्ध-परम्परा प्राप्त होती है। गीतिकाव्य ही वस्तुतः मुक्तककाव्य है। काव्यशास्त्रियो ने इसे 'काव्यविशेष' कहा है। जीवनानुभूति की सघनता गीतिकाव्य की निजता है। गीतिकाव्य का शिष्ट-साहित्य मे वही स्थान है, जो स्थान जन-साहित्य मे लोकगीतो का है। विकासवादी-विद्वानो का मत है कि लोकगीत ही गीतिकाव्य की उद्भव-भूमि है। गेयता ही गीतिकाव्य का मूल-तत्त्व है और मुक्तकता इसका रचना-वैशिष्ट्य है। इसलिये गीतिकाव्य को उसकी गेयता और मुक्तकता की दृष्टि से गीति-मुक्तककाव्य या मुक्तक-गीतिकाव्य कहना अयथार्थ नही होगा।

मुक्तक-काव्य के सामान्यत. दो रूप दृष्टिगत होते है — वाच्यमुक्तक और गीतिमुक्तक।[1] 'ऋग्वेद', 'रामायण' और 'महाभारत' मे समाहित गीतो की गणना 'वाच्यमुक्तक' मे की जा सकती है। 'ऋग्वेद' के गीतो मे गीति-मुक्तक के तत्त्व प्रचुरता से प्राप्य हैं, परन्तु उनकी वाच्यमुक्तकता गीतिमुक्तकता से अधिक-प्रभावक है। गीति-मुक्तक ही गीतिकाव्य है।

मुक्तक-विवेचन

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'पूर्वापरनिरपेक्ष स्वतःपर्यवसित काव्य'[2] को मुक्तक-काव्य कहा है। केशवकृत 'शब्दकल्पद्रुम' मे मुक्तक-लक्षण इसप्रकार है —

**"विनाकृत विरहित व्यवच्छिन्न विशेषितम्।
भिन्न स्यावथ निर्व्यूहे मुक्त यो वातिशोभनः॥"**

डॉ. शास्त्री की उक्त परिभाषा इसी श्लोक पर आधृत है। इस श्लोक मे अंकित 'विनाकृत', 'विरहित', 'व्यवच्छिन्न', 'विशेषित' एव 'भिन्न' शब्दो से यह अर्थ ध्वनित होता है कि जो काव्य अर्थ-पर्यवसान के लिये परापेक्षी न हो, वह 'मुक्तक' है। श्लोक मे एक शब्द 'निर्व्यूह' भी प्रयुक्त हुआ है। प्रबन्धकाव्य मे अर्थ का पर्यवसान प्रबन्धापेक्षी होता है, किन्तु मुक्तक मे अर्थ 'निर्व्यूह', अर्थात् स्वतःपर्यवसायी होता है। मुक्तक-काव्य के लिए यह आवश्यक-शर्त्त है कि रसात्मक चमत्कार के समस्त सागीतिक उपकरण एक ही पद्य मे सम्यक् समाहित रहे।

प्राकृत मे मुक्तक-गीतिकाव्यो का उद्गम 'छान्दस्' या वैदिक मुक्तक-काव्यशैली से हुआ है, किन्तु उनका विकास आगम-साहित्य की सरस पद्यात्मक उपदेश-प्रवचन-शैली से माना जाता है।शृगार के साथ ही शान्त और निर्वेद-रस की परिपक्वता के अतिरिक्त प्राकृतिक-सौन्दर्य का रुचिर-सगुम्फन एव तरल सुन्दर भाषा-शिल्प गीति-मुक्तको के लिए अनिवार्य है। समृद्ध-कल्पना एव भावात्मक-तन्मयता ही मुक्तक-गीतिकाव्य का प्राणबिन्दु है। अनुभूति की तीव्रता, अलकृत अभिव्यक्ति, बिम्बात्मकता एव स्फूर्ति को रूपायित करने का आग्रह मुक्तक-गीतिकाव्य की आन्तरिक सौन्दर्य-वृद्धि का मूलकारण है। आनन्दवर्द्धन-कृत 'मुक्तक' की परिभाषा और व्याख्या के अनुसार मुक्तक-काव्य की रचना का श्रेय प्राकृत-भाषा को है।[3] लोकभाषा के रूप मे प्राकृतभाषा की समृद्धि ही प्राकृत की रसमयी-रचनाओ का आधार है। इन रचनाओं से सस्कृत के मुक्तक-साहित्य ने प्रचुर प्रभाव-स्पर्श स्वीकार किया है। प्राकृत ने सस्कृत से कुछ आदान किया, तो सस्कृत को कुछ प्रदान भी किया है।

वर्ण्य-विषय और भाव-विनियोग की दृष्टि से विवेचना करे, तो स्पष्ट होगा कि प्राकृत मे निबद्ध गीतिकाव्यो की सस्कृत-काव्यों की परम्परा से अतिशय-निकटता है। फिर भी, रचना-शैली की दृष्टि से प्राकृत के गीतिकाव्य की अपनी मौलिकता है। नवी शती के अन्त मे विद्यमान यायावर-कवि राजशेखर ने अपनी नाट्यकृति 'बालरामायण' (पूर्वरामचरित) मे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश को क्रमशः श्रव्य, मधुर और भव्य शब्दो से विशेषित किया है। इससे स्वतः स्पष्ट है कि प्राकृत-गीतिकाव्य अपने माधुर्य-गुण से सस्कृत और अपभ्रश के गीतिकाव्यो का अतिशायी है।

प्राकृत-मुक्तक-गीतिकाव्यो की परम्परा और विकास

प्राकृत-मुक्तक-गीतिकाव्यो की अभिनव एव प्रौढ-परम्परा 'गाथासप्तशती' (प्रा 'गाहासत्तसई') से आरम्भ होती है। किन्तु 'गाथासप्तशती' की गीतिकाव्यात्मक-प्रौढि यह इगित करती है कि इत.पूर्व भी प्राकृत के गीति-मुक्तको की रचनाये अस्तित्व मे आ चुकी होगी। गोवर्द्धनाचार्य (बारहवी शती का उत्तरार्द्ध) की 'आर्यासप्तशती', अमरुक (नवम शती से पूर्व) का 'अमरुकशतक' एव भर्तृहरि (सातवी शती) का 'भर्तृहरिशतक' तो निश्चय ही प्राकृत के गीति-मुक्तक के आधेय हैं। प्राकृत-मुक्तक-गीतिकाव्यों की धारा स्तोत्रात्मक-भक्तिकाव्य एव रसेतर-नीतिकाव्य के रूप में भी प्रवाहित हुई है। धार्मिक-पृष्ठभूमि के साथ जीवन की बहुकोणीय विधा-वृत्तियो के सात्मयीकरण के कारण प्राकृत के मुक्तक-गीतिकाव्यो में जीवन की विविधताये और विचित्रताये प्रतिफलित हुई है।

प्राकृत के गीति-मुक्तको की आधारभूमि प्रायः आमुष्किता या पारलौकिकता ही है। 'गाहासत्तसई' की रचना के बाद उनमे भावत· और विधानतः भी रुचिर-परिष्कार हुआ। भारतीयो का आभीरो से ससर्ग इसी प्राकृत-काल में हुआ था, — ऐसा इतिहासविद् मानते हैं। आभीरों की भाषा ने प्राकृतभाषा को सहज ही प्रभावित किया, फलत. प्राकृत के उच्चारण एव वाक्य-विन्यास मे सहज ही विपर्यय आने लगा। परिणामतः अपभ्रश जैसी एक लोकभाषा ने रूप-ग्रहण किया और परवर्त्ती काव्य-विधाओ की परम्परा मे ही अपभ्रश मे भी गीतिमय मुक्तक-काव्यो की रचना आरम्भ हुई। प्राकृत का ही 'गाथा' या 'गाहा' छन्द अपभ्रश का 'दूहा' या 'दोहा' बना। प्राकृत के प्रसिद्ध मुक्तक-लेखक आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामिकार्त्तिकेय, बट्टकेर, नेमिचन्द्र, हरिभद्र आदि के सैद्धान्तिक एव

आमुष्मिकतापरक मुक्तक-काव्यो की शैली 'योगसार', 'परमार्थप्रकाश' (योगीन्दु), 'पाहुडदोहा' (रामसिंहमुनि) और 'सावयधम्मदोहा' (देवसेन) का आधार बनी। आचार्य हेमचन्द्र (बारहवीं शती) के शृगार-वीर-करुण-रसात्मक गीति-मुक्तककाव्य तो सर्वपरिचित है। इन्होने 'काव्यानुशासन' का प्रणयन किया है, जिसमे शृगार, नीति और वीरता-विषयक अठहत्तर प्राकृत-पद्य सगृहीत हैं। ये गेय-पद्य 'गाथासप्तशती', 'सेतुबन्ध', 'कर्पूरमजरी', 'रत्नावलि' आदि प्राकृत-काव्यो के समाहृत है, जो प्राकृत-गीतिकाव्य के मनोरम-उदाहरण हैं।

इसप्रकार, प्राकृत-मुक्तक-गीतिकाव्यो की परम्परा का व्यापक विकास मूलतः धर्म और सिद्धान्त के आग्रह पर हुआ, जिससे प्राकृत-मुक्तक-गीतिकाव्य के विस्तार के अनेक नवीन-वातायन उद्घाटित हुए। साथ ही, ऐहिकता की स्वीकृति के कारण शृगार की विविध भव्य-परिकल्पनाये की गईं। गीति-विन्यास के माध्यम से आत्मपरीक्षण अनिवार्य हुआ, तो आत्मसस्थापन की प्रक्रिया भी उद्बुद्ध हुई। मुक्त-चिन्तन ही मुक्तक-गीतिकाव्य का सूत्र बना। कहना न होगा कि धर्म और कामतत्त्वों की युगसन्धि पर प्रतिष्ठित प्राकृत-मुक्तक-गीतिकाव्यो की परिपाटी बडी सुव्यवस्थित और बहुरग है, जिसमे निहित रागात्मक-अनुभूति तथा कल्पना की रमणीयता से वर्ण्य-विषय मे भाव-माधुर्य का मोहक-विनियोग हुआ है।

प्राकृत के प्रमुख गीतिकाव्य

गाहासत्तसई (गाथासप्तशती) — राजा हाल सातवाहन (ईसवी-प्रथम शती) द्वारा प्रस्तुत 'गाहासत्तसई' सात सौ प्राकृत-गाथाओ का सकलन-ग्रन्थ है, जो प्राकृत के मनोरम-गीतिकाव्यो मे अपना प्रमुख-स्थान रखता है। इसे प्राकृत का 'आदि-गीतिकाव्य' भी कहा जाता है। 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका के कर्त्ता के अनुसार, मुक्तक अन्य से असम्बद्ध एव स्वतन्त्र निराकाक्ष-अर्थ की परिसमाप्ति के गुणो से सवलित प्रबन्ध के बीच की वस्तु होता है।[4] इस गीति-मुक्तक काव्य मे प्राकृत के प्रतिनिधि-कवियो ओर कवयित्रियो की यथोक्त सात सौ गाथाये सगृहीत है। इसीलिये इसका नाम 'गाहासत्तसई' सार्थक है। प्रत्येक गाथा मुक्तक के उक्त-लक्षणो से युक्त एव शृगाररसवर्षी होने के कारण गीतिकाव्यत्व को अक्षरशः अन्वर्थ करती है।

'गाथासप्तशती' की गाथाये अलकृत एव ध्वन्यर्थप्रधान है और महाराष्ट्री-प्राकृत मे आर्या-छन्द मे निबद्ध है। जनश्रुति तो यह है कि इस कृति के सग्रहकर्त्ता ने एक करोड प्राकृत-गीतियो मे केवल सात सौ को चुनकर इसमे सकलित किया है। इस सप्तशती की गीति-मधुरिमा ने सस्कृत के कवियो को आवर्जित किया। बाण, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, विश्वनाथ, गोवर्द्धन आदि आचार्य कवि इस सप्तशती के प्रति न केवल प्रशसामुखर हुए, अपितु इसकी गाथाओ को अपने-अपने ग्रन्थो मे अलकार, रस, ध्वनि आदि को लक्षित करते समय, उदाहरण के रूप मे रखा। गोवर्द्धनाचार्य तो इससे यहाँ तक प्रभावित हुए कि उन्हे कहना पडा :

"इस प्राकृत-काव्य मे जैसी सरसता है, वैसी सस्कृत-काव्य मे नहीं। इसीलिये मेरी सस्कृतनिबद्ध 'आर्यासप्तशती' प्राकृत 'गाथासप्तशती' की माधुरी से सहज मोहित मेरे द्वारा बलपूर्वक किया गया उसका अनुकरण-मात्र है — **'वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृत नीता'**।"

यह निर्विवाद है कि प्राकृत — 'गाथासप्तशती' से ही सस्कृत की सप्तशतियो एव सस्कृतेतर भारतीय-भाषाओ की सतसइयो की रचना-परम्परा प्रचलित हुई। सप्तशती की परम्परा की जननी के रूप मे 'गाथासप्तशती'

ने निश्चय ही सर्वसम्मत-श्लाघ्यता आयत्त की है।

लक्षणशास्त्र एव वर्ण्य-विषय की दृष्टि से सर्वोत्तम इस गीतिकाव्य के रचयिता हाल सातवाहन शैव प्रतीत होते हैं। किन्तु, जैनेतिहास के अनुसार, हाल को जैनधर्मानुयायी एव जैनतीर्थोद्धारक के रूप में भी स्मरण किया जाता है।[5] प्रबन्धकोषकार मेरुतुंग ने उन्हें नागार्जुन का शिष्य कहा है। हाल का अपना व्यक्तित्व भी निश्चय ही विलासप्रिय एव रुचिसम्पन्न-शृगारप्रेमी का रहा होगा, तभी तो उन्होंने ऐसे रसपेशल-गीतिकाव्य की रचना प्रस्तुत की।

इस गीतिकाव्य की प्रत्येक गाथागीति अपने-अपने स्वतन्त्र एव आमुष्मिकता की चिन्ता से मुक्त है। मुक्त चिन्तन मे ही इस काव्य का शिल्प-कौशल, अभिव्यक्ति-सामर्थ्य एव मार्मिकता का निखार परिलक्षित होता है। इसमे जहाँ ग्राम्य-जीवन की रुचि-निर्माण है, वही रुचि-सस्कार भी। सभी गाथाये गेय है और तत्कालीन विभिन्न सामाजिक-अवस्थाओ के ऐसे वातायन हैं, जिनमे शाब्दिक-इन्द्रजाल एव आलकारिक-चमत्कार से युक्त जीवन-सगीत की शाश्वत-लहर उठती रहती है। 'गाथा' जैसे छोटे छन्द मे प्रसगो का समस्त आकलन एव भावो, विभावो और अनुभावो का बिम्बात्मक-निरूपण साकेतिक-पद्धति से ही हुआ है। किन्तु इससे कवि की सामसिक-शक्ति और सघटनात्मक-सरचना के विस्मयकारी विलक्षण-सामर्थ्य का पता चलता है। कवि की एक उत्प्रेक्षा मे भावो की विपुलता एव महाशयता मननीय है :

> **"रेहति कुमुअवलणिच्चलट्ठिआ मत्तमहुअरणिहाआ।**
> **ससिअरणीसेसपणासिअस्स गठिव्व तिमिरस्स॥"**
>
> — *(गाथा स 561)*

इस गाथा मे कहा गया है कि कुमुद-दलो पर निश्चलभाव से बैठे काले भौरे अन्धकार की गाँठो की तरह लगते है। भौरे की 'अन्धकार की गाँठ' से उत्प्रेक्षा चकित करनेवाली है, साथ ही इसमे मनोरम चाक्षुष-बिम्ब का भी विधान हुआ है।

इसी क्रम मे प्रेम की रसमाधुरी मे तदात्म करनेवाला एक अपूर्व-प्रसग द्रष्टव्य है —

> **"घरणीए महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्थेण।**
> **छित्त मुह हसिज्जइ चदावत्थ गअं पइणा॥"**
>
> — *(गाथा स. 13)*

चित्र है — रसोई के काम मे लगी हुई गृहिणी के कालिख-पुते हाथ के स्पर्श से उसके अपने ही मुँह पर काला धब्बा पड गया, जिसे देखकर उसके पति ने मुस्कराते हुए कहा — "अब तो तुम्हारा मुख सचमुच चन्द्रमा ही बन गया है।"

इसप्रकार की एक-दो नही, सात सौ गाथाये है, जो भाव और रस के एक-एक समुद्र की तरह है। इस विलक्षण-कृति से कवि को न केवल शाश्वती-प्रतिष्ठा मिली है, अपितु प्राकृत को भी अनन्य-अमरता प्राप्त हुई है। वैदर्भी-शैलो मे निबद्ध यह गीतिकाव्य अलकार और व्यग्य के चरमोत्कर्ष से काव्य के सर्वोच्च-शिखर पर आसीन हो गया है।

वज्जालग्गं (व्रज्यालग्नं) : हाल की 'गाहासत्तसई' की परम्परा में प्रकृत्या और प्रवृत्त्या 'वज्जालग्ग' (व्रज्यालग्न) का अन्यतम-स्थान है। इस गीतिकाव्य में भी अनेक प्राकृत-काव्यों के सूक्ति-मुक्तक सकलित है। इस काव्य का सकलन श्वेताम्बर मुनि जयवल्लभ (चतुर्थ शती) ने किया है। इसमे भी हाल की सप्तशती के समान सात सौ पचानवे गाथायें संकलित हैं। 'साहित्यदर्पण' के प्रणेता के अनुसार सजातीय-विषयों का एकत्र-सन्निवेश ही 'व्रज्या' है। 'साहित्यदर्पण' की 'विवृतिपूर्त्ति' टीका के अनुसार, 'अ' से 'ह' तक के अक्षरो के अनुक्रम से व्यवस्थित श्लोकसमूह को 'व्रज्या' कहा जाता है। कविराज विश्वनाथ लिखते हैं — **'सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो व्रज्या।'** 'विवृत्तिपूर्त्ति' टीका के कर्त्ता प दुर्गाप्रसाद द्विवेद कहते हैं — **'अकाराविहकारान्ताद्यक्षरश्लोकसघातो व्रज्या।'** डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री का विचार भी विश्वनाथ कविराज से प्रभावित है। उनके अनुसार एक विषय से सम्बद्ध-गाथाये एक 'वज्जा' ('व्रज्या') के अन्तर्गत आती है। अपने कथन की पुष्टि में डॉ. शास्त्री ने 'भर्त्तृहरिशतक' से तुलना करते हुए कहा है कि जिसप्रकार भर्त्तृहरि के शतकत्रय मे तीन पद्धतियाँ हैं और एक पद्धति मे एक ही विषय के गीत सकलित हैं, उसीप्रकार एक 'वज्जा' मे एक ही विषय से सम्बद्ध गाथाये-सगृहीत हैं। कवि ने स्वय भी 'व्रज्या' को पद्धति कहा है — **'त खलु वज्जालग्ग वज्ज त्ति पद्धई भणिया।'** — *(मगलाचरण, 4)*

'वज्जालग्ग' नाम के औचित्य मे मेरा अनुमान है 'वज्जा' = 'व्रज्या' साधु या भिक्षु के परिचक्रमण[6] या विहार को कहते हैं। बौद्धो मे 'चारिक' प्रसिद्ध है। मुनि जयवल्लभ ने अपने परिचक्रमण के क्रम मे गाथाओ को एकत्र सम्बद्ध[7] ('लग्ग'='लग्न') किया और इस सग्रह का नाम 'वज्जालग्ग' (व्रज्यालग्न) रख दिया।

अनुभूति एव भाव-सम्पदा तथा शिल्प-शैली की दृष्टि से 'वज्जालग्ग', 'गाहासत्तसई' ने उन्नीस नही पडता। 'गाहासत्तसई' का प्रभाव जिस प्रकार सस्कृत के आचार्य गोवर्द्धन और अमरुक पर तथा हिन्दी के कवि बिहारी (बिहारी-सतसई), दयाराम (दयाराम सतसई) आदि पर पड़ा, उसीप्रकार 'वज्जालग्ग' के प्रभाव ने भामह, भर्त्तृहरि, पण्डितराज जगन्नाथ आदि संस्कृत के काव्यधुरीणों एव हिन्दी के तुलसीदास, रहीम आदि काव्यकलाविदो को आवर्जित किया। कुल मिलाकर, भारतीय समाज की विवशता-विकलता के मर्म से परिचित करानेवाले इस गीति-मुक्तककाव्य ने नूतन शिल्प-संयोजन एवं वैविध्यमूलक जीवन-दर्शन की गम्भीरता से प्राकृत के समग्र गीतिकाव्यो मे अपना कालजयी-कीर्त्तिमान स्थापित किया है।

मुनि जयवल्लभसूरि ने अपनी इस महत्त्वपूर्ण गीति-काव्यकृति मे जहाँ सज्जन का पावन-चित्र अंकित किया है, वही दुर्जन की दुरन्तता की निर्घृण-कहानी भी कही है। सस्कृत-साहित्य मे भी सज्जन-वर्णन मिलता है, किन्तु 'वज्जालग्ग' के कर्मयोगी-कवि ने सज्जनो का जैसा उत्कृष्ट और उदात्त-वर्णन किया है, वैसा भर्त्तृहरि ने क्या, सस्कृत के किसी कवि ने भी नही किया है। वर्णन-विदग्ध कवि जयवल्लभ ने एक ओर सती सन्नारी की शुचि-रुचिर रूपच्छवि प्रस्तत की है, तो दूसरी ओर असती के चाचल्य का भी उत्तेजक-चित्रण किया है। कवि को कच-कुच के वर्णन की आसक्ति है, तो कृष्ण, रुद्र और आदित्य की आराधना के प्रति अखण्ड-अनुराग भी। वह एक वस्त्र-व्यवसायी की तस्वीर जितनी तल्लीनता से उतरता है, उतनी ही तन्मयता से एक लेखक का ललित-रूपाकन करता है। इन्दिन्दिर यानी भौरे का प्रभावक मर्मचित्र इस गाथा मे द्रष्टव्य है —

"मा इविंविर तुंगसु पंकयवलणिलय मालईविरहे।
तुंबिणिकुसुमाइँ न संपडंति विव्वे पराहुत्ते॥"

— (*भ्रमरव्रज्या : गाथा स. 245*)

अर्थात्, कमलदल मे वास करनेवाला भ्रमर। मालती के वियोग मे इधर-उधर मत भटको। भाग्य विपरीत होने पर लौकी के फूल भी सुलभ नही होते।

प्रस्तुत-गाथा में लौकी के फूल का चित्रण कवि को लोकजीवन का सूक्ष्म-पारखी सिद्ध करता है।

गाँव की सद्गृहिणी का एक मार्मिक चित्र —

"पत्ते पियपाहुणए मगलवलयाइ विक्किणतीए।
दुग्गयघरिणी कुलवालियाइ रोवाविओ गामो॥"

अर्थात् पाहुन के घर आने पर उसके आतिथ्य के निमित्त सुहाग का कँगना बेच देनेवाली दरिद्र-घर की बहू और उच्च-कुल की बालिका ने अपने पूरे गाँव को रुला दिया।

यहाँ उस कुल-ललना का मार्मिक-चित्रण हुआ है, जो बालिका तो उच्चकुल की है, परन्तु उसका विवाह दरिद्र-घर मे हुआ है, आभिजात्यवश पाहुन के सम्मान की रक्षा के लिये वह अपने सुहाग का कँगना बेच देती है। उसकी इस कुलीनता-जनित अवश विवशता पर सारा गाँव रो पडता है।

प्राकृत के उपरिविवेचित दो कूटस्थ-गीतिकाव्यो के अतिरिक्त 'गाथासाहस्री' (समयसुन्दरगणी . सत्रहवी शती), 'प्राकृतपुष्करिणी' (डॉ. जगदीशचन्द्र जैन द्वारा 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास' मे उल्लिखित), 'विषमवाणलीला' (डॉ नेमिचन्द्रशास्त्री द्वारा 'प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' मे सन्दर्भित) आदि और भी कतिपय गीति-मुक्तक काव्य है, जो प्राकृत की गीतिकाव्य-परम्परा को समृद्ध और गतिशील सिद्ध करते है।

भक्तिस्तोत्र-गीतिकाव्य

काव्यशास्त्र मे भक्ति को भी एक रस ही माना गया है। इसलिए भक्त्यात्मक स्तोत्र गीतिकाव्य को भी हम रसात्मक या रसानुगामी काव्य कह सकते हैं, जिसमे रस और अलकार की छटा का अपना विच्छित्तिपूर्ण विन्यास रहता है। प्राकृत के स्तोत्र-गीतिकाव्य सासारिक दु:ख से निवृत्ति या मुक्ति तथा जीवन के आध्यात्मिक-अभ्युदय का सन्देश-सवहन तो करते ही है, गीतिकाव्य के अन्तर्निहित सुमनोरम-शिल्प की समृद्धि का सकेत भी भक्तिभावपूर्ण-स्तोत्र या प्रार्थना के माध्यम से देते हैं।

प्राकृत के भक्तिपरक स्तोत्र-मुक्तक या गीतिकाव्य कई शैलियो मे निबद्ध हैं, जिनमे उपदेश-शैली, आत्माभिव्यजन-शैली, कथात्मक शैली और तथ्यपरक शैली का आग्रह-अभिनिवेश अधिक रहा। सच पूछिए तो, भक्त्यात्मक स्तोत्र-गीतिकाव्य ने प्राकृत-काव्यविधा को सैद्धान्तिक और शास्त्रीय-अनुशासन प्रदान किया है, जिससे प्राकृत-काव्यशास्त्र ने एक नवीन शान्तोज्ज्वल गति और ऊर्जा अर्जित की है।

प्राकृत के भक्तिस्तोत्रपरक-गीतिकाव्यो की सख्या अनल्प है, जिनमे जैनदर्शन के तथ्य निरूपित हुए है,

तो अलंकारों और भावो की माधुर्य-वर्षा भी की गई है। प्राकृत-काल में भक्ति की जो रसमयी-धारा मुक्तक-गीतिकाव्य के रूप में प्रवाहित हुई, उसमें सरसता, विद्ग्धता, कातरता आदि की अजस्र उपधारायें भी गतिशील हुईं। इन स्तोत्र-गीतिकाव्यो मे भारत की सास्कृतिक-चेतना का चटुल चरण-न्यास भी मिलता है। कुल मिलाकर, इनमें जागतिक निर्वेद, विषाद, पीड़ा, विवशता और मुक्ति की आकुलता ही गेय हुई है और गेयता मे अर्थ की आन्तरिकता सुप्रतिष्ठित हुई है।

अर्थ की आन्तरिकता एव कोमलकान्त पदशय्या की दृष्टि से 'धम्मरसायण' (पद्मनन्दिन्), 'ऋषभपचाशिका' (धनपाल), 'उवसग्गहरस्तोत्र' (भद्रबाहुस्वामी), 'अजियसंतिथय' (नन्दिषेण), 'शाश्वत चैत्यस्तव' (देवेन्द्रसूरि), 'भवस्तोत्राणि' (धर्मघोषसूरि), 'अरहतस्तवन' (समन्तभद्र), 'नमुक्कारफलपगरण' (जिनचन्द्रसूरि) आदि स्तोत्र साग्रह उल्लेख है।

नीतिपरक-गीतिकाव्य

जीवनगत-ग्रन्थिलता की कडवी-औषधि को काव्य-शर्करा के आवरण मे जनजीवन के लिए सहज-पेय बनाने का प्रशसनीय-कार्य नीति-गीतिकाव्य के अमर-गायको ने किया। इनकी नीति-गीतियो मे तात्कालिक एवं तत्कालीन-युगबोध का सयोजन ही नही, अपितु सास्कृतिक-जागरण का सुदृढ-सघटन भी है। उपदेश एव जीवनोपयोगी-सामग्री का, छन्दो की गत्यात्मकता एव काव्य की भावचेतना के धरातल पर हृदयावर्जक-प्रस्तवन नीतिपरक-गीतिकाव्यो की मौलिक-विशेषता है।

प्राकृत के नीतिपरक-गीतिकाव्य के प्रणेताओं ने शारीरिक-आवश्यकताओ से निःसग होकर आध्यात्मिक-आवश्यकताओ की अनुभूति पर अधिक बल दिया है। अतः, नीति के कर्त्ता कवि जनजीवन मे उतरकर आचार के नियम और सिद्धान्त निश्चित करते हैं और ये ही नियम काव्यशैली मे निबद्ध होकर नीतिकाव्य की सज्ञा आयत्त करते है। भक्तिस्तोत्रपरक-गीतिकाव्यो की वर्ण्य-वस्तु निर्वेदात्मक है और इसी से उत्पन्न शान्तरस की भावना का परिपोषण नीतिपरक-गीतिकाव्यो मे हुआ है।

प्राकृत के नीतिपरक शान्त-मुक्तको मे 'वैराग्यशतक' (नामकरण भर्त्तृहरि के 'वैराग्यशतक' पर आधृत) और लक्ष्मीलाभगणि-कृत 'वैराग्यरसायनप्रकरण' को पांक्तेयता प्राप्त है। 'वैराग्यशतक' मे एक सौ पाँच गाथाये है। उनमे शरीर, यौवन और धन की अस्थिरता के चित्रण द्वारा वैराग्य की भावना का उद्भावन किया गया है। और फिर, 'वैराग्यरसायनप्रकरण' मे एक सौ दो गाथाये हैं। इस गीतिकाव्य का कवि उपमा और रूपको की उपस्थापना के प्रति सहज आग्रहशील है।

रूपक का एक उदाहरण —

> **"करुणाकमलाइण्णे आगम-उज्जलजलेण पडिपुण्णे।**
> **बारसभावणहंसे झीलह वेरग्गपउमवहे॥"**
> — (*गाथा स. 20*)

यहाँ अर्थगर्भ काव्यभाषा के निपुण-प्रयोक्ता कवि ने वैराग्य को पद्मसरोवर माना है; क्योकि उसमे आगम का जल भरा है, करुणा की कमलकर्णिका खिली हुई है, जिसमे बारह भावना-हस किलोल करते रहते

है। उस वैराग्यसरोवर मे साधक को स्नान कर अपने को पूत-पावन बनाना चाहिये। 'स्नान करो' के अर्थ में प्राकृत का 'झीलह' प्रयोग कवि की काव्यपटुता का परिचायक है, साथ ही गीतिकाव्योचित रम्य-अर्थ का प्रतिपादक भी है।

निष्कर्ष यह है कि प्राकृत मे गीतिकाव्यो की, शिल्प और कथ्य की दृष्टि से, जैसी विविधता उपलब्ध होती है, वैसी अन्यत्र प्रायो दुर्लभ है। निस्सन्देह, प्राकृत के रमणीय गीतिकाव्यो का, रसात्मक-रम्यता, गेयता, आस्वादबहुलता एव भाव-सौन्दर्य की भव्यता आदि ललित-गुणो की दृष्टि से समग्र-भारतीय काव्य-वाङ्मय मे उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य · 'सस्कृतगीतिकाव्यानुचिन्तनम्' डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री, प्र सुशीला प्रकाशन, धौलपुर, प्र स पृ 26

2 'प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री, प्र स , पृ 369

3 (क) द्र 'प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास , डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री, प्र स , पृ 370
(ख) 'प्राकृत-सस्कृत का समानान्तर अध्ययन' : डॉ श्रीरजन सूरिदेव, पृ 46

4 *'मुक्तकमन्येनानालिंगितम्। स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाक्षार्थमपि। प्रबन्धमध्यवर्तिमुक्तकमित्युच्यते।* — *('गाथासप्तशती', भट्टश्रीमथुरानाथ शास्त्री की भूमिका, पृ 15)*।

5 विशेष विवरण के लिये द्र 'प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (तदेव), पृ 377

6-7 द्र 'व्रज्या' तथा 'लग्न' शब्दो का अर्थ, वामन शिवराम आप्टे सस्कृत-हिन्दी-कोश, द्वि स , पृ 993 तथा 866। ❖❖

खारवेल शिलालेख

"खारवेल के शिलालेख की भाषा प्राचीन-शौरसेनी है। यद्यपि इस शिलालेख में प्राचीन-शौरसेनी की समस्त प्रवृत्तियाँ परिलक्षति नही होती, तो भी इसे उसका आदिमरूप मानने मे किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही है। खारवेल की यह शिलालेख भारतीय-इतिहास की दृष्टि से अत्यत-महत्वपूर्ण है।"

— (डॉ. नेमिचद्र शास्त्री, 'प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक-इतिहास', पृ. 60) ❖❖

*विद्वद्वरेण्य **प. जगन्मोहन लाल जी शास्त्री** ने पूज्य आचार्यश्री शांतिसागर जी की शारीरिक-दशा देखकर विनम्र-भाव से पूछा कि "आचार्यश्री। अभी तक हम सभी आपश्री की छत्रछाया मे रहे है। अब किसकी छत्रछाया मे रहेगे?" तो आचार्यश्री ने कहा कि "मै किसकी छत्रछाया मे हूँ?" तब शास्त्री जी बोले कि "धर्म की छत्रछाया मे।" तब आचार्यश्री ने कहा कि "यही **केवलीपण्णत्त धम्म सरणं गच्छामि** की भावना हृदय मे रखे, तो कभी परापेक्षता की भावना नही जगेगी।"* ❖❖

अपभ्रंश भाषा एवं उसके कुछ प्राचीन सन्दर्भ

प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन

अपभ्रश-भाषा का मूल-उत्स प्राकृतभाषा रही है। विशेषत: साहित्यिक-अपभ्रश का मूलस्रोत तो 'शौरसेनी- प्राकृत' ही प्रधानत: रही है। यह एक गभीरतापूर्वक मननीय एव निष्पक्षभाव से विचारणीय-तथ्य है। इस तथ्य के लिए अत्यन्त गहन-अध्ययन, अनुसधान एव पुष्ट-प्रमाणो से विद्वान्-लेखक ने सक्षमरीति से इस आलेख मे प्रस्तुत किया है। यह प्रयास न केवल पठनीय, मननीय एव अनुकरणीय है; अपितु अभिनदनीय भी है।

— सम्पादक

वैयाकरणो ने 'प्राच्य-प्राकृत' की तृतीय-अवस्था अथवा उसके परवर्ती विकसितरूप को 'अपभ्रश' माना है। वस्तुत: जब कोई भी बोली व्याकरण एव साहित्य के नियमो मे आबद्ध हो जाती है, तब वह काव्य-भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। उसका यह रूप 'परिनिष्ठत-रूप' कहलाता है और यह काव्य के रम्य-कलेवर मे सुशोभित होने लगता है। प्रस्तुत अपभ्रश-भाषा की भी यही स्थिति है। बलभी (वर्तमान गुजरात) के राजा **धरसेन द्वितीय** (678 ई.) के एक दानपत्र[1] से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके समय मे सस्कृत एव प्राकृत के साथ ही अपभ्रश में भी काव्य-रचना करना एक विशिष्ट-प्रतिभा का द्योतक प्रशसनीय-चिह्न माना जाने लगा था। उक्त दानपत्र मे धरसेन ने अपने पिता गुहसेन (559-569 ई.) को सस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रश-काव्य-रचना मे अत्यन्त-निपुण कहा है। इससे ज्ञात होता है कि अपभ्रश छठवी सदी तक व्याकरण एव साहित्य के नियमों से परिनिष्ठत हो चुकी थी और वह काव्य-रचना का माध्यम बन चुकी थी।

छठवी सदी के उत्तरार्ध मे अपभ्रश को महत्त्वपूर्ण-स्थान मिला। **भामह** (छठवी सदी) ने उसे काव्य-रचना के लिए अत्यन्त-उपयोगी मानते हुए सस्कृत एव प्राकृत के बाद तृतीय-स्थान दिया।[2] यद्यपि भामह ने यह सूचना नही दी कि 'अपभ्रंश किसकी बोली थी या किसे इसका प्रयोग करना चाहिये', फिर भी अपभ्रश का अस्तित्व छठवी सदी के अन्तिम-चरण मे आ चुका था अथवा अपभ्रश ने काव्य का परिधान स्वीकार कर लिया था, इसका पूर्ण-निश्चय भामह के उल्लेख से हो जाता है।

महाकवि दण्डी (7वी सदी) ने भी शास्त्रो मे 'सस्कृतेतर-शब्दो को अपभ्रश' एव 'काव्यो मे आभीरादि की भाषा को अपभ्रश' माना है।[3] इतना ही नही, उसने समस्त उपलब्ध भारतीय-वाङ्मय को सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश एव मिश्र नामक चार भेदो मे विभक्त[4] कर भामह द्वारा अपभ्रश को दी गई महत्ता का समर्थन किया है। उसने अपभ्रश-काव्यो मे प्रयुक्त होनेवाले ओसरादि[5]-छन्दों का निर्देश करके अपभ्रश-साहित्य के समृद्ध हो चुकने की सूचना भी दी है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि दण्डी ने प्रचलित-साहित्य को चार भेदों मे विभक्त किया है। भाषाभेद का उसका दृष्टिकोण नही है। कुछ लोग भूल से अपभ्रश को प्राकृत से भिन्न मानने लगते हैं, किन्तु दण्डी ने ऐसा कभी भी एव कहीं भी नहीं कहा। जिसप्रकार शौरसेनी या पालि अथवा मागधी 'प्राकृत' के ही प्राचीनतम-रूप है, उसीप्रकार अपभ्रश भी प्राकृत का एक नवीनतम-रूप है।[6]

वस्तुत: अपभ्रश ने आठवी सदी के पूर्व से ही एक ऐसा गौरवपूर्ण-स्थान प्राप्त कर लिया था कि उद्योतनसू (वि स. 835) को सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश की तुलना करते हुए लिखना पड़ा था[7] — "अनेक पद-समा निपात, उपसर्ग, विभक्ति एव लिग की दुरूहता के कारण सस्कृत दुर्जन-व्यक्तियो के समान विषम है। समर कला-कलापों की मालारूपी जल-कल्लोलों से व्याप्त, लोकवृत्तान्तरूपी महासागर से महापुरुषों द्वारा निष्कासि अमृत-बिन्दुओ से युक्त तथा यथाक्रमानुसार वर्णों एव पदो से सघटित, विविध-रचनाओं के योग्य तथा सज्ज की मधुरवाणी के समान ही सुख देनेवाली प्राकृत होती है। सस्कृत एव प्राकृत से मिश्रित शुद्ध-अशुद्ध पदो युक्त सम एव विषम तरग-लीलाओ से युक्त, वर्षाकाल के नवीन मेघ-समूहो के द्वारा प्रवाहित जलपूरों से युक पर्वतीय नदी के समान तथा प्रणयकुपित-प्रणयिनी के समुल्लापो के समान ही अपभ्रश रसमधुर होती है।"

अपभ्रश-साहित्य और उसका महत्त्व

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि छठवी सदी के अनन्तर अपभ्रश से साहित्यिक-रचनाये होने ल थी। वैसे तो इसके पूर्व से भी साहित्यिक-रचनाये लिखी जाने लगी थी और **चउमुह**, **द्रोण** एव **ईशान** महत्त्वपूर्ण साहित्य-प्रणयन किया था; किन्तु दुर्भाग्य से वर्तमान मे वह अनुपलब्ध है। अत: उपलब्ध-साहित्य आधार पर यही माना जा सकता है कि अपभ्रश-साहित्य छठवी सदी से 11वी सदी के मध्य प्रचुरमात्रा लिखा गया। विशेषज्ञो ने इस कालखण्ड को 'अपभ्रश का स्वर्णयुग' माना है।

अपभ्रश-साहित्य भारत के अनेक प्रान्तो मे अप्रकाशित-रूप से प्रचुरमात्रा मे उपलब्ध है, किन्तु दुर्भा से उसका अभी तक पूरा लेखा-जोखा नही हो पाया है; क्योकि उसकी खोज एव सूचीकरण-प्रक्रिया बडी धैर्यसाध्य, समयसाध्य, व्ययसाध्य एव कष्टसाध्य है। यह एक सर्वमान्य सुखद आश्चर्य है कि प्राचीनकाल से लोकभाषाओ को जीवन्त बनाकर तथा उन्हे साहित्य-लेखन-हेतु सामर्थ्य प्रदान करने मे कुशल जैन-साधक जैन-आचार्यों एव कवियो ने लगभग 65 प्रतिशत से भी अधिक विविध-विधाओवाले अपभ्रश-साहित्य व प्रणयन किया है। इतर-साक्ष्यों तथा नवागी जैन-मन्दिरों मे सुरक्षित उनकी सचित्र एव सामान्य-पाण्डुलिपि तथा उनकी प्रशस्तियाँ इसका स्पष्ट-उद्घोष कर रही है। देश-विदेश के प्राच्यविद्याविदो एव भाषाविज्ञानियो उसे मील-पत्थर मानकर मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशसा की है। इस साहित्य की अनेक पाण्डुलिपियाँ एशिय एव यूरोपीय देशों के अनेक शास्त्र-भाण्डारो मे भी येन-केन प्रकारेण ले जाई गई है। वहाँ उन (पाण्डुलिपियो की क्या स्थिति है? — इसकी विस्तृत जानकारी नही मिल सकी है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, उसमें प्राच्य एव मध्यकालीन इतिहास, सस्कृति, समाज एव लोकजीव का विविध-चरितों एव कथाओं के माध्यम से सजीव-चित्रण हुआ है। हिन्दी एव अन्य प्रादेशिक-भाषाओ ए साहित्य के विकास की कथा का परिज्ञान तथा लोकाभिप्रायों एव कथानक-रूढ़ियों का अध्ययन, अपभ्रश-भा एव उसके साहित्य के अध्ययन के बिना सम्भव नही। अत: यह आवश्यक है कि उनके बहुआयामी विस् अध्ययन-हेतु अद्यावधि-अप्रकाशित अपभ्रंश-ग्रन्थो की खोजकर उनका तत्काल-प्रकाशन किया जाये।

यूनान, चीन, मिश्र, श्रीलका, दक्षिण-पूर्व एशिया एव अरब-देशों के उपलब्ध कुछ लोक-साहित्य व अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि कोटिभट्ट श्रीपाल; चारुदत्त, भविष्यदत्त, जिनेन्द्रदत्त एव अचल जै

प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय-महासार्थवाहों एव उनके रूपों में सांस्कृतिक-दूतों के माध्यम से अनेक भारतीय-कथाओ का यहाँ से उक्त देशों में गमन हुआ है। डॉ. हर्टेल[8], डॉ मोरिस विटरनिट्ज[9], डॉ. ओटो स्टेन, डॉ. कालिदास नाग, डॉ. कामताप्रसाद, डॉ. मोतीचन्द्र एव डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल आदि के तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्षों के अनुसार उनमे अधिकाश जैन-कथाये थीं, जिन्होने उन देशो के जनमानस के साथ-साथ वहाँ के साहित्य को भी प्रभावित किया है। वर्तमान मे इनके तुलनात्मक-अध्ययन की महती-आवश्यकता है।

आइने-अकबरी के सुप्रसिद्ध लेखक अबुल-फज़ल एव 'खुशफहम' (सम्राट् अकबर द्वारा प्रदत्त) उपाधिधारी विख्यात-जैनाचार्य भानुचन्द्र-सिद्धिचन्द्र गणी (महाकवि बाणभट्टकृत कादम्बरी के आद्य-टीकाकार) के कुछ उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन प्रचलित कुछ जैन-कथाओ का फारसी मे भी अनुवाद किया गया था और वहाँ का सहस्त्ररजनी-चरित (Arabian Nights) का मूलाधार कुछ हेर-फेर के साथ अधिकाश वही कथाये रही होगी।

मध्यकालीन विविध साहित्यिक-शैलियो की दृष्टि से तो जैन-कथा-साहित्य का महत्त्व है ही, पूर्वोक्त चारुदत्तचरित, श्रीपालचरित एव भविष्यदत्तचरित जैसे कथाकाव्यो तथा 'मूलदेव कथानक' के माध्यम से इनमे वैदेशिक-व्यापार, आयात-निर्यात, यातायात के साधन, जलदस्युओ तथा अन्य-कारणो से सामुद्रिक-यात्रा की कठिनाइयो, उद्योग-धन्धे, कराधान एव कर-चोरी, शिल्पकला-कौशल, सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक-अन्धविश्वास एव नर-नारियो के विविध-चरित्रो की प्रासंगिकता और समकालीन विविध-परिस्थितियो को भी प्रकाशित किया गया है। मध्यकालीन भारतीय-इतिहास के विविध-पक्षो के लेखन की दृष्टि से ये साक्ष्य बडे ही महत्त्वपूर्ण है।

'पुण्णासवकहा-प्रशस्ति' मे उल्लिखित चन्द्रवाड-पट्टन (वर्तमान चदुवार-ग्राम) के वर्णन से स्पष्ट होता है कि 15वी-16वी सदी का वह एक प्रमुख व्यापारिक-केन्द्र था। वहाँ 84 बार पचकल्याणक-प्रतिष्ठायें हुई थी। कवि के वर्णनानुसार वहाँ बहुमूल्य हीरे, माणिक्य, पुखराज, स्फटिक आदि की अनेक सुन्दर जैन-मूर्तियो का निर्माण एव प्रतिष्ठायें हुई थी। ये तथ्य रइधूकालीन चन्द्रवाडपट्टन की श्री-समृद्धि एव वहाँ के निवासियो की सास्कृतिक-अभिरुचियो की सूचना देते हैं। वर्तमान में वह नगर एक उजाड-ग्राम के रूप मे रह गया है, किन्तु स्फटिक आदि की बहुमूल्य सुन्दर-मूर्तियाँ अभी भी वहाँ खुदाई में उपलब्ध होती हैं। उक्त-ग्रन्थ की प्रशस्ति के आधार पर 'चन्द्रवाडपट्टन' के अतीतकालीन-वैभव की खोज की जा सकती है।

उक्त कथा-काव्यो मे प्रसगवश आचार्य भद्रबाहु, सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम), सम्राट् अशोक एव सम्प्रति की कथा भी उपलब्ध होती है, जिसमे जैन सघ-भेद जैसे अनेक नवीन, रोचक ऐतिहासिक-तथ्य प्राप्त होते है।

वर्तमान-युग चरित्र-सकट एव घोर नैतिक-ह्रास का युग है। मानवीय-मूल्यों का उसमे क्षिप्रगति से अवमूल्यन हो रहा है। भ्रष्ट-राजनीति, जमाखोरी, घूसखोरी, हिसा-प्रतिहिसा, पदलोलुपता, ऊँच-नीच एव गरीबी-अमीरी का भेदभाव, शराब-खोरी, जुआखोरी, मिलावट, चोरी-डकैती, हत्यायें एवं बलात्कार आदि कुकर्म समाज एव राष्ट्र को खोखला बना रहे हैं। उनका समाधान उक्त कथा-साहित्य की सोद्देश्य-लिखित नीति-प्रधान एव चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी आदर्श-कथाये कर सकती है। पाँच-अणुव्रतो का पालन, सप्त-व्यसनो का त्याग,

चतुर्विध-दान का महत्त्व, कठोर-परीषहो का सहन आदि सम्बन्धी कथायें सरस एव सरल भाषा-शैली मे लिखकर स्वस्थ-समाज एवं राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से अपभ्रश के जैन-कवियों ने अद्वितीय-कार्य किया है।

अपभ्रश-साहित्य का भाषा-शास्त्र एव काव्यरूपों की दृष्टि से जितना महत्त्व है, उससे कही अधिक उसका महत्त्व परवर्ती-काल के साहित्य-लेखन को देन की दृष्टि से है। अपभ्रश के प्रायः समस्त जैन-कवि, आचार, अध्यात्म एव दार्शनिक-तथ्यो तथा लोक-जीवन की अभिव्यजना कथाओं के परिवेश द्वारा ही करते रहे हैं। इसप्रकार के आख्यानो के माध्यम से अपभ्रश-साहित्य मे मानव-जीवन एव जगत् की विविध मूक-भावनाये एव अनुभूतियाँ मुखरित हुई है। इसमे यदि एक ओर नैतिक एव धार्मिक-आदर्शों की गगा-जमुनी प्रवाहित हुई है, तो दूसरी ओर लोक-जीवन से प्रादुर्भूत ऐहिक-रस के मदमाते रससिक्त-निर्झर भी फूट पडे हैं। एक ओर वह पुराण-पुरुषो के महामहिम-चरित्रो से समृद्ध हैं, तो दूसरी ओर वणिक्पुत्रो अथवा सामान्य-वर्ग के सुखो-दुःखों अथवा रोमासपूर्ण-कथाओ से परिव्याप्त है। श्रद्धा-समन्वित भावभीनी स्तुतियो, सरस एव धार्मिक-सूक्तियो तथा ऐश्वर्य-वैभव, वैवाहिक-उत्सव एव भोग-विलासजन्य वातावरण, वन-विहार, सगीत-गोष्ठियाँ, जल-क्रीडाये आदि विषयो से सम्बन्धित विविध चित्र-विचित्र-चित्रणों से अपभ्रश-साहित्य की विशाल-चित्रशाला अलकृत है।

नारी-जीवन मे क्रान्ति की सर्वप्रथम समर्थ-चिनगारी अपभ्रश-साहित्य मे दिखलाई पडती है, जिसकी प्रशसा महापण्डित राहुल साकृत्यायन जैसे महान्-चिन्तको ने भी मुक्तकण्ठ से की है। महासती सीता, रानी रेवती, महासती अनन्तमती, रानी प्रभावती प्रभृति नारी-पात्रो ने इस दृष्टि से अपभ्रश के कथा-साहित्य मे एक नवीन-क्रान्तिकारी एव यशस्वी-जीवन प्राप्त किया है। महाकवि रइधू की 'पुण्णासवकहा' नामक रचना भी अपभ्रश के कथा अथवा आख्यान-साहित्य की दृष्टि से अपना विशेष-महत्त्व रखती है।

अपभ्रश-साहित्य जोइदु कवि-कृत 'परमप्पयासु' एव 'जोयसारु' जैसे मुक्तक-काव्य से आरम्भ होकर प्रबन्धकाव्य-विधा मे पर्यवसान को प्राप्त हुआ है। **क्योंकि साहित्य की परम्परा सदैव मुक्तक से ही आरम्भ होती है।** प्रारम्भ मे जीवन किसी एक दो भावना के द्वारा ही अभिव्यंजित किया जाता है, पर जैसे-जैसे ज्ञान और सस्कृति के साधनो का विकास होने लगता है, जीवन भी विविधमुखी होकर साहित्य मे प्रस्फुटित होता चलता है। सस्कृत और प्राकृत मे साहित्य की जो विविध-प्रवृत्तियाँ अग्रसर हो रही थी, प्रायः वे ही प्रवृत्तियाँ कुछ रूपान्तरित होकर अपभ्रश-साहित्य मे भी प्रविष्ट हुई। फलतः दोहा-गान के साथ-साथ प्रबन्धात्मक-पद्धति भी अपभ्रश में समादृत हुई। इस दृष्टि से चउमुह, द्रोण, ईशान, स्वयम्भू, धनपाल, पउमकित्ति, नयनदि, वीर एव विबुध श्रीधर जैसे ज्ञात एव अनेक अज्ञात एव विस्मृत-कवि प्रमुख है। ❖❖

सन्दर्भ-सूची

1 सस्कृतप्राकृतापभ्रशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धररचनानिपुणतरान्तःकरण.. . — *(Indian Antiquary, Vol X, 284, Oct 1881 A D)*

2 शब्दार्थो सहित काव्य गद्य-पद्य च तदद्विधा।
सस्कृत प्राकृतं चान्यदपभ्रश इति त्रिधा।। — *(काव्यालकार 1, 16, 28)*

3 आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृतः।
शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्रश तयोदितम्।। — *(काव्यादर्श 1/36)*

4 तदेतद् वाङ्मय भूयः संस्कृत प्राकृत तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्र चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्।। — (काव्यादर्श 1/32)

5 संस्कृत सर्गबन्धादि प्राकृत स्कन्धाकादि यत्।
ओसरादिरपभ्रशो नाटकादि तु मिश्रकम्।। — (काव्यादर्श 1/37)

6 देखिये — It will be clear from the above the Dandin is speaking of certain languages from the literature point of view and not from the Linguistic one Hence, the bad logic of segregating Apabhramsha from the Prakrits, of whom indeed it is only the youngest phase just as (Shauraseni or Pali or Magadhi) is the oldest, may be excused in his case — *(See– Bhavisadayattakaha of Dhanapala, Published by G O R I Baroda 1967, Introd Page 52)*

7 "अरे, कयरीए, उण भासाए एव उल्लवियई केणावि कि पि। हु अरे, सक्कय ताव ण होइ जेण त अणेय-पय-समास-णिवाओवसग्ग विभत्ति-लिग-परियप्पणा-कुवियप्पसय-दुग्गम दुज्जण-हियय पिव विसम। इम पुण ण एरिसं। ता कि पायय होज्ज। हु, त पि णो जेण त सयल-कला-कलाव-माला-जल-कल्लोल-सकुल-लोय-वुत्तत-महोयहि महापुरिस-महणुग्गयामय-णीसंद-बिदु-सदोह सघडिय-एक्केक्क वण्ण-पय-णाणारूव-विरयणा-सह सज्जण-वयण पिव सुह-संगयं। एय पुण ण सुट्ठु ता कि पुण अवहस होहिइ हु, त पि णो, जेण सक्कय-पायओभय-सुद्धासुद्ध-पय-सम- विसम-तरंग-रगत- वग्गिर णाव-पाउस-जलय-पवाह-पूर-पव्वालिय-गिरि-णइ-सरिस सम-विसम पणय-कुविय-पिय-पणइणी-समुल्लाव-सरिस मणोहर।" — *(कुवलयमालाकहा, सम्पा डॉ. ए एन, उपाध्ये (बम्बई, 1959), पृ 71, पंक्ति, 1-8 पर्यन्त)*

8 Jainas as possess an extremely valuable narrative literature which includes stories of every kind romances, novels, parables and beast fables, legends and fairy tales and funny stories of description The sweatambara monks used these stories as the most effective means of spreading their doctrines amongst their countrymen and developed a real art of narration in all the above mentioned languages in prose and vase in kavya as well as in the plainest style of every day life — *(See– on the literature of the Swetambaras of Gujarat (Leipzig, Germany, 1922) Page 6)*

9 All the events many agem of the narrative art of ancient India has come down to us by way of the Jaina commentaries and narrative literature which would otherwise have been consigned to oblivion and in other cases the Jainas have preserved interesting versions of numerous legends and tales which are known from other sources also — *(See–History of Indian Literature (University of Calcutta, 1993) Page 487)*

❖❖

कलह-पाहुड

निष्कारण वैरिणो जगति

"कलहणिमित्त गद्दह-जर-खेटयाविवव्वमुवयारेण कलहो, तस्स कलहपाहुडं।"

***टीका** — 'निरर्थककलह प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम्।'*

***अर्थ** — 'प्राज्ञ को मूढ (मूर्ख) जैसे निरर्थक-कलह नही करना चाहिए। कलह के निमित्त गदहा, जीर्ण वस्तु आदि भेट देने से कलह उत्पन्न होती है; अतः ऐसे उपहार को कलहोत्पादक होने से 'कलहपाहुड' सज्ञा दी गयी है।*

❖❖

प्राकृतभाषा का स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों का परिचय

✍ श्रीमती रंजना जैन

प्राकृतभाषा प्रवाहशील-भाषा रही है। इसी कारण से क्षेत्र एव कालगत-कारणो से इसमे कुछ विशेषताये उत्पन्न होती गयी। इसलिये प्राकृत के क्षेत्रगत-आधार पर ही आर्थिक-नामकरण हुये हैं। शौरसेनी, मागधी-आदि नामकरण ऐसे ही क्षेत्राधारित-नामकरण है। जबकि पैशाची-भाषा एक विशिष्ट-जनजाति के नामकरण पर आधारित है। ये ही प्राचीन-प्राकृते है। शेष-प्राकृतो के नामकरण विविध-कारणो के आधार पर हुये एव उनकी पहिचान मुख्यत: इनके प्रयोक्ता-पात्रो के अनुसार भाषाशास्त्रियो एव रूपककारो ने की है। ये सभी अपेक्षाकृत परवर्ती-प्राकृते है। — **सम्पादक**

प्राकृतभाषा का सबध बारह भाषा-परिवारो मे से 'भारोपीय परिवार' से है। इस परिवार के भी आठ उपभाषा-परिवार है। उनमे से प्राकृत का सबध पाँचवे उपपरिवार 'भारत-ईरानी' अथवा 'आर्यभाषा-उपपरिवार' से है। इसकी भी तीन शाखाये है — ईरानी, दरद एव भारतीय आर्यशाखा-परिवार। इनमे से प्राकृत का सबध 'भारतीय आर्यशाखा-परिवार' से है। अत: भारतीय-आर्यभाषा का ही एकरूप ही प्राकृतभाषा है।

'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति

वस्तुत: 'प्राकृत' शब्द की उत्पत्ति 'प्रकृति' से हुई है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। और 'प्रकृत्या भव प्राकृतम्' अर्थात् जो स्वाभाविकरूप से उद्भूत हुई है, वही प्राकृत। इसके अनुसार स्वभावत: जो बोला जाये, सो प्राकृत है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार विश्व के प्रत्येक मनुष्य के स्वाभाविक-वाग्व्यवहार को हम 'प्राकृत' कह सकते है।

इसकी कतिपय व्युत्पत्तियाँ इसप्रकार हैं —

1. "प्रक्रियते यया सा प्रकृति:, तत्र भव प्राकृतम्।"
2. "प्राक् पूर्वंकृत प्राककृत — बाल-महिलादि-सुबोध सकल-भाषा-निबन्धभूत वचन प्राकृतमुच्यते।" (नमिसाधु)
3. "प्रकृतीना साधारणजनानामिद प्राकृतम्।"
4. प्रकृतिरेव-प्राकृत शब्दब्रह्म।"
5. "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्ध प्राकृतम्।"
6. "प्राकृतेति-सकल जगज्जन्तूना... ...सहजो वचनव्यापार: प्रकृति: तत्र भव सैव वा प्राकृतम्।"

प्राकृतभाषा का सुव्यवस्थित-स्वरूप एव बहुआयामी-महत्त्व समस्त प्राचीन आचार्यों मनीषियों एव महापुरुषों ने निर्विवादरूप से स्वीकार किया है। क्योंकि विश्व के प्राचीनतम-साहित्य 'ऋग्वेद' की भाषा मे भी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ बहुलता से पाई जाती हैं। प्राकृत के महत्त्व को स्वीकार करते हुये वेदो की भाषा को सस्कृत एव प्राकृत से समन्वित माना गया है —

"संस्कृत-प्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।"
— *(ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकांड)*

भरतमुनि ने भी कहा है —

"विज्ञेयं प्राकृत पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम्।"

— (*नाट्यशास्त्र, 18/2*)

महाज्ञानी आद्य-शकराचार्य ने भी प्राकृत एव संस्कृत दोनो भाषाओं को समस्त शास्त्रो की शिरोमणि बताया है —

"वाचः प्राकृत-सस्कृताः श्रुतिशिरो।" — (*ध्वन्याष्टक, 8*)

प्राकृतभाषा के भेद

विद्वानो एव भाषाविदो ने स्वीकार किया है कि मूल मे प्राकृतभाषा का ढाँचा एक ही था। बाद मे क्षेत्रीय उच्चारण-भेदों एव शब्द-सम्पदा के कारण उसमें भेद आते गये। यद्यपि उत्तरवर्त्ती-काल मे प्राकृत में अनेको भेद-प्रभेदों ने जन्म लिया, किन्तु मूल मे इसके तीन ही रूप विद्वानो ने माने है। 1. शौरसेनी, 2. मागधी, 3. पैशाची।

इनमे भी मुख्य-ढाँचा शौरसेनी का ही था, मागधी और पैशाची तो मात्र क्षेत्रीय उच्चारण-भेद थे। इनका वैशिष्ट्य निम्नानुसार है —

1. शौरसेनी-प्राकृत

इतिहासकारो के अनुसार मगधदेश मे अफगानिस्तान से लेकर उडीसा तक, तथा काश्मीर से कर्नाटक तक का क्षेत्र समाहित था। इसका साहित्यिक-रूप अधिक व्यवस्थित होने के कारण प्राचीन-वैयाकरणो ने सर्वप्रथम इसी का व्याकरण लिखा। और फिर इसी को आधार मानकर अन्य-प्राकृतो मे जो अतर थे, मात्र उन्ही की विवेचना की तथा 'शेष शौरसेनीवत्' कहकर आगे बढ गये। शौरसेनी-प्राकृत की प्रमुख विशेषताये निम्नानुसार है —

1 **ऋ > इ**, यथा — ऋद्धि > इड्ढि
  ऋ > अ, यथा — अग्रहीत > अगहिद
  ऋ > ओ, यथा — मृषा > मोस
  ऋ > ऊ, यथा — पृथ्वी > पुढवी

2 **त > द**, यथा — चेति > चेदि, सयता > सजदा। लेकिन सयुक्त एव शब्द के आदि 'त' को 'द' नही हुआ है। यथा — सयुक्तो > सजुत्तो।

3 **थ > ध**, यथा — तथा > तधा, अयथा > अजधा।

4. **क > ग**, यथा — वेदक > वेदग, एकातेन > एगतेण।

5. दो स्वरो के मध्यवर्ती क् ग् च् ज् त् द् और प् का लोप प्रायः नही हुआ है। यथा — श्रुतकेवली > सुदकेवली, गति > गदि।

6. व्यजनलोप होने पर अवशिष्ट अ, आ के स्थान पर 'य श्रुति' भी मिलती है। यथा — तीर्थंकरो > तित्थयरो, वचन > वयण।

7. इसमे मात्र दन्त्य-सकार का ही प्रयोग होता है, जो प्राकृत की मूलभूत-विशेषता है। यथा — शील > सील।

2. मागधी प्राकृत

यह मगध-प्रात विशेषत: पूर्वी-भारत की भाषा थी। इसकी मूलप्रकृति भी 'शौरसेनी प्राकृत' है। इसकी प्रमुख-विशेषताये इसप्रकार है —

1. अकारान्त-पुल्लिग शब्दो के प्रथमा-एकवचन मे एकारान्त-रूप बनते है, यथा — एसो पुरिसो > एसो पुलिशे।
2 'रेफ' के स्थान पर 'लकार' का प्रयोग होता है। यथा — पुरिस>पुलिश, कर>कल।
3 'दन्त्य सकार' के स्थान पर 'तालव्य-शकार' का प्रयोग होता है। यथा — सारस > शालश। किंतु सयुक्त-अवस्था मे ऐसा नही होता। यथा — वृहस्पति > वुहस्सदि।
4. 'ज' के स्थान पर 'य' आदेश हुआ है। यथा — जाणदि > याणदि।
5 'च्छ' के स्थान पर 'श्च' आदेश होता है। यथा — गच्छ > गश्च।
6 'हृदय' शब्द को 'हडक्क' आदेश होता है। यथा — हृदय > हिदय > हडक्क।

3. पैशाची प्राकृत

इसकी भी प्रकृति 'शौरसेनी-प्राकृत' ही है। इसका उत्पत्ति-स्थान 'कैकय-प्रदेश' माना जाता है। पैशाची प्राकृत मे चीनी-तुर्किस्तान के खरोष्ठी-लिपि के शिलालेख एव महाकवि गुणाढ्यकृत 'वड्ढकहा' विशेषत: उल्लेखनीय है। वागभट्ट के अनुसार यह 'पिशाच' नामक जनजातीय-मनुष्यो की भाषा थी। इसकी कुछ विशेषताये इसप्रकार है —

1. प्राय: वर्ग के तृतीय-वर्ण के स्थान पर प्रथम-वर्ण का तथा चतुर्थ-वर्ण के स्थान पर द्वितीय-वर्ण का प्रयोग मिलता है। यथा — गगण > गकण, मेघो > मेखो, राजा > राचा।
2. शौरसेनी मे 'त' के स्थान पर होने वाले दकार के रूप पैशाची मे पुन: तकार मे बदल गये। यथा — होदु > होतु।
3. पैशाची प्राकृत में 'हृदय' शब्द के 'यकार' को 'पकार' हो जाता है। यथा — हिदयक > हितपक।
4. 'ट वर्ग' के स्थान पर 'त वर्ग' हो जाता है। यथा — कुटुब > कुतुब।
5. सयुक्त 'ज्ज' के स्थान पर सयुक्त 'च्च' आदेश हो जाता है। यथा — कज्ज > कच्च अज्ज > अच्च।
6 दो स्वरो के मध्यवर्ती क् ग् च् ज् त् द् य् और व् का लोप प्राय: नही होता। यथा — श्रुतकेवली > सुतकेवली।
7 क्रियारूपो मे भविष्यत्काल के 'स्सि' प्रत्यय के स्थान पर 'एय्य' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यथा — हविस्सदि > हुवेय्य।

इसप्रकार ईसापूर्वकाल मे जहाँ शौरसेनी मागधी, एव पैशाची ये तीन मूल-प्राकृते रही हैं, वही ईसोत्तर-काल मे धीरे-धीरे अवन्ती, प्राच्या, महाराष्ट्री, एव अर्धमागधी आदि का विकास हुआ। पाँचवी शताब्दी ई. तक प्राकृतो का विकास चरम-सीमा पर था। प्राचीनकाल में जहाँ सामान्य-प्राकृत सज्ञा से 'शौरसेनी-प्राकृत' को जाना जाता था। वही पाँचवीं शताब्दी ई तक यह सज्ञा 'महाराष्ट्री-प्राकृत' लिये प्रयुक्त होने लगी थी। प्राकृतभाषा

के इन परवर्ती-प्रभेदों का परिचय निम्नानुसार है —

4. महाराष्ट्री प्राकृत

सामान्यत: महाराष्ट्र मे बोली जाने वाली प्राकृत को 'महाराष्ट्री-प्राकृत' कहा गया है। किंतु यह शौरसेनी-प्राकृत का ही विकसित-रूप होने से इसका क्षेत्रविस्तार शौरसेनी के समान व्यापक रहा है। 'छठवी' शताब्दी के अलकारशास्त्र के विद्वान् महाकवि दण्डी ने 'महाराष्ट्री प्राकृत' को 'सूक्तिरूपी रत्नो का सागर' कहा है —

"महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदु:।
सागर: सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धावि यन्मयम्॥"

इसमे शौरसेनी-प्राकृत से इतनी ही विविधता पाई जाती है कि इसमे सुविधा की दृष्टि से दो स्वरो के मध्य आने वाले क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प् वर्णों का लोप कर दिया जाता है। और जब लुप्त-वर्णों के कारण असुविधा होने लगीत है, तो 'य्' एव 'व्' वर्ण का बीच मे आगम कर असुविधा को दूर कर दिया जाता है। इसे 'यश्रुति' और 'वश्रुति' भी कहते है।

प्राच्या और अवन्ती

'नाट्यशास्त्र' मे विदूषक आदि की भाषा को 'प्राच्या' कहा गया है, और धूर्तों द्वारा बोली जाने वाली बोली को 'आवन्ती' कहते हैं। मार्कण्डय ने 'प्राकृत-सर्वस्व' मे 'शौरसेनी' से ही 'प्राच्या' का उद्भव बताया है और 'आवन्ती' को 'महाराष्ट्री' और 'शौरसेनी' के बीच की 'सक्रमणकालीन-अवस्था' बताया है।

अर्धमागधी

श्वेताम्बर-जैनआगमो की भाषा को 'अर्धमागधी' कहा गया है। इसे 'ऋषियो की भाषा' या 'आर्ष' भी कहा गया है। वैयाकरणो ने शौरसेनी से प्रभावित मागधी-भाषा माना है। तथा इसका प्रचलन-काल ईसोत्तर तृतीय-चतुर्थ शताब्दी से माना है। इसकी कोई स्वतत्र-विशेषता न होने से किसी भी वैयाकरण ने इसका व्याकरणिक-परिचय नही दिया है। किसी भी नाटक में किसी भी वर्ग के पात्रो द्वारा इसका प्रयोग न मिलने से यह सिद्ध हो जाता है कि यह भाषा लोकभाषा नही थी, अपितु कृत्रिमरूप से घटित की गई थी। इसमें कही-कही तो सस्कृत के प्रयोग या संस्कृत की पद्धति पर आधारित प्रयोग मिलते हैं। तो कही शौरसेनी से भिन्नता बताने के लिये 'ण' वर्ण की जगह 'न' वर्ण का प्रयोग किया जाता है। परन्तु ऐसे प्रयोगो का कोई निश्चित आधार न होने से इसके नियम नही बनाये जा सके और इसीलिये यह भाषा लोकभाषा न बन सकी, और न ही विद्वत्जनो के लिये उपयोगी हो सकी।

ऐसी चिरन्तन-लोकभाषा एव साहित्यिक-भाषा प्राकृत के अध्ययन, अनुसन्धान, समसामयिक साहित्य-निर्माण एव बहुआयामी-लेखन के लिये प्रशासन एव विद्वानो की ओर से व्यापक-प्रोत्साहन की अपेक्षा है, तभी हम अपनी इस अनुपम सास्कृतिक-धरोहर की रक्षा कर सकेगे। समाज के 'थिक-टैक' को भी इस दिशा मे सक्रियरूप से प्रयत्नशील होने एव मार्गदर्शन देने की अपेक्षा है। ❖❖

'यथेय न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।
तस्मात्तु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत॥'

— (छान्दोग्योपनिषद्, 5/3/7)

"तत्रास्ति वक्तव्य — यथा येन-प्रकारेण इय विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्मणान् न गच्छति न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्यया अनुशासितवन्तः यथा एतत् प्रसिद्ध लोके यतः। तस्मादु पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु क्षत्त्रस्यैव क्षत्त्रजातेरेव अनया विद्यया प्रशासन प्रशास्तृत्व शिष्याणामभूत् बभूव। क्षत्रियपरम्परयैवेय विद्या एतावनत कालमागता। तथाप्येता अह तुभ्य वक्ष्यामि। त्वत् सप्रदानादूर्ध्व ब्राह्मणान् गमिष्यति। अतो मया यदुक्त तत्क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै ह उवाच विद्या राजा।" — (छान्दोग्योपनिषद् शाकरभाष्य, 5/7)

अर्थ — *क्षत्रियो से पूर्व आध्यात्मिक-विद्या ब्राह्मणो को प्राप्त नही हुई, अतएव यह मान्यता युक्तिसगत है, कि सम्पूर्ण-लोक पर क्षत्रियो का ही प्रशासन था। —* (ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्-ब्रह्माण्डपुराण, 2/14)। *गौतम को ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी प्रश्न करते सुनकर उस क्षत्रिय-नृपति ने कहा (उसीका का वक्तव्य कहते है) — "जिसप्रकार यह विद्या तुमसे पूर्व ब्राह्मणो को प्राप्त नही हुई, और न ब्राह्मण इस विद्या से अनुशासित हुये, ऐसी ही बात लोक-प्रसिद्ध है अत. पूर्व सब लोक पर क्षत्रिय-जाति का ही इस विद्या द्वारा प्रशासन हुआ। क्षत्रिय-परम्परा से ही यह विद्या इतने कालपर्यन्त प्रवृत्त रही, तथापि अब मै तुम्हे बताऊँगा। आज से तुम्हारे पश्चात् यह ब्राह्मणो मे प्रसारित होगी। अत· मैने जो कहा, उसे क्षमा करना।" तत्पश्चात् राजा ने विद्योपदेश किया।*

"क्षत्र प्राणो वै क्षत्र, प्राणीहि वै क्षत्र, त्रायते हैतप्राणः क्षणितो
प्रक्षत्रमन्नमप्नोति क्षत्रस्य सायुज्य सलोकता जयति य एव वेद॥"

— (वृहदारण्यकोपनिषत्, 5/13/4)

अर्थ — *प्राण आत्मशक्ति वास्तव मे आत्मा मे ही वेद निहित है, ज्ञान का प्रकाश आत्मा मे ही होता है। अब क्षत्र का वर्णन है। प्राण ही क्षत्र है, प्राण ही निश्चय-क्षत्र है, क्योंकि इसको देह को घाव से प्राण बचाता है, इस का 'क्षत' पूर्ण कर देता है। जो ऐसा जानता है, वह यहाँ विशेषता से त्राप को प्राप्त होता है, और क्षत्र के सायुज्य और उसकी सलोकता को जीत लेता है। प्राणस्वरूप आत्मा ही क्षत्रभाव से पूर्ण है। वीरभार (वीरभोग्या वसुधरा) आत्मशक्ति का प्रकाश है।*

परिशिष्ट 1

प्रस्तुत-ग्रन्थ के विद्वान् लेखक लेखिकाओं का संक्षिप्त-परिचय

परिशिष्ट 1

प्रस्तुत-ग्रन्थ के लेखक-लेखिकाओं का परिचय

क्र.स. लेखक/लेखिका का नाम एवं परिचय

01. **(स्व.) प. आशाधर सूरि** — 700 से अधिक श्रमणों को शास्त्राभ्यास करानेवाले जैन-इतिहास के आदर्श-विद्वान् प आशाधर सूरि को विख्यात-अध्यात्मवेत्ता अमृतचन्द्र सूरि ने भी सबहुमान उल्लिखित किया है। ये 11वी शताब्दी ईस्वी के प्रख्यात जैन-विद्वान् एव ग्रथकार थे।

    प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*महावीर-स्तवन*' शीर्षक सस्कृत-स्तुति एव **खण्ड-2** मे प्रकाशित '*अर्हत्स्तुतिः*' शीर्षक संस्कृत-स्तवन आपके द्वारा प्रणीत हैं।

02. **(स्व.) प. भागचन्दजी** — 18वी शताब्दी में कविवर प भागचद जी हिन्दी-भाषा मे अपने जैन-भजनो के कारण प्रसिद्ध हुये, किंतु उनके द्वारा सस्कृत के आठ-आठ शिखरिणी-छद मे निबद्ध 'महावीराष्टक' उनकी प्रसिद्धि का प्रमुख-कारण बना है।

    प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*महावीराष्टक-स्तोत्र*' शीर्षक-स्तुति आपके द्वारा प्रणीत है।

03. **आचार्यश्री विद्यानन्द मुनिराज** — भारत की यशस्वी श्रमण-परम्परा के उत्कृष्ट-उत्तराधिकारी एव अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी सत परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज वर्तमान-मुनिसघो मे वरिष्ठतम है।

    प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-2** में '*सर्वोदय तीर्थमिद तवैव*' एव **खण्ड-3** में '*श्रमण-परम्परा*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

04. **आचार्य महाप्रज्ञ** — अपने नाम का चरितार्थ करनेवाले आचार्य श्री श्वेताम्बर जैन तेरापन्थ-सम्प्रदाय के प्रमुख है। आपकी सारस्वती-लेखनी से अनेकों महनीय-पुस्तको का प्रणयन हुआ है।

    प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-2** मे प्रकाशित '*अहिसा-प्रशिक्षण : एक सार्वभौम-आयाम*'; शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

05. **(स्व.) डॉ. ए.एन. उपाध्ये** — प्राकृतभाषा एव जैनागम-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ-मनीषी रहे डॉ. उपाध्ये आज एक प्रामाणिकता के मिथक बन चुके हैं। वे अपने यशःकाय-रूप मे साहित्य के द्वारा कालजयी बने हुये हैं।

    प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*भगवान् महावीर और उनका जीवन-दर्शन*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

06. **(स्व.) डॉ. एस. राधाकृष्णन** — भारत के सुप्रसिद्ध-शिक्षाविद् एव अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति के दार्शनिक-मनीषी है। भारतीय-दर्शन पर लिखित आपकी पुस्तक ने अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर ख्याति-प्राप्त की है। आपने भारत के राष्ट्रपति-पद को भी सुशोभित किया है।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*तीर्थंकर महावीर*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

07. **(स्व.) राजेन्द्रप्रसाद (*पूर्व-राष्ट्रपति*)** — विश्वविख्यात-शिक्षाविद् डॉ राजेन्द्रप्रसाद जी भी भारत-गणराज्य के राष्ट्रपति रहे हैं।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*प्राकृत-भाषा और भगवान् महावीर*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

08 **(स्व.) डॉ. परिपूर्णानन्द वर्मा** — उत्तर-प्रदेश के पूर्व-राज्यपाल एव शिक्षाविद् डॉ सम्पूर्णानन्द वर्मा के भाई डॉ परिपूर्णानन्द वर्मा एक विशिष्ट भारतीय-भाषाविद् और दार्शनिक-लेखक के रूप मे लब्धरग्गल रहे है।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*हिन्दुओ के आराध्य — भगवान् महावीर*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

09 **(स्व.) डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल** — भारतीय-इतिहास, सस्कृति, पुरातत्त्व एव भारतीय-विद्याओ के अन्यतम मनीषी-साधक डॉ अग्रवाल भारतीय-विद्वद्जगत् मे एक मिथक के रूप मे प्रतिष्ठित है।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*दीर्घप्रज्ञ भगवान् महावीर*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

10 **(स्व.) महापण्डित राहुल साकृत्यायन** — 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को चरितार्थ करते हुये सम्पूर्ण-विश्व मे परिभ्रमण करते हुये अपने ज्ञान को बहुआयामी-विकास देनेवाले 'घुमक्कड-शिरोमणि' राहुल जी अप्रतिम मनीषी-लेखक रहे है।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*महावीर की जन्मभूमि 'वैशाली' का प्रजातन्त्र*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

11. **(स्व.) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** — आप भारतीय सस्कृति एव हिन्दी-साहित्य जगत् के शिरोमणि मनीषियो मे अग्रगण्य रहे है।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित 'आत्मजयी महावीर' एव '*महावीर की जन्मभूमि 'वैशाली' की महिमा*' शीर्षक-लेख आपके द्वारा प्रणीत है।

12 **(स्व.) रामधारी सिह 'दिनकर'** — भारत के यशस्वी-राष्ट्रकवि 'दिनकर' जी जननेता भी थे और सिद्धहस्त- लेखक भी। ऐसी बहुआयामी-प्रतिभा के धनी-महामनीषी अपने साहित्य के रूप मे आज भी जनजीवन मे विद्यमान हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*वैशाली*' शीर्षक हिन्दी-कविता आपके द्वारा प्रणीत है।

13. **(स्व) डॉ. मगलदेव शास्त्री** — आप सस्कृतविद्या एव भारतीय सस्कृति के मूर्धन्य-मनीषी थे। सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय के यशस्वी-कुलपति रहे।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-2** मे '*भारतीय दर्शन एव जैनदर्शन*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

14. **(स्व.) कामताप्रसाद जैन** — आप जैनदर्शन, सस्कृति, इतिहास एव विविध-विषयो के अधिकारी-विद्वान् थे।

प्रस्तुत-ग्रंथ के **खण्ड-3** मे प्रकाशित '*विश्व-इतिहास और भूगोल के लिये जैन-साहित्य की महत्ता*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

15. **(स्व.) डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन** — आप जैन-इतिहास, सस्कृति के सुप्रतिष्ठित-विद्वान् एव सिद्धहस्त-लेखक रहे हैं।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*जय महावीर नमो!*' शीर्षित हिन्दी-कविता एव **खण्ड-2** मे प्रकाशित '*भारतवर्ष का एक प्राचीन जैन-विश्वविद्यालय*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

16. **(स्व.) डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री** — आप भारत मे प्राकृतभाषा एव साहित्य के सुविख्यात-हस्ताक्षर रहे है, सम्पूर्ण बिहार-प्रात में जो हर विश्वविद्यालय एव महाविद्यालय मे प्राकृत के विभाग कार्यरत हैं; उनका सर्वाधिक-श्रेय आपको ही जाता है। आपने प्राकृतभाषा, साहित्य के अतिरिक्त ज्योतिष, छदशास्त्र, इतिहास एव सस्कृति आदि विषयो पर बहुआयामी-चितन से युक्त महत्त्वपूर्ण-साहित्य का सृजन किया है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*महावीर-दर्शन मे 'शब्द' की स्थिति*', **खण्ड-3** मे '*जैनधर्म का महान्-प्रचारक — सम्राट्-सम्प्रति*' एव **खण्ड-4** '*प्राकृत-भाषा का सास्कृतिक अध्ययन*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

17. **(स्व.) प. बेचरदास दोशी** — प्राकृतभाषा एव व्याकरण के प्रतिष्ठित-विद्वान् प बेचरदास दोशी ने प्राकृतभाषा और साहित्य के क्षेत्र में उस समय समर्पित होकर कार्य किया, जब इस क्षेत्र मे कोई भारतीय-विद्वान् प्राय: नही था। आपके द्वारा लिखित प्राकृत-पुस्तके एव सम्पादित-ग्रन्थ आज भी विद्वानो के बीच मे स्पृहणीय हैं।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-3** मे प्रकाशित '*प्राकृत-भाषा का महत्त्व*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

18. **(स्व.) डॉ. बलदेव उपाध्याय** — सस्कृत-साहित्य के बीसवीं शताब्दी के स्वनामधन्य-लेखको मे वरिष्ठतम रहे डॉ. उपाध्याय बहुश्रुत विद्वान् थे।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*भगवान् महावीर · वैशाली की दिव्य-विभूति*'; **खण्ड-3** मे '*भारतीय-सस्कृति को तीर्थंकर ऋषभदेव की देन*' एव **खण्ड-4** में प्रकाशित '*प्राकृतभाषा का वैशिष्ट्य*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत हैं।

19. **(स्व.) प हीरालाल सिद्धाताचार्य** — आप जैनदर्शन, प्राकृतभाषा, आगम-साहित्य आदि के परपरित-विद्वान् एव समाजसेवी थे।

प्रस्तुत-ग्रंथ के **खण्ड-3** मे प्रकाशित '*प्राकृत-भाषा का महत्त्व*' एव **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषा का मूल्याकन*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत हैं।

20. **(स्व.) श्री भुजबली शास्त्री** — जैन-विद्वानों की परम्परा मे जहाँ औदीच्य-विद्वान् अधिक हुये है,

वही दक्षिण-भारत के विद्वान् सख्या मे कम होते हुये भी विषय की गरिमा की दृष्टि से उनका महत्त्व समतुल्य ही रहा है। ऐसे विद्वानो मे स्व. प. भुजबली शास्त्रीजी का विशेष-उल्लेखनीय-योगदान रहा है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-3** मे प्रकाशित '*जैन-पुराण*' शीर्षक-लेख आपके द्वारा प्रणीत है।

21. **(स्व.) डॉ. श्रीकृष्णसिह** — आप बिहार-प्रान्त के पूर्व-मुख्यमत्री रहे। आप एक अच्छे-मनीषी एव सुलझे हुये राजनेता थे।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*प्राचीन-वैशाली के आदर्श*' शीर्षक-लेख आपके द्वारा प्रणीत है।

22. **(स्व.) श्री यशपाल जैन** — हिन्दी-साहित्य-जगत् के जाने-माने हस्ताक्षर, समाजसेवी, विद्वान् श्री यशपाल जैन अपनी उल्लेखनीय-सेवाओ के कारण भारत-सरकार द्वारा पद्मश्री-सम्मान से सम्मानित किये गये। सस्ता साहित्य-मडल की स्थापना कर आपने श्रेष्ठ-साहित्य को उच्च-मानदडो के अनुरूप न्यूनतम-मूल्य मे प्रकाशित कराकर अनुपम-साहित्य-सेवा की है।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*अहिसा के आयाम : महावीर और गाँधी*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

23. **(स्व) प बलभद्र जैन** — दिगम्बर-जैन-तीर्थक्षेत्रो के इतिहास से ख्याति-प्राप्त आप जैन-सघ 84, मथुरा एव कुन्दकुन्द भारती जैसी सस्थाओ से सपृक्त रहे, तथा आपने अनेको पुस्तको का लेखन एव ग्रन्थो का सम्पादन किया।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*भगवान् महावीर*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

24. **(स्व.) नवीनचद्र शास्त्री** — आप एक उच्चस्तरीय-विचारक और सिद्धहस्त-लेखक थे।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*भगवान् महावीर का बोधि-स्थान*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

25. **(स्व.) श्रीयुत त्रिवेणीप्रसाद** — भारतीय-विद्या के क्षेत्र मे काम करनेवाले विद्वानो ने जैन-विद्या के क्षेत्रो मे भी अच्छा-योगदान दिया है। ऐसे ही एक विशेष-मनीषि रहे है — श्रीयुत त्रिवेणीप्रसाद जी।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-3** मे प्रकाशित '*दक्षिण-भारत के जैन-वीर*' शीर्षक-लेख आपके द्वारा प्रणीत है।

26. **(स्व.) बिशम्भरनाथ पांडे** — आप उडीसा-प्रात के महामहिम राज्यपाल रहे है। भारतीय-मनीषा के आप सुविख्यात-हस्ताक्षर रहे है। आपकी अनेकों रचनाये विश्वविश्रुत रही, विशेषत: आपके देहावसान के बाद प्रकाशित 'भारत और मानव सस्कृति' के दो भाग आज विद्वज्जगत् मे चर्चित है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-3** मे प्रकाशित '*जैन-सस्कृति एव तीर्थंकर-परम्परा*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

27. **(स्व.) प. दलसुख मालवणिया** — प्राकृतभाषा एव जैन आगम-साहित्य के सुप्रतिष्ठित-मनीषी प. मालवणिया जी अहमदाबाद के एल.डी. इन्स्टीट्यूट के वर्षों तक निदेशक रहे।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-2** मे प्रकाशित '*आधुनिक-युग और भगवान् महावीर*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

28. **(स्व.) प्रिंसिपल मनोरजनप्रसाद सिंह** — शैक्षिक-प्रशासन होने के साथ-साथ आप एक सूक्ष्म-विचारक, गहन-अध्येता एव गवेषी-विद्वान् थे। स्फीत-लेखन के क्षेत्र मे आपकी विशेष-प्रतिष्ठा रही।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*इस वैशाली के आँगन में*' शीर्षक हिन्दी-कविता आपके द्वारा प्रणीत है।

29. **प. नाथूलाल जी शास्त्री** — आप सपूर्ण भारतवर्ष म जैनविद्या के, विशेषत: प्रतिष्ठा-विधान एव सस्कार के क्षेत्र मे सर्वाधिक-प्रतिष्ठित वयोवृद्ध-विद्वान् है। आपने देश भर के अनेको महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमो का दिग्दर्शन किया है तथा सामाजिक-शिक्षण के कार्य मे आपका अन्यतम योगदान रहा है। आपने विविध-विषयो पर अनेको प्रामाणिक महत्त्वपूर्ण-पुस्तके भी लिखी है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*तीर्थंकर की दिव्यध्वनि की भाषा*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — 42, शीश महल, सर हुकुमचद मार्ग, इदौर-452002 (म प्र)।

30. **डॉ. राजाराम जैन** — आप मगध विश्वविद्यालय मे प्राकृत, अपभ्रश के 'प्रोफेसर' पद से सेवानिवृत्त होकर श्री कुन्दकुन्द भारती जैनशोध-सस्थान के 'निदेशक' है। अनेको महत्त्वपूर्ण-ग्रन्थो, पाठ्यपुस्तको एव शोध-आलेखो के यशस्वी-लेखक भी हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** में प्रकाशित 'भगवान् महावीर के व्यक्तित्व का दर्पण : 'वड्ढमाण-चरिउ''; **खण्ड-3** मे '*जैन-परम्परा का महनीय गौरव-ग्रन्थ कातन्त्र-व्याकरण*' एव **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*अपभ्रश भाषा एव उसके कुछ प्राचीन सन्दर्भ*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — महाजन टोली न. 2, आरा-802301 (बिहार)।

31. **डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री** — आप जैनदर्शन के साथ-साथ प्राकृत-अपभ्रश एव हिंदी भाषाओ के विश्वविख्यात-विद्वान् एव सिद्धहस्त-लेखक हैं। दशाधिक-पुस्तके एव दो सौ से अधिक शोध-निबध प्रकाशित हो चुके है। सप्रति आप भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली मे उपनिदेशक (शोध) के पद पर कार्यरत हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*भारतीय-भाषाओ के विकास मे प्राकृत-अपभ्रश का योगदान*' शीर्षित-आलेख आपके द्वारा प्रणीत हैं।

सम्पर्क-सूत्र — 243, शिक्षक कालोनी, नीमच-458441 (म.प्र.)।

32. **डॉ. कलानाथ शास्त्री** — आप सस्कृतविद्या एवं भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य-मनीषी हैं। सम्प्रति आप राजस्थान सस्कृत-अकादमी के प्रमुख हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-4** मे *'प्राकृत काव्य-शैली का दूरगामी प्रभाव'* शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — 4, पृथ्वीराज मार्ग, जयपुर-302001 (राज)।

33 **डॉ. हरिराम आचार्य** — आप भारतीय सस्कृति एव सस्कृत-प्राकृत के अधिकारी विद्वान् हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय के सस्कृत-विभाग के कृतकार्य-प्रोफेसर हैं। हिन्दी-सस्कृत एव प्राकृत के सिद्धहस्त-कवि व लेखक हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-2** मे *'महावीरस्स आगम-पहो'* शीर्षक प्राकृतपद्य-रचना; **खण्ड-3** मे 'जय जिनेन्द्र' शीर्षक हिन्दी-कविता, एव **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*प्राकृत का लोकप्रिय छद — गाहा (गाथा)*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — 42-ए, पर्णकुटी गगवाल पार्क, जयपुर-302004 (राज)।

34. **डॉ. विद्यावती जैन** — आप मगध विश्वविद्यालय की कृतकार्य-प्रोफेसर है, तथा जैन-साहित्य एव प्राकृतभाषा की अच्छी विदुषी है। आप प्रो (डॉ) राजाराम जैन की सहधर्मिणी है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*महावीर-विषयक अनुपम-ग्रन्थ 'महावीररास'*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — महाजन टोली न. 2, आरा-802301 (बिहार)।

35. **प्रो. प्रेमसुमन जैन** — आप मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय मे कलासकाय के अधिष्ठाता एव प्राकृत के प्रोफेसर हैं। 'प्राकृतविद्या' के 'सम्पादक-मण्डल' के वरिष्ठ सदस्य है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*शौरसेनी प्राकृत में प्राचीन भाषा-तत्त्व*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — 29, विद्याविहार कॉलोनी, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर-313001 (राज.)

36. **डॉ. रवीन्द्र कुमार वशिष्ठ** — दिल्ली विश्वविद्यालय मे उपाचार्य (रीडर) पद पर सुशोभित डॉ. वशिष्ठ भारतीय-लिपियों के गहन-अनुसन्धाता एव अधिकारी-विद्वान् है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-3** में प्रकाशित '*जैन-परम्परा और 'ब्राह्मी' लिपि*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — बी-वी 77बी. (पूर्वी), शालीमार बाग, दिल्ली-110088.

37. **साहू रमेशचंद जैन** — विगत 50 वर्षों से सम्पूर्ण जैन-समाज को आपके कर्मठ एव दूरदर्शी-नेतृतव में अनेकों महत्त्वपूर्ण-उपलब्धियाँ हासिल हुई हैं। आपके अनुभव एवं व्यवहार-कुशलता के कारण समाज को एक प्रगतिशील-दिशा मिली है। पत्रकार-महर्षि के रूप मे विख्यात साहू रमेशचंद जी सम्प्रति भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबन्ध-न्यासी तथा अखिल-भारतवर्षीय दिगम्बर-जैन-तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** में प्रकाशित '*भगवान् महावीर का सदेश*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — सी-48, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली.

38. **डॉ. प्रेमचंद रांवका** — आप हिन्दी-साहित्य के सुविज्ञ विद्वान् है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के खण्ड-1 में प्रकाशित '*वर्द्धमान महावीर : जीवन एव दर्शन*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — 1910, खेजडो का रास्ता, जयपुर-30200. (राज)।

39. **डॉ. श्रीरजन सूरिदेव** — सस्कृत-प्राकृतभाषाओ पर भारतीय-विद्या के समर्पित-विद्वान है, तथा निरन्तर शैक्षिक-अध्यवसाय मे सलग्न रहते है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*प्राकृत-साहित्य मे गीतिकाव्य*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — पी एन सिह कॉलोनी, भिखना पहाडी, पटना (बिहार)।

40. **अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ** — आप हिन्दी के अच्छे जैन-कवि है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*2600वीं वीर-जयती*' शीर्षक-कविता आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — 769, गोदिको का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर-302003 (राज)।

41. **डॉ. शशिप्रभा जैन** — आप श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय सस्कृत विद्यापीठ के शिक्षाशास्त्री-विभाग मे प्रोफेसर-पद को अलंकृत कर रही हैं।

प्रस्तुत-ग्रथ के **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*सम्राट् अशोक के शिलालेखो मे उपलब्ध जैन-परम्परा के पोषक-तत्त्व*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-16.

42. **डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल** — आप ओरियटल पेपर मिल्स, अमलाई मे कार्मिक अधिकारी के पद से सेवानिवृत्त हुये, जैनसमाज के अच्छे स्वाध्यायी विद्वान् है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-2** मे '*'तिलोयपण्णत्ती' में भगवान् महावीर और उनका सर्वोदयी दर्शन*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — बी-369, ओ.पी.एम. कालोनी, अमलाई-484117 (उ.प्र.)।

43. **डॉ. रमेशचंद जैन** — आप भी जैनदर्शन के गवेषी विद्वान् है। सप्रति आप जैन कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.) में संस्कृत एवं जैनदर्शन के विभागाध्यक्ष हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-3** में '*हड़प्पा की मोहरों पर जैनपुराण और आचरण के सन्दर्भ*' तथा '*जैनधर्म*

और अन्तिम तीर्थंकर महावीर' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत हैं।

सम्पर्क-सूत्र — जैन मंदिर के पास, बिजनौर-246701 (उ प्र)।

44. **डॉ. उदयचद जैन** — सम्प्रति सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज) मे प्राकृत विभाग मे रीडर है। प्राकृतभाषा एव व्याकरण के विश्रुत-विद्वान् एव सिद्धहस्त प्राकृत-कवि है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित *'वइसालीए कुमार-वड्ढमाणो'* शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — पिऊकुज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज.)।

45. **डॉ. अभयप्रकाश जैन** — आप शासकीय-सेवा मे होते हुये भी बौद्धिक-अध्यवसाय के कार्यों मे अच्छी-रुचि लेते है तथा जैनविद्या के विविध-क्षेत्रो पर चितन एव लेखन का कार्य करते रहते है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-4** मे प्रकाशित *'प्राकृतभाषा के प्रकाश-स्तम्भ'* शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — एन-14, चेतकपुरी, ग्वालियर-474009 (म.प्र.)।

46 **श्रीमती अमिता जैन** — आप प्राकृत, अपभ्रश एव जैनविद्या की स्वाध्यायी विदुषी है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-3** मे प्रकाशित *'भारतीय शिक्षण-व्यवस्था एव जैन विद्वान्'* शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — जे-18बी, सेक्टर-10, डी.एल.एफ., फरीदाबाद-121006 (हरियाणा)।

47. **डॉ. सुदीप जैन** — श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय सस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली मे प्राकृतभाषा-विभाग मे रीडर एव प्राकृतभाषा-पाठ्यक्रम के सयोजक। अनेको पुस्तको के लेखक, सम्पादक। 'प्राकृतविद्या' नामक त्रैमासिकी शोध-पत्रिका के 'मानद-सम्पादक'।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-2** मे *'महावीर-देशना के अनुपम रत्न'*; **खण्ड-3** मे *'जैनधर्म-दर्शन का विश्वव्यापित्व : कतिपय तथ्य'*, *'महावीर की निर्ग्रन्थ-परम्परा एव उसका वैशिष्ट्य'* तथा *'मगलमूर्ति गणेश : तथ्यो के आलोक मे'* एव **खण्ड-4** मे प्रकाशित *'प्राकृतभाषा का परिचयात्मक-अनुशीलन'* शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — बी-32, छत्तरपुर एक्सटेशन, नदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030.

48. **डॉ. (श्रीमती) माया जैन** — आप जैनदर्शन, की अच्छी विदुषी एव डॉ. उदयचद जी जैन की सहधर्मिणी है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-4** में प्रकाशित *'भाषा-परिवार और शौरसेनी प्राकृत'* शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — पिऊकुंज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज.)।

49. **डॉ. वीरसागर जैन** — आप हिन्दी भाषा-साहित्य एव जैनदर्शन के विख्यात-विद्वान् हैं। सम्प्रति आप श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय सस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली मे जैनदर्शन-विभाग के अध्यक्ष हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** में प्रकाशित प. भागचन्दजी कृत '*महावीराष्टक-स्तोत्र*' का हिन्दी-पद्यानुवाद, एव **खण्ड-2** मे प्रकाशित '*जैनदर्शन मे 'द्रव्य' की अवधारणा*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली-110067

50. **श्रीमती मजूषा सेठी** — आप प्राकृतभाषा एव साहित्य की अच्छी विदुषी है। सम्प्रति आप श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय सस्कृत विद्यापीठ, मानित विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्राकृतभाषा-विभाग की शोधछात्रा हैं।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-3** मे '*महावीर की अचेलक-परम्परा*', एव **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*ईसापूर्व के महत्त्वपूर्ण शिलालेखो की भाषा मे तत्कालीन शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत हैं।

सम्पर्क-सूत्र — सी-9/9045, वसतकुज, नई दिल्ली-110070

51 **श्रीमती रजना जैन** — हिन्दी-साहित्य एव प्राकृतभाषा-साहित्य की विदुषी-लेखिका है। सम्प्रति आप श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय सस्कृत विद्यापीठ, मानित विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्राकृतभाषा-विभाग की जे.आर एफ-प्राप्त शोधछात्रा है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*तथ्यो के आलोक मे तीर्थंकर-महावीर*'; **खण्ड-2** मे '*अहिसा विश्वधर्म*', **खण्ड-3** मे '*आगम-मर्यादा एव निर्ग्रन्थ श्रमण*' एव **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*प्राकृतभाषा का स्वरूप एव भेद-प्रभेदो का परिचय*' शीर्षित-आलेख आपके द्वारा प्रणीत हैं।

सम्पर्क-सूत्र — बी-32, छत्तरपुर एक्सटेशन, नदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

52. **प्रभात कुमार दास** — सम्प्रति आप श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय सस्कृत विद्यापीठ, मानित विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्राकृतभाषा-विभाग के शोधछात्र है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-1** मे प्रकाशित '*लोकतान्त्रिक-दृष्टि और भगवान् महावीर*' एव **खण्ड-4** मे प्रकाशित '*प्राचीन नाटको मे प्रयुक्त प्राकृतो की सम्पादकीय-अवहेलना*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत हैं।

सम्पर्क-सूत्र — शोधछात्र, प्राकृतभाषा विभाग, श्री ला.ब.शा रा स विद्यापीठ, नई दिल्ली-16.

53. **स्नेहलता जैन** — आप अपभ्रश की शोधछात्रा है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के **खण्ड-4 में प्रकाशित** '*भारतीय- सास्कृतिक व भाषिक-एकता*' शीर्षक-आलेख आपके द्वारा प्रणीत है।

सम्पर्क-सूत्र — 14/35, शिप्रापथ, मानसरोवर, जयपुर-302020 (राज.)। ❖❖

परिशिष्ट 2

❖❖

प्रस्तुत-ग्रन्थ के लेखों की आधार-सामग्री की सूचना

❖❖

परिशिष्ट 2

प्रस्तुत-ग्रन्थ में प्रयुक्त लेखों के स्रोतों का विवरण

क्र.स.	लेख	स्रोत-परिचय
खण्ड 1		
01.	*महावीर-स्तवन* (सस्कृत-स्तुति)	*प्राकृतविद्या, वर्ष 7, अक 4, पृष्ठ 3.*
02.	वर्द्धमान महावीर : मनीषियो की दृष्टि मे	*प्राकृतविद्या, जनवरी-जून 2001, पृष्ठ 5-7, एव शोधादर्श, वर्ष नवम्बर 2001, पृष्ठ 1-6,*
03.	महावीराष्टक-स्तोत्र	*हिन्दी-अनुवादक द्वारा प्रेषित।*
04.	2600वीं वीर-जयती	*प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 1, पृष्ठ 45*
05	आत्मजयी महावीर	*प्राकृतविद्या, वर्ष 13, अक 2, पृष्ठ 36-39*
06.	भगवान् महावीर और उनका जीवन-दर्शन	*प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 4, पृष्ठ 24-41*
07.	तीर्थंकर महावीर	*वीर, वर्ष 75, अक 20, पृष्ठ 27-29*
08.	हिन्दुओं के आराध्य – भगवान् महावीर	*वीर, वर्ष 75, अक 20, पृष्ठ 33-35*
09.	दीर्घप्रज्ञ भगवान् महावीर	*वैशाली अभिनदन-ग्रथ, पृष्ठ 108-115*
10.	भगवान् महावीर का सदेश	*वीर, वर्ष 75, अक 2, पृष्ठ 31-32*
11	*जय महावीर नमो!* (हिन्दी-कविता)	*वैशाली अभिनदन-ग्रथ, पृष्ठ 108-115*
12.	महावीर की जन्मभूमि 'वैशाली' की महिमा	*वैशाली अभिनदन-ग्रथ, पृष्ठ 153-159*
13.	भगवान् महावीर : वैशाली की दिव्य-विभूति	*वैशाली अभिनदन-ग्रथ, पृष्ठ 237-242.*
14	*वैशाली* (हिन्दी-कविता)	*वैशाली अभिनदन-ग्रथ, पृष्ठ 299*
15	महावीर की जन्मभूमि 'वैशाली' का प्रजातन्त्र	*वैशाली अभिनदन-ग्रथ, पृष्ठ 39-50*
16.	*इस वैशाली के आँगन मे* (हिन्दी-कविता)	*वैशाली अभिनदन-ग्रथ, पृष्ठ 300-301.*
17.	प्राचीन-वैशाली के आदर्श	*वैशाली अभिनंदन-ग्रथ, पृष्ठ 31-33*
18.	तथ्यो के आलोक में तीर्थंकर-महावीर	*वीर, वर्ष 15, अक 20, पृष्ठ 53-62*
19.	वर्द्धमान महावीर : जीवन एवं दर्शन	*प्राकृतविद्या, वर्ष 13, अक 1, पृष्ठ 103-106.*
20.	भगवान् महावीर का बोधि-स्थान	*जैन-सिद्धान्तभास्कर, भाग 21, किरण 2, दिसम्बर 1954, पृष्ठ 46*
21.	भगवान् महावीर	*प्राकृतविद्या, वर्ष 13, अंक 3, पृष्ठ 30-38*
22.	अहिसा के आयाम : महावीर और गाँधी	*प्राकृतविद्या, वर्ष 4, अक 1-3, पृष्ठ 3-8*
23.	लोकतान्त्रिक-दृष्टि और भगवान् महावीर	*प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 4, पृष्ठ 82-86*
24.	वइसालीए कुमार-वड्ढमाणो	*प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 4, पृष्ठ 46.*
25.	भगवान् महावीर के व्यक्तित्व का दर्पण : 'वड्ढमाण-चरिउ'	*'वड्ढमाणचरिउ' की भूमिका से लेखक द्वारा प्रेषित।*
26.	महावीर-विषयक अनुपम-ग्रन्थ : 'महावीररास'	*महावीररास की भूमिका से लेखिका द्वारा प्रेषित।*

खण्ड 2

01	अर्हत्स्तुतिः	प्राकृतविद्या, वर्ष 6, अक 4, पृष्ठ 3
02.	महावीरस्स आगम-पहो	प्राकृतविद्या, वर्ष 1, अक 4, पृष्ठ 50-52.
03	सर्वोदय तीर्थमिद तवैव	प्राकृतविद्या, वर्ष 13, अक 1, पृष्ठ 17-27
04.	अहिसा-प्रशिक्षण एक सार्वभौम-आयाम	वीर, वर्ष 75, अक 20, पृष्ठ 11-17
05	आधुनिक-युग और भगवान् महावीर	प्राकृतविद्या, वर्ष 2, अक 4, पृष्ठ 52-56.
06.	'तिलोयपण्णत्ती' मे भगवान् महावीर और उनका सर्वोदयी दर्शन	प्राकृतविद्या, वर्ष 11, अक 1, पृष्ठ 77-81
07.	भारतीय दर्शन एव जैनदर्शन	प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 3, पृष्ठ 21-22
08.	महावीर-देशना के अनुपम रत्न	लेखक द्वारा प्रेषित।
09	महावीर-दर्शन मे 'शब्द' की स्थिति	जैन-सिद्धान्तभास्कर, भाग 20, किरण 2, दिसम्बर 1953 पृष्ठ 7-13
10.	अहिसा . विश्वधर्म	प्राकृतविद्या, वर्ष 11, अक 2 पृष्ठ 67-68
11	जैनदर्शन मे 'द्रव्य' की अवधारणा	लेखक द्वारा प्रेषित।

खण्ड 3

01	जय जिनेन्द्र	लेखक द्वारा प्रेषित।
02.	श्रमण-परम्परा	प्राकृतविद्या, वर्ष 7, अक 4, पृष्ठ 46-48
03	जैन-सस्कृति एव तीर्थंकर-परम्परा	प्राकृतविद्या, वर्ष 11, अक 2, पृष्ठ 15-19
04	भारतीय-सस्कृति को तीर्थंकर ऋषभदेव की देन	प्राकृतविद्या, वर्ष 13 अक 4, पृष्ठ 32-36
05.	विश्व-इतिहास और भूगोल के लिये जैन-साहित्य की महत्ता	जैन-सिद्धान्तभास्कर, भाग 13, किरण 1, पृष्ठ 9-16
06.	भारतवर्ष का एक प्राचीन जैन-विश्वविद्यालय	प्राकृतविद्या, वर्ष 13, अक 3, पृष्ठ 22-29
07.	जैनधर्म का महान्-प्रचारक — सम्राट्-सम्प्रति	जैन-सिद्धान्तभास्कर, भाग 16, किरण 2, दिसम्बर 1949, पृष्ठ 114-127
08.	दक्षिण-भारत के जैन-वीर	जैन-सिद्धान्तभास्कर, भाग 6, किरण 5, मार्च 1940, पृष्ठ 249-257
09.	जैनधर्म-दर्शन का विश्वव्यापित्व : कतिपय तथ्य	प्राकृतविद्या, वर्ष 7, अक 4, पृष्ठ 49-55
10.	हड़प्पा की मोहरो पर जैनपुराण और आचरण के सन्दर्भ	प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 3, पृष्ठ 51-59
11.	भारतीय शिक्षण-व्यवस्था एव जैन विद्वान्	प्राकृतविद्या, वर्ष 10, अक 3-4, पृष्ठ 61-63.
12.	मगलमूर्ति गणेश : तथ्यो के आलोक मे	प्राकृतविद्या, वर्ष 7, अक 1, पृष्ठ 29-36
13.	जैन-पुराण	जैन-सिद्धान्तभास्कर, भाग 8, किरण 1, जून 1941, पृष्ठ 1-9
14.	महावीर की निर्ग्रन्थ-परम्परा एव उसका वैशिष्ट्य	लेखक द्वारा प्रेषित।

15.	जैन-परम्परा और 'ब्राह्मी' लिपि	*प्राकृतविद्या, वर्ष 13, अक 2, पृष्ठ 52-56*
16.	जैन-परम्परा का महनीय गौरव-ग्रन्थ कातन्त्र-व्याकरण	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
17.	जैनधर्म और अन्तिम तीर्थंकर महावीर	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
18.	आगम-मर्यादा एवं निर्ग्रन्थ श्रमण	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
19.	महावीर की अचेलक-परम्परा	*लेखिका द्वारा प्रेषित।*

खण्ड 4

01.	प्राकृत-भाषा और भगवान् महावीर	*वैशाली अभिनदन-ग्रथ, पृष्ठ 103-107*
02.	प्राकृतभाषा का परिचयात्मक-अनुशीलन	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
03.	हमारी प्राकृतभाषा	*प्राकृतविद्या, वर्ष 8, अक 2, पृष्ठ 11-13*
04.	प्राकृत-भाषा का महत्त्व	*प्राकृतविद्या, वर्ष 4, अक 4, पृष्ठ 12-13*
05	प्राकृतभाषा का वैशिष्ट्य	*प्राकृतविद्या, वर्ष 8, अक 4, पृष्ठ 11-12*
06.	शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषा का मूल्याकन	*प्राकृतविद्या, वर्ष 6, अक 4, पृष्ठ 14-22.*
07	तीर्थंकर की दिव्यध्वनि की भाषा	*प्राकृतविद्या, वर्ष 10, अक 3-4 पृष्ठ 25-29*
08	प्राकृत-भाषा का सास्कृतिक अध्ययन	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
09	भारतीय-भाषाओ के विकास मे प्राकृत-अपभ्रश का योगदान	*प्राकृतविद्या, वर्ष 2, अक 2-3, पृष्ठ 1-10*
10.	शौरसेनी प्राकृत मे प्राचीन भाषा-तत्त्व	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
11	प्राकृत काव्य-शैली का दूरगामी प्रभाव	*प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 3, पृष्ठ 27-33.*
12	प्राकृत का लोकप्रिय छद — गाहा (गाथा)	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
13.	प्राकृतभाषा के प्रकाश-स्तम्भ	*प्राकृतविद्या, वर्ष 11, अक 1, पृष्ठ 62-65*
14.	भाषा-परिवार और शौरसेनी प्राकृत	*प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 3, पृष्ठ 77-80*
15.	ईसापूर्व के महत्त्वपूर्ण शिलालेखो की भाषा मे तत्कालीन शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव	*लेखिका द्वारा प्रेषित।*
16.	सम्राट् अशोक के शिलालेखो मे उपलब्ध जैन-परम्परा के पोषक-तत्त्व	*लेखिका द्वारा प्रेषित।*
17	भारतीय-सास्कृतिक व भाषिक-एकता	*प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 3, पृष्ठ 86-91*
18	प्राचीन नाटकों मे प्रयुक्त प्राकृतो की सम्पादकीय-अवहेलना	*प्राकृतविद्या, वर्ष 12, अक 3, पृष्ठ 65-71*
		सगीतशती, पृष्ठ 80-84
19	प्राकृत तथा अपभ्रश काव्य और सगीत	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
20.	प्राकृत-साहित्य में गीतिकाव्य	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
22.	अपभ्रश भाषा एव उसके कुछ प्राचीन सन्दर्भ	*लेखक द्वारा प्रेषित।*
23.	प्राकृतभाषा का स्वरूप एव भेद-प्रभेदो का परिचय	*लेखक द्वारा प्रेषित।*

◆◆

जैन मित्र मण्डल : परिचय एवं उपलब्धियाँ

आज से लगभग 90 वर्ष-पूर्व कूचा सेठ की जैन-धर्मशाला में चलनेवाली पाठशाला के कुछ विद्यार्थियो श्री उमराव सिह जैन, श्री नन्नूमल जैन, श्री केदारनाथ जैन एव श्री मगलसैन जैन आदि ने जैनो मे पारस्परिक-मैत्री, सगठन एव साधर्मी-वात्सल्य की प्रभावना की दृष्टि से जैन-बालसभा नाम सस्था का निर्माण सन् 1912 ईस्वी मे किया, जिसमे श्री शीतलप्रसाद जैन पानीपतवाले, श्री मुंशीलाल जैन, श्री श्यामलाल कागजी, श्री चुन्नीलाल जैन रोशनाईवाले एव श्री राजेन्द्र जैन आदि उत्साही-कार्यकर्त्ताओं का योग भी इसे प्राप्त हुआ। इन लोगो ने जैनत्व के प्रति जनजागरण को अनेको महत्त्वपूर्ण-कार्य सचालित किये, जिसके परिणामस्वरूप जैनेतर-वर्ग मे भी जैनधर्म के प्रति सम्मान की भावना बढी, और जैनसमाज मे धार्मिक-जागृति प्रगाढ हुयी। इसी के परिणामस्वरूप 30 अप्रैल सन् 1915 को जैन मित्र मण्डल दिल्ली की स्थापना हुयी।

इस सस्था ने तब से सामाजिक जन-जागृति के कार्यों मे उत्तरोत्तर-वृद्धि की और इसे अनेको दूरदर्शी-महानुभावो का मार्गदर्शन मिला, जिसके परिणामस्वरूप दिल्ली का जैनसमाज राजधानी के वातावरण एव स्तर के अनुरूप सुसगठित, सक्रिय एव प्रगतिशील बन सका। वह युग शास्त्रार्थ का युग था, तथा आर्यसमाजी-विद्वान् जैनधर्म के बारे मे हल्के-शब्दो का प्रयोग करते थे। जैन मित्र मण्डल ने जैन-विद्वानो को प्रेरित एव प्रोत्साहित कर शास्त्रार्थ एव परिचर्चाओ के माध्यम से जैनेतर-समाजो मे जैनधर्म-दर्शन की प्रतिष्ठा बढायी। उस समय के वातावरण मे यह कार्य सामाजिक-चेतना की दृष्टि से सजीवनी के समान महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। जैन मित्र मण्डल के दूरदर्शितापूर्ण-कार्यो मे जैन वालटीयर कोश की स्थापना, सर्वधर्म-सम्मलेन का आयोजन, वर्धमान पब्लिक लाइब्रेरी की स्थापना, अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी पर ट्रेनो का रुकवाना, महावीर-जयन्ती पर सार्वजनिक-अवकाश स्वीकृत करवाना, ऑल इण्डिया रेडियो से जैनधर्म-सम्बन्धी प्रसारण प्रारम्भ कराना, राष्ट्रीय रक्षा-कार्यों मे सहयोग करना, महावीर-जयन्ती पर विशाल-शोभायात्रा प्रारम्भ करना, मुनिश्री विद्यानन्दजी का दीक्षा-समारोह आयोजित करना, विद्वानो का सम्मान करना, श्रुतपचमी-महोत्सव का विशाल-आयोजन एव 2500वाँ निर्वाण-महोत्सव मे अद्वितीय-सहयोग करना आदि विशेष-उल्लेखनीय है।

वर्तमान मे इस सस्था के सयोजक श्री चक्रेश जी जैन बिजलीवाले है, तथा श्री अजितप्रसाद जी जैन बिजलीवाले इसके अध्यक्ष हैं एव श्री सतीश जैन महामन्त्री हैं। इसके सक्रिय एव समर्पित-कार्यकर्त्ताओ की लम्बी-सूची है, जो अपनी सस्था के लिये एव जैनसमाज के लिये प्रत्येक कार्यक्रम मे तन-मन-धन से समर्पित होकर कार्य करते है। आज यह सस्था अपने यशस्वी-कार्यों के कारण निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर है, तथा भगवान् महावीर के 2600वे जन्म-कल्याणक-वर्ष के सुअवसर पर भी इसने दिल्ली मे जैनसमाज के साथ मिलकर उल्लेखनीय-योगदान किया है। ❖❖